मूल्य चौदह रुपए

प्रकाशक पं० उमाशंकर शुक्ल, कोषाध्यक्ष, भारतीय हिंदी परिषद्, प्रयाग
मुद्रक सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रस्तावना

विगत लगभग अर्द्ध शताब्दी की अवधि मे हिंदी अनुसधान और आलोचना के क्षेत्रो में जो बहुविध प्रगति हुई है, वह साहित्य के इतिहास-लेखको के सामने नित नई चुनौती के रूप मे आती रही है। इतिहास-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह साहित्य की नवीन खोजो और नवीन व्याख्याओ से पदानुपद लाभान्वित होता हुआ उनका यथोचित उपयोग करता रहे। परन्तु सन् १९१३ ई० मे 'मिश्रबधु विनोद' के प्रथम भाग के प्रकाशन के बाद हिंदी साहित्य के जो दर्जनो इतिहास लिखे गए है उनमें प्राय ऐसा नही हुआ है। वास्तव मे नवीन अनुसधानो के द्वारा उद्घाटित सामग्री तथा नवीन दृष्टिकोण से की गई व्याख्याओ का इतिहास-लेखन में किस सीमा तक तथा किस प्रकार उपयोग किया जाय, यह निर्णय करना सरल नही है। कोई एक लेखक सभी विषयो पर विशेषज्ञता की दृष्टि से विचार नही कर सकता। इसी कारण अधिकाश इतिहास-लेखको में उपर्युक्त कठिनाई से बचकर निकल जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी को ध्यान में रखकर भारतीय हिंदी परिषद् ने एक मँझोले आकार के ऐसे इतिहास की योजना बनाई थी जो विभिन्न विषयो के विशेषज्ञो के सहयोग से प्रस्तुत किया जाय और जिसमें नवीनतम खोजो और व्याख्याओ का समुचित उपयोग हो सके। 'हिंदी साहित्य—द्वितीय खड' उसी योजना की पूर्ति का प्रथम अश है। इस खड में प्रारभ से १८५० ई० (१९०७ वि०) तक का हिंदी साहित्य का इतिहास दिया गया है। व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से ही द्वितीय खड पहले प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम खड में हिंदी भाषा और साहित्य की भूमिका के रूप में हिंदी प्रदेश का सपूर्ण सामाजिक, सास्कृतिक तथा साहित्यिक इतिहास रहेगा और तृतीय खड १८५० ई० के बाद के साहित्य से सबधित होगा।

प्रस्तुत ग्रथ में १८५० ई० तक के सपूर्ण काल को एक अविभाज्य इकाई के रूप मे ग्रहण किया गया है। इतिहास-लेखको ने इस काल को साहित्यिक प्रवृत्तियो के आधार पर अनेक कालो और शाखाओ में विभक्त किया है, परन्तु उस विभाजन के विषय में सदैव मतैक्य नही पाया जाता। वस्तुत हिंदी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ प्राय १८५० ई० तक चली आती हैं। उन्नीसवी शताब्दी में ही उसमें एक ऐसी स्थिरता दिखाई देती है जो पुराने युग के अत और नवीन युग के आगमन की सूचक है।

'हिंदी साहित्य—द्वितीय खड' सत्रह अध्यायो में विभक्त है। प्रथम दो अध्यायों में राजनीतिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि का विवेचन है, आगामी नौ अध्याय हिंदी साहित्य की मुख्य धाराओ से सबधित है तथा शेष पाँच अध्यायो में उन विशिष्ट धाराओ का इतिहास दिया गया है जो प्रभाव-क्षेत्र की दृष्टि से अपेक्षाकृत सीमित है।

प्रस्तुत इतिहास की योजना हिंदी प्रदेश को एक सपूर्ण इकाई मान कर बनाई गई थी। इसी दृष्टि से प्रारभ के दो अध्यायो में हिंदी प्रदेश की राजनीतिक और सास्कृतिक पृष्ठभूमि दी

अंतिम दो शताब्दियों में वीर रस की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक संख्या में हुई हैं। 'वीरकाव्य' के लेखक डा० टीकमसिंह तोमर ने इस काव्य-धारा की लगभग एक सौ रचनाओं का परिचय दिया है, रासो काव्य-धारा में आनेवाली वीर रस की रचनाएँ इससे पृथक् हैं।

संत शब्द निर्गुणोपासक भक्त कवियों के लिए रूढ़ हो गया है। कालक्रम की दृष्टि से इसी काव्यधारा के कवि हिंदी भक्ति काव्य के अग्रदूत हैं। 'संतकाव्य' शीर्षक अध्याय में डा० रामकुमार वर्मा ने इस काव्यधारा पर उसके संपूर्ण सामाजिक परिवेश में सभी दृष्टियों से विचार किया है। संभव है इसमें व्यक्त किए गए विचारों की पूर्ण संगति डा० सक्सेना द्वारा दी गई 'सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' से कहीं कहीं न मिले, परन्तु इस प्रकार का मत-वैभिन्य स्वाभाविक है। सत्य के अन्वेषण के लिए वह आवश्यक भी है। डा० वर्मा ने संत कवियों को पाँच कोटियों में विभाजित किया है। परंपरा की प्राचीनता में संतकाव्य की अपेक्षा प्रेमाख्यानकों की परंपरा पीछे नहीं है। वस्तुतः यह परंपरा लोक-कथाओं के रूप में चिरकाल से चलती आई है और अपभ्रंश में भी इसका साहित्यिक रूप पाया जाता है। परंतु सूफी भक्तों ने हिंदी में इसे साहित्यिक रूप दिया और इस प्रकार हिंदी काव्य की एक समृद्ध परंपरा को जन्म दिया। 'सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य' शीर्षक अध्याय का आधार दुहरा है—एक विशेष धार्मिक विश्वास तथा एक विशिष्ट काव्य-रूप। इस कारण सूफी भक्तों की अन्य प्रकार की रचनाएँ तथा असूफी प्रेमाख्यानक काव्य सीधे इसके अंतर्गत नहीं आते। इस अध्याय के लेखक पंडित परशुराम चतुर्वेदी के सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई थी। परंतु स्थान और समय के अभाव के कारण यह संभव नहीं हो सका कि असूफी प्रेमाख्यानों के लिए एक पृथक् अध्याय दिया जाता। पंडित चतुर्वेदी ही अपनी विवेचना में असूफी प्रेमाख्यानों की विशेषताओं का भी प्रसंगवश उल्लेख करते गए हैं। उन्होंने सूफी विचारधारा और साहित्य का संक्षिप्त इतिहास देते हुए प्रेमाख्यानों की प्राचीन परंपरा, उसके स्वरूप और वर्गीकरण के अंतर्गत इस काव्य की प्राचीनता तथा लोकप्रियता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है तथा संपूर्ण सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य की सामूहिक रूप में समीक्षा की है।

हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य राम और कृष्ण भक्ति के संप्रदायों में विभक्त है। रामभक्ति और रामकाव्य के प्रवर्तक स्वामी रामानंद माने जाते हैं, जिन्होंने सबसे पहले उत्तर भारत के जन-जीवन को वैष्णव भक्ति-भावना से अनुप्राणित और आंदोलित किया था। उनके बाद भी कतिपय भक्तों का नामोल्लेख हुआ है जिन्होंने हिंदी कृष्ण-भक्ति काव्य के पूर्व राम-भक्ति संबंधी रचनाएँ की थीं। अतः 'रामकाव्य' अध्याय पहले रखा गया है, यद्यपि हिंदी रामकाव्य के एकमात्र प्रतिनिधि कवि तुलसीदास का समय प्रारंभिक कृष्ण-भक्त कवियों के बाद में पड़ता है। 'रामकाव्य' के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त ने रामकथा और रामकाव्य की प्राचीन परंपरा, तुलसीदास की जीवनी तथा रचनाओं की प्रामाणिकता का निर्णय तथा उनकी कला, विचारधारा और भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए परवर्ती राम-भक्त कवियों का परिचय दिया है। 'कृष्ण-भक्ति साहित्य' में कृष्णाख्यान और कृष्णकाव्य की प्राचीन परंपराओं का हिंदी में कदाचित् पहली बार उद्घाटन हुआ है। इस अध्याय में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुए हिंदी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन दृष्टि से सामूहिक रूप में समीक्षा की गई है। काल-विस्तार, रचना-प्राचुर्य तथा साहित्यिक महत्व, सभी दृष्टियों से कृष्ण-भक्ति साहित्य हिंदी की

गई है। इनके लेखक डा० सत्यकेतु विद्यालकार तथा डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना भारतीय इतिहास के प्रतिष्ठित विद्वान् है। डा० विद्यालकार ने हिंदी प्रदेश के राजनीतिक इतिहास की एक तथ्यपूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत की है, जिसके बीच हिंदी साहित्य को प्रेरणा देने वाली नवीन सस्कृति का विकास हुआ। यद्यपि लेखक ने राजनीतिक इतिहास के साथ हिंदी साहित्य की गतिविधि का सबध जोडने का प्रयत्न नही किया, परन्तु उन्होने राजनीतिक तथ्यो का जो क्रमिक विवरण दिया है, वह साहित्य के विद्यार्थियो और विचारको के लिए अत्यत उपयोगी है। राजनीतिक इतिहास को लेकर हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखको और आलोचको मे अनेक भ्रम प्रचलित है। निष्पक्ष रूप से प्रस्तुत किए गए इस तथ्यपूर्ण इतिहास से निश्चय ही उन्हे दूर कर सकने में सहायता मिलेगी। डा० विद्यालकार ने कुछ ऐसे राजनीतिक तथ्यो को सम्मुख रखा है जिनका परिचय हिंदी साहित्य के विद्यार्थियो को साधारणतया नही रहता।

साहित्य सास्कृतिक चेष्टाओ का ही एक अग है। डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना द्वारा प्रस्तुत सास्कृतिक पृष्ठभूमि से यह सत्य पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है। उन्होने हिंदी प्रदेश के धर्म, समाज, कला आदि के रूप मे उसकी सस्कृति का विवेचन करते हुए हिंदी साहित्य को निरतर अपने दृष्टि-पथ के केन्द्र मे रखा है और जहाँ भी अवसर मिला है, उसके सबध मे अत्यन्त उपयोगी सकेत किए है। इस अध्याय मे हिंदी साहित्य के सबध मे प्रचलित अनेक रूढ विचारों और पूर्वाग्रहो का निराकरण हो सकेगा। यह अध्याय हिंदी साहित्य की विविध धाराओ को ऐतिहासिक सूत्र मे बाँधने मे भी सहायक हुआ है।

'हिंदी साहित्य' 'नाथपथी साहित्य' के साथ प्रारभ होता है। यह हिंदी की प्राचीनतम धारा है, जो उसका सबध अपभ्रश के साथ जोडती है। अपभ्रश के सिद्ध साहित्य तथा हिंदी के सतकाव्य के बीच की कडी के रूप में इसका महत्व अक्षुण्ण है। इस अध्याय के लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी है, जिन्होने इस विषय का विशेष अन्वेषण और अध्ययन किया है। प्रस्तुत अध्याय उनके प्रसिद्ध ग्रथ 'नाथ सप्रदाय' के पूर्व लिखा गया था, परन्तु प्रकाशित होने के पूर्व उन्होने इसका सशोधन कर दिया है। रासो काव्य की परपरा भी अपभ्रश से ही हिंदी मे आई है। इसकी एक बडी विशेषता यह भी है कि इसकी धारा उन्नीसवी शताब्दी ई० तक चलती रही तथा इसकी अनेक कृतियो का साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्व है। 'रासो काव्य-धारा' शीर्षक अध्याय के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त ने रासो अथवा रास नामक प्रबधात्मक काव्यरूप मे लिखी गई सैंतीस रचनाओ का परिचय दिया है। इस काव्यरूप की दो पृथक् परपराएँ है—एक गीत-नृत्य-मूलक तथा दूसरी छदवैविध्यमूलक। पहली का प्रतिनिधि है 'बीसलदेव रास' और दूसरी का 'पृथ्वीराज रासो'। हिंदी की इन आद्य रचनाओ पर स्वभावतया अधिक विस्तार से विचार किया गया है। इन दोनो ग्रथो का वैज्ञानिक सपादन भी डा० गुप्त ने किया है, अत इनके सबध में उनके निष्कर्ष प्रामाणिक है। 'रासो काव्य-धारा' मे वीर रस की रचनाएँ अवश्य हुई है, परन्तु उसका वीर रस से वैसा अनिवार्य सबध नही है, जैसा कि प्राय समझा जाता है। इसी कारण 'वीरकाव्य' का विवेचन पृथक अध्याय में किया गया है। भावधारा की दृष्टि से वीरकाव्य हिंदी की प्रथम साहित्यिक धारा कही जा सकती है, यद्यपि इसकी प्राचीन रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध हुई है। काव्य की यह प्रवृत्ति सपूर्ण विवेच्य काल मे परिव्याप्त मिलती है, विशेषरूप से उसकी

अतिम दो शताब्दियो में वीर रस की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक सख्या में हुई है। 'वीरकाव्य' के लेखक डा० टीकमसिह तोमर ने इस काव्य-धारा की लगभग एक सौ रचनाओ का परिचय दिया है, रासो काव्य-धारा में आनेवाली वीर रस की रचनाएँ इससे पृथक् है।

सत शब्द निर्गुणोपासक भक्त कवियो के लिए रूढ हो गया है। कालक्रम की दृष्टि से इसी काव्यधारा के कवि हिंदी भक्ति काव्य के अग्रदूत है। 'सतकाव्य' शीर्षक अध्याय मे डा० रामकुमार वर्मा ने इस काव्यधारा पर उसके सपूर्ण सामाजिक परिवेश में सभी दृष्टियो से विचार किया है। सभव है इसमें व्यक्त किए गए विचारो की पूर्ण सगति डा० सक्सेना द्वारा दी गई 'सास्कृतिक पृष्ठभूमि' से कही कही न मिले, परन्तु इस प्रकार का मत-वैभिन्य स्वाभाविक है। सत्य के अन्वेषण के लिए वह आवश्यक भी है। डा० वर्मा ने सत कवियो को पाँच कोटियो मे विभाजित किया है। परपरा की प्राचीनता में सतकाव्य की अपेक्षा प्रेमाख्यानको की परपरा पीछे नही है। वस्तुत यह परपरा लोक-कथाओ के रूप मे चिरकाल से चलती आई है और अपभ्रश में भी इसका साहित्यिक रूप पाया जाता है। परतु सूफी भक्तो ने हिंदी मे इसे साहित्यिक रूप दिया और इस प्रकार हिंदी काव्य की एक समृद्ध परपरा को जन्म दिया। 'सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य' शीर्षक अध्याय का आधार दुहरा है—एक विशेष धार्मिक विश्वास तथा एक विशिष्ट काव्य-रूप। इस कारण सूफी भक्तो की अन्य प्रकार की रचनाएँ तथा असूफी प्रेमाख्यानक काव्य सीधे इसके अतर्गत नही आते। इस अध्याय के लेखक पडित परशुराम चतुर्वेदी के सामने यह कठिनाई उपस्थित हुई थी। परतु स्थान और समय के अभाव के कारण यह सभव नही हो सका कि असूफी प्रेमाख्यानो के लिए एक पृथक् अध्याय दिया जाता। पडित चतुर्वेदी ही अपनी विवेचना में असूफी प्रेमाख्यानो की विशेषताओ का भी प्रसगवश उल्लेख करते गए है। उन्होने सूफी विचारधारा और साहित्य का सक्षिप्त इतिहास देते हुए प्रेमाख्यानो की प्राचीन परपरा, उसके स्वरूप और वर्गीकरण के अतर्गत इस काव्य की प्राचीनता तथा लोकप्रियता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है तथा सपूर्ण सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य की सामूहिक रूप में समीक्षा की है।

हिंदी का वैष्णव भक्ति साहित्य राम और कृष्ण भक्ति के सप्रदायो मे विभक्त है। रामभक्ति और रामकाव्य के प्रवर्तक स्वामी रामानद माने जाते है, जिन्होने सबसे पहले उत्तर भारत के जन-जीवन को वैष्णव भक्ति-भावना से अनुप्राणित और आदोलित किया था। उनके बाद भी कतिपय भक्तो का नामोल्लेख हुआ है जिन्होने हिंदी कृष्ण-भक्ति काव्य के पूर्व राम-भक्ति सबधी रचनाएँ की थी। अत 'रामकाव्य' अध्याय पहले रखा गया है, यद्यपि हिंदी रामकाव्य के एकमात्र प्रतिनिधि कवि तुलसीदास का समय प्रारभिक कृष्ण-भक्त कवियो के बाद में पडता है। 'रामकाव्य' के लेखक डा० माताप्रसाद गुप्त ने रामकथा और रामकाव्य की प्राचीन परपरा, तुलसीदास की जीवनी तथा रचनाओ की प्रामाणिकता का निर्णय तथा उनकी कला, विचारधारा और भक्ति-भावना का विवेचन करते हुए परवर्ती राम-भक्त कवियो का परिचय दिया है। 'कृष्ण-भक्ति साहित्य' मे कृष्णाख्यान और कृष्णकाव्य की प्राचीन परपराओ का हिंदी में कदाचित् पहली बार उद्घाटन हुआ है। इस अध्याय में कृष्ण-भक्ति के स्वरूप की विवेचना करते हुए हिंदी कृष्ण-भक्ति साहित्य की नवीन दृष्टि से सामूहिक रूप मे समीक्षा की गई है। काल-विस्तार, रचना-प्राचुर्य तथा साहित्यिक महत्व, सभी दृष्टियो से कृष्ण-भक्ति साहित्य हिंदी की

सबसे प्रधान काव्य-धारा है और सप्रदायहीन शुद्ध काव्य का विकास इसी धारा से हुआ है। रीति-प्रवृत्ति इस नवीन काव्य की ऐसी विशेषता थी जो उसे पूर्ववर्ती काव्य से मुख्य रूप में पृथक् करती है।

'रीतिकाव्य तथा हिंदी रीतिशास्त्र' अध्याय दो खडो में विभक्त है। यद्यपि कुछ कवि दोनो खडो मे सबधित हैं, परतु यह विभाजन हिंदी काव्य की इस प्रवृत्ति के परिणामो को स्पष्ट रूप में समझने के लिए आवश्यक है। इस अध्याय के लेखक डा० भगीरथ मिश्र ने पहले खड मे रीतिकाव्य की परिस्थिति, परपरा तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मवद्ध कवियो का उदाहरण सहित आलोचनात्मक परिचय दिया है तथा दूसरे खड मे हिंदी रीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि, आधार और परपरा का आकलन करके हिंदी रीतिशास्त्रीय कवियो की, उन्हें रस, अलकार और ध्वनि सप्रदायो मे विभक्त करते हुए सोदाहरण समीक्षा की है। हिंदी साहित्य की मुख्य धाराओ से सबधित अध्यायो में अतिम 'नीति और जीविनी साहित्य' है। मूलत अतिम अध्याय मे नीति और जीवनी साहित्य के अतिरिक्त 'विविध साहित्य' के उपशीर्षक से उस समस्त साहित्य का विवेचन करना अभीष्ट था जो पूर्ववर्ती अध्यायो में विषयान्तर के भय मे समाविष्ट नही हो सका। यह शेष साहित्य धार्मिक, साप्रदायिक और उपयोगी साहित्य कहा जा सकता है। परतु 'नीति और जीवनी साहित्य' के लेखक डा० भोलानाथ तिवारी ने इस अध्याय मे विविध साहित्य को सम्मिलित करना सभव नही समझा। अत में उसके लिए पृथक् व्यवस्था करने में समय और स्थान दोनो का अभाव बाधक हो गया।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ अध्यायो मे हिंदी साहित्य की प्रमुख धाराओ का विषय-विभाजन सिद्धातवाद, काव्यरूप, भावधारा, वर्ण्य विषय और साहित्यिक प्रवृत्ति--प्रमुखतया इन पाँच आधारो पर किया गया है। विवेच्य काल की प्रमुख धाराएँ वस्तुत इन्ही आधारो पर टिकी हुई है। यह अवश्य है कि विषय-विभाजन की आधार-विविधता के कारण कही कही पुनरावृत्तियाँ हो गई हैं। परतु ये पिष्टपेपण के रूप में प्राय नही है, अपितु उनमें विषय के अनुसार दृष्टिकोण का अतर है, तथा विषय की परिपूर्णता के विचार से उनका औचित्य स्वत प्रमाणित है।

जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, 'हिंदी साहित्य' के अतिम छ अध्यायो की विशिष्ट साहित्य-धाराओ का प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। वस्तुत अपनी सीमाओं के कारण ही इनके अतर्गत आने वाले सपूर्ण साहित्य को मुख्य धाराओ में सम्मिलित नही किया जाता। फिर भी, अपभ्रश के जैन साहित्य, 'बीसलदेव रास' तथा कुछ अन्य राजस्थानी रचनाओ, अमीर खुसरो की हिंदवी रचनाओ और विद्यापति की पदावली को हिंदी की प्रारभिक रचनाओ में सम्मिलित करके इन सबकी परवर्ती परपराओ—हिंदी जैन साहित्य, राजस्थानी साहित्य, हिंदवी साहित्य तथा मैथिली साहित्य का उल्लेख तक न करना कहाँ तक उचित है? हिंदी साहित्य अपने विस्तार में इन सब को समेट कर ही महान् है, इसी रूप में वह सपूर्ण हिंदी प्रदेश की सास्कृतिक चेष्टाओ का परिचय देता है।

कालक्रम की दृष्टि से इन विशिष्ट साहित्य-धाराओ में प्राचीनतम जैन साहित्य है। यद्यपि 'जैन साहित्य' शीर्षक अध्याय के विद्वान् लेखक श्री अगरचद नाहटा ने हिंदी भाषा को मध्य-देश की आधुनिक भाषा के ही अर्थ मे ग्रहण किया है और अपभ्रश या राजस्थानी मिश्रित भाषा के साहित्य को अपने विचार-क्षेत्र में सम्मिलित नही किया, फिर भी उन्होने जिस प्रचुर जैन साहित्य

का परिचय दिया है, वह अनेक दृष्टियो से अत्यन्त उपादेय है। भले ही उसमें कविवर वनारसीदास जैसा कोई अन्य कवि न हुआ हो, परन्तु साहित्य का गौरव केवल कुछ महान् कवियो और गिने-चुने महान् ग्रथों से ही नही वढता। उन कवियो और ग्रथो का भी महत्व कम नही है जो महान् कृतियो के लिए भूमि तैयार करते तथा पोषक तत्व प्रदान करते है। 'राजस्थानी साहित्य' शीर्षक अध्याय श्री उदयसिंह भटनागर द्वारा लिखा गया है जिसमें विद्वान् लेखक ने काल-विभाजन के आधार पर राजस्थानी साहित्य का परिचय दिया है। साथ में उन्होंने राजस्थानी साहित्य की एक लवी सूची भी कालक्रम के अनुसार दी थी, जिसे पुस्तक के अत में परिशिष्ट के रूप मे दिया जा रहा है। यद्यपि इस सूची में राजस्थानी भाषा के साहित्य के साथ राजस्थान में लिखित या प्राप्त व्रजभाषा के भी कुछ ग्रथों को सम्मिलित कर लिया गया है, परतु इससे सूची की उपयोगिता कम नही होती, क्योकि प्रत्येक ग्रथ के सामने भाषा का भी उल्लेख कर दिया गया है। राजस्थानी की भाँति हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग की उपभाषा, मैथिली ने भी प्राचीन हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। परतु एकमात्र 'विद्यापति पदावली' द्वारा ही मैथिली भाषा का स्मरण किया जाय, यह हमारे अज्ञान का ही द्योतक होगा, क्योकि मैथिली साहित्य मे गीतिकाव्य के साथ प्रवध काव्य और गद्य साहित्य भी प्रचुर मात्रा में रचा गया। इनके अतिरिक्त नाट्य साहित्य मैथिली की ऐसी विशेषता है जो उस काल के हिंदी के किसी अन्य साहित्यिक भाषा रूप में नही पाई जाती। यह अध्याय डा० उदयनारायण तिवारी ने एक शोध छात्र श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी की सहायता से तैयार किया है। इन विशिष्ट साहित्य-धाराओ में 'हिंदवी साहित्य' का अपना एक पृथक् स्थान है। हिंदवी अर्थात् पुरानी खडीवोली के आदि कवि अमीर खुसरो की रचना को एकमात्र इसी अध्याय मे स्थान मिला है, अत इस अध्याय का मुख्य धारा के अध्यायो जैसा महत्व हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय के लेखक श्री मातावदल जायसवाल ने परिश्रमपूर्वक इसमें ऐसी सामग्री जुटाई है जो हिंदी में पहली वार प्रकाशित हो रही है। दक्षिण भारत के हिंदवी अर्थात् दक्खिनी साहित्य पर हिंदी का अधिकार है या उर्दू का, इस प्रश्न पर गवेषणापूर्वक विचार करके श्री जायसवाल ने हिंदी के दावे को तथ्य और तर्क के आधार पर प्रमाणित किया है। परतु प्रस्तुत ग्रथ की योजना मे तो उर्दू को भी हिंदी साहित्य के भीतर सम्मिलित करके इस प्रश्न पर उठे मत-भेद को ही मानो वहुत कुछ निराधार वनाने का उद्योग किया गया है। हिंदी के अधिकाश विद्वान् उर्दू को हिंदी की ही एक विशिष्ट शैली स्वीकार करते है। उर्दू साहित्य को देवनागरी में प्रकाशित करके उसे हिंदी का एक अग वना लेने के सुझाव भी प्राय सुनने में आते है। परतु इस सिद्धात के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रथो में उर्दू साहित्य को सम्मिलित करने का व्यावहारिक प्रयत्न अभी तक नही हुआ। प्रस्तुत ग्रथ में इस दिशा की ओर पहला कदम उठाया गया है। 'उर्दू साहित्य' के लेखक श्री सैयद मसीहुज्जमा ने इस अध्याय के सीमित आकार में १८५० ई० तक के सपूर्ण उर्दू साहित्य का अत्यन्त स्पष्टता, स्वच्छता और अधिकार के साथ सक्षिप्त, किंतु उपादेय परिचय दिया है। उर्दू साहित्य को हिंदी में सम्मिलित कर लेने से भी अधिक साहस 'पजावी साहित्य' शीर्षक अध्याय देने में समझा जाएगा। पजावी भाषा को हिंदी की उपभाषा कहना तो सप्रति सामयिक न होगा, परतु इतना कहा जा सकता है कि साहित्यिक हिंदी से पजावी भाषा भोजपुरी अथवा मगही की अपेक्षा अधिक दूर नही है। 'पजावी साहित्य' शीर्षक अध्याय के लेखक

सबसे प्रधान काव्य-धारा है और सप्रदायहीन शुद्ध काव्य का विकास इसी धारा से हुआ है। रीति-प्रवृत्ति इस नवीन काव्य की ऐसी विशेषता थी जो उसे पूर्ववर्ती काव्य से मुख्य रूप में पृथक् करती है।

'रीतिकाव्य तथा हिंदी रीतिशास्त्र' अध्याय दो खडो में विभक्त है। यद्यपि कुछ कवि दोनो खडो मे सबधित हैं, परतु यह विभाजन हिंदी काव्य की इस प्रवृत्ति के परिणामो को स्पष्ट रूप मे समझने के लिए आवश्यक है। इस अध्याय के लेखक डा० भगीरथ मिश्र ने पहले खड में रीतिकाव्य की परिस्थिति, परपरा तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सबद्ध कवियो का उदाहरण सहित आलोचनात्मक परिचय दिया है तथा दूसरे खड मे हिंदी रीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि, आधार और परपरा का आकलन करके हिंदी रीतिशास्त्रीय कवियो की, उन्हे रस, अलकार और ध्वनि सप्रदायो मे विभक्त करते हुए सोदाहरण समीक्षा की है। हिंदी साहित्य की मुख्य धाराओ से सबधित अध्यायो मे अतिम 'नीति और जीवनी साहित्य' है। मूलत अतिम अध्याय में नीति और जीवनी साहित्य के अतिरिक्त 'विविध साहित्य' के उपशीर्षक से उस समस्त साहित्य का विवेचन करना अभीष्ट था जो पूर्ववर्ती अध्यायो मे विषयान्तर के भय से समाविष्ट नही हो सका। यह शेष साहित्य धार्मिक, साप्रदायिक और उपयोगी साहित्य कहा जा सकता है। परन्तु 'नीति और जीवनी साहित्य' के लेखक डा० भोलानाथ तिवारी ने इस अध्याय में विविध साहित्य को सम्मिलित करना सभव नही समझा। अत में उसके लिए पृथक् व्यवस्था करने में समय और स्थान दोनो का अभाव बाधक हो गया।

इस प्रकार उपर्युक्त नौ अध्यायो में हिंदी साहित्य की प्रमुख धाराओ का विषय-विभाजन सिद्धातवाद, काव्यरूप, भावधारा, वर्ण्य विषय और साहित्यिक प्रवृत्ति--प्रमुखतया इन पाँच आधारो पर किया गया है। विवेच्य काल की प्रमुख धाराएँ वस्तुत इन्ही आधारो पर टिकी हुई है। यह अवश्य है कि विषय-विभाजन की आधार-विविधता के कारण कही कही पुनरावृत्तियाँ हो गई हैं। परतु ये पिष्टपेषण के रूप में प्राय नही हैं, अपितु उनमें विषय के अनुसार दृष्टिकोण का अतर है, तथा विषय की परिपूर्णता के विचार से उनका औचित्य स्वत प्रमाणित है।

जैसा कि ऊपर सकेत किया गया है, 'हिंदी साहित्य' के अतिम छ अध्यायो की विशिष्ट साहित्य-धाराओ का प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। वस्तुत अपनी सीमाओं के कारण ही इनके अतर्गत आने वाले सपूर्ण साहित्य को मुख्य धाराओ मे सम्मिलित नही किया जाता। फिर भी, अपभ्रश के जैन साहित्य, 'बीसलदेव रास' तथा कुछ अन्य राजस्थानी रचनाओ, अमीर खुसरो की हिदवी रचनाओ और विद्यापति की पदावली को हिंदी की प्रारभिक रचनाओ में सम्मिलित करके इन सबकी परवर्ती परपराओ—हिंदी जैन साहित्य, राजस्थानी साहित्य, हिदवी साहित्य तथा मैथिली साहित्य का उल्लेख तक न करना कहाँ तक उचित है? हिंदी साहित्य अपने विस्तार में इन सब को समेट कर ही महान् है, इसी रूप में वह सपूर्ण हिंदी प्रदेश की सास्कृतिक चेष्टाओ का परिचय देता है।

कालक्रम की दृष्टि से इन विशिष्ट साहित्य-धाराओ में प्राचीनतम जैन साहित्य है। यद्यपि 'जैन साहित्य' शीर्षक अध्याय के विद्वान् लेखक श्री अगरचद नाहटा ने हिंदी भाषा को मध्यदेश की आधुनिक भाषा के ही अर्थ में ग्रहण किया है और अपभ्रश या राजस्थानी मिश्रित भाषा के साहित्य को अपने विचार-क्षेत्र में सम्मिलित नही किया, फिर भी उन्होने जिस प्रचुर जैन साहित्य

का परिचय दिया है, वह अनेक दृष्टियो से अत्यन्त उपादेय है। भले ही उसमें कविवर वनारसी-दास जैसा कोई अन्य कवि न हुआ हो, परन्तु साहित्य का गौरव केवल कुछ महान् कवियो और गिने-चुने महान् ग्रथो से ही नही वढता। उन कवियो और ग्रथो का भी महत्व कम नही है जो महान् कृतियो के लिए भूमि तैयार करते तथा पोषक तत्व प्रदान करते है। 'राजस्थानी साहित्य' शीर्षक अध्याय श्री उदयसिंह भटनागर द्वारा लिखा गया है जिसमें विद्वान् लेखक ने काल-विभाजन के आधार पर राजस्थानी साहित्य का परिचय दिया है। साथ मे उन्होने राजस्थानी साहित्य की एक लवी सूची भी कालक्रम के अनुसार दी थी, जिसे पुस्तक के अत में परिशिष्ट के रूप मे दिया जा रहा है। यद्यपि इस सूची में राजस्थानी भाषा के साहित्य के साथ राजस्थान में लिखित या प्राप्त व्रजभाषा के भी कुछ ग्रथों को सम्मिलित कर लिया गया है, परतु इससे सूची की उपयोगिता कम नही होती, क्योकि प्रत्येक ग्रथ के सामने भाषा का भी उल्लेख कर दिया गया है। राजस्थानी की भाँति हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग की उपभाषा, मैथिली ने भी प्राचीन हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है। परतु एकमात्र 'विद्यापति पदावली' द्वारा ही मैथिली भाषा का स्मरण किया जाय, यह हमारे अज्ञान का ही द्योतक होगा, क्योकि मैथिली साहित्य मे गीतिकाव्य के साथ प्रवध काव्य और गद्य साहित्य भी प्रचुर मात्रा मे रचा गया। इनके अतिरिक्त नाट्य साहित्य मैथिली की ऐसी विशेषता है जो उस काल के हिंदी के किसी अन्य साहित्यिक भाषा रूप में नही पाई जाती। यह अध्याय डा० उदयनारायण तिवारी ने एक शोध छात्र श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी की सहायता से तैयार किया है। इन विशिष्ट साहित्य-धाराओ में 'हिंदवी साहित्य' का अपना एक पृथक् स्थान है। हिंदवी अर्थात् पुरानी खडीवोली के आदि कवि अमीर खुसरो की रचना को एकमात्र इसी अध्याय मे स्थान मिला है, अत इस अध्याय का मुख्य धारा के अध्यायो जैसा महत्व हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय के लेखक श्री मातावदल जायसवाल ने परिश्रमपूर्वक इसमें ऐसी सामग्री जुटाई है जो हिंदी मे पहली वार प्रकाशित हो रही है। दक्षिण भारत के हिंदवी अर्थात् दक्खिनी साहित्य पर हिंदी का अधिकार है या उर्दू का, इस प्रश्न पर गवेषणापूर्वक विचार करके श्री जायसवाल ने हिंदी के दावे को तथ्य और तर्क के आधार पर प्रमाणित किया है। परतु प्रस्तुत ग्रथ की योजना में तो उर्दू को भी हिंदी साहित्य के भीतर सम्मिलित करके इस प्रश्न पर उठे मत-भेद को ही मानो वहुत कुछ निराधार वनाने का उद्योग किया गया है। हिंदी के अधिकांश विद्वान् उर्दू को हिंदी की ही एक विशिष्ट शैली स्वीकार करते है। उर्दू साहित्य को देवनागरी में प्रकाशित करके उसे हिंदी का एक अग वना लेने के सुझाव भी प्राय सुनने मे आते है। परतु इस सिद्धात के अनुसार हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे उर्दू साहित्य को सम्मिलित करने का व्यावहारिक प्रयत्न अभी तक नही हुआ। प्रस्तुत ग्रथ में इस दिशा की ओर पहला कदम उठाया गया है। 'उर्दू साहित्य' के लेखक श्री सैयद मसीहुज्ज़मा ने इस अध्याय के सीमित आकार में १८५० ई० तक के सपूर्ण उर्दू साहित्य का अत्यन्त स्पष्टता, स्वच्छता और अधिकार के साथ सक्षिप्त, किंतु उपादेय परिचय दिया है। उर्दू साहित्य को हिंदी में सम्मिलित कर लेने से भी अधिक साहस 'पजावी साहित्य' शीर्षक अध्याय देने में समझा जाएगा। पजावी भाषा को हिंदी की उपभाषा कहना तो सप्रति सामयिक न होगा, परतु इतना कहा जा सकता है कि साहित्यिक हिंदी से पजावी भाषा भोजपुरी अथवा मगही की अपेक्षा अधिक दूर नही है। 'पजावी साहित्य' शीर्षक अध्याय के लेखक

डा० हरदेव बाहरी की धारणा है कि भाषा के आधार पर 'पंजाबी साहित्य' उसी प्रकार हिंदी साहित्य का एक अंग माना जा सकता है, जिस प्रकार मैथिली या भोजपुरी का साहित्य। परन्तु पंजाबी साहित्य को प्रस्तुत इतिहास में सम्मिलित करने का कारण व्यावहारिक भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा और साहित्यिक प्रवृत्ति अधिक है। चाहे सिख गुरुओं की वाणियाँ लीजिए और चाहे बाबा फरीद शकरगंज जैसे सूफी साधुओं की रचनाएँ, प्राचीन पंजाबी साहित्य हिंदी के अत्यन्त निकट है और वह हिंदी साहित्य का एक अभिन्न अंग है। इस अध्याय में दिए गए पंजाबी साहित्य के संक्षिप्त परिचय से यह तथ्य भलीभाँति सामने आ जाता है। इन विशिष्ट साहित्य-धाराओं के विवेचन में भी कुछ अंश ऐसा अवश्य है जो मुख्य धाराओं में पहले ही आ चुका है। परंतु इसके औचित्य के विषय में भी वही बात कही जा सकती है जो पीछे मुख्य धाराओं में संयोग-प्राप्त पुनरावृत्तियों के विषय में कही गई है।

'हिंदी साहित्य—द्वितीय खंड' के उपर्युक्त सामान्य परिचय से प्रकट है कि इसमें विवेच्य काल के अन्तर्गत हिंदी प्रदेश की संपूर्ण साहित्यिक चेष्टाओं को आँकने का प्रयत्न किया गया है। अनेक लेखकों का सामूहिक प्रयास होने के कारण इसके विभिन्न अध्यायों में स्तर-भेद और शैलीगत अंतर होना स्वाभाविक है। इन अंतरों का कारण लेखक की व्यक्तिगत रुचि के साथ साथ यह भी है कि 'हिंदी साहित्य' की योजना को कार्यान्वित होने में असाधारण विलंब हुआ, अतः इसके विभिन्न अध्यायों के लेखन-काल में परस्पर बहुत अंतर पड़ गया। इतिहास की योजना सन् १९४७ ई० में बनाई गई थी। प्रस्तुत खंड के दो अध्याय तो उसी वर्ष प्राप्त हो गए थे। फिर लगभग ३-४ वर्ष तक विशेष प्रगति नहीं हो सकी। उसके बाद दो-एक अध्याय और प्राप्त हुए। परंतु अधिकतर अध्याय गत पाँच वर्षों में लिखाए गए हैं। कुछ अध्याय तो पुस्तक के छपते-छपते मिले हैं। इस बीच जिन अध्यायों के लिए निश्चित किए गए एक के बाद दूसरे लेखकों ने कार्य स्वीकार करके तथा बार बार नई अवधि देकर भी अंततः समय नहीं निकाल पाया, उनके लिए नए लेखक ढूँढने पड़े और उन्हें अपेक्षाकृत थोड़े समय में ही कार्य समाप्त करना पड़ा। साथ ही, मूलतः यह योजना परिषद् के जिन अधिकारियों द्वारा बनाई गई थी, उनमें भी परिवर्तन हुआ और ग्रंथ के संपादन की स्थायी व्यवस्था योजना बनने के दस वर्ष बाद हो सकी। उस समय तक पुस्तक को शीघ्रातिशीघ्र मुद्रण के लिए तैयार करना आवश्यक था, अतः योजना में कोई मौलिक संशोधन नहीं किया जा सकता था। प्रारंभ में अध्यायों के केवल शीर्षक दिए गए थे, उनकी रूप-रेखा या विषय-विस्तार का निर्देश नहीं था। अतः बाद में अध्यायों की रूपरेखा बनाने में भी कठिनाई हुई तथा उसका पालन करने में भी। फिर भी, अध्यायों को जहाँ तक हो सका पूर्ण और इतिहास की योजना के उपयुक्त बनाने का प्रयत्न किया गया है। नव-निर्धारित लेखकों को यथा-संभव उनके अध्यायों की रूपरेखाएँ भी दी गईं तथा आवश्यकतानुसार अध्यायों के अंत में विषयगत साहित्य एवं सहायक साहित्य की सूचियाँ दिलाने का भी प्रयत्न किया गया। वास्तव में इस प्रकार की योजना को दीर्घ काल के विस्तार में फैलने देना उचित नहीं होता। फिर भी विभिन्न अध्यायों के सामान्य संघटन और शैली के अंतर उनकी एक विशेषता भी कही जा सकती है। इसमें लेखकों की व्यक्तिगत रुचि और उनके दृष्टिकोण का भी अधिक परिचय मिल जाता है।

इस प्रकार एकत्र की गई सामग्री के संपादन की समस्या भी सरल नहीं थी। एक बार

इस कार्य के लिए एक छोटी सी परामर्श-समिति भी बनाई गई थी जिसके सदस्य भारतीय हिंदी परिषद् के तत्कालीन सभापति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, उपसभापति डा० रामकुमार वर्मा तथा डा० माताप्रसाद गुप्त और डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय थे। सपादन के सबध में अनेक सशयो और आशकाओ के होने पर भी अततोगत्वा यही उचित समझा गया कि विभिन्न अध्यायो की अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ को यथासभव सुरक्षित रखा जाय तथा सपादन के रूप मे उनमें कम से कम परिवर्तन किए जायें। अध्यायो का क्रम तो ऐतिहासिक दृष्टि से दिया ही गया है, विभिन्न धाराओ के विवेचन में स्वत ऐतिहासिक विकास की दृष्टि रखी गई है। यह अवश्य है कि इन धाराओ को एक दूसरे से सबद्ध करने का बाह्य प्रयत्न नही किया गया, परतु सावधान पाठक को अध्यायो के अतर्गत ही सबध निर्देश करने वाली सामग्री यथेष्ट मात्रा में मिल सकती है।

विभिन्न लेखको ने अपनी रुचि के अनुसार विक्रमी सवत् अथवा इसवी सन् का व्यवहार किया है। परन्तु सुविधा के लिए कोष्ठको मे यथावश्यक दोनो दे दिए गए है।

'हिंदी साहित्य—द्वितीय खड' के रूप में भारतीय हिंदी परिषद् की योजना के प्रथम अश की पूर्ति का प्रधान श्रेय उन विद्वान् लेखको को है जिन्होंने अपना बहुमूल्य योग देकर परिषद् को आभारी किया। परिषद् के आनुक्रमिक सभापति डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० विनयमोहन शर्मा और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, उपसभापति डा० रामकुमार वर्मा और डा० माताप्रसाद गुप्त तथा प्रबन्ध मत्री पडित उमाशकर शुक्ल के उद्योगो को भी भुलाया नही जा सकता। उन्ही के कार्य-काल में यह योजना विशेष प्रगति करके पूर्ण हो सकी। उपर्युक्त परामर्श-समिति के सदस्यो के अतिरिक्त भारतीय हिंदी परिषद् के अन्य अधिकारी तथा प्रयाग विश्वविद्यालय, हिंदी विभाग के अन्य सहयोगी भी समय समय पर अनेक प्रकार की सहायता देते रहे है। उन सब को धन्यवाद देना आत्म-स्तुति जैसा जान पडता है। सबसे अधिक धन्यवाद के पात्र है केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय और उसके विशेष अधिकारी, जिनकी सहायता के बिना परिषद् की यह योजना आर्थिक सकट में ही पडी रहती। इस खड के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा दिए गए दस हज़ार रुपए के अनुदान से ही हम इसे प्रकाशित कर सकने में सफल हो सके है। इतिहास की योजना के लिए उत्तर प्रदेशीय सरकार ने भी डेढ हजार रुपए का अनुदान दिया था। उस धन का तृतीयाश इस खड मे लगा है। अत उत्तर प्रदेश सरकार के भी हम कृतज्ञ है। प्रूफ सशोधन तथा प्रेस कापी तैयार करने में सहायता देकर हमारे सहयोगी डा० पारसनाथ तिवारी ने हमारा बहुत हाथ बँटाया। विषय-सूची तथा अनुक्रमणिका तैयार करने में हमारे एक शोध-छात्र श्री वागेश्वरीप्रसाद ने सहायता दी है। पुस्तक का मुद्रण सम्मेलन मुद्रणालय में हुआ है। उसके सचालक श्री सीताराम गुठे के प्रति भी हम आभार प्रकट करते है।

हमें विश्वास है कि 'हिंदी साहित्य—द्वितीय खड' उच्च अध्ययन मे रुचि रखने वाले सभी पाठको के लिए उपादेय होगा तथा इतिहास-लेखन की परपरा को विकसित करने में सहायक बनेगा। यदि इससे हिंदी साहित्य के विद्यार्थियो का कुछ भी लाभ हो सका तो हम अपना प्रयत्न सार्थक समझेंगे।

महाशिवरात्रि, स० २०१५ वि०

—सपादक

'हिंदी साहित्य' के लेखक

श्री अगरचंद नाहटा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर

डॉ० उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, डी० लिट०, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

श्री उदयसिंह भटनागर, म० स० गायकवाड़ विश्वविद्यालय, बड़ौदा

डॉ० टीकमसिंह तोमर, हिंदी विभाग, बलवंत राजपूत कॉलिज, आगरा

श्री परशुराम चतुर्वेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, वकील, बलिया

डा० बनारसीप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, पी-एच० डी० (लंदन), अध्यक्ष, इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

डा० भगीरथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ

डा० भोलानाथ तिवारी, एम० ए०, डी० फिल०, हिंदी विभाग, किरोड़ी मल डिग्री कालिज, दिल्ली

श्री माताबदल जायसवाल, एम० ए०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

डा० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी० लिट०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

डा० व्रजेश्वर वर्मा, एम० ए०, डी० फिल०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी, एम० ए०, शोध-छात्र, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट०, इतिहास-सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली

श्री सैयद मसीहुज्ज़मा, एम० ए०, उर्दू विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डी० लिट०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा० हरदेव बाहरी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०, हिंदी विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

विषय-सूची

*

(अक पृष्ठ सख्या के द्योतक हैं)

संक्षेप

ई० = ईसवी (सन्)
तन्त्रा० = तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त कृत
न० कि० प्रेस = नद किशोर प्रेस, लखनऊ
प० = पडित
पृ० = पृष्ठ
प्रो० = प्रोफेसर
ब्र० = ब्रह्मचारी
म० म० = महामहोपाध्याय
स० = सवत् या सपादक (प्रसगानुसार)
हिं० सा० आ० इ० = हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा लिखित
डा० = डॉक्टर (ऑफ लेटर्स या फिलासफी)
ध्रु० = ध्रुवक
नो० = नोट, हिंदी खोज विवरण का
पु० प्र० स० = पुरातन प्रबध सग्रह, सिंघी जैन ग्रथमाला में प्रकाशित
प्र० = प्रकाशक या प्रकाशित (प्रसगानुसार)
बौ० गा० दो० = बौद्ध गान ओ दोहा, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सपादित
भा० = भाग
वि० = विक्रमी
स्व० = स्वर्गीय
हित त० = हित तरगिणी, कृपाराम कृत
हि० स० = हिजरी सन्

हिन्दी साहित्य

प्रारंभ से सन १८५० ई० (सं० १९०७ वि०) तक

१. राजनीतिक पृष्ठभूमि

विविध राजवंशों के शासन का युग

मगध के महत्वाकाक्षी, वीर राजाओ के प्रयत्न से भारत के वडे भाग में राजनीतिक एकता स्थापित हुई थी और ऐसे साम्राज्यो का निर्माण हुआ था जिनकी सीमाएँ यद्यपि सम्राट की वीरता के अनुसार घटती-वढती रहती थी, किन्तु प्राय सम्पूर्ण मध्यदेश जिनके अन्तर्गत रहता था। महापद्मनन्द के समय में साम्राज्यो के जिस युग का प्रारम्भ हुआ था, वह गुप्त वश के शासन-काल तक जारी रहा। स्थूल रूप से हम पाँचवी सदी ईसवी पूर्व से पाचवी सदी ईसवी पश्चात के काल को भारतीय इतिहास का 'साम्राज्य युग' कह सकते हैं। परन्तु हूणो के आक्रमण के कारण इस युग का अन्त हो गया और मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) में भी अनेक राजवशो के शासन का प्रारम्भ हुआ।

स्कन्दगुप्त के वाद गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया था और विविध प्रदेशो में विभिन्न राजवशो ने अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने शुरू कर दिए थे। छठी सदी ई० के इन राजवशो मे दो वहुत महत्वपूर्ण थे—कन्नौज का मौखरिवश और स्थानेश्वर (थानेसर) का वर्धन-वश। कन्नौज के मौखरि राजा ग्रहवर्मा का विवाह स्थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था। मालव-नरेश देवगुप्त के साथ युद्ध करते हुए ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गई और प्रभाकरवर्धन का पुत्र हर्षवर्धन स्थानेश्वर और कन्नौज दोनो राज्यो का स्वामी वन गया। राजा हर्षवर्धन का भारत के इतिहास में वहुत महत्व है। उसने एक वार फिर उत्तर भारत की राज-नीतिक एकता के लिए प्रयत्न किया और दूर-दूर तक विजय यात्रा की। प्राय सारा हिन्दी प्रदेश उसके शासन में था और पूर्व में प्राग्ज्योतिष (आसाम) तक के राजाओ के साथ उसका घनिष्ठ सम्वन्ध था। हर्ष के विशाल साम्राज्य की राजवानी कन्नौज नगरी थी। मौर्य और गुप्त सम्राटो के समय में जो गौरव पाटलीपुत्र का था, वह अव कन्नौज को प्राप्त हो गया था। इस युग से कन्नौज भारत की राजशक्ति का प्रधान केन्द्र वन गया और हिन्दी प्रदेश के केन्द्र में स्थित इस नगरी की यह स्थिति कई सदियो तक कायम रही। वारहवी सदी तक कन्नौज ही भारत का प्रमुख नगर रहा और अनेक प्रतापी राजवशो ने उसे अपनी राजधानी वना कर शासन किया। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनत्साग हर्षवर्धन के समय में ही भारत की यात्रा के लिए आया था।

उसके अनुसार कन्नौज पाँच मील लम्बे और सवा मील चौडे क्षेत्र मे बसा हुआ था, उसके भवन स्वच्छ व सुन्दर थे, वहाँ के निवासी समृद्ध और वैभवपूर्ण थे और सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करते थे। कन्नौज की रचना एक दुर्ग के समान की गई थी। उद्यानो और जलाशयो की भी वहाँ प्रचुरता थी।

हर्ष (६०६ से ६४६ ई० = स० ६६३ से ७०३ वि०) के बाद भारत के प्राचीन इतिहास में कोई ऐसा राजा नही हुआ, जो मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) के बडे भाग को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ हो। वस्तुत इस युग में (सातवी सदी से बारहवी सदी ई० के अन्त तक) इस क्षेत्र के विविध प्रदेशो पर विविध राजवशो का शासन रहा। उनके राजा परस्पर युद्धो में व्यस्त रहे और अन्य राज्यो को जीतकर अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करते रहे। इस युग को भारत के इतिहास का **मध्ययुग** भी कहते है।

हर्षवर्धन के बाद लगभग एक सदी तक मध्यदेश की राजनीतिक दशा के सम्बन्ध मे निश्चित ज्ञान उपलब्ध नही है। कन्नौज में (जो इस समय उत्तर भारत की राजशक्ति का केन्द्र था) इस काल में किन राजाओ का शासन था, यह हमें ज्ञात नही है। परन्तु आठवी सदी के पूर्वार्ध मे कन्नौज में एक अन्य राजा हुआ जो हर्षवर्धन के समान ही प्रतापी था। इस राजा का नाम यशोवर्मा (७२७ से ७५२ ई० = स० ७८४ से ८०९ वि०) था। इस वीर राजा ने एक बार फिर उत्तर भारत को एक शासन में लाने का प्रयत्न किया और प्राय सम्पूर्ण मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) पर शासन करने में वह समर्थ हुआ। यशोवर्मा ने पूर्वदिशा में दिग्विजय करते हुए मगध से गुप्तवश के शासन का अन्त किया और गौड देश (बगाल) की भी विजय की। इस विजय का वृत्तान्त कवि वाक्पति ने 'गौडवहो' में विस्तार से लिखा है जो प्राकृत भाषा का एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। सस्कृत का प्रसिद्ध कवि भवभूति भी यशोवर्मा की राजसभा में रहता था।

यशोवर्मा के कुछ समय बाद कन्नौज का शासन ऐसे राजाओ के हाथ में चला गया, जिनके नाम के अन्त में 'आयुध' शब्द आता है। सम्भवत ये राजा आयुधवश के थे। इन्हें हर्षवर्धन के सेनापति भण्डि के वश का समझा जाता है। ये राजा निर्बल थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत के बडे भाग पर कन्नौज का आधिपत्य नही रह गया। इस काल में वस्तुत उत्तर भारत में एक प्रकार की अराजकता-सी छाई हुई थी और विविध प्रदेशो में अनेक नए राज्य कायम हो गए थे। इस स्थिति में पूर्वी भारत में गोपाल नाम के एक वीर पुरुष ने अपना सुसगठित राज्य स्थापित किया और एक नए वश का प्रारम्भ किया, जो इतिहास में 'पालवश' के नाम से प्रसिद्ध है। यह गोपाल ७६५ ई० (स० ८२२ वि०) के लगभग बिहार-बगाल का राजा बना। गोपाल के उत्तराधिकारी बडे वीर और प्रतापी थे। उन्होने न केवल बिहार-बगाल के प्रदेशो पर दृढतापूर्वक शासन किया, अपितु पश्चिम की ओर आक्रमण कर कन्नौज के राज्य को भी अपने अधीन किया। पालवशीय राजा धर्मपाल (७७० से ८०९ ई० = स० ८२७ से ८६६ वि०) का शासन प्राय सारे उत्तर भारत में विद्यमान था और कन्नौज के राजा चक्रायुध की स्थिति उसके महासामन्त के सदृश थी।

इसी समय राजस्थान की मरुभूमि मे एक अन्य शक्तिशाली राजवश का उत्कर्ष हो रहा

था, जिसका नाम गुर्जर प्रतिहार है। इस वश का शासन राजस्थान मे मारवाड से शुरू होकर भड़ौंच तक विस्तृत था और इसकी राजधानी भिन्नमाल थी। गुर्जर प्रतिहार राजा वत्सराज ने ७८३ ई० (स० ८४० वि०) में उत्तर-पूर्व की ओर दिग्विजय करते हुए कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के राजा चक्रायुध को (जो पालवशीय सम्राट धर्मपाल का महासामन्त था) परास्त कर कन्नौज को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार कन्नौज व मध्यदेश से पाल राजाओ के शासन का अन्त हुआ।

इसी काल में नर्मदा नदी के दक्षिण में एक अन्य शक्तिशाली राज्य का विकास हो रहा था, जिसके राजा राष्ट्रकूट कहलाते थे। चक्रायुध और धर्मपाल का समकालीन राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६० से ७७५ ई० =स० ८१७ से ८३२ वि०) था, जिसका राज्य सम्पूर्ण महाराष्ट्र और कर्नाटक में विस्तृत था। उसके उत्तराधिकारी राजाओ ने नर्मदा नदी को पार कर उत्तर भारत पर भी आक्रमण किए और गुर्जर प्रतिहार वा पालवशीय राजाओ के साथ अनेक सघर्षों का प्रारम्भ हुआ।

इस प्रकार आठवी सदी ई० के अन्तिम भाग में उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य करने के लिए तीन राजशक्तियो में सघर्ष हो रहा था—(१) विहार-वगाल के पालवशीय राजा, (२) भिन्नमाल के गुर्जर प्रतिहार राजा और (३) महाराष्ट्र-कर्नाटक के राष्ट्रकूट राजा। ये तीनो अपनी-अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थे और अवसर पाकर मध्यदेश के अधिक-से-अधिक भाग को अपनी अधीनता मे लाने के लिए प्रयत्नशील थे। गुर्जर प्रतिहारो, पालो और राष्ट्रकूटो के इस सघर्ष का वृत्तान्त यहाँ लिखने की आवश्यकता नही। इनमें कभी कोई सफल होता, कभी कोई। राष्ट्रकूट राजा कृष्ण और उसका उत्तराधिकारी ध्रुव, दोनो वडे प्रतापी थे। वे गुर्जर प्रतिहारो और पालवशीय राजाओ को अपने अधीन रखने में समर्थ रहे। पर ध्रुव की मृत्यु (७९४ ई० = स० ८५१ वि०) के वाद राष्ट्रकूटो की शक्ति क्षीण हो गई और गुर्जर प्रतिहारो का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ। उनके राजा नागभट्ट द्वितीय ने जो वत्सराज का पुत्र था, एक वार फिर कन्नौज पर कब्जा कर लिया, पर वह देर तक उत्तर भारत में मूर्धन्य नही रह सका। राष्ट्रकूटो ने एक वार फिर अपनी शक्ति को प्रदर्शित किया और उनके राजा गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। उसने कन्नौज से आगे वढकर उत्तर में हिमालय तक विजय यात्रा की। पालवशीय राजा भी उसकी अधीनता को स्वीकृत करने के लिए विवश हुए पर गोविन्द तृतीय का शासन भी देर तक कायम नही रहा। ८१४ ई० (स० ८७१ वि०) में जव उसकी मृत्यु हो गई, तो पालवशीय देवपाल ने राष्ट्रकूटो को परास्त कर मध्यदेश को अपने शासन मे ले लिया। इस प्रकार कुछ समय तक उत्तर भारत का मध्यदेश कभी गुर्जर प्रतिहारो के अधीन रहा, कभी राष्ट्र-कूटो के और कभी पालवश के।

पालवश का राजा देवपाल राष्ट्रकूटो का पराभव करने में समर्थ हुआ था और गुर्जर प्रतिहार राजा भी उसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। पर स्थिति ने एक वार फिर पलटा खाया। ८३६ ई० (स० ८९३ वि०) में मिहिरभोज या आदिवाराह गुर्जर प्रतिहार वश की गद्दी पर वैठा, जिसका शासन भिन्नमाल में पालवश के सामन्त के रूप में कायम था। मिहिरभोज वडा वीर और प्रतापी था। उसने देवपाल को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया और भिन्न-

माल के स्थान पर उसी को अपनी राजधानी बनाया। इस समय उत्तर भारत मे कन्नौज की प्राय वही स्थिति थी, जो मुसलिम राजवशो के शासन में दिल्ली की थी। कन्नौज के हाथ आ जाने से उत्तर भारत में विविध राजाओ ने जो पहले पालवशीय देवपाल के सामन्त थे, मिहिरभोज की अधीनता स्वीकार कर ली। ८५५ ई० (स० ९१२ वि०) मे मिहिरभोज ने बिहार को भी पालवश के राजा नारायणपाल (देवपाल के उत्तराधिकारी) से जीत लिया और इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) उसके आधिपत्य में आ गया। इस समय तक सिन्ध का प्रदेश अरबो की अधीनता में आ चुका था। अरब लोग जो सिन्ध से आगे भारत में नही बढ सके, उसका प्रधान कारण गुर्जर प्रतिहार राजाओ की शक्ति ही थी।

मिहिरभोज द्वारा स्थापित साम्राज्य दसवी सदी ई० के मध्य भाग तक कायम रहा। उसके उत्तराधिकारी भी उसी के समान वीर थे। पर गुर्जर प्रतिहारो की शक्ति भी देर तक स्थिर नही रही। ९१६ ई० (स० ९७३ वि०) मे दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा इन्द्र नित्यवर्मा ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया। यद्यपि वहाँ स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न उसने नही किया, पर उसकी दिग्विजय के कारण गुर्जर प्रतिहारो को जो भारी धक्का लगा, वे उसे फिर नही सँभाल सके। इस समय से उत्तर भारत की प्राय वही दशा हो गई जो हर्षवर्धन के बाद हुई थी। मध्य-देश (हिन्दी प्रदेश) एक बार फिर अनेक छोटे-बडे राज्यो में विभक्त हो गया, जिन पर विविध राजवश स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लगे।

दसवी सदी के मध्य भाग में गुर्जर प्रतिहारो की शक्ति के क्षीण होने पर मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) में जो अनेक राजवश शासन करने लगे, उनमें जेजाकभुक्ति का चन्देलवश, चेदि का कल-चूरिवश, मालवा का परमारवश, अणहिलवाडा का चालुक्यवश, शाकम्भरी का चौहानवश, और ग्वालियर का कच्छपघातवश मुख्य थे। इनके अतिरिक्त गुर्जर प्रतिहारो और पाल राजाओ के राज्य भी इस युग में कायम रहे, यद्यपि उनका क्षेत्र अब पहले के मुकाबले मे बहुत छोटा रह गया था। चन्देल, चौहान, परमार आदि वशों के राजा पहले गुर्जर प्रतिहारो के सामन्त थे, पर उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र हो गए थे। चन्देल वश का राज्य जेजाकभुक्ति मे था जिसे आजकल स्थूल रूप से बुन्देलखण्ड कहते हैं। इसकी राजधानी पहले महोबा थी और बाद में खजुराहो। कालिञ्जर इस राज्य का सबसे प्रसिद्ध दुर्ग था। चेदि का कलचूरि राज्य जेजाकभुक्ति के दक्षिण में था और उसकी राजधानी त्रिपुरी (जबलपुर के समीप) थी। चेदि और जेजाक-भुक्ति के पश्चिम में मालवा का परमार राज्य था, जिसकी राजधानी धारा नगरी थी। मालवा के पश्चिम में अणहिलवाडा का [illegible] राज्य था। शाकम्भरी का चौहान राज्य अजमेर के [illegible] प्रदेश में स्थित था। [illegible] देश में कच्छपघात वश का स्वतन्त्र शासन था। [illegible] भी गुर्जर प्रति[illegible] का शासन कायम रहा, यद्यपि उनका साम्राज्य [illegible]। यही दशा प[illegible] पूर्वी भारत में उसका भी स्वतन्त्र राज्य विद्य-

[illegible] निर[illegible] [illegible] में व्यस्त रहते [illegible] में भी अनेक [illegible] यात्राएँ की, [illegible] सुसगठित [illegible] [illegible]तिक एकता [illegible] कर सके।

तुर्को के आक्रमण

गुर्जर प्रतिहार राजाओ की शक्ति के निर्वल पड जाने पर जव उत्तर भारत में विविध राजवशो ने अपने छोटे बडे स्वतत्र राज्य कायम कर लिए थे, एक वार फिर पश्चिम दिशा की ओर से विदेशी आक्रमण प्रारम्भ हुए। पश्चिम की ओर से यवन, शक, युइशि सदृश जिन विदेशी जातियो के आक्रमण चौथी सदी ई० पू० में प्रारम्भ हुए थे, वे पहली सदी में समाप्त हो गये थे। ये आक्राता भारत में वस कर भारतीय वन गये थे और इन्होने इस देश के धर्म व सस्कृति को अपना लिया था। यही दशा उन हूण लोगो की हुई थी, जिन्होने पाँचवी सदी में इस देश पर आक्रमण किये थे। यवन, शक, पल्हव, कुशाण आदि के समान हूणो को भी भारतीयो ने अपने समाज का अग वना लिया था। पर अव दसवी सदी में जिन विदेशी जातियो के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हुए, वे एक ऐसे धर्म की अनुयायी थी, जिनमें अपूर्व जीवनी शक्ति थी। वे जातियाँ इस्लाम को मान ने वाली थी, जिसका सातवी सदी के प्रारम्भ में अरव देश में प्रादुर्भाव हुआ था। इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे, जो न केवल एक नये धर्म के पैगम्वर थे, अपितु जिन्होने अरव के छोटे छोटे राज्यो को सम्मिलित कर अपने देश को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में भी परिवर्तित कर दिया था। इसी कारण मुहम्मद के उत्तराधिकारी एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हुए। मुहम्मद की मृत्यु के वाद उनके उत्तराधिकारी अवूवकर ने अरवो की एक शक्तिशाली सेना को सगठित कर इस्लाम की शक्ति का विस्तार शुरू किया। उसके आक्रमणो के दो उद्देश्य थे इस्लाम की सर्वत्र विजय और अरव साम्राज्य का विस्तार। आठवी सदी के प्रारम्भ तक अरव लोग एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में समर्थ हो गये थे, जिसका विस्तार पूर्व में सिंघ से लेकर पश्चिम में स्पेन तक था। ईरान, ईजिप्त, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन आदि सव इस साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ७१२ ई० (स० ७६९) में अरवो ने भारत में सिन्ध की भी विजय कर ली थी। अरव लोग भारत में और भी आगे वढते पर उस समय तक इस देश की राजशक्ति इतनी प्रवल थी कि अरवो को अपने प्रयत्न में सफलता नही हुई।

नवी सदी के उत्तरार्ध में अरवो के साम्राज्य का पतन शुरू हुआ। इसी समय अरव साम्राज्य पर उत्तर की ओर से तुर्क जाति के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। तुर्क लोग हूण जाति की एक शाखा थे, जिन्होने मध्य एशिया में निवास करने वाले लोगो के सम्पर्क में आकर वौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। अव उन्होने अरव साम्राज्य पर हमले शुरू किये और कुछ समय में ही ईरान और मैसोपोटामिया के प्रदेशो को जीत लिया। मुसलमानो के सम्पर्क में आकर तुर्को ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया और अरव साम्राज्य को नष्ट कर अपने अनेक स्वतत्र राज्य कायम किये। तुर्क राज्यो में एक राज्य ग़ज़नी का था। इस राज्य की सीमा भारत के साथ लगती थी। दसवी सदी के अतिम भाग में गजनी के तुर्को ने भारत पर हमले शुरु किये। इस समय भारत की राज्यशक्ति अनेक राज्यो व राजवशो में विभक्त थी। परिणाम यह हुआ कि भारत के राजा तुर्क आक्राताओ का सफलता पूर्वक मुकावला नही कर सके।

ग़ज़नी के जिन तुर्क सुल्तानो ने भारत पर आक्रमण किये, उनमें महमूद ग़ज़नवी (९९७ से १०३० ई०=स० १०५४–१०८७) सर्व प्रधान था। भारत पर उसने अनेक वार हमले

किये और अपनी विजय यात्रा में मध्यदेश के भी अनेक राज्यो को परास्त किया। उत्तर पश्चिमी भारत और पजाव की विजय कर १०१४ ई० (स० १०७१) में महमूद ने थानेश्वर की विजय की और १०१८ ई० (स० १०७५) में गुर्जर प्रतिहार राजा राजपाल को परास्त कर कन्नौज पर कब्जा कर लिया। कन्नौज के चारो ओर सात किले थे। उन्हें एक एक करके जीत लिया गया। वह नगर जो दो सदियो से भारत का शिरोमणि रहा था, अव महमूद के आक्रमण से नष्टप्राय दशा को पहुँच गया। १०२५ ई० (स० १०८२) में महमूद ने गुजरात पर हमला किया और वहा के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर को वुरी तरह से नष्ट किया। वहाँ जो अपार सम्पत्ति सचित थी, वह सव लूट में महमूद के हाथ लगी। भारत की विजय में जो धन महमूद के हाथ लगता था, उसे वह अपनी राजधानी गज़नी को भेज देता था। नि सदेह महमूद एक महान विजेता और साम्राज्य निर्माता था। उसके प्रयत्न से गज़नी अपने समय के सवसे वडे नगरो में गिना जाने लगा। महमूद केवल विजेता ही नही था, अपितु साहित्य प्रेमी विद्वानो का आश्रयदाता भी था। उसने गज़नी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना की और वहा म्युजियम व पुस्तकालय भी कायम किये। फारसी का प्रसिद्ध कवि फिरदौसी उसी के दरवार में रहता था। फिरदौसी के अतिरिक्त अलबेरुनी, उतवी, फर्रूकी आदि अन्य अनेक विद्वानो ने उसके पास आश्रय प्राप्त किया था। अलबेरुनी सस्कृत का प्रकाड पडित था। उसके यात्रा विवरण से भारत के सम्वन्ध में वहुत सी महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

महमूद का विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के वाद कायम नही रहा। उसके उत्तराधिकारी निर्वल व अयोग्य थे। भारत के जिन प्रदेशो पर महमूद ने विजय प्राप्त की थी, वे प्राय सव अव स्वतन्त्र हो गये थे। महमूद द्वारा स्थापित साम्राज्य गज़नी तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो तक ही सीमित रह गया। केवल उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेश ही उसके अन्तर्गत रहे। मध्य देश के विविध राजवश फिर पूर्ववत् स्वतन्त्रता पूर्वक राज्य करने लग गये।

महमूद गजनवी के आक्रमण के कारण मध्यदेश के विविध राजवशो की शक्तियो को बुरी तरह से धक्का लगा था। कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार वश की शक्ति इन आक्रमणो के कारण बहुत क्षीण हो गई थी। इसीलिए १०८० ई० (स० ११३७) के लगभग गाहड्वाल वश के सरदार चन्द्रदेव ने गुर्जर प्रतिहार वश को परास्त कर कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया। चन्द्रदेव केवल कन्नौज पर अधिकार करके ही सतुष्ट नही हुआ, अपितु उसने व उसके उत्तराधिकारियो ने दूर दूर तक विजय यात्राए कीं। चन्द्रदेव का पोता गोविन्दचन्द्र (१११४ से ११५४ ई०=स० ११७१-१२११) बहुत प्रतापी था। वह एक बार फिर कन्नौज के विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने और प्राय सारे मध्यदेश में एक शासन स्थापित करने में समर्थ हुआ।

गुर्जर प्रतिहारो की शक्ति के क्षीण होने के कारण शाकम्भरी के चौहानो को भी अपने उत्कर्ष का अवसर मिला। उनके राजा वीसलदेव या विग्रहराज ने झासी, हिसार व दिल्ली के प्रदेशो को जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया।

इस प्रकार बारहवी सदी के उत्तरार्ध में मध्यदेश में दो राजवश प्रमुख थे—कन्नौज का गाहड्वालवश और दिल्ली-अजमेर का चौहान वश। इनके अतिरिक्त मालवा के परमार और चेदि के कलचूरि आदि अन्य राजवशो की सत्ता भी इस समय विद्यमान थी, यद्यपि उनमें

से अनेक गाहड्वालो व चौहानो के सामन्त रूप में अपने अपने प्रदेशो में शासन कर रहे थे। वारहवी सदी के अतिम भाग में कन्नौज की राजगद्दी पर जयचन्द विद्यमान था और अजमेर तथा दिल्ली पर पृथ्वीराज का अधिकार था। ये दोनो राजा एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी थे। इनके युद्धो के कारण एक वार फिर विदेशियो को भारत पर आक्रमण करने और यहाँ अपना आधिपत्य स्थापित करने का अवसर मिला।

तुर्क-अफगान शासन

गज़नी के पडोस में गोर नामका एक प्रदेश है, जिसके शासक गज़नवी साम्राज्य की अधीनता में थे। जव गज़नी के साम्राज्य की शक्ति क्षीण हुई तो इसके राजा स्वतत्र हो गये और ११५० ई० (स० १२०७) के लगभग गोर के राजा अलाउद्दीन ने गज़नी के सुल्तान को परास्त कर वहाँ अपना अधिकार कर लिया। अलाउद्दीन के वाद उसका भतीजा मुहम्मद गोरी राज्य का स्वामी वना। अपने साम्राज्य का विस्तार करने की इच्छा से उसने भारत पर आक्रमण शुरू किये। सिन्ध और मुलतान को जीतते हुए मुहम्मद ने पहले गुजरात पर चढाई की, पर उसे जीतने में उसे सफलता नही मिली। गुजरात को जीतने में असफल होकर मुहम्मद ने दिल्ली-अजमेर के चौहान राज्य पर आक्रमण किया। ११९१ ई० (स० १२४८) में पानीपत के समीप तलावडी के मैदान में चौहान सेना ने उसका मुकावला किया। इस युद्ध में भी मुहम्मद परास्त हुआ। वार वार भारतीय राजाओ से परास्त होकर भी मुहम्मद ने हिम्मत नही हारी और अन्त में वह पृथ्वीराज की सेना को हराने में समर्थ हुआ। ११९४ ई० (स० १२५१) में उसने कन्नौज के गाहड्वाल राज्य पर भी आक्रमण किया, और जयचन्द्र को युद्ध में परास्त किया। कन्नौज को जीत कर मुहम्मद पूर्व दिशा में और आगे वढा और उसकी इन विजयो के कारण मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) में काशी तक के प्रदेश पर विदेशी तुर्क आक्राताओ का आधिपत्य स्थापित हो गया। परन्तु मुहम्मद ने गोर और गज़नी को छोडकर स्वय दिल्ली या कन्नौज को राजधानी वना कर इस देश का शासन करने का प्रयत्न नही किया।

भारत के अपने 'विजित' का शासन करने के लिए उसने अन्यतम सेनापति क़ुतुवुद्दीन ऐवक को नियत किया, जो १२०६ ई० (स० १२६३) में अपने स्वामी की मृत्यु के वाद दिल्ली में स्वतत्र रूप से शासन करने लगा। इस वीच में तुर्क आक्राता भारत में अपने साम्राज्य को और अधिक विस्तृत करने में तत्पर थे। ११९७ ई० (स० १२५४) में उन्होने विहार-वगाल की विजय कर ली थी और १२०३ ई० (स० १२६०) में उन्होने जेजाकभुक्ति के कलचूरि राज्य को भी ले लिया था। इसीलिए जव १२०६ ई० (स० १२६३) में कुतुवुद्दीन ऐवक दिल्ली के राज सिंहासन पर आरूढ हुआ, तो प्राय सारा मध्यदेश उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। भारत के ये नये विदेशी शासक इतिहास में तुर्क-अफगान नाम से प्रसिद्ध है क्योकि कुतुवुद्दीन के वाद जिन मुसलिम राजवशो ने दिल्ली पर शासन किया, उनमें से कुछ तुर्क जाति के थे और कुछ अफगान जाति के। इनके सरदारो और सैनिको में भी इन दोनो जातियो के व्यक्ति सम्मिलित थे।

१२०६ ई० से १५२६ ई०=स० १२६३–१५८३ तक (जव कि वावर ने भारत में मुगल वादशाहत की स्थापना की) तीन सदी से भी अधिक समय तक भारत में तुर्क-अफगानो का

शासन रहा। इस काल में इन राजवशो ने शासन किया—गुलामवश (१२०६ ई० से १२९० ई०=स० १२६३–१३४७), खिलजीवश (१२९० ई० से १३२० ई०=स० १३४७–१३७७), तुगलकवश (१३२० ई० से १४१४ ई०=स० १३७७–१४७१), सैयदवश (१४१४ ई० से १४५१ ई०=स० १४७१–१५०८) और लोदीवश (१४५१ ई० से १५२६ ई०=स० १५०८–१५८३)। इनमें से गुलाम वश का शासन उत्तर भारत तक ही सीमित था। नर्मदा नदी के दक्षिण में इस वश के सुलतान अपनी शक्ति का विस्तार नही कर सके थे। कुतुबुद्दीन ऐवक मुहम्मद गोरी का गुलाम था। उसके वाद भी जो तुर्क सुलतान दिल्ली की राजगद्दी पर बैठे, वे भी शुरू में या तो स्वय गुलाम थे, या दास पुत्र थे। इसीलिए कुतुबुद्दीन और उसके उत्तराधिकारी इतिहास मे गुलामवश के सुलतान कहलाते है। इन सुलतानोकी शक्ति प्रधानतया इसी कार्य में लगी रही कि उत्तर भारत में अपने आधिपत्य को सुदृढ वनायें और विद्रोही सरदारो को अपना वशवर्ती वना कर रखें। मध्यदेश के जो अनेक राजवश अव तक तुर्को की अधीनता मे नही आये थे, उन्हें भी उन्होने परास्त कर अपने अधीन किया। सुलतान इल्तुतमिश (१२११ ई० से १२३६ ई०=स० १२६८–१२९३) ने ग्वालियर के राजा मगलदेव को हरा कर उसके राज्य को तुर्क साम्राज्य में सम्मिलित किया और मालवा के परमार राज्य की स्वतत्र सत्ता का भी अन्त किया। वह दक्षिण में राजपूताना और गुजरात की भी विजय करना चाहता था, पर इस प्रयत्न में उसे सफलता नही मिल सकी। राजपूत राज्यो को वश में ले आने के कार्य में वलवन (१२६६ ई० से १२८६ ई०=स० १३२३–१३४३) ने विशेष तत्परता दिखाई। इल्तुतमिश और वलवन जैसे प्रतापी सुलतानो के पराक्रम का ही यह परिणाम था कि न केवल मध्यदेश अपितु सारा उत्तर भारत गुलामवश के साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। पर इस प्रसग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस साम्राज्य की सीमाए वहुत कुछ सुलतान की व्यक्तिगत शक्ति और अपने साथी सैनिक नेताओ को कावू में रख सकने के सामर्थ्य पर निर्भर रहती थी। यदि कोई सुलतान निर्वल हुआ तो उसकी निर्वलता से लाभ उठाकर पुराने राजवश फिर से स्वतत्र हो जाते थे और अपने स्वतत्र राज्य स्थापित कर लेते थे। गुलामवश के सुलतानो के शासन काल में भारत पर मगोलो ने भी आक्रमण शुरू किए और उनसे अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिए इन सुलतानो को अनेकविध उपायो का अवलबन करना पडा। मगोल लोग चीन के उत्तरी प्रदेशो में निवास करते थे। तेरहवी सदी में उनमें एक वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम चगेज खाँ था। उसने मगोलो को सगठित कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जिसमें चीन, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, पश्चिमी एशिया, ईरान और रूस के पूर्वी प्रदेश सम्मिलित थे। उसके साम्राज्य की सीमा भारत के साथ लगती थी। इल्तुतमिश के शासनकाल में (१२२१ ई०=स० १२७८ के लगभग) चगेज खाँ की मगोल सेना ने भारत पर भी आक्रमण किया और सिन्ध नदी को पार कर पजाब को जीत लिया। इल्तुतमिश उनकी वाढ को रोक सकने में असमर्थ रहा। पर चगेज खाँ ने भारत में और अधिक आगे बढने का प्रयत्न नही किया। बलवन के समय में एक बार फिर मगोलो ने भारत पर आक्रमण किये, पर वे इस देश में अधिक आगे नही बढे।

कुतुबुद्दीन ऐवक और उनके उत्तराधिकारियो ने उत्तर भारत में तुर्क शासन को सुदृढ

रूप से स्थापित कर लिया था। उनसे पूर्व चौहान, गाहड्वाल, पाल, कलचूरि आदि जो अनेक राजवश मध्यदेश में शासन कर रहे थे, उनकी शक्ति अव समाप्त हो गई थी और उनके सव प्रदेश तुर्कों की अधीनता में आ गए थे। मध्यदेश के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था। यद्यपि प्राय सम्पूर्ण उत्तर भारत तुर्कों की अधीनता में आ गया था, तथापि कही-कही अव भी राजपूत वशो का शासन कायम रहा। काश्मीर से नेपाल तक सभी पहाडी प्रदेशो में राजपूत राजवश राज्य करते थे। दक्षिणी राजपूताना में भी राजपूतो की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। मेवाड को जीत सकने में तुर्क सुलतानो को सफलता नही मिली। महाकोसल (छत्तीसगढ) और वघेलखण्ड में भी राजपूतो की शक्ति कायम रही और इनके राजा तुर्क सुलतानो से सफलतापूर्वक अपनी रक्षा करते रहे।

गुलाम वश के सुलतानो के वाद खिलजी और तुगलक वश के सुलतानो ने दक्षिण भारत को भी अपनी अवीनता में लाने का प्रयत्न किया। इन सुलतानो में अलाउद्दीन खिलजी (१२९५ ई० से १३१६ ई०=स० १३५२ से १३७३ वि०) सवसे अधिक महत्वपूर्ण था। उसने दक्षिण मे दूर तक विजय यात्रा की और वहाँ के अनेक पुराने राजवशो को युद्ध में परास्त किया। यदि वह दक्षिणी राजपूताना को भी जीत सकता तो सम्पूर्ण उत्तर भारत और दक्षिणापथ पर अविकल रूप से उसका आधिपत्य स्थापित हो जाता। पर राणा हम्मीर के नेतृत्व में राजपूताना के मेवाड आदि राज्यो ने अलाउद्दीन के विरुद्ध अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया और रणक्षेत्र में अनेक वार परास्त हो जाने पर भी मेवाड सदृश राजपूत राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहे। वाद में मुहम्मद तुगलक (१३२५ ई० से १३५१ ई०=स० १३८२ से १४०८ वि०) ने भी राजपूतो को परास्त करने और दक्षिण में तुर्कों की शक्ति का विस्तार करने का प्रयत्न किया, पर उसे भी इस प्रयत्न में सफलता नही मिल सकी। यद्यपि दक्षिण में इन प्रतापी सुलतानो द्वारा अनेक राज्य परास्त किए गए पर वे स्थायी रूप से वहाँ अपना आधिपत्य कायम नही कर सके।

मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में ही तुर्क-अफगान सल्तनत की शक्ति का पतन प्रारम्भ हो गया था। कुछ ऐसी शक्तियाँ थी जो सदा सल्तनत का विरोध करने के लिए उद्यत रहती थी। वे शक्तियाँ इस प्रकार थी—(१) हिन्दू तथा राजपूत सरदार, (२) अमीर उमरावो के पड्यन्त्र, (३) प्रान्तीय सूवेदारो के विद्रोह और (४) विदेशी आक्रमण।

हिमालय के पार्वत्य प्रदेशो को दिल्ली के सुल्तान कभी भलीभाँति विजय नही कर सके थे। यही वात राजस्थान के सम्वन्व में कही जा सकती है। इसी कारण तुर्क सुलतानो की शक्ति के निर्वल होते ही इन राजपूत राज्यो ने स्वतत्रता के लिए सघर्प शुरू कर दिया और उन्होने सल्तनत के जुए को अपने कन्वो से उतार फेंका। अमीर उमरावो के पड्यन्त्रो से भी दिल्ली के सुलतान सदा परेशान रहते थे। वे अपने को सुलतान के समान ही महत्वपूर्ण मानते थे और पड्यन्त्र कर स्वय राजगद्दी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। केवल राजपूत सरदार ही सल्तनत के विरुद्ध विरोध करने के लिए उद्यत नही रहते थे, अपितु तुर्क अफगान व अन्य मुसलिम सेनापति और सूवेदार भी सदा इस अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे कि सुलतान निर्वल हो और उसकी निर्वलता से लाभ उठाकर वे स्वतन्त्र हो जाएँ। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल के अन्तिम भाग में जव सुलतान की शक्ति निर्वल हुई तो अनेक मुसलिम सूवेदार गुजरात, मालवा और

जौनपुर आदि मे स्वतन्त्र हो गए और उन्होने अपनी पृथक सल्तनत स्थापित कर ली। इन सब कारणो से जब दिल्ली की सल्तनत अन्दर से बिलकुल खोखली हो रही थी, विदेशी आक्रमण फिर आरम्भ हो गए और ईरान और मध्य एशिया के अधिपति तैमूरलग ने दिल्ली की सल्तनत पर चढाई कर दी (१३९८ ई० = स० १४५५ वि०)। उसने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और उसे बुरी तरह से लूटा। यद्यपि उसने स्थायी रूप से भारत पर शासन करने का प्रयत्न नही किया, पर उसके आक्रमण से सल्तनत को बहुत धक्का लगा।

इन्ही सब का यह परिणाम हुआ कि सैयद और लोदी वशो के सुलतानो का शासन दिल्ली, आगरा तथा उनके समीपवर्ती प्रदेशो तक ही सीमित रह गया और उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशो में विभिन्न मुसलिम तथा हिन्दू शासक स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लग गए। लोदी वश के सुलतान बहलोल लोदी (१४५१ से १४८९ ई० = स० १५०८ से १५४६ वि०) ने सल्तनत में शक्ति का सचार करने का प्रयत्न किया और उसने अनेक प्रदेशो को फिर से दिल्ली के साम्राज्य मे सम्मिलित कर लिया। मध्यदेश के जिन प्रदेशो पर बहलोल लोदी को विजय प्राप्त हुई थी उनमे जौनपुर का शर्की राज्य मुख्य था। इस राज्य की स्थापना १३९८ ई० (स० १४५५ वि०) मे मलिक सरवर ने की थी जो दिल्ली सल्तनत के पूर्वी (शर्की) सूबे का अधिपति था। तैमूर के आक्रमण के कारण दिल्ली की सल्तनत की जो दुर्दशा हो गई थी, उससे लाभ उठाकर मलिक सरवर जिसे मलिक-उस-शर्की (पूर्व का अधिपति) की उपाधि प्राप्त थी, स्वतन्त्र हो गया था। जौनपुर के शर्की सुलतानो में इब्राहीम शाह (१४०२ ई० से १४३६ ई० = स० १४५९ से १४९३ वि०) सबसे प्रसिद्ध है। कालपी, कन्नौज, बुलन्दशहर और सम्भल को जीत कर उसने अपने राज्य की सीमा को दिल्ली के समीप तक पहुँचा दिया था। वह न केवल वीर था, अपितु कला व साहित्य का भी प्रेमी था। जौनपुर की प्रसिद्ध अटाला मसजिद उसी ने बनवाई थी। उसकी कलाप्रियता के कारण जौनपुर विद्या और कला का बडा केन्द्र बन गया था। जौनपुर का यह स्वतन्त्र राज्य मध्यदेश के केन्द्र में स्थित था। ८० वर्ष तक इसकी स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। १४७९ ई० (स० १५३६ वि०) में बहलोल लोदी ने इसे जीतकर दिल्ली की सल्तनत में सम्मिलित कर लिया।

बहलोल लोदी के समान उसका पुत्र सिकन्दर लोदी (१४८८ ई० से १५१७ ई० = स० १५४५ से १५७४ वि०) भी वीर और प्रतापी था। उसने भी दिल्ली की सल्तनत की शक्ति का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया, पर लोदी सुलतानो के ये प्रयत्न पूर्ण सफलता प्राप्त नही कर सके। यही कारण है कि जब सोलहवी सदी के प्रारम्भ १५२६ ई० (स० १५८३ वि०) में बाबर ने भारत पर आक्रमण किया तो दिल्ली की सल्तनत की शक्ति बहुत क्षीण दशा में थी। वस्तुत उस समय भारत में दिल्ली की सल्तनत के मुकाबले में मेवाड के राजपूत राज्य की शक्ति बहुत अधिक थी। दिल्ली के सुलतानो की निर्बलता से लाभ उठाकर राजपूताना में जो विविध राज-वश स्वतन्त्र हो गए थे, उनमें मेवाड का सिसौदिया वश प्रमुख था। उसके प्रतापी राजाओ ने न केवल राजपूताना के अन्य राजाओ को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया था, अपितु मालवा और गुजरात के स्वतन्त्र मुसलिम सुलतानो को भी अनेक बार युद्ध में परास्त कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। १५०८ ई० (स० १५६५ वि०) में राणा सागा या सग्राम सिंह मेवाड के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। वह अपने समय का सबसे वीर और प्रतापी राजा था।

उसकी इच्छा थी कि दिल्ली की सल्तनत का अन्त कर एक वार फिर राजपूतो की शक्ति को स्थापित करे। इसी उद्देश्य से उसनने सुलतान इब्राहीम लोदी (१५९७ ई० से १५२६ ई०=स० १६५४-१५८३)पर दो बार चढाई की, जिनमें सागा की विजय हुई। इन विजयो के कारण सागा के राज्य की उत्तरी सीमा आगरा के समीप तक पहुँच गई और ग्वालियर तथा धौलपुर के राज्य भी उसकी अधीनता में आ गये। इस प्रकार सोलहवी सदी के प्रथम चरण में उत्तर भारत और मध्यदेश का अच्छा वडा भाग मेवाड साम्राज्य के अन्तर्गत था। मेवाड के अतिरिक्त वुदेलखड और वघेलखड में भी राजपूतो का शासन विद्यमान था।

मुगल साम्राज्य

तैमूर एक प्रतापी राजा था जिसने मध्य एशिया, ईरान व अन्य समीपवर्ती प्रदेशो की विजय कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। १४०५ ई० (स० १४६२) में उसकी मृत्यु हुई। उसका विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के वाद स्थिर नही रह सका। ईरान से वाहर के जो प्रदेश तैमूर ने अपने अधीन किये थे, वे सव स्वतत्र हो गये। तैमूर के साम्राज्य के खण्ड खण्ड होने पर जो अनेक राज्य कायम हुए, उनमें फरगाना का राज्य भी एक था। इस राज्य में आगे चल कर एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वावर था। वावर के अन्य सम्वन्धी उसे राज्यच्युत कर स्वय फरगाना के राजा वनने के लिए उत्सुक थे। अपने वन्धुओ से निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहने के कारण वावर निराश हो गया। अपने अनुगामी सैनिको को साथ ले कर उसने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर कावुल को जीत लिया। दिल्ली की सल्तनत के क्षीण हो जाने के कारण भारत में जो राजनीतिक अव्यवस्था विद्यमान थी उससे वावर ने लाभ उठाया और भारत पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। पजाव को उसने सुगमता से अपने अधीन कर लिया। दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी ने उसके मार्ग को रोकने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नही मिली। एप्रिल १५२६ ई० (स० १५८३) में पानीपत के रणक्षेत्र में दिल्ली की सल्तनत और वावर की सेनाओ में युद्ध हुआ, जिसमें इब्राहीम लोदी की पराजय हुई। पानीपत में विजयी होकर वावर ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और अपने को वादशाह घोषित किया। इब्राहीम लोदी को परास्त कर वावर ने दिल्ली और उसके समीपवर्ती प्रदेशो को अपने अधीन कर लिया था, पर इस समय भारत की प्रधान शक्ति दिल्ली की सल्तनत नही थी। वावर तव तक अपने को भारत का विजेता नही समझ सकता था, जव तक कि वह राणा सागा को परास्त न कर देता। सागा भी वावर को भारत से वाहर निकाल देने के लिए उत्सुक था, क्योकि वह स्वय दिल्ली पर अधिकार करना चाहता था। उसने वावर से युद्ध करने के लिए भारी तैयारी की। अन्य राजपूत राजाओ को सहायता के लिए निमत्रण दिया गया। राजपूत राजाओ ने वडे उत्साह से अपने अधिपति सागा का साथ दिया। अनेक तुर्क-अफगान सरदार भी वावर को परास्त करने के लिए सागा के साथ आ मिले, क्योकि वावर की विजय से राज्यशक्ति उनके हाथो से भी निकल चुकी थी। सीकरी के समीप १५२७ ई० (स० १५८४) में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें वावर की विजय हुई। भारत में वावर को जो असाधारण विजय मिली, उसका प्रधान कारण यह था कि वह युद्ध में तोपो का प्रयोग करता था। वारूद

और गोला का प्रयोग पहले पहल मगोल लोगो ने ही शुरू किया था। चगेज खाँ की विश्वविजय मे भी बारूद ही प्रधान रूप से मगोलो का सहायक हुआ था। वावर मगोलो का ही वशज था और उसी के द्वारा वारूद और तोपो का भारत में प्रवेश हुआ। रणक्षेत्र में सागा को परास्त कर वावर ने राजपूताना के विविध दुर्गों पर आक्रमण किये और उन्हें विजय करने में वह सफल हुआ। इसके वाद उसने पूर्व दिशा में आगे वढकर विहार और वगाल पर भी चढाइयाँ की। १५३० ई० (स० १५८७) में जव उसकी मृत्यु हुई, तो पूर्व में वगाल तक और दक्षिण में मालवा तक के सव प्रदेश उसकी अवीनता में आ चुके थे।

वावर की मृत्यु के वाद उसका पुत्र हुमायूँ विशाल मुगल साम्राज्य का स्वामी वना, पर अभी भारत में मुगलो की शक्ति भलीभाँति सुदृढ नही हुई थी। इसलिए विहार में शेर खा नामक वीर अफगान के नेतृत्व में मुगल शासन के विरुद्ध विद्रोह हो गया। अभी हुमायूँ इस विद्रोह को पूर्णतया शात भी नही कर सका था कि गुजरात के स्वतत्र मुसलिम सुलतान वहादुर-शाह ने उत्तर भारत के मुगल साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसे परास्त करने में हुमायूँ को वहुत यत्न करना पडा। मुगल वादशाह को वहादुरशाह के साथ युद्ध में व्यस्त देखकर विहार में शेर खा ने अपनी शक्ति वहुत वढा ली और अन्त में हुमायूँ को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (१५४० ई०=स० १५९७)। वावर द्वारा स्थापित मुगल शासन भारत में देर तक कायम नही रह सका और एक वार फिर शेरशाह द्वारा दिल्ली की सल्तनत की शक्ति कायम हुई। शेर खा द्वारा दिल्ली में एक नये वश का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'सूरी' कहते है। शेर खा या शेरशाह अत्यत योग्य शासक था। उसने पजाव, सिन्ध और मालवा की विजय कर प्राय सम्पूर्ण उत्तर भारत में अपने शासन का विस्तार किया। मध्यदेश तो प्राय अविकल रूप से उसके अधीन था।

जिस समय शेरशाह भारत में अपना शासन स्थापित करने का उद्योग कर रहा था, हुमायूँ भी शात नही बैठा था। शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ई०=स०१६०२) के बाद उसने ईरान के शाह तहमास्प की सहायता से एक वार फिर अपने भाग्य को आजमाया। काबुल और कान्धार को जीतकर १५५५ ई० (स० १६१२) में उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और शेरशाह के वशज सुलतान सिकन्दरशाह को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

हुमायूँ की मृत्यु १५५६ ई० (स० १६१३) मे हुई। उसके बाद उसका पुत्र अकवर मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। राजगद्दी पर आरूढ होने के समय अकवर का साम्राज्य केवल उत्तर पश्चिमी भारत, पजाब, दिल्ली, आगरा और उनके समीपवर्ती प्रदेशो तक ही सीमित था। सूरवशी सुलतान को परास्त कर दिल्ली की राजगद्दी पर तो मुगलो का अधिकार हो गया था, पर उनका शासन पूर्व में दूर तक विस्तृत नही था। शेरशाह के उत्तराधिकारी सूर सुलतानो की निर्वलता से लाभ उठा कर बगाल, जौनपुर, मालवा, सिन्ध आदि में विविध मुसलिम सुलतानो के स्वतत्र राज्य स्थापित हो गये थे और मेवाड, जोधपुर, जैसलमेर, जयपुर आदि के राजपूत वशो ने भी अपने स्वतत्र राज्य फिर से कायम कर लिए थे। यही नही, युद्ध में परास्त होने के बाद भी सूरवशी अफगानो का मूलोच्छेद नही हो गया था। आदिलशाह सूर के नेतृत्व में अफगान राजशक्ति ने एक बार फिर सिर उठाने का प्रयत्न किया और हेमू नामक हिन्दू के सेनापतित्व में

उन्होंने आगरा और दिल्ली के प्रदेशो को अपने अधिकार में कर लिया। मुगलो से दिल्ली को जीत कर हेमू ने अपने को सम्राट घोषित कर दिया और 'विक्रमादित्य' की प्राचीन, गौरवशाली उपाधि धारण कर स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया। पर हेमू विक्रमादित्य का शासन देर तक नही रह सका। १५५६ ई० (स० १६१३ वि०) में पानीपत के रणक्षेत्र मे अकबर की मुगल सेनाओ ने हेमू को परास्त किया और दिल्ली-आगरा को पुन अपने अधिकार में कर लिया।

पर अभी तक मध्यदेश के बहुत से प्रदेश ऐसे थे, जिनमें विविध मुसलिम तथा राजपूत राजाओ के स्वतन्त्र शासन विद्यमान थे। इस समय अकबर को दो प्रकार के राजाओ से युद्ध करना था, राजपूत राजाओ से और सूर वश के पतन के बाद कायम हुए विविध सुलतानो से। इन्हें परास्त किए बिना वह उत्तर भारत में अपने आधिपत्य का विस्तार नही कर सकता था। पर साथ ही उसके लिए यह भी सुगम नही था कि वह मुसलिम (तुर्क-अफगान) और राजपूत दोनो राज-शक्तियो का एक साथ मुकाबिला कर सके। मुगलो और तुर्क-अफगानो का धर्म एक था, किन्तु धर्म की एकता उन्हे मित्र बना सकने में असमर्थ रही, क्योकि मुगलो ने दिल्ली की मुसलिम सल्तनत का अन्त करके ही इस देश में प्रवेश किया था। इस स्थिति में अकबर का ध्यान राजपूतो की ओर गया, जो वीरता, साहस आदि गुणो में अद्वितीय थे। भारत मे मुगल शासन की स्थापना करते हुए अकबर ने राजपूतो का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया और इसमें वह सफल हुआ। इसलिए उसने राजपूतो से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। सब से पहले जयपुर के राजा भार-मल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कर दिया। उसके बाद अन्य अनेक राजपूत राजाओ ने भी अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किए। अकबर ने राजपूतो को मुगल साम्राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद प्रदान किए और उन्ही की सेना की सहायता मे भारत के अनेक प्रदेशो की विजय की।

जिन मुसलिम सुलतानो को अकबर ने युद्ध में परास्त किया, उनमें मालवा के सुलतान बाजबहादुर का नाम उल्लेखनीय है। मालवा का प्रदेश सूर सल्तनत के अन्तर्गत था। किन्तु उसकी शक्ति के निर्बल पडने पर १५५५ ई० (स० १६१२ वि०) में बाजबहादुर ने वहाँ अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करली थी। बाजबहादुर ने रूपवती नाम की एक राजपूत सुन्दरी से विवाह किया था। उनके प्रेम की कथाएँ अब तक मालवा में कही जाती है। १५६० ई० (स० १६१७ वि०) मे मुगल सेनाओ ने बाजबहादुर को परास्त कर मालवा को अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। इससे दो वर्ष पूर्व जौनपुर को भी मुगलो ने जीत लिया था जो कि उस समय उत्तर भारत में अफ-गानो की शक्ति का बडा केन्द्र था। इन अफगानो की पराजय के कारण बिहार तक का मध्यदेश मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। जौनपुर को जीतकर मुगलो ने ग्वालियर की विजय की और मालवा को जीतकर गोडवाना की। इन दोनो प्रदेशो में राजपूतो का शासन था। इन्हें जीतते हुए अकबर को जिस कठिनाई का सामना करना पडा, उसी के कारण उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया और राजपूतो के साथ मैत्री का सहयोग प्राप्त किया। इसी नीति के कारण बहुत से राजपूत राजाओ ने अकबर के साथ मैत्री कर उसे सहयोग देना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु राजपूतो में भी एक राजवश ऐसा था, जो किसी भी प्रकार मुगलो से मैत्री करने व अकबर

को अपना अधिपति स्वीकार करने के लिए तैयार नही हुआ। यह राजवश मेवाड का था। राणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड के राजपूतो ने मुगलो के माथ सघर्प को जारी रखा। यद्यपि मेवाड के सब दुर्ग मुगल सेनाओ के अधिकार में आ गए थे, किन्तु प्रताप ने जगलो को अपना केन्द्र वनाकर अकवर से सघर्प किया और अपने राजवश के गौरव को क्षीण नही होने दिया।

किन्तु इसमें सन्देह नही कि प्रताप के अतिरिक्त अन्य राजपूत राजा अकवर की नीति से सन्तुष्ट थे और उन्होने स्वेच्छापूर्वक उसकी अवीनता को स्वीकार कर लिया था। अपने छोटे-छोटे राज्यो में स्वतन्त्र शासक होने की अपेक्षा उन्हे विशाल मुगल साम्राज्य के उच्च पदाविकारी, सूवेदार या सेनापति होने में अधिक गौरव अनुभव होता था। वे भलीभाँति समझते थे कि मुगलो की शक्ति उन्ही की सहायता व सहयोग पर निर्भर है। अकवर ने हिन्दुओ के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण किया। उसमे पूर्व मथुरा, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि हिन्दू तीर्थों की यात्रा के लिए आने वाले तीर्थयात्रियो से एक विशेप कर लिया जाता था। अकवर ने उसे हटा दिया। १५६४ ई० (स० १६२१ वि०) में उसने हिन्दुओ से जजिया कर वसूल करना भी वन्द कर दिया। इस कर के हटा देने से मुगल साम्राज्य की हिन्दू और मुसलिम प्रजा में कोई भेद नही रह गया। यह वात वडे महत्व की थी। तुर्क-अफगान युग में भारत में मुसलिम वर्ग का शासन था। किन्तु अकवर ने अपने साम्राज्य में एक ऐसे शासन की नीव डाली, जो किसी सम्प्रदाय विशेप या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सव जातियो और सम्प्रदायो का सम्मिलित शासन था। उसने अपनी सरकार में हिन्दुओ को ऊँचे-ऊँचे पदो पर नियुक्त किया। राजा टोडरमल उसका दीवान था। राजा भगवानदास और मानसिंह उसके प्रमुख सेनापति थे। अफगानिस्तान जैसे मुसलिम प्रदेश का शासन करने के लिए उसने मानसिंह को नियुक्त किया था।

सम्पूर्ण मध्यदेश तो अकवर के आधिपत्य में था ही, वाद में उसने वगाल, गुजरात, काश्मीर, सिन्ध और बिलोचिस्तान की भी विजय की। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तर भारत को वह अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने में सफल हुआ। अकवर ने यह भी यत्न किया कि नर्मदा नदी के दक्षिण में स्थित विविध मुसलिम राज्यो को जीत कर दक्षिणापथ में भी अपने आधिपत्य को स्थापित करे। वहाँ इस समय पाँच मुसलिम राज्य थे, जिन्हें 'शाही' कहा जाता था। इनमें से अहमदावाद की निजामशाही की विजय करने मे अकवर समर्थ हुआ और इस विजय के कारण उसके साम्राज्य की दक्षिण सीमा गोदावरी नदी तक पहुँच गई। १६०५ ई० (स० १६६२ वि०) में जब अकवर की मृत्यु हुई तो भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना सुदृढ रूप से हो चुकी थी। वस्तुत मुगल साम्राज्य का सस्थापक अकबर ही था।

१६०५ ई० (स० १६६२ वि०) मे अकवर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सलीम जहाँगीर के नाम से मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। वह राजपूत माता का पुत्र था, इस कारण उसमें हिन्दू रक्त विद्यमान था। उसने अनेक अशो में अपने पिता की उदार नीति को जारी रखा। दक्षिणापथ में मुगल शासन का विस्तार करने के लिए उसने अनेक युद्ध किए, पर उनमें उसे विशेष सफलता नही मिली। १६२६ ई० (स० १६८३ वि०) में जहाँगीर की मृत्यु हुई और उसका पुत्र शाहजहाँ मुगलो के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। दक्षिणापथ में अपने साम्राज्य को विस्तृत करने मे उसे सफलता मिली। १६३३ ई० (स० १६९० वि०) में अहमदनगर को अन्तिम

रूप से विजय कर निजामशाही का उसने अन्त कर दिया, और बीजापुर तथा गोलकुंडा की शाहियों के विरुद्ध युद्ध कर उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। शाहजहाँ के प्रयत्न से दक्षिणापथ का बड़ा भाग मुगल साम्राज्य की अधीनता में आ गया। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनो के समय में मुगल साम्राज्य का वह 'राष्ट्रीय' रूप कायम रहा, जिसे अकबर ने स्थापित किया था। इन बादशाहो के शासन काल में उत्तर भारत व मध्यदेश में मुगलो का आधिपत्य अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रहा और इन प्रदेशों में शान्ति व व्यवस्था कायम रही।

पर इस युग में उत्तर भारत में मुगलो के आधिपत्य को सुदृढ बनाने के लिए अनेक प्रयत्न हुए। अकबर मेवाड को पूर्णतया अपनी अधीनता में नही ला सका था। राणा प्रताप अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए निरतर मुगलो से युद्ध करता रहा था। उनका पुत्र अमरसिंह भी वीर और साहसी था। वह जहाँगीर की अधीनता स्वीकार करने के लिए उद्यत नही हुआ। इस कारण जहाँगीर और अमरसिंह में अनेक युद्ध हुए, जिनके कारण अन्त में दोनो पक्षो में सन्धि हो गई। इस सन्धि के द्वारा मेवाड़ के सिसौदिया राजवश ने अपनी मान प्रतिष्ठा कायम रखते हुए मुगलो की अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर की मृत्यु के बाद बुन्देलखण्ड ने भी स्वतन्त्र होने का प्रयत्न किया, जिसके कारण जहाँगीर और शाहजहाँ को उनके साथ निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहना पडा। हिमालय के क्षेत्र में विद्यमान अनेक राज्य अकबर के आधिपत्य में नही आये थे। इन बादशाहो ने उन्हें भी मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत किया।

शाहजहाँ के जीवनकाल में ही अपने अन्य भाइयो को गृहयुद्ध में परास्त कर और अपने पिता को बन्दी बना कर औरगजेब मुगल साम्राज्य का स्वामी बना (१६५८ ई०= स०१७१५)। अकबर की नीति का परित्याग कर उसने भारत को एक इस्लामी राज्य के रूप में परिणत करने का उद्योग किया। मुगल शासन की नीव राजपूतो और हिन्दुओ के सहयोग व सहानुभूति पर रखी गई थी। औरगजेब ने इसी पर कुठाराघात किया। इस्लाम के सिद्धान्तो के अनुसार भारत का शासन करने के उद्देश्य से जो कार्य औरगजेब ने किए, उनमें मुख्य इस प्रकार थे—(१) हिन्दुओ पर फिर से जजिया कर लगाया गया। (२) हिन्दू मन्दिरो को तोड़ने की आज्ञा जारी की गई। काशी में विश्वनाथ, गुजरात में सोमनाथ और मथुरा में केशवराय के मन्दिर उस समय बहुत प्रसिद्ध थे। वे सब औरगजेब की आज्ञा से तोड दिये गये। अन्य भी बहुत से मन्दिर ध्वस्त किये गये। (३) व्यापार, व्यवसाय आदि में हिन्दुओ और मुसलमानो में भेद किया गया। यदि मुसलमान व्यापारी से ढाई प्रतिशत कर लिया जाता था, तो हिन्दू व्यापारियो से पाँच प्रतिशत कर लेने की व्यवस्था की गई। इसका प्रयोजन यह था कि हिन्दू व्यापारी आर्थिक लाभ से आकृष्ट होकर इस्लाम को स्वीकार कर लें। (४) जो हिन्दू इस्लाम की दीक्षा लेते थे उन्हें इनाम दिये जाते थे, उनका जुलूस निकाला जाता था। उन्हें राज्य में ऊँचा पद मिलता था। 'मुसलमान हो जाओ और कानून को मान जाओ', यह उस समय एक कहावत भी बन गई थी। (५) यह आज्ञा प्रकाशित की गई कि हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से अपने उत्सव व त्यौहार न मना सकें। (६) हिन्दुओ को उच्च राजकीय पदो से हटा कर उनके स्थान पर मुसलमानो को नियुक्त करने की नीति को अपनाया गया। (७) दिल्ली के

राजदरवार में जो अनेक हिन्दू रीति रिवाज प्रविष्ट हो गये थे, उन सव को वन्द कर दिया गया।

औरगजेव की इस हिन्दू विरोधी नीति का परिणाम मुगल साम्राज्य के लिए वहुत वुरा हुआ। हिन्दुओ की जो शक्ति अव तक मुगलो के लिए सहारा वनी हुई थी, वह अव उनके विरुद्ध उठ खडी हुई। इसी कारण उत्तर भारत व विशेपतया मव्यदेश में अनेक स्थानो पर औरगजेव के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गये, जिनमे मुख्य इस प्रकार थे—(१) मथुरा के समीप जाटो ने विद्रोह कर दिया। वीस साल तक जाट लोग निरन्तर मुगलो के विरुद्ध सघर्प में तत्पर रहे। (२) नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियो ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने में औरगजेव की सेनाओ को विकट सकट का सामना करना पडा। (३) राजपूताना में दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में राजपूतो ने विद्रोह कर दिया। चौथाई सदी के लगभग राजपूत लोग मुगलो के विरुद्ध सघर्प करते रहे। मेवाड के राणा राजसिंह ने भी इस सघर्ष में दुर्गादास का साथ दिया। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा कि राजपूताना को अपने आधिपत्य में रख सकना औरगजेव के लिए सभव नही रहेगा। जो सेनाए राजपूतो को परास्त करने के लिए गईं, वे प्राय अपने प्रयत्न में असफल रही। अन्त में औरगजेव को राजपूतो के साथ सन्धि करने के लिए विवश होना पडा। (४) पजाव में सिक्खो के गुरु तेगवहादुर ने औरगजेव की नीति का विरोध किया। सिक्ख पथ का प्रादुर्भाव गुरु नानक द्वारा किया गया था और पजाव में इनके वहुत से अनुयायी थे। वादशाह के खिलाफ बगावत फैलाने के अपराध में गुरु तेग वहादुर का बडी क्रूरता के साथ वध किया गया। गुरु के वध का समाचार सुनकर सिक्खो मे सनसनी फैल गई। वे अपने गुरु की हत्या का वदला लेने के लिए उठ खडे हुए। इस समय सिक्खो में एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें सगठित कर एक प्रवल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्दसिंह था। उसके प्रयत्न से सिक्ख लोग एक प्रवल सैन्य शक्ति (खालसा) बन गये और मुगलो के विरुद्ध सघर्ष में तत्पर हुए। (५) दक्षिण भारत में शिवाजी ने मराठा राज्य की नीव डाली, जिसका उद्देश्य विधर्मी मुगल शासन का अन्त कर हिन्दू राज्य शक्ति का पुनरुद्धार करना था। शिवाजी व उसके उत्तराधिकारी इस उद्देश्य मे सफल भी हुए। (६) बुन्देलखण्ड में छत्रसाल के नेतृत्व में विद्रोह हुआ।

मुगल शासन की जो नीति अकबर ने निर्धारित की थी, उसके तीन प्रधान तत्व थे—(१) शासन को किसी वर्ग या धर्म की शक्ति पर आश्रित न रखकर सम्पूर्ण राष्ट्र पर आश्रित रखना। (२) हिन्दुओ के सहयोग व सहानुभूति को प्राप्त करना। (३) सम्पूर्ण भारत को एक शासन की अधीनता में लाना। औरगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के कारण उसके शासन काल में पहले दो तत्वो का अन्त हो गया। पर तीसरे तत्व को क्रिया में परिणत करने में औरगजेब ने कोई कसर नही उठा रखी। शाहजहाँ के शासनकाल में दक्षिणापथ में मुगल सत्ता का बहुत विस्तार हुआ था। अहमदनगर मुगलो के शासन में आ गया था और बीजापुर की आदिलशाही व गोलकुडा की कुतुबशाही ने मुगलो के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पर औरगजेब इतने से ही सन्तुष्ट नही हुआ। उसका प्रयत्न था कि इन सब को जीत कर मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत कर ले और सुदूर दक्षिण में भी मुगल शासन का विस्तार करे। इसीलिए उसने अपनी

सव शक्ति दक्षिण के युद्धो में लगा दी। उसके शासनकाल के पिछले पच्चीस वर्ष दक्षिण मे व्यतीत हुए। वह दक्षिणापथ को अविकल रूप से अपने अधीन करने में सफल हुआ और मराठा की शक्ति को नष्ट करने में भी उसे सफलता मिली।

मराठों का अभ्युदय

औरगजेव के शासनकाल में दक्षिणापथ में मराठा राजशक्ति का अभ्युदय हुआ। इस काल में मराठो में एक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें एक प्रवल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस महापुरुष का नाम शिवाजी (जन्म काल १६२७ ई०=स० १६८४) था। शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर की निजामशाही के एक प्रतिष्ठित जागीरदार थे। उनकी अपनी जागीर पूना में थी। मुगलो के आक्रमणो के कारण दक्षिणापथ की शक्तियो की जो दुर्दशा थी, शिवाजी ने उससे लाभ उठाया और अपना एक स्वतत्र राज्य स्थापित कर लिया। इस राज्य के दो भाग थे—स्वराज्य और मुगलिया। जो प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में थे, उन्हें 'स्वराज्य' कहते थे। मुगलिया प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में नही थे, पर मराठे लोग उनसे 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' नाम के कर वसूल करते थे। जिन प्रदेशो में कर वसूल किये जाते थे, उनकी अन्य शक्तियो से रक्षा करना मराठा लोग अपना कर्तव्य समझते थे। शिवाजी के 'स्वराज्य' में उत्तर में कल्याण से लेकर दक्षिण में गोवा तक के प्रदेश सम्मिलित थे। सुदूर दक्षिण में वेल्लारी और जिन्जी के दुर्गों को भी उसने विजय किया था। चौथ और सरदेशमुखी कर तो प्राय सम्पूर्ण दक्षिणापथ से वसूल किये जाते थे। मराठा राज्य की नीव को सुदृढ वनाकर १६८० ई० (स० १७३७) में शिवाजी की मृत्यु हुई।

शिवाजी का उत्तराधिकारी सम्भाजी था। वह औरगजेव के मुकावले में अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा। १६८९ ई० (स० १७४६) में उसे कैद कर लिया गया और वडी क्रूरता से उसका वध किया गया। शिवाजी ने जिस मराठा राज्य की स्थापना की थी, औरगजेव उसका अन्त करने में सफल हुआ। पर मराठो का यह अपकर्ष सामयिक था। औरगजेव की मृत्यु (१७०७ ई०=स० १७६४) के वाद उन्हें अपनी शक्ति वढाने का अवसर मिला। यद्यपि मुगल सेनाओ ने मराठो के दुर्गों पर कब्जा कर लिया था, पर मराठे लोग इससे हार नही मान गये थे। उनके वहुत से दल चारो ओर से मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए निकल पडे। वे किसी प्रदेश पर स्थिर रूप से अपना शासन करने का प्रयत्न नही करते थे। वे जहाँ जाते, चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

औरगजेव के उत्तराधिकारी निर्वल थे। न उनमें अकवर जैसी नीति कुशलता थी, और न औरगजेव जैसा साहस। मराठो ने इस स्थिति मे लाभ उठाया। वालाजी विश्वनाथ नामक सुयोग्य नेता के नेतृत्व में मराठो ने दिल्ली की वादशाहत के अतिरिक्त झगडो में हस्तक्षेप किया, और सम्पूर्ण दक्षिण भारत से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। वालाजी विश्वनाथ (१७१३ ई० से १७२० ई०=स० १७७० से १७७७) के प्रयत्न से मराठो की शक्ति वहुत वढ गई। मुगलो की शक्ति के क्षीण होते ही उन्होंने अपने असली मराठा 'स्वराज्य'

को तो स्वाधीन कर ही लिया था, अब चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त करके दक्षिण भारत की वास्तविक राजशक्ति बन गये थे।

पेशवा बाजीराव (१७२० ई० से १७४० ई०=स० १७७७-१७९७) के समय में मराठो की शक्ति केवल दक्षिण भारत तक ही सीमित नही रही। उन्होने दक्षिण भारत से आगे बढकर गुजरात, मध्य भारत आदि पर भी आक्रमण करने शुरू कर दिये। इन आक्रमणो के कारण मराठो के चार नये राज्य कायम हुए। राघोजी भोसले ने मध्यभारत में नागपुर को राजधानी बनाकर एक नये राज्य की स्थापना की। इदौर में मल्हारराव होल्कर ने, ग्वालियर में रानोजी सिंधियाने और गुजरात में पीलाजी गायकवाड ने अपने अपने राज्यो को कायम किया। इनमें से सिंधिया और होल्कर के राज्य हिन्दी प्रदेश में थे। इन चारो राज्यो के राजा पेशवा को अपना अधिपति मानते थे, जो शिवाजी के वशज छत्रपति राजा के नाम पर वास्तविक राजशक्ति का प्रयोग करता था। सिंधिया, गायकवाड, होल्कर और भोसले क्रियात्मक दृष्टि से स्वतत्र राजा थे और अपने शासन क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इन वीर राजाओ ने उत्तर में गगा यमुना के प्रदेशो तक आक्रमण किये और मध्यदेश में अपनी शक्ति को विस्तृत किया। मुगल साम्राज्य अब इतना निर्बल हो गया था, कि मराठो से अपनी रक्षा कर सकना उसके लिए सभव नही रहा।

बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव (१७४० ई० से १७६१ ई०= स० १७९७-१८१८) पेशवा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके शासन काल में मराठा साम्राज्य शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गया। इसी काल में राघोजी भोसले ने बगाल और उडीसा पर आक्रमण किये। उडीसा मराठो के शासन में आ गया और बगाल मे उन्होने चौथ और सर-देशमुखी कर वसूल किये। इसी समय एक मराठा सेना ने रुहेलखण्ड (पाचालदेश) पर आक्रमण किया और पेशवा के भाई रघुनाथ राव ने पजाब पर चढाई की, जिसके कारण सिंध नदी के तट पर स्थित अटक के दुर्ग पर मराठो का भगवा झण्डा फहराने लगा। दिल्ली के मुगल बादशाह इस काल में मराठो के हाथो में कठपुतली के समान थे। उनका तेज मराठो के सम्मुख मन्द पड गया था।

औरगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के कारण मुगल शासन के राष्ट्रीय रूप का अन्त हो गया था और राजपूत, सिक्ख, मराठे और विविध राजशक्तियां मुगल साम्राज्य का अन्त कर अपने स्वतत्र राज्य स्थापित करने में तत्पर हो गई थी। इस समय यदि मुगल राजकुल और उनके मुसलिम मनसबदारो व सूबेदारो में ऐक्य होता और वे खण्ड-खण्ड होते हुए साम्राज्य की रक्षा के लिए सम्मिलित रूप से यत्न करते, तो शायद कुछ समय के लिए उसकी रक्षा भी हो जाती। पर वे भी आपस में लडने, अपने स्वतत्र राज्य कायम करने और अपने व्यक्तिगत उत्कर्ष की फिकर में रहते थे। परिणाम यह हुआ कि विशाल मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हो गया और उसके खण्डहरो पर विविध स्वतत्र राज्य कायम होने लगे। पजाब में सिक्खो ने जोर पकडा। बुन्देलखण्ड, राजपूताना और मध्य भारत में अनेक स्वतत्र व अर्द्ध-स्वतत्र राजपूत राज्य कायम हुए। जाटो ने मथुरा व आगरा के समीपवर्ती प्रदेशो में अपने राज्य स्थापित किये। मराठे न केवल दक्षिण भारत में अपनी शक्ति का विस्तार करने में समर्थ हुए,

अपितु अटक से कटक तक और हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक अपने आधिपत्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हुए। मुगल वादशाहो द्वारा नियुक्त प्रातीय सूवेदार दिल्ली के वादशाह की उपेक्षा कर स्वतत्र राजाओ के समान आचरण करने की प्रवृत्ति रखने लगे।

यह स्थिति थी, जब कि औरगजेव की मृत्यु (१७०७ ई०=स० १७६४) के वत्तीस साल वाद १७३९ ई० (स० १७९६) में ईरान के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। इस समय दिल्ली की राजगद्दी पर मुहम्मदशाह विराजमान था। वह नादिरशाह का मुकावला करने में असमर्थ रहा। मुगल सेना को युद्ध में परास्त कर नादिरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और उसे वुरी तरह से लूटा। यद्यपि ईरानी आक्रान्ता ने भारत पर स्थायी रूप से शासन करने का प्रयत्न नही किया, पर उसके आक्रमण के कारण मुगल वादशाहत की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गई। मराठो, राजपूतो और सिक्खो ने उसे पहले ही खोखला कर दिया था। जो शक्ति उसमें शेप थी, वह नादिरशाह के आक्रमण से नष्ट हो गई। इसके वाद वावर और अकवर के वशज नाम को ही भारत के सम्राट रह गये।

ईरान का जो साम्राज्य नादिरशाह ने स्थापित किया था, वह भी देर तक कायम नही रहा। उसकी मृत्यु के कुछ समय वाद अफगानिस्तान में, जो अकवर जैसे प्रतापी वादशाहो के शासन काल में मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत था, अहमदशाह अव्दाली ने अपने पृथक राज्य की स्थापना की। अपने राज्य के उत्कर्ष को दृष्टि में रखकर उसने कई वार भारत पर चढाई की और १७५७ ई० (स० १८१४) में वुरी तरह से दिल्ली को लूटा। इस समय तक उत्तर भारत में मराठो की शक्ति वहुत वढ चुकी थी। दिल्ली का मुगल वादशाह उनके हाथो में कठपुतली के समान थे। अहमदशाह अव्दाली का सव से महत्वपूर्ण आक्रमण १७६१ ई० (स० १८१८) में हुआ। इस आक्रमण का प्रयोजन पजाव से मराठो की सत्ता का अन्त करना था। अव्दाली पहले के आक्रमणो द्वारा पजाव को अपने आधिपत्य में ला चुका था पर मराठो ने उसकी ओर से शासन करने वाले पजाव के सूवेदार को परास्त कर वहाँ अपना सूवेदार नियत कर दिया था। १७६१ ई० (स० १८१८) के आक्रमण में अहमदशाह अव्दाली ने पजाव के मराठा सूवेदार को परास्त किया और दिल्ली को एक वार फिर अपने कब्जे में कर लिया। जव यह समाचार पेशवा को मालूम हुआ, तो उसने अव्दाली को परास्त करने के लिए वड़ी भारी तैयारी की। सदाशिवराव भाऊ और पेशवा वालाजी वाजीराव के पुत्र विश्वनाथ राव ने एक शक्तिशाली सेना के साथ दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। सव मराठे राजा अपनी-अपनी सेनाओ के साथ पेशवा की सहायता के लिए आये। अनेक राजपूत राजाओ ने भी मराठो को सहयोग दिया। पहले दिल्ली की विजय की गई। पेशवा के पुत्र विश्वनाथ राव को दिल्ली का मराठा सम्राट घोषित करने की योजना वनाई गई। अव्दाली ने भी मराठो का मुकावला करने के लिए पूर्ण शक्ति के साथ तैयारी की। १७६१ ई० (स० १८१८) के समाप्त होने के पूर्व ही पानीपत के रणक्षेत्र में दोनो पक्षो में युद्ध हुआ जिसमें मराठा सेनाए परास्त हुई। सदाशिव राव भाऊ, विश्वनाथ राव आदि अनेक मराठा सरदार युद्ध में मारे गये। इस पराजय के कारण मराठा शक्ति को वहुत धक्का लगा। इस समय से उनके अपकर्ष का प्रारम्भ हो गया।

इस समय भारत में एक अन्य विदेशी जाति अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थी। इसने हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर उत्तर पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश नही किया था। यह समुद्र के मार्ग से भारत में आई थी। इसका नाम अग्रेज जाति है। मराठो के निर्बल पडने पर अग्रेजो की शक्ति भारत में तेजी के साथ बढने लगी और अठारहवी सदी के अन्त होने तक वे भारत की प्रधान राजशक्ति बन गये। अठारहवी सदी के अन्तिम भाग में भारत की राजशक्ति जिन विविध जातियो व राजवशो के हाथो में थी, उनका निर्देश इस ढग से किया जा सकता है—

(१) दिल्ली में **मुगल** बादशाहो का शासन था। पर उनकी शक्ति अब बहुत क्षीण दशा में थी। अवध में एक पृथक व स्वतत्र राजवश हो गया था, जो नाम मात्र को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकार करता था। यही दशा बगाल की थी, वहाँ भी मुसलिमोका पृथक शासन स्थापित हो गया था। दक्षिणापथ (दक्खन) के सूबे का शासन अठारहवी सदी में निजामुल्मुल्क के सिपुर्द किया गया था, जो अब क्रियात्मक दृष्टि से स्वतत्र हो गया था। चौथ और सरदेशमुखी प्रदान कर दक्खन के निजाम मराठों को सतुष्ट रखते थे और इस प्रकार अपनी स्वतत्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ थे।

(२) अठारहवी सदी के मध्य भाग में **मराठो** की शक्ति उत्कर्ष की चरम सीमा को प्राप्त कर चुकी थी और १७६१ ई० (स० १८१८) के बाद भी ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बडौदा व महाराष्ट्र में उनके शक्तिशाली राज्य कायम थे। अपने स्वराज्य के अतिरिक्त बहुत से मुगलिया प्रदेशो से भी मराठे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

(३) मुगल बादशाह के उत्कर्ष काल में भी राजपूताना और बुन्देलखण्ड के **राजपूत** राजा अपने अपने क्षेत्र मे स्वतत्र रूप से शासन करते थे। मुगल सेनाओ के सेनापति व विभिन्न सूबो के सूबेदार के रूप में राजपूत राजाओ के प्रभाव व वैभव में बहुत वृद्धि हो गई थी। औरगजेब के बाद विविध राजपूत राजा क्रियात्मक दृष्टि से स्वतत्र हो गये थे और मुगल साम्राज्य की राजनीति में खुल कर खेलने लग गये थे।

(४) औरगजेब के शासन काल में ही गुरु गोविन्दसिह के नेतृत्व में **सिक्खो** ने अपना सैनिक उत्कर्ष प्रारम्भ कर दिया था। १७६१ ई० (स० १८१८) में पानीपत के रणक्षेत्र में मराठो के परास्त हो जाने पर पजाब में अपनी राजशक्ति के विकास का उन्हें अनुपम अवसर मिला और १७६७ ई० (स० १८२८) में अहमदशाह अब्दाली को परास्त कर उन्होने पजाब में अपने अनेक स्वतत्र राज्य कायम कर लिए। अठारहवी सदी के अन्त तक सिक्ख लोग पजाब की प्रधान राजशक्ति बन चुके थे।

(५) अठारहवी सदी के मध्य तक, आगरा और मथुरा के समीवर्ती प्रदेशो में अनेक छोटे छोटे **जाट** राज्य स्थापित हो गये थे और १७६१ ई० (स० १८१८) में मराठो के परास्त हो जाने के बाद उन्हें अपने उत्कर्ष का सुअवसर प्राप्त हुआ। सूरजमल जाट नामक वीर नेता के नेतृत्व में उन्होने आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखाबाद, मेवाड, रिवाडी, गुडगाँव और मथुरा के प्रदेशो पर अधिकार कर लिया

और भरतपुर को राजधानी वना कर अपने स्वतत्र और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली। अठारहवी सदी के उत्तरार्ध में जाटो का यह राज्य भी भारत की प्रधान राजशक्ति में अन्यतम था।

मध्यदेश या हिन्दी के क्षेत्र में इस युग में इन राजशक्तियो का प्रभुत्व था। दिल्ली और अवध मुसलिम शासको के अधीन थे। राजपूताना और वुन्देलखण्ड में विविध राजपूत राजा स्वतत्र रूप से शासन कर रहे थे। पजाव सिक्खो के हाथो में था। मथुरा, आगरा व समीप के प्रदेशो पर जाटो का प्रभुत्व था और ग्वालियर तथा इन्दौर के प्रदेश मराठो के अधीन थे। अठारहवी सदी के अतिम भाग में वगाल, मद्रास आदि में अग्रेजो व कतिपय अन्य यूरोपियन जातियो का प्रवेश हो चुका था, पर मध्यदेश पर अभी इन विदेशियो के प्रभुत्व का प्रसार नही हुआ था।

ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना

भारत की यह राजनीतिक दशा थी, जव कि अग्रेजो ने इस देश में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया। यद्यपि अग्रेज अठारहवी सदी के पूर्वार्ध में ही भारत में अपने पैर जमा चुके थे, पर उनके आधिपत्य का विस्तार मुख्यतया अठारहवी सदी के उत्तरार्ध और उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध में हुआ। इस विदेशी राजशक्ति को इस देश में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में जो सफलता हुई, उसका प्रधान कारण यही था कि औरगजेव के वाद मुगल साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया था और भारत में कोई एक ऐसी प्रवल राजशक्ति नही रह गई थी, जो इन विदेशी व विधर्मी लोगो से भारत की रक्षा करने में समर्थ हो सकती।

पन्द्रहवी सदी तक यूरोप के लोगो को वाहरी दुनिया से वहुत कम परिचय था। दिग्दर्शक यन्त्र का ज्ञान न होने के कारण यूरोप के मल्लाहो के लिए यह सभव नही था कि वे महासमुद्रो में दूर तक आ जा सकें। पन्द्रहवी सदी में इस यन्त्र का पहले-पहल यूरोप में प्रवेश हुआ और यूरोपियन मल्लाह समुद्र मार्ग से दूर-दूर तक आने जाने लगे। इस समय तक यूरोप के लोग पूर्व के देशो के साथ जो व्यापार करते थे, उसका मार्ग पश्चिमी एशिया से था। इस प्रदेश पर पहले अरवो का शासन था, जो सभ्य थे और व्यापार के महत्व को भली-भाँति समझते थे। पर पन्द्रहवी सदी के मध्य भाग में पश्चिमी एशिया पर तुर्कों का आधिपत्य हो गया। उस समय तुर्क लोग असभ्य थे और व्यापार के महत्व को नही समझते थे। परिणाम यह हुआ कि एशिया के साथ व्यापार का यह पुराना मार्ग रुद्ध हो गया। अव यूरोपियन लोगो को पूर्वी देशो तक जाने के लिए एक नये रास्ते की तलाश की चिन्ता हुई। इस कार्य में पुर्तगाल और स्पेन ने विशेष तत्परता दिखाई। पोर्तुगीज़ लोगो ने विचार किया कि अफ्रीका का चक्कर काट कर प्राच्य देशो तक पहुँचा जा सकता है। १४९८ ई० (स० १५५५) में वास्कोडिगामा नामक पोर्तुगीज़ मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर पहले-पहल एक नवीन मार्ग से भारत पहुँचने में समर्थ हुआ, पोर्तुगीज़ व्यापारियो ने प्राच्य देश के व्यापार को हस्तगत करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस व्यापार द्वारा पोर्तुगीज़ लोग वहुत समृद्ध हो गये और उनकी

देखा-देखी अन्य यूरोपियन देश भी इसी सामुद्रिक मार्ग से पूर्वी देशो में आने जाने लगे। हालैण्ड फ्रान्स, ब्रिटेन आदि देशो में प्राच्य व्यापार को हस्तगत करने के लिए कम्पनियाँ खडी की गई। ये कम्पनियाँ भारत आदि प्राच्य देशो के वन्दरगाहो में अपनी व्यापारी कोठियाँ कायम करती थी और अधिक से अधिक व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उद्योग करती थी।

सोलहवी और सतरहवी सदियो में भारत में प्रतापी मुगल वादशाहो का शासन था। अत· इस काल में यूरोपियन लोग केवल व्यापार से ही सतुष्ट रहे। केवल पोर्तुगीज़ लोगो ने दक्षिण भारत की राजनीतिक दशा से लाभ उठाकर (क्योकि वहाँ अव इस काल में भी अनेक छोटे छोटे राज्यो की सत्ता थी) गोआ व उसके समीपवर्ती प्रदेशो को अपने आधिपत्य में कर लिया। पर अन्य यूरोपियन जातियाँ इस देश में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में असमर्थ रही। पोर्तुगीज़ लोग भी दक्षिण भारत में अपनी शक्ति को अधिक नही वढा सके, क्योकि मराठो की शक्ति के सम्मुख वे अपने को असहाय अनुभव करते थे।

औरगजेव के बाद जव मुगल वादशाहत की शक्ति क्षीण हो गई और भारत में अनेक छोटे-बडे राज्य कायम हो गये, तो यूरोपियन व्यापारियो ने इस देश की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाया और व्यापार के साथ-साथ अपनी राजनीतिक सत्ता भी स्थापित करनी शुरू कर दी। इस क्षेत्र में फ्रास और ब्रिटेन ने विशेष तत्परता दिखाई। उन्होने इस देश के राजनीतिक मामलो में हस्तक्षेप करते हुए विविध राज्यो के प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तियो का पक्ष लेना शुरू किया और इस प्रकार अपने राजनीतिक उत्कर्ष की नीव डालनी प्रारम्भ की। इस प्रसग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारत को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए ब्रिटेन और फ्रास ने अपने देश से कोई सेनाएँ नही भेजी। उन्होने भारत की विजय के लिए भारत की ही सेनाओ का प्रयोग किया। भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर इस देश में अपनी सत्ता स्थापित की जा सकती है, यह विचार सब से पहले फ्रेंच लोगो में उत्पन्न हुआ था। डूप्ले पहला यूरोपियन राजनीतिक था, जिसने भारत में पाश्चात्य आधिपत्य स्थापित करने का स्वप्न देखा। उसे यह समझते देर नही लगी कि भारत की राजनीतिक दशा बहुत दयनीय है और यहाँ के विविध राजा व नवाब परस्पर युद्ध में व्यस्त है। साथ ही, किसी राज्य की राजगद्दी पर कौन व्यक्ति आरूढ हो, इस विषय पर भी सघर्ष चलता रहता है। राजगद्दी के एक उम्मीदवार का पक्ष लेकर उसे यदि सहायता दी जाये, तो उसके सफल हो जाने पर उससे अनेक प्रकार के विशेषाधिकार भी प्राप्त किये जा सकते है। इस काल में भारत में राष्ट्रीय भावना का अभाव था। इसीलिए डूप्ले और अन्य पाश्चात्य राजनीतिज्ञो को अपने उद्देश्य में सफलता हुई। डूप्ले की नीति का अनुकरण कर ब्रिटिश लोग भी विविध भारतीय राज्यो के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप करने लगे, क्योकि अग्रेज और फ्रेंच दोनो ही इस देश में अपना-अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उद्यत थे, अत उनमें भी सघर्ष का सूत्रपात हुआ। इस सघर्ष में, अग्रेज लोग सफल हुए। इसका कारण यह था कि अठारहवी सदी में फ्रान्स में बूर्बो वश के एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी राजाओ का शासन था और ये शक्ति के विस्तार का जो प्रयत्न कर रहे थे, उसका सचालन फ्रास की

निरकुश व अक्षम सरकार द्वारा ही होता था। इसके विपरीत ब्रिटेन की ईस्ट इडिया कम्पनी, जिसके हाथो में पूर्वी देशो के व्यापार का कार्य था, ब्रिटिश सरकार के नियत्रण से प्राय स्वतत्र थी। उसके लिए यह सुगम था कि वह समय और परिस्थिति के अनुसार स्वतत्रता पूर्वक कार्य कर सके।

अठारहवी सदी के मध्य भाग में अग्रेज और फ्रेंच लोग दक्षिण भारत के विविध राज्यो को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाने के लिए तत्पर रहे। इसके लिए उन्होने आपस में अनेक युद्ध किये जो 'कर्नाटक के युद्धो' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन युद्धो के कारण आर्काट के राज्य पर अग्रेजो का प्रभुत्व कायम हो गया और हैदरावाद का निजाम भी उनके प्रभाव में आ गया। १७६१ ई० (स० १८१८) के वाद फ्रेंच लोगो ने भारत में अपने आधिपत्य को स्थापित करने का प्रयत्न त्याग दिया और अग्रेजो के लिए इस देश में प्रभुत्व के प्रचार का मार्ग निष्कटक हो गया। अव उन्हें केवल भारत के विविध राजाओ के साथ ही युद्ध करने थे। फ्रास जैसे शक्तिशाली यूरोपियन राज्य के विरोध का भय उन्हें अव नही रह गया था।

अग्रेज लोग केवल दक्षिण भारत के कतिपय राज्यो को अपने प्रभाव में लाकर ही सतुष्ट नही रहे। उन्होने उत्तर भारत में भी अपनी शक्ति का विस्तार किया। अठारहवी सदी के पूर्वार्ध में मुगल वादशाहत के निर्वल पडने पर विहार-वगाल के सूवेदार भी स्वतत्र हो गये थे। १७५६ ई० (स० १८१३) में वगाल की राजगद्दी पर सिराजुद्दौला आरूढ हुआ। उसके विरुद्ध अग्रेजो ने षड्यन्त्र किया, जिसमें वगाल के अनेक अमीर उमरा और सूवेदार शामिल हो गये। इनका नेता मीर जाफर था, जो सिराजुद्दौला का सेनापति था। षड्यन्त्र की सव तैयारी पूरी हो जाने पर अग्रेजी सेना ने वगाल की राजधानी मुर्शिदावाद की ओर प्रस्थान किया। २३ जून १७५७ ई० (स० १८१४) के दिन प्लासी के रणक्षेत्र में लडाई हुई। युद्ध आरम्भ होते ही मीर जाफर अग्रेजो से जा मिला। सिराजुद्दौला की हार हुई और वह लडाई में मारा गया। अव मीर जाफर वगाल का नवाव वना। नाम को तो मीर जाफर वगाल का नवाव था, पर वास्तविक शक्ति अग्रेजो के हाथो में थी। ईस्ट इडिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में कुशल व चालाक अग्रेज ही वगाल के शासन का कर्त्तावर्त्ता वन गया था। १७६० ई० (स० १८१७) में क्लाइव वीमार पडा और इग्लैंड वापस लौट गया। अव उसकी जगह पर वान्सिटार्ट को नियुक्त किया गया। प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को परास्त कर जव क्लाइव ने मीर जाफर को वगाल का नवाव वनाया था, तो उसके साथ की गई सन्धि की शर्तो में एक शर्त यह भी थी कि, पौने तीन करोड़ रुपये अग्रेजो को प्रदान करेगा। जव इतनी वडी रकम शाही खजाने में नही निकली, तो जवाहरात आदि वेच कर आधी के लगभग रकम नावो द्वारा मुर्शिदावाद से कलकत्ता (जो वगाल में अग्रेजी शक्ति का केन्द्र था) भेज दी गई और शेष रकम को तीन सालाना किश्तो में अदा करना तय किया गया। पर मीर जाफर के लिए यह सम्भव नही हुआ कि वह अग्रेजो को दी जाने वाली धनराशि की नियम पूर्वक अदायगी करता रहे। अत. वान्सिटार्ट ने उसके स्थान पर मीर कासिम को वगाल का नवाव वनाया (१७६० ई० = स० १८१७)। इस अवसर पर उसके साथ जो समझौता हुआ, उसके अनुसार वर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले ईस्ट इडिया कम्पनी को मिले।

मीर कासिम योग्य व्यक्ति था, उसने प्रयत्न किया कि बगाल के शासन में सुधार कर खर्च को कम करे, ताकि अग्रेजो को दी जाने वाली रकम की अदायगी हो जाये और राज्य में विदेशी प्रभाव न बढने पावे। इससे अग्रेज लोग असतुष्ट हो गये और उन्होने एक वार फिर मीर जाफर को बगाल की राजगद्दी पर बिठाने का प्रयत्न किया। पर मीर कासिम ने सुगमता के साथ अग्रेजो के सम्मुख सिर नही झुका दिया। अग्रेजो के सम्मुख अपने को असहाय पाकर उसने अवध की ओर प्रस्थान किया और वहाँ के नवाव शुजाउद्दौला से सहायता की याचना की। दिल्ली का बादशाह शाह आलम भी उन दिनो अवध में रह रहा था। शुजाउद्दौला और शाह आलम के साथ मीर कासिम ने अग्रेजो का सामना करने के लिए पूर्व की ओर प्रस्थान किया। अक्टूबर १७६४ ई० (स० १८२१) में वक्सर में अग्रेजी सेना के साथ उसका सामना हुआ, जिसमें अग्रेजो की विजय हुई। अव अग्रेजी सेना अवध में प्रविष्ट हुई और वनारस व इलाहावाद पर उसका कब्जा हो गया। इस दशा में शुजाउद्दौला को अपने अवध के राज्य की चिंता हुई। उसने रुहेलो और मराठो की सहायता से अग्रेजो का मुकावला करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल नही हो सका। विवश हो कर १७६५ ई० (स० १८२२) में शुजाउद्दौला ने अग्रेजो के सम्मुख आतमसमर्पण कर दिया। इन घटनाओ का समाचार जव इग्लैंड पहुँचा तो ईस्ट इडिया कम्पनी ने एक वार फिर क्लाइव को बगाल में अपने कारोबार का अध्यक्ष (गवर्नर) वना कर भेजा। वह मई, १७६५ ई० (स० १८२२) में कलकत्ते पहुँच गया।

वक्सर के युद्ध में जब अग्रेज विजयी हुए थे, तो मुगल बादशाह शाह आलम भी अग्रेजो की शरण में आ गया था। अवध का नवाब भी आत्मसमर्पण कर चुका था। अब क्लाइव ने इन दोनो के साथ सन्धि की, जो इलाहाबाद की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि की मुख्य शर्तें इस प्रकार थी—(१) शुजाउद्दौला कम्पनी को पचास लाख रुपया जुर्माना दे। (२) अवध में कम्पनी की ओर से एक सेना रहे, जिसका खर्च नबाब दे। इसी समय शाह आलम द्वारा क्लाइव ने एक फरमान जारी कराया, जिसके अनुसार बगाल, बिहार, और उडीसा की दीवानी (सरकारी कर वसूल करने का अधिकार) कम्पनी को दिया गया, यद्यपि बगाल-बिहार के नबाब स्वतत्र थे, पर मुगल बादशाहत का उन पर प्रभुत्व स्वीकृत किया जाता था। शाह आलम के पद और प्रतिभा का उपयोग कर के ही अग्रेजो ने यह फरमान उससे जारी कराया था।

१७६५ ई० (स० १८२२) में बगाल, बिहार और उडीसा की दीवानी ईस्ट इडिया कम्पनी के हाथो में आ गई, जिसके कारण वहाँ दोहरा शासन स्थापित हुआ। वहाँ का शासन अब भी नबाब के हाथो में था, जिसे निजामत (राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना और न्याय) के अधिकार थे। पर राज्य से मालगुजारी व अन्य कर वसूल करना कम्पनी के हाथो में था। इसके लिए क्लाइव ने एक नई पद्धति प्रारम्भ की, जिसके अनुसार कर वसूल करने के कार्य की नीलामी की जाती थी। जो कोई सब से ऊँची बोली बोलता, उसे कर वसूल करने का ठेका दे दिया जाता। जो लोग ये ठेके लेते, वे जनता से अधिकाधिक कर वसूल करते, ताकि उन्हें मुनाफा रहे। इसके लिए वे प्रजा पर भयकर से भयकर अत्याचार करने में भी सकोच न करते। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि बिहार, बगाल और उडीसा में किसानो की बहुत दुर्दशा हुई। देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का उत्तरदायित्व नवाव का था,

पर सेना कम्पनी के हाथो में थी। सेना के विना नवाव के लिए अपने कर्त्तव्यो का पालन कर सकना सम्भव नही था। इस कारण सर्वत्र अशान्ति छा गई और जनता का जीवन सुरक्षित नही रहा। इन सब के कारण १७७० ई० (स० १८२७ वि०)मे वगाल में घोर दुर्भिक्ष पडा, जिसमें एक करोड के लगभग नर-नारी मृत्यु के ग्रास वने। जव वगाल की यह दुर्दशा हो रही थी, तो कम्पनी ने वारेन हेस्टिग्स को वहाँ का गवर्नर नियत किया (१७७२ ई०=स० १८२९ वि०)। उसने इस प्रदेश से दोहरे शासन का अन्त कर सारे राज्य-प्रवन्ध को अपने हाथो में ले लिया और नवाव के लिए १६ लाख रुपया वार्षिक पेंशन नियत कर दी। इस प्रकार पूर्वी भारत में अग्रेजी शासन स्थापित हुआ और वहाँ से नवावी शासन का अन्त हो गया। वारेन हेस्टिग्स के समय भारत मे अग्रेजी शासन के विस्तार के लिए वहुत उद्योग हुआ और उसने इस देश की विविध राजशक्तियो के साथ निरन्तर सघर्ष किया। उत्तर भारत व मध्यदेश में उसे जिन शक्तियो का सामना करना था, उनमें मराठे लोग प्रमुख थे। यद्यपि १७६१ ई० (स० १८१८ वि०)मे पानीपत के रणक्षेत्र में अहमदशाह अव्दाली मे परास्त हो जाने के कारण मराठो की शक्ति क्षीण हो गई थी, तथापि वे इस समय भारत की प्रधान राजशक्ति थे। पेशवा माधवराव (१७६१ से १७७२ ई० =स० १८१८-१८२९ वि०) ने अपनी शक्ति को फिर से सभाल लिया था और विविध मराठा सरदारो को सतुष्ट कर उन्हें एक सूत्र में सगठित कर दिया था। १७७२ ई० (स० १८२९ वि०)के शुरू में वादशाह शाहआलम भी अग्रेजो की शरण छोडकर मराठो की सहायता से दिल्ली चला आया था और मराठा सरदार उसे दिल्ली की गद्दी पर विठा कर मुगल वादशाहत का सचालन करने लग गए थे। यद्यपि दिल्ली की वादशाहत पर मराठो का प्रभाव था, पर उससे पूर्व के मध्यदेश में दो मुसलिम राजशक्तियो की सत्ता थी। रुहेलखण्ड पर रुहेले पठानो का प्रभुत्व था जो मुगल साम्राज्य के निर्वल पडने पर वहाँ प्रवल हो गए थे। मुगलो की अधीनता स्वीकार करते हुए भी वे स्वतन्त्रता के साथ शासन करते थे। इलाहावाद की सन्धि (१७६५ ई०=स०१८२२ वि०) के अनुसार अवध मे अग्रेजो की सेना स्थापित हो चुकी थी, यद्यपि वास्तविक शासन में उनका विशेष हाथ नही था।

यह स्थिति थी, जव कि वारेन हेस्टिग्स ने विहार-वगाल के पश्चिम में स्थित प्रदेशो में अग्रेजी शासन के विस्तार का प्रयत्न प्रारम्भ किया। उसके इस प्रयत्न में इन प्रदेशो की राजनीतिक दशा ने वहुत सहायता पहुँचाई। उन दिनो अवध का नवाव शुजाउद्दौला रुहेलखण्ड को जीतकर अपने अधीन करने के लिए प्रयत्नशील था। इसके लिए उसने अग्रेजो से मदद माँगी। अग्रेजो ने चालीस लाख रुपया और सेना का खर्च लेकर नवाव की सहायता करना स्वीकार कर लिया। अग्रेजी सेना ने शुजाउद्दौला के साथ रुहेलखण्ड पर चढाई की (१७७३ ई०=स० १८३० वि०)। मीरापुर कटरा के युद्ध में रुहेलो ने वीरतापूर्वक अग्रेजो का सामना किया, पर अन्त में उनकी हार हुई। रुहेला सरदार रहमत खा युद्ध मे मारा गया। रहमत खा के पुत्र फैजुल्ला खा ने शुजाउद्दौला का जुर्माना देना और उसका वशवर्ती होकर रहना स्वीकार कर लिया। इस पर उसे रामपुर में एक जागीर दे दी गई। शेष रुहेलखण्ड अवध के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इसके कुछ समय वाद शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र आसफुद्दौला अवध का नवाव वना। वारेन हेस्टिग्स ने उसे अपने राज्य में और अधिक अग्रेजी सेना रखने के लिए विवश किया, जिसका खर्च चलाने के लिए उसे गोरखपुर और वहराइच जिले की मालगुजारी अग्रेजो को देनी

पडी। साथ ही उसने बनारस का प्रदेश भी अंग्रेजो को दे दिया। बनारस के हिन्दू राजा अवध के नवाब के सामन्त थे। इस समय से बनारस के राजा अंग्रेजो के प्रभुत्व में आ गए (१७७५ ई०=स० १८३२ वि०)।

भारत और विशेषतया उसके दक्षिणी राज्यो को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए जो बहुत से युद्ध अंग्रेजो को करने पड रहे थे, उनमे बहुत रुपया खर्च हो रहा था। इस धन को उन्होंने अनुचित रूप से प्राप्त करने का प्रयत्न किया। १७७५ ई० (स० १८३२ वि०) में बनारस का राजा चेतसिंह अंग्रेजो के अधीन हो गया था और वह उन्हें नियमपूर्वक खिराज देने लगा था। १७७८ ई० (स० १८३५ वि०) में वारेन हेस्टिंग्स ने उससे अतिरिक्त पाँच लाख रुपए की माँग की जिसे उसने दे दिया। १७७९ ई० (स० १८३६ वि०) में भी उसने यह अतिरिक्त रकम प्रदान कर दी, पर १७८० ई० (स० १८३७ वि०) में उसके लिए दे सकना सम्भव नही रहा। इस पर हेस्टिंग्स ने उस पर ५० लाख रुपया जुर्माना किया और यह रकम न दे सकने पर उसे गिरफ्तार कर लिया। इस पर बनारस की सेना ने विद्रोह कर दिया जिसे अंग्रेजो ने बुरी तरह से कुचला। चेतसिंह को पदच्युत कर के उसके भानजे को बनारस का राजा बनाया गया, उसकी सालाना खिराज की मात्रा दुगनी कर दी गई। अनुचित ढग से रुपया प्राप्त करने की धुन मे ही हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब आसफुद्दौला से रुपया वसूल करने की कोशिश की। उसका कोश खाली था, पर उसकी माँ व हरम की अन्य बेगमो के पास धन था। हेस्टिंग्स के आदेश से बेगमो से रुपया वसूल करने के लिए अंग्रेजी सेना ने राजमहल को घेर लिया और बेगमो को कैद कर लिया। उन पर अत्याचार किए गए और उन्हें धन देने के लिए विवश किया गया। इसमें सन्देह नही कि इस समय अवध पूर्णतया अंग्रेजो का वशवर्ती हो गया था और रुहेलखण्ड तक के मध्यदेश (हिन्दी प्रदेश) पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया था।

इस समय ईस्ट इडिया कम्पनी भारत को अपनी अधीनता मे लाने के लिए पूर्ण रूप से तत्पर थी। इसके लिए जिन साधनो को वह उपयोग में ला रही थी, वे इस प्रकार थे—(१) यदि किसी राज्य में राजगद्दी के लिए एक से अधिक उम्मीदवार हो, तो कम्पनी के अफसर उनमे से किसी एक का पक्ष ले कर उसकी सहायता करते थे, इस सहायता के बदले में कम्पनी के लिए कुछ जागीरें व अन्य कुछ विशेष अधिकार प्राप्त कर लेते थे। (२) भारत में इस समय अनेक छोटे-बडे राज्यो की सत्ता थी। जो राज्य निर्बल हो, कम्पनी उनसे एक विशेष प्रकार की सन्धि करती थी, जिसे सहायक सन्धि कहते थे। इस सन्धि द्वारा कम्पनी उस राज्य की बाह्य आक्रमणो से और आतरिक विद्रोहो से रक्षा करने की जिम्मेवारी लेती थी। इसके लिए कम्पनी को जो सेना रखनी पडती थी, उसका खर्च वह उस राज्य से ही वसूल करती थी। ऐसे राज्यो को कम्पनी अपने अधीन समझती थी और अन्य राज्यो के साथ उनके सम्बन्ध को नियन्त्रित करने के लिए कम्पनी की ओर से एजेन्ट या रेजिडेन्ट भी नियत किए जाते थे। (३) शक्तिशाली राज्यो को अपने अधीन करने के लिए कम्पनी सदा ऐसे बहानो की तलाश में रहती थी, जिनसे उन पर आक्रमण किया जा सके।

यद्यपि रुहेलखण्ड तक का मध्यदेश अंग्रेजो के प्रभुत्व में आ चुका था, पर अभी भारत की प्रधान राजशक्ति, मराठा लोग उनके वशवर्ती नही बने थे। मराठे अंग्रेजो से तभी अपनी

रक्षा कर सकते थे, जब कि उनमें एकता होती। पर इस समय मराठा साम्राज्य की आन्तरिक दशा अच्छी नही थी। पेशवा माधवराव की मृत्यु (१७८५ ई० = स० १८४२ वि०) के बाद पेशवा पद के लिए झगडे शुरू हो गए और शक्तिशाली मराठा सरदार पेशवा पद के विविध उम्मीदवारो का पक्ष लेकर अपने प्रभाव को बढाने में तत्पर हुए। इस दशा में अंग्रेजो ने मराठो के राज्य में खुल कर खेलना शुरू किया। कुछ समय के गृह-कलह के बाद बाजीराव द्वितीय पेशवा पद पर आरूढ हुआ, जिसे अपने प्रभाव में रखने के लिए अनेक मराठा सरदार परस्पर सघर्ष में तत्पर थे। अपनी स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए बाजीराव ने अंग्रेजो की सहायता ली और उनसे यह सन्धि की कि कम से कम ६००० सैनिको की अंग्रेजी सेना उसकी सहायता के लिए रहे और इस सेना के खर्च के लिए इतने प्रदेश को अंग्रेजो के सिपुर्द कर दिया जाए जिसकी आमदनी २६ लाख रुपया वार्षिक हो (१८०२ ई० = स० १८५९ वि०)। इस प्रकार मराठा राज्य में भी अंग्रेजी प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ। जब इस सन्धि का समाचार ग्वालियर के सिंधिया और नागपुर के भोसले सरदारो को मिला, तो वे बहुत दुखी हुए। उन्हें पेशवा के एक विदेशी शक्ति के अधीन हो जाने की बात से हार्दिक दु ख हुआ। उन्होने यत्न किया कि इस राष्ट्रीय विपत्ति के समय सब मराठा सरदार आपस में मिलकर एक हो जाय। पेशवा उनकी बात मान गया। सिंधिया और भोसले की सेनाओ ने पेशवा को अपने प्रभाव में रखने के लिए जब पूना की ओर प्रस्थान किया, तो अंग्रेजो ने उनका प्रतिरोध किया, क्योकि १८०२ ई० (स० १८५९ वि०) की सन्धि के अनुसार वे पेशवा को अपनी सरक्षा में समझते थे। मराठो और अंग्रेजो का यह युद्ध (१८०३ ई० = स० १८६० वि०) उत्तर और दक्षिण सर्वत्र लडा गया। इस युद्ध के दौरान में लार्ड लेक के नेतृत्व में एक अंग्रेजी सेना ने अलीगढ को जीत कर दिल्ली पर चढाई कर दी। वहा से मराठो के प्रभुत्व का अन्त कर उसने बादशाह शाहआलम को (जो अब तक मराठो की सरक्षा में था) अपनी सरक्षा में ले लिया, और फिर आगरा पर आक्रमण किया। अक्टूबर १८०३ ई० (स० १८६० वि०) में आगरा पर भी अंग्रेजो का कब्जा हो गया। इसी प्रकार के युद्ध दक्षिणापथ में भी लडे गए। इन युद्धो में परास्त होकर सिंधिया और भोसले अंग्रेजो के साथ सन्धि करने के लिए विवश हुए और अब जो सन्धिया हुई उनके अनुसार दिल्ली, आगरा और गगा-यमुना के प्रदेश और दोहद व ग्वालियर सिंधिया ने अंग्रेजो को प्रदान कर दिए। ये सब प्रदेश अब तक सिंधिया के प्रभुत्व में थे। इसी प्रकार नागपुर के भोसले ने भी कटक और वर्धा नदी के पश्चिम के सब प्रदेश अंग्रेजो को देने स्वीकार किए। १८०३ ई० (स० १८६० वि०) में मराठो को अंग्रेजो से परास्त होना पडा था, उससे इन्दौर का होल्कर राजा बहुत चिंतित हुआ। पिछले युद्ध में वह तटस्थ रहा था, पर अब उसने अंग्रेजो के विरुद्ध युद्ध करने का निश्चय किया। सिंधिया ने भी उसका साथ दिया और एक बार फिर मराठो और अंग्रेजो में युद्ध शुरू हुआ (१८०४ ई० = स० १८६१ वि०)। यह युद्ध देर तक नही चला, क्योकि इस समय अंग्रेज शान्ति के लिए उत्सुक थे। यूरोप में नेपोलियन के साथ उनका युद्ध चल रहा था जिसके कारण उनकी सारी शक्ति फ्रास को परास्त करने में लगी हुई थी। शान्ति की नीति को अपना कर अंग्रेजो ने मराठो के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार दोहद और ग्वालियर के प्रदेश फिर से सिंधिया को वापस दे दिए गए (१८०५ ई० = स० १८६२ वि०)।

१८१४ ई० (स० १८७१ वि०) में यूरोप में नेपोलियन का पतन हो गया और अंग्रेज लोग

यूरोप की ओर से निश्चिन्त होकर फिर भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त हुए। इसी कारण १८१७ ई० (स० १८७४ वि०) में एक बार फिर उन्होंने मराठों के साथ युद्ध प्रारभ किया। इस युद्ध में पेशवा, सिंधिया, भोसले, होल्कर आदि सभी मराठा राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अन्तिम बार अग्रेजो के खिलाफ अपनी शक्ति को आजमाया, पर उन्हें सफलता नही मिली। वे एक एक कर के परास्त कर दिए गए। १८१८ ई० (स० १८७५ वि०) में मराठो की स्वतत्र सत्ता का सदा के लिए अत हो गया। आठ लाख रुपया वार्षिक पेन्शन प्राप्त करते रहने की शर्त पर पेशवा बाजीराव द्वितीय ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे महाराष्ट्र से दूर बिठूर (कानपुर के समीप) भेज दिया गया। भोसले, होल्कर और सिंधिया ने इस युद्ध के परिणाम स्वरूप अग्रेजो के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में अग्रेजो की सफलता का यह परिणाम हुआ कि काश्मीर, पजाब और सिंध के अतिरिक्त प्राय सम्पूर्ण भारत में अग्रेजो की प्रभुता कायम हो गई। राजपूताना के विविध राजा मुगल युग में दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार करते थे। मराठो के उत्कर्ष के समय वे सिंधिया के आधिपत्य में आ गए थे, क्योकि दिल्ली का बादशाह सिंधिया का वशवर्ती था। १८१७ ई० (स० १८७४ वि०) के युद्ध में परास्त होकर सिंधिया ने अग्रेजो के साथ जो सन्धि की, उसके अनुसार उसने राजपूताना पर अपने आधिपत्य को छोड दिया और विविध राजपूत राज्य ईस्ट इडिया कम्पनी की सरक्षता में आ गए। दिल्ली, आगरा व उनके समीपवर्ती प्रदेश १८०३ ई० (स० १८६० वि०) में ही अग्रेजो के प्रभुत्व में आ गए थे। अब राजपूताना के अधिपति बन जाने के कारण प्राय सम्पूर्ण मध्यदेश उनके अधीन हो गया। हिन्दी प्रदेश में अब केवल पजाब का प्रदेश ऐसा रह गया था जो अग्रेजो की अधीनता में नही था। इस प्रदेश पर सिक्खो का शासन था जिन्हें अहमदशाह अब्दाली के बाद अपने उत्कर्ष का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। अब्दाली के बाद सिक्खो ने पजाब में अपने बारह राज्य कायम कर लिए थे, जिन्हें 'मिसल' कहते थे। १७७३ ई० (स० १८३० वि०) में पूर्व में सहारनपुर से लगाकर पश्चिम में अटक तक और उत्तर में कागडा व जम्मू से शुरू कर दक्षिण में मुलतान के उत्तर तक सिक्खो के शासन स्थापित हो गए थे। सिक्खो की ये मिसलें मराठो को चौथ प्रदान किया करती थी। पर जब १८०३ ई० (स० १८६० वि०) में सिंधिया ने दिल्ली, आगरा और उनके समीपवर्ती प्रदेश को अग्रेजो को दे दिया, तो सिक्ख मिसलें मराठो के प्रभाव से मुक्त हो गई और अग्रेज उन पर अपना अधिकार समझने लगे।

इसी बीच में सिक्खो में एक प्रतापी पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम राजा रणजीतसिंह (१७९२ से १८३९ ई० = स० १८४९–१८९६ वि०) था। वह सुकर चकिया मिसल का सरदार था। अन्य अनेक मिसलो को उसने अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया और इस उद्देश्य से उनसे अनेक युद्ध किए। यमुना और सतलज के बीच में जो सिक्ख मिसलें थी उन्होने डट कर रणजीतसिंह का मुकाबला किया और उसके विरुद्ध अग्रेजो से सहायता की याचना की। १८०९ ई० (स० १८६६ वि०) में एक अग्रेजी सेना ने यमुना नदी को पार कर अम्बाला की ओर प्रस्थान किया और यह घोषणा की कि सतलज और यमुना के बीच का प्रदेश कम्पनी के आधिपत्य में है। यदि रणजीतसिंह उन्हें अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करेगा, तो अग्रेजी सेना उसका मुकाबिला करेगी। इस पर रणजीतसिंह ने अग्रेजो से सुलह कर ली, जिसके अनुसार

उसने यह वचन दिया कि वह सतजल के पूर्व के प्रदेशो को अपनी अधीनता में लाने का कोई प्रयत्न नही करेगा। इसके वाद रणजीतसिंह ने पश्चिम की ओर अपने राज्य-विस्तार का प्रयत्न किया और लाहौर को राजधानी वनाकर एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना की। वीच के प्रदेशो पर पुरानी मिसलो की सत्ता कायम रही और ये मिसलें अग्रेजो को अपना अधिपति व सरक्षक स्वीकार करती रही। १८३९ ई० (स० १८९६ वि०) में रणजीतसिंह की मृत्यु के वाद उसके द्वारा स्थापित सिक्ख राज्य में झगडे प्रारम्भ हो गए, जिनका अग्रेजो ने पूरा पूरा लाभ उठाया। १८४५ ई० (स० १९०२ वि०) और १८४८ ई० (स० १९०५ वि०) में अग्रेजो के सिक्खो से दो युद्ध हुए जिनमें सिक्खो की पराजय हुई। १८४९ ई० (स० १९०६ वि०) में लार्ड डलहौजी ने (जो इस समय कम्पनी की ओर से भारत का गवर्नर जनरल था) पजाव को अग्रेजी शासन में ले लिया और अन्तिम सिक्ख राजा दलीपसिंह को राजगद्दी से उतार कर उसके लिए ५०००० रु० वार्षिक पेंशन नियत कर दी। सिन्ध और उत्तर पश्चिमी प्रदेश, आदि अन्य प्रदेशो पर अग्रेजी शासन किस प्रकार स्थापित हुआ, इसका यहां उल्लेख कर सकना सम्भव नही है।

२. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

७वीं से १२वीं शताब्दी ई०——राजपूत-काल

सातवी शताब्दी के उत्तरार्ध से बारहवी शताब्दी के अन्त तक भारत पर प्राय राजपूत जाति का ही आधिपत्य रहा। इस लबी अवधि में यद्यपि हमारी सस्कृति के मूल सिद्धान्तो में कोई क्रान्तिमय परिवर्तन नही हुआ, परन्तु बाहरी रूपरेखा बहुत-कुछ बदल गई। सभ्यता के प्रत्येक अग पर एक नवीन छाप स्पष्ट दिखाई देने लगी, चाहे उसका सबध धर्म से हो, चाहे समाज अथवा साहित्य से। इस छाप को यदि हम राजपूती छाप कहे तो अनुचित न होगा। इस छाप के पीछे कौन-कौन प्रवृत्तियाँ विद्यमान है, इनको बिना समझे राजपूत-काल के सास्कृतिक तत्वो का विश्लेषण असभव है। चूँकि पुरातन समय से धर्म ही हमारी सभ्यता का मूलाधार रहा है, इसलिए सास्कृतिक पृष्ठभूमि के चित्रण में सर्वप्रथम उसी की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इसमें सन्देह नही कि राजपूतो ने प्राचीन परम्परा और मर्यादाओ को स्थिर रखने का भरसक प्रयास किया, परन्तु समय और परिस्थिति ने परिवर्तन को अनिवार्य कर दिया और वह होकर ही रहा।

मौर्यकाल से लेकर हर्षवर्धन के समय तक साम्राज्यवाद का बोलबाला रहा तथा धर्म और साम्राज्य में घनिष्ठ सबध बना रहा। मौर्यों ने बौद्ध धर्म को अपनाया और उसका प्रसार किया। गुप्त वश के सम्राटो ने ब्राह्मण धर्म को प्रोत्साहन दिया और साम्राज्य के उत्थान के साथ-साथ इस धर्म की भी उन्नति हुई। राजा और प्रजा दोनो ने ही इसे ग्रहण किया। परन्तु हर्ष के समय में एक नवीन परिपाटी दृष्टिगोचर होती है। एक ओर उसके सरक्षण द्वारा कन्नौज में बौद्धमत फूला-फला तो दूसरी ओर जनता के हृदय में पौराणिक धर्म घर किए हुए था। जनता को प्रसन्न करने के अभिप्राय से हर्ष ने प्रयाग में महामोक्ष के अवसर पर आदित्य और शिव की पूजा की, ब्राह्मणो को भोजन कराया और उनको प्रभूत दान दिया। हर्ष का दृष्टिकोण आने वाली प्रवृत्तियो का प्रतीक था। उसके पूर्व चक्रवर्ती सम्राटो का ध्येय न केवल साम्राज्य-स्थापन पर केन्द्रित होता था, वरन अपने वैयक्तिक धर्म-विशेष का प्रचार करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस प्रकार धार्मिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ मिल कर सस्कृति की चतुर्मुखी उन्नति तथा सगठन में योग देती थी। राजा और प्रजा में एक प्रकार की अदृश्य सहानुभूति विद्यमान रहती थी। परन्तु हर्ष के समय राजा और प्रजा के दृष्टिकोण में धीरे-धीरे अन्तर पडने लगा। यद्यपि यह अन्तर सघर्ष के स्तर तक तो न पहुँचा, परन्तु इसने एक प्रकार की विभिन्नता तो पैदा कर ही दी। सस्कृति के सगठन में दरार पडने लगी।

धार्मिक विश्रृंखलता

राजपूत-काल का धार्मिक सगठन विकीर्ण दिखाई देता है। वैसे तो हमारे देश में कभी भी एक मात्र धर्म का सिद्धान्त मान्य नही रहा, व्यक्तियो तथा समूहो को अपने व्यक्तिगत

विचारो के प्रचार की निरन्तर स्वतन्त्रता थी, परन्तु सामान्य रूप से अधिकाश जन-समुदाय केवल एक ही मत का अनुसरण करता था। वैदिक काल के पूर्ववर्ती धर्म की रेखाए मोहनजोदडो तथा हडप्पा के भग्नावशेषो में विद्यमान है। वैदिक धर्म तो सनातन माना ही जाता है। इसी की नीव पर बौद्ध तथा जैन मतो ने नास्तिकवाद के महल बनाए। काल ने समन्वय और सम्मिश्रण का चक्र चलाया और पौराणिक धारा का सृजन हुआ। यह धारा इतने वेग से बही कि इसके फाँद में सभी मत-मतान्तर समा गए। सभी मत-मतान्तर सामूहिक रूप से धर्म नाम से अभिहित किए जाते थे। इस धर्म के विविध अगो में परस्पर भेद स्पष्ट था। एक ही रूप के अनेक आकार दिखाई देते थे।

दसवी शताब्दी के एक अरब यात्री का कथन है कि भारत में बयालीस मत है। दूसरे यात्री अलइद्रीसी ने ग्यारहवी शताब्दी में इस कथन की पुष्टि करते हुए कहा है कि भारत के प्रमुख मतो में बयालीस मतो की गणना की जाती है। कुछ लोग विधाता को तो मानते है, परन्तु नबी या रसूल मे उनकी निष्ठा नही, कुछ दोनो में से एक को भी स्वीकार नही करते। कुछ लोग अग्नि की उपासना करते है और दहकती आग में कूद कर प्राण-विसर्जन करते है। यदि कुछ पत्थरो की पूजा करते है और उन पर घी चढाते है, तो कुछ सूर्य की उपासना करते है और उसको सृष्टि का निर्माता तथा सचालक समझते है। कुछ वृक्षो को पूजते है, तो कुछ सर्पो को। कुछ लोग ऐसे भी है जिनकी श्रद्धा किसी भी वस्तु में नही और न उनका विश्वास त्याग या तप में ही है। विदेशी यात्रियो के कथनो में थोडा-बहुत तथ्य है, इसे इनकार नही किया जा सकता। उस समय के मत-मतान्तरो की विभिन्नता से प्रभावित हो कर उन्होने उसी का साधारण ब्यौरा दिया है। इस विभिन्नता के अन्तर्गत एकता को समझना उनके लिए सभव न था। फिर भी, विभिन्नता की ओर से हम अपनी आँख बन्द नही कर सकते और सत्य तो यह है कि इस समय के समस्त वातावरण में जैसे विभिन्नता की बिजली दौड गई थी।

जैनमत

राजपूत राजाओ की श्रद्धा तो शैवमत मे थी, परन्तु उनकी जनता का विशेष झुकाव अहिसा व्रत की ओर था। अहिसा धर्म का प्रतिपादन अधिकाश रूप से जैन तथा बौद्ध मतो ने ही किया था। यद्यपि बौद्धमत के समान जैनमत को उत्तर भारत के किसी चक्रवर्ती सम्राट ने नही अपनाया, फिर भी उसका प्रसार देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तो में हो ही गया। पूर्वी प्रदेश से वह दक्षिण पहुँचा और वहाँ फैला तथा राष्ट्रकूटो ने (८००-१००० ई० = स०८५७-१०५७ वि०) उसे प्रश्रय दिया। उनके सरक्षण में वह महाराष्ट्र के कृषक-वर्ग में फैल गया तथा महाराष्ट्र से गुजरात होता हुआ एक ओर राजपूताना और मालवा तक और दूसरी ओर सतलज नदी की घाटी तक प्रवेश कर गया। विशेष कर वैश्य जाति की तो इस मत में पूर्ण निष्ठा हो गई। यह भी सभव है कि जैनमत के अन्य अनुयायी वैश्य जाति में सम्मिलित हो गए हो। जैनमत पर भी पौराणिक धर्म की छाप लगी। मध्यकाल से बहुत पूर्व इसकी दो शाखाएँ—दिगम्बर तथा श्वेताम्बर—हो गई थी। चौबीस तीर्थकरो की व्यवस्था ने अवतारवाद के साथ समता प्रदर्शित की। तप और त्याग तो भारतीय अध्यात्म के मूल सिद्धान्त थे ही, मूर्ति-पूजा का भी उसमें प्रवेश हो गया और ईश्वरवाद का निषेध करते हुए भी इस मत में आस्तिकता का सन्निवेश हो गया। दर्शन तो एक

होता है—(१) सहजयान में तन्त्र-मन्त्र का निषेध किया गया है। सहज में महासुख की साधना का निर्देश किया गया है। इस सम्प्रदाय में नृत्य, सगीत, सघवाद परिवर्तित रूप में उतर आया। शक्ति का भय हट गया, करुणा ने प्रेम की ओर अग्रसर होने में योग दिया। व्यक्ति में प्रेम की भावना इतनी बढ गई कि वह अपने भीतर ही पूर्णत्व का प्रयत्न करने लगा। इस पद्धति के अनुसार पाषड का खडन हुआ और देवताओ को व्यर्थ ठहराया गया। (२) कालचक्रयान वास्तव में योग-मार्ग है और उसमें योग-साधना की व्याख्या की गई है। इस पद्धति का कब प्रादुर्भाव हुआ इस विषय में विद्वानो में मतभेद है। परन्तु इसमें सन्देह नही कि इसका मूल स्रोत तिब्बत है। यहाँ दसवी या ग्यारहवी शताब्दी ई० में अतिश ने इसका रूप निर्धारित किया। इस पद्धति के अनुसार काल ही वज्रज्ञान है, तथा आदि बुद्ध ही कालचक्र है। वह करुणा तथा शून्य रूप है। काल देह ही मे स्थित है तथा उसका रूप प्राणवायु है। उसकी साधना चक्रो और नाडियो द्वारा की जाती है। सहजयान तथा कालचक्रयान ने मिलकर सिद्धो की विचारधाराओ पर गहरा प्रभाव डाला।

सिद्ध-साधना

वास्तव में धार्मिक दृष्टि से राजपूत-काल को सिद्ध-सामन्त-नाथ युग कहना ही उचित है। इस समय निम्न जातियो तथा ब्राह्मण-विरोधी दलो ने एक प्रचड विकपन पैदा कर दिया था। यदि सिद्धो की जीवनियो पर दृष्टिपात किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इनमें से अधिकतर निम्न जातियो के थे। सरहपा या तो शूद्र थे और यदि ब्राह्मण भी थे तो उन्होने शूद्र-कन्या से विवाह किया था। शबरपा नर्तक जाति के थे, लुईपा सभवत कायस्थ थे। बगाल में गगा-तट पर मछलियो का ढेर देख कर उनको खा कर ही उन्हे सिद्धि प्राप्त हुई थी। तिलोपा तेली थे। मीनपा मछुवा थे। सिद्धमत में साधना का बहुत बडा महत्व है। साधना के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती थी। साधना के भिन्न रूप थे जिनमें से कुछ बाहर से देखने में पापमय मालूम होते हैं। पूर्ववर्ती समस्त क्रियाएँ, जो तन्त्र से सबधित थी, इस मत में प्रवेश कर गईं। सिद्ध लोग ससार और मन को एक ही मानते थे। उनका कहना था कि मन के द्वारा ही सासारिक बन्धनो से निर्वाण की प्राप्ति होती है। मन के बन्धन है कर्म। ज्ञान से कर्मों का नाश होता है। मन की चचलता मिटाने के लिए सहज-बोधि को जाग्रत करना आवश्यक है। जागृति प्राप्त करने के लिए विशोधन, हनन, हठयोग इत्यादि साधनो का सहारा चाहिए। परन्तु इस सहारे का उपयोग बिना गुरु के नही किया जा सकता। इस प्रकार सिद्ध-पद्धति में गुरु का बहुत महत्व है। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से सिद्धो के समय का ठीक निर्णय करना उपलब्ध सामग्री के आधार पर कठिन है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि समस्त राजपूत-काल में सिद्धो का प्रभाव व्यापक रहा। मन्त्र-तन्त्र की सहायता से सिद्ध लोग असाधारण शक्ति प्राप्त करके दिखाते थे। एक सिद्ध डोम्बिपा नाम के है, जिन्हें सिह पर सवार तथा हाथ में सर्प का कोडा लिए चित्रित किया गया है। ऐसी ही जनश्रुति एक सूफी साधु के सबध मे है। सिद्धमत का प्रचार-क्षेत्र बगाल से पजाब तक और नैपाल से तजौर तक फैल गया।

नाथपथ

तान्त्रिक महायान ने एक और सम्प्रदाय में योग दिया। इसका नाम नाथपथ या अवधूत मत है। इस मत के प्रवर्तक आदिनाथ अथवा स्वय शिव ही माने जाते हैं और इसके प्रचारक

आचार्यो के नामो के अन्त में अधिकतर नाथ शब्द जुडा रहता है। सिद्धमत से नाथपथ का गहरा सबध रहा है। कुछ प्रवर्तको के नाम दोनो में एक ही है, जैसे, मीननाथ, सिद्धपाद, जालधर-नाथ। सिद्ध तो सभवत चौरासी हुए है और कम-से-कम इसके आधे नाथो की नामावली प्राप्त है। वास्तव में सिद्धो तथा नाथो में भेद करना कठिन है। आदिनाथ के वाद मत्स्येन्द्रनाथ का नाम आता है। इनका प्रादुर्भाव नवी शताब्दी ई० में किसी समय हुआ। सभव है कि आरभ में ये साधक सिद्ध रहे हो, परन्तु आगे चलकर इन्होने ऐसे आचार को ग्रहण किया जिसमें स्त्रियो का साहचर्य प्रधान था। एक ओर ये गोरक्षनाथ के गुरु माने जाते है और दूसरी ओर कौलमत के प्रवर्तक। नाथ सम्प्रदाय में सिद्धियो और चमत्कारो का तो स्थान है, परन्तु भोग-विलास का नही। नाथपथी योग-साधन करके समाधि के अन्त में निर्विकल्पक आनन्द अनुभव करते है। परन्तु कौलमार्गी पच मकारो को ग्रहण करते हुए श्री-सुन्दरी की साधना का व्रत लेकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करते है। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का यह द्विमुखी चित्र तथा चरित्र कुछ आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता है। इनके शिष्य थे गोरक्षनाथ। कुछ विद्वानो का अनुमान है कि यह दसवी शताब्दी ई० में हुए है, परन्तु इस अनुमान को ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नही है। यह भी कहा जाता है कि शकराचार्य के वाद इतना प्रभावशाली और इतना महिमान्वित महापुरुप भारतवर्प में दूसरा नही हुआ। परन्तु यह निष्कर्प भी दन्तकथाओ तथा साहित्य में आए हुए सकेतो पर आधारित है। गोरक्षनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया है जिसके अनुसार साधक प्राणवायु को रोककर कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। जाग्रत कुण्डलिनी क्रमश षट्चक्रो को भेदती हुई अन्तिम चक्र में पहुँचकर शिव से जा मिलती है। यही है परम आनन्द, आत्मा और परमात्मा की अभेद सिद्धि। यद्यपि गोरक्षनाथ की मृत्यु के पश्चात् ही उनके द्वारा प्रवर्तित मत छोटे-छोटे भागो में विभाजित हो गया और नौवत यहाँ तक पहुँची कि उसका सार लुप्त हो गया, लेकिन इसमें सदेह नही कि भारतवर्प में उसका प्रभाव विस्तृत था। इस पथ के कुछ अनुयायी, जिनकी वेदो में आस्था न थी, आगे चलकर इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो गए। जोगी नाथ सम्प्रदाय के ही मानने वाले थे। धर्म-परिवर्तन उनकी पुरानी विश्वास-प्रणाली पर अधिक प्रभाव न डाल सका।

शैवमत

ऊपर के कथन से यह नही समझ लेना चाहिए कि धार्मिक क्षेत्र केवल महायान के रूपान्तर से ही आच्छादित था, यद्यपि इसमें सन्देह नही कि इन मतो का जनता पर विशेप प्रभाव था, क्योकि जनता को अपनी दैनिक कठिनाइयो का हल इनमें दृष्टिगोचर होता था। तत्र-मत्र से दु ख-निवारण होता है, योगी के दर्शन से पुण्य की प्राप्ति होती है—यही विश्वास लोगो के हृदय में घर किए हुए था। यद्यपि यह युग सिद्धि और तत्र का था, फिर भी इन्ही पद्धतियो से प्रभावित तथा व्यक्तिगत रूप से भी इस देश में अनेक और मत भी प्रचलित थे। शैव सम्प्रदाय तो प्राचीन काल से चला आ रहा था। प्रमुख शैव सिद्धान्त तीन है—काश्मीर, दक्षिण तथा वीर। सहस्रो मील का अन्तर होते हुए भी उत्तर और दक्षिण के शैवमत में कोई मौलिक अतर नही है। तान्त्रिक सम्प्रदाय का प्रारभ नवी शताब्दी में काश्मीर में माना जाता है। विकसित रूप में उसकी दो शाखाएँ हो गई—(१) स्पन्द तथा (२) प्रत्यभिज्ञ। स्पन्द शाखा के सिद्धान्तो का वसुगुप्त

(८५० ई० = स० ९०७ वि०) ने प्रतिपादन किया तथा इसका साहित्यिक नाम शिवसूत्र पडा। उत्पलदेव (१००० ई० = स० १०५७ वि०) ने 'स्पन्दप्रदीपिका' और क्षेमराज ने 'स्पन्दनिर्णय' की रचना की। स्पन्द विचार-पद्धति के अनुसार शिव ही सृष्टि के कर्त्ता है, परन्तु उसके भौतिक कारण नही। सृजन-कार्य से उन पर कोई भी प्रभाव नही पडता। मुक्ति प्राप्त करने के तीन साधन है—शाम्भव, आर्णव तथा अर्थस। प्रत्यभिज्ञान के सिद्धान्तो का प्रतिपादन सोमानन्द ने ८५० ई० (स० ९०७ वि०) में किया। इस शाखा का सर्वमान्य आधार-ग्रन्थ अभिनवगुप्त रचित 'ध्वन्यालोक-लोचन' है। इसके अतिरिक्त भी उन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनसे तान्त्रिक सम्प्रदाय का साहित्य-भडार परिपूर्ण हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुसार जीवात्माओ में पारस्परिक विभिन्नता होते हुए भी वे शिव से विभिन्न नही है। वातावरण तथा अन्य मतो के सम्पर्क में आने के कारण शैव मत ने भी अनेक रूप धारण किए और इन रूपो के सहारे वह समस्त उत्तर भारत मे व्याप्त हो गया। ऊपर सकेत किया जा चुका है कि राजपूत शासको की इसमें अगाध निष्ठा थी। राजा भोज (१००५—१०५४ ई० = स० १०६२–११११ वि०) ने तो 'तत्वप्रकाश' नामक एक प्रामाणिक ग्रन्थ भी लिखा है। नेपाल में शैव सम्प्रदाय ने नाथपथ में योग दिया, सिद्ध सम्प्रदाय ने महायान तथा शैव सम्प्रदाय के सम्मिश्रण से लाभ उठाया और परिवर्तित रूप में जनता में उसका प्रचार किया। सैद्धान्तिक रूप में इसको उच्च वर्ग ने अपनाया। शैवमत के प्रसार से बौद्धमत को धक्का लगा। ध्यानी बुद्ध तथा योगी शिव में कोई अन्तर नही जान पडता। नेपाल में अनेक मूर्तियाँ ऐसी है जिनके सबध में यह निर्णय करना कठिन है कि वे शिव की है या बुद्ध की। शैवो ने बुद्ध विहारो पर अधिकार जमा लिया। बुद्ध भगवान शिव के रूप में अन्तर्धान हो गए। यह था शैवमत के आधिपत्य का प्रभाव।

शाक्तमत

पौराणिक परम्परा के अन्तर्गत लगभग प्रत्येक देवता के साथ शक्ति-रूपी देवी की कल्पना की गई है। वैसे तो यजुर्वेद में भी रुद्र के साथ मातृरूपी अम्बिका का उल्लेख आता है, परन्तु इस प्रसग में अम्बिका को रुद्र की बहन माना गया है, न कि उसकी अर्धांगिनी। अन्त में भावनाओ में परिवर्तन होने के कारण देवी अम्बिका को रुद्र की पत्नी का पद प्राप्त हुआ और उसका सबध पर्वत से जोड दिया गया तथा नवीन रूप में उसका नाम पार्वती, हेमवती तथा उमा पडा। यह नामकरण शैवमत पर पहाडी प्रभाव की ओर सकेत करता है। धीरे-धीरे शिव तथा शक्ति में अटूट नाता स्थापित हो गया। शक्ति ही सृष्टि-रचना की आधारभूत या जननी ठहराई गई। कालान्तर में शक्ति की दो रूपो में कल्पना की गई—श्वेत वर्ण तथा श्याम वर्ण। उमा श्वेत वर्ण की मानी गई। उसका स्पष्ट कारण यह है कि पहाडो की ऊँची श्रेणियो पर रहने वाले पुरुष तथा नारियाँ गौर वर्ण के होते है और जब देवताओ की शारीरिक रूपरेखा की कल्पना मनुष्यो के समान की गई तो उमा का गोरा रग स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। श्याम वर्ण वाली देवियो में काली, कराली, चामुण्डा और चण्डी की गणना होती है। इस रूप मे भी वह माता ही समझी जाती है, परन्तु ऐसी माता जो दुष्टो का सहार करती है और जिसकी आकृति भयकर होती है, जिसको प्रसन्न करने के लिए तरह-तरह की बलि का विधान है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से शक्ति ब्रह्म की प्रतीक ही नही, वरन ब्रह्म और शक्ति दोनो एक ही है।

तंत्र इसी भावना से ओतप्रोत है। जब तान्त्रिक और शैवमत का संपर्क हुआ तब दोनो के सम्मिश्रण से शाक्तमत का प्रादुर्भाव हुआ। कालान्तर में इस मत के आचार दो विभागो में बँट गए। दक्षिणाचार के अनुसार प्रभात के समय सध्या, मध्याह्न में जप, दुग्ध तथा शर्करा का पान, रुद्राक्ष की माला धारण करना साधक के लिए अनिवार्य माना गया। यह एक प्रकार से गौर वर्ण शक्ति की आराधना थी। इसके प्रतिकूल वामाचार में तामसी उपासना का विधान है। इसमें पशु-बलि तथा गुरु का विशेष महत्व है। गुरु-दीक्षा के बिना सिद्धियो की प्राप्ति असभव मानी गई। इसके अतिरिक्त वामाचार में पाँच मकारो का भी विधान है। इन मकारो को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भैरवी-चक्र की योजना की जाती थी। चक्रो में वर्ण-जाति के भेद का विचार नही होता था। ये चक्र तीन प्रकार के होते थे—वीर,राज और देव। वीरचक्र में किसी भी रजस्वला कन्या की गणना हो सकती थी। राजचक्र में यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची कैवर्तकी नारी का शक्ति-रूप में व्यवहार किया जाता था। देवचक्र में राजवेश्या, नागरी, गुप्तवेश्या, देववेश्या तथा ब्रह्मवेश्या सम्मिलित होती थी। इस प्रकार जब सिद्ध लोग हठयोग तथा सयम से कुडलिनी को जाग्रत करते थे, शाक्त सम्प्रदाय वाले इसी कार्य को भोग द्वारा सम्पन्न करते थे। चक्रो तथा कुडलिनी का स्थान दोनो सम्प्रदायो में समान है, परन्तु साधनाओ के रूप में विभिन्नता है। दार्शनिक विचार से शाक्तमत का पथ तलवार की धार के समान पैना है तथा भोग का अर्थ इन्द्रियो की तृप्ति नही, बल्कि वासना का सहार है। परन्तु इसमें भी सन्देह नही कि भैरवी-चक्र के अनुयायियो ने शाक्तमत के आदर्शो को दूषित कर दिया। जनसाधारण के लिए गूढ तत्व को समझना दुष्कर था। वे मत के बाह्य आवरण से ही प्रभावित हुए। विशेष कर बग प्रदेश में शाक्तमत का अधिक प्रचार हुआ। इसका मुख्य कारण महायान-परम्परा है। अन्य उत्तरी प्रदेशो में भी थोडा-बहुत प्रचार हुआ। तंत्र तथा शाक्त सम्प्रदायो से मिलकर भारत के सास्कृतिक क्षेत्र में दो विचार-धाराओ का प्रादुर्भाव हुआ—एक का सबध वीर रस से है और दूसरी का शृगार रस से। राजपूतो का समस्त जीवन इन्ही दो रसो मे पगा हुआ था। शाक्त मत की हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ उनको रक्तपात की ओर प्रोत्साहित करती थी तथा विलासमयी प्रवृत्तियाँ भोग की ओर।

नूतन वैष्णवमत

सर्वशक्तिमान, सृष्टि तथा प्रलय, देवताओ की उत्पत्ति तथा पूजा, स्वर्ग, नरक, देवता, स्त्री, पुरुष, शरीर-स्थित चक्र, शास्त्र तथा धर्म, आश्रम, देवता-मूर्ति, मंत्र, यंत्र, मुद्रा, साधना, उपासना, जादू, ध्यान, योग, विज्ञान, इत्यादि सभी तंत्रो के अन्तर्गत आ गए। तंत्र के रूप-रूपान्तरो ने प्रत्येक वर्ग की आध्यात्मिक तथा भौतिक पिपासा को तृप्त किया। शाक्तमत के प्राबल्य ने प्राचीनता को एक ऐसा धक्का दिया जो असह्य था। परन्तु ब्राह्मण धर्म ने इस पर भी अपनी छाप लगा कर इसे टकसाली मत में परिणत कर लिया। इसी समय पुराणो का पुन प्रतिपादन हुआ और इनमे पांच देवताओ के प्रति स्तोत्र लिखकर सम्मिलित किए गए। वैदिक धर्म ने एक नया रूप धारण किया। इसको इतिहासकार नूतन वैष्णवमत कहते है। अन्य मतो के समान इनके मूलाधारो में भी कई विचार-धाराओं और परम्पराओं का सम्मिश्रण है, परन्तु इनके सिद्धान्तो में अहिंसा पर अधिक बल दिया गया। पशु-बलि तथा आमिष भोजन का निषेध किया गया।

काश्मीर का राजा अवन्तिवर्मन परम वैष्णव था और उसने अपने राज्य में पशु-हत्या की मनाही कर दी थी। राजा भोज तथा उसका पौत्र दोनो ही परम वैष्णव थे। बगाल का लक्ष्मणसेन भी परम वैष्णव था। फिर भी सामान्य रूप से यह मत क्षत्रियो को रुचिकर न हुआ। उनकी प्रकृति तथा परम्परा के अनुकूल तो शैवमत ही था।

वैष्णव सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ 'पचरात्र सहिता' है। इसके मानने वाले मन्दिरो में जाना, पूजा की सामग्री इकट्ठा करना, पूजा करना, स्वाध्याय तथा योग से भगवान का साक्षात्कार करना अध्यात्मवाद का ध्येय समझते थे। धीरे-धीरे वैष्णवो ने विष्णु के चौबीस अवतारो की कल्पना की—मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, ब्रह्मा, नारद, नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभदेव, पृथु, मोहिनी, नृसिह, वामन, परशुराम, वेदव्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, हस, हयग्रीव और यज्ञ। इनमें से दस अवतार मुख्य माने गए। इन अवतारो की तालिका से वैष्णव सप्रदाय पर बौद्ध तथा जैन मतो का प्रभाव स्पष्ट है तथा इसमें सन्देह नही रह जाता कि अवतारवाद २४ बुद्धो अथवा २४ तीर्थंकरो का दूसरा रूप है। मूर्ति-पूजा का सिलसिला तो महायान सम्प्रदाय से ही चल निकला था, प्रत्येक मत ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार इसकी रूपरेखा में परिवर्तन कर इसको अपना लिया। यदि शैवो ने मूर्तियो को मन्दिरो में स्थापित किया तो वैष्णव भला कब पीछे रहने वाले थे। हजारो की सख्या में वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर बने और इनमें नाना प्रकार की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। विष्णु की चौदह और चौबीस हाथ वाली आकृति की कल्पना के अनुसार मूर्तियो का निर्माण किया गया तथा उनके हाथो में भिन्न-भिन्न आयुध दिए गए। इसी प्रकार ब्रह्मा की मूर्ति भी बनाई गई। धीरे-धीरे ब्रह्मा, शिव और विष्णु एक ही परमात्मा के रूप मान लिए गए और त्रिदेव की पूजा होने लगी। अट्ठारह पुराण इन्ही तीन देवताओ के सबध में है। इनके अतिरिक्त गणेश, स्कन्द, सूर्य, अष्ट दिक्पालो का तो कहना ही क्या, ग्रह, नक्षत्र, शास्त्रो, नदियो, युगो तक की मूर्तियाँ बना डाली गईं। अन्त में हिंदुओ के पाँच मुख्य देवता—सूर्य, विष्णु, देवी, रुद्र और अग्नि—रह गए, जिन्हें सामान्य रूप से पचायतन कहते है। जिस देवता का मन्दिर होता है उसकी मूर्ति मध्य में और चारो कोनो मे अन्य चार देवताओ की मूर्तियाँ होती है। इन मूर्तियो तथा मन्दिरो के आकार और सजावट में कारीगरी के दृष्टिकोण से कोई बात उठा नही रखी गई है। शिल्पियो ने अपनी कुशलता का भरपूर प्रदर्शन किया है। देवालय पवित्रता के केन्द्र तो थे ही, इसके साथ-साथ उनमें सुरक्षा का भी प्रबन्ध रहता था। प्रतिमाओ के वस्त्र-आभूषण बहुमूल्य होते थे। इस सम्बन्ध में सोमनाथ के देवालय तथा मूर्ति का उदाहरण दिया जा सकता है। वह इतने रत्नो से सुसज्जित था कि महमूद गजनवी अपने लालच को रोक न सका और उसने प्रतिमा का विध्वस करके अपने राजकोष को मालामाल किया। कभी-कभी राजागण सुरक्षा के हेतु अपनी बहुमूल्य वस्तुएँ देवालयो में लाकर रख दिया करते थे। धनराशि के लोभ से ही प्रेरित होकर तुर्क आक्रमणकारियो ने सैकडो मन्दिरो को तोडा।

वेदान्त

धर्म-दर्शन के क्षेत्र में इस काल में वेदान्त धर्म का अधिक विकास हुआ। विभिन्न आचार्यों ने वेदान्त सूत्र का अपने-अपने दृष्टिकोण से भाष्य करके कई सम्प्रदाय चलाए। परन्तु इन सबका

आधार भक्ति थी। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद प्रचलित किया। इसके अनुसार यद्यपि ब्रह्म, जीवात्मा और जगत तीनों मूलत एक ही हैं, फिर भी सामान्य रूप से एक दूसरे से भिन्न और विशिष्ट गुणो से युक्त हो जाते हैं। जीव और ब्रह्म का वही संबंध है जो सूर्य और किरण का है। जिस प्रकार किरण सूर्य से निकलती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से निकला हुआ है। परन्तु इस सूक्ष्म भेद को समझना सरल न था। इस ध्येय को लेकर मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया और ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति को पृथक-पृथक सिद्ध किया। राम और सीता की मूर्तियों की पूजा पर जोर दिया। इस सम्प्रदाय में वैराग्य, शम, शरणागति, गुरु-सेवा, गुरुमुख से अध्ययन, परमात्म-भक्ति, अपने से बडो के प्रति भक्ति, समवयस्कों से प्रेम और अपने से छोटो पर दया, यज्ञ, संस्कार, सब कार्य हरि को समर्पित करना तथा उपासना आदि अनेक साधनो से मोक्ष प्राप्त करने का सिद्धान्त बताया गया है। इसके अतिरिक्त बारहवीं शताब्दी ई० में निम्बार्क ने द्वैताद्वैत अर्थात् द्वैत और अद्वैत दोनों का सम्मिश्रण करके एक और सम्प्रदाय की स्थापना की। इसके अनुसार ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्म में ऐक्य भी है और विभिन्नता भी। ब्रह्माण्ड में जीवात्मा और प्रकृति दोनों सम्मिलित हैं। जीवात्माएँ ब्रह्म के अधीन है तथा मुक्त अवस्था में भी ब्रह्म में मिली हुई और ब्रह्म से अलग रहती हैं। ब्रह्म के वास्तविक रूप को समझना ही मोक्ष है तथा इसकी प्राप्ति ज्ञान और प्रपत्ति द्वारा ही संभव है। राधा और कृष्ण ब्रह्म के स्वरूप हैं। इनकी पूजा तथा आराधना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

धार्मिक आदर्श और व्यवहार

शैव, वैष्णव, सिद्ध, तान्त्र तथा शाक्त मतों ने मिलकर भारत में एक गहन वन का दृश्य प्रस्तुत कर दिया। इस वन में प्रत्येक वृक्ष अपनी शाखाओ को दूर-दूर तक फैलाने का प्रयत्न करता है, किन्तु एक दूसरे की जडो को नष्ट नही करता। आर्य तथा आर्येतर जातियो की उच्च दार्शनिकता तथा निम्न कोटि के अन्धविश्वास परस्पर हिल-मिलकर एक हो गए। धर्म और सम्प्रदायों के इन्ही उलझे हुए स्वरूपो ने यहाँ की संस्कृति की रक्षा की। विद्वेष और असहिष्णुता रहते हुए भी सहिष्णुता का लोप नही हुआ, अनेक में एक और एक में अनेक की परिपाटी स्थिर रही। कन्नौज के गहड्-वाल-वंशी परम शैव राजा गोविन्दचन्द्र ने दो बौद्ध भिक्षुओ को विहार के लिए छ गाँव दिए थे। बौद्ध राजा मदनपाल ने अपनी स्त्री को रामायण सुनाने के लिए एक ब्राह्मण को एक गाँव दान में दिया था। गोविन्दचन्द्र की स्त्री बौद्ध थी। इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। परन्तु यह चित्र का केवल एक ही पटल है, यदि हम दूसरी ओर ध्यान दें तो दूसरा ही रूप प्रदर्शित होता है। साम्प्रदायिक विभिन्नता के कारण मोक्ष को छोड कर जनसाधारण के समक्ष दूसरा ध्येय, कोई और उत्साहपूर्ण आदर्श शेष नही रह गया था। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त जनता अध्यात्मवाद में विभोर हो गई थी। इसके विपरीत वह अंधविश्वासों तथा आडंबरो के विस्तृत जाल में फँस कर आत्मसत्ता खो बैठी थी। आध्यात्मिक शब्दावली की रूपरेखा तो जैसी की तैसी बनी रही, परन्तु उसके अर्थ बदल गए थे। शंकर की माया का अर्थ ब्रह्म के अज्ञान के बदले संसार की असारता हो गया। परिणामस्वरूप भौतिक और आध्यात्मिक आदर्शों के सन्तुलन में हानिकारक बल पड गया। सांसारिक वस्तुओं के प्रति सर्वसाधारण

का मोह तो जहाँ का तहाँ रहा, परन्तु इस मोह के पीछे कोई उत्साह न रह गया। धर्म का पालन इस लोक के लिए नही, वल्कि परलोक के लिए किया जाने लगा। जीवन के इस क्षेत्र पर एक प्रकार का आलस्य छा गया। प्रगति की धारा मन्द पड गई। परन्तु इस मन्द अवस्था में भी आगे आने वाली क्रान्ति के वीज निहित थे।

सामाजिक सगठन—वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-विभाजन

इस समय का समाज भी धर्म के साँचे में ही ढला। वर्ण-व्यवस्था की भित्ति पर ही इसका भवन खडा हुआ था। परन्तु वर्ण कर्म के अनुकूल न रहकर वश-परम्परा के अवीन होकर जातियो तथा उपजातियो के रूप में विकसित हुआ। समाज में ब्राह्मणो का सवसे अधिक मान-मम्मान था। शिक्षा तथा विद्या पर लगभग उनका एकाधिकार-सा था। अवूजैद, अलमसऊदी, अलवेरुनी इत्यादि यात्रियो ने इनकी विद्वत्ता की प्रशसा की है। वे शासन-कार्य में पर्याप्त भाग लेते थे। मत्री तो प्राय ब्राह्मण ही हुआ करते थे और कभी-कभी वे सेनापति का भी पद ग्रहण करते थे। समस्त समाज के आचार-विचार का ब्राह्मण ही निर्देश किया करते थे। उनका व्यवहार शुद्ध, उनका भोजन सात्विक और धर्म तथा अध्यात्म में उनकी विशेष प्रवृत्ति रहती थी। यद्यपि कई कारणो से यज्ञादि में कमी आ गई थी, लेकिन उनके स्थान पर नाना प्रकार के पूजा-पाठ और तात्रिक विधान दिन प्रतिदिन बढते गए तथा समयानुसार ब्राह्मणो ने इन क्रियाओ को करना और कराना आरभ कर दिया।

समाज के सगठन और विकास में दो शक्तियो का योग होता है—दार्शनिक तथा क्रियात्मक। ये दोनो शक्तियाँ एक दूसरे से इतनी सम्मिश्रित होती हैं कि यह निर्णय करना कि किस स्तर पर एक का प्रारम्भ हुआ और उसने दूसरे को प्रभावित किया, असभव-सा प्रतीत होता है। परन्तु इतना कहना अनुचित न होगा कि कर्म के पश्चात् ही दर्शन तथा सिद्धान्तो का प्रादुर्भाव होता है। अतएव जब परिस्थितियो से विवश होकर ब्राह्मण नाना प्रकार के व्यवसाय करने लगे तो स्मृतियाँ भी इसी के अनुकूल लिख दी गईं जिनमें ब्राह्मणो को क्षत्रिय तथा वैश्यो के धन्धो को करने की आज्ञा दे दी गई। अतएव बहुत से ब्राह्मण कृषक, शिल्पी और दूकानदार बन गए। परन्तु वे नमक, तिल, शहद, शराब और मास आदि पदार्थ नही वेच सकते थे। यद्यपि इस काल के आरभ में ब्राह्मणो का केवल एक ही वर्ण था, लेकिन धीरे-धीरे उनमें उपजातियाँ बनने लगी और ये भेद क्रमश वढते गए। इस प्रवृत्ति के कई कारण थे, जैसे, भोजन का भेद, निवास-स्थान का भेद तथा दार्शनिक विचारो का भेद। स्कन्दपुराण में नागर ब्राह्मणो का इतिहास दिया हुआ है और इसी प्रसग में नागर ब्राह्मण परिवारो की गणना कराई गई है। इस व्यौरे से यह निष्कर्ष निकलता है कि किस प्रकार से जाति-विभाजन में देश तथा वैवाहिक सबध ने योग दिया।

उत्तर भारत में नगरकोटिया, मुहियाल, सारस्वत, गौड, नानौल, कनौजिया, सरयूपारी, श्रीमाली, तिवारी, पुष्कर, मालवीय उपजातियो का उल्लेख इस काल के शिलालेखो अथवा ताम्रपत्रो में मिलता है। अपने पवित्र आचारो तथा शुद्ध धार्मिक वृत्ति के कारण समस्त देश में इनका विशेष आदर-सम्मान था। कुछ राजाओ ने ब्राह्मणो को मध्यदेश से आमत्रित करके अपने राज्य में बसाया था। कनौजिया ब्राह्मणो को बल्लालसेन ने बगाल में बसाया, केसरी राजाओ

ने उडीसा में तथा मूलराज ने गुजरात में बसाया। इन ब्राह्मणों ने बाहरी प्रदेशों में बसकर भी अपने को स्थानीय ब्राह्मणों से पृथक रखा और उनसे रोटी-बेटी का संबंध नहीं किया। इस प्रसंग में यह संकेत करना अनुचित न होगा कि गौड ब्राह्मणों का बंगाल से कोई संबंध नहीं। थानेश्वर के चारों ओर का प्रदेश किसी समय गौड नाम से प्रसिद्ध था तथा गौड ब्राह्मण इसी प्रदेश के रहने वाले थे। बंगाली ब्राह्मण इन्ही के वंशज हैं और इसलिये गौड कहलाते हैं। उत्तर भारत की ब्राह्मण उपजातियाँ बहुधा मांसाहारी थी। इसका प्रमाण अलबेरूनी से मिलता है। उसने लिखा है कि जैसे ईसाइयों को हिंसा करना मना है, इसी तरह ब्राह्मणों को भी। परन्तु वे कुछ पशुओं को गला घोंट कर मार सकते हैं, जैसे भेड, बकरी, हरिण, गैंडा इत्यादि। बैल, ऊँट, घोडा, हाथी तथा पालतू पशु-पक्षी, मछली, अंडा इत्यादि का खाना उनके लिये वर्जित था। लगभग एक शताब्दी पश्चात् मार्कोपोलो ने इस प्रसंग में लिखा है कि ब्राह्मण कुशल तथा सत्यवादी व्यापारी होते हैं। वे न तो मांस खाते हैं, न मदिरा पीते हैं और शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं। वे सूत का एक धागा पहनते हैं जो कंधे से होता हुआ वक्ष तथा पीठ पर पडा रहता है। प्रत्येक साप्ताहिक दिवस के शुभ तथा अशुभ मुहूर्त में विश्वास करते हैं, तथा व्यापार शुभ मुहूर्त में ही करते हैं। वे दीर्घायु होते हैं, क्योंकि वे त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं। उनके दाँत बडे-बडे होते हैं तथा वे एक प्रकार की पत्ती चबाते हैं। सारांश यह कि उपजातियों में विभाजित हो जाने तथा अपने पैतृक आचार छोड देने के बाद भी समाज में ब्राह्मणों का आदर-सम्मान था। समस्त हिन्दू जनता, चाहे वह किसी भी श्रेणी की क्यों न हो, उनको धर्म का रक्षक तथा आचार-विचार का निर्देशक मानती थी और इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण जाति ने अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निबाहा।

ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय जाति भी कई समूहों में विभाजित हो गई थी। दो भाग तो उसमें पहले से बन चुके थे—(१) कृषक क्षत्रिय, (२) सैनिक क्षत्रिय। स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी का पद निम्न था। द्वितीय श्रेणी वालों का, जो बहुधा राज्यपाल तथा ग्रामों के संरक्षक होते थे, समाज में ऊँचा स्थान माना जाता था। इस काल में इन्होंने ही राजपूत नाम धारण किया, जिसका अर्थ है—शासक-वर्ग के क्षत्रिय। आरम्भ में ये ब्राह्मणों से भी ऊँचे समझे जाते थे जिसका कि अरब यात्रियों ने उल्लेख किया है। परन्तु अलबेरूनी के समय तक दशा बदल चुकी थी। उसके कथनानुसार राजपूत जाति ब्राह्मणों से बहुत नीची न थी। राजपूतों को ब्राह्मणों के समान ही वेद और शास्त्र पढने का अधिकार प्राप्त था। राजा भोज और गोविन्दचन्द्र धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र के उतने ही प्रकांड विद्वान् थे जितने कि उनके समकालीन ब्राह्मण। एक अभिलेख में भोज को कविराज कहा गया है। चिकित्सा, ज्योतिष, धर्म, व्याकरण, वास्तु, अलंकार, कोष, कला—सभी विषयों पर उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। इसी प्रकार गोविन्दचन्द्र भी न केवल एक प्रतापी सम्राट था बल्कि उच्च विद्वान तथा विद्वानों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देने वाला था। गहड्वालों के इतिहासों में उसको विविध-विचार-विद्या-वाचस्पति की उपाधि से संबोधित किया गया है। कुछ लोगों ने तो उसको स्वयं बृहस्पति माना है, क्योंकि विज्ञान तथा दर्शन में वह निपुण था। उसके सेनानी सन्धि-विग्रहिक लक्ष्मीधर ने 'व्यवहार-कल्पतरु' की रचना की जो कि कानून का अमूल्य ग्रन्थ माना जाता है।

वारहवी शताब्दी के आरभ होते-होते राजपूत तथा शासक-वर्ग की एक विभिन्न जाति वन गई और इस जाति में केवल विशुद्ध क्षत्रिय वशो की गणना की गई। इस गणना से पजाव तथा दक्षिण प्रदेश के क्षत्रिय वचित रहे, कारण यह कि पजाव इस समय तुर्कों के अधीन था और दक्षिण के शासक वशो की शुद्धता सदिग्ध थी। उनकी नसो में आर्य-क्षत्रिय रक्त प्रवाहित न था। परन्तु इस गणना में मराठा क्षत्रिय कुल में शामिल कर लिए गए थे और वह इसलिए कि उनके तथा उत्तरीय क्षत्रियो के बीच वैवाहिक सवध होने लगा था। इस प्रकार राजपूतो में ३६ विशुद्ध वशो की परम्परा का निर्माण हुआ। कल्हण ने 'राजतरगिणी' में इसका उल्लेख किया है। सर्वप्रथम राजा गोविन्दचन्द्र गहड्वाल ने इन ३६ वशो की तालिका वनाई। उस समय के शिलालेखो के अनुसार उसने सूर्य तथा चन्द्रवशी क्षत्रियो का पुनरुद्धार किया, जिसका अर्थ यह भी हो सकता है कि राजपूत परिवारो को सूर्य तथा चन्द्रवशी श्रेणियो में विभाजित करके उन्हें महाभारत के समय तथा उसके पूर्व से प्रचलित परम्परा के साँचे में ढाला गया और इस प्रकार इस सम्मिश्रित जाति को भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप वना लिया गया। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण तीन समूहो में बाँटा गया—(१) ३६ कुल वाले राजपूत जो कि राजपूताना, गुजरात, काठियावाड, मालवा, उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी पजाव में बसे हुए थे, (२) पश्चिमी हिमालय के राजपूत और (३) मराठा क्षत्रिय। इन समूहो में रोटी-बेटी का पारस्परिक सम्बन्ध न था। कई कारणो से उत्तरी प्रदेशो के राजपूतो का गौरव अधिक बढ गया तथा वे ही भारतीय मान-मर्यादा के प्रतीक समझे जाने लगे। समाज और धर्म के सरक्षण का भार उन्ही के कन्धो पर आ पडा। इस प्रकार वे सस्कृति के विकास और उसके प्रसार का मापदण्ड बन गए। उनके चरित्र को ही आदर्श मान लिया गया।

वैश्यो तथा शूद्रो पर भी वही प्रभाव पडे जो कि ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो पर, अतएव वे भी अनेक उपजातियो में विभाजित हो गए। वैश्यो के मुख्य कार्य थे—पशु-पालन, कृषि, वाणिज्य इत्यादि। परन्तु जैन मत से प्रभावित होकर उन्होने कृषि को धीरे-धीरे त्यागना प्रारभ कर दिया और व्यापार की ओर उनकी रुचि दिनोदिन बढती गई। यहाँ तक कि इस समस्त जाति को वाणिज्य शब्द से व्युत्पन्न वणिक् या बनिया नाम से सबोधित किया जाने लगा। जिन पेशो को ब्राह्मणो, क्षत्रियो तथा वैश्यो ने नीचा और तुच्छ समझ कर छोड दिया, उनको शूद्रो तथा अन्त्यजो ने अपना लिया और इसी के आधार पर इन जातियो में भी बहुत-सी उपजातियाँ बन गईं। शूद्रो तथा अन्त्यजो का कर्त्तव्य था सेवा करना, परन्तु समाज में उनके अधिकार नही के बराबर थे। कुछ शूद्र जातियो को उच्च श्रेणी वाले स्पर्श कर सकते थे, परन्तु इनमें से बहुतो के स्पर्श से पवित्रता भग हो जाती थी। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि उस समाज में इस समस्त वर्ग का स्थान शोषितो का था। शूद्रो और अन्त्यजो का जीवन सेवा-धर्म के पालन में व्यतीत होता था। ऊपर उठने के लिये उनको न तो कोई साधन प्राप्त थे और न किसी ओर से प्रोत्साहन मिल सकता था। राजपूत राजाओ को वे अपनी मर्यादा तथा सपत्ति का रक्षक तो अवश्य समझते थे, परन्तु राजा और प्रजा में सास्कृतिक समानता होते हुए भी एक अप्रत्यक्ष द्वेष की भावना विद्यमान थी। राजा का कर्त्तव्य था राज्य करना और प्रजा का आज्ञा पालन करना। सैद्धान्तिक रूप से तो राजा का धर्म था कि प्रजा के सुख तथा समृद्धि का ध्यान रक्खे, परन्तु उस समय के युद्ध की भावनाओ से

ओत-प्रोत वातावरण में इन आदर्शो की पूर्ति असभव थी। यही कारण है कि राजा के प्रति प्रजा की सहानुभूति निरन्तर कम होती गई तथा दोनो के उद्देश्यो में विभिन्नता पैदा हो गई।

विवाह

सामाजिक जीवन में बाह्य एकता होते हुए भी विभिन्नता प्रत्यक्ष दिखाई पडती है। उदाहरण के रूप में विवाह-सस्कार लिया जा सकता है। पुरातन पद्धति के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते है, परन्तु इनमे से केवल चार—ब्राह्म, देव, आर्प तथा प्राजापत्य को ही विहित माना गया है। फिर भी राजपूतो में गान्धर्व, राक्षस तथा आसुर विवाहो का भी चलन था। विवाह के पूर्व सैनिक बल का प्रयोग किया जाता था और विवाह-उत्सव एक प्रकार की सैनिक विजय समझा जाता था। स्त्री का बलपूर्वक अपरहण करना एक साधारण-सी बात थी और इस विपय को लेकर भयकर युद्धो तक की नौबत पहुँच जाती थी। पृथ्वीराज और जयचद के सघर्ष का कारण सयोगिता ही थी। विवाह के समय सैनिक विजय की भावनाओ का प्रदर्शन आज दिन भी कुछ अशो में मौजूद है। यह अनुमान किया जा सकता है कि क्षत्रियो को छोडकर अन्य जातियो में—विशेप कर ब्राह्मण तथा वैश्यो में—गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाह-परम्परा का चलन था। उच्च श्रेणियो में बहुविवाह का रिवाज था। राजा, सरदार आदि धनाढ्य लोग प्राय कई विवाह करते थे, परन्तु निम्न श्रेणी के लोग सभवत आर्थिक कारणवश एक समय एक ही स्त्री से सतुष्ट रहते थे।

उत्सव

इसी प्रकार यद्यपि सभी श्रेणियाँ विभिन्न उत्सव मनाती थी, परन्तु उनके मनाने के ढग में विभिन्नता थी। केवल होलिकोत्सव ही ऐसा था जिसमें ऊँच-नीच की भावना थोडी देर के लिये लोप हो जाती थी। इन विभिन्नता के पीछे आर्थिक तथा धार्मिक दोनो ही कारण थे। परन्तु इसमें सन्देह नही कि मेले-ठेले के समय सब लोग जी खोल कर आमोद-प्रमोद की योजनाओ में सम्मिलित होते थे। ऐसे अवसरो पर प्रत्येक वर्ग के लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर बाहर निकलते थे। पुरुप और स्त्रियो दोनो को ही गहनो के पहनने का चाव था। बहुमूल्य मणियो के हार, अगूठियाँ, कडे भुजबद, कुडल, करधनी इत्यादि गहनो का खूब चलन था। स्त्री के रूप और पुरुप के आकर्षण में इससे चार चाँद लग जाते थे। अलकार ही स्त्री की धन-राशि समझा जाता था तथा स्त्री को सजाने के लिये हर एक साधन से काम लिया जाता था।

नारी का स्थान

यदि राजपूत नरेशो के लिए स्त्री विलास की वस्तु थी, तो अन्य जातियो के लिए वह त्याग तथा पवित्र प्रेम की प्रतिमा थी। परन्तु भोग-विलास के वातावरण में रहते हुए भी राजपूतनियो ने आत्म-समर्पण के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए है जो कि ससार के इतिहास में अद्वितीय है। उच्च वर्ग में स्त्रियो का सम्मान भी था और उनके कुछ अधिकार भी थे, यद्यपि आज वे हमें धुंधले दिखाई पडते है। पर्दे का अभी चलन न था। राजाओ की स्त्रियां दरबारो में आती

थी। यात्री अबूजैद ने इस प्रचलन की ओर सकेत किया है। शस्त्र धारण करके राजपूतनियाँ रणक्षेत्र में घोडो पर सवार होकर सेना का सचालन करती थी। इतिहासकार ईसामी ने अलाउद्दीन के प्रथम दक्षिण आक्रमण का वर्णन करते हुए लिखा है कि तुर्की सेना का एक स्थान पर पुरुष-वेश धारण किए हुए स्त्रियो ने विरोध किया और वे इतने साहस तथा वीरता से लडी कि उन्होने शत्रु के दाँत खट्टे कर दिए। अलाउद्दीन को यह कहना पडा कि यदि इस देश की स्त्रियाँ इतनी वीर और लडने वाली है तो फिर पुरुषो का क्या ठिकाना। स्त्रियो का यह कोई नवीन सस्कार न था, यह परम्परा तो राजपूत-काल से बराबर चली आ रही थी।

मनोरजन

जन-साधारण तथा उच्च वर्ग के लोग नाना प्रकार के आखेटो से अपना मन वहलाते थे। कुशल सैनिक बनने के अभिप्राय से शासक-वर्ग के व्यक्ति घुडसवारी, तलवार तथा भाला चलाना और इसी तरह के दूसरे व्यायाम किया करते थे जिनसे मनोरजन भी होता था और स्वास्थ्य-लाभ भी। रथो की दौड हुआ करती थी जिसके लिए बैलो और घोडो को रग-बिरगे वस्त्रो और आभूषणो से सुसज्जित किया जाता था। मल्ल-युद्ध का आम रिवाज था जिसे देखने के लिए लोग अधिक से अधिक सख्या में इकट्ठे होते थे। मस्त हाथियो के लडाने की भी प्रथा थी। राजाओ के दरबारो में नाटक भी खेले जाते थे। कवियो तथा नाटककारो का विशेष सम्मान था। कुछ इतिहासकारो का मत है कि यदि राजपूत नरेशो ने अपना समय तथा धन कवियो के आदर करने और कविता की रचना करने में न गँवाया होता तो सभव है कि उनका अध पतन इतनी शीघ्रता से न होता। घरो के भीतर लोग चौसर इत्यादि से मनोरजन करते थे। जुआ खेलना बुरा न समझा जाता था।

भोजन में शुद्धि और सफाई का बहुत ध्यान रखा जाता था। अहिंसा-प्रवृति के प्रभाव के कारण अधिकाश वैश्य जाति तथा कुछ ब्राह्मण उपजातियो के लोग केवल निरामिष आहार करते थे, परन्तु क्षत्रिय सामान्य रूप से मासाहारी होते थे और सभवत यही दशा शूद्रो की थी। साधारणतया गेहूँ, चावल, ज्वार, बाजरा, जौ, मटर, उडद, मसूर ही जन-समुदाय के खाद्य पदार्थ थे। लहसुन, प्याज का अधिक रिवाज न था। हरिण, भेड, बकरी के मास के अतिरिक्त प्राय अन्य मास निषिद्ध थे। यद्यपि अल-मसऊदी तथा सुलेमान के कथनानुसार यह सिद्ध होता है कि राजा लोग मदिरा-पान नही करते थे, परन्तु शनै शनै क्षत्रियो में मदिरा तथा अफीम और भाग का चलन बढता गया। ये वस्तुएँ उनके लिए व्यसन बन गई। शिव और शक्ति को पूजने वाला राजपूत-वर्ग भला मास, मदिरा तथा मैथुन से अछूता कैसे रह सकता था! सग्राम के समय अपने आपे को भूलने का एक मात्र उपाय मदिरा-पान या विजया-सेवन ही था। होश में रहकर वीरत्व का प्रदर्शन करना सभव नही था।

कला—वास्तु और मूर्ति

कला सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था का प्रतिविम्ब होती है। राजपूत-काल की कला के नमूने अधिक सख्या में प्राप्त नही है, परन्तु जितने भी है, वे समकालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति पर भरपूर प्रकाश डालते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार कला धर्म-केन्द्रित थी।

शाक्त सम्प्रदाय के विलासमय पहलू को कलाकारो ने पत्थर के माध्यम से न केवल चित्रित करके चिरस्थायी बना दिया है, बल्कि कोणार्क, भुवनेश्वर और खजुराहो के भग्नावशेषो को देखकर समसामयिक धार्मिक प्रवृत्तियो का यथार्थ बोध हो जाता है। शृगार रस तथा वामाचार के सम्मिश्रण ने कला के क्षेत्र में एक विशेष सौन्दर्य तथा आकर्षण का सचार कर दिया। उस समय की मूर्तिकला को देख कर आज दिन भी विशेषज्ञ चकित रह जाते है। यद्यपि जिस भाव अथवा विषय को ये मूर्तियाँ प्रदर्शित करती है, उसे देख कर हृदय में ग्लानि भले ही पैदा हो, मगर कलाकार के हाथ की सफाई की भूरि-भूरि प्रशसा किए बिना नही रहा जाता। कितने साहस, कितने धैर्य तथा कितनी लगन से काम करने के बाद ये जीते-जागते चित्र पाषाण के टुकडो से गढ कर बनाए गए होगे। ऐसा लगता है कि इन मूर्तियो में केवल जान डालना ही शेष रह गया है और कभी-कभी तो इन निर्जीव पत्थरो से जीवन भी झलकता प्रतीत होता है। मूर्तियो के अग-प्रत्यग मानो साँचे में ढाल दिए गए हो। शरीर का प्रत्येक भाग बनावट में सुडौल और इतना मनोमोहक है कि घटो उस पर दृष्टि जमी रहती है। यदि मूर्ति पुरुष की है तो मानो उसमें से बल फूटा पडता है और यदि स्त्री की है तो वह यौवन के चमत्कार से भरपूर है।

इस काल की वास्तु तथा मूर्तिकला का विस्तार गुजरात से बगाल तक है और यद्यपि हिन्दी भाषा और साहित्य का क्षेत्र केवल मध्य और पश्चिमी भागो में ही सीमित है, फिर भी उसमें समस्त उत्तर भारत की सस्कृति प्रतिबिम्बित है। कला के बाह्य रूपो में भले ही अन्तर दिखाई देता हो, परन्तु आन्तरिक प्रेरणा का स्रोत सब का एक ही है। हिन्दी साहित्य पर जैन धर्म की छाप स्पष्ट है। जैनियो ने भी पुनीत स्थानो में विशाल मन्दिरो का निर्माण किया। गिरिनार मे १६ मन्दिर है। इनमें से सबसे बडा नेमिनाथ का मन्दिर है। इसका आगन १९५ फुट लबा और १३० फुट चौडा है। इसमे दो मण्डप है, एक अर्धमडप और दूसरा महामडप। आगन के चारो ओर ७० कोष्ठ है। प्रत्येक कोष्ठ में तीर्थंकर की प्रतिमा स्थापित है। नेमिनाथ के मन्दिर के बिलकुल पीछे तेजपाल और वास्तुपाल द्वारा ११७७ ई० (स० १२३४ वि०) में बनवाया हुआ मल्लनाथ का मन्दिर है। इसके आकार में यह विशेषता है कि तीन मन्दिर एक साथ जोड दिए गए जान पडते है। यह शैली दक्षिण में तो प्रचलित है, परन्तु उत्तर भारत में बहुत ही कम पाई जाती है। गिरिनार के सन्निकट ही समुद्रतट पर सोमनाथ का मन्दिर है जिसका विध्वस महमूद गजनवी ने किया था। भीमदेव ने इसका पुनर्निर्माण कराया था तथा सिद्धराज और कुमारपाल ने इसकी सजावट कराई थी। इस मन्दिर में किस देवता की मूर्ति स्थापित थी, इस प्रश्न पर मतभेद है। सोमेश्वर के नाम से तो शिव का बोध होता है, परन्तु मुसलमान इतिहासकारो के वर्णन से यह भी अनुमान होता है कि मूर्ति सभवत विष्णु या तीर्थंकर की रही होगी। इस मत की पुष्टि में यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि गुजरात प्रदेश में दीर्घ काल मे जैन मत का प्राबल्य था।

इसी प्रसग में आबू पर्वत का महत्व भी उल्लेखनीय है। इसका ५००० या ६००० फुट ऊँचा शिखर रेगिस्तान के बीच ऐसा प्रतीत होता है जैसे नीलवर्ण समुद्र के मध्य कोई द्वीप। जैन तथा हिन्दू इसको तीर्थस्थान मानते है। यद्यपि पलिताना तथा गिरिनार के समान यहाँ बहुत से मन्दिर नही है, फिर भी जैनियो ने अपने प्रभुत्व-काल में कई अद्वितीय मन्दिर बनवाए

थे। ये श्वेत सगमरमर के बने हुए है, जब कि ३०० मील तक इस पत्थर की खान का कोई भी निशान नही मिलता। इनमें से एक तेजपाल तथा वास्तुपाल ने (११९७-१२४७ ई० = स० १२५४-१३०४ वि०) बनवाया था। इसकी बारीक कटाई तथा विवरणो की सुन्दरता अवर्णनीय है। दूसरा मन्दिर विमल साह का बनवाया हुआ है। यद्यपि देखने में यह सादा है, परन्तु इसका आकार भव्य है। कलाकार ने भावुकता से प्रेरित होकर बडे परिश्रम से अत्यन्त सूक्ष्म कला का प्रदर्शन किया है। इस मन्दिर के प्रमुख कोष्ठ में पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर का शिखर कोणाकार है। इससे सबधित एक मण्डप है जिसका कलश अडतालीस स्तम्भो पर आधारित है। समस्त मन्दिर १४० × ९० फुट आगन से घिरा हुआ है जिसके किनारे-किनारे दुहरे छोटे-छोटे स्तम्भो की शृखला की एक दालान है जो कि ५५ कोष्ठो के सामने मण्डपो के समान दिखाई पडती है। प्रत्येक कोष्ठ मे पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित है। इस मन्दिर के स्तम्भो तथा छत में बारीक कटाव का काम है, जो देखते ही बनता है। अरावली पर्वत की पश्चिमी श्रेणी की घाटी में भी जैन मन्दिरो का छोटा-सा समूह है जो कला की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त जिस प्राकृतिक वातावरण में वे स्थित है वह उससे भी अधिक मोहक है। सदरी का मुख्य मन्दिर राणा कुभा का बनवाया हुआ है। इसने जैन मत को भरपूर प्रोत्साहन दिया था तथा अपने राज्य मे अनेक इमारतो का निर्माण कराया था। सदरी के मन्दिर के कलशो, स्तम्भो तथा बाहर की कगूरेदार दीवार से आगे आने वाली प्रगति का अनुमान किया जा सकता है। वर्तुलाकार शिखर तथा गोलाई लिए हुए कलश कुछ ऊँचे, कुछ नीचे, सब मिला कर पर्वतीय शृखला का रूप प्रदर्शित करते है तथा प्राकृतिक वातावरण से मिलकर एक अद्भुत दृश्य उपस्थित कर देते है।

जैन, वैष्णव तथा शाक्त मतो की कला के सम्मिश्रण का जीता-जागता चित्र खजुराहो के विख्यात मन्दिरो में विद्यमान है। शिलालेखो अथवा शैली के आधार पर इनका निर्माण-काल ग्यारहवी शताब्दी ई० स्थिर किया गया है। बडे आश्चर्य की बात तो यह है कि इन मन्दिरो के तीन समूह गणना मे बराबर-बराबर ही तीन मतो के अनुसार विभाजित है। प्रत्येक समूह में एक बडा मन्दिर है जिसके चारो ओर छोटे-छोटे मन्दिर बने हुए है। शैव समूह में कनदरिया महादेव का प्रमुख मन्दिर है, वैष्णव-समूह में रामचन्द्र का और जैन-समूह में जिननाथ का। आकार तथा रूपरेखा में तीनो में इतनी समानता है कि चित्र को देखकर साधारणतया यह बताना कठिन है कि अमुक मन्दिर किस मत का है। अनुमान यह होता है कि सभवत एक ही शासक ने तीनो को बनवाया होगा तथा बनवाते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया होगा कि तीनो मतो की प्रतिष्ठा में कोई अन्तर न पडने पाए। इसीलिए या किसी और अज्ञात कारण से यहाँ के जैन मन्दिर में उन विशेषताओ का अभाव है जिनको हम जैन कला से सबधित कहते है। अलिन्द की अपेक्षा वितान अथवा शिखर अधिक महत्वपूर्ण दिखाई देता है। न तो इनमें कोष्ठो से घिरे हुए आगन ही हैं, और न उठे हुए कलश ही। इन मन्दिरो में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—प्रथम चौंसठ योगिनी का मन्दिर और दूसरा घटई। चौंसठ योगिनी का केवल एक १०५ × ६० फुट का आगन है, जिसके चारो ओर सब मिलाकर ६४ छोटे-छोटे कोष्ठ हैं, जिनके गावदुम शिखरो के ऊपर नुकीले शकु बने हुए हैं। यह क्रम-विन्यास जैन शैली के अनुसार है। घटई

की विशेषता है इसकी कला का माधुर्य। इसके स्तम्भो में घटो के आकार खुदे हुए है। सभव है, इसी कारण इस इमारत का नाम घटई पडा हो। कनदरिया महादेव के मन्दिर के एक भाग में बहुत ही अश्लील मूर्तियाँ खुदी हुई है। यह वामाचार मत की प्रतीक है। जहाँ एक ओर जैनियो के मन्दिरो से त्याग और आत्म-नियत्रण का सदेश मिलता है, वहाँ ये अश्लील मूर्तियाँ भोग-विलास द्वारा इन्द्रियो के दमन करने का साधन प्रस्तुत करती है। इस अश्लीलता में ही जीवन की वास्तविकता का सार छिपा हुआ है। योग तथा तप में असाधारणता है, भोग और विलास मे सामान्यता और स्वाभाविकता। सभव है, इन अश्लील मूर्तियो का यह तात्पर्य हो कि उनको देखकर साधारण मनुष्य के हृदय में ऐसी ग्लानि उत्पन्न हो जाए कि उसका चित्त भोग से हटकर योग की ओर चला जाए अथवा भोग के नाना प्रकार के आसनो का प्रयोग करके वह इन्द्रियो को इतना शिथिल कर डाले कि उनमें विलास की प्रवृत्ति ही शेष न रह जाए। तीन विभिन्न मतो के मन्दिरो का एक ही स्थान मे विद्यमान होना निरर्थक नही है। यदि एक ओर वे धार्मिक सहिष्णुता के द्योतक हैं, तो दूसरी ओर समकालीन वातावरण को चित्रित करते हुए जीवन के आदर्शो को कार्यरूप में परिणत करने का मार्ग भी दिखाते है। भोग कर्म है। ईशोपनिषद में लिखा है कि मनुष्य से कर्म नही चिपकता, फल या वासना चिपकती है। भोग से वासना की तृप्ति हो कर उसका सहार हो जाता है। इसके बाद ही योग की ओर मन आकर्षित हो सकता है। यह भी एक दार्शनिक दृष्टिकोण है।

इस काल की मूर्तिकला तथा वास्तुकला का वर्णन कोणार्क, भुवनेश्वर तथा पुरी का उल्लेख किए विना अधूरा रह जायगा। भुवनेश्वर में सब से पुराना मन्दिर परशुरामेश्वर का है। आकार में उसी के समान मुक्तेश्वर का मन्दिर है, परन्तु लबाई-चौडाई में वह उससे कुछ छोटा है। उसके जगमोहन के विभिन्न भाग अत्यत सुसज्जित तथा विविधतापूर्ण है। भुवनेश्वर का सब से पुराना मन्दिर उस काल की शैली का प्रतीक मात्र है। यद्यपि आकार मे वह बडा नही है, फिर भी उसका रूप विशाल है। उडीसा के अन्य मन्दिरो के समान असली मन्दिर में केवल एक ही वितान अथवा बडा देवल था और उसी से लगा हुआ जगमोहन था। बारहवी शताब्दी में इसके साथ नाट्य और भोग-मन्दिर और जोड दिए गए। इस मन्दिर का बाह्य उचान बहुत ही सुहावना तथा भव्य है। देखने में यह एक ठोस चौकोर स्तभ के समान है, परन्तु इसकी कठोरता को ऊपर की कोमल मोड गोलाकार में परिवर्तित करके सुन्दर मुकुट का रूप धारण कर लेती है। समस्त मन्दिर नीचे से लेकर ऊपर तक पत्थर का बना हुआ है। इन पत्थरो में कोई ऐसा स्थान नही जिसमें बारीक और अलकृत कटाव का काम न हो। वितान का रूप सपाट न हो कर कमरखी है तथा कमरख की हर एक फाँक में भिन्न प्रकार की चित्राकृतियाँ खुदी हुई हैं जिनसे उसकी शोभा तथा मनोहरता अद्वितीय हो जाती है। भुवनेश्वर के अनेक मन्दिरो में बाहर की ओर मैथुन के आसन अकित हैं, और यही बात कोणार्क तथा पुरी के मन्दिरो में भी है। इस प्रकार यदि हम मूर्तिकला का अध्ययन करें तो इस निर्णय पर पहुँचने में सदेह नही रह जाता कि बुदेलखड मे लेकर बगाल और उडीसा तक इस काल में शाक्त मत के रूप-रूपान्तर विद्यमान थे तथा इसी की झलक हमको साहित्य में दृष्टिगोचर होती है।

१३वीं से १८वीं शताब्दी ई०—इस्लाम का प्रवेश

आगामी छ शताब्दियो की सस्कृति के इतिहास का मूल स्रोत तो उसकी पूर्ववर्ती छ शताब्दियो मे ही केन्द्रित रहा, परन्तु उसके विकास की प्रगति में एक नवीन धारा ने योग देकर समस्त वातावरण में विद्युत-शक्ति का सचार कर दिया। तुर्कों के आगमन के साथ-साथ भारत में इस्लाम धर्म ने भी प्रवेश किया। आक्रमणकारियो के वलात्कार तथा वर्वरता ने कुछ समय के लिए तो यहाँ के निवासियो को स्तब्ध-सा कर दिया। परन्तु मनुष्य की मनोवृत्ति दीर्घकाल तक स्थगित नही रह सकती। धक्के से कुछ समय के लिये पीछे हटकर वह आगे वढने का उपाय ढूँढ ही निकालती है। धार्मिक आवेश तथा धन के लालच से प्रेरित हो कर तुर्कों ने मन्दिर तोडे। अपना आतक जमाने में उनको यह साधन बहुत ही सुगम तथा सफल प्रतीत हुआ। परन्तु ऐसे द्वेपपूर्ण व्यवहार से जनता के हृदय पर कावू पाना असभव था। धीरे-धीरे परिस्थिति वदलने लगी। जव आक्रमणो का वेग समाप्त हो गया तो साम्राज्य-स्थापन का कार्य आरभ हुआ। तुर्क सेनाओ का भारतवासियो ने जी तोडकर विरोध किया तथा दिल्ली में सुलतानी सिक्का चलने के बाद भी उत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रो में विद्रोह की अग्नि धधकती ही रही। इसको दबाने में वलवन, अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक, फीरोज तुगलक तथा सिकदर लोदी के भी छक्के छूट गए। साम्राज्य के निर्माण में ऐसी धारा का वहना कोई आश्चर्यजनक बात न थी। एक दृष्टि से तो ये विरोधी देशभक्त थे जिन्होने स्वतत्रता की वेदी पर अपने प्राणो को होम दिया था, परन्तु यह सघर्ष न तो राजनीतिक क्षेत्र में और न सामाजिक क्षेत्र में व्यापक रूप से चल सका और जब तुर्क स्थायी रूप से इस देश में वस गए, तो यहाँ के लोगो के साथ सपर्क स्थापित करना अनिवार्य हो गया। इस सपर्क के दिनोदिन घनिष्ठ होने के कई कारण थे। प्रत्येक ने वातावरण तथा सामयिक आवश्यकता के अनुसार व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रभाव डाला।

सैनिक शासन और धार्मिक तनाव

तुर्क जाति के लोग विशेषत सैनिक थे। यद्यपि उनके कुछ नेता विद्वान तथा विद्यानुरागी भी थे, परन्तु उनका अधिकाश समय अभियानो में ही व्यतीत होता था। देश में बस जाने के बाद भी बहुत दिनो तक उन पर अजनबीपन की छाप लगी रही। नेतागण विजेता होने के अभिमान से प्रेरित होकर भारतीय जन-समुदाय से पृथक रहना चाहते थे। साम्राज्य का आधार था भय। सुलतान बलबन ने एक बार यह स्पष्ट कहा था कि जो व्यक्ति अपनी प्रजा को अपने भय से प्रभावित नही कर सकता वह सुलतान होने के योग्य नही। मिलने-जुलने से इस भय में कमी हो जाने की सभावना थी, अतएव तुर्की साम्राज्य के प्रथम सौ वर्षों में विदेशियो तथा भारतवासियो के बीच खिचाव-सा बना रहा। भारतवासी तुर्कों को दैवी प्रकोप समझते थे, यहाँ तक कि उनके स्पर्श को भी पाप समझते थे। परन्तु इस प्रकार की भावनाएँ दोनो दलो के कट्टर वर्गों में ही सीमित थी। इतिहासकार बरनी हिन्दुओ के प्रति अपने हृदय के जले फफोले फोडता है, स्थान-स्थान पर उनके लिये अपशब्दो का प्रयोग करता है और अपनी भाषा तथा विचारो से यह स्पष्ट कर देता है कि हिन्दू उसको फूटी आँख से भी न भाते थे। बरनी तथा उस काल के अन्य इतिहासकार उस रूढिवाद के प्रतिनिधि है जिसके अनुसार तुर्की राष्ट्र को इस्लाम तथा इस्लाम-केन्द्रित राष्ट्र होना

चाहिए। अतएव इन इतिहासकारो ने धर्म की कसौटी पर ही शासको को कसने का प्रयत्न किया है और केवल उन्ही सुलतानो को अपनी प्रशसा का पात्र ठहराया है जो इस्लाम धर्म के सरक्षक तथा प्रतिपालक थे और जिनके धार्मिक विचार सकुचित थे। इन इतिहासकारो की अलकृत भाषा ने ही इस देश की भूमि को ऐसे हलाहल से सीचा है जिसका फल गुड-भरे हँसिये के समान न निगला जाता है और न उगला जाता है। बरनी तथा उसके पूर्ववर्ती इतिहासकारो ने जो शैली अपनाई, उसका अनुकरण आगे चलकर भी वहुत दिनो तक होता रहा और विष-वृक्ष की जडें सुदृढ होती गईं। इसमें सदेह नही कि ऊँची श्रेणियो से छन-छनकर ये भावनाएँ मध्यम तथा निचले वर्गों में भी फैली, परन्तु इतिहासकारो की इनमें से वहुत-सी भावनाएँ केवल कल्पना मात्र ही थी। उनके लिए कल्पना की सीमा को पार करना दुष्कर ही नही, वरन असभव था। साथ ही जव मुसलिम इतिहासकार राजनीतिक घटनाओ को धर्म के रग में डुवोकर अंकित कर रहे थे, संस्कृति की धाराओ का वहाव दूसरी ओर ही जा रहा था।

हिन्दू-मुस्लिम सपर्क और सास्कृतिक आदान-प्रदान

इच्छा न होते हुए भी तुर्कों को भारतवासियो के सपर्क में आना ही पड़ा। सैनिक मनोवृत्ति के कारण भूमि-कर शासन में उन्हे कोई रुचि न थी। विदेशी होने के कारण उनका प्रभाव भी नही के बराबर था। विवश होकर उन्हें राजस्व-विभाग की मध्यम तथा निचली श्रेणियो को हिन्दुओ के सिपुर्द करना पडा। शहरो के हिन्दू जजिया देते थे, फिर भी सरकारी नौकरी करते थे। यह भी सभव है कि उस समय के हिन्दुओ को जजिया कर उतना ही सह्य अथवा असह्य रहा हो जितना कि आजकल के दिनोदिन वढते हुए कर। इसके अतिरिक्त जजिया कर की दर भी वहुत अधिक न थी। तुर्क साम्राज्य के प्रथम २०० वर्षों में सभवत जजिया कर के विरोध में कोई भयकर आन्दोलन नही हुआ। फीरोज तुगलक तथा सिकदर लोदी के समय जो घटनाएँ घटी उनका सबध व्यक्तियो से था, न कि जनता से। इतिहासकार अफीफ के कथनानुसार जव सिंहासनारूढ होने के पश्चात फीरोज तुगलक थट्टा से दिल्ली की ओर यात्रा कर रहा था, तव स्थान-स्थान पर जिन लोगो ने सुलतान का अभिवादन किया, उनमें न केवल मुसलमान ही थे वल्कि साह और सर्राफ भी थे, जो कि हिन्दू थे। इस कथन से हम दो निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं—प्रथम यह कि व्यापार तथा अर्थ-सवधी समस्त कार्य पूर्व की भाँति अव भी हिन्दू वनियो के हाथ में था, दूसरे यह कि धार्मिक भेद होते हुए भी दोनो जातियो में पारस्परिक व्यवहार के अवसर वढते ही जा रहे थे। फलत वातावरण में दो विभिन्न धाराएँ वहती हुई दिखाई पडती हैं। एक का प्रवाह उच्च वर्ग तक सीमित था तथा दूसरी अत्यधिक व्यापक तथा विस्तृत थी और उसका प्रभाव किसी न किसी मात्रा में जन-समुदाय के प्रत्येक भाग पर पड रहा था।

राजनीति के नवीन वातावरण में धन तथा पद के लालच से प्रेरित होकर तथा हिन्दू समाज की वढती हुई कठोर पद्धति से पीडित होकर वहुत-से भारतीयो ने अपने धर्म को छोडकर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। विदेशी शासको के सामने एक नई समस्या प्रस्तुत हो गई जिसके दो पहलू थे—एक राजनीतिक, दूसरा सामाजिक। इस्लामी आदर्शो के अनुसार इस्लाम धर्म के समस्त अनुयायियो के सामाजिक अधिकार समान है। समाज ही राजनीति की नीव है, अतएव तुर्क

सुलतानो को इस प्रश्न का हल ढूंढना था कि नव मुस्लिमो को अपने समाज में किस प्रकार सम्मिलित करें। इस प्रश्न के हल पर ही सस्कृति के आगामी विकास की रूपरेखा का आधार था। जैसे-जैसे नव मुस्लिमो की सख्या वढती गई और सख्या के साथ-साथ उनका सगठन तथा अधिकारो का ज्ञान वढता गया, वैसे-वैसे प्रश्न का उत्तर जटिल होता गया। वलवन को तो अपने मत्रित्व काल मे नव मुस्लिमो की वढती हुए शक्ति का ऐसा कटु अनुभव हुआ कि गद्दी पर वैठने के पश्चात उसने यह नीति वना ली कि यथासभव नव मुस्लिमो को उच्च पदो पर नियुक्त न किया जाय। एक वार तो उसने यहाँ तक कह डाला कि नीच नव मुस्लिमो को देखते ही मेरा खून उवलने लगता है। यह थी वलवन की इस्लाम धर्म में आस्था और उसकी शासन-पद्धति। ऐसे शक्तिशाली सम्राट के लिए भी ऐतिहासिक प्रवृत्तियो को रोकना असभव था। जव वाहर से तुर्कों का आगमन ही कम हो गया तो सुलतानो को देशवासियो का ही सहारा लेना पडा। इस प्रकार भारतीय मुसलमानो की सख्या वढती गई और कुछ अवसर तो ऐसे भी आए जव थोडे समय के लिए राज्यकार्य की वागडोर भारतीय मुसलमानो के हाथो में आ गई। मलिक काफूर तथा खुसरो खाँ भारतीय मुसलमान थे। फीरोज तुगलक का प्रधान मत्री भारतीय मुसलमान ही था। ये भारतीय मुसलमान ही विदेशी तुर्कों तथा भारतवासियो के बीच की एक कडी वन गए। इन्होने इस्लाम धर्म तो स्वीकार कर लिया, परन्तु बाहर से आई हुई सस्कृति को विना अपने साँचे में ढाले हुए नही अपनाया। इस साँचे की मिट्टी वहुत पुरानी थी। जब इस्लामी सस्कृति इस साँचे में पडी तो उस पर जो छाप लगी वह भारतीय छाप थी। इस छाप का प्रमाण साहित्य, कला तथा धर्म तीनो में ही स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

भाषा और साहित्य

यह धारणा कि समस्त मुसलमान कट्टरतावादी थे तथा वे भारतीय सस्कृति को घृणा की दृष्टि से देखते थे, उचित नही है। भारतीय मुसलमानो का शिक्षित वर्ग तो अधिकाश असहिष्णु प्रकृति का था जिसका ज्वलत प्रमाण पूर्व मध्यकालीन ऐतिहासिक रचनाओ से मिलता है, परन्तु साधारण वर्ग के लोगो में ऐसी भावनाएँ नही थी। उन्होने धर्म तो बदल दिया था, परन्तु उनके पुराने सस्कार लगभग ज्यो के त्यो ही रहे तथा यह अनुमान करना कि ऐसे ही दल के प्रभाव से आगे चलकर हिन्दू-मुस्लिम एकता का आन्दोलन चला, अनुचित न होगा। इस आन्दोलन के कर्णधार अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित व्यक्ति ही थे, परन्तु शिक्षित वर्ग भी वातावरण के प्रभाव से बहुत ऊपर न उठ पाया। परिणामस्वरूप फारसी भाषा, जिसको इस वर्ग ने अपनाया, दो शैलियो में विभाजित हो गई—एक विदेशी शैली अथवा उन लोगो की जो बाहर से आए थे, और दूसरी देशी शैली जिसका निर्माण भारत में हुआ। दोनो शैलियो में अन्तर स्पष्ट है। देशी शैली में भारतीय शब्दो का अच्छा-खासा प्रयोग है। वास्तव में देशी शैली के ग्रन्थो में भावानुवाद की झलक दिखाई पडती है। ग्रन्थकार सोचता तो है अपनी मातृभाषा के माध्यम से, परन्तु अपने विचारो को फारसी भाषा का बाना पहना देता है। परन्तु इस काल में ऐसे भी विद्वान और कवि हुए जिन्होने विदेशी होते हुए भी भारतवर्ष की मुक्त कठ से प्रशसा की है। इनमें खुसरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म तो इसी देश में हुआ, परन्तु

इनके पिता और पितामह तुर्क थे। इनकी काव्यमयी रचनाओ को लोक-ख्याति प्राप्त हुई। इनकी कविता में रस है, अलकार है, कल्पना है और इन सब से बढकर गुण है हार्दिकता। यदि शाही दरवार के विलासमय वातावरण में नर्तकी इनकी गजलो को ताल और सुर से गाती थी तो सारी महफिल पर मदहोशी का समाँ छा जाता था और यदि उनको सूफी सन्त सुनता था तो योग की अवस्था को प्राप्त हो जाता था। इस महान कवि ने हिन्दवी भापा की मिठास की प्रशसा करते हुए यहाँ तक कह डाला है कि यदि कुरान शरीफ अरवी भापा में न अवतरित हुआ होता तो मुझे यह कहने में तनिक भी सकोच न होता कि ससार की सब भाषाओ की अपेक्षा हिन्दवी ही अधिक मधुर है। सभव है कि जिस हिन्दवी की ओर मलिक खुसरो ने सकेत किया है वह ब्रजभापा हो। उनका जन्म पटियाला में हुआ था और पालन-पोपण दिल्ली में। उनका एक ऐतिहासिक काव्य है 'देवल-रानी खिज्रखाँ'। यह मसनवी शैली में लिखा गया है। वास्तविक घटनाओ के अतिरिक्त इसमें राजकुमार खिज्रखाँ तथा राजकुमारी देवलदेवी की कथा भी वर्णित है। इस मसनवी की शैली प्रचलित फारसी परम्परा के अनुसार है। विख्यात कवि निजामी के अनुकरण पर अमीर खुसरो ने भी 'शीरी फरहाद', 'लैला मजनूँ' की प्रेमकथा को काव्य-बद्ध किया, परन्तु 'देवलरानी खिज्र-खाँ' में जो भावुकता भरी हुई है वह निराली ही है। यह कहना अनुचित न होगा कि यह फारसी भापा की मसनवी शैली और विषय-वस्तु दोनो में ही मुल्ला दाऊद, कुतवन, मझन और जायसी के लिए पथ-प्रदर्शक वनी। फारसी भाषा के १४ वी शताब्दी ई० में हुए ईसामी कवि ने 'खिज्रखाँ देवलरानी' की प्रेमकथा की ओर सकेत करते हुए खिज्र को हिन्दुस्तान का परवेज कहा है। यह इस वात का प्रमाण है कि किस प्रकार फारसी पद्धतियो को भारतीय वातावरण में प्रविष्ट किया जा रहा था। राजा करण की कन्या की प्रेम-कहानी हिन्दुओ के लिए उतनी ही रोचक सावित हुई होगी जितनी मुसलमानो को।

यद्यपि शासक-वर्ग केवल फारसी भाषा की उन्नति करना ही अपना कर्तव्य समझता था, परन्तु वह भारतवर्ष में रहते हुए यहाँ के वातावरण के प्रभाव से कहाँ तक वच सकता था? इल्तुतमिश तथा वलवन के उत्तराधिकारियो का जन्म इसी देश में हुआ था। वलवन के एक भतीजे का नाम मलिक छज्जू था। खिलजी तथा तुगलक वश के सभी सुलतान इसी देश में पैदा हुए थे और लोदी वश के सुलतान भी। दूसरे, दिल्ली के सुलतान अव्वासी खलीफाओ के आदर्शो का अनुकरण करने में अपने को धन्य समझते थे। इतिहास साक्षी है कि वगदाद में भारतीय विद्वानो का खलीफाओ ने यथोचित आदर-सम्मान किया था और सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का अरवी में अनुवाद कराया था। अरवी साहित्य को भारत की देन की कहानी पीढी-दर-पीढी चली आ रही थी। अरवी यात्रियो ने इसकी ओर सकेत किया है और अलवेरुनी ने न केवल इसकी प्रशसा ही की है, वल्कि भारतीय सस्कृति का रेखाचित्र भी उपस्थित किया है। परन्तु यह सास्कृतिक आदान-प्रदान कुछ काल के लिए स्थगित हो गया और एक उपयोगी धारा का प्रवाह कई कारणो से मन्द पड गया। समय व्यतीत होने के पश्चात प्रवृत्ति ने पलटा खाया। आवश्यकतानुसार तथा रुचि की पूर्ति के लिए सस्कृत ग्रन्थो के अनुवाद होने लगे। फीरोज तुगलक जैसे सकीर्ण विचारो वाले व्यक्ति ने भी फलित ज्योतिप तथा चिकित्सा विपयक कई पुस्तको का फारसी में अनुवाद कराया, जिससे इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि कुछ ऐसे मुसलमान अवश्य थे जिनको संस्कृत भापा का

ज्ञान था, अन्यथा सस्कृत पुस्तको का फारसी भाषा में सुगमता से अनुवाद न हो पाता। अनुवाद का क्षेत्र सीमित होते हुए भी इतना निश्चय है कि इस साधन द्वारा हिन्दू-मुसलमानो मे कुछ मात्रा मे सपर्क अवश्य बढा होगा, क्योकि इस प्रकार एक दूसरे के विचारो को समझने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, विशेषतया दोनो जातियो के शिक्षित व्यक्ति एक दूसरे के निकट आ गए होगे, चाहे थोडे ही समय के लिए ऐसा हुआ हो। यदि खोज की जाय तो पता लग सकता है कि इस काल में अनेक अन्य सस्कृत ग्रन्थो का भी अनुवाद हुआ होगा। भारतीय चिकित्सा-शास्त्र ससार-विख्यात था, अतएव इसमें सदेह नही कि जो चिकित्सा-शास्त्र तुर्क लोग अपने साथ लाए उस पर भारतीय चिकित्सा-पद्धति की अमिट छाप लगी। इस आदान-प्रदान से दोनो को ही लाभ हुआ और दोनो जातियो के पारस्परिक सबध में एक और शृखला जुड गई।

कला

यदि हम कला की ओर ध्यान दें तो इस क्षेत्र में साहित्य की अपेक्षा हिन्दू-मुस्लिम सामजस्य के और अधिक प्रमाण मिलते है। यह कहना कि तुर्को ने केवल विनाश ही किया, निर्माण नही, तर्क-सम्मत नही है। निर्माण-कार्य के पूर्व विनाश एक अनिवार्य चरण है। तुर्को ने मन्दिरो को तोड कर पहले तो उनकी सामग्री से ही मसजिदें बनवाईं, परन्तु जब इस प्रयोग में इच्छानुसार सफलता प्राप्त न हुई, तब नए मसाले से इमारतें बनवाना आरभ किया। विजय के प्रथम वेग के पश्चात मन्दिर-विध्वस की तीव्रता मन्द पडती गई तथा फीरोज तुगलक और सिकदर लोदी के ही दो प्रमुख नाम आते है, जिन्होने जान-बूझ कर मन्दिर तुडवाए तथा मूर्तियो का अपमान किया। परन्तु ये सुलतान भी मूर्ति-पूजा की परम्परा को इस देश से हटा न सके। इस्लाम में निराकार ईश्वर की मान्यता के कारण ही भारतीय वास्तुकला के एक प्रमुख अग तथा मूर्तिकला के विकास को धक्का लगा। शासक-वर्ग ने इस कला को न तो प्रोत्साहन ही दिया और न इसका सरक्षण ही किया। इतना होते हुए भी भारतीय कारीगरो ने अपने को पुरानी पद्धति से सबधित रखते हुए नवीन आदर्शों को पत्थर और चूने के माध्यम से इस प्रकार प्रदर्शित किया कि आज भी उनकी कृतियो को देखकर उनके हाथो की सफाई तथा उनकी भावनाओ की सुकुमारता का स्पष्ट चित्र आँखो के समक्ष खिच जाता है। भारत की वास्तुकला का गौरव लोक-प्रसिद्ध था। यहाँ के विशाल मन्दिरो को देखकर बाहर के यात्री चकित रह जाते थे। महमूद गजनवी ने मन्दिर तो तोडे, परन्तु भारतीय वास्तुकला का इतना आदर किया कि वह यहाँ से सैकडो कारीगर अपनी राजधानी में इमारतें बनवाने के लिए ले गया। लगभग चार शताब्दियो के पश्चात तैमूरलग ने भी ऐसा ही किया।

दिल्ली में स्थित कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद तथा अजमेर में बना हुआ 'अढाई दिन का झोपडा' स्पष्टत आकार तथा शैली दोनो में ही हिन्दू है। कारण यह है कि दोनो ही हिन्दू तथा जैन मन्दिरो के मसाले से बनाए गए है। इस्लामी रूप देने के विचार से इनकी सपाट छतो पर छोटे-छोटे कलश बना दिए गए है जिनका कि कोई भी वास्तविक सबध असली इमारत से नही जान पडता। इसके अतिरिक्त भारत में तुर्क सिपाही तो आए, परन्तु इस्लामी कारीगरो के आगमन का उल्लेख नही मिलता। फलत तुर्क सुलतानो ने जब इमारतें बनाना आरभ किया तो उनको

भारतीय कलाकारो की सहायता लेनी पडी और कलाकार अपने कौशल में इतने दक्ष थे कि नवीन विचारधारा को इन्होने सहज में ही अपना लिया। इस समय से भारतीय वास्तुकला में एक नवीन शैली का श्रीगणेश होता है जिसका कि वाह्य आकार तो इस्लामी दिखाई पडता है, परन्तु उसकी अन्तरात्मा भारतीय है। इस तीन सौ वर्ष के दीर्घ काल में सैकडो मस्जिदो और मकवरो का निर्माण किया गया। इनमें से हर एक में कुछ न कुछ अपनी विशेपता है। परन्तु वास्तव में य कला के विकास की शृखला की कडियाँ है, जिनका महत्व सास्कृतिक दृष्टिकोण से कम नही है। हिन्दू शिल्पियो को जव मुसलिम इमारतें वनानी पडी तो पहले तो उनको मुस्लिम भावनाओ को समझने के लिए प्रयत्न करना पडा होगा और इस प्रकार वे मुसलमानो के न केवल सपर्क में आए होगे, वरन उनसे मेल भी खाने लगे होगे। शिल्पियो में जिस आसानी से वन्धुत्व जुड जाता है और पारस्परिक सहानुभूति स्थापित हो जाती है, उतनी दूसरे वर्गों में नही हो पाती। यह भी सभव है कि इस वर्ग के व्यक्ति नवीन विचारो से प्रभावित होकर तथा आर्थिक उन्नति के लालच से हिन्दू धर्म को छोडकर मुसलमान वन गए हो। जाति-व्यवस्था के अनुसार शिल्पियो की गणना निम्न वर्ग में होती थी। यह भी हो सकता है कि सामाजिक स्तर ऊँचा करने के ध्येय से उन्होने धर्म-परिवर्तन किया हो। जो हो, इस वर्ग ने हिन्दू-मुसलमानो को निकट लाने में अदृश्य रूप से वहुत सहायता दी। इसी के द्वारा सर्वसाधारण के विचारो तथा भावनाओ का आदान-प्रदान हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तुकला के माध्यम से न केवल एक नवीन कला-पद्धति का विकास हुआ वरन भारतीय सस्कृति के वृक्ष के तने से एक और शाखा फूट निकली जो धीरे-धीरे वढती गई।

सल्तनत-काल में पाँच वशो ने वारी-वारी से राज्य किया। गुलाम वश के समय में वास्तु-कला के विकास का प्रारभिक चरण था, फिर भी उसके झुकाव की दिशा स्पप्ट है। खिलजियो के समय में विशाल भवनो का निर्माण हुआ। अलाउद्दीन ने सन् १३१० ई० (स० १३६७ वि०) मे अलाई दरवाजा वनवाया, अगले वर्ष उसने एक लाट की नीव डाली जिसको वह पूरा न कर पाया। उसका वनवाया हुआ हजार स्तभो वाला महल भारतीय परम्परा का द्योतक है। वौद्ध काल में भी विशाल चैत्यो के वनवाने का रिवाज था। ये सव इमारतें नए खदान के पत्थरो की वनी हुई है। तुगलक वश के सस्थापक ने तुगलकावाद का किला वनवाया। इसी के निकट उसका मकवरा है जिसका वास्तुकला की शैली के विकास में अधिक महत्व है। उसके कलश का आकार और उसकी सजावट, जो सगमरमर की एक पट्टी द्वारा की गई है, कलश-निर्माण-कला के विकास में एक स्पष्ट सोपान है। इस वश के अन्तिम भाग में जो इमारतें वनी उनमें हिन्दू प्रभाव साफ झलकता है। कारण यह है कि इस समय तक नव मुस्लिमो की सख्या अधिक हो गई थी। इन लोगो ने हिन्दू धर्म तो छोड दिया था, परन्तु अपने पुराने रीति-रिवाजो को अव भी अपनाए हुए थे। वाहर के देशों से मुसलमानो का आना वद हो गया था जिसका परिणाम यह हुआ कि शासक-वर्ग के मुसलमानो को इस देश के निवासियो के सन्निकट आना अनिवार्य-सा हो गया, यद्यपि इसमें सन्देह नही कि अभी सहिष्णुता का समय दूर था। सैयद और लोदी वश के सुल्तानो ने भी इमारतें वनवाई, परन्तु कला की दृष्टि से उनका अधिक महत्व नही है।

साम्राज्य-विघटन तथा सास्कृतिक समन्वय

इस प्रसग में एक ओर और ध्यान देने की आवश्यकता है। तुर्को की सत्ता चौदहवी शताब्दी ई० के मध्य तक तो वढती रही, परन्तु उसके पश्चात उसका पतन आरभ हो गया तथा पतन की धारा का प्रवाह पद्रहवी शताब्दी के अन्त तक जारी रहा। साम्राज्य के विघटन के दो परिणाम हुए, जिनका तत्कालीन सस्कृति पर भरपूर प्रभाव पडा। एक तो मुसलमानो के सामूहिक आतक को भारी धक्का लगा, हिन्दुओ को यह भास होने लगा कि तुर्की सत्ता अमर और अचल नही है, दूसरे, इस आतक के कम होते-होते सर्वसाधारण, हिन्दू तथा मुस्लिम जनता, में घनिष्ठता वढने लगी। दोनो के बीच का भेद-भाव तो नष्ट नही हुआ, परन्तु वे अव एक दूसरे के विचारो को समझने के लिए प्रयत्नशील होने लगे। इस प्रकार समाज में एक नवीन वातावरण उत्पन्न हुआ। चारो ओर व्यक्तित्व को विकसित करने की प्रेरणा होने लगी। कहने का तात्पर्य यह कि राजकीय सत्ता के विनाश से एक क्लिष्ट वन्धन का अन्त हो गया और जन-समुदाय के वहुमुखी विकास के लिए एक सुनहरा अवसर आ गया। हिन्दू-मुसलिम एकता के प्रचार के लिए परिस्थिति अनुकूल हो चली।

तुर्की साम्राज्य के स्थान पर उत्तर भारत में कई छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए, जैसे वगाल, जौनपुर, मालवा और गुजरात में। इनमे से प्रत्येक राज्य में सास्कृतिक जीवन के प्रमुख अगो में हिन्दू-मुस्लिम एकता के चिह्न स्पष्ट दिखाई पडते है। बगाल, मालवा और गुजरात में वास्तुकला की जिन शैलियो की उन्नति हुई उन पर हिन्दू छाप स्पष्ट है। जौनपुर की मस्जिदो की सजावट हिन्दू कारीगरो की कुशलता का नमूना है। मालवा स्थित जहाजमहल और हिडोला-महल हिन्दुओ के वनाए हुए हैं। इसी प्रकार गुजरात तथा वगाल में भी हिन्दू प्रभाव वढा। शासक-वर्ग के मुसलमान होते हुए भी हिन्दुओ में एक नई जागृति पैदा हो गई। यद्यपि वे राजकीय सत्ता प्राप्त न कर सके, परन्तु सास्कृतिक क्षेत्र में उन्होने फिर से अपना अधिकार जमाना आरभ कर दिया।

समन्वय की प्रक्रिया—सूफीमत

एक वर्ग-विशेष के मतानुसार हिन्दू-मुस्लिम-एकता के ध्येय के प्रचार का श्रेय सूफी सम्प्रदाय को है। इस विचार को कसौटी पर कसने की आवश्यकता है। सूफियो के जिस सम्प्रदाय ने भारत में सर्वप्रथम प्रवेश किया वह चिश्तिया सम्प्रदाय था, जिसके सस्थापक ख्वाजा मुईनुद्दीन थे। इनका मकवरा अजमेर में है। ये पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे। इनके शिष्य थे ख्वाजा कुतबुद्दीन ऊशी, इनके शिष्य ख्वाजा फरीदुद्दीन गजशकर, इनके शिष्य ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया, इनके शिष्य थे शेख नसीरुद्दीन चिराग देहलवी। इस गुरु-शिष्य परपरा में अन्तिम नाम आता है शेख सलीम चिश्ती का जिनका मकबरा सम्राट अकवर ने सीकरी में बनवाया। दूसरा सूफी सम्प्रदाय जो इस देश में आया, सुहरावर्दी सम्प्रदाय था, जिसके प्रवर्तक थे शेख बहारउद्दीन जकरिया। इन्ही के वशज थे शेख रुक्नुद्दीन जिनका अलाउद्दीन खिलजी बहुत आदर-सत्कार करता था। गयासुद्दीन तुगलक ने भी इनका सम्मान किया तथा ये सुलतान के साथ ही अफगानपुर के पास उस इमारत से कुचल कर मरे जिसको जूना खाँ ने अपने पिता के स्वागत के लिए बनवाया था। कुत-

वुद्दीन मुवारक खिलजी भी इनका खूब आदर करता था। इस राजकीय मरक्षण का यह प्रभाव पडा कि शेख रुक्नुद्दीन शेख निजामुद्दीन के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते थे और दोनो में वैमनस्य रहा करता था। इनके शिष्य थे मीर सैयद जलालुद्दीन मखदूम जहानियाँ जहाँगश्त, जिनको फीरोज तुगलक के मत्री खानजहाँ का सम्मान प्राप्त था। इन्होने देश-विदेश की खूब यात्रा की थी, इसीलिए इनको जहाँगश्त अथवा परिव्राजक कहा जाता था। ये अधिकतर उच्छ में रहते थे, परन्तु दिल्ली भी आते-जाते रहते थे। इन अवसरो पर सुलतान फीरोज तुगलक स्वय इनका स्वागत करने राजधानी से वाहर जाता था। ये मदैव सरकारी अतिथि हुआ करते थे। इनके पुत्र सैयद मुहम्मद आलम ने इनसे भी अधिक ख्याति प्राप्त की और इनके पौत्र अवू मुहम्मद अव्दुल्ला को कुत्वे आलम की उपाधि से सवोधित किया जाता था। इसी सम्प्रदाय में शेख मूसा सुहाग का नाम आता है। ये अहमदावाद में हिजडो के साथ अपना समय व्यतीत किया करते थे। इनके अनुयायी अपने आपको सदासुहागिन कहते है। इस्लाम धर्म के सूफी सम्प्रदाय में इस प्रकार की उपज आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। परन्तु सदासुहागिन मत का प्रसार गुजरात से लेकर उत्तर भारत तक खूब हुआ। इस सम्प्रदाय के लोग नाच-गा कर अपनी गुजर-वसर करते हैं। सुहरावर्दी सम्प्रदाय में ही शाह अव्दुल्ला कुरेशी मुलतानी हुए जिनके साथ सिकदर लोदी ने अपनी एक पुत्री का विवाह कराया। पद्रहवी शताव्दी में एक और सूफी सम्प्रदाय ने भारत में प्रवेश किया जिसका श्रेय एक सम्पन्न सौदागर शेख अव्दुल्ला को है। इन्होने मुस्लिम देशो का खूब भ्रमण किया था और भारत में ये हिसामुद्दीन मानिकपुरी तथा मीर सैयद अशरफ जहाँगीरी जैसे चिश्तिया सतो के मपर्क में आए थ। इसी सम्प्रदाय में शेख वुद्दन का नाम आता है जो सुलतान सिकदर लोदी के समकालीन थे। इन सम्प्रदायो के अतिरिक्त दो और के नाम उल्लेखनीय है। पहले का नाम है कादिया जिसका भारत में मुहम्मद गौस द्वारा प्रवेश हुआ। सुलतान सिकदर लोदी इनके शिष्य वने तथा इन्होने मुलतान के हाकिम कुतवुद्दीन लकाह की लडकी के साथ विवाह किया। इस सम्प्रदाय का प्रचार उच्च श्रेणी में अधिक हुआ। अमीरो और सुलतानो ने इसे अपनाया। दूसरे का का नाम है कलन्दरिया सम्प्रदाय, जिसके प्रवर्तक थे शेख वूअलीशाह कलदर, जो सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन थे। इसी सम्प्रदाय में शेख हमीद कलदर तथा शेख मुहम्मद कलदर के नाम आते है। इस सम्प्रदाय का भी खूब प्रचार हुआ और इसके प्रतिनिधि अव भी पाए जाते है। इनकी तुलना औघडो से की जा सकती है। इनमें से कुछ नग्न रहते है तथा उन्हें जो भी मिल जाता है, खा लेते है।

ऊपर के विवरण मे कई वातें स्पप्ट हो जाती है। प्रथम यह कि सूफी सम्प्रदाय दो प्रकार के थे। एक का प्रभाव उच्च वर्ग के लोगो पर पडा तथा दूसरे का सपर्क तथा प्रभाव जन-साधारण पर था। सूफी सत सादा, आडवर-रहित जीवन व्यतीत करते थे तथा वे प्रेम में मस्त रहते थे। भावुकता उनकी विशेपता थी। उनमें से वहुतो को तो सिद्धि भी प्राप्त थी। कुतवुद्दीन ऊशी के सवध में नाना प्रकार की किंवदन्तियाँ प्रचलित है। उनको काकी के उपनाम से सवोधित किया जाता था और इसका कारण यह वताया जाता है कि जव भी वे चाहते थे, गर्म रोटियो का थाल आकाश से उतर आता था और ये रोटियाँ उनके पास वैठे हुए लोग खाते थे। इसी प्रकार वावा फरीद के वारे में प्रसिद्ध है कि उपवास से व्याकुल होकर वे मिट्टी के ढेले मुंह में डाल लेते थे

और वे ढेले शक्कर के टुकडे वन जाते थे। निजामुद्दीन चिश्ती तथा शेख सलीम चिश्ती की दरगाहो मे अव भी लोग जा कर मनौती मनाते है और जव ये सत जीवित थे, तव भी हजारो स्त्री-पुरुषो का जमाव रहा करता था। आशीर्वाद देते समय ये सत धर्म का भेद नही करते थे, केवल श्रद्धा की ही तौल किया करते थे। कामनाओ की पूर्ति होने पर प्रभाव का पडना स्वाभाविक ही था। चिश्ती सम्प्रदाय के सत सगीत-प्रेमी होते थे। उनमें से कुछ ने तो कव्वाली सुनते-सुनते ही अपने प्राण त्याग दिए। कव्वाली में वह आकर्षण होता है जो मनुष्य के हृदय को प्रेम-विभोर कर देता है और जव कव्वाली सुनने के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनो ही दरगाहो मे इकट्ठा होते थे, तो दोनो में धीरे-धीरे सपर्क और सामजस्य वढना स्वाभाविक था। यह भी सभव है कि सतो की करामात से प्रभावित होकर वहुत-से हिन्दुओ ने अपना धर्म वदल दिया हो। परन्तु इसमें सन्देह नही कि सूफी प्रेम-मार्ग के सहारे इन दोनो जातियो की जनता का पारस्परिक सवध विस्तृत तथा निकटतम हो गया जिसके द्वारा विचार-विनिमय तथा भावनाओ के आदान-प्रदान का सुगम रास्ता मिल गया। इस सवध मे यह भी याद रखने की वात है कि सूफी मत का प्रभाव हिन्दुओ की निम्न श्रेणियो पर अधिक पडा जिसके फलस्वरूप उनके वीच धीरे-धीरे एक धार्मिक आन्दोलन की धारा वहने लगी।

इस प्रकार भारत की सस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में पन्द्रहवी शताव्दी मे एक नवीन धारा दृष्टि-गोचर होती है। इस धारा का वहाव निम्न श्रेणियो में सीमित है। इस श्रेणी के लोग मानसिक उन्नति के लिए व्याकुल दिखाई पडते है। जिस तरह हिन्दुओ मे उच्च तथा निम्न वर्गों में एक चौडी खाई बन गई थी, उसी तरह मुसलमानो में भी बन गई। यद्यपि इस्लाम धर्म में समानता तथा बन्धुत्व पर अधिक वल दिया गया है, फिर भी आर्थिक वास्तविकता ने धार्मिक आदर्श को अगर सर्वथा मिटा नही दिया, तो उसको धुधला तो अवश्य ही कर दिया। मुस्लिम जनता को सूफियो से प्रेरणा तो मिली, परन्तु कट्टरतावादी नेताओ ने भरसक इसका विरोध किया और समय-समय पर वे अपनी छाप धार्मिक विषयो पर लगाते रहे और जनता को आगे बढने से रोकते रहे। इसके विपरीत हिन्दुओ को सूफी प्रेम-मार्ग ने एक नया रास्ता दिखाया जिसमें उनकी पुरानी परम्परा के भी चिह्न विद्यमान थे। हिन्दू धर्म में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनो ही रूप स्वीकृत है। तुर्कों की राजकीय सत्ता के प्रसार के पश्चात भी सगुण विचारधारा का अन्त नही हुआ। मन्दिरो के विध्वस से भावनाओ को मिटाना असभव था। इसके सिवा जितने मन्दिर तोडे गए उससे कही अधिक सख्या में विद्यमान रहे, तथा सगुण-परम्परा के केन्द्र माने जाते रहे। इस सगुण विचारधारा को ही नव मुस्लिम अपने साथ ले गए जिसके कारण कब्रो तथा दरगाहो की पूजा को बल मिला। इसका रिवाज इतना बढा कि सुलतान फीरोज तुगलक को मनाही के आज्ञापत्र निकालने पडे। परन्तु हिन्दू धर्म की जो छाप इस्लाम पर लगी वह अमिट थी। सुलतानो के लिए उसको मिटाना असभव था। जन-साधारण ने उसको अपना लिया।

हिन्दू धर्म--भक्ति-आदोलन

इसी प्रकार इस्लाम का भी हिन्दू धर्म पर प्रभाव पडा। यद्यपि निर्गुणवाद इस्लाम की देन नही है, यह विचारधारा हिन्दू धर्म में पुराने समय से विद्यमान थी, मध्यकालीन भारत में शकर ने इसको वल दिया था, परन्तु इसका प्रसार केवल दार्शनिको एव ज्ञानवादियो तक ही सीमित

रहा। शीघ्र ही सगुणवादियो ने अपने उखडते हुए पैरो को फिर से जमा लिया। चौदहवी शताब्दी तक सगुणवाद का बोलबाला हो गया। इसके अनुयायियो ने भ्रमण करके इसका प्रचार किया। इसके प्रमुख उपदेशक दक्षिण से उत्तर भारत में आए। सगुण सम्प्रदाय में भी दो दल दिखाई पडते है। एक दल विद्वानो का था जो कि तर्क के सहारे अपने सिद्धान्तो की पुष्टि करते थे तथा अपने विचारो के स्पष्टीकरण में हिन्दू धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थ, जैसे गीता व भागवत का सहारा लेते थे। इस दल के सदस्य उच्चतम शिक्षा-प्राप्त होते थे। दूसरा दल था जन-साधारण का जिनके अध्यात्म का आधार केवल विश्वास था और यह विश्वास बहुधा अंधविश्वास तक पहुँच जाता था। कहने का मतलब यह है कि सगुणवाद में भी अनेक प्रकार के दोष घर कर गए थे। सैद्धान्तिक रूप से सगुणवाद मुसलमानो के लिए घृणा की वस्तु था। निम्न श्रेणी के हिन्दुओ को उसमें विश्वास तो था, परन्तु इस्लाम धर्म की सरलता तथा सूफियो के शुद्ध आचरण और प्रचार ने इन लोगो के मध्य असन्तोष की लहर दौडा दी और धीरे-धीरे वातावरण ऐसा बन गया जिसमे परिवर्तन की विद्युत-शक्ति निम्न श्रेणी के नेताओ को आगे बढने की प्रेरणा प्रदान करने लगी। आशा की उषा उनको अपनी ओर निरन्तर खीच रही थी। इस आशा मे लोक तथा परलोक दोनो को सफल बनाने के मार्ग को ढूंढ निकालने का प्रोत्साहन था तथा आध्यात्मिक क्षेत्र को विद्वत्समाज तथा शिक्षित दल के एकाधिकार से मुक्त करके जन-साधारण के समीप लाने का ध्येय था। यह समय निम्न वर्ग के धार्मिक उत्थान का है। भक्ति-आन्दोलन के नेता इसी वर्ग के थे। ये लोग जन-साधारण की नाडी पर निरन्तर हाथ रखे रहे। कबीर तथा नानक ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर इस कारण बल नही दिया कि इसकी भित्ति पर उनको किसी राजकीय महल का निर्माण करना था। उन्होंने इस विचार का इसलिए प्रचार किया कि यह उस समय की माग थी। कबीर, धन्ना, सेना, रविदास इत्यादि की उत्पत्ति निम्न वर्गों में ही हुई थी। यद्यपि उनको प्रेरणा रामानन्द से मिली, परन्तु उन्होंने उनके विचारो को अपने सांचे में ढाला तथा अपनी ही श्रेणी के नैतिक स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया।

भक्ति-आन्दोलन का मूलाधार तो हिन्दू धर्म ही था, परन्तु उसकी प्रगति को तीव्र करने का श्रेय इस्लाम धर्म को है। पुरातन काल के भक्ति-मार्ग तथा नवीन भक्ति-आन्दोलन में अन्तर था। पुरानी पद्धति के अनुसार भक्ति-मार्ग केवल द्विज-धर्मियो के लिए था, अन्य जातियो के लिए प्रपत्ति का मार्ग था। यद्यपि यमुनाचार्य ने इस भेद को मिटाने का उपाय किया और अपने शिष्य रामानुजाचार्य को इस कार्य की पूर्ति के लिए आदेश भी दिया, परन्तु आचार्यों का आचार-विचार, उनका धर्मशास्त्र से प्रभावित होना तथा उनका रूढिवाद से सबध, ऐसी अडचनें थी, जिनके कारण ऊँचे और नीचे वर्गों का अन्तर मिट न सका। यहाँ तक कि रामानन्द को कबीर को दीक्षा देने में सकोच ही हुआ। इतना होते हुए भी समय की माँग को ठुकराया नही जा सकता था। सूफियो ने भक्ति को ज्ञान से अलग करके उसे प्रेम के रग में रँग दिया, और प्रेम भी ऐसा कि जिसकी अन्तिम दशा में प्रेमी और प्रिय का अन्तर ही समाप्त हो जाता है। प्रेम की इस व्याख्या से हिन्दू परिचित तो थे, परन्तु उस पर पूर्णरूप से आरूढ होना नही चाहते थे। मुसलमानो के सपर्क में आने से निम्न जातियो में एक नए दृष्टिकोण का सचार हुआ। उनको भी यह सोचने का अवसर मिला कि प्रेम के माध्यम से किस प्रकार भक्ति प्राप्त की जा सकती है। सगुण भक्ति

का मार्ग उनके सामने था, परन्तु यह मार्ग रूढिवाद की शृखला से जकडा हुआ था। इसमे उनके लिए कोई स्थान न था। सूफियो के विचार का आधार निर्गुणवाद था, यद्यपि उनके निराकार में प्रियतम के गुण भी थे और उसके आकार का भी ध्यान किया जा सकता था। नवीन भक्ति-मार्ग सूफी निर्गुणवाद तथा हिन्दू सगुणवाद के बीच का रास्ता है। निर्गुणवाद से इसको नैतिक विचार मिले, शब्दो का भडार मिला तथा निर्गुणवाद और अद्वैतवाद से इसको आगे बढने की प्रेरणा मिली। जिस वातावरण में नवीन भक्ति-मार्ग की उत्पत्ति हुई वह समन्वय तथा सामजस्य की विद्युत-शक्ति से ओत-प्रोत था, इसीलिए उसमे हिन्दू और मुस्लिम, दोनो धर्मों के विचार मिलते है। परन्तु इन विचारो की व्याख्या पुरानी परम्परा से विलग है। कबीर की शब्दावली के अर्थ नए है और नानक तो बार-बार यही कहते है कि मै न हिन्दू हूँ और न मुसलमान। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ये दोनो महापुरुष हिन्दू धर्म से उतने ही प्रभावित हुए, जितने इस्लाम धर्म से। पद्रहवी शताब्दी ई० की सास्कृतिक उथल-पुथल को बिना समझे कबीर तथा नानक के दृष्टिकोण को समझना असभव है। भक्ति-काल का हिन्दी साहित्य इसीलिए प्रेम-मार्गी है कि प्रेम का उस समय नैतिक जीवन में विशेष महत्व था। प्रेम ही मुक्ति-प्राप्ति का एक साधन था तथा प्रेम के द्वारा ही ऊँच-नीच, जाति-पाँति का भेद मिटाया जा सकता था। भक्ति-आन्दोलन का ध्येय न केवल आध्यात्मिक उन्नति था, वरन सामाजिक उत्थान भी था। इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि पद्रहवी शताब्दी ई० राजनीतिक दृष्टिकोण से ह्रास का समय था, परन्तु सास्कृतिक दृष्टिकोण से यह समय रचनात्मक कार्यों का था। प्रत्येक क्षेत्र में नवीन रूप से मूल्याकन हो रहा था तथा एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के लिए आँकडे इकट्ठे हो रहे थे।

मुगल-काल—सोलहवीं शताब्दी की नई सास्कृतिक चेतना

सोलहवी शताब्दी ई० के आरम्भ होते-होते भारतीय सस्कृति का एक नया चित्र दृष्टिगोचर होने लगता है। प्रथम पच्चीस वर्षो के बाद मध्य एशिया के एक प्रसिद्ध विजेता ने एक नए वश की नीव डाली, जिसका ऐतिहासिक नाम है चगताई वश। इस वश के पदार्पण के साथ-साथ सास्कृतिक तथा राजनीतिक विषयो का फिर से मूल्याकन हुआ। सुलतान काल मे सरकार के सामने केवल दो ही ध्येय थे—(१) साम्राज्य का विस्तार करना तथा (२) इसकी पूर्ति के लिए आवश्यक साधन जुटाना। विशाल साम्राज्य की आकाक्षा राजपूत-काल के चक्रवर्ती आदर्श का प्रतिविम्ब तथा समयानुकूल थी। सुलतानो ने पहले उत्तर भारत पर अधिकार स्थापित किया, तत्पश्चात वे दक्षिण की ओर बढे। सन् १३१२ ई० (स० १३६९ वि०) तक समस्त प्रायद्वीप उनकी सत्ता को स्वीकार करने लगा। जब सुलतानो को सैनिक बल से सफलता प्राप्त हो गई, तब उन्होने देश को एक मोटे विधान के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया। यह विधान आजकल के विधान के समान न था। इसके आधार थे मुसलमानी शरह, सैनिक बल तथा शान्ति की आवश्यकता। अतएव इस प्रकार की शान्ति का वातावरण स्वभाविक न था, फिर भी उसमें सस्कृति के एक अग की खूब उन्नति हुई। इस्लाम धर्म, फारसी भाषा तथा सूफी सम्प्रदाय अच्छी प्रकार फूले-फले तथा कला के क्षेत्र में भी यथोचित प्रगति हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि विजेता तथा विजित मे जो भेद था वह धीरे-धीरे कम होने लगा और तुर्क लोग भारत को ही अपना

देश समझने लगे, तथा भारतवासी तुर्कों को अपना राजनीतिक नेता मानने लगे। इस कथन का साक्षी सम्राट वावर है। इब्राहीम लोदी के विरुद्ध उसको किसी भी भारतीय वर्ग की सहायता न मिली। मुगल फौजो को देखते ही भारतवासी भाग जाते थे तथा उनको रसद इकट्ठा करना दुष्कर कर देते थे। इसी प्रकार जव राजपूतो के साथ वावर का सघर्ष हुआ तो सग्रामसिंह के सहायको में कई तुर्क नेता थे और वहुत से मुसलमान सिपाही भी। इब्राहीम लोदी के प्रति हिन्दू जनता की सहानुभूति का एक विशेष महत्व है, वह यह कि उसके पिता के किए हुए अत्याचारो को वह भूल गई थी अथवा इतिहासकारो ने इन अत्याचारो का व्यौरा अत्युक्ति करके दिया है।

राजनीतिक क्षेत्र में चौदहवी शताब्दी ई० के मध्य भाग से केन्द्राभिसारी प्रवृत्ति का प्रारभ होता है, जिसका वेग दिनोदिन वढ़ता ही गया। जव लोदी वश सिंहासनारूढ हुआ तव अवस्था कुछ सुधरी तथा वगाल, गुजरात और मालवा को छोडकर शेष उत्तरी भारत पर एकछत्र राज्य स्थापित हो गया। यह घटना **केन्द्राभिसारी** प्रवृत्ति के आगमन की द्योतक थी और जव इसका सतुलन उस समय की सास्कृतिक प्रवृत्तियो से करते है तो हमारे सामने हूवहू उसी प्रकार का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। यद्यपि चगताई वश के आगमन से राजनैतिक केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को धक्का लगा, परन्तु यह परिस्थिति अस्थायी थी। वास्तव में समस्त प्रवृत्तियाँ एक ही दिशा की ओर वढ रही थी, वह दिशा थी एकीकरण की। मुगल चगताइयो के आगमन से इस विस्तीर्ण जागृति को अधिक वल मिला। वावर, हुमायूँ तथा शेरशाह सूरी के विचार उदार थे। यद्यपि पूर्ववर्ती सम्राटो के समान उनका भी आदर्श साम्राज्यवादी था, परन्तु अव साम्राज्यवाद का ध्येय तथा अर्थ वदलने लगा था। साम्राज्य का आधार पहले की भाँति अव भी सेना ही थी तथा सेना ही शान्ति-स्थापन के कार्य में सहायता देती थी। परन्तु अव शान्ति-स्थापन का केवल इतना ही उद्देश्य न था कि उसके सहारे साम्राज्य की वृद्धि की जा सके तथा सम्राट के आतक का आभास कराया जा सके, वरन सम्राटो का ध्यान जनता को सुखी और सपन्न करने की ओर आकर्षित होने लगा था। शेरशाह तथा अकवर के भूमिकर-सववी सुधारो से नवीन राजनीतिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। शेरशाह को कृषको के अधिकार की सुरक्षा का सदैव ध्यान रहता था और अकवर ने तो निश्चित नियम वना दिए थे, जिनका पालन करना सरकारी कर्मचारियो का कर्तव्य था। इस प्रकार जनता को एक नया स्तर प्राप्त हो रहा था और धीरे-धीरे वह उन राजनीतिक वन्धनो से मुक्त हो रही थी जो सुलतान-काल में उस पर लागू किए गए थे। शेरशाह ने योग्यतानुसार सरकारी पद देकर मुसलमानो के एकाधिकार को ठेस लगाई और अकवर ने इस सिद्धान्त पर जम कर हिन्दुओ के राजनीतिक स्तर को मुसलमानो के वरावर कर दिया।

भाषा, साहित्य तथा कला

सोलहवी शताब्दी ई० प्रत्येक दिशा में प्रगतिशील दिखाई पडती है। सुलतान-काल मे भी फारसी भाषा तथा साहित्य को प्रोत्साहन मिला था। परन्तु इस शताब्दी मे फारसी भाषा तथा साहित्य की वहुमुखी उन्नति हुई। कवियो एव इतिहासकारो ने मूल ग्रन्थो की रचना तो की ही, इसके साथ-साथ जव फारसी को सरकारी भाषा घोषित कर दिया गया, तो उनके प्रसार की गति अधिक तीव्र हो गई। यद्यपि फारसी शासक-वर्ग की ही भाषा रही, परन्तु इस वर्ग में अव हिन्दू-

मुसलमान दोनो ही सम्मिलित थे, इस कारण इसका प्रभाव अदृश्य रूप से व्यापक होने लगा। भारतीय फारसी शैली का प्रारभ तो सुलतान-काल से ही होता है, परन्तु इसका पूर्ण विकास चगताई-युग में ही हुआ। अवुलफजल की गद्य-रचनाएँ प्रामाणिक सिद्ध हुई। उसके लिखे हुए पत्रो का अर्थ समझना आसान न था। मध्य एशिया के शासक अव्दुल्लाखाँ उजवक ने यह कहा था कि "मैं अकवर की तलवार से उतना नही डरता हूँ, जितना अवुलफजल के वाक्यो से।" जो ख्याति अवुलफजल को गद्य मे प्राप्त हुई, उतनी ही, वल्कि उससे भी अधिक उसके भाई फैजी को पद्य में प्राप्त हुई। सम्राट ने उसको राजकवि की उपाधि से अलकृत किया। अकवर का दरवार फारसी के विद्वानो से भरा था। कुछ अमीर-कवीर भी इस भाषा पर अधिकार रखते थे, परन्तु फारसी भाषा के प्रसार तथा प्रचार का उद्देश्य केवल सरकारी सत्ता को जमाना ही न था, वल्कि इससे कही उच्चतम था—वह यह कि मुस्लिम वर्ग के प्रमुख सदस्यो को हिन्दू धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थो से परिचित कराना और इस साधन द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थिर करना। ऐसी ही भावनाओ से प्रेरित होकर अकवर ने रामायण, महाभारत तथा गीता और योगवाशिष्ठ का फारसी में अनुवाद कराया। इस वहाने फारसी के विद्वानो को सस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करना पडा। अकवर को दर्शन से विशेष अनुराग था। उसकी तीव्र आकाक्षा थी कि इस्लाम धर्म के अतिरिक्त वह भारतीय मत-मतान्तरो के गूढ तत्वो को भी समझ ले। इसी उद्देश्य से उसने सीकरी मे इबादत-खाना स्थापित किया। उसकी व्यापक सहिष्णुता का समकालीन सस्कृति के प्रत्येक अग पर प्रभाव पडा और हिन्दू-मुस्लिम एकता की प्रवृत्ति को वल मिला। उसका राज्य-काल भारत के इतिहास में रचनात्मक तथा क्रियात्मक काल है। उसकी कामनाओ का प्रभाव व्यापक सिद्ध हुआ।

यदि हम कला की ओर ध्यान दें तो उसकी प्रगति में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। वास्तुकला सुलतान-युग से एक विशेष रूप धारण कर रही थी। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उसका वाह्य आकार मुसलमानी था, परन्तु उसकी अन्तरात्मा हिन्दी थी। अकवर ने इस क्षेत्र में भी नाना प्रकार के प्रयोग किए, जिसका ज्वलन्त चित्र हमको सीकरी में मिलता है। पचमहला बौद्ध शैली के अनुसार बना हुआ है, तो जोधाबाई के महल में राजपूत-कला का पूर्ण प्रदर्शन किया गया है। सुनहरे मकान का अलकरण और सजावट अद्वितीय है। इसी समूह के सलीम चिश्ती का सगमरमर का मकवरा समाट की श्रद्धा-भक्ति तथा कृतज्ञता का द्योतक है और बुलन्द दरवाजा उसकी राजनीतिक सफलता का जीता-जागता चिह्न है। स्पष्ट है कि सीकरी के निर्माण मे यदि सम्राट की कल्पना ने योग दिया तो उसकी रूपरेखा को पत्थर के माध्यम से ढालने का श्रेय हिंदू-मुस्लिम कारीगरो के सामूहिक परिश्रम को है। इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ आगरे के किले में भी विद्यमान हैं। जहाँगीरी महल की सजावट तथा उसका वातावरण ठेठ हिन्दू है। इलाहाबाद के किले की बारहदरी भी इसी साँचे में ढली हुई है। साराश यह कि अकवर की उदार मनोवृत्ति ने हिन्दू तथा मुसलमान दोनो को ही उन्नति करने का अवसर प्रदान किया। इनकी रचनात्मक प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम भारतीय सस्कृति के उत्थान के लिए हितकर ही सिद्ध हुआ। वास्तुकला ने प्रगतिशील दिशा में कदम उठाया। शिल्पकार बन्धनो से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में लग गया, जिससे कला निखरने लगी।

वास्तुकला के समान ही चित्रकला में भी उन्नति हुई। पिछले तीन सौ वर्षो से इस कला को सरकारी प्रोत्साहन मिलना वन्द हो गया था। किसी सजीव वस्तु का आकार अंकित करना इस्लाम धर्म के सिद्धान्तो के विरुद्ध था। इस पर भी कुछ इतिहासकारो ने यह संकेत किया है कि सुलतानो के कोई-कोई महल चित्रो से अलकृत थे। फीरोज तुगलक ने लिखा है कि उसने इन चित्रो को मिटवा दिया। साराश यह कि चित्रकला का चलन कम हो गया था, यद्यपि हिन्दू अव भी इसको अपनाए हुए थे। इस समय के जैन ग्रन्थ उपलब्ध है जिनसे यह अनुमान सिद्ध होता है। दूसरे यह कि जब अकवर ने वास्तुकला के समान चित्रकला के क्षेत्र में प्रयोग किया तो उसको हिन्दू चितेरे काफी सख्या में मिल गए और वे भी ऐसे जो अपने हुनर में दक्ष थे। हुमायूं कई प्रमुख चितेरो को ईरान से अपने साथ लाया था और उसने अकवर को चित्र का ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा प्रदान की थी जिसका कि राजकुमार ने पूरा फायदा उठाया। परन्तु अकवर तो साम्राज्यवादी होते हुए भी राष्ट्रवादी था, वह ईरानी शैली से ही सतुष्ट होने वाला न था। ईरानी शैली ग्रन्थ शोभित करने तक ही सीमित थी। ये कलाकार छोटे-छोटे चित्र, किस्से-कहानियो को चित्रित करने के लिए वनाते थे। ये चित्र ग्रन्थ के अग होते थे। इनमें कल्पना की उडान तो अवश्य होती थी, परन्तु वास्तविकता का पुट अधिक मात्रा में रहता था। इसके विपरीत भारतीय चित्रकला के मूलाधार और ही थे। ये चितेरे ग्रन्थ अलकृत करने की कला से अनभिज्ञ तो न थे, परन्तु वे अपने कौशल का प्रदर्शन दीवार पर चित्रकारी के द्वारा ही करते थे। यह परम्परा अजता तथा एलोरा के भित्ति-चित्रो के समय से भारत में अविरल रूप से विद्यमान रही। अकवर जैसे पारखी ने इससे लाभ उठाया और भारतीय कारीगरो को सरक्षण तथा प्रोत्साहन प्रदान किया। उसने फतेहपुर सीकरी की दीवारो पर चित्र वनवाए जिनकी धुंधली रेखाएँ एक महत्वपूर्ण विषय की सूचक है। ईरानी कलाकारो के सपर्क में आकर दशवन्त, वसावद तथा लाल जैसे हिन्दू चितेरो ने ग्रन्थ अलकृत करने के हुनर को सीख लिया तथा तैमूरनामा और रज्मनामा (महाभारत) जैसे ग्रन्थो को अपनी कृतियो से सुशोभित किया। इन चित्रो मे ईरानी प्रभाव स्पष्ट है। विषय भारतीय होते हुए भी उनका आवरण ईरानी है। चित्रकला के उत्कर्ष में भी हिन्दू-मुसलमान दोनो ने ही मिलकर परिश्रम किया।

कला तथा साहित्य की दिनोदिन उन्नति होने लगी, जिसका श्रेय शासक तथा शासन-सबधी वर्ग को था। जहाँ तक फारसी साहित्य तथा वास्तुकला और चित्रकला का सवध है, इनका प्रोत्साहन तथा सरक्षण इन्ही श्रेणियो का एकाधिकार वन गया था। जहाँ तक धर्म का सवध है, सम्राट अकवर की सहिष्णुता की नीति का यह ध्येय था कि हिन्दू-मुसलमानो के वीच जो द्वेष और ईर्ष्या के भाव थे वे मिट जाएँ। उनके प्रयत्नो के दो अदृश्य परिणाम ये हुए कि एक तो हिन्दुओ के नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा भौतिक ज्ञान के ग्रन्थो की श्रेष्ठता व्यापक हो गई और दूसरे, हिन्दुओ को विचारो की स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। हिन्दू धार्मिक क्षेत्र में एक प्रकार का सघर्ष चल रहा था। कवीर तथा नानक जैसे सतो ने निडर होकर अवतारवाद, सगुणवाद, वहुदेववाद का खण्डन किया था और निम्न वर्ग में एक नया नैतिक जोश फूंक दिया था। यह वर्ग उन्नति की ओर अग्रसर था। द्विज धर्मियो को यह प्रवाह खटका। इससे उनके अधिकारो पर चोट लगती थी, उनके सम्मान तथा प्रतिष्ठा की हानि होती थी। इस वर्ग के लोग सचेत होकर अपने नेतृत्व के पुन स्थापन के

लिए प्रयत्नशील हो गए। नवीन विचारधारा को शास्त्रीय आवरण पहनाया गया। भक्ति के सार को लेकर सगुणवाद के साँचे में ढाल कर पुराने आदर्शो को लोकप्रिय बनाने के लिए नाना प्रकार के उपाय किए गए। जनता की माग को ध्यान में रख कर तुलसीदास ने सस्कृत का मोह कुछ हद तक त्याग कर अवधी में पद्य के माध्यम द्वारा हिन्दू धर्म के आदर्शों का प्रचार किया तथा वल्लभ के वशजो और शिष्यो ने व्रजभापा को अपनाया। सूर ने अपनी रचनाओ द्वारा साक्षात ब्रह्म की जीती-जागती मूर्ति को भक्तो के सामने प्रस्तुत कर दिया। जिस प्रकार निर्गुणवाद के आन्दोलन से पद्रहवी शताब्दी में हिन्दी साहित्य को वल मिला, ठीक उसी तरह सगुणवाद ने सोलहवी शताब्दी में इस साहित्य के प्रसार तथा उन्नति में योग दिया। इस वर्णन से इस निष्कर्ष पर न पहुँचना चाहिए कि इस शताब्दी में निर्गुणवादी विचारधारा का अन्त हो गया, परन्तु इसमें सन्देह नही कि उनकी गति अधिक क्षीण हो गई।

प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ

सोलहवी शताब्दी ई० के सास्कृतिक वातावरण के प्रसग में कई अन्य विशेषताओ को नजरअदाज नही किया जा सकता। यदि एक ओर सामजस्य तथा एकीकरण की प्रवृत्ति वलपूर्वक काम कर रही थी, तो दूसरी ओर हिन्दू तथा मुसलमान दोनो वर्गों में रूढिवादी अपने पैर जमाने के लिए भरसक परिश्रम कर रहे थे। अकबर ने मुसलमान रूढिवादियो को दवाने का भरसक प्रयत्न किया, मगर व्यक्तियो का सहार किया जा सकता है, विचारो का नही। इस्लाम धर्म में भ्रातृत्व, शान्ति तथा समानता के सिद्धान्तो के होते हुए भी उसके अनुयायियो की मनोवृत्ति में सकीर्णता विद्यमान रहती है। कारण इसके कुछ भी हो, परन्तु इसके होने से इनकार नही किया जा सकता। इसका मतलव यह नही कि समस्त मुसलमान समुदाय असहिष्णुता के रग से सरावोर होते है, परन्तु इसमें भी सन्देह नही कि उनमें से बहुधा गौण विषयो को लेकर उत्तेजित हो जाते है तथा धर्म के सबध में वे अधिक प्रभावशील होते है। फिर इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है कि अकवर की सहिष्णुता की नीति से इनके एक वर्ग को असन्तोप हुआ ? इस वर्ग ने अपनी रूढिवादी कार्यवाही जारी रखी, कभी खुल्लमखुल्ला और कभी छिपकर। इसी प्रकार हिन्दुओ में भी प्रगतिवादियो और रूढिवादियो में सघर्ष चलता रहा। यद्यपि इस द्वन्द्व का प्रभाव साम्राज्य की नीति पर अधिक न पडा, लेकिन जनता इससे विलग न रह पाई। इस द्वेषपूर्ण प्रवृत्ति का परिणाम आगामी शताब्दी में भीषण सिद्ध हुआ।

दूसरे यह कि जव अकबर की महत्वाकाक्षाएँ फलीभूत हो गई और उसको एक विस्तृत साम्राज्य पर एकछत्र शासन करने का अवसर प्राप्त हुआ, तो उसने जनता के सुख, शान्ति और सपन्नता के ध्येय को निरन्तर अपने सामने रखा। उसके विचार उदार थे। उसकी कामनाएँ आदर्शपूर्ण थी। धन-राशि से उसका कोष भरा था। समस्त ससार में उसकी ख्याति फैल गई थी और उसके साथ भारत की बहुमुखी श्रेष्ठता का नाम भी। इसमें सन्देह नही कि भारत में स्वर्ण-युग आ गया था। हिन्दू शास्त्रीय कसौटी पर पूरा न उतरते हुए भी मुगल सम्राटो के आदर्श ऊँचे थे। बाबर तथा हुमायूँ का अपने भाइयो के साथ व्यवहार जिसके कारण उनको निर्वासन भोगना पडा तथा अकबर की अपने सौतेले भाई हकीम के प्रति सौहार्द की भावना भगवान राम

की स्मृति जाग्रत करती हैं। सभव है इन्ही उदाहरणो से प्रेरित होकर समकालीन हिन्दू कवियो ने अपने ग्रन्थो को रचा हो। इनकी कृतियो मे जो राज-दरबार तथा शाही वैभव का वर्णन मिलता है वह ठीक मुगल सम्राट के दरवार का है और सम्राट अकवर ने तो वहुत मे हिन्दू रिवाज अपना लिए थे। उसके पूर्ववर्ती सम्राटो ने भी कुछ हद तक ऐसा ही किया था। परन्तु इतना वैभव प्राप्त होते हुए भी अकवर के जीवन में सादगी और सरलता थी, जिसका व्यापक प्रभाव समस्त समकालीन सास्कृतिक पद्धति पर पडा। अवुलफजल की भापा शब्दाडम्बर और अलकार-पूर्ण थी, परन्तु फैजी की कविता रसमयी थी। इन दोनो भाइयो को तो ईरानी विद्वानो का मुकाविला करना था। वास्तुकला तथा चित्रकला में अलकार की अपेक्षा हुनर का अधिक प्रदर्शन है। इसी प्रकार की सादगी का परिचय हमको हिन्दी काव्य में भी मिलता है। अवुलफजल के समान तुलसीदास ने भी सरल तथा क्लिष्ट दोनो तरह की भाषा का प्रयोग किया और फैजी के समान सूर ने अपने पदो में रस भर दिया। अन्तर केवल इतना ही है कि अवुलफजल और फैजी की कृतियाँ विशिप्ट वर्ग के लिए थी और तुलसीदास और सूर की कृतियाँ जन-साधारण के लिए थी। परन्तु दोनो ही अपने-अपने ढग से समकालीन सस्कृति का चित्र प्रदर्शित करती हैं।

सम्मिश्रण, सकलन और सामजस्य की भावनाएँ सोलहवी शताब्दी ई० में पराकाष्ठा तक पहुँच गई। तत्पश्चात प्रतिक्रिया की ओर प्रवृत्ति अग्रसर हुई। यदि हम सत्रहवी शताब्दी ई० की सास्कृतिक रूपरेखा पर विहगम दृष्टिपात करें तो हमारे सामने नाना प्रकार की धारणाओ से रँगा हुआ रगविरगा चित्र प्रस्तुत होता है। समस्त वातावरण पर सामान्य रूप से शासक-वर्ग का प्रभाव स्पप्ट है। अरवी की एक कहावत है, जैसा राजा करता है, वैसा प्रजा करती है। इसी प्रकार की हूवहू कहावत हमारे देश में भी प्रचलित है—यथा राजा तथा प्रजा। वास्तव में प्राचीन तथा मध्ययुग में राजा के आदर्शों तथा कार्यो का अनुकरण प्रजा करती थी। इस कसौटी पर यदि सत्रहवी शताब्दी ई० के सास्कृतिक वातावरण तथा प्रगति को कसा जाए तो अधिक हद तक यही सिद्ध होगा। विगत पचास वर्षों में मुगल साम्राज्य सुसगठित तथा वैभवपूर्ण हो गया था। यद्यपि मुगल सिक्का कन्धार से लेकर गौड और कश्मीर से लेकर अहमदनगर के कुछ भाग तक ही चलता था, परन्तु मुगलो का आतक समस्त भारत प्रायद्वीप पर छाया हुआ था। इस प्रकार से अहमदनगर का स्वतत्र राज्य छिन्न-भिन्न होकर अन्तिम साँस ले रहा था और वीजापुर तथा गोलकुडा के राज्य उत्तरी साम्राज्य की दिन प्रतिदिन वढती हुई शक्ति से भयभीत हो रहे थे। मुगलो के पास सुसज्जित सेना थी। उनकी कीर्ति का डका समस्त एशिया में गूँज रहा था। उसकी ध्वनि यूरोप तक पहुँच गई थी। यूरोपीय देशो से यात्रियो तथा व्यवसायियो ने आना आरभ कर दिया था। वह मुगल सम्राट तथा मुगल साम्राज्य की विशालता तथा सपन्नता को देखकर चकित रह जाते थे।

कला में अलकरण की प्रवृत्ति

शासक-वर्ग के पास अतुल धन था जिसका सदुपयोग भी किया गया और दुरुपयोग भी। यदि एक ओर भोग-विलास की प्रवृत्ति ने जोर मारा तो दूसरी ओर ललित कलाओ का उत्थान तथा सरक्षण भी हुआ। शासक-वर्ग सामान्यत उपभोगी वर्ग था। इनको दो विभागो में विभाजित

किया जा सकता है—(१) सम्राट तथा उसका परिवार और (२) अमीरो का दल। जहाँ तक पहले विभाग का सबध है उसके उच्च तथा व्यापक आदर्शों को मानते हुए भी यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि वे अधिक मात्रा मे विगत शताब्दी के आदर्शों से विभिन्न थे। जहाँगीर की आत्मकथा के अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि उसने राजनीतिक क्षेत्र में अपने पिता की निर्धारित प्रथा पर चलने का ही प्रयत्न किया, परन्तु उसका निजी जीवन अकबर के जीवन से भिन्न था। उसकी प्रवृत्ति अलकार और विलास की ओर अधिक झुकी हुई थी। मदिरा पीने की उसकी आदत पड गई थी। वह बीस प्याले तक एक बैठक में पी जाता था। परतु मदिरा के हाथ वह बिका न था और जब तक स्वास्थ्य ने उसका साथ दिया, वह समस्त राजकीय कार्य का निर्देशन करता रहा। उसका ललित कलाओ में विशेष अनुराग था। चित्रकारी का वह विशेषज्ञ था, जिसका उल्लेख इग्लिस्तान के राजदूत सर टामस रो ने भूरि-भूरि प्रशसा करके किया है। वास्तव में उसके राज्य-काल में यह कला उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि हर समय चितेरो का एक दल उसकी सेवा मे उपस्थित रहता था और उसके आदेशो की पूर्ति किया करता था। यदि किसी अवसर पर कोई प्राकृतिक दृश्य सम्राट का मन लुभा लेता था तो आदेशानुसार तुरत ही चितेरे उसको अकित कर लेते थे। सम्राट को चिडियो और जानवरो की सुन्दरता तथा रहन-सहन भी आकर्षित करती थी। अकसर घटो वह सारस के जोडो की ओर टकटकी बाँधे देखा करता था। साराश यह कि चित्रकला मे नवीन उन्नति हुई। वास्तविकता के साथ-साथ उसमें कल्पना की उडान भी पर्याप्त मात्रा मे दृष्टिगोचर होती है तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ बहुमूल्य अलकार भी देखने को मिलते है। सादगी और हाथ की सफाई उसकी जान हैं। परन्तु आगे चलकर आदर्श ने पलटा खाया। शाहजहाँ के समय बहुमूल्य अलकरण की ओर अधिक ध्यान दिया गया, सौन्दर्य की ओर कम और इस कमी को पूरा करने के लिए नाना प्रकार के साधनो से काम लिया गया। उदाहरणार्थ चित्रो के चारो ओर किनारो पर बने हुए बेल-बूटो मे अद्भुत प्रकार के जानवरो के आकार समाविष्ट कर दिए गए। इसके अतिरिक्त आकर्षण-वृद्धि के विचार से स्वर्णमय रगो का अधिक प्रयोग किया गया। इस नवीन गतिविधि के कई कारण थे। प्रथम यह कि सम्राट शाहजहाँ को दिखावे का अधिक शौक था, दूसरे यह कि उसके कोष में अतुल धन था जिसको व्यय करने का एक यह भी साधन था। परिणाम यह हुआ कि चित्रकला की बाहरी रूपरेखा में तो कुछ आकर्षण बढ गया, लेकिन उसमें से कल्पना का भाव लुप्त हो गया। उसके चित्रो का एक सग्रह विक्टोरिया अलबर्ट सग्रहालय में है, जिसको दाराशिकोह से सबधित किया जाता है। विशेष ा इस सग्रह को आदर की दृष्टि से देखते हैं और कला की दृष्टि से इसको बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चित्रकला का सरक्षण सम्राट का ही एकाधिकार न रहकर राजकुमारो तथा अमीरो के हाथ मे भी पहुँच गया। फ्रासीसी यात्री बर्नियर के कथनानुसार उमराव वर्ग के लोग चितेरो से जबर्दस्ती काम लेते थे। ऐसी अवस्था मे कला की अवनति अनिवार्य हो गई तथा चित्र-कला व्यवसाय का साधन बन गई। औरगजेब के समय मे इस कला को सरकारी सरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ, यद्यपि समय-समय पर इससे उसने अपना काम निकाला। उदाहरणार्थ जब सम्राट ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को बन्दीगृह में डाल दिया तो उसके स्वास्थ्य का हाल जानने के

लिए वह उसका चित्र बनवा लेता था। इस प्रकार हम देखते है कि चित्रकला में शृगार, अलकार तथा दिखावे की मात्रा अधिक बढ गई और उसका उद्देश्य केवल इतना ही रह गया कि शासक-वर्ग की इच्छाओ की पूर्ति करे। शताब्दी के अन्त होते-होते उसमें कल्पना का बिलकुल अभाव हो गया।

जब हम वास्तुकला की ओर ध्यान देते है तो उसके विकास में भी लगभग वे ही प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है जो कि चित्रकला में दिखाई पडती है। जहांगीर का अनुराग चित्रकला में था, परन्तु वास्तुकला की ओर से भी वह बिलकुल उदासीन न था। ऐतमादुद्दौला का मकबरा कला की दृष्टि मे अद्वितीय है। आकार में ताज के समान विशाल तो नही, परन्तु अनुपात के विचार से उसका सौन्दर्य अपना एक भिन्न ही महत्व रखता है। प्रकृति के पुजारी के नाते जहाँगीर ने कश्मीर में कई बाग लगवाए जिनको देखकर आज भी लोग मुग्ध हो जाते है और उल्लास से फूले नही समाते। मनोरजन के लिए वहाँ अब भी हजारो की सख्या में लोग पहुँचते है। जहागीर के समय की इमारतो मे सादगी और आकर्षण है और इसके साथ-साथ सुव्यवस्थित सजावट भी है। इसके विपरीत शाहजहाँ ने विशाल इमारतो का निर्माण किया। इसमें सन्देह नही कि उसके सरक्षण में और उसके प्रोत्साहन द्वारा यह कला उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। परन्तु चित्रकला की ही तरह वास्तुकला में अलकार, सजावट और बहुमूल्य पत्थरो के प्रयोग से काम लिया गया। सामान्य रूप मे श्वेत सगमरमर की इमारतें बनी तथा पच्चीकारी के हुनर मे इनके सौन्दर्य को आकर्षणपूर्ण किया गया। इस समय की इमारतो में केवल मोती मस्जिद ही एक ऐसी इमारत है जो सादी है और सादगी में ही उसका सौन्दर्य केन्द्रित है, अन्यथा और इमारतो में बहुमूल्य रत्नो का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है। इससे सम्राट की भावनाओ तथा आदर्शो का स्पष्टीकरण होता है। शाहजहाँ को अपना वैभव-प्रदर्शन करने का बेहद शौक था। इस इच्छा से प्रेरित होकर तथा उसकी पूर्ति के विचार से इमारतें बनवाने में उसने अतुल धन व्यय किया। ये इमारतें उस समय की प्रवृत्तियो की सूचक है। इनमें कला का निखार है, सजावट की बहार है, वैभव का प्रदर्शन है तथा वे विशालता की प्रतीक हैं। ताजमहल की गणना तो ससार की नौ अद्भुत वस्तुओ में की जाती है और दिल्ली के दीवानेखास में कविता की जो दो पक्तियां अकित है उनका अर्थ है 'यदि इस लोक में स्वर्ग है तो वह यहीं है, यही है, यही है।' सासारिक सुख और विलास की यह चरम सीमा थी। औरगजेब के समय में वास्तुकला का ह्रास होने लगा। पुरानी पद्धति की नकल तो हुई, परन्तु नकल से आगे न बढ सकी।

धार्मिक संघर्ष

धार्मिक क्षेत्र की प्रवृत्तियो में घोर सघर्ष का वातावरण दिखाई देता है। अकबर ने जिस सामजस्य तथा व्यापकता के लिए प्रयत्न किए थे, वे धीरे-धीरे लोप हो गए। अपने पिता की अपेक्षा जहांगीर की धार्मिक भावनाएँ अधिक सकीर्ण थी। उसका स्वभाव तो उदार था, परन्तु राजनीतिक परिस्थितियो मे वह अपने को ऊपर न उठा सका। अकबर के समय भी मुसल-मान रूढिवादियो ने उसकी धार्मिक नीति के प्रति असन्तोष तथा विरोध प्रकट किया था, परन्तु इस वर्ग को अधिक बल न प्राप्त हो सका। लेकिन जहांगीर के सिंहासनारूढ होने-होते

इसने जोर पकडा और 'इस्लाम खतरे में है' का नारा लगाया। विरोधी दल के नेता थे मुजदद सानी अल्लामा सरहिन्दी। यद्यपि कई कारणो से सम्राट ने इनको कारागार में डाल दिया, परन्तु उठती हुई लहर को दवाना असभव था। सकीर्ण विचारधारा आगे वढती ही गई। शाहजहाँ ने एक राजपूत राजकुमारी की सन्तान होते हुए भी इस्लाम का पल्ला पकडा, यद्यपि इसमें सन्देह नही कि उसने धर्म को राजनीति के ऊपर हावी नही होने दिया। समय-समय पर धर्म की आड लेकर उसने राजनीतिक कार्य किए जिनसे उसकी असहिष्णु मनोवृत्ति का प्रमाण मिलता है। वनारस तथा वुन्देलखड में उसने मन्दिर तुडवाए तथा गोलकुडा मे शैवमत के मानने की मनाही की। शाहजहाँ के उत्तराधिकारी औरगजेब ने न केवल अपने पिता की नीति का पालन किया, वल्कि उससे कही अधिक उग्र भावनाओ का प्रदर्शन किया जिसके परिणामस्वरूप समस्त साम्राज्य में व्यापक उथल-पुथल होने लगी। हिन्दू-मुस्लिम एकता की जगह दोनो जातियो में द्वेष तथा घृणा की भावनाएँ घर करने लगी। धार्मिक असन्तोष ने राजनीतिक आवरण धारण किया और एकछत्र राज्य के विघटन के चिह्न स्पष्ट होने लगे।

परन्तु यह धारणा कि केवल इस्लाम धर्म ही सकीर्णता और रूढिवाद की ओर अग्रसर हो गया था, न्याय-युक्त नही। वास्तव मे देश के वातावरण मे ही सकीर्णता प्रवेश कर गई थी। व्यापक दृष्टिकोण के युग की समाप्ति हो गई थी। जिस मत का सोलहवी शताब्दी में एक रूप था, वह अनेक रूपो में परिवर्तित हो गया। नानक ने तो स्वप्न मे भी विचार नही किया था कि उनके उत्तराधिकारी सच्चे पादशाह का पद ग्रहण करेंगे और एक स्वतत्र पथ स्थापित कर लेंगे। धीरे-धीरे नानक के चलाए मत की अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ वन गई। गुरु अर्जुन के समय से सिक्ख मत ने राजसी आवरण धारण कर लिया। विद्रोही राजकुमार खुसरो को सरक्षण देने के अपराध मे जब सम्राट ने उन पर जुर्माना किया जिसके अदा न करने पर उन पर सख्ती की गई तथा परेशान होकर उन्होने जल-समाधि ले ली, तो उनके अनुयायियो को यह कहने का वहाना मिल गया कि सरकार उन पर अत्याचार कर रही है। गुरु अर्जुन के उत्तराधिकारी गुरु गोविन्द-सिंह तो राजसी ठाठबाट से रहते थे। उन्होने अपने अनुयायियो में सैनिक प्रवृत्ति का सचार किया। वे अपना अधिक समय कुश्ती लडने, वाघ तथा सुअर का शिकार करने, आदि में व्यतीत करते थे। वे सदैव अपनी कमर मे दो तलवारें बाँधे रहते थे, जो दो उद्देश्यो की सूचक थी, पहला पिता की मृत्यु का बदला लेना और दूसरा इस्लाम की विस्मयजनक कृतियो को मिटाना। उनके उद्दड व्यवहार के कारण सम्राट ने उन्हें ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। इस घटना ने सिक्खो को और भी उत्तेजित कर दिया। सद्गुरु तथा सच्चे पादशाह के पदो के सम्मिश्रण का यह अनिवार्य परिणाम था। नैतिक तथा लौकिक भावनाओ के विवेक को सामान्य बुद्धि के मनुष्यो के लिए समझना कठिन था। गुरु तेगबहादुर के साथ औरगजेब ने जो व्यवहार किया उसने दहकती हुई अग्नि में घृत का काम किया। दशम गुरु गोविन्दसिंह ने लौह के गुण गाए और अपने मतावलवियो को मरने-मारने की शिक्षा दी। इस प्रकार सिक्खो का दल अन्य हिन्दू जनता से पृथक हो गया और मुसलमानो का तो वह जानी दुश्मन समझा जाने लगा। इस दल ने वीरता के आदर्शों को अपनाया तथा त्याग और शारीरिक परिश्रम पर अपनी शक्ति को केन्द्रित किया। नानकपथी शाखाओ मे उदासी, रामरायी, धीरमली तथा मसनदी का उल्लेख उचित प्रतीत

होता है। इन शाखाओ के अनुयायी गुरु नानक के प्रति श्रद्धा-भक्ति तो रखते है, परन्तु इनके आचार-विचार सिक्खो से भिन्न है। कालान्तर में इनमें से कुछ हिन्दुओ के अधिक समीप आ गए। जो हो, सिक्ख-आन्दोलन ने वीर रस की कविता के लिए वातावरण प्रस्तुत कर दिया।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रयत्न

इस वातावरण के उत्पादन तथा प्रोत्साहन में राजनीतिक परिस्थिति ने भी योग दिया। शाहजहाँ के राज्य-काल में यदि एक ओर बुन्देलो ने जोर पकडा, तो उनकी देखादेखी राजपूताना के कुछ राजाओ के हृदयो में भी स्वतन्त्रता के विचार हिलोरें लेने लगे। मुगल सम्राट की तीन बार लगातार कन्धार में पराजय होने से विद्रोहियो के हौसले बढने लगे। मेवाड के राजा ने पूर्ववर्ती सन्धि की एक धारा का उल्लघन करके चित्तौर के किले की मरम्मत कराई तथा अजमेर पर धावा बोलने की बात सोची। इस उद्दडता को देखकर भला शाहजहाँ कब चुप बैठने वाला था? उसने राना को मजा चखाने के लिए बादल-दल के समान सेना भेजी तथा अपने उद्देश्य में वह सफल हुआ और राना को मुँह की खानी पडी। परन्तु राना की मनोवृत्ति और उसका साहस एक आन्दोलनमय परिस्थिति का सूचक था। चिनगारी बुझ तो गई, परन्तु अग्नि धीरे-धीरे जलती रही और अवसर पाकर औरगजेब के समय पूर्णरूप से प्रज्वलित हो गई। राजपूताना में आई हुई राजनीतिक बाढ की रोकथाम करना शक्तिशाली मुगल सम्राट के लिए असभव हो गया। दुर्गादास जैसे योद्धा ने वीरता के वे जौहर प्रदर्शित किए, जिनको देखकर शत्रुओ ने भी मुक्त-कठ से उसकी प्रशसा की। एक प्रकार से राजपूताना में वीरगाथा-काल फिर से जाग्रत हो गया, जिससे स्वतन्त्रता की भावनाओ को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

दक्षिण में भी मुगलो की बढती हुई शक्ति के विरोध में बहुत दिनो से आन्दोलन चल रहा था। इसका प्रथम नेता मलिक अम्बर था। यद्यपि उसकी मृत्यु के पश्चात अहमदनगर का शीघ्रता के साथ विघटन होने लगा, परन्तु उसकी स्वतन्त्रता की अन्तिम क्रिया होने तक मुगलो को लगातार १४ वर्ष तक परिश्रम करना पडा। तत्पश्चात उसकी जली हुई अस्थियो मे एक ऐसी शक्ति का सृजन हुआ जिसने न केवल मुगल साम्राज्य से लोहा लिया, बल्कि उसके सगठन को भी नितान्त जर्जर कर दिया। अहमदनगर राज्य के एक कोने में मराठा शक्ति का उद्भव हुआ। शाहजी भोसले ने अपनी नीति तथा बाहुबल से इसे आगे बढाया और उसके क्रान्तिकारी पुत्र ने तो एक स्वतन्त्र राज्य ही स्थापित करके दम लिया। उसके सघर्ष का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था। यदि दक्षिण में वह बीजापुर पर चोट मारता था तो उत्तर में मुगलो पर छापा मारता था। शत्रुओ की ओर से आए हुए उसने अनेक अनुभवी तथा पराक्रमी सेना-नायको के दांत खट्टे कर दिए। शायस्ताखाँ उससे भयभीत होकर पूना से भाग निकला और अफजलखा को तो अपनी जान तक से हाथ धोना पडा। शिवाजी के वीरतापूर्ण कार्यों, उसके साहस और उसकी बढती हुई राजनीतिक शक्ति ने बहुत-से कवियो को ओजस्वी भावनाओ से प्रेरित किया और उनको अतीत काल के भारतीय सूरमाओ का स्मरण हुआ, जिससे उनकी कल्पना की उडान की गति तीव्र हो उठी।

इसी समय दिल्ली और आगरा के सन्निकट जाटो ने भी जोर पकडा और मुगल सेना-

नायको का वहादुरी से मुकाविला किया। गोकुल व राजाराम चूडामणि के नाम लोक-प्रसिद्ध हो गए। इसी प्रकार बुन्देलो ने भी सिर उठाया। शाहजहाँ के समय जुझारसिंह ने विद्रोह किया, जिसका रूप अति भयकर था। यद्यपि सम्राट ने वलपूर्वक इस विद्रोह को दवा दिया, परन्तु बुन्देलखड में निरन्तर आग सुलगती ही रही। वहाँ की जनता सम्राट की असहिष्णु नीति से अप्रसन्न थी। जव सम्राट ने जुझारसिंह का दमन करने के लिए दूसरी बार सेनाएँ भेजी, तो वह जान वचाने के लिए गोडवाना भाग गया, जहाँ गोडो ने उसे मार डाला। वुन्देलखड तथा चौरागढ के सभी दुर्गों पर सम्राट का अधिकार हो गया तथा जुझारसिंह के सारे परिवार को वन्दी वना लिया गया। उसके पुत्र और पौत्रो को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए वाध्य किया गया और ओरछा के प्रसिद्ध मन्दिर को गिरा दिया गया। परास्त राजा के परिवार की स्त्रियो को चेरी वनाकर अपमानित किया गया। यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से यह व्यवहार उचित ही था, परन्तु इससे जनता की भावनाओ को चोट पहुँची और उनके हृदय मे मुगल साम्राज्य के प्रति घृणा ने घर कर लिया। इससे लाभ उठाकर चम्पतराय ने मुगलो का विरोध किया और जव लडते हुए वह वीरगति को प्राप्त हुआ तो उसके पुत्र छत्रसाल ने पिता के आदर्शों पर चलने का भरसक प्रयत्न किया। शिवाजी के व्यक्तित्व तथा स्वतन्त्रता-सग्राम से प्रभावित होकर और औरगजेव की कठोर धार्मिक नीति से खिन्न होकर उसने प्रतिशोध लेने का दृढ सकल्प किया। बुन्देलो ने उसे हिन्दू धर्म का रक्षक और क्षत्रियो की मर्यादा का पालक मान कर जी-जान से उसका साथ दिया। इस प्रकार समस्त देश में हिन्दू वीरो की कीर्ति का डका बजने लगा। समकालीन साहित्य पर इसका प्रभाव पडना अनिवार्य ही था।

राजनीतिक सघर्षों का आधार—धर्म

लौकिक जीवन को धार्मिक भावनाओ से पृथक करना प्राचीन तथा मध्यकालीन पद्धति के विपरीत था। वास्तव मे धर्म को ही सासारिक जीवन का आधार समझा जाता था। परलोक को उज्ज्वल करने के लिए इस लोक में नियम-सयम से रहने का आदेश सतो तथा आचार्यो, दोनो ने दिया है। इस आदेश का चाहे और कुछ प्रभाव पडा हो या न पडा हो, इतना तो निश्चय है कि इसके द्वारा प्रेरणा पाकर एक ओर तो सामुदायिक सस्थाओ का निर्माण हुआ और दूसरी ओर इस धारणा ने राजनीतिक क्षेत्र मे प्रवेश करके हिन्दू-मुसलमानो के बीच भेद-भाव को अधिक बढा कर मुगल साम्राज्य की नीति में परिवर्तन कर दिया। गुरु नानक के उत्तराधिकारियो तथा वशजो ने जो सस्थाएँ स्थापित की उनकी ओर ऊपर सकेत किया जा चुका है। कबीर का चलाया हुआ मत भी अनेक शाखाओ में विभाजित हो गया। प्रत्येक शाखा की गद्दियाँ बन गईं। इसके अतिरिक्त दादूपथ, बावरी पथ, निरजनी सम्प्रदाय, मलूकदासी पथ, बाबालाली सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, साध तथा सतनामी सम्प्रदाय, दरियादासी सम्प्रदाय, चरणदासी तथा गरीवदासी सम्प्रदाय का उल्लेख करना भी उचित प्रतीत होता है। सभव है, व्यक्तिगत दृष्टि से इन विभिन्न सम्प्रदायो की शिक्षाओ का प्रभाव हितकर रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नही कि इनके निर्माण से भारत की एकता को धक्का लगा और सामान्य रूप से प्रत्येक वर्ग का दृष्टिकोण सकुचित तथा सकीर्ण हो गया। इन सामुदायिक सतो की वाणियो ने साहित्य के भडार को तो परिपूर्ण किया,

परन्तु सामाजिक जीवन के जाल में नाना प्रकार की गुत्थियाँ डाल दी, मनुष्य मात्र के ध्यान को एक से अनेक की ओर केन्द्रित कर दिया। राम और रहीम में फिर से अलगाव हो गया, हिन्दू-मुसलमानो में खीचातानी मच गई। इस वढते हुए अन्वकार के वातावरण में कुछ ऐसी विभूतियाँ भी थी जिन्होने विखरते हुए तारो को वटोर कर सीधे रास्ते पर ले जाने का प्रयत्न किया। इनमें से राजकुमार दारा शिकोह का नाम विशेप रूप मे उल्लेखनीय है। अपने पितामह के समान उसने हिन्दू ग्रन्थो का अध्ययन किया और उनके सार को समझा। उपनिपदो का तो उसने फारसी भापा में अनुवाद भी किया और उनका मूल्याकन करते हुए उसने कहा कि ये वही ग्रन्थ है जिनकी ओर कुरान में सकेत किया गया है। उसने मस्कृत के आध्यात्मिक शव्दो का फारसी में एक पारिभापिक सग्रह तैयार किया जिससे उसके ज्ञान तथा उदार विचारो का पता चलता है। परन्तु दारा का व्यक्तित्व उस असहिष्णुतापूर्ण वातावरण में समुद्र मे अकेली मछली के समान था। उसका प्रभाव सीमित था और उसके आदर्शो का सम्मान करने वालो की सख्या वहुत कम थी।

सत्रहवीं शताव्दी—सास्कृतिक पराभव की प्रक्रिया

यदि हम सत्रहवी शताव्दी के सास्कृतिक पहलुओ पर विहगम दृष्टिपात करें तो हमको कई प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पडती हे। प्रथम है शृगार की प्रचुरता। कला के क्षेत्र में वास्तुकला तथा चित्रकला इसके ज्वलत उदाहरण है। स्त्री-पुरुपो की वेश-भूपा में भी यही चित्र मिलता है। आभूषण पहनने का रिवाज तो पहले से प्रचलित था ही, अव कई कारणो से इसको और भी वल प्राप्त हो गया जिसका प्रमाण समकालीन चित्रो से तथा साहित्य में आए हुए विवेचनो से मिलता है। धनधान्यपूर्ण देश में शृगार की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही प्रतीत होती है। यदि हम फारसी साहित्य का निरीक्षण करें तो उसमें भी यही शैली दिखाई पडती है। अवुलफजल ने क्लिप्ट तथा शव्दालकृत भापा के विकास को ऐसे स्तर तक पहुँचा दिया कि जिसकी नकल करना असभव था। फिर भी शाहजहाँ ने अपने समय के इतिहासकारो को यही आदेश दिया कि वे अवुलफजल की ही शैली में अपने ग्रन्थो की रचना करें। जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय में जो रचनाएँ फारसी भापा में की गई, उनमें भावो की अपेक्षा शव्दो के जडाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। जिस प्रकार आभूपण रत्न-जटित होते थे और इमारतो में सुन्दर पच्चीकारी का काम होता था, उसी प्रकार फारसी साहित्य में अलकार का वाहुल्य हुआ। कवि तथा गद्यकार की प्रशसा इसी पर निर्भर थी कि उसको उसके शव्द-विन्यास में कितना चातुर्य प्राप्त है। जहाँगीर के समय एक ग्रन्थ लिखा गया जिसका नाम है 'शश फतह कागडा' अर्थात कागडा पर छ वार विजय। वास्तव में यह एक ही घटना का भापा के छ रूपो में वर्णन है। शाहजहाँ ने एक के वाद दूसरे कई लेखको से पादशाहनामा लिखवाया। अन्त में उसको अव्दुलहमीद लाहौरी की रचना पसद आई, क्योकि उसने अवुलफजल की शैली का अनुसरण करने की सफल चेप्टा की थी। इस शव्द-जाल के चक्कर में पड कर फारसी साहित्यकारो ने अपनी रचनाओ को अलकारपूर्ण वाह्य रूप तो प्रदान कर दिया, परन्तु उनमें आन्तरिक गुणो का अभाव हो गया। शृगारमय वातावरण में केवल एक ही दृष्टिकोण सभव था। इसके माध्यम से यदि एक ओर सासारिक वैभव का प्रदर्शन किया गया, तो दूसरी ओर उसको भगवान की भक्ति का भी आधार स्वीकार करना पडा। वल्लभाचार्य

ने मूर्तियो के शृगार पर वल दिया था जिसका आगे चलकर यह परिणाम हुआ कि श्रीकृष्ण जी का बिना अलकारो के ध्यान करना भी असभव हो गया। अलकार के साथ-साथ शरीर के विभिन्न भागो के सौन्दर्य का भी वर्णन होने लगा, जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है। यह प्रवृत्ति सूफी कवियो की शैली पर आधारित थी, यद्यपि इसका सवध प्राचीन काल से जोड़ा जा सकता है। यदि शृगार की भावनाएँ भगवान के ध्यान तथा इमारतो के सौन्दर्य को वढाने तक ही सीमित रहती तो अधिक हानि न होती। परतु ऐसा न हुआ। इस रस के दुरुपयोग के परिणाम-स्वरूप सामाजिक तथा नैतिक जीवन का स्तर इतना नीचे गिर गया कि जिसको ऊपर उठाने में वहुत समय लगा।

ऊपर के वृत्तात से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि सोलहवी शताब्दी ई० रचनात्मक विचारो, उच्च आदर्शों, व्यापक भावनाओ, एकीकरण के क्षेत्र मे नवीन प्रयोगो, सहिष्णुतावाद के प्रचार तथा सार्वजनिक जीवन के कल्याण के प्रयत्नो की थी, तो सत्रहवी शताब्दी में सकीर्णतावाद, सम्प्रदायवाद, असहिष्णुता, आदि का वोलवाला हुआ। चारो ओर अवनति के चिह्न दिखाई पडने लगे। मुगल सम्राटो ने साम्राज्य का पूर्णरूप से विस्तार तो कर लिया, पर इस विस्तार से उत्पन्न हुई समस्याओ को वे हल न कर सके। औरगजेव का प्राण-पखेरू तो नैराश्य से मुक्ति पाने के लिए उड गया। सर जदुनाथ सरकार ने उसकी दक्षिण-विजय का उल्लेख करते हुए ठीक ही कहा है कि देखने में तो समस्त अभिलाषाओ तथा आदर्शों की पूर्ति हो गई थी, परन्तु वास्तव में सब का सब खो गया था, यह अन्त का प्रारभ था। सदा सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी औरगजेब साम्राज्य में विघटन की उठती हुई लहरो को दवा न सका। देश में एक ओर शृगारमयी भावनाएँ वल पकड रही थी और दूसरी ओर कुछ वर्गों के सामने वीरता का आदर्श था और वह भी इस आशय से कि उसके सहारे किस प्रकार मुगल साम्राज्य से मुक्ति प्राप्त कर लें। इन वर्गों में साहस था, उत्साह था, धैर्य भी था, आदर्शवाद भी था, परन्तु इनमे उच्च आदर्श का अभाव था। युग पलट रहा था, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आपाधापी मची हुई थी, देश खड-खड में विभाजित होने की ओर वेग से अग्रसर हो रहा था। पुराने स्वप्नो की जगह पर नए रूप सामने आ रहे थे और धीरे-धीरे शान्ति भग हो रही थी।

१८वीं शताब्दी—निराशा और अधकार का युग

अठारहवी शताब्दी का आरभ जिस वातावरण मे हुआ वह अत्यत भयानक था। केन्द्रीय शासन दिनोदिन शिथिल होता जा रहा था, जिसका प्रभाव समाज और साहित्य दोनो पर पडा। मुगल सम्राट उमराव वर्ग के हाथो की कठपुतली वन कर रह गया। सम्राट जहाँदारशाह के सबध में एक कवि ने लिखा है कि वह दर्पण और कघा हाथ में लिए हुए सुन्दर स्त्री के समान अपने केशो का पुजारी था। लालकुँवर वेश्या का उस पर अधिक प्रभाव था। सम्राट मुहम्मदशाह को तो इतिहासकारो ने 'रगीले' की उपाधि ही दी है। वह अपना समय नाचरग और मदिरा-पान में ही व्यतीत करता था। उसका प्रधान मत्री कमरुद्दीन उसका साथी था। वेश्या ऊधमबाई के प्रति उसको अगाध प्रेम था। उससे उत्पन्न पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी हुआ। वास्तव में यह वेश्याओ और हिजडो का ही युग था। इन्ही लोगो का दरवार में सम्मान था। इस सबव में एक

घटना उल्लेखनीय है। एक वार जहाँदार शाह के विलासपूर्ण जीवन तथा उसकी रखेल लालकुँवर के सवधियो के प्रति पक्षपात से रुष्ट हो कर उसके प्रधान मत्री ने एक दिन मारे सितार सम्राट के सम्मुख भेंट के रूप में रखे। जव आश्चर्य से चकित होकर सम्राट ने पूछा कि इस प्रकार की भेंट का क्या अर्थ है, तो मत्री ने उत्तर दिया कि जव दरवार में केवल गायको और वादको की ही पूछ है और उन्ही को सम्राट पदासीन करते है तो यह भेंट उपयुक्त ही है। यह है शासक-वर्ग की जीवनचर्या तथा चरित्र की एक झांकी! प्रजा ने भी इसी का अनुसरण किया। विलासमय जीवन ही इस समय के लोगो को सुहाने लगा और उनकी भावनाओ को सतुष्ट करने के लिए ही साहित्य-कारो ने अपनी रचनाएँ की। गजलो का वाह्य रूप तो सूफी-परम्परा के अनुकूल ही रहा, लेकिन उनके आन्तरिक भावार्थ की काया वदल गई। इश्क हकीकी और मजाजी का भेद ही खत्म हो गया। फारसी कवियो की शैली का अनुसरण तो किया गया, परतु उनके आदर्शवाद तथा अध्यात्मवाद को तिलाजलि दे दी गई।

धर्म तथा कला के क्षेत्रो में भी इसी प्रकार अवनति होने लगी। रूढिवाद तथा आडम्वर ने जनता को ग्रस्त कर लिया, यद्यपि यह मानना पडेगा कि असहिष्णुता की व्यापकता में वहुत कमी आ गई थी। जव प्रधान मत्री निजामुल्मुल्क ने सम्राट के सामने हिन्दुओ पर जजिया लगाने का प्रस्ताव रखा, तो उसको न माना गया। सैयद भाइयो के हिमायती अधिकतर हिन्दू ही थे। पजाव से लेकर वगाल तक सरकारी और गैर-सरकारी आर्थिक सस्थाओ के सचालन का कार्य हिन्दुओ के ही हाथ में था। परन्तु इस परिस्थिति से हिन्दू वर्ग अधिक लाभ न उठा सका और न प्रगति की ओर अग्रसर ही हो सका। वास्तव में यह समय निराशा और अन्धकार का था। वाह्य आक्रमणो और आन्तरिक आन्दोलनो के कारण समस्त प्रायद्वीप व्याकुल हो रहा था। यही परिस्थिति अगली शताब्दी में भी रही।

३. नाथपंथी साहित्य

नाथपथ और उसका विस्तार

साप्रदायिक ग्रथो में नाथपथ के अनेक नाम मिलते है जिनमें नाथमार्ग, सिद्धसप्रदाय आदि मुख्य है। इस मार्ग के आदि प्रवर्तक आदिनाथ माने जाते है जो वस्तुत साक्षात् शिव ही है। आदिनाथ के शिष्य मच्छदनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ या गोरक्ष-नाथ। इन दिनो नाथमत का जो रूप जीवित है वह मुख्यत गोरखनाथी योगियो का सप्रदाय है जिन्हे साधारणत कनफटा योगी या बारहपथी योगी कहते है। इन्ही साधुओ को दरसनी साधु भी कहते है। कनफटा और दरसनी नामो का कारण यह है कि ये लोग कान फाड कर एक प्रकार की मुद्रा धारण करते है। मुद्रा के कारण ही ये लोग दरसनी कहे जाते है। यह मुद्रा नाना धातुओ की भी बनती है, हाथी दाँत की भी होती है और अधिक धनी महत लोग सोने की मुद्रा भी धारण करते है।

आज भी कनफटा साधुओ की सख्या बहुत है। सारे भारतवर्ष और सुदूर अफगानिस्तान तक इनके मठ और दरगाह है और हिन्दू तथा मुसलमान दोनो ही सप्रदायो में इनके अनुयायी काफी बडी सख्या में पाए जाते है। ब्रिग्स ने अपनी बहुमूल्य अग्रेजी पुस्तक 'गोरखनाथ ऐन्ड कनफटा योगीज' में भिन्न-भिन्न कालो की मनुष्य-गणना के विवरणो से इनकी सख्या का हिसाब बताया है। सन १८९१ की मनुष्य-गणना में सारे भारत में योगियो की सख्या २१४५४६ थी जिनमें औघडो को लेकर गोरखपथी योगियो की सख्या लगभग ४५ प्रतिशत थी। औघड उन योगियो को कहते है जिनका कान फाडने वाला सस्कार नही हुआ रहता। इस रिपोर्ट के अनुसार पुरुष और स्त्रियो की सख्या का अनुपात ४२ और ३५ था। इन योगियो में मुसलमान कम नही हैं। उस वर्ष अकेले पजाब में ३८ हजार से ऊपर योगी मुसलमान थे। सन १९२१ की मनुष्य-गणना में हिन्दू योगियो की सख्या लगभग ६३० हजार थी, मुसलमान योगियो की ३१ हजार और फकीर योगियो की १४१ हजार। मनुष्य-गणना की परवर्ती रिपोर्टों में इनका अलग से उल्लेख नही मिलता। लगभग समूचे भारतवर्ष में नाथमत के गृहस्थ अनुयायी पाए जाते है जो कही-कही तो अलग जाति ही बन गए है और कही-कही विशेष-विशेष जातियो को सपूर्ण रूप से आत्मसात कर गए है। साधारणत वयनजीवी जातियाँ, जैसे ताती, जुलाहे, गडेरिए, दरजी आदि इस मत के अनुयायी हैं। हमने अपनी 'नाथसप्रदाय' नामक पुस्तक में इस मत के प्रसार की चर्चा कुछ अधिक विस्तार से की है।

हिन्दी में इन योगियो का साहित्य बहुत थोडा ही पाया गया है। बगला, उडिया, मराठी, नैपाली, पजाबी, आदि पार्श्ववर्तिनी भाषाओ में इनका या इनके द्वारा प्रभावित सप्रदायो का साहित्य कुछ-कुछ पाया जाता है। सस्कृत और अपभ्रश में भी इनके साहित्य का सधान मिलता

है। लोकगीतो और कथानको में इनकी चर्चा मिलती है। इन सारी बातो से सिद्ध होता है कि किसी समय समूचे उत्तर भारत में इनका बडा प्रभाव था। दक्षिण में भी इस प्रभाव का कुछ-कुछ पता लगता है। परवर्ती साहित्य के अध्ययन के लिए इनकी जानकारी बहुत आवश्यक है।

बारहपंथ

गोरखनाथी लोग मुख्यत बारह शाखाओ में विभक्त है। अनुश्रुति के अनुसार स्वय गोरखनाथ ने ही परस्पर विच्छिन्न नाथपथियो का सगठन करके इन्हे बारह शाखाओ में विभक्त कर दिया था। ये बारह पथ है—सतनाथी, धर्मनाथी, रामपथ, नटेश्वरी, कन्हड, कपिलानी, वराग, माननाथी, आईपथ, पागलपथ, धजपथ और गगानाथी। एक दूसरी परपरा के अनुसार बारह पथो के नाम इस प्रकार है—सतनाथ, रामनाथ, धरमनाथ, लक्ष्मणनाथ, दरियानाथ, गगानाथ, बैराग, रावल या नागनाथ, जालधरिपा, आईपथ, कपिलानी और धजनाथ। एक तेरहवां पथ भी है कानिपा। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है, पर आज की बारहपथी शाखा के बाहर है। इन बारहपथो के कारण ही शकराचार्य-प्रवर्तित दशनामी सन्यासियो की भांति इन्हे बारहपथी योगी कहते हैं। हाल में की गई खोजो से पता चला है कि ऐसे भी गोरखपथी योगी है जिनका सबध इन पथो से नही है। प्रत्येक पथ का एक-एक निजी स्थान है जिसे ये लोग पुण्य क्षेत्र मानते है।

एक अनुश्रुति के अनुसार शिव जी ने १२ पथ चलाए थे और गुरु गोरखनाथ ने भी १२ ही पथ चलाए थे। ये दोनो दल आपस मे झगडने लगे थे। गोरखनाथ ने इसीलिए शिव के ६ सप्रदायो को और अपने ६ सप्रदायो को तोड दिया था और बाकी बारह पथो को प्रतिष्ठित कर के आज की बारहपथी शाखा का प्रवर्तन किया था। यह कहानी पागलबाबा नामक एक औघड साधु से सुनी हुई है। ब्रिग्स ने किसी और मूल से प्राप्त एक इसी प्रकार की कहानी लिखी है। उसके अनुसार शिव के अठारह सप्रदाय थे और गोरखनाथ के बारह। वे आपस में झगडते रहते थे। इसलिए गुरु गोरखनाथ ने शिव के बारह सप्रदायो को तोड दिया था और अपने भी छ सप्रदायो को भग कर दिया था। इस प्रकार जो बारह सप्रदाय रह गए है उनमें छ तो शिव जी प्रवर्तित है और छ गुरु गोरखनाथ के। इन बारहो सप्रदायो को गोरखनाथ का अनुमोदन प्राप्त था, इसलिए ये अपने को गोरखनाथ के अनुयायी ही मानते हैं।

पुनर्गठित बारह सप्रदाय इस प्रकार है —

१. शिव जी के प्रवर्तित सप्रदाय

१ भुज (कच्छ) के कठरनाथ
२ पेशावर और रोहतक के पागलनाथ
३ अफगानिस्तान के रावल
४. पख या पक
५ मारवाड के बन
६ गोपाल या राम के सतोपनाथ तथा दासगोपालनाथ

२. गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय

७ हेठनाथ
८ आईपथ के चोलीनाथ
९ चाँदनाथ कपिलानी
१० मारवाड का वैरागपथ और रतननाथी
११ जयपुर के पावनाथ
१२ धजनाथ महावीर

उक्त सूची सर्वसम्मत नही समझी जानी चाहिए। सप्रदाय-विशेष का दावा कभी-कभी दूसरे ही प्रकार का हो सकता है। जो हो, ये सब पुराने विभाग है। आधुनिक विभाग तो ऊपर गिनाए ही जा चुके है। इनके बाहर भी अनेक नाथपथी सप्रदाय हैं। हाडीभरग, कायिकनाथ, चर्पटनाथी, गैनीनाथी, आरजपथ, पीतमनाथी, निरजननाथ, कामधज, अर्धनारी, नायरी, अमरनाथ, तारकनाथ, भृगनाथ आदि अनेक उपशाखाएँ ऐसी है जिनका बारह पुराने या नए पथो से सीधा सबध नही खोजा जा सका है।

यह विवरण विशेष रूप से यहाँ इसलिए उपस्थित किया गया कि इन परपराओ में नाथ-सप्रदाय के सगठन के मूल इतिहास का आभास मिलता है जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह तो कभी देखा नही गया कि एक ही गुरु अपने नाम से बारह पथो का प्रवर्तन करे और बाद मे फिर उनमें से कुछ को तोड दे और कुछ को रहने दे। ऐसा जान पडता है कि गोरखनाथ के पहले अनेक शैव और योगी सप्रदाय थे जो परस्पर लडते रहते थे। गोरखनाथ ने उनको नए सिरे से सगठित किया था। इन पथो की अनुश्रुतियो और स्वल्प उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से इस मत की पुष्टि होती है। हमने अपनी पुस्तक 'नाथ सप्रदाय' में इस बात की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। यहाँ उतने विस्तार में जाने की जरूरत नही है। सक्षेप मे इतना कहना ही पर्याप्त है कि इस मत में बौद्ध, जैन, वैष्णव, कापालिक, कौल, आदि सभी प्रकार की साधनाओ का अन्तर्भाव हुआ था। इसीलिए इनके साहित्यिक प्रयत्नो में सब का कुछ-कुछ प्रभाव रह गया है। पारसनाथी और नीमनाथी शाखा के योगियो का सबन्ध जैन-परपरा से है, कपिलानी या कपिलायन शाखा का वैष्णव-परपरा से, जालधरिपा और कानिपा का बौद्ध और कापालिक परपरा से और मच्छदनाथी तथा कई अन्य उपशाखाओ का सम्बन्ध कौल और शाक्त साधनाओ से है। पच्छिम के रावल वस्तुत पाशुपत-मत के अवशेष है और बारह पथो से अलग माना जानेवाला वामारग अपने नाम में ही वाममार्ग की छाप लिए हुए है।

बहुत से पुराने सप्रदायो के इस मार्ग मे आ जाने के कारण उनके प्रवर्तक मूल आचार्य भी सप्रदाय के सिद्ध मान लिए गए है। इसका फल यह हुआ है कि गोरक्षनाथ आदि का समय बहुत विवाद का विषय बन गया है, क्योकि ऐसे अनेक सिद्ध गोरखनाथी माने जाते है जिनके विषय में निश्चित प्रमाण है कि वे बहुत प्राचीन है। फिर, ऐसे भी ऐतिहासिक व्यक्तियो के साथ गोरखनाथ का सम्बन्ध बताया जाता है जिनके विषय में निश्चित रूप से परवर्ती होने के प्रमाण है। सप्रदाय की अनुश्रुति इन विवादो को आसानी से सुलझा देती है।

चौरासी सिद्ध

नाथपथ ममूचे भारतवर्ष में और अफगानिस्तान में भी फैला हुआ है। इसीलिए भारतवर्ष की प्राय सभी देशभाषाओ में नाथपथी सिद्धो की कुछ-न-कुछ चर्चा है। प्राय सभी प्रान्तो में इस जाति के साहित्य में एक बात विशेष रूप से सामान्य है। सप्रदाय के मूल प्रवर्तक आदिनाथ या स्वय महादेव है। उनकी दो शिष्य-परपराएं है। प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छदरनाथ) और गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) की और दूसरी जालधरनाथ (जालधरपाद) और कृष्णपाद (कान्ह, कानू, कानफा, कानिपा) की। कभी-कभी जालधरनाथ को भी मत्स्येंद्रनाथ का शिष्य बताया गया है, पर अधिकाश अनुश्रुतियां यही बताती है कि जालधरनाथ या जालधरपाद तथा उनके शिष्य कृष्णपाद स्वतत्र मतो के प्रवर्तक थे। ये ही मूल पथ-प्रवर्तक हैं। तिब्बत से जो बौद्ध सहज और वज्रयान मत के चौरासी सिद्धो की सूची पाई गई है, उनमें इन चारो ही आचार्यो के नाम पाए जाते हैं। इनके लिखे हुए अनेक ग्रथो के तिब्बती अनुवाद भी प्राप्य है।

नाथमत के चौरासी सिद्धो की सबमे प्राचीन सूची 'वर्णरत्नाकर' नामक मैथिल ग्रथ की है। यह पुस्तक एशियाटिक सोमायटी की लाइब्रेरी में सुरक्षित है। यह तालपत्र पर लिखी गई है। इसका लिपि-काल लक्ष्मण सवत ३८८ दिया हुआ है। ग्रथ के लेखक कविशेखराचार्य ज्योतिरीश्वर है, जो मिथिला के राजा हरिसिंह देव (सन १३००—१३२१ ई०) के सभासद थे। हाल ही में डा० सुनीतिकुमार चटर्जी और प० बबुआ मिश्र ने सपादन करके इसे एशियाटिक सोसायटी से प्रकाशित कराया है। इस पुस्तक में जिन नाथ सिद्धो का उल्लेख है उनकी सख्या वस्तुत ७६ या ७७ है, यद्यपि शुरू में चौरासी की ही सख्या दी हुई है। जान पडता है कि लिपिकार के प्रमाद से कुछ नाम छूट गए हैं। नाम निम्न प्रकार है। ये नाम स्व० प० हर प्रसाद शास्त्री की सूची (बौ० गा० दो०) के अनुसार हैं। मुद्रित पुस्तक में कुछ पाठ-भेद है। टिप्पणी में मुद्रित पुस्तक के पाठ दिए गए है —

१. मीननाथ[1], २ गोरक्षनाथ, ३ चौरगीनाथ, ४ चामरीनाथ, ५ ततिपा, ६ हालिपा[2], ७ केदारिपा, ८ धोगपा, ९ दारिपा, १० विरूपा, ११ कपाली, १२ कमारी, १३ कान्ह[3], १४ कनखल[4], १५ मेखल, १६ उनमन, १७ कान्डलि[5], १८ धोबी, १९ जालधर, २० टोगी[6], २१ मवह, २२ नागार्जुन, २३ दौली, २४ भिपाल[7], २५ अचिति, २६ चपक[8], २७ ढेण्टस[9], २८ मुम्बरी[10], २९ वाकलि[11], ३० तुजी[12], ३१ चर्पटी, ३२ भादे, ३३ चादन, ३४ कामरी, ३५ करवत, ३६ धर्मपापतग[13], ३७ भद्र[14], ३८ पातालिभद्र, ३९ पालिहिद[15], ४० भानु[16], ४१ मीन[17], ४२ निर्दय, ४३ सवर, ४४ सान्ति, ४५ भर्तृहरि, ४६ भीषण, ४७ भटी, ४८ गगनपा, ४९ गमार, ५० मेनुरा[18], ५१ कुमारी, ५२ जीवन, ५३ ऊवोमानव[19], ५४ गिरिवर,

---

१ मीलनाथ, २. हलिपा, ३. कान्हफन, ४ खल, ५. कान्तलि, ६ डोगी, ७ भिषरिग, ८ इनके बाद मेदिनि, ९. चेंटत, १०. भूसुरि, ११ धाल्लि, १२ फूजी, १३. धर्मपापतंगभद्र, १४. नहीं है, १५ पालिहिह, १६ भा, १७ मीनो, १८. मेण्टस, १९. अचो-

५५ सियारी, ५६ नागवालि, ५७ विभवत्[20], ५८ सारग, ५९ विविकिधज, ६० मकरधज, ६१ अचित, ६२ विचित, ६३ नेचक[21], ६४ चाटल, ६५ नाचन[22], ६६ भीलो, ६७ पाहिल, ६८ पासल, ६९ कमलकगारि[23], ७० चिपिल, ७१ गोविन्द, ७२ भीम, ७३ भैरव, ७४ भद्र, ७५ भामरी, ७६ भुरुकुटी। यदि ३६वें सिद्ध धर्मपापतग का धर्मपा और पतग इन दो नामो का मिश्रण मान लिया जाय तो सख्या ७७ हो सकती है।

इनमें अनेक सिद्ध ऐसे हैं जो वज्रयान के चौरासी सिद्धो से अभिन्न है। वज्रयान के चौरासी सिद्धो के नाम श्री राहुल साकृत्यायन ने इस प्रकार लिखे है —

१ लूइपा, २ लीलापा, ३ विरूपा, ४ डोम्बिपा, ५ शवरपा, ६ सरहपा, ७ कका-लीपा, ८ मीनपा, ९ गोरक्षपा, १० चौरगिपा, ११ वीणापा, १२ शन्तिपा, १३ ततिपा, १४ चमरिपा, १५ खड्गपा, १६ नागार्जुन, १७ कन्हपा (चर्यपा), १८ कर्णरिपा (आर्यदेव), १९ थगनपा, २० नरोपा, २१ शलिपा (शीलपा), २२ तिल्लोपा, २३ छत्रपा, २४ भद्रपा, २५ दोखधिपा, २६ अजोगिपा, २७ कालपा, २८ धोमिपा, २९ ककणपा, ३० कमरिपा, ३१ डेंगिपा, ३२ भदेपा, ३३ तधे (ते) पा, ३४ कुकुरिपा, ३५ कुचिपा, ३६ धर्मपा, ३७ महीपा, ३८ अचितिपा, ३९ भलहपा, ४० नलिनपा, ४१ भृमुकपा, ४२ इद्रभूति, ४३ मेकापा, ४४ कुठालि (कुद्दालि) पा, ४५ कर्मरिपा, ४६ जालधरपा, ४७ राहुलपा, ४८ धर्वरिपा, ४९ धोकरिपा, ५० मेदनीपा, ५१ पकजपा, ५२ वज्र (घटा) पा, ५३ जोगीपा (अजोगिपा), ५४ चेलुकपा, ५५ गडरिपा, ५६ लुचिकपा, ५७ निर्गुणपा, ५८ जयानन्त, ५९ चर्पटीपा, ६० चपकपा, ६१ भिखनपा, ६२ भालिपा, ६३ कुमरिपा, ६४ चवरिपा, ६५ मणिभद्रा, ६६ मेखलापा, ६७ कनखलापा, ६८ कलकलपा, ६९ कता (था) लीपा, ७० धहुलि (रि) पा, ७१ उधलिरिपा, ७२ कपाल (कमल) पा, ७३ किलपा, ७४ सागरपा, ७५ सर्वभक्षपा, ७६ नागबोधि पा, ७७ दारिकपा, ७८ पुतुलिपा, ७९ पनहपा, ८० कोकालिपा, ८१ अनगपा, ८२ लक्ष्मीकरा, ८३ समुदपा, ८४ भालि (व्यालि) पा।

(पुरातत्व निबधावली, पृष्ठ १४८-१५४)

इन वज्रयानी सिद्धो में कम से कम तैंतीस नाम ऐसे है जो नाथपथी चौरासी सिद्धो में भी गृहीत है (वज्रयानी सिद्ध स० ३, ५, ८, ९, १०, १२, १३, १६, १७, १९, २१, २४, २८, ३०, ३१, ३२, ३६, ३८, ४४, ४५, ४६, ५०, ५९-६७, ७२ और ७६)।

'प्राणसगली' में तथा परवर्ती सत साहित्य में कुछ ऐसे नाथ सिद्धो के नाम पाए जाते हैं, जिन्हें चौरासी सिद्धो में तो माना गया है, पर 'वर्णरत्नाकर' की सूची में उनका कोई उल्लेख नही है। सभवत छूटे हुए नामो में इनमें से कुछ रहे हो। निम्नलिखित सिद्धो के नाम परवर्ती हिन्दी साहित्य में मिल जाते है—

परबत सिद्ध, ईश्वरनाथ, घुघूनाथ, चपानाथ, खिथडनाथ, झगारनाथ, धर्मनाथ, ऊरमनाथ, मगलनाथ, प्राणनाथ। विशेष विस्तार के लिए मेरा 'नाथ सम्प्रदाय' नामक ग्रथ द्रष्टव्य है।

साधर, २०. धिभरह, २१. नेवक, २२. नायन, २३. दो नाम है, कमल और कगरी।

योगियो के अनेक उपसप्रदायो के प्रवर्तक अवश्य ही असाधारण योगी रहे होगे। यह खेद की बात है कि उनके लिखे हुए साहित्य का पता नही लगता। सतनाथ, सतोपनाथ, गरीवनाथ, कायानाथ (कायमुद्दीन), लक्ष्मणनाथ (वालनाथ), दरियानाथ, जाफरपीर, चोलीनाथ, करकाई (कर्कनाथ), भूष्टाई (शभूनाथ), मस्तनाथ, रतननाथ, माईनाथ, पावनाथ, धजनाथ आदि सन्तो के नाम से उपसप्रदाय है। पुराने आचार्यो के साथ इनका सवध भी जोडा जाता है। परन्तु 'वर्ण-रत्नाकर' में इनकी चर्चा न आने के कारण अनुमान किया जा सकता है कि ये चौदहवी शताब्दी में या उसके वाद हुए। इनमें से किसी-किसी के नाम से छिटपुट पद्य इधर-उधर मिल जाते है, नही तो किसी व्यवस्थित साहित्य का इनके द्वारा रचित या प्रचारित होने का कोई सवूत नही मिलता।

पथ के मूल प्रवर्तको के लिखे हुए सस्कृत और लोकभाषा के ग्रथ पाए गए है। नीचे सक्षेप में उन पर से सगृहीत ऐतिहासिक तथ्यो की विवेचना की जा रही है।

मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छंदरनाथ

जैसा कि शुरू में ही वताया गया है, सव प्रकार की अनुश्रुतियो और दन्तकथाओ में मत्स्येन्द्रनाथ और उनके शिष्य गोरखनाथ और जालधरनाथ और उनके शिष्य कृष्णपाद (कानफा, कानिपा, कान्हपा आदि) ये चार सिद्ध नाथपथ के प्रथम चार प्रवर्तयिता माने जाते है। मत्स्येन्द्र और जालधर आदिनाथ के शिष्य माने जाते है, जो वस्तुत शिव है। नैपाल में मत्स्येन्द्रनाथ को अवलोकितेश्वर वुद्ध का अवतार माना जाता है। वस्तुत मत्स्येन्द्रनाथ इस परपरा के सर्वमान्य आदि आचार्य है, ये कौलज्ञान के अवतारक माने जाते है। इनके विषय में अनेक दन्तकथाएँ पाई जाती हैं। काश्मीर शैव सप्रदाय में भी इनका नाम वडे सम्मान से लिया जाता है। इनका वास्तविक नाम क्या था, यह कह सकना कुछ कठिन है। वहुत प्राचीन पुस्तको में इनके नाम कई प्रकार लिखे गए है। 'तत्रालोक' में इन्हे मच्छन्द कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित कुछ पुस्तकें नैपाल दरवार लाइब्रेरी में सुरक्षित है। उनमें एक 'कौलज्ञान निर्णय' है। इसकी लिपि को देख कर स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि यह लिखावट सन ईसवी की नवी शताब्दी की होगी। इधर डा० प्रवोधचन्द्र वागची महाशय ने इन पुस्तको को सपादित करके प्रकाशित किया है। आपके मत मे 'कौलज्ञान निर्णय' की लिखावट ग्यारहवी शताब्दी की होनी चाहिए। इन पुस्तको में मत्स्येन्द्रपाद, मच्छन्दरपाद, मच्छेंद्रपाद, मीनपाद, मच्छिन्द्रनाथपाद, आदि कई नाम मिलते है। जान पडता है कि मूल नाम मच्छिन्द्र जैसा कुछ प्राकृत ही था जिसे नाना भाव से सस्कृत रूप देने का प्रयत्न किया गया है। मच्छघ्न नाम से यह भी मालूम होता है कि ये मछली मारने वाले थे। 'कौलज्ञान निर्णय' में वताया गया है कि एक वार कार्तिकेय ने कुल शास्त्र को चुरा कर समुद्र में फेंक दिया था और उसे एक मत्स्य खा गया था। स्वय भैरव ने समुद्र में प्रवेश कर के मत्स्येन्द्र का रूप धारण किया और मछली का उदर विदीर्ण कर के 'कुल शास्त्र' का उद्धार किया था। अभिनव गुप्त ने कहा कि (तत्रा० १, ७) आतान-वितानात्मक जाल को छिन्न करने के कारण ही उनका नाम मच्छन्द पडा था। परवर्ती ग्रन्थो में वरावर मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ दोनो नाम एक ही सिद्ध के लिए प्रयुक्त किए गए है। परन्तु 'हठयोग प्रदीपिका' में मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ दो व्यक्ति वताए गए हैं। 'योगिसप्रदायाविष्कृति' में मीननाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र वताया गया है (पृ० २२७ के आगे), परन्तु तिव्वती अनुश्रुति के अनुसार

मीननाथ ही मत्स्येन्द्रनाथ के पिता थे (बौद्धगान ओ दोहा पृ० ४,॥।≡)। डा० बागची इन बातो को परवर्ती कल्पना बताते है और मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ को एक ही व्यक्ति मानते है, क्योकि 'कौलज्ञान निर्णय' की पुष्पिका में मत्स्येन्द्रपाद और मीनपाद नाम से एक ही ग्रथकार को कई बार कहा गया है। इन दोनो नामो से एक ही व्यक्ति का बोध होना चाहिए, क्योकि 'तत्रालोक' की टीका में जयद्रथ ने दो पुराने श्लोक उद्धृत किए है, जिनके अनुसार शिव जी ने कहा था कि मीन नामक महासिद्ध मच्छन्दर ने कामरूप में मुझसे योग पाया था ('तत्रालोक' टीका, पृष्ठ २४)। यही मच्छन्दर सकल कुल शास्त्रो के अवतारक थे। 'गोरक्ष शतक' के दूसरे श्लोक में गोरक्षनाथ ने मीननाथ की ही वदना की है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ एक ही थे।

किसी-किसी ने बौद्ध आदिसिद्ध लुईपाद (लुई = लोहित = रोहित) और मत्स्येन्द्रनाथ को एक ही सिद्ध बताने का प्रयत्न किया है, जो बाद मे प्रत्याख्यात हो गया है (हरप्रसाद शास्त्री, बौ० गा० दो०, पृ० १६)। नैपाल दरबार लाइब्रेरी में 'नित्याह्निक तिलक' नामक पुस्तक सुरक्षित है। इसमें पच्चीस कौल सिद्धो के नाम, जाति, जन्मस्थान आदि का विवरण दिया हुआ है। डा० प्रबोधचन्द्र बागची महाशय ने अपनी पुस्तक की भूमिका में इस सूची को उद्धृत किया है। इससे जान पडता है कि मत्स्येन्द्रनाथ का मूलनाम विष्णु शर्मा था, जाति ब्राह्मण थी, जन्मभूमि बारण, बगदेश थी। 'कौलज्ञान निर्णय' में इन्हे चन्द्रद्वीप का निवासी कहा गया है। यह चन्द्रद्वीप कहाँ था, इस विषय में विद्वानो में मतभेद है। कुछ लोग वर्तमान सुन्दरबन को चन्द्रद्वीप कहते है (क्योकि चन्द्र या चदर ही 'सुदर' बन गया है) और कुछ लोग नोआखाली जिले में मानते हैं। एक और मत यह है कि चन्द्रद्वीप आसाम का कोई पहाडी स्थान है, जो ब्रह्मपुत्र नदी के बहाव से घिर कर द्वीप जैसा बन गया है। कहते है, अब भी योगी लोग तीर्थ करने के लिए उस स्थान पर जाया करते है। यह कामरूप से बहुत दूर नही है। 'दलाकरजोपम' नामक भोट ग्रन्थ से भी पता चलता है कि चन्द्रद्वीप लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी का कोई द्वीप है ('गगा' पुरातत्त्वाक, पृ० २२४)। परन्तु 'कौलज्ञान निर्णय' से जान पडता है कि चन्द्रद्वीप कही समुद्र के आस-पास था। जो हो, इतना निश्चित है कि मत्स्येन्द्रनाथ बगाल के किसी स्थान के रहने वाले थे और कामरूप में साधना करते थे। दन्तकथाओ में बताया गया है कि एक बार वे कदलीवन या कजरीवन में योगिनी स्त्रियो के मायाजाल में फँस गए थे। उनके शिष्य गोरक्ष या गोरखनाथ ने उस जाल से उनका उद्धार किया था। सारे भारतवर्ष में यह कहानी नाना भाँति से प्रचलित है। हमने अपन 'नाथ सप्रदाय' नामक ग्रन्थ में इन कहानियो का विस्तारपूर्वक सग्रह किया है।

मत्स्येन्द्रनाथ की चार पुस्तकें डा० बागची ने प्रकाशित की है। चारो सस्कृत में है। इनकी भाषा बहुत विकृत है और अनेक स्थानो पर दुर्बोध भी। ये चार पुस्तकें है—'कौलज्ञान निर्णय', 'अकुल वीरतत्र' (दो रूपो में उपलब्ध), 'कुलानद' और 'ज्ञान कारिका'। ये कौल ज्ञान की पुस्तकें है। 'कुल' शक्ति को कहते हैं और 'अकुल' शिव को। कौलज्ञान एक प्रकार का शाक्त शास्त्र है।

'कौलज्ञान निर्णय' की लिपि ग्यारहवी शताब्दी की है, इससे इतना निश्चित है कि मत्स्येंद्र-नाथ ग्यारहवी शताब्दी से पहले हुए थे। फिर अभिनव गुप्त ने (दसवी शताब्दी के अन्त और ग्यारहवी के आरम्भ मे) इनका नाम 'तत्रालोक' में लिया है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये दसवी

शताब्दी के पहले ही हो चुके थे। राहुल जी ने चौरासी सिद्धो की सूची प्रकाशित की है, जिसमें मीनपा नामक सिद्ध, जिसे तिब्बती परपरा में मत्स्येन्द्रनाथ का पिता कहा गया है, राजा देवपाल (८०९-८४९ ई०) का समकालीन बताया गया है। इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवी शताब्दी के मध्यभाग से लेकर अन्त्यभाग तक हो सकता है। जालधरनाथ के शिष्य कन्हपा (कृष्णपाद) भी देवपाल के समकालीन थे। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में कथडी नामक सिद्ध को (जो गोरक्षनाथ के शिष्य थे) मूलराज (नवी शताब्दी ई० का मध्यभाग) का समसामयिक बताया गया है। इस प्रकार इन सभी प्रमाणो पर विचार करने से यही मालूम होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ईसवी सन की नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे या मध्यभाग में वर्तमान थे। दन्तकथाओ से स्पष्ट है कि वे किसी समय ऐसी साधना में लगे थे जिसमें स्त्रियो का साहचर्य ही प्रधान था जो ब्रह्मचर्य मार्ग के अनुकूल नहीं था। वह स्थान जहाँ वे इस प्रकार की साधना मे निमग्न थे, हिमालय के पाददेश में कहीं अवस्थित था और कामरूप से बहुत दूर नही था। उसे कदली या कजरी वन कहते थे। उनके शिष्य गोरखनाथ ने उस माया जाल से उनका उद्धार किया था। वे चन्द्रद्वीप के निवासी थे और सभवत शुरू-शुरू मे मछली मारने का व्यवसाय करते थे। इन्हे तत्रो में कौलज्ञान का अवतारक माना जाता है। मत्स्येन्द्रनाथ या मच्छदरनाथ के नाम से सन्त-सग्रहो में कुछ हिंदी पद भी प्राप्त होते है। इन पदो का सग्रह मैंने 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' में कर दिया है जो नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई है।

जालधरनाथ और कृष्णपाद

कृष्णपाद के अनेक दोहे और पद उपलब्ध हुए है। एक पद मे उन्होने अपने को कापालिक (कपाली) कहा है और अपने को जालधरपाद का शिष्य बताया है। जालधरपाद कापालिक मत के प्रवर्तक जान पडते है। इनके और इनके शिष्य कृष्णपाद के अनेक सस्कृत ग्रथो के तिब्बती अनुवाद प्राप्य है।

समूचे भारतवर्ष में नाथ योगियो में जो कथाएँ प्रचलित है उनसे सिद्ध होता है कि ये मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुभाई थे, पर एक तिब्बती परपरा में ये मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु भी माने जाते है। जो हो, इतना निश्चित है कि ये मत्स्येन्द्रनाथ के समसामयिक थे। तिब्बती परपरा के अनुसार नगरभोग देश में ब्राह्मण कुल मे इनका जन्म हुआ था। पीछे ये एक अच्छे पडित भिक्षु बन गए। बाद में घटापाद के शिष्य कूर्मपाद की सगति में आकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। इनके मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र, कन्हपा और ततिपा थे।

'योगि-सम्प्रदायाविष्कृति' में इन्हे हस्तिनापुर के राजा बृहद्रथ की यज्ञाग्नि से उत्पन्न बताया गया है। उस ग्रन्थ के अनुसार ज्वाला से उत्पन्न होने के कारण ही इनका नाम ज्वालेन्द्रनाथ पड़ा था जो बाद में विकृत होकर जालधर बन गया। यह बात परवर्ती कल्पना जान पड़ती है, क्योंकि सभी प्राचीन पुस्तकों में इनका नाम जालधरनाथ ही मिलता है। इस नाम पर से अनुमान किया जा सकता है कि या तो ये जालधर पीठ में उत्पन्न हुए थे या सिद्ध हुए थे। कहते हैं कि हठयोग में जो जालधर बध है वह उनका ही प्रवर्तित है। जालधर पीठ पजाब में है। फिर भी यह जोर देकर नही कहा जा सकता कि इनका जन्मस्थान पजाब में ही रहा होगा। तनजुर में इनके लिखे

सात ग्रन्थो का उल्लेख है जिनमें राहुलजी के मतानुसार दो पुस्तकें मगही भाषा की हैं—१ 'विमुक्त मजरी गीत' और २ 'हुकार चित्त विन्दुभावना क्रम'। मगही भाषा मे लिखित ग्रन्थो को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि मूलरूप में ये पूर्वी प्रदेशो के निवासी थे। परन्तु कृष्णपाद ने इन्हे बराबर जालधरिपा कहा है और पुस्तको में जालधरि नाम पाया जाता है जिससे जान पडता है कि यह विशेषण पद इन्हें जालधर पीठ से सबद्ध (जालधर वाले) सिद्ध करता है।

जालधरनाथ के प्रधान शिष्य कृष्णपाद (कृष्णाचार्यपाद, कान्हपा, कानपा, कानफा थे)। तिब्बती परपरा के अनुसार राहुल जी ने इन्हे कर्णाट देशीय ब्राह्मण कहा है और डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने उडीसा देशवासी। म० म० प० हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि तनजुर मे इन्हें पद्रह स्थानो पर भारतवासी कहा गया है। केवल एक स्थान पर उडीसा देशीय ब्राह्मण कृष्णपाद कहा है। लेकिन ये मूल ग्रथकार नही, अनुवादक थे और इसीलिए प्रसिद्ध कृष्णाचार्यपाद से भिन्न थे। इनकी लिखी ५७ पुस्तको और १२ सकीर्तन पदो का सधान शास्त्री जी को मिला था। वज्रयानी सिद्धो में इनका स्थान कितना महत्वपूर्ण था, इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि इन्हे महाचार्य, महासिद्धाचार्य, उपाध्याय और मडलाचार्य कह कर सम्मानपूर्वक स्मरण किया जाता है। इन्हे शास्त्री जी बगलाभाषी मानते है, डा० विनयतोष भट्टाचार्य उडियाभाषी और महापडित श्री राहुल साकृत्यायन मगहीभाषी। राहुल जी ने इनके निम्नलिखित ग्रथो को मगही भाषा में लिखा कहा है—१ कन्हपाद गीतिका, २ महाढुण्ढुन मूल, ३ वसन्त तिलक, ४ असवद्ध दृष्टि, ५ बज्रगीत, ६ दोहाकोष। इनके अनेक पद और दोहे "बौद्ध गान ओ दोहा' मे सगृहीत है। डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने इनके दोहाकोष का अलग से भी सपादन किया है।

बगाल मे पाई जाने वाली कथाओ मे जालधरनाथ को हाडीसिद्ध (हाडीपा) से अभिन्न माना गया है। राजा मानिकचन्द की रानी मयनामती इनकी शिष्या थी। मयनामती के पुत्र का नाम गोपीचद या गोविन्दचन्द्र था। माता के उपदेश से इन्होने जालधरनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया था। भर्तृहरि या भरथरी इन्ही रानी मयनामती के भाई थे। किसी-किसी कहानी में बताया गया है कि मयनामती और भरथरी दोनो ने ही गोरखनाथ से दीक्षा ली थी। आगे चलकर गोपीचद और भरथरी दोनो के नाम पर पथ चले हैं। गोपीचद और भरथरी दोनो के वैराग्य-ग्रहण में करुण मानवीय रस होने के कारण इनकी कहानियाँ नाना नामो से समूचे भारतवर्ष में गाई जाती है।

जालधरपाद के देशी भाषा में लिखे हुए पदो का कोई नमूना हमें नही मिला है। महापडित राहुल साकृत्यायन ने नैपाल के बौद्धो में प्रचलित 'चर्यागीति' (चर्चा) पुस्तक से इनका बताया जाने वाला एक पद उद्धृत किया है (पुरातत्व निबधावली पृ० १८४), जिसकी भाषा बहुत बिगडी हुई है। पद इस प्रकार है—

> अखय निरजन अर्द्धय अनु पम गगन कमरजे साधना
> शून्यता विरासित राय श्री चिय देवपान विन्दु समय जोदिता ॥ध्रु०॥
> नमामि निरालव निरक्षर स्वभाव हेतु स्फुरन सप्रापिता।
> सरद चन्द्रसमय तेज प्रकासित जरज चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु०॥

खडग योगावर सादिरे चक्रर्वति मेरुमडल भमलिता।
निर्मल हृदयाकारे चक्रर्वति ध्याविते अहिनिसि शवज्र मय साधना।।ध्रु०।।
आनद परमानद विरमा चतुरानद जे सभवा।
परमा विरमा माझे न छादिरे महासुख सुगत मप्रद प्रापिता।।ध्रु०।।
हे वज्रकार चक्र श्री चक्र सवर अनन्त कोटि सिद्ध पारगता।
श्रीहत वदियाने पूर्णगिरि जालधरि प्रभु महासुख जातहुँ।।ध्रु०।।

परन्तु कृष्णाचार्य के अनेक पद और दोहे ठीक-ठीक मिलते है। उन पर से उनके विश्वास का भी पता चलता है और उनकी भाषा और शैली का भी परिचय मिलता है। कृष्णाचार्य के पदो में उस प्रकार के रूपक बहुत मिलते है जो आगे चलकर नाथपथ तथा निर्गुण सप्रदाय में बहुत प्रचलित हुए थे। जालधरनाथ के कुछ पद सत वानियो के सग्रह में 'जलध्रीपाद के पद' कह कर सगृहीत हुए है(देखिए 'नाथ सिद्धो की वानियाँ')। इन पदो में वे पूर्ण रूप से नाथपथी सिद्ध हो गए है। परन्तु इन रचनाओ की केवल भाषा ही नही वदली है, भाव भी वदले-से जान पडते है। इसकी उलटवासियाँ तो हिन्दी रचनाओ में प्राय नही है। परन्तु चर्यापदो में और दोहो में पाई जाने वाली कृष्णपाद की रचनाओ में भी उन भडका देने वाले वाह्य आवरणो के भीतर योगपरक अर्थ सन्निहित करने की शैली है, जो परवर्ती साहित्य में अत्यधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई है। वस्तुत यह शैली बहुत पुरानी है। वज्रयान में इसे सध्या (सधा ?) भाषा कहते थे। 'बौद्ध गान ओ दोहा' (पृष्ठ १९) में कृष्णाचार्यपाद के एक पद की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है—

नगर वाहिरे डोम्बि तोहारि कुडिया।
छोइ छोइ जाइ सो वाह्मण नाडिया।।
आलो डोम्बि तोहे सम करिव म सग।
निधिण काण्ह कपालि जोइ लाग।।
एक सो पदुम चौपठि पाखुडी।
तहिँ चडि णाचअ डोम्बि वापुडी।।
हालो डोम्बि तो पूछिमि सद भावे।
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावें।।इत्यादि।।

'ऐ डोमिन, नगर के वाहर तुम्हारी कुटिया है, ब्राह्मण का लडका उसे छू-छू चला जाता है। ऐ डोमिन, तुम्हारे साथ सग ही करूँगा। निर्घृण कान्ह कापालिक योगी नगा है। एक पद्म है जिसकी चौसठ पखडियाँ है। उसी पर चढकर डोमिन विचारी नाचती है। ऐ डोमिन, मैं तुमसे सद्भावपूर्वक पूछता हूँ, ऐ डोमिन, तू किनके नाम से आती जाती रहती है ?' यहाँ अवधूती नाडी ही डोमिन है और चचल चित्त ही ब्राह्मण का पुत्र है। स्पर्श भय से यह अभागा भागा फिरता है। विषयो का जजाल ही मानो एक नगर है जिसके वाहर इन अवधूती-वृत्ति डोमिन का वास है। कान्ह कहते है कि ऐ डोमिन, तुम चाहे नगर के वाहर ही रहो, पर निर्घृण कान्ह तो तुम्हारे साथ ही विहार करेगा। कृष्णाचार्य ने अपने 'दोहाकोष' में अन्यत्र वताया है कि शरीर के सर्वोच्च स्थान

में मेरुगिरि है जिसके जालधर नामक शिखर पर चौंसठ दलो का उष्णीश कमल है। डोमिन अर्थात् अवधूती-वृत्ति इसी कमल पर नृत्य करती है।

इस प्रकार जो बात ऊपर-ऊपर से भडका देने वाली है उसका वास्तविक अर्थ योग और समाधि है। कान्ह (कृष्णपाद) जब कहते है कि ये मत्र तत्र एक भी न करो, केवल अपनी गृहिणी को लेकर केलि करो, जब तक तुम अपनी घरनी की जानकारी में निमग्न नही हो जाते तब तक क्या पच क्लेशो से छूट सकते हो?—

एक्क न किज्जइ मत ण तत।
णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिअ घर घरिणी जाव ण मज्जइ।
ताव कि पचवण्ण विरहिज्जई॥

(बौ० गा० दो०, पृ० १३१)

तो वस्तुत इसी अवधूती वृत्ति को अपनाने की बात कहते है। केवल कहने का ढग झकझोर देने वाला है। आगे चल कर नाथमार्ग में यह स्वर ज्यो का त्यो बना रहता है।

जालधरनाथ और कानपाद (कणेरी) के नाम पर कुछ परवर्ती हिन्दी के पद मिलते है (देखिए 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' और 'योग प्रवाह')। ये सम्भवत मूल पदो के अत्यन्त बाद के परिवर्तित रूप है या किसी अन्य कवि ने इनके नाम पर इन पदो की रचना कर दी है। जालधर का एक पद इस प्रकार है—

थोडो खाई सो कलपै झलपै घणो खाइ सो रोगी।
दहू पषा की सधि बिचारै ते कोई बिरला जोगी॥
यह ससार कुबधि का खेत। जब लगि जीवे तब लगि चेत॥
आख्या देखै काना सुणै। जैसा कहै तैसा लुणै॥

इन पदो को सस्कृत में रूपान्तरित करने का भी प्रयास किया गया था।

गोरक्षनाथ या गोरखनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ के सुप्रसिद्ध शिष्य गोरखनाथ या गोरक्षनाथ किस प्रदेश में उत्पन्न हुए थे, इसका कुछ निश्चित पता नही चलता। इनका समय मोटे तौर पर मत्स्येन्द्रनाथ के थोडा बाद का अर्थात सन ईसवी की नवी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। ये अपने युग के सर्वाधिक प्रतिभासपन्न महात्मा थे। समूचे भारतवर्ष तथा अफगानिस्तान, ईरान और चीन में गोरखनाथ के नाम से सबद्ध स्थान बताए जाते है। इनके बारे में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित है जो उनके द्वारा प्रवर्तित योगमार्ग के महत्व के सिवा और किसी विशेष जानकारी का साधन नही है, क्योकि इन दन्तकथाओ के आधार पर जो जानकारियाँ सग्रह की जाती है वे परस्पर बहुत विरुद्ध हैं।

दन्तकथाओ को देखकर विभिन्न लेखको ने इनके जन्मस्थान और समय आदि के विषय में तरह-तरह के अटकल लगाए है। 'योगिसप्रदायाविष्कृति' में इन्हे गोदावरी तीर पर अवस्थित किसी चन्द्रगिरि में उत्पन्न बताया गया है। नैपाल दरबार लाइब्रेरी में एक 'गोरक्ष सहस्रनाम'

नामक स्तोत्र ग्रथ है जिसमें इन्हे दक्षिण देश के 'वडव' सज्ञक देश में प्रादुर्भूत कहा गया है। कुम्म ने एक परपरा का उल्लेख किया है, जिसे ग्रियर्सन साहव ने 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन ऐंड एथिक्स' (पृ० ३२८) में अपने गोरखनाथ विषयक लेख में उद्धृत किया है। इसके अनुसार गोरखनाथ सतयुग में पजाव के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में, द्वापर में द्वारका के भी आगे हुरभुज में और कलिकाल में काठियावाड की गोरखमढी में प्रादुर्भूत हुए थे। वगाल मे यह विश्वास किया जाता है कि गोरखनाथ वगाल के निवासी थे। गोरखपुर के महन्त ने व्रिग्स साहव को वताया था कि गोरखनाथ टिला (जिला झेलम, पजाव) से गोरखपुर आए थे और नैपाल के लोगो का विश्वास है कि वे पजाव से नैपाल ही आए थे। टिला का अनेक कहानियो में वहुत अधिक उल्लेख मिलने से अनुमान किया गया है कि ये पजाव के ही निवासी थे (व्रिग्स, पृ० २२९)। मैंने अपने ग्रथ 'नाथ सम्प्रदाय' में गोरखनाथी साधना के मूल सुर का विस्तृत विवेचन किया है। उस विवेचन पर से मेरा अनुमान है कि गोरक्ष (ख) नाथ निश्चित रूप से ब्राह्मण वश में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण-परपरा में पालित हुए थे। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी शायद ही कभी वौद्ध साधक रहे हो। तिव्वती परपरा में कोई वात पाई जाने मात्र से यह सिद्ध नही होता कि वह प्रामाणिक ही है। वस्तुतः तिव्वती परपरा भी वहुत वाद की है और सव को आंख मूंद कर नही माना जा सकता। तिव्वती ऐतिहासिक तारानाथ ने वौद्धमत से उनका शैवमत में आना वताया है, और उनके कथन से यह भी ध्वनित होता है कि गोरखनाथ का समय सन ई० की वारहवी शताव्दी है। वस्तुत यह मत भ्रामक है। परवर्ती साहित्य में गोरखनाथ के विषय में जो नाना प्रकार की दन्तकथाएँ प्राप्य है उन पर से न तो उनके समय की ही कुछ ठीक धारणा होती है और न अन्य किसी वात की ही। इन दन्तकथाओ को मोटे तौर पर चार श्रेणियो में वांट लिया जा सकता है—१ कवीरदास, गुरुनानक आदि के साथ उनके साक्षात्कार और विचार की जो कथाएँ है उन पर से उनका काल-निर्णय किया जाय (जैसा कि किसी किसी विद्वान ने किया भी है), तो उनका समय चौदहवी शताव्दी या उनके आसपास स्थिर होता है। २ पजाव में प्रचलित गूगा आदि की कथाएँ, पश्चिमी नाथो की अनुश्रुतियाँ, वगाल की शैव परपरा और धर्मपूजा का साहित्य, महाराष्ट्र में प्रचलित ज्ञानेश्वर की गुरु-परपरा आदि पर से विचार किया जाय तो यह काल १२०० ई० के आसपास आता है। इस वात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि १३वी शताव्दी में एक गोरखपथी मठ वर्वाद कर दिया गया था, इसलिये निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि गोरखनाथ इस काल के पूर्व ही हो गए होगे। ३ नैपाल की शैव वौद्ध परपरा के नरेन्द्र देव, उदयपुर के वाप्पा रावल, उत्तर-पश्चिम के राजा रसालू और होदी आदि पर आधारित काल ८वी से ९वी शताव्दी तक के काल की ओर इशारा करते है और ४ नैपाल में प्रचलित कुछ अनुश्रुतियाँ किसी और भी पुराने काल की ओर सकेत करती है। ये सभी तिथियाँ ठीक नही हो सकती। हमने मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसग में उनका जो काल निश्चय किया है वही सव प्रकार से ऐतिहासिक जान पडता है।

गोरक्ष-साहित्य का रचनाकाल

इस प्रकार नाथ-साहित्य नवी शताव्दी के मध्यभाग से आसपास वनना आरम्भ हुआ। इससे पहले पश्चिमी भारत पर मुस्लिम आक्रमण हो चुका था, परन्तु यह आक्रमण विशेष निर्णायक-

कारी नही हो सका। सिंध नदी के इस पार वह नही जा सका। आठवी शताब्दी में मुसलमानो से हिन्दू राजाओ का सघर्ष हुआ था। उसी समय गजनी और रावलपिंडी के राजघरानो को पूर्व की ओर हटना पडा था। परन्तु आगे चलकर अवस्था फिर सुधर गई और स्यालकोट का राजवश गजनी तक अपना प्रभाव-विस्तार क रने में समर्थ हुआ। नवी-दसवी शताब्दी में कोई राजनीतिक विक्षोभ नही हुआ। इस समय उत्तर भारत में दो प्रबल पराक्रान्त साम्राज्य थे। कन्नौज के प्रतीहार और गौड तथा मगध के पाल। सिद्धो (बौद्ध और नाथ) का साहित्य अधिकाश में इसी काल में रचित हुआ। पाल राजवश बौद्ध धर्म का सरक्षक था और उनके राज्य-काल में लोकभाषा का भी खूब सम्मान रहा।

ग्यारहवी शताब्दी में भारतवर्ष का पश्चिमोत्तर सीमान्त फिर विक्षुब्ध हुआ। इसके बाद की दो-तीन शताब्दियो तक देश का राजनीतिक वातावरण विक्षब्ध ही वना रहा। इसीलिए उत्तर भारत में विशेषकर हिंदी प्रदेशो में इन दिनो उल्लेख-योग्य साहित्य कम ही रचा गया। इन दिनो के साहित्य में अनुकरण की चेष्टा ही अधिक मिलती है। नाथ-पथी साहित्य में इस काल की जो कुछ रचनाएँ मिली है उनमें स्वकीयता कम और परानुकरण अधिक है। पुराने सिद्धो के विपय में किंवदन्तियाँ और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ इन दिनो खूब प्रचलित हुईं। कभी-कभी गोरखनाथ आदि सिद्धो के साथ और भी प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियो की चर्चा मिलती है।

यह प्रश्न रह जाता है कि इन विभिन्न ऐतिहासिक पुरुषो के साथ गोरखनाथ के सपर्क की कहानियो के मूल में क्या बात है। हमने अपनी पुस्तक में विस्तारपूर्वक इस बात पर विचार किया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गोरक्षमत में अनेक पूर्ववर्ती मत भी मिल गए है और परवर्ती मत भी मिले है। इन मतो के मूल प्रवर्तको को गोरखनाथ का अवतार या शिष्य या गुरुभाई मान लिया गया है। लकुलीश पाशुपतो का पूरा मत इस सप्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गया है और अनेक पाशुपत आचार्यों को गोरक्षनाथ का अवतार (और इसीलिए उनसे अभिन्न) मान लिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसमें असगति हो सकती है, पर आध्यात्मिक भाव से देखने वालो को इसमें कोई विरोध नही दिखता।

गोरक्षनाथ का महत्व

गोरक्ष (ख) नाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्ग के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि उन्होने योगमार्ग को एक बहुत सुन्दर व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होने शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर बहुधा विस्रस्त कायायोग के साधनो को व्यवस्थित किया, आत्मानुभूति और शैव परपरा के सामजस्य से शरीरस्थित चक्रो की सख्या निश्चित की, उन दिनो अत्यधिक प्रचलित वज्रयानी शब्दो के सावृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्गम से उद्भूत सपूर्ण ब्राह्मण-विरोधी साधन-मार्ग को व्यवस्थित और सस्कृत रूप भी दिया और उसके रूढि-विरोधी स्वर को ज्यो-का-त्यो रहने दिया। उन्होने सस्कृत में भी ग्रथ लिखे और लोकभाषा को भी अपने उपदेशो का माध्यम बनाया। यद्यपि उपलब्ध सामग्री पर से यह निर्णय करना वडा कठिन है कि उनके नाम पर चलने वाली

पुस्तको[1] में कौन-सी कितनी प्रामाणिक है और उनके द्वारा प्रयुक्त लोकभाषा का मूल रूप क्या है, परन्तु इतना निश्चित है कि उन्होने अपने उपदेशो को तत्काल प्रचलित लोकभाषा में भी प्रचारित किया था। सभवत यह भाषा गोरखपुर के आस-पास प्रचलित वह भाषा थी जिसका वर्तमान रूप भोजपुरी है।

लोकभाषा में गोरखनाथ के ग्रंथ

स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने बडे परिश्रमपूर्वक गोरखनाथ की बताई जाने वाली बानियो का सग्रह 'गोरखबानी' नाम से किया है। डा० बडथ्वाल की खोज से निम्नलिखित चालीस पुस्तको का पता चला है, जिन्हे गोरखनाथ-रचित कहा जाता है। इनमें से अधिकाश पुस्तकें ऐसी हैं जो छपने पर मुश्किल से एक पृष्ठ की होगी —

१ सबदी
२ पद
३ सिप्या दरसन
४ प्राण सकली
५ नरवै बोध
६ आत्म बोध (१)
७ अभैमात्रा जोग
८ पद्रह तिथि
९ सप्तवार
१० मछीन्द्र गोरख बोध
११ रोमावली
१२ ग्यान तिलक
१३ ग्यान चौंतीसा
१४ पचमात्रा
१५ गोरख गणेश गोष्ठी
१६ गोरख दत्त गोष्ठी (ज्ञानदीप बोध)
१७ महादेव गोरख गुष्टि
१८ सिष्ट पुरान
१९ दया बोध
२० जाती भौंरावली (छद गोरख)
२१ नवग्रह
२२ नवरात्र
२३ अष्ट पारछ्या
२४ रहरास
२५ ज्ञान माला
२६ आत्म बोध (२)
२७ व्रत
२८ निरजन पुराण
२९ गोरख वचन
३० इन्द्री देवता
३१ मूल गर्भावली
३२ खाणीवाणी
३३ गोरखसत
३४ अष्ट मुद्रा
३५ चौबीस सिद्धि
३६ षडक्षरी
३७ पच अग्नि
३८ अष्ट चक्र
३९ अवलि सिलूक
४० काफिर बोध

---

१ निम्नलिखित सस्कृत पुस्तकें गोरक्षनाथ की लिखी बताई जाती हैं.—

१. अमनस्क, २. अमरौघशासनम, ३. अवधूत गीता, ४. गोरक्ष कल्प, ५. गोरक्ष कौमुदी, ६. गोरक्ष गीता, ७. गोरक्ष चिकित्सा, ८. गोरक्ष पंचम, ९. गोरक्ष-पद्धति, १०. गोरक्ष शतक, ११. गोरक्ष शास्त्र (न० १०, ११ में बहुत साम्य है, गोरक्ष-पद्धति का ही एक शतक गोरक्ष शतक है), १२. गोरक्ष संतति, १३. चतुरशीत्यासन, १४. ज्ञान प्रकाश शतक, १५. ज्ञान शतक (सभवत न० १४ और १५ गोरक्ष शतक के ही नामान्तर हैं), १६ ज्ञानामृत योग, १७ नाडीज्ञान प्रदीपिका, १८. योग चिंतामणि, १९. योग मार्तण्ड, २०. योगबीज, २१. योग शास्त्र, २२. योग सिद्धासन पद्धति, २३ श्रीनाथ सूत्र, २४. सिद्ध सिद्धात पद्धति, २५. हठयोग और २६. हठसंहिता।

डा० वडथ्वाल ने अनेक प्रतियो की जाँच करने के वाद इनमें प्रथम चौदह को निस्सदिग्ध रूप से प्राचीन माना, क्योकि इनका उल्लेख प्राय सव में मिला। 'ग्यान चौतीसा' उन्हें समय पर न मिल सका इसीलिए प्रमाणित सग्रह में उसे स्थान नही दिया जा सका। परन्तु वाकी तेरह को गोरखनाथ की मूल वानी मान कर गोरखबानी में स्थान दिया गया है। १५ से १९ तक की रचनाओ को एक प्रति में सेवादास निरजनी लिखित वताया गया है, इसीलिए सदेहास्पद समझ कर सपादक ने उन्हें परिशिष्ट में सग्रह किया है। बाकी के कुछ में गोरखनाथ की स्तुति है, कुछ मे अन्य ग्रथकारो के नाम भी है। 'काफिर बोध' कबीरदास के नाम पर भी मिलता है, इसलिए डा० वडथ्वाल ने इस सग्रह में उसे स्थान नही दिया, केवल परिशिष्ट में 'सप्तवार', 'नवग्रह', 'व्रत', 'पचअग्नि', 'अष्टमुद्रा', 'चौबीस सिद्धि', 'बत्तीस लच्छन' और 'रहरास' को स्थान दिया है। 'अवलि सलूक' और 'काफिर बोध' रतननाथ के लिखे हुए है।

इन प्रतियो की आलोचना करने के बाद डा० वडथ्वाल इस नतीजे पर पहुँचे है कि 'सवदी' गोरखनाथ की सब से प्रामाणिक रचना जान पडती है। परन्तु वह उतनी परिचित नही है जितना 'गोरखबोध'।

इस 'गोरखबोध' की सब से पहली छपी हुई एक खडित प्रति कार्माइकेल लाइब्रेरी, काशी मे है, जो सन् १९११ ई० में बाँस का फाटक, बनारस से छपी थी। वाद में इसे जयपुर के पुस्तकालय से सग्रह करके डा० मोहनसिह ने अग्रेजी अनुवाद के साथ अपनी पुस्तक मे प्रकाशित किया। डा० मोहनसिह इस पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्तो को बहुत प्रामाणिक मानते है। परन्तु मत्स्येंद्र-नाथ के सप्रति उपलब्ध ग्रथो के आलोक में यह मत बहुत ग्रहणीय नही जान पडता। डा० वडथ्वाल ने इन पुस्तको के रचयिता के बारे में विशेष लिखने का वादा किया था, पर दुर्भाग्यवश, महा-काल ने बीच में ही हस्तक्षेप किया और यह कार्य अधूरा ही रह गया।

गोरखनाथ की बानी में पूर्वी भाषा

जिस रूप में 'गोरखबानी' हमे उपलब्ध है वह प्राचीन मूलरूप ही है, ऐसा नही कहा जा सकता। डा० मोहनसिह द्वारा सपादित 'गोरखबोध' की भाषा डा० वडथ्वाल-सपादित उसी ग्रथ की भाषा से भिन्न है। इन पदो में पजाबीपन भी कही-कही मिलता है, परन्तु अनेक पदो में ऐसे प्रयोग मिलते हैं जो पूर्वी हैं। डा० सुकुमार सेन ने 'उत्तर भारत के नाथ सप्रदाय की परपरा में बगाली प्रभाव' नामक अपने प्रबध (प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ) में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'गोरखबानी' के दोहो तथा पदो में यदि सभी नही तो अधिकाश पहले-पहल बगला में लिखे गए थे। डा० सेन ने अपने मत की पुष्टि में जो प्रमाण दिए है वे सभी भोजपुरी भाषा के पक्ष में भी दिए जा सकते हैं। वस्तुत गोरखनाथ का साधना-क्षेत्र गोरखपुर के आस-पास के प्रदेश रहे। उनका प्रचार-क्षेत्र बहुत विस्तृत था। वह कामरूप से कावुल तक फैला हुआ था। हमने पहले ही देखा है कि उन दिनो उत्तर भारत में दो प्रबल राजशक्तियाँ थी, कन्नौज के प्रतीहार और गौड के पाल। पहली राजशक्ति सस्कृत साहित्य की आश्रयदात्री थी और दूसरी देश-भाषा के साहित्य की। इसीलिए उन दिनो सिद्धो की लोकभाषा में पूर्वी प्रयोगो की प्रचुरता है। यह पूर्वी भाषा जिस रूप में उपलब्ध है उसमें भोजपुरी, मगही, बगला, नैपाली, उडिया आदि भाषाओ के

वीज वर्तमान है। इस भापा को जितना ही वगला कहा जा सकता है उतना ही उडिया या मगही।

ऐसे अनेक पद, दोहे और वाक्याश गोरखनाथ के नाम पर मिलते है जो कवीर, दादू, नानक आदि परवर्ती सन्तो के नाम पर भी पाए जाते है। यह भी सभव है कि गोरखनाथ के नाम पर मिलने वाले पदो में से कुछ और भी पुराने सिद्धो के लिखे हो। यह विलकुल गलत धारणा है कि निरजन और धर्म दैवत सप्रदाय केवल वगाल तक ही सीमित था। वस्तुत कवीरपथी साहित्य का एक वहुत वडा हिस्सा निस्सदिग्ध रूप से सिद्ध करता है कि किसी जमाने में प्रवल प्रभावशाली धर्म और निरजन सप्रदाय का एक वडा समुदाय कवीरपथ मे सम्मिलित हो गया था।

डा० पीतावरदत्त वडथ्वाल ने ('योग प्रवाह', पृष्ठ ६३, ६४) कान्ह और गोरख की वाणियो में पूर्वी (भोजपुरी) भापा का प्रभाव लक्ष्य किया था और कुछ स्थलो पर मराठी और गुजराती के चिह्न भी देखे थे। उन्हें जान पडा था कि गोरखनाथ के उपदेशो के प्रचार करने के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ-जहाँ गए, वहाँ-वहाँ के लोगो के लिए उन उपदेशो को वोवगम्य करने के लिए देशकालानुसार फेरफार करते रहे। यही ठीक मत है। एक मनोरजक वात यह है कि जिन 'इवान्त' पदो के आवार पर डा० सेन इसकी भापा को वगला से प्रभावित मानते हैं, वैसे ही एक पद को उद्धृत करके डा० वडथ्वाल ने कहा था कि राजस्थानी का ठाठ तो इनमें पद-पद पर मिलता है। उद्धृत पद यह है —

हवकि न वोलिवा ठवकि न चलिवा धीरे धरिवा पाव।
गरव न करिवा सहजें रहिवा भणत गोरख राव॥

कुछ अन्य सिद्ध

इन सिद्धो के अतिरिक्त अन्य सिद्धो की भी छोटी-मोटी रचनाएँ मिलती हैं। हमने पहले ही देखा है कि नाथ सिद्धो में वहुतेरे ऐसे है जो वज्रयान में भी स्वीकृत है। इन उभय सामान्य सतो में निश्चय ही योग विपयक, विशेप करके कायायोग विपयक, वातें ऐसी होगी जिनके कारण नाथमत में उन्हें सिद्ध स्वीकार कर लिया गया होगा। इनमें से कुछ के वनाए हुए पद मिले हैं, उन पर सस्कृत टीका भी उपलव्ध हुई है। ये पद निश्चित रूप से नाथमार्ग के स्वीकृत सिद्धातो के सर्वथा अनकूल नही है। फिर भी कायायोग पर सव में कुछ-न-कुछ विचार मिल जाता है।

कुछ नाथ सिद्धो की हिंदी-रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं। इनमें अजयपाल (१४वी शताव्दी), घूंधलीमल (१२वी शताव्दी), घोडाचूली (१२वी शताव्दी), पृथ्वीनाथ (कवीर के परवर्ती), वालनाथ या वालगुदाई (१४वी), सुकुल हस (?), हणवतजी (कवीर के पूर्ववर्ती) आदि सिद्धो की रचनाएँ मिलती है। इनके अतिरिक्त मत्स्येंद्रनाथ, नागार्जुन, भर्तृहरि, जालधरनाथ आदि पुराने सिद्धो की भी रचनाएँ प्राप्त होती है। इनकी भापा में काफी परिवर्तन हो गया जान पडता है। चर्पटनाथ के पदो में काफी व्यग्य और तीखापन है। प्राय सभी रचनाएँ सासारिक विपय-वासना की निंदा कर के योगमार्ग का अवलवन करने का उपदेश देती है। इनकी वानियाँ प्रस्तुत लेखक द्वारा सपादित 'नाथ सिद्धो की वानियाँ' नामक सग्रह में प्रकाशित हुई है।

संस्कृत और भाषा-ग्रथों का अन्तर

गोरक्षनाथ के नाम पर जो सस्कृत ग्रथ मिले है उनकी प्रामाणिकता में सदेह है। 'अमरौघ शासन', 'गोरक्षशतक' आदि कुछ थोडी-सी ही पुस्तकें है जिनके विषय में कुछ दृढता के साथ कहा जा सकता है कि वे गोरक्ष-कृत होगी। इन पुस्तको में अधिकाश में हठयोग की विविध साधनाओ के विषय बताए गए हैं। साधारणत तत्वावद या सिद्धान्त की बातें इन पुस्तको में बहुत सक्षेप में कही गई है और कभी-कभी तो एकदम नही कही गईं।

'अमरौघ शासन' में पूर्ववर्ती मतो की आलोचना करने का थोडा-सा प्रयत्न है। बहुत बाद में 'गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह' नाम से एक पुस्तक लिखी गई थी जिसमें पर मत का निरसन कर आत्मपक्ष के स्थापन की चेष्टा है। साधारणत गोरक्षनाथ के नाम पर चलने वाले अधिकाश ग्रथ हठयोग की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए ही लिखे गए है।

हठयोगी का विश्वास है कि प्रत्येक शरीरधारी का शरीर (पिड) छोटा-मोटा ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ है वह सभी पिंड में ही मिल सकता है। इसलिए पिंड या शरीर को शुद्ध करने से मनुष्य अपना परम प्राप्तव्य पा सकता है। मानव-शरीर में बहत्तर हजार नाडियाँ हैं, परन्तु मेरुदड के भीतर जो सुषुम्ना नाम की नाडी है, वही शाभवी शक्ति है। नेति, धौति आदि षट् कर्मों के द्वारा योगी नाडियो को शुद्ध करता है, जिससे प्राणवायु को नियन्त्रित करना सहज हो जाता है। प्राणवायु को प्राणायाम, आसन, आदि विविध साधनाओ से सयमित करके योगी सुषुम्ना मार्ग से शुद्ध करता है। इस क्रिया से कुण्डलिनी शक्ति शुद्ध होती है। शुद्ध कुण्डली (कुण्डलिनी) क्रमश छ चक्रो को भेद करती हुई अन्तिम चक्र सहस्रार (जो मस्तक में स्थित है) में स्थित शिव से मिलित होती है। इन चक्रो का हठयोग में बहुत महत्व है। हठयोग शब्द में हकार का अर्थ सूर्य है, ठकार का अर्थ चद्रमा। सूर्य प्रथम चक्र में नाभि के पास है और चद्रमा अन्तिम चक्र के पास तालु में। इन दोनो के योग होने पर ही सहज समाधि की प्राप्ति होती है। चूंकि प्राणवायु के निरोध से हठयोगी इन्ही सूर्य-चन्द्रो को युक्त करता है इसीलिए उसके साधन-मार्ग को हठयोग कहते है।

सस्कृत के साधन-ग्रन्थो में इसी साधना की विधि को विस्तारपूर्वक बताया गया है। गोरक्षनाथ ने एक जगह कहा है कि जो व्यक्ति छ चक्रो, सोलह आधारो, दो लक्ष्यो और पाँच आकाशो को नही जानता, वह सिद्धि नही पा सकता। हठयोग के सभी ग्रथ इनमें से एक, दो या अधिक का परिचय कराते हैं। यह कहने की आवश्यकता नही कि इन नाना आस, नो मुद्राओ, प्राणायामो का प्रतिपादक साहित्य कितना एकघृष्ट और नीरस होगा।

गोरखनाथ के नाम पर पाए जाने वाले लोकभाषा के ग्रथो में भी इन विषयो की भूरिश चर्चा है, फिर भी इन शुष्क विषयो में थोडी सरसता लाने का प्रयत्न किया गया है। इन नीरस विषयो को लोकप्रिय बनाने के लिए इन पुस्तको में तीन उपाय काम में लाए गए हैं—१ प्रश्नोत्तर या गुष्टि (गोष्ठी) का माध्यम, २ गेय पदो के द्वारा वैराग्य भाव का प्रचार और ३ ऊपर-ऊपर से भडका देने वाली उलटबासियो के द्वारा लोकचित्त की उत्सुकता बढाने के प्रयत्न।

प्रथम श्रेणी का साहित्य वडा लोकप्रिय हुआ है। इस शैली के प्रवर्तक नाथ-सिद्ध ही जान पडते हैं। नाथो में पहले इस तरह का साहित्य नही मिलता। इसमें गोरखनाथ और मच्छन्दरनाथ या गोरखनाथ और दत्तात्रेय या ऐसे ही दो व्यक्तियो में प्रश्नोत्तर करके सिद्धान्त का प्रतिपादन कराया जाता है। 'गोरख मछिद्र बोध' के सिवा प्राय सर्वत्र गोरखनाथ ही उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्तो के वक्ता होते हैं, अन्य आचार्य या देवता केवल प्रश्नकर्त्ता होते हैं। यह शैली आगे चल कर इतनी लोकप्रिय हुई कि नानक, दादू और कवीर के सप्रदायो में इसी शैली से किसी वडे ऐतिहासिक या पौराणिक व्यक्ति के साथ इन मतो के प्रवर्तको का प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य बहुत अधिक बना है। मजेदार वात यह है कि इस शैली के आविष्कर्त्ता नाथो के गुरु गोरखनाथ परवर्ती गोष्ठियो में प्राय सीखने वाले सावित होते हैं। दूसरी शैली भी बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई और तीसरी की माया काटने में भारतीय साहित्य को काफी समय लगा। अन्तिम दोनो शैलियाँ वज्रयानी सिद्धो में भी पाई जाती है।

सबदों में मानव रस

यद्यपि गोरखपथी साहित्य में साधनमूलक विधियो और वैराग्योत्तेजक विचारो का वाहुल्य होने से नीरसता ही अधिक है, तथापि गोरखनाथ के लिखे पदो में एक प्रकार का मानवीय रस भी है जो इन उपदेशो को सरस और सहज ग्राह्य वना देता है। कथनी और कहनी का भेद वताते हुए एक जगह वे कहते है कि कहना आसान है,पर करना कठिन। करनी विना कहनी एकदम थोथी है। तोता पढ-गुन कर पडित होता है, पर विल्ली एक झपट में उसे समाप्त कर देती है। इसी प्रकार पडित पोथी हाथ में लिए बैठा ही रहता है और माया उसे घर दवोचती है। गुड विना खाए केवल मीठा कहने से कोई रस कैसे पाया जा सकता है? हीग खाकर उसे कपूर कहना झूठा ही तो है। सो गोरक्षनाथ कहते है कि कहना सहज है, करना कठिन है—

कहणि सुहेली रहणि दुहेली
कहणि रहणि बिण थोथी।
पढया गुणा सुवा बिलाई खाया
पडित के हाथि रहि गई पोथी।
कहणि सुहेली करणि दुहेली
बिन खाया गुड मीठा।
खाई हीग कपूर वखाणै
गोरख कहै सब झूठा।

लोकसुलभ उपमानो और दृष्टान्तो की योजना से इन उपदेशो को वहुत सहजग्राह्य वना दिया गया है। गोरखनाथ के ये दृष्टान्त और उपमान इतने आकर्षक हुए कि कवीर आदि परवर्ती भक्तो ने उन्हें ज्यो-का-त्यो अपनाया है। एक स्थान पर गोरखनाथ ने कहा है कि हृदय का भाव ही हाथ में उतर आता है (जो मन में होता है, वही कार्य में प्रकाशित होता है), कलियुग वुरा जमाना है। कुछ भी छिपा लेना इस युग में कठिन है, जो चीज करवा (गडुवा) में होगी वही तो टोटी से निकलेगी—

हिरदा का भाव हाथ में जाणिवे यह कलि आई पोटी।
बदत गोरष सुणै रे अवधू करवै होइ सु निकसै टोटी ॥

यह दृष्टान्त बडा लोकप्रिय सिद्ध हुआ। कबीरदास ने भी इसका प्रयोग किया—

जरिगौ कथा धज गौ टूटी, भजिगौ डड खपर गौ फूटी।
कहहि कबीर इ कलि है खोटी, जो रहै करवा सो निकरै टोटी ॥

इन पदो के उपमान और दृष्टान्त सहज लोक जीवन से लिए गए हैं। इसीलिए वे सैकडो वर्ष बाद भी जनता के बीच बने हुए है। लोग उनका मूल भाव भूल गए हैं, पर अभी भी अपने मनोरजन और मार्गदर्शन के लिए उनका उपयोग किए जा रहे है। उनकी कितनी ही उलटवासियाँ जोगीडो के काम आती हैं। उनका मर्मार्थ भूला जा चुका है। उनके कितने ही पद खेती गृहस्थी के काम में प्रयुक्त होते है। उनकी वाणियाँ नाना रूप में लोकोक्तियो का रूप ग्रहण कर गई है। 'अवधू मन चगा तो कठौती ही गगा' (गोरखबानी, पृष्ठ ५३), 'बरषैगी कवली भीजैगो पाणी', 'विषया लुबधी तत्र न बूझै घरिलै बाघनी पोषै' (पृष्ठ १४३), 'तलि भौ गगरि उपरि पनिहारि' [तलि गागरि ऊपरि पनिहारी] (पृष्ठ १४२), आदि उक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हुई थी। उन्हें केवल गृहस्थो ने ही नही सतो ने भी अपने कार्य में उपयोग किया है। उनके प्रयुक्त दृष्टात और उपमान अनेक प्रकार से कबीर, दादू, नानक और तुलसीदास, आदि सन्तो की वाणियो में आए हैं। कितने ही पदो को साँप-बिच्छू का मत्र समझ लिया गया है और कितने ही भूत-प्रेत की बाधाओ को दूर करने के काम में लगाए गए हैं।

यह तो नही कहा जा सकता कि बाद में लोगो ने गोरखनाथ की वाणियो को उसी अर्थ में ग्रहण किया जिसके लिए उनका प्रयोग हुआ था, परन्तु इसमें कोई सदेह नही कि किसी जमाने में ये वाणियाँ लोकचित्त को प्रभावित करने में पूर्ण सफल हुई थी। भक्तिकाल में लोगो की धारणाएँ बदल गई और इन वाणियो की स्मृति मात्र रह गई और लोगो ने इस स्मृति का उपयोग नाना भाव से किया। परन्तु यह तथ्य इतना निश्चित रूप से प्रकट करता है कि इन वाणियो मे अवश्य ही एक प्रकार का प्रभावशाली मानवीय रस है जो नाना विघ्नो और बाधाओ को अतिशय करके भी जी रहा है।

चौरंगीनाथ

चौरगीनाथ तिब्बती परपरा में गोरखनाथ के गुरुभाई आदि मगध देश के रहने वाले माने गए हैं। इनकी लिखी बताई जाने वाली एक सुपुस्तक 'प्राण सकली' मिली है जो पिडी (लाहौर) के जैन ग्रथागार में सुरक्षित है। मैंने यह पुस्तक मँगा कर देखी है और इसे सपादित करने का कार्य भी आरभ कर दिया है। इस पुस्तक में चौरगीनाथ ने अपने को राजा सालवन (शालिवाहन) का बेटा और मछद्रनाथ का शिष्य तथा गोरखनाथ का गुरुभाई बताया है। पुस्तक के आरभ में भाषा पूर्वी सभवत बगला जान पडती है, पर आगे चल कर भाषा एकदम बदल जाती है और उसमें पूर्वी प्रभाव एकदम नही दिखाई पडता। इस पुस्तक में ग्रथकार चौरगीनाथ ने बताया है कि बिमाता ने मेरी साँसत की और हाथ-पैर कटा दिए। इनकी एक पुस्तक 'वायुतत्वभावनोपदेश' है जिसका तिब्बती अनुवाद तनजुर में सुरक्षित है।

पूरन भगत, राजा रसालू और चौरंगीनाथ

सारे पंजाब में सुदूर अफगानिस्तान तक पूरन भगत और राजा रसालू की कहानियाँ प्रचलित हैं। पूरन भगत ही बाद में चलकर चौरंगीनाथ हुए, ऐसी प्रसिद्धि है। पंजाब और पश्चिमी भारत में प्रचलित कहानी का सार यह है कि पूरन भगत स्यालकोट के राजा सालवन (शालिवाहन) की प्रथम रानी के पुत्र थे, जो जन्म के बाद ज्योतिषी के फलादेश के कारण बारह वर्ष एकान्त वास में रखे गए थे। इस बीच राजा ने लूण नामक एक नीच कुलोद्भवा स्त्री से विवाह कर लिया था। एकान्त वास के बाद पूरन जब घर आए तो उन्होंने नई रानी को सहज भाव से माँ कह कर पुकारा जिससे युवती रानी के यौवनमद को आघात पहुँचा। उसने उन पर झूठा दोषारोप कर के पूरन के हाथ पैर कटा लिए और आँखें फुड़वा कर कुएँ में डलवा दिया। संयोगवश उधर से गुरु गोरखनाथ आए और उनकी कृपा से उनके हाथ-पैर भी लौटे और योगमार्ग में निष्ठा भी पैदा हुई। पिता को जब इस छल की बात मालूम हुई तो उसने नई रानी को दंड देना चाहा, पर पूरन ने क्षमा करा दिया और राजपाट ग्रहण करना भी अस्वीकार कर दिया। 'प्राण संकली' से इस कहानी का आंशिक रूप में समर्थन होता है। यद्यपि उसमें कहीं भी नहीं कहा गया कि चौरंगीनाथ का पुराना नाम 'पूरन' था और उद्धार भी वहाँ गोरखनाथ के द्वारा नहीं बल्कि मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा बताया गया है, तो भी कहानी प्रधान रूप में समर्थित ही होती है। इसी कहानी में यह भी कहा जाता है कि पूरन भगत की विमाता के एक पुत्र हुआ था, जो बाद में चल कर बड़ा सिद्ध हुआ। यही राजा रसालू है।

राजा रसालू की कुछ ऐतिहासिकता सिद्ध की जा सकी है। सन १८८४ ई० में टेम्पुल ने खोज कर के देखा था कि राजा रसालू का समय सन ईसवी की आठवीं शताब्दी हो सकता है। सिद्ध नामक जाट जाति अपने को शालिवाहन के पिता राजा गज का वंशधर बताती है। टाड ने लिखा है कि राजा गज के साथ गजनी (मूल नाम गजवनी) के सुलतान से लड़ाई हुई थी। शुरू में गज को हार कर पूर्व की ओर हटना पड़ा था और स्यालकोट को उसने अपनी राजधानी बनाया था, पर अन्त तक वह गजनी पर कब्जा करने में समर्थ हुआ था। यह घटना सातवीं शताब्दी ई० के अन्त्य भाग की है। स्यालकोट का राजा शालिवाहन इसी गज का पुत्र कहा जाता है। इस प्रकार राजा रसालू का समय आठवीं शताब्दी ई० का प्रथम या मध्य भाग होना चाहिए। अरबी इतिहास-लेखकों ने आठवीं शताब्दी ई० के एक प्रतापी हिन्दू राजा की बहुत चर्चा की है जिसका नाम उन लोगों ने नाना भाव से लिखा है पर र, स और ल, अक्षर उसमें आते रहते हैं। एक दूसरा प्रमाण भी इस विषय में संग्रह किया जा सका है। रिसल नामक एक हिन्दू राजा के साथ मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध में संधि की थी। संधि का समय आठवीं शताब्दी ई० है। इन बातों पर से टेम्पुल ने अनुमान किया था कि रिसल वस्तुतः राजा रसालू ही है और उसका समय आठवीं शताब्दी ई० है। डा० हचिसन ने राजा शालिवाहन को पवाँर राजपूत माना है। इनकी राजधानी रावलपिंडी (पुराना नाम गजपुरी) थी। बाद में सीथियनों से लड़ाई में हार जाने के कारण इन्हें पूर्व की ओर हट कर स्यालकोट में अपनी राजधानी बनानी पड़ी थी। यदि यह सारी बातें सत्य हैं तो पूरन भगत और राजा रसालू गोरखनाथ के और मत्स्येन्द्रनाथ के भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इसीलिए ब्रिग्स ने

(पृष्ठ २३९—४१) इन सारी वातो पर से यह निष्कर्ष निकाला है कि इनसे इतना ही सिद्ध होता है कि जिस समय राजा रसालू स्यालकोट के राजा थे उन दिनो सीमान्त पर हिन्दुओ का किसी विजातीय शत्रु से सघर्ष चल रहा था और यह काल ग्यारहवी शताब्दी के आस-पास होना चाहिए। इस प्रकार अनुमान करना कहाँ तक न्याय्य है, इसे हम भावी अन्वेषको के लिए छोड देते है।

हमने देखा है कि गोरखनाथ के द्वारा प्रवर्तित नाथपथ में अनेक पुराने मत भी गृहीत हुए थे। बाद में इतिहास की धारणाएँ अस्पष्ट हो गई और उन पूर्ववर्ती पथो के आचार्यों को गोरखनाथ से किसी-न-किसी प्रकार सबद्ध कर दिया गया। पुराना शैव लकुलीश मत भी इस सप्रदाय में गृहीत हुआ था। लाकुल लोग ही बाद में चलकर रावल (लाकुल→लाउल→लावल ←रावल) कहलाए। इनकी एक प्रधान शाखा गल या पागल पथी अपने को चौरगीनाथ (पूरन भगत) का अनुवर्ती मानती है और ये लोग स्वय अपने को राजा रसालू के सप्रदाय का समझते है। इनका एक प्रसिद्ध स्थान रावलपिंडी में आज भी है। हमारा अनुमान है कि पूरन भगत और राजा रसालू वस्तुत लाकुल शैव थे और पूरन भगत को बहुत बाद में चौरगीनाथ के साथ जोड दिया गया है। सभवत पूरन भगत की कहानी और चौरगीनाथ के नाम और रूप इस कल्पना के आधार है।

प्राण सकली

ऊपर बताया गया है कि चौरगीनाथ की एक रचना प्राप्त हुई है। इसका नाम 'प्राण सकली' है। इस नाम की पुस्तकें गुरु गोरखनाथ और गुरु नानक के नाम छपी पाई गई है। 'प्राण सकली' के आरम्भ में इस प्रकार की भाषा है—

> सत्य बदत चौरगीनाथ आदि अतरि सुनौ वृत्तान्त
> सालबाहन घरे हमारा जनम उत्पति सतिया झुट बोलीला ॥१॥
> ह अम्हारा भइला सासत पाप कलपना नही हमारे मनै हाथ पाव
> कटाइला लाइला निरजन बने सोष सताप मनै परभेव सनमुष देषीला
> श्री मछद्रनाथ गुरुदेव नमस्कार करिला नमाइला माथा ॥२॥

ऐसा जान पडता है कि यह किसी पूर्वी भाषा में लिखित पद का विकृत रूप है। किन्तु पुस्तक में आगे चल कर भाषा बदल जाती है। एक उदाहरण—

सुन्य ब्रह्माड अगुली अतरै अर्कभूत रत ब्रह्माड बसै, अर्कभूतरत ब्रह्माड अतरै निरजन ब्रह्माड बसै, निरजन ब्रह्माड अगुली अतरै निरतर ब्रह्माड बसै। इति सप्त ब्रह्माड बोलीयै ॥६५॥ सप्त ब्रह्माड ऊपर परम सून्य निरालब अस्थान बसै तहाँ कौ सिवभवन बोलीयै। तहाँ कौ अनुपम बोलियै ॥६६॥

यह भाषा पहले से भिन्न है। 'योग प्रवाह' में डा० पीताबरदत्त बडथ्वाल ने इनकी यह कविता उद्घृत की है—

> मारिबा तो मन मीर मारिबा, लूटिबा पवन भडार।
> साधिबा तौ पच तत्त साधिवा, सेइवा तौ निरजन निराकार॥

माली लौ भल माली लौ सीचैं सहज कियारी ।
उनमनि कला एक पहूप न पाई, लैं आवागवन निवारी ॥

चर्पटीनाथ

इस नाम के एक सिद्ध वज्रयानी सिद्धो में भी गृहीत हैं (सिद्ध स० ५९)। नाथपथी परपरा में इन्हें गोरखनाथ का शिष्य वताया गया है। गुरु नानक साहव की लिखी हुई समझी जाने वाली पुस्तक 'प्राण सकली' में चरपटीनाथ रसेश्वर सिद्ध के रूप में चित्रित हैं। तिब्वती परपरा में ये मीनपा के गुरु कहे गए हैं। इनकी पुस्तक 'चतुर्भवाभिवासन' का तिब्वती अनुवाद प्राप्य है। दादूदयाल के शिष्य रज्जवदास के 'सर्वांगी' ग्रन्थ में इन्हे चारणी के गर्भ से उत्पन्न वताया गया हैं। डा० वडथ्वाल ने लिखा है कि चवा रियासत की राजवशावली में इनकी चर्चा है। डा० मोहनसिंह ने इनका वताया जाने वाला एक प्रसिद्ध पद अपनी पुस्तक में छापा है। ऊपर जिस प्राण सकली' ग्रन्थ का उल्लेख है उसमें भी यह पद इस प्रकार आया है—

इक पीत पटा, इक लव जटा
इक सूत जनेऊ तिलक ठटा
इक जगम कहियैं भसम घटा
जउलउ नहि चीन्हैं उलटि घटा
तव चरपट सगले स्वाग नटा।

यद्यपि इस पद की भाषा वदल गई है, तो भी अनेक स्थानो पर यह चर्पटीनाथ के नाम से उद्धृत होने के कारण उनकी ही रचना जान पडती है और इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि 'प्राण सकली' में उनके मुख से जितने पद कहलवाए गए है, वे सव वहुत दूर तक उनकी ही रचना होगे। डा० वडथ्वाल ने इनकी कुछ रचनाएँ 'योग प्रवाह' में उद्धृत की हैं। इन सव की भाषा परवर्ती है, इसलिए उनका मूल रूप केवल अनुमान और अटकल का ही विपय है। एक पद इस प्रकार है—

मागैं भिच्छा भरि भरि खाहि।
नाथ कहावैं मरि मरि जाहि ॥
वाकर कूकर कीगुर हाथि।
वाली भोली तरुणी साथि॥
दिन करि भिच्छा रात्यूँ भोग।
चरपट कहै विगोवैं जोग॥

इन पदो से इनकी रूढि-विरोधिता दृढ होती है। इन्होने वाह्याचार और निरर्थक वेश-भूपा की खवर लेने में न और सप्रदायो को छोडा है, न अपने सप्रदाय को। सभवत इनका काल दसवी शताव्दी है।

भर्तृहरि (भरथरी) और गोपीचद

गोरखपथी सप्रदाय की एक शाखा का नाम वैरागपथ है। इसके प्रवर्तक भरथरी (भर्तृहरि) माने जाते है। कहते है, विचारनाथ भी इन्ही का नाम है। यह एक भ्रम है कि वैरागपथ

के प्रवर्तक और गोरखनाथ के शिष्य भर्तृहरि वही है जो वैराग्य, नीति और श्रृगार शतको के कर्त्ता थे। भरथरी के गानो का लोक में बडा प्रचार है। सर्वत्र वे उज्जैन के राजा वताए गए है। दूधनाथ प्रेस, हवडा से एक भरथरी का गान छपा है जो 'विधना क्या कर्तार' का बनाया कहा गया है। इस पुस्तक के अनुसार भरथरी राजा इद्रसेन का पौत्र और चद्रसेन का पुत्र था। भरथरी के वैराग्य ग्रहण करने की अनेक दन्तकथाएँ है। उनमें साधारण गृहस्थ के हृदय को गला देने वाला द्रावक रस है।

भर्तृहरि या भरथरी मयनामति नामक प्रसिद्ध रानी के भाई बताए जाते है। मयनामति का विवाह बगाल के राजा मानिकचद्र (माणिक्य चन्द्र) के साथ हुआ था, जो सभवत पाल वशीय कोई शासक था। पाल वश बगाल में सन १०९५ में शासनारूढ हुआ था। ऐसा प्रसिद्ध है कि भर्तृहरि उज्जैन के किसी राजा विक्रमादित्य का भाई था। पाल वश से यदि भरथरी का सबध स्थापित किया जाना आवश्यक हो, तो उज्जैन के एक राजा विक्रमादित्य को लिया जा सकता है जो सन १०७६ से ११२६ ई० तक उज्जैन का शासक था। कठिनाई यह है कि बगाल के पालो और उज्जैन के प्रतिहारो में उन दिनो सघर्ष चल रहा था और परस्पर वैवाहिक सबध के स्थापन की सभावना बहुत कम जान पडती है। जो हो, यदि यह सबध ऐतिहासिक सिद्ध किया जा सके तो भरथरी का समय ग्यारहवी शताब्दी में होगा। मयनामती प्रसिद्ध सिद्ध हाडिपा (हालिपाद) या जालधरनाथ की शिष्या बताई जाती है। उन्होने स्वय पुत्र को वैराग्य लेने के लिए उपदेश दिया था। समूचे पूर्वी भारत में मयनामती और गोपीचद तथा उसकी रानियो की मर्मस्पर्शी कहानी नाना भाव से गाई जाती है। गोपीचद और भरथरी की कहानियाँ काव्य के बहुत सुन्दर उपादान है, परन्तु यह आश्चर्य है कि वे केवल लोकचित्त पर अपनी अमिट छाप छोड गई है। किसी बडे कवि का ध्यान इन कहानियो की ओर नही गया। केवल कुछ सूफी कवियो ने यथाप्रसग इनकी चर्चा भर कर दी है। उत्तर भारत के योगी आज भी सारगी के साथ इन वैराग्य और श्रृगार के द्वद्वात्मक गीतो को गाते फिरते है। गोपीचद के नाम पर ही सारगी का नाम 'गोपीयत्र' पड गया है।

गुरु नानक की लिखी समझी जानेवाली 'प्राण सगली' में गोपीचद और भरथरी के कुछ वचन मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि ये कहाँ तक प्रामाणिक है। पाठको की जानकारी के लिए कुछ पद यहाँ उदाहरण के तौर पर दिए जा रहे है —

गोपीचद—

सो उदासी जो पाले उदासु।
अर्द्ध ऊर्द्ध करै निरजन वासु ॥

चद्र सूर्ज की पाए गठि।
तिस उदासी का पडै न कध ॥

वोलें गोपीचद सत्त सरूप
परमतत्त महि रेख न रूप ॥

भरथरीनाथ—

सो वैरागी जौ उलटै ब्रह्म ।
गगन मडल महि रोपै थम ॥
अहि निसि अतर रहै ध्यान ॥
ते वैरागी सत्त समान ॥
वोले भरथरि सत्त सरूप ।
परम तत्त महि रेख न रूप ॥

नागा अरजन्द (नागार्जुन) और कणेरी

महायान मत के प्रसिद्ध नागार्जुन से ये भिन्न थे। अलवेरुनी ने लिखा है कि एक नागार्जुन उससे लगभग सौ वर्ष पहले हो चुके थे। 'प्रवन्धचिंतामणि' से पता चलता है कि एक नागार्जुन पादालिप्त सूरि नामक जैन आचार्य के सूरि थे और समुद्र में से निकाली हुई पार्श्वनाथ की रत्न-मूर्ति के पास रस सिद्ध करने की साधना करते थे। वे राजा शालिवाहन और उसकी रानी चद्रलेखा के गुरु माने जाते हैं। प्रसिद्ध महायानी नागार्जुन के नाम के साथ इनके नाम का साम्य होने से अनेक प्रकार की गलत धारणाएँ फैल गई है। वस्तुत नागनाथ नामक एक सिद्ध ग्यारहवी शताब्दी के आरभ में या दसवी शताब्दी के अन्त में वर्तमान थे। चर्पटनाथ की भाँति ये भी रसेश्वर सिद्ध थे और सभवत गोरखपथ की पारसनाथी जैन शाखा के मूल प्रवर्तक यही थे। ये पश्चिम भारत के रहने वाले थे।

कणेरी नागा अरजद (नागार्जुन) नागनाथ के शिष्य थे। इनकी एक सवदी स्व० डा० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल को मिली थी। डा० वडथ्वाल ने इन्हें आर्यदेव से अभिन्न समझा है। इन पदो को आधुनिक हिन्दी अनुवाद के साथ उन्होने 'अशोक' पत्र में छपाया था जो वाद में 'योगप्रवाह' में 'कणेरी पाव' नामक प्रवध में सगृहीत हुए है। यद्यपि डा० वडथ्वाल इन पदो को आर्यदेव की ही रचना मानते हैं और उनका विश्वास है कि इनमें इतना अधिक परिवर्तन नही हुआ होगा कि मूल वस्तु का स्वरूप ही इनमें न रहने पाया हो, परन्तु मूल वस्तु को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका स्वर परवर्ती नाथ-साधना से प्रभावित है और महायान प्रभाव उनमें नही है। इन पदो के रचयिता कणेरी महायान सिद्ध कणेरी से निस्सदेह भिन्न और परवर्ती है। एक पद यहाँ उदाहरण के लिए उद्वृत किया जा रहा है—

सगौ नही ससार चीत नहि आवै वैरी ।
निरभय होइ निसक हरिख मै हस्यौ कणेरी ॥१॥
अकल कणेरी सकलै वद ।
विन परचै जोग विचारै छद ॥
विन परचै जोग न होसी रावल ।
भुस कूट्या क्यो निकसै चावल ॥२॥

रज्जबदास के सरबगी ग्रथ में नागार्जुन की कही जानेवाली कुछ सवदियाँ सगृहीत हैं। एक पद इस प्रकार है —

पूरब उतपति पछिम निरतरि । उतपति परलै कथा अभि अतरि ।।
प्यड छाडि प्राण भरपूर रहै । ऐसा सिध सकेत नागा अरजन कहै ।।

अन्य सिद्ध

वज्रयान और नाथपथ के अनेक सिद्ध ऐसे है जो दोनो मतो में समान रूप से स्वीकृत है। इनमें से कुछ की चर्चा हम ऊपर कर चुके है। कुछ ऐसे है जिनकी सस्कृत रचनाओ के तिब्बती अनुवाद प्राप्य है, कुछ के लोकभाषा में लिखे पद भी पाए गए है। इन सब में वज्रयानी सुर ही प्रधान है। यह विचारणीय है कि वज्रयान के अन्य अनेक सिद्धो को छोडकर इन २४-२५ सिद्धो को ही नाथ-मत में क्यो स्वीकार किया गया। नाथमार्ग कायायोग, हठयोग का प्रचारक था। जिस किसी पुराने सिद्ध की वाणी से इस कायायोग का किसी प्रकार समर्थन होता था उसे हमारा अनुमान है कि नाथ सप्रदाय ने स्वीकार कर लिया। नाथमत के योगी रस-सिद्धि को भी काया-साधना का उपाय समझने लगे थे, क्योकि शरीर की त्रुटियो को, प्राणवायु के निरोध से हो या रसायन के सेवन से ही हो, दूर करने के बाद ही इस पिंड में स्थित परमतत्व का साक्षात्कार पाना सभव है।

हिन्दी में घोडाचूली, चुणकरनाथ, परबत सिद्ध, देवलनाथ, धुधली, प्राणनाथ, खियडनाथ, गरीबनाथ, पृथ्वीनाथ आदि की रचनाएँ मिलती है। इन रचनाओ में और कोई विशेषता नही है। केवल हठयोग प्रतिपादित मतो को ही नाना भाव से—विशेषकर वार्तालाप की शैली में—कहा गया है। इन रचनाओ की भाषा बहुत परिवर्तित हो गई है, इसलिए उस पर से न तो रचयिताओ के काल का पता चल सकता है और न देश का। विभिन्न कालो में और विभिन्न देशो में उनमें यथेच्छ परिवर्तन किया जाता रहा है।

नीचे इन सतो की कुछ रचनाएँ सग्रह की जा रही है। इन्हें देख कर पाठक स्वय इनकी भाषा आदि के विषय में अपना मत स्थिर कर सकते है :—

घोडाचूली—

रावल ते जे चालै राह, उलटी लहरि समावै माह ।
पच तत्त का जाणै भेव, ते तो रावल परतषि देव ।।

चुणकरनाथ—

साधी सूधी के गुरु मेरे ।
वाई सूं ब्यद गगन में फेरे ।।
मन का वाकुल चुणिया वोलै ।
साधी ऊपर क्यो मन डोलै ।।
वाई वध्या सकल जग, वाई किनहुँ न वध ।
वाइ विहूणा ढहि पडै, जोरै कोइ न सध ।।

परवतसिद्ध—

धन जोवन की करै ना आसा । पर तिरिया अग न लावै पासा ।
नामविंदु लै घट भीतर करै । तिसकी सेवा परवत करै ।
वोले परवत सन्त सरूप । परम तत्त मँहि रेख न रूप ।।

धूधलीमल—

आईस जी आवो वावा
आवत जात वहुत जुग दीठा कछू न चढिया हाथ
अव का आवरण सूफल फलिया पाया निरजन सिव का साथ ।

गोरखनाथ—

पाताल की मीड की आकास जत्र वावै ।
चद सूरज मिलै नही गगजमुन गीत गावें ।
सकल व्रह्माड तव उलटा फिरै तहा अधर नाचै डीव
सति सांत भाषत ही सिद्ध गरीव ।।

प्राणनाथ—

व्रह्माड को लौटि के पिंड में वाधिए ।
कहै प्राणनाथ ऐसा जोग साधिए ।

इत्यादि ।

परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल के पूर्व नाथमत ही सव से प्रवल लोकवर्म था। परवर्ती काल में भक्ति की प्रचण्ड धारा में यद्यपि वहुत-सी पुरानी स्मृतियाँ वह गई, परन्तु नाथपथियो के विश्वास और साहित्य अपना अमिट चिह्न इन पर छोड गए है। कवीर, दादू, नानक आदि सन्तो के प्रवर्तित सप्रदाय पर और उनके द्वारा लिखित और सग्रहीत साहित्य पर नाथपथी सप्रदाय का वडा प्रभाव है। केवल हिन्दी के साहित्य पर ही नही, वगला, मराठी, उडिया, नैपाली आदि भापाओ के साहित्य में भी इस सप्रदाय के विश्वासो की स्मृति रह गई है। कवीर आदि सन्तो के अनेक पद थोडे परिवर्तन के साथ पूर्ववर्ती नाथ-सिद्धो की रचना है। निर्गुण मत के सभी सन्तो के सप्रदाय में गुष्टी या प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य का वडा प्रचार है। आज जहाँ तक जाना जा सका है, इस प्रकार के साहित्य के आदि प्रचारक नाथ कवि ही है। सन्तो के साहित्य में उस मत के प्रवर्तको का गोरखनाथ, मछदरनाथ, चर्पटीनाथ, खियडनाथ, घोरगनाथ, प्राणनाथ आदि सन्तो के साथ प्रश्नोत्तरमूलक साहित्य मिलता है। यद्यपि अन्त तक इन सिद्धो को पराजित दिखाना ही उक्त प्रकार के वार्तालाप का उद्देश्य है फिर भी कुछ-न-कुछ ऐसी वातें तो इस प्रसग में जरूर ही आ गई हैं जिन्हें इन सिद्धो का वास्तविक विश्वास कहा जा सकता है। कभी मूल वचन भी ज्यो का त्यो रख देने का प्रयास किया गया है। भक्ति-काल के पहले निरजन और धर्म देवता

को परम दैवत समझा जाने वाला सप्रदाय बडा प्रभावशाली था। निरजनियो के साहित्य को अभी प्रकाश मे लाने का प्रयास नही हुआ है। परन्तु कबीरपथी साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित रूप से सिद्ध हुआ है कि निरजन दैवत सप्रदाय का एक बहुत बडा भाग कबीरपथ में अन्तर्भुक्त हो गया था। निरजनी नाथ साधुओ के उत्तराधिकारी थे। हिन्दी साहित्य के प्रेमकथानको में भी इन नाथ योगियो की बहुत अधिक चर्चा है और सगुण साहित्य में उद्धव-गोपी-सवाद के बहाने एक अच्छा-सा साहित्य इन्ही का सीधे जवाब देने के उद्देश्य से लिखा गया है। जनता में प्रचलित अनेक मत्र-तत्रो में इन योगियो का प्रभाव है और आयुर्वेदिक रसायन औषधियो में से कितनी तो नाथ सिद्धो की आविष्कृत हैं। इस प्रकार जनचित्त पर अवश्य इस सप्रदाय का प्रभाव अक्षुण्ण है।

अध्ययन में सहायक कुछ ग्रथ

(१) जार्ज वोस्टन ब्रिग्स — गोरखनाथ ऐन्ड दी कनफटा योगीज, कलकत्ता, १९३८ ई० (अग्रेजी में)

(२) हरप्रसाद शास्त्री, महामहोपाध्याय— बौद्ध गान ओ दोहा, कलकत्ता, १३२३ बगाब्द (बगला)

(३) राहुल साकृत्यायन, महापडित— (१) पुरातत्व निबधावली, प्रयाग १९३० ई०, (हिन्दी)
(२) 'गगा', पुरातत्वाक (हिन्दी)
(३) हिन्दी काव्यधारा, इलाहाबाद, १९४४ ई० (हिन्दी)

(४) पीताबरदत्त बडथ्वाल, डाक्टर— योगप्रवाह, काशी २००३ वि०, (हिन्दी)

(५) चद्रनाथ, योगी— योगिसप्रदायाविष्कृति, अहमदाबाद, १९२९ ई०

(६) विश्वभरनाथ रेउ, महामहोपाध्याय— नाथ चरित्र की कथा, जोधपुर, १९३७ ई०

(७) प्रबोधचन्द्र बागची, डाक्टर— कौलज्ञान निर्णय, कलकत्ता १९३४ ई०, (अग्रेजी)

(८) बलदेव उपाध्याय, प्रो०— (१) भारतीय दर्शन, काशी (हिन्दी)
(२) बौद्ध दर्शन, काशी, १९४५, (हिन्दी)

(९) मोहन सिंह, डाक्टर— (१) गोरखनाथ एन्ड मिडिएवल मिस्टिसिज्म, लाहौर, १९३७ ई० (अग्रेजी)

(१०) गोपीनाथ कविराज, महामहोपाध्याय— सरस्वती भवन स्टडीज में प्रकाशित अग्रेजी लेख

(११) हजारीप्रसाद द्विवेदी—डाक्टर (१) कबीर, बबई, १९४७ ई० (हिन्दी)
(२) नाथ सप्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

(१२) 'कल्याण' गोरखपुर — शिव, शक्ति और योग अक (हिन्दी)

४. रासो काव्य-धारा

हमारे साहित्य में रासो की दो अलग-अलग परपराएँ अपभ्रश-काल से ही मिलने लगती हैं। इनमें से एक परपरा तो नृत्य-गीत-परक रासो की है और दूसरी छद-वैविध्य-परक रासो की है। पहली परपरा में प्रधानता जैन धर्म-सवधी कृतियो की रही है—जिनका सवध जैन महात्माओ, सघपतियो और तीर्थोद्धारकर्त्ताओ के चरितो तथा जैन धर्मोपदेश से रहा है। 'वीसलदेव राम' जैसी एकाध कृतियाँ ही इस परपरा में अपवादस्वरूप मिलती है। दूसरी परपरा अन्य विपयो की कृतियो की रही है, जिसमें जैन धर्म सवधी कृतियाँ अपवाद के रूप में भी अभी तक नही मिली हैं। इस परपरा की कृतियो में रचयिताओ का ध्यान काव्य-गुणो की ओर प्रमुख रूप से रहा है और उन्होने विविध छदो का प्रयोग किया है। इन दोनो परपराओ का उद्भव किस प्रकार होता हैं, इस पर हमें सक्षेप में विचार कर लेना चाहिए।

रासक एक अति प्राचीन भारतीय नृत्य रहा है। इसको लास्य का एक भेद मानते रहे हैं। शारदातनय (स० १२२५-१३०० वि०=सन ११६८—१२४३ ई० के लगभग) ने अपने प्रसिद्ध ग्रथ 'भाव प्रकाशन' में लिखा है कि लास्य के चार भेद होते हैं १ शृखला, २ लता, ३. पिंडी तथा ४ भेद्यक, और इनमें से लता के पुन तीन भेद होते हैं १ दण्ड रासक, २ मण्डल रासक तथा ३ नाट्य रासक'—

तत्शृङ्खला लता पिण्डी भेद्यकै स्याच्चतुर्विधम्।
लता रासक नामस्यात्तत्रेधा रासक भवेत्॥
दण्ड रासकमेकन्तु तथा मण्डल रासकम्।
एकन्तु योपिन्नियमान्नाट्य रासकमीरितम्॥

इसके अतिरिक्त शारदातनय ने नाट्य रासक में—जो उपरूपक का एक भेद है—रागो के साथ इन लता, पिंडी तथा भेद्यक नृत्यो का प्रयोग भी वताया है[२]—

पोडस द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिका।
पिण्डिवन्धादि विन्यासै रासक तदुदाहृतम्॥
पिण्डनात्तु भवेपिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत्।
भेदनाद्भेद्यको जातो लता जालोपनाहत॥
एते नृत्तात्मना कार्या नाट्यवन्त क्रियाविधौ।
सुकुमारोद्धतैरङ्गैर्गायिकाभि र्विलक्षणा॥

---

१ भाव प्रकाशन, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, पृ० २९७।

२ वही, पृ० २६३–६४।

वाक्यस्यावधयोर्ह्येते पिण्डाद्या दृश्य जातय ।
नव भेदा विधीयन्ते ह्यनु कार्यानुरागिण ।।
कामिनीभिर्भुवो भर्तु चेष्टित यत्र नृत्यते।
रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्य रासक ।।

इसमे ज्ञात होता है कि नाट्य रासक एक प्रकार का गीति-नाट्य-प्रधान रूपक था।

ऐसा प्रतीत होता है कि यही नाट्य रासक नाटकीय सकेतो और उसके कुछ अन्य तत्वो से विरहित होकर गीत-नृत्य-परक रास-परपरा में ढल गया। इस परपरा की अनेक रचनाओ में उनके गाए जाने और नृत्य-समन्वित होने का जो उल्लेख—जैसा हम आगे देखेंगे—मिलता है, वह इस उद्भव की ओर स्पष्ट सकेत करता है।

दूसरी परपरा का उद्भव कुछ भिन्न है। उसकी कल्पना छदमूलक प्रतीत होती है। अपभ्रश के प्राय सभी छद-निरूपको ने रासा नाम के छद के लक्षण बताए है, और रासक तथा रासावध नामो से एक काव्य-रूप का भी लक्षण बताया है। ये दो छद-निरूपक है विरहाक तथा स्वयभू।

विरहाक ने 'वृत्तज.ति समुच्चय' में लिखा है—

अडिलाहि दुवहएहि व मत्तारड्डहि तहअ ढोसाहि।
बहुएहि जो रइज्जइ सो भण्णइ रासओ णाम।। (४ ३८)

अर्थात—जिसमें बहुत से अडिला, ढोसा, मात्रा, रड्डा और दोहा छद पाए जाते है, ऐसी रचना रासक कहलाती है।

स्वयभू ने 'स्वयभूच्छदस' में लिखा है—

धत्ता छड्डणिआहि पद्धडिया सु अण्णरूएहि।
रासा वधो कव्वे जणमण अहिरामो होइ।। (८ ४९)

अर्थात—काव्य में रासावध अपने वत्ता, छप्पय, पद्धडी तथा अन्य रूपको के कारण जन-मन-अभिराम होता है।

कहना नही होगा कि छद-वैविध्य-परक रासक-परपरा अन्य काव्योचित गुणो के साथ अपने इसी छद-वैचित्र्य को लेकर आई और उपर्युक्त गीत-नृत्य-परक परपरा से अलग विकसित हुई। इसी परपरा के रासक का उल्लेख 'सदेश रासक' करता है, जब वह कहता है—

कह वहु रूवि णिवद्धउ रासउ भासियउ।।४३।।

प्रथम अर्थात गीत-नृत्य-परक रासक परपरा में सैकडो रचनाएँ वताई जाती है। अभी तक जो नाम मिले हैं, उनकी सख्या भी सौ से ऊपर ही होगी। किंतु 'वीसलदेव रास' को छोड कर ये समस्त रचनाएँ प्राय एक ही ढग की हैं। ऐसी दशा में सक्षेप में ही और परपरा की आरभिक दो शतियो—स० १२०० से १४०० वि० (सन ११४३—१३४३ ई०)—तक की ही प्रमुख रचनाओं का उल्लेख करना यथेष्ट होगा। उसी से इसका पर्याप्त परिचय मिल जाएगा। शुद्ध साहित्यिक परपरा वास्तव में दूसरी है। उसका विवरण अपेक्षाकृत अधिक पूर्णता के साथ दिया

जाएगा और स० १००० से १८०० वि० (सन ९४३—१७४३ ई०) तक की उसकी प्राय सभी महत्वपूर्ण कृतियो को उस विवरण में सम्मिलित किया जाएगा।

गीत-नृत्य-परक रासो-परंपरा

१. उपदेश रसायन—इस परपरा की सब से प्राचीन प्राप्त रचना 'उपदेश रसायन' है जिसके रचयिता श्री जिनदत्त सूरि है। इसमें रचना-काल नही दिया हुआ है। किन्तु ग्रथकार की एक अन्य रचना 'कालस्वरूप कुलक' है जिसकी रचना-तिथि स० १२०० वि० (सन ११४३ ई०) के कुछ ही बाद होगी, जैसा कि उसके निम्नलिखित छद से प्रकट है—

विक्कम सवच्छरि सय बारह।
हुयइह पणठ्ठउ सुद्ध घर बारह॥
इह ससारि सहावि णसतिहि।
वत्तहि सुम्मइ सुक्ख वसतिहि ॥३॥'

इसलिए इसका भी समय स० १२०० (सन ११४३ ई०) के लगभग माना जा सकता है। यह रचना अपभ्रश में है। इसका विषय धर्मोपदेश है। प्रयुक्त छद चउपई है। रचना ३२ छदो में समाप्त हुई है। यद्यपि इसमें रास या रासो नाम नही आया है, किंतु इसके टीकाकार जिनपाल उपाध्याय ने टीका के प्रारभ में ही इसे रासक माना है और लिखा है कि यह पद्धटिका-वध काव्य सभी रागो मे गाया जाता है।[२] रचना में इसे रसायन कहा गया है और इसके सुनने-पढने-गुनने का ही फल वताया गया है, जो निर्वाण की प्राप्ति है—

इय जिणदत्तुवएसु जि निसुणहि।
पढहि गुणहि परियाणवि जि कुणहि।
ते निव्वाण रमणी सहु विलसहि।
वलिउ न ससारिण सहु मिलिसिहि ॥३२॥[३]

उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत छद यथेष्ट होगा।

२. भरतेश्वर बाहुबली रास—इसके रचयिता श्री शालिभद्र सूरि है। इसमें रचना-तिथि स० १२४१ वि० (सन ११८४ ई०) दी हुई है—

सवतए वारक एतालि फागुण पचमिइ एउ कीउ ए॥२०३॥

इसमें भगवान ऋषभदेव के दो पुत्रो भरतेश्वर और वाहुवली के वीच राजसत्ता के लिए सघर्ष की कथा है। कुल रचना २०३ छदो में समाप्त हुई है। इसमें प्रारभ में ही रास नाम आया है—

---

१. अपभ्रंश काव्य त्रयी संस्करण, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज।
२. अपभ्रश काव्य त्रयी सस्करण, गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, टीका, छद २-४।
३. वही सस्करण।

हु हिव पभणि सु रासह छदिहिं ॥३॥

रचना में यद्यपि पढ़ने का ही माहात्म्य कहा गया है, जो है नवनिधि की प्राप्ति—

जो पढहि एव सहवदीन
सो नरो नितु नव निहि लहइ ए।

किंतु यह रचना भी अन्य जैन रासो की भाँति गेय प्रतीत होती है। भाषा-शैली के उदाहरण के लिए निम्नलिखित प्रारभिक छद लिए जा सकते है—

रिसह जिणेसर पय पणमेवी
सरसति सामणि मनि समरेवी
नमवि निरतर गुर चलणा ॥१॥
भरह नरिंदह तणु चरित्तो
जजुगी वसहा वलय वदीतो
वार वसिस विहु बधवह ॥२॥

इस रचना में यद्यपि काव्यात्मकता लाने का प्रयास परिलक्षित नही होता है, फिर भी वीर रस का परिपाक अच्छा हुआ है।

३. बुद्धि रास—यह रचना भी उन्ही शालिभद्र सूरि की है जिनकी उपर्युक्त 'भरतेश्वर बाहुबली रास' है। इसमें रचना-सम्वत नही दिया हुआ है, किंतु यह अनुमान सुगमता से किया जा सकता है कि यह रचना 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के रचना-काल स० १२४१ वि० (सन ११८४ ई०) के लगभग की होगी। इसका विषय 'उपदेश रसायन' की भाँति धर्मोपदेश है। रचना कुल ६३ छदो में समाप्त हुई हैं। इसका उद्देश्य भूले लोगो को शिक्षा देना है—

सुह गुरु वयणे सग्रह कीजई।
भोला लोक सीषामण दीजई ॥२॥

फलश्रुति में इसके पढने-सुनने-गुनने का ही माहात्म्य बताया गया है—

सालिभद्र गुरु सकुलीय सिवि हू गुरु उपदेसि।
पढहि गुणहि जे सभलहिं ताहइ विघ्न टलेसि ॥६३॥

किंतु यदि यह रचना भी 'उपदेश रसायन' की भाँति गाई जाती रही हो तो कुछ आश्चर्य नही। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत छद यथेष्ट होगा।

४. जीव दया रास—इसके रचयिता श्री आसगु है, जिन्होने इसकी रचना स० १२५७वि० (सन् १२०० ई०) में की थी।[१] इसका विषय नाम से ही स्पष्ट है—वह है दया-धर्मोपदेश। यह रचना प्रसिद्ध जैन विद्वान मुनि जिनविजय द्वारा सपादित और प्रकाशित हुई हैं।[२] इसका उद्देश्य

---

१. गुजराती साहित्य ना स्वरूपो. प्रो० मजुलाल मजमुद्दार लिखित, पृ० ८१९।
२. सम्मेलन-पत्रिका, भाग ३५, सख्या ७-९, पृ० २३१।

धार्मिक प्रकट है। इसकी भाषा-शैली में भी काव्यात्मक दृष्टिकोण का अभाव प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्ति ली जा सकती है—

उरि सरसति आसिगु भणइ नवउ रासु जीव दया सारु।

५. चदनबाला रास—इसके रचयिता भी श्री आसगु है। रचना-काल इस कृति में नही दिया हुआ है, किंतु यह सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि यह रचना भी ग्रथकार की उक्त अन्य रचना 'जीव दया रास' के आसपास अर्थात् स० १२५७ वि० (सन १२०० ई०) के लगभग रची गई होगी। यह रचना जालौर में रची गई थी। इसमें लेखक का उद्देश्य चदनवाला की धार्मिक कथा कहना है—

निसुणउ चदन वाल चरितम्॥१॥[1]

इसमें प्रयुक्त छद चउपई और दोहा हैं। रचना कुल ३५ छदो में समाप्त हुई है। इसमें रासु नाम आता है—

एहु रासु पुण वृद्धिहि जति।
भाविहि भगतिहिं जिण हरि दिंति॥३५॥

इसकी फलश्रुति में पढने-पढाने-सुनने का ही माहात्म्य कहा गया है—

पढइ पढावइ जे सुणइ तह सवि दुक्खइ खइयह जति।
जालउर नउरि आसगु भणइ जम्मि जम्मित्त सउ सरसति॥३५॥

किन्तु असभव नही कि यह रचना भी अन्य जैन रासो की भाँति गाई जाती रही हो। उदाहरण के लिए उद्धृत छद पर्याप्त होगे।

६. जबूस्वामी रासा—यह रचना श्री धर्म सूरि की है, जिन्होने इसे स० १२६६ वि० (सन १२०९ ई०) में लिखा।[2] इसका विषय है जबू स्वामी का चरित्र तथा गुण-वर्णन—

जबू स्वामिहि तणू चरिय भविउ निसुणेवि॥१॥[3]
जबू स्वामिहि गुण गहण सखेवि वखाणउ॥१॥[4]

इसका भी धार्मिक उद्देश्य प्रकट है। उदाहरण के लिए उद्धृत पक्तियाँ यथेष्ट होगी।

७. रेवतगिरि रासु—यह कृति श्री विजयसेन सूरि की है। इसका रचना-काल स० १२८८ वि० (सन १२३१ ई०) के लगभग माना गया है।[5] इसकी रचना सौराष्ट्र में हुई।[6] इसमें गिरनार के जैन मन्दिरो के जीर्णोद्धार की कथा है। यह कुल ७२ छदो में समाप्त हुई है। रास नाम इसके प्रथम छद में ही आता है—

भणिसु रास रेवतगिरि।[7]

---

१ राजस्थान भारती—भाग ३, अक ३-४, पृ० १०६-११२ में, श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सपादित।
२. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० २५।
३ वही।
४ वही।
५. हिंदी जैन साहित्य का इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृ० २६।
६ प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह, भाग १ में, सपादित सस्करण, पृ० १।
७. वही।

फलश्रुति में इसमें रमण का माहात्म्य बताया गया है—

रगिहिए रमइ जो रासु सिरि विजय सेणि सूरि निम्मविउ ए।
नेमि जिणु तूसइ तासु अबिक पूरइ मणि रली ए ॥२०॥[1]

यह रचना भी गाई जाती रही होगी ऐसा अंतिम उद्धृत छंद के गेय होने से प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत पक्तियाँ पर्याप्त होगी।

८. नेमिजिणद रासो (आबूरास)—यह श्री पाल्हण की कृति है जो स० १२८९ वि० (सन १२३२ ई०) में रची गई थी—

बार सवछरि नव मासिए।
बसत मासु रभाउलु दीहे॥५४॥[2]

इसको रचयिता ने रासो भी कहा है और राहु (रासु) भी—

पभणउ नेमि जिणदह रासो॥१॥
एहु राहु विसतारिहि जाअे
राखइ सयल सघ अबाए॥५४॥

इसकी फलश्रुति से यह प्रकट नही है कि यह केवल पढने-सुनने के लिए लिखा गया है अथवा गाए जाने के लिए भी। उदाहरण के लिए उद्धृत पक्तियाँ यथेष्ट होगी।

९. गयसुकुमाल रास—यह कृति देल्हणि की है, और इसका समय स० १३०० वि० (सन-१२४३ ई०) के लगभग अनुमान किया गया है।[3] इसका उद्देश्य गयसुकुमार का चरित-वर्णन है—

पभणउ गयसुकुमार चरित्तू ॥२॥

इसमें रासु नाम आया है। यह देखने-गुनने के लिए लिखा गया है, और उनका फल शाश्वत सुख-लाभ बताया गया है—

एहु रासु हडेयह जाई।
रक्खउ सयलु सघ अबाई॥
एहु रासु जो देसी गुणिसी।
सो सासय सिव सुक्खह लहिसी॥३४॥[4]

यह रचना कुल ३४ छदो में समाप्त हुई है। उदाहरण के लिए उद्धृत छद पर्याप्त होगा।

१०. सप्तक्षेत्रि रासु—इसके लेखक का नाम अज्ञात है। यह रचना स० १३२७ (सन १२७० ई०) की है, और इसे शिव-सुखनिधान कहा गया है—

सवत तेर सत्तवीसए माह भसवाडइ।
ताहि पूरुहउ रासु सिव सुहनिहाणू॥११८॥[5]

---

१ प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह भाग १ में सपादित सस्करण पृ० ७।
२ राजस्थानी, भाग ३—अंक १, पृष्ठ ८३-८८ में दिया हुआ पाठ।
३. राजस्थान भारती, भाग ३, अक २, पृष्ठ ८७।
४. वही।
५. प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह, भाग १ में, सपादित सस्करण।

इसमें सप्त क्षेत्रो—जिन मदिर, जिन प्रतिमा, ज्ञान, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका की उपासना का वर्णन है। कुल रचना ११५ छदो में समाप्त हुई है। इसमें रासु नाम तो आता ही है, जैसा ऊपर उद्धृत छद में है, रासो नाम भी आता है—

तीणि पमाणिइ सात क्षेत्र इम कीधउ रासो।
श्री सघु दरियह अपहरउ सामी जिण पासो ॥११७॥[1]

उदाहरण के लिए उद्धृत पक्तियाँ यथेष्ट होगी।

११. पेथड रास—इसके लेखक मडलिक है। इसका रचना-काल स० १३६० वि० (सन-१३०३ ई०) के लगभग माना गया है।[2] इसमें सघपति पेथड का चरित वर्णित हुआ है। कुल ६५ छदो में यह समाप्त हुआ है। इसमें रास नाम आया है और नृत्य के साथ गाए जाने के लिए इसकी रचना की गई है—

रास रमेवउ जिण भुवणि ताल मेलि ठवि पाउ ॥३॥[3]

रचना कुल ६५ छदो में समाप्त हुई है। उदाहरण स्वरूप—

लाछ्रितणउ जउ गरव करेई। लीजइ राउल छलह घरेई।
मणूय जनम हव सफल करीजइ। जीविय यौवन लाहउ लीजइ ॥१०॥[4]

१२. कच्छूलि रास—इस रचना के लेखक का नाम अज्ञात है। इसका समय स० १३६३ वि० (सन १३०६ ई०) है—

तेर त्रिसठइ रासु कोरिंटावडि निम्मिउ ॥[5]

इसमें कच्छूलि ग्राम का वर्णन है। रचना में कुल ३५ छद है। इसमें रास नाम तो आता ही है, जैसा ऊपर के उदाहरण में है, रासो नाम भी आता है—

वनिसु रासो घमीय रोलु निवारीय ॥१॥[6]

फलश्रुति में इसे सुनने से समस्त मनवाछित फल की प्राप्ति बताई गई है—

जिण हरि दित सुणत मणवछिय सवि पूरवउ ॥[7]

उदाहरण के लिए निम्नलिखित छद लिया जा सकता है—

छाहड नदणु वहु गुणवतउ। दीख लीइ मसार विरत्तउ ॥
लापण छद परमाण परिक्खणु। आगम धम्म विचार वियक्खवणु ॥[8]

---

१ प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह, भाग १ में संपादित संस्करण।
२ इतिहास नी केडी—श्री भोगीलाल सांडेसरा, पृष्ठ १९९।
३ प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, भाग १ में संपादित संस्करण।
४ वही।
५ वही, पृष्ठ ६२।
६ वही, पृष्ठ ५९।
७ वही, पृष्ठ ६२।
८ वही, पृष्ठ ५९।

१३. **समरा रासु**—इसके रचयिता श्री अवदेव सूरि हैं, जिन्होने इसकी रचना स० १३७१ वि० (सन १३१४ ई०) के बाद की होगी, क्योकि इसमें वर्णित घटना की तिथि इस प्रकार दी हुई है—

सवच्छरि इकहत्तरए थापिउ रिसह जिणिंदो ॥[1]

इसमें सघपति समरा का चरित्र वर्णित हुआ है—

सघपति देसल पूत्रु भणिसु चरिउ समरा तणउ ए ॥[2]

रचना कुल ११० छदो में समाप्त हुई है। इसमें भी रास तथा रासो दोनो नाम आए हुए हैं और फलश्रुति से ज्ञात होता है कि यह ग्रथ भी गान और नृत्य के लिए रचा गया था—

पासड सूरिहि गणहरह नेऊ अगच्छनिवासो।
तसु सीसहि अबदेव सूरिहि रचियऊ
ए रचियऊ ए रचियऊ समरा रासो।
एह रासु जो पढइ गुणइ नाचिउ जिण हरि देइ।
श्रवणि सुणइ सो वयठऊ ए तीरथ
ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई ॥[3]

उदाहरण के लिए उद्धृत पक्तियाँ यथेष्ट होगी।

१४ **बीसलदेव रास**—प्राय इसी समय के लगभग नरपति नाल्ह ने 'बीसलदेव रास' की रचना की। रचना में कोई तिथि नही दी हुई है। उसके पाठ की तीन मुख्य शाखाएँ है।[4] उनमें से एक शाखा में रचना-तिथि-विषयक कोई छद नही है। दूसरी शाखा में रचना के सबध में निम्न-लिखित छद मिलता है—

वारह सै बहोत्तराहा मझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसाइण आरभइ।
सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।
कासमीरा मुख मडनी।
रास प्रगासो बीसलदे राइ॥

और तीसरी शाखा में निम्नलिखित छद मिलता है—

सवत सहस गतिहत्तरई जाणि।
नल्ह कवीसरि कही अमृत वाणि।

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह, भाग १ में सपादित सस्करण, पृ० ३७।
२ वही, पृ० २७।
३ वही, पृ० ३७।
४. देखिए प्रस्तुत लेखक द्वारा सपादित और हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित 'बीसलदेव रास', भूमिका, पृ० ४६।

गुण गुथ्यउ चउहाण का।
सुकल पक्ष पचमी स्रावण मास॥
रोहिणी नक्षत्र सोहामणउ।
सो दिन गिणि जोइसी जोडइ रास॥

इस तीसरी शाखा की एक प्रशाखा में प्रथम पक्ति का पाठ है—

सवत सहस तिहुत्तर जाणि।

और एक दूसरी प्रशाखा मे प्रथम, चतुर्थ तथा पचम पक्तियो का पाठ क्रमश है—

सवत तेर सतोत्तरइ जाणि।
सुक पचमी वइ श्रावण मास।
हस्त नक्षत्र रविवार सु॥

इसलिए यह प्रकट है कि मूलादर्श में तिथि-विपयक कोई छद नही था। एक शाखा में तिथि-विपयक प्रक्षेप करते हुए एक छद की रचना कर ली गई और दूसरी शाखा में उसी प्रकार प्रक्षेप करते हुए एक अन्य छद की रचना कर ली गई।

यदि इतिहास की दृष्टि से विचार किया जाए, तो इस ग्रथ की रचना तेरहवी शती विक्रमी के उत्तरार्द्ध के पूर्व की न होनी चाहिए। इस रचना में तीन ऐतिहासिक नाम आते हैं—वीसलदेव, राजमती और भोज परमार। वीसलदेव—विग्रहराज—नाम के चार राजा हुए हैं, जिनमें से वीसलदेव तृतीय स० ११५० वि० (सन १०९३ ई०) के लगभग हुआ है और विग्रहराज चतुर्थ स० १२१०-२० वि० (सन ११५३-६३ ई०) के लगभग हुआ है। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के वीजोल्याँ के शिलालेख में दी हुई चौहानो की वशावली में विग्रहराज तृतीय की रानी का नाम राजदेवी दिया हुआ है। हो सकता है कि 'वीसलदेव रास' के रचयिता ने इसी को राजमती कहा हो। भोज परमार अवश्य एक ही हुआ है जिसका समय स० ११११२ वि० (सन १०५५ ई०) के आसपास पडता है। इसलिए कथा के वीसलदेव से कदाचित विग्रहराज तृतीय का ही आशय लेना चाहिए।[1] किंतु तब तक ऐसे अनेक स्थान वसे तक न थे जिनके नाम इस रचना में आए है। उस समय तक न अजमेर ही वना था, जिसे स० ११६५ वि० (सन ११०८ ई०) के लगभग अजयराज ने वसाया, न आनासागर था, जिसे अर्णोराज—स० ११६९-१२०७ वि० (सन १११२-११५० ई०)—ने खुदवाया था, न जेसल्मेर ही था जिसे जेसल ने ख्यातो के अनुसार स० १२१२ वि० (सन ११५५ ई०) में वसाया था, किंतु जिसका समय स० १२५० वि० (सन ११९३ ई०) के पूर्व न होना चाहिए क्योकि उसका प्रपौत्र रावल कर्ण स० १३४० वि० (सन १२८३ ई०) में विद्यमान था और इस कर्ण की एक रानी स० १३८० वि० (सन १३२३ ई०) तक जीवित थी।[2] इसके साथ ही रचना में भोज के द्वारा वीसलदेव को दायज में मडोवर, सोरठ, टोक आदि कई प्रात दिलाए गए है, जो भोज अथवा उसके वशजों के अधिकार में कभी नही थे।[3] वीसलदेव की जिस उडीसा-यात्रा का रचना में उल्लेख है, वह भी ऐतिहासिक

१ गौरीशंकर हीराचद ओझा · नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, पृ० १६५-१६७।
२ राजस्थानी, जनवरी, १९४०, पृ० २२-२३ : वीसलदेव रासो—श्री अगरचद नाहटा।
३ वही।

सत्य नही है। इसलिए यह प्रकट है कि रचना भोज परमार और बीसलदेव तृतीय के बहुत बाद की है। स० १२७२ वि० (सन १२१५ ई०) की तिथि भोज के १५० वर्ष बाद तथा विग्रहराज तृतीय के १२५ वर्ष बाद पडती है, जो अन्तर इतिहास-विरुद्ध कथनो के लिए एक पर्याप्त कारण हो सकता है और गणना से भी तिथि ठीक आती है, इसलिए स्वर्गीय गौरीशकर हीराचद ओझा का विचार था कि वह मान्य हो सकती है। तिथि वाले छदो की पाठालोचन की दृष्टि से क्या स्थिति है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इसलिए ओझा जी का मत नितान्त रूप से मान्य नही प्रतीत होता है।

एक अन्य प्रकार से विचार करने पर ग्रथ की रचना १४वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने का अनुमान होता है। इसके पाठ की एक प्राचीनतम विद्यमान प्रति स० १६३३ वि० (सन १५७६ ई०) की है और एक दूसरी शाखा की स० १६६९ वि० (सन १६१२ ई०) की। ग्रथ की पाठ-परपरा पर विचार करने पर दिखाई पडता है कि स० १६३३ वि० (सन १५७६ ई०) की प्रति तक मूल रचना से पाठ की कम से कम चार स्थितियाँ पडी होगी और इसी प्रकार स० १६६९ वि० (सन १६१२ ई०) की प्रति तक मूल रचना से पाठ की छः स्थितियाँ कम से कम पडी होगी। यदि प्रत्येक स्थिति के लिए ५० वर्षों का समय रक्खा जाए—जो मेरे विचार से अधिक नही है—तो एक शाखा के अनुसार मूल पाठ का समय स० १४३३ वि० (सन १३७६ ई०) तथा दूसरी शाखा के अनुसार स० १३६९ वि० (सन १३१२ ई०) के लगभग ठहरता है। यह तो प्राप्त प्रतियो के आधार पर हुआ। असभव नही कि और प्रतियाँ प्राप्त होने पर बीच में एकाध स्थितियाँ और भी निकल आएँ। ऐसी दशा में दोनो तिथियो में से स० १३६९ वि० (सन १३१२ ई०) के लगभग की तिथि अधिक मान्य प्रतीत होती है।

यदि भाषा की दृष्टि से विचार किया जाए तो वह तेरहवी शताब्दी की नही प्रतीत होती है। राजस्थान के कुछ विद्वानो का तो मत है कि 'बीसलदेव रास' की भाषा सोलहवी शताब्दी की है, और उन्होने यह भी सुझाव दिया है कि उसका रचयिता नरपति नाम का गुजरात का एक कवि है जिसने स० १५४५ वि० (सन १४८८ ई०) तथा स० १५६० वि० (सन १५०३ ई०) में दो अन्य ग्रथो की रचना की है।[१] इस प्रसग में श्री मोतीलाल मेनारिया ने नरपति की एक रचना से सात स्थलो पर की कुछ पक्तियाँ देते हुए उनकी समानातर पक्तियाँ तक 'बीसलदेव रास' से उद्धृत की हैं।[२]

जहाँ तक भाषा के स्वरूप का प्रश्न है, इन विद्वानो ने रचना के नागरी प्रचारिणी सभा के सस्करण वाले पाठ को ले कर ऐसा कहा है। नागरी प्रचारिणी सभा का पाठ सब से अधिक प्रक्षिप्त है—उसमें मूल के निर्धारित १२८ छदो के स्थान पर ३१४ छद है, और मूल के १२८ छदो का पाठ भी उसमें बहुत बदला हुआ है। ऐसी दशा में उस सस्करण की भाषा के स्वरूप के आधार पर निकाला हुआ यह निर्णय मान्य नही हो सकता है। इधर पाठालोचन के सिद्धान्तो के आधार पर उसका जो पाठ निर्धारित हुआ है,[३] उसको ध्यान में रखते हुए यदि देखा जाए, तो भाषा इतनी

---

१ श्री अगरचंद नाहटा, राजस्थानी, जनवरी १९४०, पृ० २१ तथा श्री मोतीलाल मेनारिया-राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८७-८८।

२ श्री मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८८-८९।

३ देखिए प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित और हिंदी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पाठ।

आधुनिक नही लगती है। स० १४०० वि० (सन १३४३ ई०) के लगभग की प्रमाणित राजस्थानी की अन्य रचनाओ की भाषा[1] से यदि इस सस्करण की भाषा का मिलान किया जाए, तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि 'वीसलदेव रास' की भाषा स० १४०० वि० (सन १३४३ ई०) के आसपास की ही है।

जहाँ तक गुजरात के नरपति और वीसलदेव रास के रचयिता नरपति नाल्ह के एक होने का प्रश्न है, यह नही कहा गया है कि गुजरात के नरपति ने भी अपने को कही नाल्ह कहा है। 'वीसलदेव रास' के रचयिता ने तो अपने को अनेक स्थलो पर नरपति नाल्ह कहा है। जो सात पक्तियाँ तुलना के लिए दोनो कवियो से दी गई है, उनमें से चार तो 'वीसलदेव रास' के निश्चित रूप से प्रक्षिप्त छदो की है।[2] शेष तीन में जो साम्य है वह साधारण है, उस प्रकार और उतना साम्य देखा जाए तो मध्ययुग के किन्ही भी दो कवियो में मिल सकता है।

इसके अतिरिक्त ७५ या १०० वर्षो के अन्तर में ही किसी भी रचना की इतने विभिन्न पाठो की प्रतियाँ नही मिलती जितनी कि स० १६३३ वि० (सन १५७६ ई०) और स० १६६९ वि० (सन १६१२ ई०) की तिथि-युक्त प्रतियाँ तथा उस समय की अन्य तिथिहीन प्रतियाँ है। अत स० १६०० वि० (सन १५४३ ई०) के लगभग की तिथि 'वीसलदेव रास' के लिए किसी प्रकार भी मान्य नही हो सकती है।

इस रचना का विषय वीसलदेव की प्रवास-कथा है। अजमेर के चौहान वीसलदेव का विवाह भोज परमार की कन्या राजमती से होता है। इस विवाह में उसे अनेक प्रान्त दायज में तथा अतुल सपत्ति विदाई में मिलती है। इस नव प्राप्त वैभव की पृष्ठभूमि में जव वह अपनी सपदा पर विचार करता है, तो उसे अभिमान होता है और वह गर्वपूर्वक अपनी नवविवाहिता पत्नी राजमती से कहता है कि उसके समान दूसरा राजा नही है। राजमती कहती है, कि उसे गर्व नही करना चाहिए, क्योकि उसके समान अनेक राजा है। एक तो उडीसा का ही राजा है जिसके राज्य में खानो से उसी प्रकार हीरा निकलता है जिस प्रकार वीसलदेव के राज्य में साभर की झील में से नमक। यह वात वीसलदेव को लग जाती है और वह उडीसा जाकर हीरो की राशि लाने का सकल्प करता है। राजमती अनेक उपायो से उसे इस सकल्प से विरत करना चाहती है, किंतु कृतकार्य नही होती है। वीसलदेव उडीसा चला जाता है और वहाँ के राजा की सेवा में लग जाता है। वारह वर्ष व्यतीत हो जाते है तव राजमती अपने पुरोहित को उसे लौटा लाने के लिए उडीसा भेजती है। उडीसा पहुँच कर पुरोहित वीसलदेव से मिलता है और उसे राजमती का सदेश देता है। वीसलदेव लौटने के लिए उडीसा के राजा से अनुमति माँगता है। उडीसा के राजा को जव यह ज्ञात होता है कि वह अजमेर का चौहान शासक है, वह उसको प्रचुर रत्नराशि दे कर विदा करता है। वीसलदेव अजमेर लौट कर राजमती से मिलता है। रचना के अत में कवि कहता है कि जिस प्रकार वीसलदेव राजमती से मिला, उसी प्रकार ससार में सव कोई मिलें —

राणी राजा सउ मिली।
तिमि एण ससार मिलिज्यो सहु कोइ ॥

---

१ देखिए 'पुरानी राजस्थानी', श्री नामवर सिंह द्वारा अनूदित, ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित।

२. देखिए प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित उपर्युक्त 'वीसलदेव रास'।

प्रकट है कि इस रचना में शृंगार के अतिरिक्त कोई अन्य रस नही है। इसमें विप्रलभ शृंगार का अच्छा परिपाक हुआ है। राजमती अपने नारी होने पर जो वेदना प्रकट करती है, वह बडी मर्मस्पर्शिनी है—

अस्त्रीय जनम काइ दीधउ महेस।
अवर जनम थारइ घणा रे नरेस।
रानि न सिरजीय रोझडी।
घणह न सिरजीय धउलीय गाय॥
वन खड काली कोइली।
हउ बइसती अवा नइ चपा की डाल।
भषती दाख बिजोरडी॥
इणि दुख झूरइ अवला जी बाल॥८१॥[1]

वह रानी होने पर भी पश्चात्ताप करती है। वह कहती है कि क्यो नही विधाता ने उसे कृषक की स्त्री बनाया—

आजणी काइ निसिरजीय करतार।
खेत कमावती स्यउ भरतार।
पहिरण आछी लोवडी।
तुग तुरीय जिम भीडती गात्र।
साईय लेती सामुही।
हसि हसि बूझती प्रीय की बात॥८२॥

इस विप्रलभ की अवस्था में कवि ने जो बारहमासा दिया है, वह भी अपने ढग का अकेला है। चैत्र मास का छद देखिए—

चैत्र मासइ चतुरगी हे नारि।
प्रीय विण जीविजइ किसइ अधारि।
कचूयउ भीजइ जण हसइ।
सात सहेलीय बइठी छइ आइ।
दत कवाड्या नइ नह रग्या।
न्हालउ सषी आपे खेलण जाइ।
आज दीसइ सु काल्हे नही।
म्हे किउ होली हे खेलण जाह।
उलगाणइ की गोरडी।
म्हाकी आगुली काढता निगलीजइ वाह॥७२॥

---

१ समस्त उद्धरण प्रस्तुत लेखक द्वारा सपादित उपर्युक्त 'वीसलदेव रास' से हैं।

मिलन के अवसर पर राजमती द्वारा दिए गए उपालभ का निर्वाह कवि ने कितनी सहृदयता से किया है—

मुलकइ हसइ आलिंगन देइ।
पलिग न वइसइ अनइ पान न लेइ।
ऊभीय देइ उलभडा।
आगुली तोडइ छइ मरोडइ छइ वाह।
नाह भरोसउ काइ करउ।
तइ तउ वारह वरिस किउ मेल्हीय नाह ॥१२४॥

स्वस्थ गार्हस्थ्य जीवन की इतनी वास्तविक, सरस और सफल रचना अपने साहित्य में दूसरी नही दिखाई पडती है। नायिका ने अनेक स्थलो पर पति को 'मूरख नाह' और 'निगुणा नाह' कहा है, इसे देख कर कुछ लोगो को इस रचना में अशिष्टता का आभास मिला है। किंतु इन सवोधनो के पीछे जो आत्मीयता की प्रेरणा है, जो सहज प्रेम का आग्रह है, वही तो इनकी विशेषता है। 'सदेशरासिक' में भी विरहिणी ने अपने प्रवासी पति के लिए इसी प्रकार के विशेषणो का प्रयोग किया है।

इस रचना में आदि से अत तक एक ही छद का निर्वाह हुआ है। सपूर्ण रचना गेय है, यह स्वत प्रकट है। प्रत्येक छद स्वतत्र गीत है और केदारा राग में गाए जाने के लिए लिखा गया ह—रचना के प्रारभ में ही राग का निर्देश किया गया है। यह रचना नृत्य-गीत के साथ प्रस्तुत भी की जाती रही है, इसका प्रमाण हमें इसके दो-एक प्रक्षिप्त छदो में मिलता है। एक छद इस प्रकार है—

गावणहार माडइ र गाई।
रासकइ यह वसली वाई।
तालकई समचइ घूघरी।
माहिली माडली छीदा होइ।
बारली माडली सावणा।
रास प्रगास इणी विधि होइ॥'

इस रचना की विभिन्न प्रतियो में कुल मिला कर ५०० से अधिक छद मिलते है, किंतु उनमें कुल १२८ छद ही प्रामाणिक रूप से मान्य ठहरते है। फिर भी वे एक पूर्ण और सुव्यवस्थित रचना का स्वरूप प्रस्तुत करते है, और उन्ही की सहायता से ऊपर रचना का विवेचन किया गया है।[२]

प्रकट है कि यह रचना किसी राजा के आश्रय में रची गई नही है। राजाओ के आश्रय में रची गई रचनाओ में उनके पूर्व-पुरुषो की विजय-गाथाएं अनिवार्य रूप से होती हैं, जो इसमें एकदम नही है। यह तो शुद्ध लोक-रजन के उद्देश्य से लिखी गई लगती है। इस रसभरे रसायन को

---

१ नागरी प्रचारिणी सभा सस्करण, छद ११।

२ देखिए प्रस्तुत लेखक द्वारा सपादित उपर्युक्त संस्करण।

नाल्ह ने सगुण सुमानसो के सामने प्रस्तुत करते हुए उनसे इस रास को सीखने का आग्रह किया है, और रचना के प्रारभ में ही रचना का सदेश कितनी सुन्दरता के साथ रख दिया है—

नाल्ह रसायण रस भरि गाइ।
तूठी छह सारदा त्रिभुवन माइ॥
उलगाणा गुण बर्णविउ।
सगुण सुमाणसा सीषिज्यौ रास॥
स्त्री चरित्र घण लष लहइ।
एकही अक्षर सरब विणास॥

स्पष्ट है कि गीत-नृत्य-परक रासो-परपरा का यह जैनेतर अपवाद अत्यत मूल्यवान है। इस परपरा में हमें अभी अन्य जैनेतर रचनाएं नही मिली है, किंतु यह रचना ही उनके अस्तित्व की सूचना देती है। इस विषय में खोज होने की आवश्यकता है।

छद-वैविध्य-परक रासो-परपरा

१. मुज रास—आचार्य हेमचद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण 'सिद्ध हैम' (स० ११९७ वि०=सन ११४० ई०) में दो दोहे उदाहरण में उद्धृत किए है, जो निम्नलिखित हैं—

रक्खइ सा विसहारिणी बे कर चुम्विवि जीउ।
पडिबिम्बिअ मुजालु जलु जेहि अडोहिउ पीउ॥
बाह विछोडवि जाहि तुह्वु हउ तेवई को दोषु।
हिययठ्ठिउ जइ नीसरहि जाणउ मुज सरोसु॥

मेरुतुग ने अपने 'प्रबधचितामणि' (स० १३६१ वि०=सन १३०४) में 'मुजराज प्रबध' शीर्षक देते हुए मुज की कथा दी है, और उसके विभिन्न प्रसगो में दोहे, सोरठे, गाथाएं तथा अन्य प्रकार के अनेक वृत्त उद्धृत किए है।[१] 'पुरातन-प्रबध-सग्रह' में श्री मुनि जिनविजय जी ने जैन प्रबध सग्रहो की एक १६ वी शती विक्रमी की प्रति के आधार पर 'मुजराज प्रबध' सकलित किया है, जिसमें दिया हुआ वृत्त प्राय· 'प्रबधचिंतामणि' वाले वृत्त जैसा ही है। उद्धृत छद भी दो-एक को छोडकर उन्ही में से है जो 'प्रबधचिंतामणि' में उद्धृत हुए है।[२] इससे यह प्रमाणित होता है कि स० ११९० वि० (सन ११३३ ई०) 'सिद्ध हैम' के रचना काल के पूर्व ही मुजराज के चरित्र को लेकर अपभ्रंश में लिखा गया कोई काव्य था। असभव नही कि यह रासक-परपरा की ही कोई रचना रही हो और इसका नाम 'मुज रास' या 'मुज रासक' रहा हो। इसके रचयिता के सबध में हमें कोई ज्ञान नही है, न इसका निश्चित रचना-काल ही हमें ज्ञात है। मुजराज का समय स० १०००-१०५४ वि० (सन ९४३-९९७ ई०) अनुमान किया जाता है। 'सिद्ध हैम' की तिथि स० ११९० वि० (सन ११३३ ई०) है। अतः 'मुज रास' का समय दोनो के बीच में कही होना चाहिए।

---

१ देखिए "प्रवधचितामणि', सिंघी जैन ग्रथ-माला, पृ० २१-२५।
२ देखिए 'पुरातन-प्रवध-सग्रह', सिंघी जैन ग्रथ-माला, पृ० १३-१५।

उपर्युक्त मुजराज-प्रबधो में आई हुई मुज की कथा सक्षेप में इस प्रकार है —

मुज का कर्नाटक के राजा तैलप से घोर वैमनस्य था। यद्यपि मुज का महामात्य रुद्रादित्य उसे रोकता रहा, फिर भी मुज ने तैलप के बल की पूरी जानकारी किए बिना ही उस पर आक्रमण कर दिया। मुज हार गया और बदी हुआ। बदीगृह में तैलप की विधवा बहिन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया। मुज के शुभेच्छुको ने उसे बदीगृह से निकाल भगाने की एक योजना बनाई। मुज ने उस योजना की बात बताते हुए मृणालवती से भी भाग निकलने के लिए कहा। मृणालवती उसके साथ भाग जाना नही चाहती थी और यह भी नही चाहती थी कि मुज से उसको अलग होना पडे। इसलिए उसने इस षड्यत्र की सूचना अपने भाई तैलप को दे दी। तैलप ने षड्यत्र को समाप्त कर मुज का बडा अपमान कराया—उससे घर-घर भीख मंगवाई—और तदनतर उसे हाथी से कुचलवा कर मरवा डाला। विभिन्न प्रसगो में आए हुए उद्धरणो के उदाहरण-स्वरूप निम्नलिखित छद यथेष्ट होगे—

सायरु पाई लक गढ गढवइ दस शिर राउ।
भग्गप्खड सो भज्जि गउ मुज म करसि विसाउ॥ पु० प्र० स०
जा मति पच्छइ सम्पज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोई॥ पु० प्र० स०

यह रचना किस उद्देश्य से की गई होगी, यह विचारणीय है। एक बात तो स्पष्ट है कि यह मुज के किसी वशज की प्रेरणा से न की गई होगी, क्योकि अपने एक अत्यत सम्मान्य पूर्वज का इस प्रकार पराजय और अपमानपूर्वक विनाश कोई भी वशज प्रबधबद्ध नही करा सकता था। यह सपूर्ण रचना उसी प्रकार लोकरजन तथा लोकशिक्षण के लिए निर्मित की गई प्रतीत होती है जिस प्रकार गीति-नृत्य-परक रासो-परपरा में पीछे 'वीसलदेव रास' हुई। सपूर्ण कल्पना अत्यत सुनियोजित और ललित है। इस प्रकार के दु खातपूर्ण और जीवन के यथार्थवाद से पूरित काव्य भारतीय साहित्य में कम ही मिलेंगे।

२ सन्देश रासक—इसका रचयिता अब्दुलरहमान है जिसने अपना परिचय ग्रथ के प्रारभ में ही इस प्रकार दिया है—

पच्चाएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छ देसोत्थि।
तह विसए सभूओ आरद्दो मीरसेणस्स॥३॥
तह तणओ कुल कमलो पाइयकव्वेसु गीय विसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो सनेहय रासय रइय॥४॥

अर्थात—पश्चिम के पूर्व प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में ततुवाय मीरसेन हुआ। उसका तनय कुल-कमल और प्राकृत-काव्य तथा गीत-विषय में प्रसिद्ध अब्दुलरहमान 'सदेश रासक' की रचना कर रहा है।

इससे प्रकट है कि अब्दुलरहमान 'सदेश रासक' की रचना के पूर्व ही प्राकृत-कवि और गीतिकार के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था। 'सदेश रासक' ऐसे ही सुकवि की रचना है।

इसकी रचना-तिथि ज्ञात नही है। किंतु इसके सपादक मुनि जिनविजय के अनुसार इसका रचना-काल शहाबुद्धीन मुहम्मद गोरी के आक्रमण के कुछ ही पूर्व होना चाहिए, कारण यह है कि मूलस्थान—मुल्तान—का इस रचना में एक महान हिन्दू-तीर्थ के रूप में उल्लेख हुआ है और उसी रूप में उसकी समृद्धि का वर्णन किया गया है। शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण के अनतर मुल्तान की वह श्री सदैव के लिए मिट गई। भाषा की दृष्टि से भी यह उनके विचारो के अनुसार उसी समय की प्रतीत होती है।[1]

इसका विषय विप्रलभ शृगार है जिसका अत मिलन में होता है। विजयनगर, जैसलमेर की एक विरहिणी अपने पति के पास सदेश भेजना चाहती है। उसे एक पथिक आता हुआ दिखाई पडता है। उस पथिक को रोक कर वह अपने पति के लिए सदेश देती है। ज्यो ही पथिक चलने को होता है, वह कुछ और भी कहने लगती है। इसी प्रकार कई बार होता है, यहाँ तक कि अत में जब पथिक चलने को उद्यत होता है और पूछता है कि उसे और तो कुछ नही कहना है, वह रो पडती है। पथिक सान्त्वना देते हुए उससे पूछता है कि उसका पति किस ऋतु में प्रवास के लिए गया था, वह कहती है, ग्रीष्म में, और तदनतर वह छ ऋतुओ के अपने विरहजनित कष्टो का वर्णन करती है। यह सब समाप्त होने पर जब पथिक चल पडता है, विरहिणी का पति लौटता हुआ दिखाई पडता है और दोनो मिल जाते है। 'बीसलदेव रास' की भाँति इसका कवि भी रचना को समाप्त करते हुए कहता है—

जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महतु।
तेम पढत सुणत यह जयउ अणाइ अणतु।।२२३।।

अर्थात—जिस प्रकार उसका चिंतित कार्य क्षणार्द्ध में सिद्ध हुआ, उसी प्रकार रचना को पढने-सुनने वालो का हो। अनादि और अनत परमेश्वर की जय हो।

रचना केवल २२३ छदो में समाप्त हुई है, किंतु इतने में ही २२ प्रकार के छदो का प्रयोग हुआ है। इसी 'बहुरूपनिबद्ध रासकत्व' के बारे में कवि ने रचना में एक स्थान पर सकेत किया है—

विविह विअक्खण सत्थिहि जइ पविस इणिरु।
सुम्मइ छदु मणोहरु पायउ महुरयरु।।
कहव ठाइ उचवेइहि वेउ पयासियइ।
कह बहु रूवि णिवद्धउ रासउ भासियइ।।४३।।

अर्थात—यदि कोई विविध विचक्षणो के साथ नगर में प्रविष्ट हो, तो वह प्राकृत के मनोहर और मधुरतर छद सुनेगा। किसी स्थान पर चतुर्वेदी गण द्वारा वेद प्रकाशित होता होगा तो कही वहु रूपक-निवद्ध रासो–रासक भासित होता होगा।

३. पृथ्वीराज रासो—यह हिंदी के प्रसिद्ध महाकवि चद बरदाई की रचना है। कवि ने अपने सबध में लिखते हुए कहा है[2]—

---

१. सदेश रासक, सिंघी जैन ग्रथमाला, प्रस्तावना, पृष्ठ ११-१५।
२. नागरी प्रचारिणी सभा सस्करण, १७०३।

विक्रमराज सरीर भो वुधि व्रदन कवि चद।
भूत भविष्यत वर्तमान् कह्यो अनुपम छद॥

यह विक्रमराज कौन थे, इसका कोई उल्लेख नही हुआ है। चद भट्ट—भाट—था, और ग्रथ भर में भट्ट कहकर सवोधित हुआ है। इस रचना में वह आदि से अत तक पृथ्वीराज के साथ रहा है। फिर भी, 'पृथ्वीराज रासो' के जितने भी पाठ प्राप्त हैं, उनमें ऐतिहासिक प्रमाद हैं। एक भी पाठ अभी तक ऐसा नही प्राप्त हुआ है जो सर्वथा ऐतिहासिक प्रमादशून्य हो। इसलिए इस कृति के किसी भी पाठ या रूप के पृथ्वीराज के समकालीन कवि की रचना होने में अविश्वास या सदेह होना स्वाभाविक है। जयानक कवि के 'पृथ्वीराज विजय' की जो खडित प्रति प्राप्त हुई है, उसमें दिया हुआ पृथ्वीराज और उनके पूर्वजो का वृत्त प्राय इतिहाससम्मत है।[1] जयानक ने भी लिखा है कि वह पृथ्वीराज का समसामयिक था। ऐसी दशा में इस बात के मानने का कोई कारण नही है कि 'पृथ्वीराज रासो' का रचयिता पृथ्वीराज का समकालीन था। इसलिए अनेक विद्वान इसे अशुद्ध और १८ वी शती तक की रचना मानते है।[2]

किन्तु कतिपय जैन विद्वानो के द्वारा १५ वी शती वि० में लिखित प्रवध-सग्रहो में चार छद ऐसे पाए गए है जो उनमें चद द्वारा पृथ्वीराज और जयचद को सुनाए गए कहे गए है और उनके 'पृथ्वीराज प्रवध' और 'जयचद प्रवध' में आते है। इनमें से तीन ना० प्र० स० के 'पृथ्वीराज रासो' के सस्करण में भी मिलते है। इसलिए उनके सपादक मुनि जिनविजय ने लिखा है, "इससे यह प्रमाणित होता है कि चद कवि निश्चयत एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"[3] इस प्रसग में उन्होने उक्त प्रवधो में पाए जाने वाले उन चारो छदो को उद्धृत करते हुए तीन का पाठ नागरी प्रचारिणी सभा के 'पृथ्वीराज रासो' के सस्करण से भी दिया है और दोनो पाठो के भाषा-विषयक अन्तर पर वल देते हुए उन्होने कहा है कि कालान्तर में 'पृथ्वीराज रासो' के उस मूल रूप की भाषा में परिवर्तन हो गया और उसमें वहुत से प्रक्षेप मिल गए, तथापि भाषा की कसौटी पर कस कर कोई भाषा-शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान रचना के मूल भाग को शेष से अलग कर सकता है।[4]

इस प्रसग में दो प्रश्न उठते है—

१—प्रवधो में चद द्वारा पृथ्वीराज या जयचद को सवोधित कर के कुछ छद कहे गए है, क्या इसीलिए यह मान लिया जाए कि चद पृथ्वीराज का समकालीन और उनका राजकवि था?

---

१ प्रोसीडिंग्स ऑव् दी एशियाटिक सोसाइटी ऑव् वगाल, अप्रैल, १८९३ ई० में प्रकाशित वुलर का पत्र।

२ उदाहरणार्थ, श्री मोतीलाल मेनारिया · राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ९६।

३ पुरातन प्रवध सग्रह, सिंघी जैन ग्रंथमाला, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृष्ठ ९-१०।

४ वही।

२—क्या उद्धृत छदो की भाषा का स्वरूप इतना निश्चयात्मक माना जा सकता है कि उसके आधार पर चद की असली रचना को प्रक्षेपो से अलग किया जा सके ?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सबध है, मेरी समझ में इन प्रबधो पर इतना अधिक विश्वास करना ठीक नही है। मुनि जी ने ध्यान से नही देखा। जो चार छद उन्होने प्रबधो से उद्धृत किए हैं, उनमें से दो तो जल्ह के हैं—चद के नही—भले ही वे प्रबधो में चद द्वारा जयचद को कहे गए बताए गए है। ये छद निम्नलिखित है—

(क) त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाखरिअइ जसु हइ।
चऊदसइ मयमत्त दति गज्जति महामय।।
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क घणुद्धर।
ल्हूसडु अरु बलुयान सख कु जाणइ ताह पर।।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहि विनिडिओ हो किम भयउ।
जइचद न जाणउ जल्हु कइ गयउ कि मूउ कि घरि गयउ।।

(ख) जइतचन्दु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ।
धरणि धसइ उद्धसइ पडइ रायह भगाणओ।।
सेसु मणिहि सकियउ मुक्कु हय खरि सिरि खडिओ।
तुट्टओ सो हरधवलु धूलि जसु चियतणि मडिओ।।
उच्छलीउ रेणु जसग्गिगय सुकवि ब(ज)ल्हु सच्चउ चवइ।
वग्ग इदु बिंदु भुय जुअलि सहस नयण किण वरि मिलइ।।

जो प्रबध इतने कल्पित ढग पर लिखे गए हैं, उनके आधार पर यह कह देना कि उनसे चद का पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि होना प्रमाणित होता है, मान्य नही हो सकता है।

जहाँ तक द्वितीय प्रश्न का सबध है, देश्य प्राकृत में रचना पृथ्वीराज के समय तक ही समाप्त नही हो गई थी। हम्मीर और उनके बहुत बाद तक उसमें रचनाएं निरतर होती रही थी, जिसका प्रमाण हमें 'प्राकृत पैंगलम' के उदाहरणो से भली भाँति मिलता है। उसमें दर्जनो ऐसे छद आते हैं जो हम्मीर तथा ऐसे शासको के सबध के हैं जो चौदहवी शती विक्रमी के है।[1] इसलिए पृथ्वीराज के समय में देश्य भाषा में रचे गए छदो को कोई भाषाशास्त्री उनके दो सौ वर्षों बाद तक रचे गए देश्य प्राकृत के छदो से कैसे अलग कर सकेगा, यह स्पष्ट नही ज्ञात होता है।

फिर भी इन प्रबध-सग्रहो की प्रतियो का पाठ-साक्ष्य उद्धृत छदो की तिथि-निर्धारण के सबध में हमारी सहायता करता है। सकलित 'पृथ्वीराज-प्रबध' हमें दो सग्रहो में मिलता है। इन दोनो सग्रहो में जो प्रबध समान रूप से पाए जाते हैं उनके पाठ अधिकाश में एक ही है, जिससे यह प्रमाणित है कि उन प्रबधो के लिए दोनो सग्रहो का आधारभूत प्रबध-सग्रह एक ही है, किन्तु दोनो में उन प्रबधो में ऐसे-ऐसे वाक्याश, वाक्य, छद, अनुच्छेद और प्रसग है जो एक में है और दूसरे में नही है,

---

१. हम्मीर-सबंधी छदों के विषय में इसी अध्याय में देखिए 'हम्मीर रासो' विषयक सूचना।

२—क्या उद्धृत छदो की भाषा का स्वरूप इतना निश्चयात्मक माना जा सकता है कि उसके आधार पर चद की असली रचना को प्रक्षेपो से अलग किया जा सके ?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सबध है, मेरी समझ में इन प्रवधो पर इतना अधिक विश्वास करना ठीक नही है। मुनि जी ने ध्यान से नही देखा। जो चार छद उन्होने प्रबधो से उद्धृत किए हैं, उनमें से दो तो जल्ह के हैं—चद के नही—भले ही वे प्रवधो में चद द्वारा जयचद को कहे गए बताए गए है। ये छद निम्नलिखित हैं—

(क) त्रिण्हि लक्ष तुषार सबल पाखरिअइ जसु हइ।
चऊदसइ मयमत्त दति गज्जति महामय॥
वीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क घणुद्धर।
ल्हूसडु अरु बलुयान सख कु जाणइ ताह पर॥
छत्तीस लक्ष नराहिवइ विहि विनिडिओ हो किम भयउ।
जइचद न जाणउ जल्हु कइ गयउ कि मूउ कि घरि गयउ॥

(ख) जइतचन्दु चक्कवइ देव तुह दुसह पयाणउ।
धरणि धसइ उद्धसइ पडइ रायह भगाणओ॥
सेसु मणिहि सकियउ मुक्कु हय खरि सिरि खडिओ।
तुट्टओ सो हरधवलु धूलि जसु चियतणि मडिओ॥
उच्छलीउ रेणु जसग्गिगय सुकवि ब(ज)ल्हु सच्चउ चवइ।
वग्ग इदु विंदु भुय जुअलि सहस नयण किण वरि मिलइ॥

जो प्रबध इतने कल्पित ढग पर लिखे गए हैं, उनके आधार पर यह कह देना कि उनसे चद का पृथ्वीराज का समकालीन और उसका राजकवि होना प्रमाणित होता है, मान्य नही हो सकता है।

जहाँ तक द्वितीय प्रश्न का सबध है, देश्य प्राकृत में रचना पृथ्वीराज के समय तक ही समाप्त नही हो गई थी। हम्मीर और उनके बहुत बाद तक उसमें रचनाएं निरतर होती रही थी, जिसका प्रमाण हमें 'प्राकृत पैंगलम' के उदाहरणो से भली भाँति मिलता है। उसमें दर्जनो ऐसे छद आते हैं जो हम्मीर तथा ऐसे शासको के सबध के हैं जो चौदहवी शती विक्रमी के हैं।[1] इसलिए पृथ्वीराज के समय में देश्य भाषा में रचे गए छदो को कोई भाषाशास्त्री उनके दो सौ वर्षों बाद तक रचे गए देश्य प्राकृत के छदो से कैसे अलग कर सकेगा, यह स्पष्ट नही ज्ञात होता है।

फिर भी इन प्रवध-सग्रहो की प्रतियो का पाठ-साक्ष्य उद्धृत छदो की तिथि-निर्धारण के सबध में हमारी सहायता करता है। सकलित 'पृथ्वीराज-प्रबध' हमें दो सग्रहो में मिलता है। इन दोनो सग्रहो में जो प्रवध समान रूप से पाए जाते हैं उनके पाठ अधिकाश मे एक ही है, जिससे यह प्रमाणित है कि उन प्रवधो के लिए दोनो सग्रहो का आधारभूत प्रबध-सग्रह एक ही है, किन्तु दोनो में उन प्रवधो में ऐसे-ऐसे वाक्याश, वाक्य, छद, अनुच्छेद और प्रसग हैं जो एक में है और दूसरे में नही हैं,

---

१. हम्मीर-सवधी छदो के विषय में इसी अध्याय में देखिए 'हम्मीर रासो' विषयक सूचना।

प्रकट है कि 'रासो' के मूल स्वरूप का निर्धारण केवल उसकी प्राप्त प्रतियों के वैज्ञानिक उपयोग से हो सकता है। दूसरा कोई मार्ग नही है।

इधर इस दिशा में प्रारभिक कार्य अच्छा हुआ है। उसके चार पाठो की प्रतियाँ खोज निकाली गई है, जिन्हे वृहत, मध्यम, लघु और लघुतम रूपान्तर कहा गया है। वृहत पाठ की कुछ प्रतियो को लेकर नागरी प्रचारिणी सभा का सस्करण सपादित किया गया था।[1] मध्यम पाठ की कुछ प्रतियो के आधार पर श्री मथुराप्रसाद दीक्षित ने 'रासो का असली पाठ' वीस-वाईस वर्ष हुए निकालना प्रारभ किया था, किन्तु केवल प्रारभ का कुछ अश निकल पाया।[2] लघु पाठ अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु पजाव विश्वविद्यालय में श्री वेणीप्रसाद शर्मा उस पर कार्य कर रहे है, और सभव है कि उनका कार्य शीघ्र ही प्रकाश में आए। लघुतम पाठ का प्रकाशन—सपादन के अनतर—'राजस्थान भारती' में होना प्रारभ हुआ है।[3] यद्यपि उसके प्रकाशन की गति वहुत मन्द है, फिर भी वह प्रकाशित हो रहा है, यही सतोप का विपय है। इन पाठो की प्रतियो का प्रारभिक मिलान करने पर देखा गया है कि लघुतम के प्राय सभी छद लघु में, लघु के प्राय सभी छद मध्यम में और मध्यम के प्राय सभी छद वृहत में पाए जाते है। फिर भी अनैतिहासिक तत्व लघुतम तक में है। इसलिए जहाँ एक ओर यह अनुमान किया गया है कि कदाचित लघुतम ही मूल पाठ होगा,[4] दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि वृहत के अनतर शेप तीन पाठ उत्तरोत्तर उसी की सक्षेप परपरा में है।[5] यह समस्या विचारणीय है। लघुतम पाठ अभी तक प्राय अप्रकाशित है। उसका केवल प्रारभिक अश मात्र निकल पाया है, उसकी प्रतियो का भी उसी सपादन में उपयोग हो रहा है, इसलिए वे प्राप्य नही है। इसलिए उसके सवध में कुछ कहना उचित न होगा। किंतु शेप तीन पाठो के सस्करण अथवा प्रतियाँ प्राप्त है, और उनके सवध मे इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

यदि ध्यान से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि प्राय उन सभी प्रसगो में जहाँ वलावल सूचक सख्याओं के विपय में तीनो पाठो में अन्तर है, लघु पाठ की सख्याए दो-एक अपवादो को छोड कर जो अनेक कारणो से सभव है सर्वत्र लघु है, मध्यम की, इसी प्रकार, मध्यम है, और वृहत की, इसी प्रकार, वृहत हैं। मध्यम पाठ की सख्याएं कही कही पर तो लघु की है और कही कही पर वृहत की है।[6] उदाहरणो के लिए निम्नलिखित उल्लेखो को लिया जा सकता है—

१—वृहत ४५ २०२ ' तीस लष्ष तोखार लप्प गैवर गल गज्जहि।
मध्यम १३ १ " " " " "।
लघु ३ कवित्त १ सहस वीस " " "।

---

१. श्री मोहनलाल विष्णुलाल पडया तथा श्री श्यामसुदर दास द्वारा सपादित, १९१० ई०।
२ देखिए ओरिएण्टल कालेज, लाहौर की पत्रिका।
३. राजस्थान भारती, भाग ४, अक १ से प्रकाशन प्रारभ हुआ है।
४. राजस्थान भारती, अक १, भाग ४, पृष्ठ ५।
५ उदाहरणार्थ, देखिए हिंदी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ६५।
६. विशेप विस्तार के लिए देखिए हिंदी अनुशीलन, पौप-चैत्र, स० २०११, पृष्ठ २०० पर प्रस्तुत लेखक का 'पृथ्वीराज रासो के तीन पाठो का आकार-सवध' शीर्षक लेख।

सभी प्रतियो में समान रूप से मिलती है। असभव नही है कि इतिहास की दृष्टि से प्रबधो में दी हुई पृथ्वीराज के अत की कथा ही प्रामाणिक हो। 'हम्मीर महाकाव्य' में भी इसी प्रकार की एक कथा दी हुई है।[१] किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि प्रबधो में उस प्रसग में एक भी छद चद का उद्धृत नही है। हमारा प्रयोजन तो यहाँ चद की रचना के मूल स्वरूप से है, इतिहास से नही, और यदि इन प्रबधो तथा 'हम्मीर महाकाव्य' का आधार चद की रचना के अतिरिक्त कुछ और रहा हो तो आश्चर्य नही है। ऊपर हम देख ही चुके है कि प्रबधो में चद की कही या लिखी जितनी उक्तियाँ बताई गई है, वे सब की सब चद की नही है, यहाँ तक कि कुछ तो उनमें से जल्ह की है। इसलिए यह मानना पडेगा कि इस प्रबध में 'पुरातन प्रबध सग्रह' तथा 'प्रबध चितामणि' हमारी सहायता नही कर सकते है।

'रासो' के आकार-प्रकार के निर्धारण का एक प्रयास डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० नामवर सिह द्वारा हुआ है। इसे 'सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' कहा गया है। किन्तु यह सस्करण इस विश्वास के साथ भी प्रस्तुत किया गया है कि चद की मूल रचना कुछ इसी के आस-पास होगी।[२] यह सकलन कुछ—लगभग एक दर्जन—स्थापनाओ के आधार पर किया गया है। किंतु वे सभी स्थापनाएँ ऐसी है कि प्राय समान रूप से और समान मात्रा में उस अश में मिलती हैं जिन्हे 'सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' के सपादको ने प्रक्षिप्त समझ कर छोड दिया है। इसलिए इस प्रयास से हम 'रासो' के मूल स्वरूप के निकट पहुँच सके है, यह मानना उचित नही होगा।[३]

इसी प्रकार का एक प्रयास इधर कविराव मोहनसिंह कर रहे हैं। उन्होंने भी इसी प्रकार की कुछ स्थापनाएं करके 'रासो' के छदो का एक सकलन करके निकालना प्रारभ किया है।[४] जब तक पूरी रचना निकल न जाए, तब तक उसके सबध में कुछ कहना उचित न होगा। फिर भी सभाव्य परिणाम पर कुछ विचार किया जा सकता है। कविराव जी की सर्वप्रमुख स्थापना यह है कि स्वरचित छदो के सबध में कवि ने ग्रथ के प्रारभ में ही स्पष्ट निर्देश कर दिया है, जब उसने कहा है—

छद प्रबध कवित्त जति साटक गाह दुहत्थ।
लहु गुरु मडित खडियहि पिंगल अमर भरथ्थ॥

इस आधार पर उन्होने इन्ही वृत्तो में आए हुए छदो को सकलन में स्थान देना स्वीकार किया है।[५] किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इन छदो में चद के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति रचनाएँ कर के उन्हे 'रासो' में नही मिला सकता था? और यदि इस प्रकार का प्रक्षेप हुआ, तो उससे बचने का क्या उपाय है?

---

१. देखिए नयचद्र सूरि · हम्मीर महाकाव्य।

२. सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो—प्रकाशक साहित्य भवन, प्रयाग, भूमिका।

३. वही, भूमिका। विशेष जानकारी के लिए 'आलोचना' जुलाई १९५३ के अक में पृष्ठ ८८ पर प्रकाशित 'सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' शीर्षक समालोचना देखिए।

४ प्रथम भाग, प्रकाशक साहित्य सस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर।

५. वही, सपादकीय, पृष्ठ १।

प्रकट है कि 'रासो' के मूल स्वरूप का निर्धारण केवल उसकी प्राप्त प्रतियो के वैज्ञानिक उपयोग से हो सकता है। दूसरा कोई मार्ग नही है।

इधर इस दिशा में प्रारभिक कार्य अच्छा हुआ है। उसके चार पाठो की प्रतियाँ खोज निकाली गई है, जिन्हे वृहत, मध्यम, लघु और लघुतम रूपान्तर कहा गया है। वृहत पाठ की कुछ प्रतियो को लेकर नागरी प्रचारिणी सभा का सस्करण सपादित किया गया था।[1] मध्यम पाठ की कुछ प्रतियो के आधार पर श्री मथुराप्रसाद दीक्षित ने 'रासो का असली पाठ' बीस-बाईस वर्ष हुए निकालना प्रारभ किया था, किन्तु केवल प्रारभ का कुछ अश निकल पाया।[2] लघु पाठ अभी तक अप्रकाशित है, किन्तु पजाब विश्वविद्यालय में श्री वेणीप्रसाद शर्मा उस पर कार्य कर रहे है, और सभव है कि उनका कार्य शीघ्र ही प्रकाश में आए। लघुतम पाठ का प्रकाशन—सपादन के अनतर—'राजस्थान भारती' में होना प्रारभ हुआ है।[3] यद्यपि उसके प्रकाशन की गति बहुत मन्द है, फिर भी वह प्रकाशित हो रहा है, यही सतोष का विषय है। इन पाठो की प्रतियो का प्रारभिक मिलान करने पर देखा गया है कि लघुतम के प्राय सभी छद लघु में, लघु के प्राय सभी छद मध्यम में और मध्यम के प्राय सभी छद वृहत में पाए जाते हैं। फिर भी अनैतिहासिक तत्व लघुतम तक में है। इसलिए जहाँ एक ओर यह अनुमान किया गया है कि कदाचित लघुतम ही मूल पाठ होगा,[4] दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि वृहत के अनतर शेष तीन पाठ उत्तरोत्तर उसी की सक्षेप परपरा में है।[5] यह समस्या विचारणीय है। लघुतम पाठ अभी तक प्राय अप्रकाशित है। उसका केवल प्रारभिक अश मात्र निकल पाया है, उसकी प्रतियो का भी उसी सपादन में उपयोग हो रहा है, इसलिए वे प्राप्य नही है। इसलिए उसके सबध में कुछ कहना उचित न होगा। किंतु शेष तीन पाठो के सस्करण अथवा प्रतियाँ प्राप्त है, और उनके सबध में इस दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

यदि ध्यान से देखा जाए तो ज्ञात होगा कि प्राय उन सभी प्रसगो में जहाँ बलाबल सूचक सख्याओ के विषय में तीनो पाठो में अन्तर है, लघु पाठ की सख्याए दो-एक अपवादो को छोड कर जो अनेक कारणो से सभव है सर्वत्र लघु हैं, मध्यम की, इसी प्रकार, मध्यम है, और वृहत की, इसी प्रकार, वृहत है। मध्यम पाठ की सख्याएं कही कही पर तो लघु की हैं और कही कही पर वृहत की है।[6] उदाहरणो के लिए निम्नलिखित उल्लेखो को लिया जा सकता है—

१—वृहत ४५ २०२ ' तीस लष्ष तोखार लष्ष गैंवर गल गज्जहि।
मध्यम १३ १ " " " " "।
लघु ३ कवित्त १ ' सहस बीस " " "।

---

१. श्री मोहनलाल विष्णुलाल पड्या तथा श्री श्यामसुदर दास द्वारा संपादित, १९१० ई०।
२ देखिए ओरिएण्टल कालेज, लाहौर की पत्रिका।
३ राजस्थान भारती, भाग ४, अक १ से प्रकाशन प्रारभ हुआ है।
४ राजस्थान भारती, अक १, भाग ४, पृष्ठ ५।
५ उदाहरणार्थ, देखिए हिंदी साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ६५।
६. विशेष विस्तार के लिए देखिए हिंदी अनुशीलन, पौष-चैत्र, सं० २०११, पृष्ठ २०० पर प्रस्तुत लेखक का 'पृथ्वीराज रासो के तीन पाठो का आकार-सबध' शीर्षक लेख।

२—बृहत ४५ २०२ दसह लष्ष पयदलह पुलत दस छत्र ति रज्जहिं।
मध्यम १३ १ सत्त लष्ष पयदलपुलत ,, ,, ,, ,, ।
लघु ३ कवित्त १ ,, ,, ,, ,, ।

३—बृहत ६१ ७२५ आयस रावन सथ्थ हलि अयुत एक भट सथ्थ।
मध्यम ३२ ९४ ,, ,, ,, ,, ,, ।
लघु ९ दोहा ३० ,, ,, ,, असिय सहस ,, ।

और यह विदित ही है कि सक्षेप-क्रिया में सख्याएं कम नही की जाती है। इसलिए वास्तविकता यही प्रतीत होती है कि लघु में दी हुई सख्याएं ही मूल पाठ के निकटतम है, मध्यम-बृहत की उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रक्षिप्त है। फलत परिणाम यह निकलता है कि इन तीनो पाठो में लघु मूल के सब से अधिक निकट है।

यह बात एक अन्य प्रकार से भी प्रमाणित होती है। ग्रथ के आकार के सबध में प्रारभ में ही एक दोहा है जिसका पाठ लघु में निम्नलिखित है—

लघु २ दोहा १० सहस सत्त नखशिख सरस आदि अत सुनि देषु।
घटि वलि मत्तहि को पढै दूषन मोहि न विसेषु॥

मध्यम १ १७ में प्रारभ के शब्दो का पाठ है सित सहस, और बृहत १ ९० में उनका पाठ है सत्त सहस।

'सित सहस' और 'सत्त सहस' सभवत एक ही है, अर्थ है सात सहस्र या शत सहस्र, किंतु 'सहससत्त' का अर्थ होगा सात सहस्र या सहस्र शत, अथवा एक सहस्र और सात अथवा एक सहस्र और शत। 'नखशिख' से अर्थ कदाचित रूप या रूपक होगा। किंतु कुल मिला कर बृहत पाठ में दस हजार के लगभग, मध्यम में साढे तीन हजार के लगभग और लघु में एक हजार एक सौ के लगभग रूपक है। प्रकट है कि बृहत और मध्यम पाठ इस दोहे में दिए हुए आकार को नही प्रस्तुत करते, लघु ही इस आकार को प्रस्तुत करता है। और ऊपर हम देख ही चुके है कि तीनो में लघु ही पूर्व का है, मध्यम और बृहत उत्तरोत्तर बाद के हैं। इसलिए उपर्युक्त तीन पाठो मे से प्रकार और आकार दोनो ही दृष्टियो से लघु पाठ ही मूल के निकटतम प्रतीत होता है।

आकार के प्रसग में हम लघुतम पर भी कुछ विचार कर सकते है। उसका जितना अश प्रकाशित हुआ है उसमें ऊपर उद्धृत दोहा आ जाता है और उसमें प्रारभिक शब्दो का पाठ है सहस पच।[1] किंतु उसमें पाए जाने वाले रूपको की सख्या कुल मिलाकर चार सौ के लगभग ही वताई जाती है। इसलिए यह लगता है कि वह एक सकलन मात्र है और इसीलिए मूल पाठ से वह भी कुछ न कुछ दूर है। उसके प्रकाशित होने पर हम इससे अधिक कुछ कह सकेंगे। 'रासो' की कथा देना यहाँ अनावश्यक होगा। उसे सभी जानते है और उसका मुख्याश सभी पाठो में एक जैसा है।

छद-योजना की दृष्टि से वह भी 'सदेश रासक' की भाँति स्वयभू तथा विरहाक के दिए

---

१. देखिए राजस्थान भारती, भाग ४, अक १, पृष्ठ ३९।

हुए रासक और रासावध के लक्षणो को पूर्ण रूप से प्रमाणित करता है। उसका छद-वैभव असाधारण है और उसमें छद-परिवर्तन प्राय केवल छद-परिवर्तन के लिए नही किया गया है। विभिन्न छदो का सवध उसकी विभिन्न प्रकार की विषय-वस्तु से प्रतीत होता है, और छदो का चुनाव इस दृष्टि से प्राय सुरुचि और सावधानी से किया गया लगता है।

'रासो' सभी दृष्टियो से एक वहुत सफल महाकाव्य है। आकार-प्रकार मे ही नही, वह उससे भी अधिक इसलिए महाकाव्य है कि वह हमारे राष्ट्रीय आदर्शो का सच्चा प्रतिनिधि है। उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय आदर्शों की जितनी सच्ची और सफल अभिव्यक्ति हुई है, कम ही ग्रथो से हुई होगी। शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी वह एक उत्कृष्ट रचना है। प्रस्तुत अध्याय के सीमित क्षेत्र में यह दिखाना सभव नहीं है, केवल उदाहरण के लिए नीचे गोरी के अतिम आक्रमण के पूर्व के षट्ऋतु-वर्णन प्रसग के छद भावार्थ के साथ दिए जा रहे हैं—

श्यामगे कल धूत नूत शिखरे मधुरेहि मधुवेष्टिता।
वाता सीत सुगध मद सिरसा आलोल साचेष्टिता॥
कठी कठ कुलाहले मुकलया कामस्य उद्दीपनो।
रत्ते रत्त वसत मत्त सरसा सजोगि भोगायिते॥[1]

(वृक्ष हरे नव पल्लवो के कारण) श्यामाग और (रग-विरगे पुष्पो के कारण) नूतन कलधूत—चादी-सोने—के (जैसे) शिखरो वाले और मधुर मधु से आवेष्टित (हो रहे) हे। शीतल, सुगधित, मद और सरस वात अपनी चेष्टाओ में विशेष लोल हो रही है। कठी (कोयल) के कठ के कोलाहल से मुकुलो (कलियो) में कामोद्दीपन हो रहा है। रत्तेरत्त—रक्त वर्ण के (रगीन)—और मत्त वसत का सहयोग प्राप्त करके अनुरक्त हो कर पृथ्वीराज मयोगिता का भोग कर रहा है।

दीहा दिग्घ सुदग्ग कोप अनिला आवर्त्त मित्ताकर।
रेने सेन दिसन थान मलिना गोमग्ग आडम्बरम्।
नीरे नीर अपीन छीन छपया तपया तरुण्या तन।
मलया चदन चद मद किरणे ग्रीष्मे च आपेन्चन॥[2]

दिन दीर्घ होने लगा है, गर्मी का प्रकोप हो गया है, अनिल (वायु) में मित्र (सूर्य) के करो के कारण आवर्त्त (ववडर) होने (उठने) लगा है। रेणु की सेनाओ से दिशाएं और स्थान मलिन हो रहे हैं, (यथा) गोमार्ग (की धूल) के आडवर से हो। जहाँ जो भी नीर था, वह अपीन (क्षीण) हो गया है। और तप (गर्मी) का तन (शरीर) तरुण हो गया है। मलय (समीर), चदन और चद्रमा की किरणें ही ग्रीष्म में मुरझाते हुए प्राणो का सिचन करते है।

आले वद्दल मत्त मत्त दिसया दामिन्य दामायते।
दादूर दर मोर सोर सरिमा पप्पीह चीहायते।

---

१. वृहत ६१ १९—मध्यम ४० १०—लघु १३ साटक २ —लघुतम ४. १।
२. वृहत ६१. १८—मध्यम ३९ १२—लघु १३. साटक ३ —लघुतम ४. २।

सिंगाराय वसुधरा सुललिता सलिता समुद्रायते।
जामिन्या सम वासरे विसरिता प्रावृट् सुपश्यामिते ॥[१]

आर्द्र बादल मत्त हो कर दिशाओ में (फैल गए) है, और दामिनी दमक रही है। दादुरो तथा मयूरो के शोर के साथ पपीहा चीख रहा है। वसुधरा ने सुललित शृगार कर लिया है। सरिता उमड कर समुद्र बन रही है। वासर (दिन) भी प्रावृट (वर्षा) में यामिनी (रात्रि) के समान (अधकारपूर्ण) होते हुए दिखाई पड रहा है।

पुत्त पुत्ति सनेह गेह भुगता जुगतान दिव्या दिने।
राजा छत्र निशान राज छितया निंदातिनब्भासने।
कुसुमे कातिग चद निर्मल कला दीपान वर दाइने।
मा मुक्के पिय वाल नाल समया सरदाय बर दायते ॥[२]

पुत्र-पुत्री के स्नेह से (सपन्न) जो (नारियाँ) गृह का भोग कर रही हैं और जो सयोगिनी है, उनके लिए शरद के दिन दिव्य है। क्षिति पर राजाओ के छत्र और उनका आनद भासित होने लगा है। कार्तिक में कुसुमो की और चद्र की कलाएँ शोभित हो रही है, और दीपक वरदायी हो रहे है (दीपदान कर के लोग मनोरथ की प्राप्ति कर रहे है)। हे प्रिय! वाला को नाल (?) के समय न छोडो, (क्योकि) शरद उसको दर्द (दु ख) देगा।

छीन वासर श्वास दिघ्घ निसया सीत जनेत वने।
सज्जा सज्जर वास सथ वनितया आनग आनगने।
बाला तत निवृत्त पत्त नलिनी दीना न जीवच्छिने।
मा काते हिमवत मत गवने प्रमदा नि आलबने ॥[३]

वासर (दिन) क्षीण हो कर श्वास (मात्र) हो गया है, और निशा दीर्घ हो गई है। जनेत (बस्तियो) और वन मे (सर्वत्र) शीत व्याप्त हो रहा है। शैया की सज्जा में वनिता के साथ वास अनगकारक हो रहा है। (आगत वियोग-भीता) बाला का तत्व (प्राण) नलिनी के समान हो रहा है, जिसके पत्ते झड गए हैं। वह दीना क्षण भर भी जीवित नही रह सकेगी। इसलिए हे कान्त! हेमत में गमन का मत्र (विचार) न करो (अन्यथा) प्रमदा निरवलव हो जायगी।

रोमाली घन नील भूधर वर गिरि तुग नारायते।
पब्वय पीन कुचानि जानि सिथिला फुकार झुकारया।
शिशिरे सर्वरि वारिणेय विरहा मा हृद्द विद्दारया।
मा कते मृग बद्ध सिंघ गवने कि देव उबारये ॥[४]

---

१. वृहत ६१. ३९=मध्यम ३९. १३=लघु १३. साटक ४=लघुतम ४ ३।
२ वृहत ६१ ४९=मध्यम ४१ ३=लघु १३. साटक ५=लघुतम ४ ४।
३ वृहत ६१ ६२=मध्यम ४१ ६=लघु १३. साटक ६=लघुतम ४. ५।
४ वृहत ६१. ६२=मध्यम ४१. ६=लघु १३. साटक ७=लघुतम ४ ६।

(स्त्री की) घनी नीली रोमावली ही श्रेष्ठ भूवर और तुग गिरि से निकली हुई जल की धारा है। उसके पीन कुच ही पर्वत है। (विरह से) शिथिल (?) होने पर वह जो फुकार (निश्वास ?) छोडती है, वही मानो (पवन का) झकोर है। शिशिर की रात्रि में विरह ही वह वारण हाथी है जो हृदय (रूपी वाटिका) को विदारता (तहस-नहस करता) है। उस विरह रूपी मृग (वनचारी) वारण का वध करने वाले सिंह, हे कान्त, तुम मत गमन करो। हे देव ! क्या तुम इस नारी को विरह-वारण से उवारोगे ?

भर अनग अथ्यिय महिल रति वड्ढिय घटि सार।
विपरित दिन ढिल्लिय सहर नृपति अलुझ्झिय मार ॥[1]

(इस प्रकार ऋतुएँ आती और चली जाती थी,) अनग (काम) में भर कर (पृथ्वीराज) महल में ही (सयोगिता के प्रेमानुरोध के कारण) पडा रहता था। (उसकी) रति वढ गई थी। (इस कारण उसका) सारा वल घट गया था। उधर दिल्ली शहर के दिन विपरीत हो रहे थे (पलटा खा रहे थे) और (इधर) नृपति पृथ्वीराज (इस प्रकार) काम-क्रीडा में उलझा हुआ था।[2]

४ **हम्मीर रासो**—'हम्मीर रासो' नाम की कोई रचना अभी तक नही मिली है किन्तु 'प्राकृत पैंगलम' के आठ छदो में हम्मीर का स्पष्ट नामाल्लेख होता है, और असभव नही कि उसमें और भी कुछ छद ऐसे हो जो हम्मीर के चरित्र से सवधित हो, यद्यपि उनमें हम्मीर का नाम न आया हो। ये आठ छद भी कम से कम आठ विभिन्न वृत्तो के उदाहरण में आए है। अत यह मानना ठीक ही होगा कि विविध छदो से विभूपित हम्मीर के जीवन से सवधित कोई समादृत कृति उस समय थी जव 'प्राकृत पैंगलम' की रचना हुई, और असभव नही कि यह प्राकृत कृति रासो-परपरा में ही रही हो।

इन छदो का रचना-काल क्या होगा यह भी विचारणीय है। 'प्राकृत पैंगलम' के रचना-काल पर विचार करते हुए उसके विद्वान सपादक ने लिखा है कि इसकी कुछ टीकाएँ १६ वी तथा १७ वी शताव्दी ई० की है।[4] दूसरी ओर हम्मीर का निधन १४ वी शताव्दी ई० के प्रारभ में हुआ था और १६ वी शताव्दी ई० लौकिक साहित्य में अपभ्रश या देश्य प्राकृत का स्थान आधुनिक आर्य भापाओ ने ले लिया था, इसलिए इन छदो की रचना १४ वी या १५ वी शताव्दी ई० की होनी चाहिए।

इन छदो का अथवा इनके स्रोत 'हम्मीर रासो' का रचयिता कौन रहा होगा, यह इन छदो से ज्ञात नही होता। हमारे साहित्य के इतिहासो में शार्गधर का एक 'हम्मीर रासो' माना

---

१ लघु १३, दोहा १९।

२. पृथ्वीराज रासो की अनेक समस्याओ के सवध में विस्तृत जानकारी लेखक द्वारा सपादित 'पृथ्वीराज रासो' में मिलेगी, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

३ श्री चन्द्रमोहन घोप द्वारा सपादित तथा एशियाटिक सोसायटी वगाल द्वारा १९०२ में प्रकाशित संस्करण, मात्रा वृत्त के छद ७१, ९२, १०६, १४७, १५१, १९२०४ तथा वर्ण वृत्त का छद १८३।

४. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ ७।

जाता रहा है। शार्गंधर के पितामह राघव—जो पीछे 'छिताई वार्ता' तथा 'पद्मावत' आदि अल्लाउद्दीन से सबधित अनेक काव्यो में विविध प्रकार से आए हैं—हम्मीर देव के आश्रय में रहते थे और उनका एकाध पद्य 'शार्गंधर पद्धति' में सकलित है। यद्यपि यह असभव नही कि शार्गंधर ने 'हम्मीर रासो' नामक किसी कृति की रचना की हो, किंतु इसके कोई निश्चित प्रमाण नही हैं।

इसके दो छदो में एक 'जज्जल' आता है। ये छद निम्नलिखित है —

(क) पिधउ दिढ सण्णाह बाह उप्पर पक्खर दइ।
बधु सभवि रण धसउ सामि हम्मीर बअणल्इ॥
उड्डल णहपह भमउ खग्गरिउ सीसह डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पब्बउ अप्फालउ।
हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोणाहल मुह मह जलउ।
सुलताण सीस करबाल दइ तेज्जि कब्लेर दिअचलउ॥

(ख) ढोल्ला मारिअ ढिल्लि मह मुच्छिय मेच्छ सरीर।
पुर जज्जला मतिबर चलिअ बीर हम्मीर।
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कपइ।
दिगभगणह अधार धूलि सूरह रण झपइ॥
दिगभगणह अधार आणु खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्खि मारअ ढिल्लि मह ढोला॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने जज्जल को इन छदो का रचयिता माना है।[२] किंतु इन छदो के अर्थ पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि जज्जल इनमें हम्मीर के वीर योद्धा मत्री के रूप में आया है, कवि के रूप में नही। अर्थ इस प्रकार होगा —

क (मैं अव) दृढ सन्नाह बाँहो के ऊपर पक्खर दे (धारण) कर पहन रहा हू। (मैं अब) वधुओ को विदा कर के (बधुओ से विदा ले कर) और स्वामी हम्मीर का वचन (आदेश) ले कर रण में धँस रहा हूँ। मै उड्ता हुआ नभ-पथ में भ्रमण कर (भ्रमण करने जा) रहा हूँ और रिपु-शीश पर खड्ग गिरा (गिराने जा) रहा हूँ। पक्खर से पक्खर ठेल-पेल कर के (मैं) पर्वत को उखाड फेंक (उखाड फेंकने जा) रहा हूँ। जज्जल कहता है, हम्मीर के कार्य के लिए मैं क्रोधानल के मुख में जल (जलने जा) रहा हूँ। सुल्तान के शीश पर कृपाण दे कर और कलेवर (शरीर) को त्याग कर मै देव लोक को प्रस्थान कर (करने जा) रहा हूँ।

ख दिल्ली में ढोल नमाडे पर चोट कर के हम्मीर ने म्लेच्छो के शरीर को मूर्छित कर दिया। पुर में मन्त्रिवर जज्जल को (रख कर) वीर हम्मीर ने प्रयाण किया। वीर हम्मीर चला तो उसके पाद-भार से मेदिनी काँप गई। दिशाओ तथा नभ में (उडी हुई धूल के कारण)

---

१. श्री चन्द्रमोहन घोष द्वारा सपादित तथा एशियाटिक सोसाइटी वगाल द्वारा १९०२ में प्रकाशित सस्करण, मात्रा वृत्त १०६, १४७।

२. देखिए हिन्दी काव्य-धारा—श्री राहुल साकृत्यायन।

अधकार हो गया और धूल से सूर्य का रथ ढंक गया। दिशाओ तथा नभ में अधकार हो गया था, (ऐसी दशा में) हम्मीर खुरासान का ओल—वे राजकुमार आदि जो पराजित राजा की ओर मे विजयी राजा को जमानत के रूप में दिए जाते थे—ले आया। विपक्ष को दल-मल कर के और उसको दमन कर के (हम्मीर ने पुन) दिल्ली में ढोल मारा (विजय का नगाडा वजवाया)।

अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यो से भी जज्जल के हम्मीर के मत्री होने का समर्थन होता है।[1] अत जज्जल इन छदो का रचयिता नही है। 'प्राकृत पैंगलम' में पाए गए ये हम्मीर-सबधी समस्त छद वीर रस के हैं और काव्य की दृष्टि से अत्यत उत्कृष्ट है।

५ वुद्धि रासो—वुद्धि रासो का रचयिता जल्ह नाम का कवि है। यह रचना अप्रकाशित है। केवल इसकी सूचना डा० मोतीलाल मेनारिया द्वारा सपादित 'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज' प्रथम भाग तथा उन्ही के द्वारा लिखित 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' से प्राप्त होती है। इसका रचयिता जल्ह कौन था, यह इन सूचनाओ से ज्ञात नही होता है। मेनारिया जी ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में लिखा है कि रचना-शैली से जल्ह कोई जैन कवि प्रतीत होते हैं, और उदाहरण में उन्होने निम्नलिखित पक्तियाँ दी है—

घरि घरि कुसुम वास अरिव्यदा।
अलि लुट्टहि अहि निशि तजि न्यदा।
जलधि तरगिनि कीन वनदा।
किय पोड्स जनु पूरण चदा।
चद मुखी मुख चद किय।
चखि कज्जल अम्वर हार लिय।
घण घटपि छिद्र नितम्व भरै।
मयमत्त सुधा मन मछ्छ करै॥[2]

'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज' में भी उन्होने आदि और अत की कुछ पक्तियाँ दी है।[3] किन्तु इन सभी प्रकाशित पक्तियो में कोई वात भाषा-शैली की दृष्टि से ऐसी नही मिलती है जिससे रचयिता को जैन कवि माना जा सके। इस प्रकार की पक्तियाँ चद के 'पृथ्वीराज रासो' के सभी पाठो में भरी पडी हैं। एक जल्ह का नाम अधूरे 'पृथ्वीराज रासो' के पूर्ण-कर्त्ता के रूप में 'पृथ्वीराज रासो' के वृहत पाठ में आया है।[4] एक जल्ह के दो छदो का उल्लेख 'पुरातन प्रवध सग्रह' में चद के नाम से पाए जाने वाले छदो के प्रसग में ऊपर हो ही चुका है। और इन छदो में से एक[5] जल्ह की छाप निकाल कर 'पृथ्वीराज रासो' के वृहत पाठ में भी लिया

---

१ देखिए 'हिंदी अनुशीलन', पौष-चैत्र २०११, पृष्ठ १—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'जाज या जज्जल' शीर्षक लेख।

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १२१।

३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, प्रथम भाग, पृष्ठ ७६।

४ वृहत पाठ ६० ८३-८५।

५. वही, ६८ २१६।

गया है,अन्य पाठोमें यह छद नही मिलता है। इसलिए ऐसा लगता है कि जल्ह नाम का कोई कवि चद का परवर्ती था। 'पुरातन प्रवध सग्रह' के प्रबधो का समय १५ वी शती वि० माना जाता है इसलिए उक्त जल्ह की दूसरी सीमा १५ वी शती विक्रमी होगी। असभव नही कि १५ वी शती वि० के प्रारभ में जल्ह नाम का उपर्युक्त कवि हुआ हो। मेनारिया जी ने अपने 'राजस्थानी भापा और साहित्य' में लिखा है कि जल्ह का आविर्भाव-काल स० १६२५ (सन १५६८ ई०)[1] है। पता नही किस आधार पर उन्होने ऐसा लिखा है। किन्तु कुछ आश्चर्य न होगा यदि ये तीनो जल्ह एक ही हो। भाषा में आधुनिकता पीछे से आई हुई भी हो सकती है।

रचना का विषय एक प्रेमकथा है, जो इस प्रकार है चपावती नगरी का राजकुमार अपनी राजधानी से आकर कुछ दिनो के लिए जलधि-तरगिनी के साथ समुद्र के किसी स्थान में रहता है और तदनतर एक मास में लौटने का वचन दे कर कही चला जाता है। अवधि के वाद भी कई मास वीत जाते है, किंतु वह लौटता नही। तब विरहिणी जलधि-तरगिनी जीवन से विरक्त हो जाती है और अपने आभूपणादि उतार फेकती है। इस पर उसकी माँ उससे ससार के विलास-वैभव तथा शारीरिक सुखो की महत्ता प्रतिपादित करने लगती है। इतने ही में राजकुमार वापस आ पहुचता है और दोनो का पुर्नमिलन हो जाता है, जिसके अनतर दोनो पुन आनद और उत्साह के साथ जीवन व्यतीत करने लगते है।

इस कथा को पढ कर एक ओर 'सदेश रासक' तथा दूसरी ओर हिंदी की प्रेम-कथाओ का स्मरण आप से आप हो जाता है। यदि यह रचना १५ वी शती वि० के प्रारभ की प्रमाणित हो, तो निस्मदेह इसका स्थान हमारे साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्व का होगा।

इसमें, कहा गया है, दोहे, छप्पय, गाहा, पाघडी, मोतीदाम, मुडिल्ल आदि छद है। और रचना कुल १४० छदो में समाप्त हुई है।[2]

६ **परमाल रासो**—स० १९७६ वि० (सन १९९१ ई०) में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से यह रचना प्रकाशित हुई है। इसके सपादक डा० श्यामसुदरदास ने भूमिका में लिखा है "जिन पतियो के आधार पर यह सस्करण सपादित हुआ है, उनमें यह नाम नही है। उनमें इसको चद-कृत 'पृथ्वीराज रासो' का 'महोवा खड' लिखा हुआ है। किंतु वास्तव में यह 'पृथ्वीराज रासो' का 'महोवा खड' नही है, वरन उसमें वर्णित घटनाओ को ले कर—मुख्यत 'पृथ्वीराज रासो' मे दिए हुए एक वर्णन के आधार पर—लिखा हुआ एक स्वतत्र ग्रथ है।[3] यद्यपि इस ग्रथ का नाम मूल प्रतियो में 'पृथ्वीराज रासो' दिया हुआ है, पर इस नाम से इसे प्रकाशित करना लोगो को भ्रम में डालना होगा। अतएव मैंने इसे 'परमाल रासो' नाम देने का साहस किया है।"[4]

किन्तु वास्तविकता यह है कि नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' के परिशिष्ट रूप में दिए हुए 'महोवा खड' का यह एक परिर्वधित रूपान्तर मात्र है, स्वतत्र रचना

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १२१।

२ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, पृष्ठ ७६।

३. परमाल रासो, भूमिका, पृष्ठ ३।

४. वही, पृष्ठ ४।

नही, यद्यपि 'पृथ्वीराज रासो' में सम्मिलित 'महोवा खड' भी प्रामाणिक रचना नही है, क्योंकि वह अलग से ही मिलता है और 'पृथ्वीराज रासो' की किसी पूर्ण प्रति में नहीं मिलता है। यह सिद्ध करने के लिए कि 'रासो' के अत में प्रकाशित 'महोवा खड' का यह परिवर्धित रूपान्तर मात्र है यही देखना पर्याप्त होगा कि पूर्ववर्ती की लगभग समस्त पक्तियाँ कुछ मिलाई हुई पक्तियो के वीच इसमें भी मिल जाती है।[1]

इसका रचना-काल क्या होगा, यह नही कहा जा सकता है। इसकी जो प्रतियाँ मिली है, वे १९ वी शताब्दी वि० की है। आश्चर्य नही कि 'महोवा खड' का प्रस्तुत रूप १६ वी, १७ वी

---

१. उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासो'—ना० प्र० सभा काशी, सस्करण तथा 'परमाल रासो' के अतिम लगभग ५१ छद लिये जा सकते है।

पृथ्वीराज रासो	परमाल रासो	पृथ्वीराज रासो	परमाल रासो
६९ ७७६	३४ ५	६९ ८०१	३५ ५
६९ ७७७	३४ १६	६९ ८०२	३५ ६-७
६९ ७७८	३४ ७	६९ ८०३	३५ ७-८
६९ ७७९	३४ ८	६९ ८०४	३५ ८-९
६९ ७८०	३४ ९	६९ ८०५	३५ १५-१६
६९ ७८१	३४ १०	६९ ८०६	३५ ३१-३३
६९ ७८२	३४ १३	६९ ८०७	३५ ६२
६९ ७८३	३४ १४	६९ ८०८	३५ १००
६९ ७८४	३४ १५	६९ ८०९	३५ ११०
६९ ७८५	३४ १६	६९ ८१०	३६ २
६९ ७८६	३४ १७	६९ ८११	३६ ६६
६९ ७८७	३४ १९	६९ ८१२	३६ ६७
६९ ७८८	३४ २०	६९ ८१३	३७ १४
६९ ७८९	३४ २१	६९ ८१४	३७ १५
६९ ७९०	३४ २२	६९ ८१५	३७ ३१
६९ ७९१	३४ ५८	६९ ८१६	३७ ३३
६९ ७९२	३४ ६१	६९ ८१७	३७ ३४-३७
६९ ७९३	३४ ६२	६९ ८२०	३७ ४१
६९ ७९४	३४ ६५	६९ ८२१	३७ ४२
६९ ७९५	३४ ६७ ६८	६९ ८२२	३७ ४३
६९ ७९६	३४ ६८ ६९	६९ ८२३	३७ ४४-४६
६९ ७९७	३४ ७० ७१	६९ ८२४	३७ ४६-४७
६९ ७९८	३४ ७१ ७४	६९ ८२५	३७ ४७
६९ ७९९	३५ २	६९ ८२६	३७ ४८
६९ ८००	३५ ४	६९ ८२७	३७ ४९
		६९ ८२८	३७ ५५

शताब्दी विक्रमी का हो। इससे अधिक इस प्रक्षेप के प्रक्षेप पर विचार करना अनावश्यक होगा।

७. राउ जैतसी रो रासो—यह रचना कुछ ही दिन हुए प्रकाशित हुई है। इसका रचयिता अज्ञात[1] है। रचना में रचना-काल भी नही दिया हुआ है। वर्णित घटना स० १६०० वि० (सन १५४३ ई०) के लगभग की है और वर्णन सजीव है। इसलिए अनुमान किया जाता है कि रचना बहुत-कुछ समसामयिक होगी। इसमें बीकानेर के महाराजा राव जैतसी स० १५८३-१५९८ वि० (सन १५२६-१५४१ ई०) तथा हुमायूं के भाई कामरां के उस युद्ध का वर्णन हुआ है जिसमें कामरां को पराजित हो कर लौटना पडा था।

सपूर्ण रचना में वीर रस का परिपाक हुआ है। छद दोहा, मोतीदाम तथा छप्पय है। कुल ९० छदो में ही रचना समाप्त हुई है। भाषा डिंगल है। उदाहरण के लिए निम्नाकित पक्तियाँ ली जा सकती है—

जोध तणै घर जैतसी बका राय बिभाड।
दुसमण दावट्टण दमण ऊत्तमडा किमाड ।।१।।
मालै वीरम मडली गाढिम गोत्र गोवाल।
तुडि ताणण चौंडे तणौ राउ चाउर रखवाल ।।२।।
जग जेठी रिणमल्ल जिम सधरां चापण स म।
भडा भयकर भड सिहर भड भजण गज भीम ।।३।।

८. विजयपाल रासो—इसका रचयिता नल्हसिह भाट है जिसका प्रामाणिक इतिवृत्त प्राप्त नही है। रचना में कहा गया है कि लेखक विजयगढ (करौली राज्य) के यदुवशी शासक विजयपाल का आश्रित था।[2] इसलिए रचना स० ११०० वि० (सन १०४३ ई०) के आसपास की होनी चाहिए। किंतु यह रचना स० १६०० वि० (सन १५४३ ई०) के बाद की ही हो सकती है। इसमें तोपो का उल्लेख हुआ है। इसका विषय विजयपाल की दिग्विजय की कथा है। इसका मुख्य रस वीर है। रचना पूरी प्राप्त नही हुई है। इसके केवल ४२ छद प्राप्त हुए है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियाँ यथेष्ट होगी—

जुरै जुद्ध जादव पग मरद्द। गहि कर तेग चढ्यौ रणमद्द।
हकारिय जुद्ध दुहू दल शूर। मनौ गिरि शीश जलथ्थरि पूर।।
हलौं दिल हाक बजी दल मद्धि। भई दिन ऊगत कूक प्रसिद्ध।।
परस्पर तोप वहै विकराल। गजै सुर भुम्मि सरग्ग पताल।।

९. राम रासो—इसके रचयिता माधव दास चारण है। रचना-काल स० १६७५ वि० (सन १६१८ ई०) रचना में इस प्रकार दिया हुआ है—

---

१ राजस्थान भारती—स० श्री नरोत्तमदास स्वामी—भाग २, अक २, पृष्ठ ७०।

२ राजस्थानी भाषा और साहित्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ ८३।

संवत सोरै से समै अर पचोत
कथत माधव दास कवि लिपत भ

इस रचना का विषय राम का गुण और चरित-व

रासो जस श्री राम रो प (?) दियो ।..

इसमे विविध छदो का प्रयोग हुआ है, और बीच-बीच मे गात लगभग १६०० छदो का है। निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होगा —

भरथ या सब रघुनाथ बडाई।
वधि कपि वालि सुग्रीव निवाजे केकवा ठकुराई।
मम वल हीण अलप साखामृग निकुट मलित न कुदाई।
राम प्रताप स्यध सी योजन उलघत पलक न लाई।
वौह जल ही पाथर तल वूडत तिल प्रमाण कण राई।
लिखि श्री राम नाम गिरि डारत दधि सिर जात निराई।
जाके चरण गहत सरणागति लक विभीपण पाई।
माधीदास वदति जस महिमा हणूमाण रघुराई।[3]

१० राणा रासो—यह दयाल कवि की रचना है, जिनका पूरा नाम दयाराम कहा जाता है। रचना मे समय नही दिया हुआ है। किंतु रचना की एक प्रति स० १९४४ वि० (सन १८८७ ई०) की मिली है, जो कवि की स० १६७५ वि० (सन १६१८ ई०) की हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि बताई गई है।[4] इसलिए इस ग्रंथ की रचना स० १६७५ वि० (सन १६१८ ई०) में या उसके कुछ ही पूर्व हुई होगी। स० १९४४ वि० (सन १८८७) की प्रति में महाराजा जयसिंह (स० १७३७-१७५५ वि० (सन १६८०–१६९८ ई०) तक के वर्णन हैं। सभव है कि ये वर्णन बाद में स० १६७५ वि० (सन १६१८ ई०) की प्रति में हाशिए में लिख कर किसी के द्वारा बढाए गए हो, और फिर प्रतिलिपि मे उतार लिए गए हो। इसमें अंत मे एक छद है जो इस प्रकार है —

सेवै सदै करन को रान मान कै पाइ।
चिंता उर उपजै नही दरसन ही दुख जाय॥[5]

जिससे यह प्रमाणित है कि कवि कर्ण सिंह का आश्रित था।

इस रासो में सीसोदिया वंश का इतिहास दिया गया है—

सीसोदिया जगपति नृपति ता सुत राजर रानु।
तिनके निरमल वंश को कर्यो प्रसस वखानु॥

---

१. हिन्दी खोज विवरण १९०१, नो० ८०।

२. वही।

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ १४३।

४. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज, प्रथम भाग, पृष्ठ ११९।

५ वही, पृष्ठ ११९।

शत चद छद चहुआन के बोली उमा विसाल।
रान रास अति रास कूँ दोरे नपलत दयाल॥[1]

और सीसौदिया वश के मुख्य राजाओ—यथा, कुभा, उदय सिंह, प्रताप सिंह तथा अमर सिंह—के युद्धादि का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसमें रसावला, विराज, साटक—शार्दूल-विक्रीडित—आदि विविध छदो का प्रयोग किया गया है। इसकी कुल छद-सख्या ८७५ है।

११. रतन रासो—इसके रचयिता कुभकर्ण है। रचना-काल स० १६७५ वि० (सन १६१८ ई०) तथा १६८१ वि० (सन १६२४ ई०) के बीच अनुमान किया जाता है।[2] इसमें रतलाम के महाराणा रतनसिंह का चरित्र है। रचना साधारण प्रतीत होती है। इसमें विविध प्रकार के छदो का प्रयोग हुआ है। रचना को रासो कहा गया है, यथा—

लाजखितेति कुकुम चढाय।
सिव भक्त रतन रासो पढाय॥

रासो अगाध सिव कर रतन कुभ करन कवि इन्द्र।
कित शृगार सम इच्छाक छत्र दृढ सिघ आनद॥
चित चमत्कार सस्फुट वचन अस्त्र शस्त्र चतुर्थ धृति।
सिव रतन सिंघ रासो सरस अस विधान सुन परि नृपति॥[3]

१२ कायम रासो—इसके रचयिता न्यामतखाँ 'जान' कवि हैं, जो स्वरचित कथा-साहित्य के लिए हमारे साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। यह रचना उन्होने स० १६९१ वि० (सन १६३४ ई०) में की थी, जो निम्नलिखित दोहे से प्रकट है—

सोरह से एक्यानवे ग्रथ कियो इहु जान।

किंतु इस तिथि के बाद की स० १७१० वि० (सन १६५३ ई०) तक की कुछ घटनाओ का उल्लेख उसमें हुआ है। इसके बाद भी वे बहुत दिनो तक जीवित रहे थे। ऐसा लगता है कि अपने जीवन-काल के ही बाद की घटनाओ का भी उन्होने पीछे से इसमें समावेश कर दिया।

इसका विषय कायमखानी वश का इतिहास है, जिसमें अलफखाँ का विस्तृत चरित्र दिया हुआ है। कायम खाँ उनके वह पूर्व पुरुष थे जिनके नाम पर उनका वश कायमखानी कहाने लगा और अलफखाँ उनके पिता थे। ऐतिहासिक दृष्टि से यह रचना महत्व की है। इसमें इतिवृत्त की प्रधानता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छदो को लिया जा सकता है—

अलिफखानु कैं दीवान कौं बहुत वडो है गोत।
चाहुवान की जोड कौं और न जग में होत॥

---

१ राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, प्रथम भाग, पृष्ठ ११२

२. रतन रासो के रचयिता का वश-परिचय—काशीराम शर्मा।

३. राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, चतुर्थ भाग, पृष्ठ २२४।

अलिफखान के वश में भए वडे राजान।
कहत जान कछु में कहे सबको करौं वखान॥[१]

इस रचना का ऐतिहासिक कथासार विस्तार के साथ प्रकाशित है।[२] इधर रचना भी संपादित हो कर प्रकाशित हो गई है।[३]

१३. शत्रसाल रासो—इसके रचयिता बूंदी के राव डूंगरसी है, जिन्होंने इसे स० १७१० वि० (सन १६५३ ई०) के लगभग रचा होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। इसमें बूंदी के राव शत्रसाल का इतिवृत्त है, जो वीररस-प्रधान है। इसकी कुल छंद-संख्या ५०० के लगभग है और कहा गया है कि इसकी भाषा-शैली 'पृथ्वीराज रासो' का अनुकरण करती है।[४] उदाहरण के लिए निम्नलिखित छंद लिया जा सकता है—

वजै चग वाजिया अनग सारग भणकै।
उडै गुलाल रग अमर लाल लज्जा अव सकै।
भ्रम अबीर त्रिविध समीर जुव नीर सजै गति।
समै वाज सुर पचम रग अबुज पराग अति।
वन फूलि फूलि कसले ललित कुरग रत्ति आरति करै।
राजाधिराज शत्रसाल रमै वारे मध्य वसतरै॥[५]

१४. माकण रासो—यह रचना कान्ह कीर्तिसुदर की है। इसका रचना-काल स० १७५७ वि० (सन १७०० ई०) है—

सवत सत्त सतावने महा नगर श्री मेडते।
कान्ह जी एह रासो कियौ छलसु खटमल छेडते॥[६]

यह रचना विनोदात्मक है और अपने इस विषय-वैचित्र्य के कारण एक महत्व का स्थान रखती है। कहा गया है कि इसी प्रकार की कुछ अन्य रचनाएँ—'ऊदर रासो', 'मींचड रासो' तथा 'गोधा रासो' आदि—भी है।[७] इसमे माकण (मत्कुण)—अर्थात खटमल का चरित्र—वर्णन है, इसीलिए इसे 'खटमल रास' भी कहा गया है —

इति श्री खटमल रास सपूर्ण।[८]

---

१. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज, द्वितीय भाग, पृष्ठ ९४।

२ हिन्दुस्तानी भाग १५, पृष्ठ ७२, कविवर जॉन और उनका कायम रासो—श्री अगरचद नाहटा।

३ राजस्थान पुरातत्व मन्दिर, जयपुर।

४. राजस्थान भाषा और साहित्य—श्री मोतीलाल मेनारिया, पृष्ठ १५८।

५ वही।

६. राजस्थान भारती, भाग तीन, अक ३-४, पृष्ठ १००।

७ वही, पृष्ठ ९७।

८. वही, पृष्ठ १००।

मूल रचना में इसे—रासो के समान ही—रास भी कहा गया है—

कोइक जाइक कैहसी रचियौ थारो रास ।[१]

यह रचना केवल ३९ छदो की है, किंतु पाँच विविध छदो में रची गई है । पूरी रचना प्रकाशित है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियो को लिया जा सकता है—

तिण कारण दुसमण तणी सगली बात कहेस ।
खटमलियो दुसमण निखर किसा तोडसी केस ।।
जोखाँ में गोखे जरै सूतो कोहक साह ।
खासा पैडा खाइनै अधिक घरै ऊमाह ।।
कामिणि पण सूती कहै ऊकसतै शुभ अग।
दूर थकाँ ही देखताँ आवे चित्त उमग ।।[२]

१५ सगतसिह रासो—इसके रचयिता गिरधर चारण है। इसका रचना-काल अज्ञात है। श्री मोतीलाल मेनारिया के अनुसार इसका रचना-काल स० १७२० वि० (सन १६६३ ई०) के लगभग है।[३] किन्तु श्री अगरचद नाहटा के अनुसार यह स० १७५५ वि० (सन १६९८ ई०) के बाद की रचना है।[४] इसमें राणा प्रतापसिह के भाई शक्तिसिह तथा उनके वशजो का चरित्र है। इसका मुख्य रस वीर है। यह रचना भी विविध छदो में की गई है और इसकी कुल छद-सख्या ९४३ है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियो को लिया जा सकता है—

ढोल सब्बस ढूकडो भीडर हू कुल भाण।
अमरो सुख राषै असष षिच जास पुमाण ।।४१।।
घर धुसै धन धुप्प ठै सो निगरो छलकार ।
सारा देस दसोररा प्रजा आपिआ पुकार ।।४२।।
वुव सुणै भी आवले भाजण खला भटक्क ।
सन्नाहत हि साजत करै कि लवे वेखटक्क ।।४३।।[५]

१६. हम्मीर रासो—यह जोधराज की रचना है। इसका रचना-काल स० १७८५ वि० (सन १७२८ ई०) है, जो रचना में इस प्रकार दिया हुआ है—

चद्र नाग वसु पच जिनि सवत माधव मास ।
शुक्ल सत्र तिया जीव जुत ता दिन ग्रथ प्रकास ।।[६]

---

१. राजस्थान भारती, भाग ३, अक ३-४, पृष्ठ ९८ ।
२ वही, पृष्ठ ९६।
३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १६० ।
४ राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रथो की खोज, तृतीय भाग, पृष्ठ १०७ ।
५ वही ।
६. हम्मीर रासो, नागरी प्रचारिणी सभा सस्करण, छद ९६८ ।

इसमें हम्मीर का वीर चरित्र विशदता के साथ वर्णित हुआ है। हम्मीर पर एक प्राचीन रचना नयचद्र सूरि-कृत 'हम्मीर महाकाव्य' है, जो १५ वीं शताब्दी की मानी जाती है और अधिकतर ऐतिहासिक है। प्रस्तुत रचना में अधिकतर उसका आधार ग्रहण किया गया है। किंतु अनैतिहासिक बातें भी मिला दी गई हैं। इसमें हम्मीर का जन्म स० ११४१ वि० (सन १०८८ ई०) में होना बताया है और हम्मीर के आत्मघात करने तथा अल्लाउद्दीन के समुद्र में कूद कर प्राण देने का उल्लेख है जो इतिहास-सम्मत नहीं है। इसका मुख्य रस वीर है और यह विविध छदों में प्रस्तुत किया गया है। इसकी छद सख्या लगभग १००० है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पक्तियाँ ले सकते हैं—

> वहैं मील (सेल ?) अग परैं पार होई।
> मनों रुड मैं नाग लपटत साई॥
> कटारी लगैं अग दीसत पार।
> मनों नारि मुग्धा कढ्यो पा निवार॥
> छुरी वार सूर करैं जोर ऐसैं।
> मनोसर्पनी पुच्छ दीसत जैसैं॥[1]

१७. खुमाण रासो—इसके रचयिता दलपति विजय हैं, जो दौलत विजय भी कहे जाते हैं। यह एक प्राचीन रचना मानी जाती रही है। अनुमान किया जाता रहा है कि यह खुमाण (स० ८७०-८९० वि० सन ८१३—३३ ई०) के समकालीन उनके किसी आश्रित कवि की रचना रही होगी।[2] किंतु इधर इसकी जो दो-एक प्रतियाँ मिली हैं, उनमें राणा सग्रामसिंह द्वितीय (स०१७६७-९० वि०=सन १७१०-१७३३ ई०) तक का उल्लेख है, इसलिए यह रचना अपने इस समय के रूप में १८ वीं शताब्दी वि० के अत की प्रतीत होती है।[3] अन्य साक्षियों से भी दलपति विजय का समय १८ वीं शताब्दी निश्चित किया गया है।[4]

इसका विषय मेवाड के सूर्य वश—खुमाण वश—का इतिवृत्त है—

> कवि दीजै कमला कला जोडण कवित जुगति।
> सूरिज वस तणी सुजस वरणन करू विगत्ति॥३॥[5]

इस प्रकार वश के नाम से लिखे गए रासो के उदाहरण हमें ऊपर भी मिल चुके हैं, यथा 'परमाल रासो'। इसलिए कुछ आश्चर्य नहीं कि 'खुमाण रासो' केवल खुमाण के चरित्र को लेकर नहीं, वरन उनके वश के इतिहास को लेकर लिखा गया हो।

---

१ हम्मीर रासो, नागरी प्रचारिणी सभा सस्करण, छंद ९०३-४।
२ हिन्दी भाषा का इतिहास—डा० श्यामसुदरदास, पृष्ठ २२३।
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका स० २००९, पृष्ठ ३५४, खुमाण रासो—श्री मोतीलाल मेनारिया।
४. वही, स० १९९६।
५ राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथो की खोज, तृतीय भाग, पृष्ठ ८२।

यह ग्रथ विविध छदो में प्रस्तुत किया गया है, और कविता की दृष्टि से भी सरस है, यथा —

पिउ चीतौड न आविऊ सावण पहिली तीज।
जोवे बाट रति विरहिणी खिण खिण अणवै खीज ।।
सदेसो पिण साहिबा पाछो फिरिय न देह।
पछी घाल्या पीजरे छूटण रो सदेह ।।[1]

१८. **रासा भगवतसिंह का रासौ**—इसके लेखक सदानद है। कृति में रचना-काल नही दिया हुआ है, किंतु इसमें स० १७९३ वि० (सन १७३६ ई०) के एक युद्ध का वर्णन है, इसलिए इसकी रचना स० १७९३ वि० के बाद की होगी। इसमें भगवतसिह खीची का चरित्र वर्णित हुआ है। इसका मुख्य रस वीर है। यद्यपि रचना केवल १०४ छदो की है, किंतु छद-वैचित्र्य दर्शनीय है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियाँ ली जा सकती हैं —

चमकै छटा सी ज्यौं घटा सो दल फरि दैत
केतिक कटाकै भट जुत्थन सुभाइकै।
भूप भगवत की कृपाण ज्यो करत खैदु
खडे खल सीस भुज समर बनाइकै।
जीति सी जगी है अनुराग सो रगी है
वज्र ज्वाल सो पगी है गति अदभुत पायकै।
आल कौं छाँडते विचारि तन मानी मूढ
मोगल सघारत तुराब खान खाइक ।।८०।।[2]

१९. **करहिया कौ रास (रसौ)**—इसके रचयिता गुलाब कवि हैं, जिन्होने इसकी रचना स० १८३४ वि० (सन १७७७ ई०) में की थी। इसमें करहिया के परमारो तथा भरतपुर के जवाहरसिंह के बीच स० १८३४ वि० में हुए युद्ध का वर्णन है। इसका रस वीर है। यह रचना भी विविध छदो में प्रस्तुत की गई है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छद लिया जा सकता है—

दान तेग सूरे बल विक्रम से रूरे पुण्य
पूरे पुरुषारथ को सुकृति उदार है।
गावे कविराज यश पावे मन भायो तहाँ
वर्ण धर्म चारु सुदर सुढार है।
राजत करहिया में नीति के सदन सदा
पोषक प्रजा के प्रभुताई दुसुमार है।
जाँ अरवीले दल भजन अरिंदन के
विदित जहान जग उदित पमार है ।।८।।[3]

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, स० २००९, पृष्ठ ३५६।

२ वही, भाग ५, पृष्ठ ११४-३१ पर पूरा पाठ प्रकाशित है।

३ वही, भाग १०, पृष्ठ २७८।

२०. रासा भइया वहादुरसिंह का—इसके रचयिता शिवनाथ हैं। रचना-काल स० १८५३ वि० (सन १७९६ ई०) के लगभग है—

सवत गुन सर वसु ससी भादव चौथ विसेपि।
सुकुल पक्ष सुक्रवार को फते लराई लेपि ॥[1]

रचना सावारण है, यथा—

सुनु विनती विजल्लेश्वरी करहु कृपम्बहि जोइ।
वीर कथा जाते वनै अक्षर अर्थ समोइ ॥[2]

इसमें वलरामपुर के शासक भैया वहादुरसिंह का चरित्र वर्णित हुआ है। मुख्य रस वीर है। इसमें भी विविध छदो का प्रयोग हुआ है।

२१ रायसा—यह उपर्युक्त शिवनाथ की एक अन्य रचना है। इसमें रचना-काल नही दिया हुआ है। किंतु उपर्युक्त रचना स० १८५३ वि० (सन १७९६ ई०) की है, इसीलिए यह भी उसी समय के लगभग की होगी। इसमें धारा के महाराजा जसवतसिंह तथा रीवा के महाराजा अजीतसिंह का युद्ध वर्णित है। इसका मुख्य रस वीर ही है और इसमें भी विविध छदो का प्रयोग हुआ है। रचना साधारण है, यथा —

लसत चद सुभ भाल लाल चदन छवि छावै।
वदन पोरि विसाल माल मोतिन मन भावै ॥
रदन एक गज वदन कदन दुख देवन दाता।
वदत वेद पुरान ज्ञान गुन सवहिन ज्ञाता ॥
सिवनाथ उमा शकर सुवन जैतिजैति ,घ्यावौं चरन।
वरदान देहु यह रायसा रचौ छद सुदर वरन ॥[3]

२२. हम्मीर रासो—इसके रचयिता महेश कवि हैं। रचना-काल अज्ञात है। इसकी प्राप्त प्रतिलिपि स० १८६१ वि० (सन १८०४ ई०) की है। इसका विषय भी वही है जो जोधराज की इसी नाम की रचना का है। प्रधान रस वीर है। यह रचना विविध प्रकार के ९०० के लगभग छदो में समाप्त हुई है। रचना साधारण है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तिया ली जा सकती हैं—

अमरपुरी ब्रह्मलोक वचन सत कठिन कराये।
रिपि सूं छत्री भए सोम के वन कहाये।
जननी उदर न ओतरे सकट परे न आय।
अनिल कुड उतपति भये च्यारि भुजा धरि चाय ॥[4]

---

१. हिंदी खोज विवरण १९२०-२२, नों० १८२।
२. वही।
३. वही, १९०१, नों० ६२।
४. वही, १९०९-११, नों० २६३।

२३. कलिजुग रासो—यह रचना अलि रसिकगोविंद की है। इसका रचना-काल सं० १८६५ वि० (सन १८०८ ई०) है। इसमें कलियुग का प्रभाव वर्णित है। यह रचना लगभग ७० छदो मे समाप्त हुई है। विवृत अशो में केवल कवित्त छद मिलता है। असभव नही कि पूरी रचना कवित्त छद में हो। यदि ऐसा ही हो तो यह रासो की छद वैविध्य-परक परपरा की एक अन्तिम रचना प्रतीत होती है क्योकि इसमें छद-वैविध्य का आग्रह नही है। सभवत इस समय रासो की इस परपरा की छद-वैविध्य-सबधी आवश्यकता विस्मृत हो चुकी थी और 'रासो' शब्द एक उत्कृष्ट काव्य रूप मात्र का पर्याय समझा जाने लगा था। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छद लिया जा सकता है —

मुलक रमानो नही भले को जमानो नही
धरम को थानो अधरम ने उठायो है।
छमा दया सत्य सील मतोषादि दूर दुरे
काम क्रोध लोभ मद मोह सरसायो है।
चोर ठग बधिक असाधु भये ठौर ठौर
साधनि ने ऐसे में अपनपौ छिपायो है।
कीजिए सहाय जू कृपाल श्री गोविंद लाल
कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है॥[1]

उपसहार

अब हम रासो काव्य-धारा के विषय में कुछ परिणाम सुगमता से निकाल सकते है—

१—'रास' तथा 'रासो' नामो में कोई भेद नही है, दोनो नाम एक ही अर्थ मे और कभी-कभी साथ-साथ एक ही रचना में प्रयुक्त हुए हैं। यह धारणा निराधार है कि 'रास' कोमल भावनाओ का परिचायक रहा है और 'रासो' युद्धादि-सबधी कठोर भावो का। यदि देखा जाए तो और भी अनेक प्रकार के विषय 'रासो' काव्यो के विषय बने है।

२—'रासो' के अन्तर्गत प्रबध की दो विभिन्न परपराएं आती हैं—एक तो गीत-नृत्य-परक है और दूसरी छद-वैविध्य-परक। पहली का उद्भव कदाचित नाट्य रासको से हुआ है और दूसरी का रासक या रासा-बध से। दोनो परपराओ को मिलाया नही जा सकता है।

३—गीत-नृत्य-परक परपरा की रचनाएं आकार में प्राय छोटी है, क्योकि उन्हें स्मरण रखना पडता था, जबकि छद-वैविध्य-परक परपरा मे रचनाएं छोटी-बडी सभी आकारो की हैं।

४—गीत-नृत्य-परक परपरा का प्रचार जैन धर्मावलबियो में अधिक रहा है। उनके रचे हुए प्राय समस्त 'रासो' इसी परपरा में हैं। दूसरी परपरा का प्रचार जैनेतर समाज में विशेष रहा है।

---

१. हिंदी खोज विवरण १९०९-११, नो० २६३।

५—जैन रचनाओं की भाषा बहुत पीछे तक अपभ्रंश-बहुला बनी रही, जब कि अन्य रचनाओं की भाषा आधुनिक बोलचाल की भाषा हो गई थी।

६—गीत-नृत्य-परक रासो रचनाएं प्राय पश्चिमी राजस्थान और गुजरात में ही लिखी गई थी, जबकि छद-वैविध्य-परक रासकों की रचना सपूर्ण हिंदी प्रदेश में हुई।

७—काव्य का दृष्टिकोण दूसरी ही परपरा में प्रधान रहा, प्रथम में नहीं, और इसीलिए शुद्ध साहित्य की दृष्टि से दूसरी परपरा प्रथम की अपेक्षा अधिक महत्व की है।

८—चरित तथा कथा-काव्य धाराओं के समान ही यह रासो काव्य-धारा भी अपने साहित्य की एक समृद्ध काव्य-धारा रही है और इसका गभीर अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

५. वीरकाव्य

प्राचीन परम्परा

'वीर' शब्द मूलत शूर अथवा योद्धा के लिए प्रयुक्त होता है। अत वीरकाव्य के अन्तर्गत उन समस्त काव्यो को सम्मिलित किया जाता है, जिनका आधार ऐतिहासिक घटनाएँ हैं या जिनमें आश्रयदाताओ की कीर्ति, युद्ध-सज्जा, गर्वोक्तियाँ, युद्ध एव वीरतापूर्ण कार्य-कलाप का चित्रण किया गया हो। हिन्दी वीरकाव्य के स्वरूप को समझने के लिए भारतीय वाङ्मय में प्राचीन समय से विकसित होने वाली वीरकाव्य-परम्परा का सक्षिप्त परिचय आवश्यक प्रतीत होता है।

ऋग्वेद-सहिता में लगभग ४० ऐसे मन्त्रो का उल्लेख आया है जो दान-स्तुति के नाम से विख्यात हैं। इनमें यज्ञो के कर्ता राजन्यो एव सरक्षको की दानशीलता का वर्णन है। कुछ मन्त्रो में इद्रदेव का गुणगान इसलिए किया गया है कि उसने राजा को शत्रु पर विजय प्रदान की। देव-स्तुति के साथ विजयी राजा की प्रशसा भी की गई है। अन्त में कवि अपने सरक्षक का गुणगान करता है, क्योकि उसने बैल, घोडे, और सुन्दर दासियो से उसे पुरस्कृत किया है। इन मन्त्रो में दक्षिणा और दान की बार-बार प्रशसा की गई है। इन दान-स्तुतियो में दानी नृप के नाम, वश, आदि का उल्लेख कर दिया गया है। ये प्रकरण ऐतिहासिक घटनाओ से सम्बन्धित हैं। त्वष्टा और इन्द्र का सङ्घर्ष, दाशराज्ञ-युद्ध जिसमें सुदास नामक राजा ने अन्य दस राजाओ को पराजित किया, देवासुर-सग्राम में सरस्वती तट पर वृत्र के मारे जाने का उल्लेख, आदि महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ का ऋग्वेद में वर्णन मिलता है। सङ्घर्ष में वीरता-प्रदर्शन, उसका गुणगान और कवियो को दिए गए पुरस्कार से युक्त इन दान-स्तुतियो में वीरकाव्य की मूल प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इनमें से अधिकाश मन्त्र कवित्व की दृष्टि से साधारण होते हुए भी वीरकाव्य की ऐतिहासिक विवेचना की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध के प्रकरण में एक स्थान पर कहा गया है कि ब्राह्मण दिन में स्तवन करता है और राजन्य रात्रि मे। ब्राह्मण यज्ञ-कर्ता के दानादि की प्रशसा करता है, किन्तु राजन्य उसकी वीरतादि का वर्णन करते हुए विजय का उल्लेख करता है। ऋग्वेदकालीन वीरकाव्य का यह विकसित रूप है। पुराणो के देवासुर-सवाद और युद्धो में भी वीर रस देखा जा सकता है।

वाल्मीकीय रामायण के युद्ध-वर्णनो में वीरकाव्य का अच्छा परिपाक हुआ है। उसमें कही-कही पर अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी मिलते हैं। महाभारत में भी राजाओ की प्रशसा और युद्धो का सुन्दर वर्णन अनेक स्थलो पर हुआ है। इन दोनो रचनाओ में युद्धवीर, दानवीर, दया-वीर और धर्मवीर सभी प्रकार के राजाओ की ऐतिहासिक और पौराणिक कहानियो का वर्णन मिलता है। इनके कवियो को वीर-रस-चित्रण में पर्याप्त सफलता मिली है।

सस्कृत महाकाव्य प्रमुखत ऐतिहासिक कथानको पर ही रचे गए है। इनमें भी वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। अश्वघोष शान्त रस के कवि है, पर उनमें वीर रस के दर्शन होते है। इनके दोनो काव्यो—'बुद्ध-चरित'[1] और 'सौन्दरानन्द'[2] में—रूपक के रूप में वीर रस का अच्छा चित्रण हुआ है। सिद्धार्थ तथा नन्द मार की सेना को जिस सेना तथा युद्ध-सज्जा से पराजित करते है, उसका रूपक अलकार की सहायता से अच्छा वर्णन किया गया है।

कालिदास के काव्यो में शृङ्गार रस की ही प्रधानता है, पर उन्होने वीर-रस-चित्रण में भी यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। 'रघुवश' के सर्ग ३ और ४ में रघु की युद्धवीरता तथा सर्ग ५ में उनकी दानवीरता का सुन्दर वर्णन हुआ है।

कालिदास के उत्तराधिकारी कवियो ने काव्य की विषय-वस्तु की अपेक्षा वर्णनशैली को अधिक प्रधानता प्रदान की है। इस परम्परा के महाकवि भारवि (५५० ई०=स० ६०७ वि० के लगभग) का 'किरातार्जुनीय' विशेष उल्लेखनीय है। इसमें शृङ्गार का प्रमुख वर्णन है। इस रचना के पन्द्रहवें सर्ग में किरात और अर्जुन के युद्ध-वर्णन में वीर-रस के सुन्दर कलात्मक चित्रण प्रस्तुत किए गए है। इस काव्य में वीर रस प्रमुख है और शृङ्गार इसी वीर का अङ्ग बन कर आया है।

भट्टि कवि (६१० ई०=स० ६६७ वि० के लगभग) वैयाकरण तथा अलकार शास्त्री है। इसने 'रावण-वध' की रचना की है। इसका रस वीर है तथा प्रसङ्गवश शृङ्गार रस भी पाया जाता है। भट्टि वीर रस का परिपाक करने में असमर्थ रहा है। भट्टि-काव्य उस महाकाव्य-परम्परा का सकेत करता है, जिनमें महाकाव्यो के द्वारा व्याकरण के नियमो का प्रदर्शन कवि का ध्येय रहा है। आगे चलकर हेमचन्द्र ने 'कुमारपाल-चरित' में इसी परम्परा की प्रवृत्ति अपनाई है।

महाकाव्य-परम्परा का अन्य उल्लेखनीय कवि माघ (६७५ ई०=स० ७३२ वि०) है। इनकी रचना 'शिशुपाल-वध' है। इस काव्य के १७वें और १८वें सर्गों मे सेना की तैयारी और योद्धाओं के सन्नद्ध होने का और १९वें तथा २०वे सर्ग में युद्ध का वर्णन है। 'शिशुपाल-वध' के ये प्रसङ्ग वीर रसपूर्ण इतिवृत्त से परिपूर्ण है। उनमें अप्रासङ्गिक रूप से शृङ्गार रस का विस्तृत और आडम्बरपूर्ण वर्णन हुआ है। माघ का शृङ्गार प्रबन्ध-प्रकृति का न होकर मुक्तक-प्रकृति का अधिक है। इस काव्य का अगी रस वीर है और शृङ्गार रस इसका अङ्ग बनकर आया है। माघ शृङ्गार और वीर दोनो के सफल चित्रकार है। माघ की वीर रस की व्यञ्जना उन वीर रसात्मक रूढियो का सकेत करती है जो चरित-काव्यो में होती हुई हिन्दी के वीरगाथात्मक काव्यो तक आती हुई दिखाई देती है। माघ स्वय दरबारी कवि थे। 'शिशुपाल-वध' का ८वा सर्ग चरित-काव्यो के युद्ध-वातावरण के मूल-स्रोत की ओर सकेत करता है। युद्ध-वर्णनो में पूर्व की साज-सज्जा, सैन्य-प्रयाण, तलवारो की चमक, हाथियो की चिघाड आदि का जो वर्णन हिन्दी वीरगाथा-काव्यो में मिलता है, उसकी तुलना माघ के उक्त सर्ग से की जा सकती है। ऐसा प्रतीत होता है

---

१. बुद्ध-चरित, सर्ग १३।
२. सौंदरानद, सर्ग १७।

कि माघ की शृङ्गार-सम्बन्धी परम्परा से हिन्दी के रीति-कवि प्रभावित हुए हैं । माघ का प्रभाव 'नेमिचरित', 'चन्द्रप्रभचरित' आदि जैन काव्यो पर भी स्पष्टत परिलक्षित होता है।

माघ के उपरान्त श्रीहर्ष (१२वी शताब्दी ई० का उत्तरार्द्ध) विशेष उल्लेखनीय है। इसने 'नैषधीयचरित' की रचना की है जिसमें २२ सर्ग हैं। इस ग्रन्थ में शृङ्गार रस की प्रधानता है, पर वीर रस के चित्र भी उसमें देखने को मिलते हैं। इस रस के वर्णन सर्ग ११, १२, १३ में देखे जा सकते हैं। श्रीहर्ष का वीर रस दरबारी कवियो का वीर रस है जिसमें शब्दच्छटा और अतिशयोक्ति का आडम्बर दिखाई देता है।

वीरकाव्य की यह परम्परा सस्कृत के अन्य काव्यो और नाटको में भी देखी जा सकती है। भवभूति-कृत 'महावीरचरित', वाण-कृत 'हर्षचरित', नारायण-कृत 'वेणीसहार' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सस्कृत साहित्य की विकसित होती हुई यह वीरकाव्य-धारा परवर्ती भाषाओ के साहित्य में भी देखने को मिलती है। पाली साहित्य में वौद्ध धर्म के विविध सिद्धान्तो और दर्शन की प्रधानता है। वीर रसात्मक साहित्य का उसमें सर्वथा अभाव है । उसमें वस-साहित्य (वश-साहित्य) अवश्य मिलते हैं, पर उनमें राजाओ की वशावलियो के वर्णन के साथ सस्कृत के महाभारत और पुराणो के समान धर्म-वृत्त और कथाएँ ही प्रधान हैं। 'जिनालकार' (११५६ ई०=स० १२१३ वि०) और 'जिनचरित' आदि महाकाव्यो में बुद्ध भगवान का जीवन-चरित्र ही वर्णित है। इन ग्रन्थो में बुद्ध, अशोक आदि चरित-नायको को दयावीर, धर्मवीर और दानवीर के आदर्श नायक माना जा सकता है, वैसे, वीर रस को दृष्टि में रखकर कोई भी ग्रन्थ नही रचा गया है।

वज्रयान के सिद्धान्तो से भिन्न दृष्टिकोण को अपनाकर दोहो और चर्यापदो में रचा हुआ साहित्य सिद्ध साहित्य कहलाता है। इसमें शृङ्गार रस और शान्त रस की प्रधानता है, पर कही-कही पर उत्साह भाव के भी दर्शन होते हैं। आचार्यों ने दान, धर्म, युद्ध और दया वीर माने हैं। सिद्धो ने एक अन्य वीर सुरतवीर की कल्पना की है। वह वीर मधुकर रूप में पद्म का मकरन्द पीने में उत्साह दिखलाता है और महाराग के द्वारा विराग के दमन के कारण उसे वीर कहते हैं। काण्हपा (८५० ई०=स० ९०७ वि०) ने रति के समय वीर कापालिक की वेष-भूषा धारण की है (चर्यापद ११), किन्तु उसकी परिणति रौद्र में होती है।

अपभ्रश साहित्य के निर्माण में जैनियो और बौद्धो का विशेष योग है। अत उसमें धार्मिक साहित्य की ही प्रचुरता है। जैन कवियो ने अधिकाश ग्रन्थो की रचना किसी राजा, राजमन्त्री या गृहस्थ की प्रेरणा से की है। अतएव इन कृतियो में उन्ही की कल्याण-कामना से किसी व्रत का माहात्म्य-प्रतिपादन या किसी महापुरुष के चरित का वर्णन किया गया है। परन्तु धर्म-निरपेक्ष लौकिक कथानक को लेकर लिखे गए प्रवन्ध-काव्यो की सख्या वहुत कम है। इस साहित्य में कुछ रासा ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं । प्राय सभी रासा ग्रन्थो का विषय धार्मिक ही है। इन सब में राजयश के स्थान पर धार्मिकता का अश है। नायक का चरित-वर्णन शृङ्गार, वीर और शान्त रसो के प्रतिपादन से युक्त है। इन सभी में प्रधानता शान्त रस की ही है। शृङ्गार और वीर दोनो रसो का पर्यवसान शान्त रस में दिखाई देता है। राज-दरबारो में इस साहित्य का विशेष सम्मान रहा है । कुछ ऐसे ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनमें किसी राजा के शौर्य अथवा विजय का

वर्णन किया गया है। स्वयम्भू-रचित 'रिट्ठणेमि चरिउ' (रिष्टनेमि-चरित) या 'हरिवश पुराण' के युद्ध-काण्ड में अनेक प्रसङ्ग योद्धाओं का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। पुष्पदन्त-कृत 'महा-पुराण' या 'तिसरिठ महापुरिस गुणालकार' में शृङ्गार, वीर और शान्त तीनो रसो की अभिव्यञ्जना है। सभी तीर्थंकर और चक्रवर्ती राजा जीवन-काल में भोग-विलास की सामग्री, स्त्री की प्राप्ति के लिए युद्ध करते हैं। ऐसे स्थलो पर वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। इनके अतिरिक्त वासुदेवो और प्रतिवासुदेवो के सङ्घर्ष में भी वीर रस के सरस उदाहरण मिलते हैं, किन्तु प्रधानता शान्तरस की ही है। इस कृति में भारतीय वीराङ्गना का वह रूप भी मिलता है जो उत्तरकाल में राजपूत नारी में विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। साथ ही सैन्य-प्रयाण, शर-सन्धान आदि के भी उत्तम चित्र मिलते हैं। धनपाल धक्कड-कृत 'भविसयत्तकहा' के द्वितीय खण्ड में वीर रस का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसी प्रकार धवल कवि-रचित 'हरिवश पुराण' में शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसो की सुन्दर अभिव्यञ्जना की गई है। युद्ध का वर्णन सजीव है।

अपभ्रश के कतिपय खण्डकाव्यो में भी वीर रस का चित्रण मिलता है। पुष्पदन्त-कृत 'णाय-कुमार-चरिउ' (नागकुमार-चरित) के नायक नागकुमार को कवि ने वीर रस का आश्रय दिखलाया है। यह वीर रस शृङ्गार से परिपुष्ट है। युद्ध-यात्रा, युद्ध-वर्णन आदि के सुन्दर चित्र मिलते हैं। पुष्पदन्त-कृत 'जसहरचरिउ' में राजाओ और उनके वैभवपूर्ण प्रासादो का वर्णन बड़े ठाठ-बाट से किया गया है। नयनन्दी-रचित 'सकल-विधि-निधान-काव्य' की ३५वी और ३६वी सन्धियो में क्रमश रामायण और महाभारत के युद्ध का वर्णन किया गया है। मुनि कनकामर के 'करकण्डचरिउ' में वीर रस के अनेक प्रसङ्ग मिलते हैं। युद्ध के परिणामस्वरूप पराजित राजाओ की राजपुत्रियाँ करकण्ड के आगे आत्म-समर्पण कर देती हैं और युद्ध की समाप्ति अनेक विवाहो में परिणत हो जाती है। अन्त में वीर रस का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। देवसेण गणि-कृत 'सुलोचनाचरिउ' (सुलोचना-चरित) में युद्ध-वर्णन सजीव है। झर-झर रुधिर का बहना, चर-चर चर्म का फटना, कड-कड हड्डियो का टूटना आदि वाक्य युद्ध के दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह का यशोगान किया है।

कुछ ऐसे मुक्तक पद्य प्राकृत ग्रन्थो, अथवा व्याकरण एव छन्द-ग्रन्थो में उदाहरणस्वरूप उपलब्ध होते हैं जिनमें अन्य भावो के अतिरिक्त वीर भाव की तीव्र अभिव्यक्ति मिलती है। हेम-चन्द्र-कृत 'शब्दानुशासन' एव 'छन्दोऽनुशासन' में वीर, उत्साह एव ऐतिहासिक व्यक्तियो-विषयक अनेक छन्द मिलते हैं। मेरुतुङ्गाचार्य-कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में कुछ पद्यो का ऐतिहासिक पात्रो से सम्बन्ध है और कुछ वीर, शृङ्गार आदि से सम्बन्धित हैं। 'प्राकृत पैंगल' में रणथम्भोर के राव हम्मीर आदि विषयक वीर रसात्मक पद्य भी सग्रहीत हैं।

जिस प्रकार सस्कृत में चरित्र ग्रथ लिखे गए वैसे ही अपभ्रश में भी चरित्र ग्रथो की रचना हुई है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी देखने को मिलती है, यथा, 'वीरसिंहदेव चरित', 'सुजान चरित' आदि। अपभ्रश के चरित ग्रथो के समान इन वीरकाव्यात्मक ग्रथो में भी धर्म-भावना के दर्शन होते हैं। सस्कृत काव्यो में रसात्मकता की प्रधानता है, चरित्र गौण है। अपभ्रश में चरित-नायक के चरित्र को उत्कृष्ट रूप देने का प्रयत्न है। हिन्दी में रसात्मकता के साथ चरित्र-

चित्रण का सम्मिश्रण है। वीरगाथा-काल के रासो काव्यो पर अपभ्रश रासो साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार वीरकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ सस्कृत और अपभ्रश के द्वारा हिन्दी वीरकाव्य को प्राप्त हुई है।

सिद्धो की वज्रयान की सहज साधना नाथ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय सिद्ध सम्प्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही था। फलत इस धारा का साहित्य धर्मपरक है। उसमें विशुद्ध वीर रस का एकदम अभाव है। धर्मवीर के चित्र अवश्य अनेक स्थलो पर मिलते हैं।

इस प्रकार सस्कृत, पाली, सिद्ध, अपभ्रश और नाथ सम्प्रदाय द्वारा विरचित साहित्य में जो धार्मिक, दार्शनिक, सास्कृतिक और वीर रसात्मक परपराएं प्रतिपादित की गईं, वे समस्त लगभग किसी न किसी रूप में हिन्दी साहित्य में अवतरित हुईं। जैन अपभ्रश साहित्य में धार्मिक और लौकिक दोनो प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ, जिसमे वीरकाव्य की विविध प्रवृत्तियो से सयुक्त धारा प्रवाहित हुई, जिसका विकसित रूप हिन्दी वीरकाव्य-धारा मे पल्लवित हुआ।

हिन्दी वीरकाव्य के विकास की परिस्थितियाँ

हिन्दी वीरकाव्य-धारा का निकास और विकास भारत की विचित्र राजनीतिक परिस्थितियो में हुआ है। देश छोटे-छोटे राज्यो में विभाजित हो गया था जो एकता अथवा पारस्परिक सपर्क के किसी भी सिद्धात से सूत्रबद्ध नही थे।

ये राज्य परस्पर युद्ध करने में सदैव रत रहा करते थे और अपने राज्य को अपनी मर्यादा के सामने तुच्छ समझते थे। साथ ही वे मुसलमानो से लोहा लेते तथा उनकी सेवा में रहकर साम्राज्य के शत्रुओ के विरुद्ध वीरता प्रदर्शित करते थे। उनके युद्ध पडोसी राज्यो का अत करने, राज्य-विस्तार करने, सुन्दरियो का अपहरण करने और स्वतत्रता प्राप्त करने के लिए हुआ करते थे। इनके आश्रित कवि आश्रयदाताओ द्वारा युद्ध-भूमि में प्रदर्शित वीरता का चित्रण किया करते थे। साथ ही उनकी दानशीलता का भी गुणगान किया करते थे। इन राजनीतिक परिस्थितियो की छाप समस्त वीरकाव्य पर परिलक्षित होती है।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ-काल में देश में सिद्ध, नाथ आदि विभिन्न धार्मिक पन्थ वर्तमान थे। बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था। जैन धर्म सीमित घेरे के अन्दर रहकर सन्तुष्ट था। ब्राह्मण-धर्म पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। कालान्तर में रामानुज, मध्व, रामानन्द, वल्लभ आदि आचार्यों ने धीरे-धीरे सगुण भक्ति का समस्त देश में प्रसार कर दिया था। नामदेव, कबीर, दादू आदि ने हिन्दू और मुस्लिम भावनाओ से समन्वित विचारधारा को अपना लिया था। इन धार्मिक आन्दोलनो का प्रभाव अठारहवी शती ई० के अन्त तक विभिन्न रूपो में वर्तमान रहा। १७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महात्मा प्राणनाथ ने अवतीर्ण होकर छत्रसाल बुन्देला को दीक्षा देकर स्वतन्त्रता का पाठ पढाया। दक्षिण मे सन्त तुकाराम (जन्म १६०८ ई०=स० १६६५ वि०) तथा समर्थ रामदास ने धार्मिक सुधारो का बिगुल बजाया, जिससे प्रभावित होकर वीर-केशरी शिवाजी ने हिन्दू-धर्म के रक्षार्थ सफल प्रयत्न किए।

भक्ति-भावना की प्रबलता के कारण भक्तियुग में वीरकाव्य-धारा कुछ मन्द पड गई

थी, परन्तु कालान्तर में उसका रूप फिर से निखर उठा। इस धार्मिक विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से वीरकाव्य धारा के समस्त ग्रन्थो पर वर्तमान है। अधिकाश कवियो ने अपने नायको को ईश्वरावतार, गो-ब्राह्मण-पालक, हिन्दू-धर्म-रक्षक के रूप में चित्रित करके धर्म-दया-दान-युद्ध-वीर आदि के रूप में उपस्थित किया है। भूषण, लाल मान आदि की रचनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था सामन्तशाही पद्धति पर आधारित थी। राज-दरबार वैभव एव सस्कृति के केन्द्र थे। आमोद-प्रमोदमय जीवन व्यतीत किया जाता था। मदिरा का प्रचार था। मास-भक्षण का प्रचलन था। अन्त पुर में स्त्रियो की सख्या अधिक होती थी। द्यूत-क्रीडा, आखेट, सगीत एव नृत्य मनोरञ्जन के प्रमुख साधन थे। अधिक नौकर रखने की प्रथा थी। दासता वर्तमान थी। उत्कोच स्वीकार किया जाता था। मध्यम श्रेणी के लोग सुखी और सम्पन्न थे। निम्न वर्ग का जीवन दुखी और कष्टमय था। हिन्दुओ में सती, बाल-विवाह और पर्दा प्रथाएँ प्रचलित थी। युद्धो में विविध जातियो के व्यक्ति भाग लिया करते थे। इन समस्त सामाजिक अवस्थाओ का वीरकाव्य के कवियो पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पडता है।

वीरकाव्य के आरम्भिक काल में अपभ्रश भाषा में सिद्ध एव नाथ साहित्य निर्मित हो रहा था तथा प्राकृत में जैन रचनाएँ लिखी जा रही थी। लोक-भाषाओ में भी काव्य-सृजन प्रारम्भ हो गया था। ये लोक-भाषा ग्रन्थ अपभ्रश, प्राकृत आदि की साहित्यिक प्रवृत्तियो से प्रभावित रहते थे। वीर रस के अतिरिक्त भक्ति, शृङ्गार, नीति आदि विविध विषयो की रचनाएँ भी हुआ करती थी। उस युग में एक ओर ससार-त्यागी कवि थे जो प्रमुखत धार्मिक साहित्य-साधना को ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाए हुए थे, दूसरी ओर राज्याश्रित कवि विभिन्न विषय-परक साहित्य-सृजन कर रहे थे।

इन्ही परिस्थितियो में हिन्दी-वीरकाव्य का सृजन होता रहा। सस्कृत-काल से प्रवाहित होती हुई वीरकाव्य-धारा, पाली, सिद्ध-परम्परा, अपभ्रश और नाथकाव्य धाराओ से होती हुई उत्तराधिकार रूप में हिन्दी साहित्य को प्राप्त हुई। इनका विकसित रूप हिन्दी की डिंगल और पिंगल दोनो काव्य-परम्पराओ में पल्लवित हुआ। इन काव्यो के ऊपर तत्कालीन अन्य साहित्यो के प्रभाव वर्त्तमान रहते थे। १४वी शताब्दी के प्रारम्भ होते ही वीरगाथाओ की रचना क्षीण होने लगी। इनका प्रधान कारण राजनीतिक परिस्थितिया थी। मुसलमानो के प्रभुत्व ने हिन्दू राजाओ को जर्जरित कर दिया था। उनके पास न तो गौरव-गाथा गाने की सामग्री ही थी और न कवियो के हृदय में उत्साह ही रह गया था। मुसल्मान अपने राज्य के साथ अपने धर्म का विस्तार भी कर रहे थे। इन परिवर्तित परिस्थितियो में हिन्दू धर्मानुयायियो ने अपने धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर की शक्ति पर अधिक अवलम्बित रहना प्रारम्भ कर दिया। परिणामत ओज और गौरव के तत्त्वो से निर्मित वीर रस, करुण और दयनीय भावो से ओत-प्रोत होकर शान्त और शृङ्गार रस में परिणत होने लगा। भक्ति-साहित्य में यथावसर वीर रस के वर्णन हो जाया करते थे, पर प्रधानता शृङ्गार, भक्ति और शान्त रस विषयक काव्य की ही रही। परिणाम यह हुआ कि वीरकाव्य की धारा भक्ति-काल में कुछ क्षीण हो गई किन्तु रीति-काल में पहुँच कर रीति-ग्रन्थो के समानान्तर पुन प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगी। इसका कारण भी उस युग

की परिवर्तित परिस्थितियाँ ही थी। इस प्रकार उन्नीसवी शताब्दी तक समस्त प्रवृत्तियो को समेटती हुई वीरकाव्य-परम्परा परिवर्तित परिस्थितियो के रूप में स्वय को ढालती हुई विकसित होती रही है। आगे इस काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियो का विवेचन किया जा रहा है।

काव्य-रूप

वीरकाव्य धारा के ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक रूप मे मिलते है। प्रबन्ध-काव्यो के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनो प्रचुर मात्रा मे लिखे गए है।

महाकाव्यो में केशव-कृत 'वीरसिंहदेव चरित', मान-रचित 'राजविलास', गोरेलाल-कृत 'छत्रप्रकाश', सूदन विरचित 'सुजान चरित' तथा जोधराज-कृत 'हम्मीर रासो' प्रमुख है। महाकाव्यो में कथानक-चित्रण करते समय इन कवियो ने अपभ्रश-काल से चली आती हुई पद्धति का अनुसरण किया है। साथ ही अनेक परिवर्तन भी किए हैं। चरित-नायकों के जीवन की अधिकाधिक घटनाओ का इन कृतियो में समावेश हुआ है। आरम्भ में नायको के पूर्वजो का उल्लेख हुआ है, जिन पर किवदतियो, कल्पनाओ और चारण-परम्पराओ का अधिक प्रभाव होने के कारण उनका मुख्य घटना से विशेष सम्बन्ध नही रह गया है। आश्रयदाताओ तथा उनसे सम्बन्धित पात्रो की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशसा करके कथानको को अधिक अस्वाभाविक बना दिया गया है। बारबार ऐसे प्रसङ्ग लाए गए हैं जिनमें पात्रो की दानशीलता, आत्मप्रशसा, शौर्य आदि के वर्णन का अवसर मिल सके। ऐसे स्थलो पर कथानको के क्रमिक विकास और पूर्वापर सम्बन्ध को पर्याप्त मात्रा में धक्का लगा है। ऐसे अश 'राजविलास' और 'हम्मीर रासो' में प्रचुर मात्रा में वर्तमान हैं।

कुछ रचनाओ में विभिन्न विषयो की लम्बी सूचियाँ गिनाने की परिपाटी का अनुकरण किया गया है। यही नही, व्यक्तियो और वस्तुओ के नामो की बार-बार आवृत्ति की गई है, जिससे कथानक को भारी ठेस पहुँची है। इस पद्धति को अपनाने के मूल में कवियो की पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना ही है। इस दृष्टि से 'राजविलास' में सरस्वती-वर्णन,[1] वर्षा-वर्णन,[2] उदयपुर वर्णनान्तर्गत विविध विपयो का चित्रण,[3] वीरो की लम्बी सूची[4] सम्बन्धी प्रसङ्ग देखे जा सकते हैं। इनके कारण घटना-प्रवाह मे बाधा पड गई है। साथ ही अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन के कारण अधिकाश स्थल ऊहात्मक हो गए हैं।

ऐसे वीरकाव्यो का भी निर्माण हुआ है जिनमें ऐतिहासिक वर्णन की वास्तविकता के साथ ही कथानक को निर्दोष एव काव्योचित गुणो से परिपूर्ण करने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टि से 'वीरसिंहदेव चरित' तथा 'छत्रप्रकाश' विशेष उल्लेखनीय हैं। केशव का ध्यान कथानक को रोचक बनाने की ओर इतना नही गया है जितना कि ऐतिहासिक घटनावली के क्रमानुसार वर्णन की ओर। उन्होने इस कृति की रचना का उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किया है—

---

१. राजविलास, पृष्ठ १-७।
२. वही, पृष्ठ ८-१०।
३. वही, पृष्ठ ४५-५४।
४. वही, पृष्ठ १९३-१९५।

नवरस मय सब धर्ममय राजनीति मय मान।
वीर चरित्र विचित्र किए केसवदास प्रमान ।।[१]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का ध्यान प्रबन्ध-निर्वाह की ओर उतना नहीं था जितना कि राजनीतिक अवस्था के वर्णन की ओर। गोरेलाल ने भी 'छत्रप्रकाश' में ऐतिहासिक घटनाओं का यथातथ्य निरूपण करने का ध्यान रक्खा है। उन्होंने अपने आश्रयदाता की पराजय तक का उल्लेख कर दिया है, यथा—

कह्यौ मवनि समुझाइयौ, जिन भजिबे पछिताउ।
भजे कृष्ण अवतार जे, पूरन प्रगट प्रभाउ ।।[२]

लाल कवि की प्रबन्ध-पटुता उच्च कोटि की है। वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं पर अवलम्बित होते हुए भी 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'छत्रप्रकाश' के कवियों ने अपनी पैनी दृष्टि से मार्मिक स्थलों को पहचान कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

ऐतिहासिक घटनाओं के साथ पौराणिक एवं काल्पनिक घटनाओं का समावेश कर देने से इन कवियों को अपनी काव्य-शक्ति प्रदर्शित करने के लिए अधिक स्वतन्त्र क्षेत्र मिल गया है। 'हम्मीररासो' में सृष्टि और मानव-रचना, चन्द्र और सूर्यवंश का वर्णन पौराणिक आधार पर अवलम्बित है। जोधराज की रचना पर 'पृथ्वीराज रासो' और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' का भी पर्याप्त प्रभाव है। इन प्रयोगों से कहीं-कहीं पर प्रबन्ध-निर्वाह दोषपूर्ण हो गया है और ऊहात्मक वर्णन की प्रधानता हो गई है। प्रकृति-वर्णन, ऋतु-चित्रण, नदी-वर्णन, धार्मिक उपदेश, जी को उबा देने वाले राजनीतिक संवाद, अलौकिक घटना-प्रयोग आदि की कुछ ग्रन्थों में इतनी भरमार है कि कथावस्तु का प्रवाह एकदम मन्द पड गया है।

खण्डकाव्यों में कथानक-चित्रण में वे समस्त प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं जिनका समावेश महाकाव्यों में हुआ है। कुछ कवियों ने ग्रन्थों को अधिक रोचक बनाने के लिए आकस्मिक एवं विस्मयपूर्ण कथावस्तु की कल्पना की है। ऐसा करने से ऐतिहासिक त्रुटियों का समावेश हो गया है और कथानक का पूर्वापर सम्बन्ध-निर्वाह छिन्न-भिन्न हो गया है। गोरा-बादल की कथा में पद्मिनी की प्राप्ति के लिए अलाउद्दीन का सिंहलद्वीप पर आक्रमण और सागर के किनारे पहुँच कर राघव चेतन द्वारा यह बतलाना कि पद्मिनी चित्तौड़ में है,[३] कवि की असावधानी एवं कथानक-वर्णन-सम्बन्धी अनभिज्ञता का परिचायक है। योगी का आगमन, उसकी सहायता से मृग-चर्म पर उड़ कर सिंहलद्वीप पहुँचना तथा रत्नसेन द्वारा पद्मिनी की प्राप्ति के उपाय, एकदम[४] असम्भव तथा आकस्मिक घटनाएँ हैं। इस प्रकार की घटनाएँ काल्पनिक जगत में ही होती हैं, व्यावहारिक क्षेत्र में उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

१. वीरसिंहदेव चरित, छंद ६, पृष्ठ २।
२. छत्रप्रकाश, पृष्ठ १४७।
३. गोरा-बादल की कथा, छंद ६४-६९।
४. वही, छंद १६-२७।

ऐसे खण्डकाव्य भी मिलते हैं जिनमें कोरी प्रशसा, तथा नामावली की आवृत्ति के कारण कथानक का प्रवाह नष्ट और ग्रथ नीरस हो गया है। 'जगनामा' और 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' इसके उदाहरण हैं। श्रीधर ने अपनी कृति म अमीरो तथा वीरो के नामो का अनेक बार उल्लेख किया है।[1] परिणामत कथानक हेय एव नीरस हो गया है। इसी प्रकार 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' का अधिकाश भाग राजपूत-उपजातियो,[2] वाद्य-यत्रो,[3] हाथियो,[4] घोडो,[5] तोपो,[6] बदूको,[7] तलवारो[8] आदि के नामो के गिनाने से भरा पडा है। परिणामत कथानक का प्रवाह मद पड गया है।

उक्त काव्यो में सयुक्ताक्षरो और नादात्मक शैली के प्रयोग ने भी घटनावली के लिए घातक कार्य किया है।[9] इस शाखा में कुछ ऐसे रासो खण्डकाव्य लिखे गए हैं जो परम्परागत रासो शैली से भिन्न एक नवीन पद्धति को लेकर चले हैं। इनमे कथानक का चित्रण अत्यत सफल हुआ है। 'रासा भगवतसिंह' और 'करहिया कौ रायसौ' उक्त कथन की पुष्टि करते हैं। 'रासा भगवत सिंह' में युद्ध का सुन्दर चित्रण हुआ है और 'करहिया कौ रायसौ' में वीरो की गर्वोक्तियो तथा युद्ध का सुन्दर वर्णन मिलता है।

मुक्तक शैली में लिखे गए काव्यो में से कुछ ऐसे ग्रथ हैं जिनमें शिवाजी, छत्रसाल बुन्देला आदि वीरो को आलम्बन बनाया गया है। इन कृतियो म पात्रो के जीवन के विस्तृत कार्य कलाप के दर्शन होते हैं। इनमें शौर्य, वीरता, प्रताप, युद्ध, तलवार आदि के सजीव चित्रण किए गए है जिनमें वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है। इसके लिए भूषण की रचनाएँ तथा केशव-कृत 'रत्नावली' विशेष उल्लेखनीय हैं।

केशव ने 'वीरसिंहदेव-चरित' में 'पृथ्वीराजरासो' की सम्वाद वाली पद्धति को अपनाया है जिससे कथानक में नाटकीय त्वरा का सम्मिश्रण हो गया है। दान और लोभ के तर्क-वितर्क इस कथन की पुष्टि करते हैं। प्राय सभी ग्रथो में वीरता, रौद्र, शृगार, दान, दया, धार्मिकता आदि भावनाओ के चित्रण के लिए कथानक का सफल प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त सक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि ये कवि कथानक प्रयोग के लिए एक बँधी हुई धारा

---

१. जगनामा, पक्तियाँ ५२-६०, ७४-८२, १७४-२१२, २३३-३४५, ४१३-५३४, ८६७-१२४६, १२७३-१४२०।

२. हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छद २७-३७।

३. वही, छद ३९-४१।

४. वही, छद ४७-५१।

५. वही, छद ५२-५६।

६. वही, छंद ६३-७०, ८९-९१।

७. वही, छंद ७०-७२।

८. वही, छद १९३-२०१।

९ जंगनामा, पक्तियाँ १४२-५०, १५६३-७४, हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छद ४५, ६१, १३०, १८६।

का अनुकरण करते रहे हैं। दरबारी चारण-भाट-परिपाटी उनके सामने थी। रीतिकालीन परम्परा से भी ये कवि प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं। प्रलोभन और दान की लिप्सा भी इनको पथ-भ्रष्ट करने में न चूकी। ये ही कारण थे जिनके वशीभूत होकर ये कवि प्रबन्ध-निर्वाह में उतने सफल नहीं हो सके जितना उन्हें होना चाहिए था। पर इनमें कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि भी हुए हैं जिन्होंने कवि-परम्परा से ऊँचे उठकर आशातीत सफलता और मौलिकता का परिचय दिया है। इस दृष्टि से भूषण और लाल कवि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

चरित्र-चित्रण

वीरकाव्य में चरित्र-चित्रण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। ये ग्रंथ ऐतिहासिक काव्य थे इसीलिए अधिकाश स्थलों पर इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण करके ऐतिहासिक घटनावली, पात्रों, स्थानों, युद्ध-सामग्री की सूची आदि का उल्लेख विशेष कर दिया करते थे। पात्रों की अधिक भरमार, लूटमार तथा युद्ध-सामग्री की विस्तृत सूची, अलकार-प्रयोग, चमत्कार-प्रियता, पाडित्य-प्रदर्शन, रीति-परम्परा का अनुसरण आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनसे ये ग्रंथ वर्णनात्मक अधिक बन गए और उनमें चरित्र-चित्रण के लिए बहुत कम अवकाश रह गया।

इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उक्त काव्यों में चरित्र-चित्रण का एकदम अभाव है। पर यह निर्विवाद है कि इन ग्रंथकारों ने अधिकतर परपरागत कुछ विशिष्ट गुणों का ही उल्लेख अपने पात्रों के सबध में किया है। कुछ प्रबन्धकाव्यों में चरित्रों का अच्छा चित्रण भी हुआ है। रासो-परपरा के ग्रंथों के चरित्र-चित्रण पर 'पृथ्वीराज रासो' की छाप स्पष्ट रूप से मिलती है, यथा, 'हम्मीररासो'। मुक्तक ग्रंथों में कुछ विशेष बातों को लेकर ही काव्य-रचना की गई है। भूषण की कृतियाँ इसके प्रमाण हैं। स्त्री-पात्रों के विषय में भी एक बँधी हुई धारा का अनुकरण किया गया है।

कुछ अपवादों के साथ प्राय सभी पात्रों, विशेषकर नायकों, में एक ही प्रकार के गुणों का उल्लेख मिलता है। इन पात्रों का आखेट, मल्ल-युद्ध, गज-युद्ध तथा अश्वारोहण से विशेष प्रेम होता था। अस्त्र-शस्त्र-सचालन में वे अधिक दक्ष होते थे। युद्ध में स्वय सैन्य-सचालन करके सेना के अग्र भाग में रहकर नायक स्वय युद्ध की गति-विधि का निरीक्षण करते थे। यही नहीं, वे विजयी वीरों का समुचित आदर करके गुण-ग्राहकता का भी परिचय दिया करते थे।

इस धारा के ग्रंथों के नायक प्राय युद्धवीर, दानवीर, दयावीर एव धर्मवीर के रूप में चित्रित किए गए हैं। पर प्रधानता युद्धवीर की ही है। वेद, गौ, ब्राह्मण और निर्बल की रक्षा करने के लिए ये नायक सदैव कटिबद्ध रहते थे। उनकी दानशीलता भी उच्चकोटि की हुआ करती थी। चारणों, भाटों, कवियों और ब्राह्मणों को ये पुष्कल धन प्रदान किया करते थे।

कुछ पात्र बड़े यशस्वी तथा धर्मवीर हुआ करते थे। शत्रु से लोहा लेना, अपनी विजय के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देना और हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा देना इन वीर-पुरुषों के लिए साधारण-सी बात थी। इनमें से कुछ वीरों ने अपने बाहुबल पर, साधारण स्थिति से उठकर और दिल्ली राज्य की जड़ें हिलाकर, विस्तृत राज्यों की स्थापना की थी। शिवाजी, छत्रसाल बुन्देला और सूरजमल आदि के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसे पात्रों के

चित्रण में सच्ची वीरता, अदम्य उत्साह, असीम अध्यवसाय और कार्यकुशलता के दर्शन होते हैं। प्राय सभी नायक शत्रुओ को तग करने के लिए छिप-छिपकर छापा मारते, राज्यो को लूटते, आग लगा देते, चौथ उगाहते तथा जगलो एव अन्य सुरक्षित स्थानो में जा छिपते थे। दिल्ली राज्य के शत्रुओ और विद्रोहियो में परस्पर मित्रता स्थापित हो जाया करती थी। ऐसे मैत्री-भाव द्वारा वे अपने शत्रु को पराजित करने के लिए सदैव प्रयत्न करते रहते थे। 'वीरसिंहदेव-चरित' म सलीम तथा वीरसिंहदेव की मित्रता, 'सुजान-चरित्र' में सूरजमल तथा सफदरजग की मैत्री, शिवाजी और छत्रसाल-मिलन इसके उदाहरण हैं। अवसर पडने पर विश्वासघात, हत्या आदि कार्य करने से भी ये व्यक्ति नही चूकते थे, किन्तु अधिकाश वीर सत्यानुसार आचरण करने वाले और नीतिवान महान व्यक्ति ही थे।

इन वीरो में और विशेषकर नायको में सच्ची राजपूत वीरता एव कर्मण्यता के गुण वर्तमान थे। प्रतिद्वन्द्वी से लोहा लेने और करमिट अथवा मरमिट की भावना उनमें रहा करती थी। उनकी वीरता क्रूरता एव नृशसता की भित्ति पर अवलबित नही थी। हाहा खाने वाले पर हाथ उठाना, धोखे से शत्रु का सहार करना आदि बातें उन्हें रुचिकर नही थी। प्रार्थना करने पर वे शत्रु को निकल जाने का सुरक्षित मार्ग दे दिया करते थे। वे जितने ही वीर होते थे उतने ही दयालु और जितने ही कठोर उतने ही उदार।

इन वीरो में स्वामिभक्ति, कृतज्ञता आदि गुण वर्तमान थे। सेनापति आदि कर्मचारी अपने स्वामी के कार्य को वडी तत्परता और सलग्नता के साथ किया करते थे। यह उनके चरित्र की एक असाधारण विशेषता थी।

इन ग्रथो में कुछ ऐसे पात्र भी मिलते हैं जो छल, कपट, विश्वासघात एव धूर्तता के साक्षात अवतार थे। अपने स्वार्थ की पूर्ति करना ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता था। नीति-अनीति, उचित-अनुचित का ध्यान रखना उनके लिए आवश्यक न था। कुछ ऐसे भी वीर थे जो आत्म-श्लाघा एव दूसरो को उपदेश देना ही सच्ची वीरता का आदर्श समझा करते थे।

अधिकाश ग्रथो के नायको और उनके पक्ष के पात्रो के गुणो को चढा-बढ़ाकर अकित किया गया है। उनके प्रतिपक्षी पात्रो के चरित्र को अधिक ऊँचा उठाने का प्रयत्न नही किया गया है। ऐसे बहुत कम ग्रथ हैं जिनमें प्रतिनायक के आतक, गौरव और वैभव का उदारतापूर्वक वर्णन किया गया हो। इस सबध में 'राजविलास' में महाराणा राजसिंह के प्रतिद्वन्द्वी औरगजेब तथा 'सुजान-चरित्र' में सूरजमल के विरोधियो के चरित्र-चित्रण में अधिक उदारता दिखलाई गई है। ऐसा करने से नायको के शौर्य और बल-पराक्रम अधिक उज्ज्वल हो उठे हैं। पद्माकर ने 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में नायक के विरोधी नोने अर्जुनसिंह का चित्रण भी अधिक उदा-रता से किया है। कतिपय ऐसे ग्रथ भी मिलते हैं जिनमें उपनायक के चरित्र को अत्यधिक गिरा दिया गया है। इस दृष्टि से 'हम्मीर रासो' में अलाउद्दीन का चूहे से भयभीत होने वाला कथन[1] विचारणीय है।

इन कृतियो में नारी पात्रो का उल्लेख अपेक्षाकृत कम मिलता है। इन स्त्री पात्रो के

---

१. हम्मीररासो, छद २४५, पृष्ठ ५०।

दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम वह वर्ग है जिसमें नख-शिख और नारी-जाति-भेद-वर्णन सम्मिलित हैं।[1] इस पर स्पष्टत ही रासो और रीति-परम्परा का प्रभाव है। ये चित्रण शृंगारिक भावना से ओत-प्रोत हैं। नारी का यह रूप उद्दीपक, साधना में बाधक और कर्तव्य-पथ से विमुख करने वाला है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे स्त्री पात्र आते हैं, जिनका स्वरूप अत्यत उज्ज्वल एव महान है। इस रूप में सच्ची क्षत्राणी सती, साध्वी, माता और पत्नी के रूप में आती है। उसका यह रूप अधिक स्थायी, वीरता से परिपूर्ण और वास्तविक है। यह चित्रण रीतिकालीन अश्लील प्रभाव से बचा हुआ है। ऐसे आदर्श नारी पात्र अन्य काव्य-धाराओं में सम्भवत दुष्प्राप्य हैं। इस धारा की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। सच्ची ऐतिहासिक घटनाओं पर अवलम्बित होने के कारण यह चित्रण अधिक सत्य एव प्रभावोत्पादक बन गया है। नारी का यह रूप चारण, भक्ति और रीतिकालीन साहित्य में अपनी सबसे अलग विशेषता रखता है। सूक्ष्म होते हुए भी यह आदर्श और महान है।

इस प्रकार कुछ कवियों ने अपने काव्यों में इतिहासानुकूल और कतिपय कवियों ने ऊहात्मक शैली के आधार पर अपने पात्रों के चरित्र अकित किए हैं। अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का भी आश्रय लिया गया है। रासो-परम्परा की स्पष्ट छाप भी दृष्टिगोचर होती है। मुक्तक रचनाओं में से कुछ में यशस्वी नायक को लेकर उसकी वीरता, शौर्य आदि का वर्णन किया गया है और कुछ कोरी प्रशस्ति मात्र की गई है। अनेक कवियों ने चरित्र-चित्रण के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित की है। साथ ही कुछ विशिष्ट गुणों का अकन करना ही इन कवियों का मुख्य उद्देश्य रहा है। नारी पात्र, यद्यपि कम आए है, पर उनके चरित्र की अपनी निजी विशेषताएं हैं।

रस-निरूपण

रस-निरूपण की दृष्टि से इस धारा के ग्रथ निम्न वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं —

(१) रसों के लक्षण और उदाहरण वर्णन करने के विचार से लिखे गए ग्रथ, जैसे 'ललित-ललाम'।

(२) अलकारों के रीति-ग्रथ जिनमें उदाहरण-रूप में विविध छन्दों में रसों का परिपाक हुआ है। इस कोटि में 'शिवराज भूषण' और 'जगद्विनोद' आते हैं।

(३) कवित्व की दृष्टि से रचे गए ग्रथ जिनमें विभिन्न रसों के उदाहरण मिलते हैं। 'वीरसिंहदेव-चरित', 'सुजान-चरित्र' आदि कृतियां इनके अतर्गत आती हैं।

इस धारा में वीर—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर—के सिवाय में शृंगार, वीभत्स, रौद्र तथा भयानक रसों का मिश्रण भी मिलता है, परतु करुण, हास्य, अद्भुत तथा शात का अपेक्षाकृत कम प्रयोग हुआ है।

युद्ध, दान, दया और धर्म वीर का वर्णन करते हुए इन कवियों का ध्यान प्रधान रूप से युद्धवीर और दानवीर की ओर अधिक रहा है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। यद्यपि प्राय,

राजाश्रित थे। आश्रयदाताओ के दान और युद्ध-कौशल की प्रशसा करना इनके लिए नितान्त स्वाभाविक था। कुछ ऐसी भी रचनाएं हैं जिनमें चरित-नायको के वीरत्व एव शौर्य का वास्तविक अकन हुआ है। उदाहरणार्थ 'रत्नबावनी' तथा भूषण की रचनाएं ली जा सकती हैं।

वीर रस के प्रसग में अस्त्र-शस्त्रादि, युद्ध-सामग्री, वीरो की सजावट, सैन्य-प्रयाण, वीरो की गर्वोक्तियाँ, पौरुषपूर्ण कार्य-कलाप, तुमुल कोलाहल आदि के सजीव चित्र अकित किए गए हैं जिनसे वीर रस का वास्तविक चित्र पाठक के हृदय-पटल पर अकित हो जाता है। इस सबध में केशव, भूषण, मान और सूदन की रचनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कुछ कवियो ने दानशीलता का वर्णन करने में ऊहा और अतिशयोक्ति से अधिक सहायता ली है। मान, मतिराम और सदानद के नाम इस प्रसग में विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐसे वर्णनो में अस्वाभाविकता एव नीरसता का समावेश हो गया है। सयुक्ताक्षरो एव नादात्मक शैली को ही वीररस-निष्पत्ति का एक मात्र कारण समझने वाले कवि भी इस धारा में हुए हैं। ऐसे कवियो मे मान और सूदन प्रमुख हैं।

युद्ध-सामग्री का वर्णन करने में उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलकारो का सहारा लेकर वाह्य तडक-भडक में मग्न रहने वाले केशव, पद्माकर आदि उक्त स्थलो पर वास्तविक वीर रस-निरूपण में असफल रहे हैं।

कुछ कवियो ने युद्ध आदि का विवरण उपस्थित करना ही अपना लक्ष्य बनाया है। परिणामत वीर रस का समुचित परिपाक नही हो सका है। ऐसे कवियो में गोरेलाल तथा श्रीधर विशेष उल्लेखनीय हैं।

वीर रस के साथ एक ही छन्द में अन्य रसो का मिश्रण कर देना भी इस काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति रही है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से वीर रस की वास्तविक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। थोडे-से हेर-फेर के साथ प्राय एक ही प्रकार की वीर रसात्मक मान्यताएं इस धारा में प्रचलित रही हैं। पर आदिकाल की अपेक्षा रीतिकालीन युग का वीर रस अधिक स्वाभाविक है, क्योकि वह ऐतिहासिक तथ्य के अधिक निकट है।

इस धारा में वीर रस के पश्चात श्रृगार रस का विशिष्ट स्थान है। श्रृगारवर्णन में स्त्री-पुरुष-जाति-भेद, नख-शिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि का प्रमुख रूप से चित्रण मिलता है। इसके लिए जटमल,[2] मान[3] तथा जोधराज[4] विशेष प्रकार से विचारणीय हैं। इस रस-वर्णन में इन्होने इतनी तल्लीनता दिखलाई है कि कथावस्तु तथा वीररस-चित्रण का ध्यान ही उन्हें एक प्रकार से विस्मृत हो गया है। कही-कही पर अश्लीलता के नग्न-चित्र भी प्रस्तुत कर दिए गए हैं।[5]

---

१. भूषण-ग्रथावली, शिवराज-भूषण, छद ३२८, पृष्ठ ५८।

२ गोरा-वादल की कथा, छद ३८-६०, पृष्ठ १०-१५।

३. राजविलास, छद ४०-५७, पृष्ठ ८-१०।

४. हम्मीररासो, छद १००-१५७।

५. गोरा-वादल की कथा, छंद ४८।

प्रसन्नता का विषय यही है यह दोष थोडे ही स्थलो पर आया है। अधिकाश वर्णन रीतिकालीन उच्च शृगारी कवियो के समकक्ष बन पडे हैं।

लाल कवि ने लौकिक शृगार द्वारा अलौकिक शृगार की ओर सकेत किया है। पद्माकर, जोधराज आदि ने वीर रस में शृगार का पुट दिया है। कही-कही पर शृगार रस के वर्णन में स्ववाचकत्व दोष आ गया है।[1]

उक्त कुछ दोषो के होते हुए भी वीर रस के उपरात शृगार रस इस धारा में प्रमुख रूप से और अधिकता से चित्रित हुआ है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता।

वीर रस के प्रसग में वीभत्स-रस-चित्रण के दर्शन भी होते हैं। सर्वत्र जोगिनी, गिद्ध, महादेव, कालिका, कक, मास, रक्त आदि एक-से ही उपकरणो का उल्लेख मिलता है।

वीर रस के मित्र-रसो, रौद्र तथा भयानक का थोड़ा-बहुत वर्णन सभी रचनाओ म मिलता है। यद्यपि इन रसो का सुन्दर परिपाक करने में इन कवियो को सफलता मिली है, पर उक्त रसो का चित्रण अपेक्षाकृत कम हुआ है।

करुण, हास्य, अद्भुत और शात रसो के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। ये रस प्राय उपेक्षित रहे हैं।

अलकार-योजना तथा छंद-प्रयोग

अलकार-योजना की दृष्टि से आलोच्य काव्य-धारा मे दो प्रवृत्तियाँ मिल्ती हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे सारे ग्रथ परिगणित किए जा सकते हैं जो रीति-परम्परानुसार लक्षणो और उदाहरणो की शैली में लिखे गए हैं। 'शिवराज-भूषण' और 'ललित-ललाम' इसके उदाहरण हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे समस्त रचनाएँ हैं जो शुद्ध कवित्व की शैली मे लिखी गई हैं और जिनमें अलकार-प्रयोग स्वत हो गया है।

प्रथम कोटि के ग्रथो में मतिराम-कृत 'ललित-ललाम'[2] में अलकारो के लक्षण और उदाहरणो का सन्निवेश किया गया है। उक्त गथ में अधिकाश उदाहरण बूंदी-नरेश भाऊसिंह के सम्बध में कहे गए हैं। मतिराम ने शब्दालकारो का वर्णन नही किया है। रसवदादि अलकारो का भी उसमें उल्लेख नही हुआ है। केवल अर्थालकारो के लक्षण और उदाहरण ही दिए गए हैं। मतिराम के लक्षण और उदाहरण प्राय निर्दोष और स्पष्ट हैं, पर निम्नलिखित अलकारो के लक्षण और उदाहरण विशेष प्रकार से मनोहर एव सुन्दर बन पड़े हैं—

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टात, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति और यथासख्य।

मतिराम को अलकार-वर्णन में रीतिकालीन अन्य कवियो की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है।

'शिवराज-भूषण' को निर्दोष रीति-ग्रथ नही कहा जा सकता। उसके अधिकाश लक्षण

---

१ हम्मीररासो, छंद ७४७-८, पृष्ठ १४८।

२. ललितललाम में वर्णित अलंकारो की संख्या विस्तृत है, पर वीरकाव्य से संबधित अलकारो के उदाहरणो से ही यहाँ पर हमारा अभिप्राय है।

और उदाहरण दोषपूर्ण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भूषण का उद्देश्य अपने चरित-नायक का यशोगान करना था, रीति-ग्रथ लिखना नही। 'शिवराज-भूषण' में दोहा छन्दो में अलकार-लक्षण देकर उदाहरण देने मे वीरकेशरी शिवाजी के शौर्य से सबधित घटनाओ का वर्णन किया गया है। इस ग्रथ में कुल १०६ अलकारो का वर्णन किया गया है, जिनमें १०० अर्थालकार, ५ शब्दालकार और १ उपमालकार है। अर्थालकारो की सख्या में अधिकाश अलकारो के भेदो की सख्या भी सम्मिलित है। इन्होने कुछ अलकारो के सारे भेदो का वर्णन किया है, कुछ के कुछ भेदो का विवेचन किया है और शेष के भेद एकदम छोड दिए है। वर्णित अलकारो में से कुछ के लक्षण छोड दिए है और केवल उदाहरण ही दिए हैं। कतिपय स्थलो पर भूषण ने एक ही छन्द में दो अलकारो के लक्षण दे दिए हैं। इनके अधिकाश अलकारो के लक्षण तथा उदाहरण अस्पष्ट और दोषपूर्ण है। लक्षणो की अपेक्षा इनके उदाहरण अधिक अशुद्ध है। भूषण ने दो नवीन अलकार सामान्य-विशेष और भाविक-छवि माने हैं, पर ये दोनो ही क्रमश विशेष-निबन्धना तथा भाविक के अन्तर्गत आ जाते है।

इस प्रकार रीति-ग्रथ की दृष्टि से 'शिवराज-भूषण' साधारण श्रेणी की कृति है। सच बात तो यह है कि रीति-ग्रथ-लेखन-प्रणाली ने इस ग्रथ में भूषण की कविता का स्वतत्र रूप नही विकसित होने दिया है। अन्य कवियो के समान उनकी दृष्टि कविता की ओर अधिक टिकी थी। यही कारण है कि 'शिवराज-भूषण के' अधिकाश पद्यो में अलकारो के अत्यत उत्कृष्ट प्रयोग के साथ कवित्व के सुन्दर दर्शन होते हैं। जहाँ इन्हे कोई बधन नही था वहाँ इन्होने स्वाभाविक रूप से अत्यत उत्तम अलकार-योजना की है।

इस धारा में अलकार-प्रयोग का क्षेत्र व्यापक होते हुए भी निम्नलिखित अलकार ही विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं —

(अ) शब्दालकार—अनुप्रास और यमक।

(आ) अर्थालकारो में से निम्नाकित सादृश्यमूलक अलकार —

उपमा, मालोपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा (गम्योत्प्रेक्षा, उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा), अतिशयोक्ति (रूपकातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति), भ्रम तथा सन्देह।

(इ) विरोधमूलक—विरोधाभास।

(ई) लोक-व्यवहार-मूलक अलकार—लोकोक्ति।

कम प्रयुक्त होने वाले अलकार —

(उ) शब्दालकार—श्लेष।

(ऊ) अर्थालकार—अनन्वय, अपह्नुति, उल्लेख, तुल्योगिता, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, विषम, विशेषोक्ति, परिसख्या, पर्याय, काव्यलिंग, अनुमान, ललितोपमा, व्यतिक्रम, अप्रस्तुतप्रशसा, अत्युक्ति तथा उदाहरण।

उक्त अलकारो के प्रयोग में इन कवियो ने कुछ विशेष नियमो और मान्यताओ को अपनाया है। यहां पर ऐसे ही कुछ अलकारो की विशेषताओ का उल्लेख किया जा रहा है —

अनुप्रास—अनुप्रास अलकार का प्राय सभी कवियो ने प्रचुर प्रयोग किया है। अधिक-

तर इसका प्रयोग कोरे चमत्कार-प्रदर्शनार्थ हुआ है। ऐसे अवसर पर शब्दाडम्बर की भरमार है। केशव, मान, सूदन और पद्माकर इस अलकार के प्रयोग के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुप्रास की सहायता से वर्णन में कही-कही पर सजीवता का समावेश हो गया है।

नायक-नायिका-रूप-वर्णन, ओज, छटा, युद्ध, नामो और सामग्री की सूची तथा युद्ध के उपकरणो के चित्रण के अवसर पर इस अलकार को विशेष रूप से अपनाया गया है। यह ठीक है कि कही-कही पर अनुप्रास-प्रयोग से काव्य में सजीवना, ओज और कवित्व का समावेश हो गया है, पर अधिकाश स्थलो पर नीरसता और शुष्कता की इतनी अधिकता हो गई है कि कविता के प्रति अरुचि होने लगती है।

उपमा अलकार—अर्थालकारो में उपमालकार का अत्यधिक प्रयोग मिलता है। गोरेलाल, जोधराज आदि कवियो ने सुन्दर उपमानो का सृजन किया है। सेना-प्रस्थान, युद्ध, हाथी, घोडे, अस्त्र-शस्त्र आदि के वर्णन में मेघ, विजली और वर्षा के उपकरणो को उपमानो के रूप में प्रयुक्त किया गया है, यथा—

झरिय सार तिहिं अपार मुख मारु मारु रर।
ज्यो पहार पर जलद धार वरसत साग सर॥[१]

कृषि-सम्वन्धी कुछ नवीन उपमानो को भी अपनाया गया है।

रूपक अलंकार—यह अलकार भी इन कवियो को अधिक प्रिय रहा है। सैन्य-प्रयाण, युद्ध-सामग्री, युद्ध-वर्णन में मेघ, बिजली, बूंदें, नदी, पानी, प्रवाह, वक-पक्ति आदि के सुन्दर रूपक बांधे गए हैं। केशव ने सूर्य के लिए अरुन-मुख वानर उपमान का प्रयोग करके अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया है, यथा—

दिनकर वानर अरुन-मुख, चढ्यौ गगन तरु धाय।
केसव तारा कुसुम विनु, कीनौ झुकि झहराय॥[२]

उपर्युक्त प्रचलित रूपको के अतिरिक्त वरात,[३] तीर्थराज प्रयाग,[४] काल की वाटिका,[५] सूरजमल का होता वनकर यज्ञ करना,[६] विराट पुरुष,[७] वसत,[८] कृष्ण-स्तुति,[९] गोवर्द्धन की कथा[१०]

---

१ सुजान-चरित्र, छद १०, पृष्ठ ९६।
२ वीरसिंहदेव-चरित, छद २६, पृष्ठ ६९।
३. वही, छद ६-३५, पृष्ठ ५०-५२।
४. सुजान-चरित्र, छद ३, पृष्ठ २१।
५. वही, छद ११, पृष्ठ ९६-९७।
६. वही, छद ५१, पृष्ठ १८०।
७. वही, छद २, पृष्ठ ६२।
८. वही, छद ७, पृष्ठ ११४।
९ वही, छद १, पृष्ठ २२४।
१०. वही, छद ५७, पृष्ठ २३२।

आदि पौराणिक तथा अन्य प्रकार के रूपको का इन कवियो ने सफल प्रयोग करके काव्य में नवीनता और सजीवता का समावेश किया है।

उत्प्रेक्षा अलकार—इस अलकार का प्रयोग वस्तुओ, हाथियो,[1] नगर,[2] वर्षा,[3] घोडो,[4] युद्ध[5] आदि के वर्णन में किया गया है।

अतिशयोक्ति अलंकार—अतिशयोक्ति अलकार तथा इसके भेद रूपकातिशयोक्ति और अक्रमातिशयोक्ति का इन कवियो ने जी खोल कर वर्णन किया है। युद्ध तथा वैभव-वर्णन में इस अलकार की सहायता से ऊहात्मक उडानें भरी गई हैं।[6] 'राजविलास' में गर्वोक्तियो के कथन में अतिशयोक्ति अलकार द्वारा विशेप छटा एव सौंदर्य का समावेश हो गया है।[7]

ऊपर दिए सक्षिप्त विवरण से अलकार-प्रयोग की प्रमुख प्रवृत्तियो का परिचय प्राप्त हो जाता है।

छद प्रयोग की दृष्टि से इस धारा का एक विशिष्ट स्थान है। छन्दो की इतनी विविधता हिन्दी की अन्य काव्यधाराओ में सम्भवत कठिनता से मिलेगी। लगभग १३३ प्रकार के छन्द इन कवियो द्वारा प्रयुक्त किए गए हैं। इन छन्दो में से अधिकाश विभिन्न कवियो द्वारा अपनाए गए हैं। केशव ने १५ प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है। चौपही, दोहा, छप्पय, कवित्त, सवैया (मालती), उनके अधिक प्रिय छन्द हैं। मात्रिक छन्द उन्हें अधिक रुचिकर हैं। छन्दो में नवीनता लाने और परिवर्तन करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।

जटमल ने सात प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है और उनमें से दोहा और छप्पय को विशेष रूप से अपनाया है। इन्होंने केवल एक ही प्रकार के वर्णवृत्त—मोतीदाम—का प्रयोग किया है। इनके द्वारा प्रयुक्त शेष छद मात्रिक हैं।

मतिराम ने 'ललित-ललाम' में दोहा, कवित्त और मालती सवैया का विशेप और छप्पय का सामान्य रूप से प्रयोग किया है।

भूषण ने १२ प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है। कवित्त इनका अत्यत प्रिय छन्द है। अलकारो की परिभाषा के लिए दोहे का प्रयोग किया है। इन्होने सवैया के चार भेदो का उपयोग किया है जिनमें से मालती का सबसे अधिक प्रयोग मिलता है।

मान कवि ने २७ प्रकार के छन्दो को अपनाया है। इन्होने चदबरदाई के समान छप्पय के लिए कवित्त नाम दिया है। इनके द्वारा प्रयुक्त छन्दो में राजस्थानी छन्दो की सख्या अधिक है। छन्दो के रूप बदलने और परिवर्तन करने की प्रवृत्ति इनमें पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है।

---

१. वीरसिंहदेव-चरित, छद ३४-४०, पृष्ठ ३१।
२ वही, छद २२, पृष्ठ ५७।
३. वही, छंद १-१३, पृष्ठ ६७।
४. हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छद ५२-५६, पृष्ठ ९-१०।
५. वही, छद १४७, पृष्ठ २९।
६. छत्रप्रकाश, पृष्ठ ११९, हिम्मतबहादुर-विरुदावली, छद १४७, पृष्ठ २९।
७. राजविलास, छद १८९-१९६, पृष्ठ १७९-१८०।

गोरेलाल ने जायसी-कृत 'पदमावत' और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' के समान केवल दोहे और चौपाई का प्रयोग किया है। इस प्रकार इन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि उक्त छद अवधी के समान ही ब्रजभाषा में भी सफलता एव निर्दोपतापूर्वक प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

श्रीधर के 'जगनामा' में १३ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें मात्रिक छन्दो की सख्या अधिक है।

सदानन्द ने १५ प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है, जिनमें मात्रिक तथा वर्णिक दोनो प्रकार के छन्द हैं। अधिकाश स्थलो पर इनके छन्द दोपपूर्ण हैं।

सूदन ने १०३ प्रकार के छन्दो का प्रयोग करके इस शाखा में अपने लिए सर्वोपरि स्थान प्राप्त कर लिया है। इन्होने प्रत्येक जग के प्रत्येक अक के अत में एक हरिगीतिका की आवृत्ति की है। सूदन ने मात्रिक सम, अर्द्ध-सम, विषम तथा वर्णिक सम, वर्ण-मुक्तक आदि सभी प्रकार के छन्दो को अपनाया है तथा आठ मात्रा के छन्दो से लेकर चालीस मात्रा तक के मात्रिक छन्दो और दो वर्ण से लेकर वत्तीस वर्णो तक के वर्ण-वृत्तो का प्रयोग किया है। छन्दो के रूप-परिवर्तन करने और उनके नामो को वदलने की प्रवृत्ति द्वारा इन्होने अपने पाडित्य एव आचार्यत्व का परिचय दिया है। इस दृष्टि से सूदन केशव के समकक्ष ही नही, वरन कतिपय वातो में उनसे श्रेष्ठ ठहरते हैं।

गुलाव कवि ने १३ प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है। इनके छन्द प्राय पिंगल के नियमो पर खरे नही उतरते हैं।

पद्माकर ने 'हिम्मतवहादुर-विरुदावली' में ६ प्रकार के छन्द अपनाए हैं। हरिगीतिका इनका सर्वप्रिय छन्द है। 'जगद्विनोद' में कवित्त, छप्पय तथा दोहा अधिक प्रयुक्त हुए हैं। सूदन के समान पद्माकर ने भी हरिगीतिका की यथास्थान आवृति की है।

जोधराज ने १७ प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है। इन्होने वचनिका को भी स्थान दिया है। मात्रिक छन्दो के प्रति जोधराज ने अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की है।

चौपाई, पद्धरी, हीर (हीरा, हीरक), गीतिका, गीता, हरिगीतिका, लीलावती, त्रिभगी, रसावल तथा हनूफाल आदि मात्रिक छन्द, दोहा (दोहरा) और सोरठा अर्द्धमात्रिक छन्द, अमृतध्वनि, कुडलिया तथा छप्पय विपम छन्दो का तीन अथवा अधिक कवियो ने प्रयोग किया है। तोमर, निसानी, पावकुलक (पादाकुलक) तथा विअक्षरी आदि मात्रिक छन्दो को कम से कम दो कवियो ने अपनाया है।

अर्द्धनाराच (लघुनाराच), तोटक (त्रोटक), भुजगप्रयात, भुजगी, मोतीदाम (मोतियदाम), नाराच (वृद्धिनाराच), सवैया (विशेपकर मालती और दुर्मिल) वर्ण-सम, कवित्त-मुक्तक का कम से कम तीन कवियो ने तथा सखनारी (सखजारी) नगस्वरूपिनी का कम से कम दो कवियो ने उपयोग किया है।

यह कहना कि विशिष्ट विषय का वर्णन करने के लिए कुछ विशेप छन्दो का ही प्रयोग हुआ है, दुष्कर कार्य है। सच वात तो यह है कि इन छन्दो में प्रतिपादित विपयो का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण है। कुछ छन्द ऐसे अवश्य हैं जिनका प्रयोग कुछ विषयो एव रसो के चित्रण के लिए ही किया गया है। उनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

स्तुति, बन्दना आदि के लिए अधिकतर दोहा, सोरठा, छप्पय, अर्द्धनाराच, नाराच तथा कवित्त का प्रयोग किया गया है।

ऋतु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण आदि के लिए पद्धरी, दोहा, छप्पय, अर्द्धनाराच, तोटक, भुजगप्रयात, मोतीदाम, वचनिका, नगर, स्थल आदि की शोभा-वर्णन के लिए मोतीदाम, स्वागता, भुजगी, सवैया, दडमाली आदि छद अधिक प्रयुक्त हुए है।

नख-शिख तथा रूप-वर्णन के लिए दोवै, दोहा, चौपाई, छप्पय, अर्द्धनाराच, गुणाबेलि अधिक अपनाए गए हैं। शृगार, आभूपण आदि के लिए पद्धरी, दोहा, छप्पय तथा कवित्त अधिक प्रचलित रहे हैं।

हाथियो, घोडो आदि का वर्णन अधिकतर डिल्ला, त्रिभगी तथा कवित्त में हुआ है।

युद्ध-सामग्री, युद्ध तथा वीर रस के लिए चौपाई, तोमर, रोला, सोरठा, पद्धरी, निसानी, त्रिभगी, अमृतध्वनि, कुडलिया, सजुता, तोटक, भुजगप्रयात, भुजगी, मोतीदाम, लछमीघर, सारग, कद, चामर, चचला, नील, नाराच, गगोदक, नूफा, गीतामालती, हीरक, गगनगन, छप्पय, कवित्त तथा हनूफाल आदि अधिकतर प्रयुक्त हुए हैं और इन छन्दो में सुन्दर चित्रण किए गए हैं। रौद्र रस तथा आतक का त्रिभगी एव छप्पय में अच्छा वर्णन हुआ है। वीभत्स का वर्णन करने के लिए त्रिभगी, छप्पय, तोटक, भुजगप्रयात, भुजगी और कवित्त अधिक अपनाए गए हैं।

चौपही, चौपाई, सोरठा, दोहा, छप्पय, कवित्त और सवैया प्राय सभी विपयो के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

इनके अतिरिक्त जिन छन्दो का यहाँ पर उल्लेख नही किया गया है वे भी प्रयोग की दृष्टि से अपनी प्रमुख विशेषताएँ रखते हैं।

इस धारा में एक ही छन्द के विविध रूप प्रचलित थे। इस से स्पष्ट है कि एक ही छन्द को विभिन्न प्रकार से लिखने तथा मानने की प्रवृत्ति थी, जैसे चौपाही (चौपाई), कडखा (कपडा) आदि। कुछ ऐसे भी छन्द मिलते है जिनके शास्त्रसम्मत सभी नामो का उल्लेख हुआ है।

कुछ प्रयोग ऐसे मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि छन्दो का नाम परिवर्तित करने की प्रवृत्ति इन कवियो में वर्तमान थी। इसके प्रमाण में जयकरी के लिए करी, मजुमालिनी के लिए मालिनी, रूपघनाक्षरी के लिए रूपघना आदि नाम देखे जा सकते हैं। अर्थसाम्य का आश्रय लेकर नवीन नाम देने की प्रवृत्ति भी सूदन के कुछ छदो में वर्तमान है, जैसे विद्युन्माला के लिए चपला, दिगपाल के लिए दुरद, ईश के लिए हरि तथा हरी। इसके अतिरिक्त सूदन ने मनहस के लिए कलहस, पद्म के लिए मानक्रीडा, हस के लिए हद, वाला के लिए मोहठा का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि छदो की नवीन नामावली के सृजन में इन कवियो का मन अधिक रम रहा था।

ये कवि छन्दो के प्रचलित शास्त्रीय लक्षणो में भी परिवर्तन कर रहे थे। इनमें से कुछ तो दोपो के अन्तर्गत माने जा सकते हैं और कुछ अवश्य ही छन्दो के रूपो में नवीनता लाने के लिए और छन्द-शास्त्र को नवीन रूप देने के उद्देश्य से किए गए थे।

दो छन्दो के मेल से वने हुए छन्दो का भी प्रयोग प्रचलित था, जैसे अमृतध्वनि (१ दोहा + २ रोला), कुडलिया (१ दोहा + २ रोला), छप्पय (रोला के चार पद + उल्लाला के दो

पद), दातार (सभवत छप्पय का अन्य नाम है), अभिराम (छप्पय के समान) और हुलास (पादाकुलक + त्रिभगी अथवा भुजगप्रयात + दोहा)। सूदन ने एक ही छद म कवित्त तथा घनाक्षरी का रूपक बाँधा है।

सस्कृत तथा हिन्दी के प्रचलित छदो के अतिरिक्त प्राकृत के खवा, घत्ता, घनानन्द, गाहा, करहची तथा राजस्थानी के गुणावेलि, कवित्त और कामुकी वाँताँण छदो का भी प्रयोग मिलता है। इससे छन्द-सवधी उदार नीति का आभास मिल जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छन्द-प्रयोग की दृष्टि से इन कवियो का क्षेत्र अधिक व्यापक रहा है। राजस्थानी, प्राकृत, सस्कृत आदि के छन्दो को इन्होने वडी उदारता से अपनाया है। साथ ही हिन्दी के आदिकाल से वहती हुई चारण-धारा, प्रेममार्गी भक्ति-धारा और रीतिकाल के छन्दो का इन कवियो ने स्वतत्रतापूर्वक प्रयोग किया है। यहाँ तक कि वार्ता एव वचनिका को भी स्थान दिया गया है। नवीन नामो का निर्माण एव लक्षणो में परिवर्तन करके इन्होने पिंगल-शास्त्र को प्रगति देने का सफल प्रयत्न किया है। इस धारा के कवियो में सूदन का सर्वोत्कृष्ट स्थान होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि सभी कवियो ने इस क्षेत्र में उदारता, दूर-दर्शिता एव समन्वय-भावना का परिचय दिया है।

प्रकृति-चित्रण

हिन्दी साहित्य में प्रकृति का आलवन रूप अपेक्षाकृत वहुत कम और उद्दीपन तथा अप्रस्तुत स्वरूप प्राचुर्य से मिलता है। गिनी-गिनाई वस्तुओ के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण कराना मात्र हिन्दी कवियो का अधिकतर काम रहा है। उन्होने सूक्ष्म रूप-विवरण और आधार-आधेय की सश्लिष्ट योजना के साथ विव-ग्रहण नही कराया है।

इसके साथ ही राज-सभाओ में प्रचलित समस्यापूर्ति की परिपाटी के परिणामस्वरूप कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की वेसिर-पैर की अद्भुत उक्तियो द्वारा वाहवाही लूटते रहे। जो कल्पना पहले भावो और रसो की सामग्री जुटाया करती थी कालान्तर मे वह वाजीगर का खेल-वाड करने लगी।

केशव के पीछे रीतिकालीन परम्परा मे एक प्रकार से प्रवन्ध काव्यो का वनना वन्द-सा हो गया था। आचार्य वनना प्रमुख समझा जाने लगा, कवि वनना नही। अलकार और नायिका-भेद के लक्षण-ग्रन्थ लिखकर अपने रचे हुए उदाहरण देने में ही कवियो ने अपने कार्य की समाप्ति मान ली थी। ऐसे फुटकर पद्य-रचयिताओ की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूंढना ही व्यर्थ है। शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में षट-ऋतु का वर्णन अवश्य मिलता है, पर उसमें वाह्य प्रकृति के रूपो का प्रत्यक्षीकरण मुख्य नही होता, नायक-नायिका का प्रमोद या सताप ही मुख्य होता है। आख्यान काव्य में दृश्य-वर्णन को वहुत कम स्थान दिया गया है। यदि कुछ वर्णन परम्परापालन की दृष्टि से हैं भी तो वे अलकारप्रधान हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार इस वात की स्पष्ट सूचना दे रही है कि कवि का मन दृश्यो के प्रत्यक्षीकरण में नही लगा है। वह उचट-उचट कर दूसरी ओर जा रहा है। भक्ति-धारा के कवियो में

तुलसी तथा सूर ने जो प्रकृति-चित्रण किए वे भी परम्परा का अनुसरण मात्र समझे जाने चाहिए।[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी में प्रकृति-चित्रण एक बँधी हुई परम्परा के अन्तर्गत चलता रहा है। वीरकाव्य-धारा उसी परिपाटी का अनुकरण करती रही है। परिणाम यह हुआ है कि प्रकृति प्राय उपेक्षित रही है। उसका जो कुछ भी थोडा-बहुत रूप मिलता है वह एक रूढिवादी शैली का अनुकरण मात्र है। इन कवियो में केशव, भूषण, पद्माकर आदि आचार्य और रीति-काव्यकार भी थे। अतएव इनके प्रकृति-चित्रण अलकार, चमत्कार आदि की प्रवृत्ति से आक्रात हो गए है। इस धारा के कवियो ने प्रकृति-चित्रण के पौराणिक ढङ्ग को भी अपनाया है। उन्होने उसे विचित्र-विचित्र कल्पनाओ से सजाया और सँवारा है। प्रकृति को उद्दीपन रूप से ही उन्होने देखा है। प्रकृति के सहचर-रूप को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति को इन कवियो ने बहुत कम स्थान दिया है। सस्कृत काव्य-परम्परा की आप्त शैली के प्रभाव से प्रकृति का उद्दीपन विभाव रूढिवादी होकर मध्ययुग की विभिन्न परम्पराओ में उद्दीपन की विभिन्न प्रवृत्तियो से युक्त फैला हुआ है। प्रकृति नितान्त अस्वाभाविक स्थिति तक पहुँची हुई है। इसके प्रभाव से वीरकाव्य-धारा भी अछूती नही रह सकी है। ऋतु-वर्णन अपने दोनो रूपो—उत्तापक और उत्तेजक—से युक्त है। ऋतु-चित्रण के अवसर पर विलास एव ऐश्वर्य-सम्बधी क्रिया-कलाप की योजना की गई है, जिसका प्रकृति से कोई सम्बन्ध नही रह जाता, उदाहरणार्थ, 'हम्मीर रासो' का प्रकृति-चित्रण देखा जा सकता है। साथ ही आरोप के क्षेत्र में स्थूलता तथा वैचित्र्य की ओर अधिक प्रवृत्ति पाई जाती है।

इस क्षेत्र के मुक्तक ग्रन्थो में परिमित सीमा के कारण प्रकृति को अधिक प्रधानता नही मिल सकी है। साथ ही प्रबन्ध काव्यो में राजदरबारो के प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रकृति-चित्रण को अधिक महत्वपूर्ण स्थान नही प्राप्त हो सका है। दोनो ही प्रकार के ग्रन्थो में ऐश्वर्य-विलास, युद्ध-वर्णन, नायक-प्रशसा, शौर्य-चित्रण, युद्ध-सामग्री, वीरो एव वस्तुओ की लम्बी सूचियो के कारण भी प्रकृति उपेक्षित रही है। अपभ्रश-कवियो की धार्मिक और सामन्ती कवियो की शृङ्गारिक भावना के प्रभाव के कारण भी प्रकृति-चित्रण के प्रति ये कवि उदासीन रहे हैं।

अभिप्राय यह है कि आलोच्य धारा में प्रकृति का जो कुछ वर्णन मिलता है, वह एक परम्परा का अनुकरण मात्र है। पर कुछ कवियो ने प्रकृति-चित्रण में अपनी प्रतिभा का यथेष्ट परिचय दिया है। विशेष रूप से सूर्योदय, नदी, ऋतु, नगर तथा वाटिका के चित्रण करने की ओर इन कवियो का ध्यान गया है। केशव ने कही पर भी ऋतु सम्बन्धी प्राकृतिक रमणीयता का काव्योचित वर्णन नही किया है। वे अप्रस्तुतो की कौतूहलपूर्ण योजना में लगे रहे हैं। विविध अलकारो, उद्दीपन, नीति आदि की दृष्टि से किए गए भागवत और मानस के समान इनके प्रकृति-चित्रण मिलते हैं। केशव परम्परा के पूरे अनुयायी एव बाण आदि सस्कृत कवियो से पूर्णरूपेण प्रभावित थे। 'वीरसिंहदेव-चरित' एव 'रामचन्द्रिका' में अधिकाश प्राकृतिक चित्रणो

---

१. चिन्तामणि, भाग २, पृष्ठ १-४९, हिन्दी काव्य में प्रकृति, पृष्ठ २०-४४, हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, भाग १, भूमिका, पृष्ठ १२६-१२९।

का पारस्परिक साम्य इस वात की पुष्टि करता है कि कवि एक ही परम्परा एव भावना के वशीभूत था। भूषण ने बहुत कम प्रकृति-वर्णन किया है। इन्होने केवल परिपाटी-प्रसूत चित्र ही उपस्थित किए हैं। मान कवि ने प्रकृति के कोमल एव मधुर रूप का वर्णन करने में जितनी कुशलता प्रदर्शित की है, उतनी ही दक्षता उसके उग्र एव रुक्ष स्वरूप के चित्रण में दिखलाई है। इस प्रकार इन्होने प्रकृति के विविध रूपो को देखने का प्रयत्न किया है। इनमे सश्लिष्ट योजना की योग्यता थी जिसका इन्होने यथावसर परिचय भी दिया है। केशव और भूषण ने जिस अलकृत पद्धति का अनुसरण किया है, उसमें अलकारो के दुर्वह भार से दब कर प्रकृति का रूप विकृत हो गया है। मान ने इसके विपरीत अपनी सीधी-सादी, सरल शैली द्वारा प्रकृति-चित्रण किया है और ऊहात्मक काल्पनिक उडान का प्राय कम आश्रय लिया है। बहुत सी कमियाँ होते हुए भी मान का इस दृष्टि से एक प्रमुख स्थान है। सूदन ने प्रकृति को अपने काव्य में बहुत कम स्थान दिया है। परम्परागत अप्रस्तुत-योजना तथा नख-शिख-वर्णन मे प्रचलित उपमानो को ही 'सुजान-चरित्र' में अपनाया गया है। इनके सभी प्रकृति-वर्णन परम्परागत, स्वाभाविक और रस-विकास में सहायक हैं। जोधराज का प्रकृति-चित्रण 'पृथ्वीराज रासो' से प्रभावित है। इस वर्णन में उद्दीपन-भावना प्रधान है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से विदित होता है कि इन कवियो मे प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी मौलिकता तथा स्वाभाविकता का एकदम अभाव-सा था, पर परम्परा, राजनीतिक उथल-पुथल तथा अन्य परिस्थितियो ने उन्हें ऐसा विवश बना दिया था कि प्रकृति की ओर देखने का उन्हें अवसर ही न मिल सका। इन्ही कारणो से इस धारा मे प्रकृति का यह रूप मिलता है।

शैली और भाषा

आलोच्य धारा में विविध प्रकार की काव्य-शैलियाँ अपनाई गई हैं। एक ही कवि अथवा एक ही ग्रन्थ में विभिन्न पद्धतियो के दर्शन हो जाते है।

साधारणत महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक तीनो प्रकार के ग्रन्थ रचे गए हैं। अधिकाश कवियो ने वर्णनात्मक शैली को अपनाया है, अत वे स्थल नीरस हो गए हैं। परन्तु सवादो का समावेश करके सरसता प्रदान करने का भी प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए 'वीरसिंह-देव-चरित' देखा जा सकता है। केशव ने वर्णनात्मक शैली में सवादो का भी प्रयोग किया है। कुछ वार्तालाप व्यर्थ के तर्क और उपदेश से परिपूर्ण हैं। जहाँ पर कवि ने उपदेशात्मकता का बहिष्कार किया है, वहाँ पर नाटकीय त्वरा का समावेश हो जाने से 'वीरसिंहदेव-चरित' सरस हो गया है।

कुछ कवियो ने शीघ्रातिशीघ्र छन्द-परिवर्तन करके ग्रन्थो को रोचक बनाने की चेष्टा की है। ऐसा करने से कथावस्तु-चित्रण की रक्षा भी कर ली गई है। 'सुजान-चरित्र' तथा 'जगनामा' इस शैली में रचित प्रमुख ग्रन्थ हैं। जिन कवियो ने ऐतिहासिक घटनावली को सर्वोपरि प्रधानता दी है, उनकी रचनाओ में इतिवृत्तात्मकता और गद्यवत्ता का स्थल-स्थल पर समावेश हो गया है। उदाहरण के लिए 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा 'छत्रप्रकाश' का उल्लेख किया जा सकता है।

कतिपय कवियो ने सयुक्ताक्षर एव नादात्मक शैली का प्रचुर प्रयोग किया है। इसके

जगनिक (११७३ ई० = स० १२३० वि०)—कहा जाता है कि कालिञ्जर तथा महोबे के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नामक एक प्रसिद्ध भाट थे, जिन्होने महोबे के दो वीरो—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीर चरित्र का विस्तृत वर्णन किया था। यह काव्य इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीर-गीतो का प्रचार समस्त उत्तरी भारत में हो गया था। जगनिक के काव्य का आज कही भी पता नही है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तो में ग्राम-ग्राम में सुनाई पडते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और वर्षा-ऋतु में गाए जाते है। इसका साहित्यिक महत्व इतना नही हैं जितना जनसाधारण की रुचि के अनुसार वर्णन का महत्व है। मौखिक होने के कारण उसका पाठ अत्यन्त विकृत हो गया है। भावो के विकास के साथ उसकी भाषा में भी परिवर्तन हो गया है। फर्रुखाबाद में १८६५ ई० (स० १९२२ वि०) में वहाँ के तत्कालीन कलक्टर सर चार्ल्स इलियट ने अनेक भाटो की सहायता से इसे लिखवाया था। 'आल्हखण्ड' 'रासो' के महोबा खण्ड की कथा से साम्य रखते हुए भी एक स्वतन्त्र रचना है। मौखिक परम्परा के कारण उसमें बहुत से परिवर्तनो और दोषो का समावेश हो गया है पर इस रचना में वीरत्व की मनोरम गाथा है, जिसमें उत्साह और गौरव की मर्यादा सुन्दर रूप से निभाई गई है। यह जन-समूह की निधि है और उसी दृष्टि से इसके महत्व का मूल्याकन होना चाहिए।

मधुकर कवि (११८३ ई० = स० १२४० वि०)—मधुकर कवि की रचना 'जयमयकजसचन्द्रिका' बतलाई जाती है जिसमें जयचन्द की कीर्ति वर्णित है। यह कृति अभी तक अप्राप्य है। इसका भी उल्लेख 'राठौडा री ख्यात' में मिलता है।

शार्ङ्गधर (१३६३ ई० = स० १४२० वि० के लगभग)—ये तीन भाई थे। इनके पिता का नाम दामोदर और पितामह का राघव था। परम्परा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीररासो' के अतिरिक्त 'हम्मीरकाव्य' नामक ग्रन्थ की रचना लोकभाषा में की थी। इन रचनाओ का अभी तक पता नही लग सका है। इन ग्रन्थो के कुछ पद्य 'प्राकृतपैङ्गल' आदि सग्रहो में उद्धृत मिलते हैं।

श्रीधर (१४०० ई० = स० १४५७ वि०)—ये ईडर के राठौड राजा रणमल के समकालीन थे। इन्होने 'रणमल-छन्द' काव्य की रचना की है। इसमें कुल ७० छन्द हैं। इसमें पाटण के सूबेदार जफरखाँ और रणमल के युद्ध का वर्णन है। रणमल ने वीरतापूर्वक युद्ध करके अपने प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर दिया था। यह घटना १३९७ ई० (स० १४५४ वि०) की है। इसमें वीर रस का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। भाषा-शैली आलकारिक और ओजपूर्ण है।

नरहरि (१५०५-१६१० ई० = स० १५६२-१६६७ वि०)—नरहरि का जन्म रायबरेली जिले की डलमऊ तहसील के पखरौली नामक ग्राम मे हुआ था। 'शिवसिंह-सरोज' में इनका जन्म-स्थान असनी माना गया है। हिन्दी के अन्य कई विद्वान भी ऐसा मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नरहरि का जन्म-स्थान तो पखरौली था, जहाँ उनका बाल्यकाल भी व्यतीत हुआ पर कालान्तर में वे असनी में रहने लगे थे। नरहरि ब्रह्मभट्ट जाति के थे। इनका गोत्र 'काश्यप' था। इनकी शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ पता नही है। नरहरि कई विशिष्ट व्यक्तियो के सम्पर्क में आए थे। वे बाबर के द्वारा सम्मानित किए गए थे। हुमायूँ, शेरशाह, सलीमशाह (इस्लामशाह), रीवाँ-नरेश वीरभानु के पुत्र महाराज रामचन्द्र, जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्द

गजपति, अकवर (१५५६-१६०५ ई०=स० १६१३-१६६२ वि०), आदि के ये आश्रित रहे थे। अकवर ने इन्हें 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था।

नरहरि ने विविध विषयक कई ग्रन्थ निर्मित किए हैं। इनके अधिकाश छन्द नीति, भक्ति, रूप-सौन्दर्य, विरह-वर्णन आदि से सम्वन्धित हैं। इसके अतिरिक्त नरहरि ने अपने समस्त आश्रयदाताओ की प्रशमा, दानशीलता, युद्ध, आतक, वैभव आदि का प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्द गजपति का तुलादान, चित्तौडगढ-विजय, नरहरि और अकवर की ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती से पुत्र-फल के लिए प्रार्थना, आदि ऐतिहासिक तथ्यो के वर्णन भी इनकी रचनाओ में मिलते हैं। इस प्रकार नरहरि महापात्र वीरकाव्य-रचयिताओ में एक प्रमुख स्थान रखते हैं।

तानसेन (१५३१-२६ अप्रैल, १५८९ ई०=स० १५८८-१६४६ वि०)—तानसेन अकवरी दरवार के सर्वश्रेष्ठ सगीतज्ञ और उच्चकोटि के कवि थे। इनका जन्म-स्थान अनिश्चित है। इनकी कब्र ग्वालियर में अव भी वर्तमान है। सम्भव है, इनका यही जन्म-स्थान रहा हो और वही पर वाल्यावस्था में अपने गुरु गौस मुहम्मद से उनका परिचय हुआ हो। इनके पिता का नाम मकरन्द पाण्डे वतलाया जाता है। ये ब्राह्मण-वश में उत्पन्न हुए थे, परतु कालान्तर में इन्होने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। कहा जाता है कि ये गोस्वामी विट्ठलनाथ, सूरदास तथा गोविन्द-स्वामी के प्रभाव से पुन वैष्णव वन गए थे।

स्वामी हरिदास और गौस मुहम्मद इनके सगीत-गुरु थे। आरम्भ में तानसेन शेरशाह सूर के पुत्र दौलतखाँ के सरक्षण में रहे। इसके पश्चात ये रीवाँ-नरेश रामचन्द्र के दरवार में रहे। तदुपरान्त अकवर के नवरत्नो में सम्मिलित हुए और अन्तिम समय तक वही रहे। इनकी मृत्यु २६ अप्रैल १५८९ ई० (स० १६४६ वि०) को हुई।

तानसेन ने नवीन राग-रागिनियो का आविष्कार किया। इन्होने रीवाँ-नरेश रामचन्द्र तथा अकबर के दान, यश, सेना, वीरता, आतक, गुण-ग्राहकता आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त राजा मानसिंह, राजा आसकरण के दान आदि के वर्णन भी मिलते हैं। सगीत-सम्वन्धी ग्रन्थो के अतिरिक्त उक्त विषयक उनके स्फुट पद हिन्दी के सग्रह-ग्रन्थो में मिलते हैं। इनके कुछ पद भक्ति से भी सम्वन्धित हैं। तानसेन के पदो में दान और युद्ध सम्वन्धी वर्णन ही अधिक हुए हैं।

केशव (१५५५-१६२३ ई०=स० १६१२-१७८० वि०)—आचार्य केशव सनाढ्य जाति में उत्पन्न मिश्र उपनामधारी पण्डित राजकृष्ण दत्त के पुत्र पण्डित काशीनाथ के घर उत्पन्न हुए थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता वलभद्र और कनिष्ठ भाई कल्याणदास थे।

केशव का जन्म १५५५ ई० (स० १६१२ वि०) में टेहरी (वुन्देलखण्ड) में और मृत्यु १६१७ ई० (स० १६७४ वि०) में हुई थी। लाला भगवानदीन के अनुसार इनका जन्म १५६१ ई० (स० १६१८ वि०) में और देहान्त १६२३ ई० (स० १६८० वि०) में हुआ। ये ओडछाधीश के राजकवि, मन्त्रगुरु एव मन्त्री थे। महाराजा रामसिंह के लघु भ्राता इन्द्रजीतसिंह ने इनको सम्मानित करके २१ ग्राम प्रदान किए थे। इन्होने अपने नीति-चातुर्य से इन्द्रजीतसिंह पर अकवर द्वारा किया हुआ एक करोड रुपये का दण्ड क्षमा करा दिया था। केशव ने कई ग्रन्थो का प्रणयन किया है।

(१) रामचद्रिका (१६०१ ई० = स० १६५८ वि०) में रामचन्द्र जी का चरित-वर्णन है। (२) रसिकप्रिया (१५९१ ई० = स० १६४८ वि०) में रसो के और (३) कविप्रिया (१६०१ ई० = स० १६५८ वि०) में आश्रयदाता के वर्णन के उपरान्त काव्यागो का विधिपूर्वक वर्णन किया गया है। (४) विज्ञानगीता (१६१० ई० = स० १६६७ वि०) में दार्शनिक विचारो का विवेचन है। वीरकाव्य की दृष्टि से केशव के निम्नलिखित ग्रन्थो का विशेप महत्व है—

(५) रत्नब.वनी—इसमें इन्द्रजीतसिंह के ज्येष्ठ भ्राता रतनसिंह की वीरता का ५२ छन्दो में वर्णन किया गया है। यह मुक्तक रचना है। इसमें वीररस का सुन्दर परिपाक हुआ है। (६) वीरसिंहदेव-चरित (१६०८ ई० = स० १६६५ वि०)—यह १४ प्रकाशो में विभक्त है। लोभ और दान के सवाद द्वारा ग्रन्थ का आरम्भ हुआ है। बुन्देल-वशोत्पति, वीरसिंहदेव की प्रारम्भिक विजय, मुराद की मृत्यु, सलीम का मेवाड से लौटकर विद्रोह, वीरसिह और सलीम की भेंट, अबुलफजल की हत्या, वीरसिंहदेव और अकबर में युद्ध, मरीयम मकानी की मृत्यु, अकबर का मरण और जहाँगीर का राज्याभिषेक, जहाँगीर द्वारा वीरसिंहदेव का सम्मान, खुसरो का विद्रोह, अबदुल्लाह खाँ का ओडछा पर आक्रमण और वीरसिंहदेव का बुन्देलखण्ड में पुन लौटना आदि घटनाओ का वर्णन है। इतिहास की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कृति है। (७) जहाँगीर-जसचन्द्रिका (१६१२ ई० = स० १६६९)—इसमें जहाँगीर का यश-वर्णन है।

'रत्नबावनी', 'वीरसिंहदेव-चरित' और 'जहाँगीर-जसचन्द्रिका' के अतिरिक्त 'कविप्रिया' का इन्द्रजीतसिंह-विषयक विवरण भी वीरकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

गग कवि (१५७८-१६१७ ई० = स० १६३५-१६७४ वि०) गग कवि का जन्म इकनौर जिला इटावा में हुआ था। इनकी जन्म-तिथि १५७८ ई० (स० १६३५ वि०) है। ये ब्रह्मभट्ट जाति के थे और अकबर के विशेप कृपापात्र थे। रहीम, बीरबल, मानसिंह, टोडरमल आदि सम्मानित व्यक्तियो द्वारा इन्हें यथेष्ठ सम्मान मिला था। जहाँगीर के शासनकाल में राजकीय विरोध के कारण इन्हें बुरे दिन देखने पडे। इनकी मृत्यु सम्भवत जहाँगीर की आज्ञा से हाथी से कुचलवाकर हुई थी। यह घटना लगभग १६१७ ई० (स० १६७४ वि०) की है।

गग कृष्णोपासक कवि थे। इन्होने कई ग्रन्थो की रचना की थी। अपने आश्रयदाताओ की प्रशसा में भी कई छन्द लिखे हैं। वीर रस के साथ ही इन्होने भयानक और रौद्र रसो का भी सुन्दर चित्रण किया है। गङ्ग की रचनाओ में वीरकाव्य का सयत रूप दिखलाई देता है। वीर भाव की ओर कवि की लेखनी उसी द्रुतगति से वढी है जिस गति से अन्य भावो की ओर। ओज और दर्प भाव का इनकी कविता मे अच्छा सम्मिश्रण हुआ है। रहीम, महाराणा प्रताप की युद्धवीरता और वीरवल की दानवीरता का चित्रण करने में इन्हें अधिक सफलता मिली है।

जटमल (१६२३ ई० अथवा १६२८ ई० = स० १६८० अथवा १६८५ वि०)—मोरछडो के शासक पठान सरदार नासिरनन्द अलीखाँ न्य।जीखाँ के समय में धर्मसी के पुत्र नाहरखाँ जटमल ने सिंबुला ग्राम के वीच 'गोरा-वादल की कया' की रचना की थी।[1] सम्भवत नाहरखाँ जटमल की उपाधि थी। यह भी सम्भव है कि वे मुसलमान हो गए हो। ओझाजी के अनुसार ओसवाल

१. गोरा-वादल की कया, छंद १५०।

महाजनो की जाति में नाहर एक गोत्र है, अतएव यदि जटमल जाति के ओसवाल महाजन हो तो आश्चर्य नही।[1] कुछ विद्वानो के अनुसार नाहर जटमल की उपाधि और जाट उनकी जाति थी। सवला (सुवुला, सावेला) गाँव कहाँ था, इसका पता अभी तक नही लगा है।

जटमल की कृति की हस्तलिखित प्रतियो में विविध नाम मिलते है, यथा—'गोरा-वादल की कथा', 'गोरा-वादल री कथा', 'गोरा-वादल की वात'। जटमल ने इसकी रचना १६२३ ई० (स० १६८० वि०) अथवा १६२८ ई० (स० १६८५ वि०) में की थी। इसमें राणा रत्नसेन और अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। मगलाचरण के पश्चात राणा रत्नसेन के वश का परिचय, पद्मावती की प्राप्ति, चित्तौड पर चढाई, गोरा-वादल की वीरता तथा विजय आदि का वर्णन किया गया है। कथा अलग-अलग शीर्षको में विभक्त है। इसमें पद्य-सख्या १५० है।

डूगरसी (१६५३ ई०=सं० १७१० वि०)—ये बूदी-निवासी, जाति के राव थे तथा बूदी के रावराजा शत्रुसाल हाडा के आश्रित थे, जिन्होंने इनको नैणवा नामक एक गाँव जागीर में दिया था। इन्होने 'शत्रुसाल रासो' की रचना की थी। यह लगभग ११८ पृष्ठो का एक वडा ग्रन्थ है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता के जीवन-चरित्र के सबध में हाडा के दौलतावाद तथा वीदर के दक्षिण-युद्धो, औरङ्गजेब के उत्तराधिकार-युद्ध में धौलपुर के निकट दारा की ओर से लडने और मृत्यु होने की घटनाओ का वर्णन किया है। इसमें ५०० से अधिक छन्द हैं। वीर रस की प्रधानता है, पर शृङ्गार आदि भी प्रसङ्गवश आ गए हैं।

मतिराम (१६१७-१७१६ ई०=सं० १६७४-१७७३ वि०)—ये चिन्तामणि तथा भूषण के भाई थे और तिकवाँपुर (जिला कानपुर) में १६१७ ई० (स० १६७४ वि०) मे उत्पन्न हुए थे। इनका स्वर्गवास अनुमानत १७१६ ई० (स० १७७३ वि०) में हुआ था। ग्रियर्सन के विचार से इनका समय १६५० से १६८२ ई० (स० १७०७ से १७३९ वि०)तक रहा था। शिवसिंह सेंगर ने १६८१ ई० (स० १७३८ वि०) में इनका वर्तमान होना माना है। मतिराम राजा उदोतसिंह कुमाऊँनरेश, भाऊसिंह हाडा वूदीपति तथा शम्भुनाथ सोलकी आदि के यहाँ वहुत समय तक रहे थे।

मतिराम ने कई ग्रथो का निर्माण किया है। आलोच्य धारा के लिए इनका 'ललित ललाम' ही विशेष उल्लेखनीय है। यह अलकार-शास्त्र-सम्वन्धी ग्रन्थ है। इसकी रचना अनुमानत १६६१ और १६६२ ई० (स० १७१८ और १७१९ वि०) के वीच वूदी के राव भावसिंह जी के लिए हुई थी। मतिराम ने अपने उक्त आश्रयदाता और उसके परिवार के व्यक्तियो के सम्वन्ध में जिन पदो को लिखा है वे ही इस अध्ययन के लिए विशेष महत्वपूर्ण हैं।

कुलपति मिश्र (१६६७-१६८९ ई०=सं० १७२४-१७४६ वि०)—ये आगरा-निवासी माथुर चौवे तथा जयपुर के महाराजा रामसिंह (प्रथम) के आश्रित थे। ये तैलङ्ग भट्ट पण्डित-राज जगन्नाथ के शिष्य थे, जिनसे इन्होने सस्कृत और भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था। इनका रचना-काल १६६७-१६८९ ई० (स० १७२४-१७४६ वि०) है। इनके वशज जयपुर और अलवर में पाए जाते हैं।

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृष्ठ ४०२।

इनके रचित ५० ग्रन्थ बतलाए जाते है, पर अभी तक केवल १० ही मिले है। आलोच्य धारा के अन्तर्गत ये ग्रन्थ आते हैं—

(१) रस-रहस्य (१६७० ई०=स० १७२७ वि०)—में रचा गया था। कुछ विद्वान इसे १६६७ ई० (स० १७२४ वि०) का मानते है। यह एक रीति-ग्रन्थ है। इसमें ८ अध्याय हैं, जिनमें काव्य के विभिन्न अगो का अत्यन्त मौलिक एव शास्त्रीय विधि से विवेचन किया गया है। ग्रन्थारम्भ में आश्रयदाता की प्रशसा की गई है।

(२) सग्राम-पार (१६७६ ई०=स० १७३३ वि०)—यह महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद है। महाराजा रामसिह की आज्ञा से १६७६ ई० (स० १७३३ वि०) में इसकी रचना हुई थी। इसमे वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

भूषण (१६७३ ई०=स० १७२० वि०)—भूषण ने 'शिवराज-भूषण' में अपने वश का परिचय देते हुए लिखा है कि वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका गोत्र कश्यप था। भूषण के पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। वे यमुना के किनारे त्रिविक्रमपुर (तिकवॉपुर) में रहते थे जहाँ बीरवल का जन्म हुआ था और जहाँ विश्वेश्वर के तुल्य देव-बिहारीश्वर महादेव हैं। चित्र-कूट-पति हृदयराम के पुत्र रुद्र सोलकी ने उन्हें 'भूषण' उपाधि से विभूपित किया था।[1] तिकवॉपुर कानपुर जिले की घाटमपुर तहसील में यमुना के बाँएँ किनारे पर है।

कहा जाता है कि वे चार भाई थे—चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकण्ठ (उप-नाम जटाशकर)। भूषण के भ्रातृत्व के सम्वन्ध में विद्वानो में वहुत मतभेद है। कुछ विद्वानो ने उनके वास्तविक नाम पतिराम अथवा मनिराम की कल्पना भी की है, पर यह कोरा अनुमान ही प्रतीत होता है।

भूषण के प्रमुख आश्रयदाता महाराजा शिवाजी और छत्रसाल वुन्देला थे। उनके नाम से कतिपय ऐसे फुटकर छन्द मिलते हैं जिनमें विभिन्न राजाओ की प्रशसा की गई है। इनके आधार पर भूषण के वहुत से आश्रयदाता नही माने जा सकते, क्योकि ये सभी छन्द भूषण रचित हैं, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नही है। मिश्रवन्धुओ ने इनका समय १६१३-१७१५ ई० (स० १६७०-१७७२ वि०) माना है, शिवसिंह सेंगर ने भूषण का जन्म १६८१ ई० (स० १७३८ वि०) और ग्रियर्सन ने १६०३ ई० (स० १६६० वि०) लिखा है। कुछ विद्वानो के मतानुसार भूपण शिवाजी के पौत्र साहू के दरवारी कवि थे, पर यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। उनके ग्रन्थो के अन्त साक्ष्य से यह सिद्ध हो जाता है कि वे शिवाजी के ही समकालीन थे।

भूपण विरचित चार ग्रन्थो—'शिवराज-भूपण', 'भूपण हजारा', 'भूपण-उल्लास' और 'दूपण-उल्लास' का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है। इनमें से अन्तिम तीन ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आए हैं। वास्तव में भूपण के वनाए हुए 'शिवराज-भूपण', 'शिवा-वावनी', 'छत्र-साल-दशक' तथा कुछ स्फुट छन्द ही मिलते हैं।

(१) शिवराज-भूषण (२९ अप्रैल, १६७३ ई०=स० १७३० वि०)—इन्होने शिवराज-भूपण का रचना-काल सवत १७३० वि०, सुचि (ज्येष्ठ) वदी, १३ भानुवार (रविवार) दिया

---

१. भूपण-ग्रंथावली, शिवराज-भूपण २५-२८।

है ।[1] इसके अनुसार इस काव्य की रचना २९ अप्रैल, १६७३ ई० रविवार को हुई होगी। उक्त रचना-तिथि के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि 'शिवराज-भूषण' में शिवाजी सम्बन्धी जिन घटनाओ का उल्लेख हुआ है वे सब १६७३ ई० (स० १७३० वि०) तक घटित हो चुकी थी। इस ऐतिहासिक प्रमाण से भी 'शिवराज-भूषण' का ऊपर बतलाया हुआ रचना-काल ही प्रामाणिक ठहरता है। साथ ही इससे भूषण और शिवाजी (१६२७-१६८० ई०=स० १६८४-१७३७ वि०) की समसामयिकता सिद्ध हो जाती है।

'शिवराज-भूषण' में अलकारो की परिभाषा दोहो में तथा कवित्त एव सवैयो में शिवाजी के कार्य-कलापो को आधार मानकर यशोगान किया गया है।

(२) शिवा-बावनी में ५२ छन्दो में शिवाजी की कीर्त्ति और (३) छत्रसाल-दसक में १० छन्दो में छत्रसाल बुन्देला के यश का वर्णन है। इनकी फुटकर रचनाओ में विविध व्यक्तियो के सम्बन्ध में कहे गए पद्य सग्रहीत हैं।

श्रीकृष्ण भट्ट 'काव्य-कलानिधि' (जन्म १६६८ ई०=स० १७२५ वि०)—ये तैलग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मण था। इनका जन्म १६६८ ई० (स० १७२५ वि०) में हुआ था। ये बूदी के महाराजा राव बुधसिह (१६९५–१७३९ ई०=स० १७५२-१७९६ वि०) के आश्रय मे रहे। बाद को महाराजा सवाई जयसिह (१६९९–१७४३ ई०=स० १७५६–१८०० वि०) के दरबार मे रहने लगे। इन महाराजा ने इन्हें 'काव्य-कलानिधि' की उपाधि से विभूषित किया था। वे सस्कृत एव भाषा के विद्वान तथा मन्त्र-शास्त्र के विलक्षण ज्ञाता थे।

भट्ट जी ने सस्कृत और ब्रजभाषा में कई रचनाएँ की हैं। वीरकाव्य-सम्बन्धी इनकी ये रचनाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) साँभर-युद्ध रचनाकाल लगभग १७३४ ई० (स० १७९१)। इसमें महाराज सवाई जयसिह और दिल्ली के सैयद भाइयो के युद्ध का वर्णन है। (२) जाजव-युद्ध, (३) बहादुर-विजय, (४) जयसिह-गुण-सरिता—महाराजा जयसिह का यशोगान वर्णित है।

मान कवि (१६७३-१६८० ई०=सं० १७३०-१७३७ वि०)—इनका जीवन-वृत्त अभी तक ज्ञात नही हो सका है। कुछ विद्वान इन्हें भाट और कुछ जैन यति बतलाते हैं। ये मेवाड के महाराणा राजसिह (जन्म २४ सितम्बर, १६२९ ई०=स० १६८६ वि०, राज्याभिषेक १० अक्टूबर, १६५२ ई०=स० १७०९ वि०, मृत्यु २२ अक्टूबर, १६८० ई०=स० १७३७ वि०) के राजकवि थे। इन्होने 'राज-विलास' की रचना २६ जून, १६७७ ई० (स० १७३४ वि०) को प्रारम्भ करके १६८० ई० (स० १७३७ वि०) को समाप्त की थी। अतएव इनके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मान १६७७–१६८० ई० (स० १७३४–१७३७ वि०) में वर्तमान थे।

शिवसिह सेंगर ने इनका समय १६९९ ई० (स० १७५६ वि०) और उनके ग्रन्थ का नाम 'राजदेव-विलास' माना है। ग्रियर्सन के मतानुसार इनका रचना-काल १६६० ई० (स० १७१७ वि०) तथा मिश्रबन्धुओ के अनुसार १६६३ ई० (स० १७२० वि०) है। ये सभी तिथियाँ अशुद्ध हैं।

---

१. भूषण-ग्रथावली, शिवराज-भूषण, छद ३८२।

ग्राम दिया था। उसी समय से ये तथा इनके वशज वुन्देलखण्ड में आए। इन्ही नागनाथ के वश में १६५८ ई० (स०१७१५ वि०) में लाल कवि का जन्म हुआ था। महाराजा छत्रसाल ने लाल कवि को बढई, पठारा, अमानगज, सगेरा और दुग्धा नामक पाँच गाँव दिए थे। लाल कवि दुग्धा में रहने लगे थे और अब भी उनके वशज वही रहते हैं। 'छत्र-प्रकाश' की प्राप्त प्रति में वर्णित अतिम घटना लोहागढ-विजय है, जिसे छत्रसाल ने १६ दिसम्बर, १७१० ई० (स० १७६७ वि०) को जीता था। अतएव लाल कवि की मृत्यु इस तिथि के आसपास हुई होगी। मिश्रबन्धु और रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी मरण-तिथि १७०७ ई० (स०१७६४ वि०) मानी है, जो अशुद्ध है।

ग्रियर्सन तथा शिवसिंह सेंगर के अनुसार लाल कवि छत्रसाल के साथ १६५८ ई० (स० १७१५ वि०) में धौलपुर के निकट होने वाले शाहजहाँ के पुत्रो के उत्तराधिकार-युद्ध में उपस्थित थे। उनके अनुसार इन्होने नायिका-भेद पर 'विष्णु-विलास' ग्रथ लिखा है, पर 'छत्रसाल-प्रकाश' अधिक प्रसिद्ध है। वास्तव में उक्त युद्ध में छत्रसाल हाडा की मृत्यु हुई थी और उनके साथ बूदी के लाल कवि थे जिन्होने 'विष्णु-विलास' की रचना की है। अत उक्त दोनो विद्वानो की धारणा अमान्य है।

अतएव छत्रसाल हाडा की मृत्यु के समय वर्तमान रहने वाले और विष्णु-विलास के रचयिता लाल कवि बूँदी-निवासी थे और मऊवासी छत्रसाल बुन्देला के दरबार में रहने वाले तथा छत्र-प्रकाशकार लाल कवि उपनाम गोरेलाल उनसे भिन्न व्यक्ति थे, जिनका औरगजेब से कोई सम्बन्ध नही था।

लाल कवि विरचित ये ग्रथ बतलाए जाते है—

(१) छत्रप्रशस्ति, (२) छत्रछाया, (३) छत्रकीर्ति, (४) छत्रछन्द, (५) छत्रसाल शतक, (६) छत्र-हजारा, (७) छत्रदड, (८) राजविनोद, (९) बरवै, (१०) छत्रप्रकाश।

'छत्रप्रकाश' के अतिरिक्त इनके अन्य ग्रथ अप्राप्य हैं। इनकी वास्तविक कीर्ति का स्तभ 'छत्र-प्रकाश' ही है। छत्रसाल की आज्ञा से इन्होने इस ग्रथ की रचना की थी, यथा—

धन चपति के औतरो पचम श्री छत्रसाल।
जिनकी आज्ञा सिर धरि करी कहानी लाल॥

लाल कवि ने इस ग्रथ में बुन्देल-वशोत्पत्ति, चपति-विजय-वृत्तात, उनके उद्योग और पराक्रम, चपति के अतिम दिनो में उनके राज्य का मुगलो के हाथ में जाना, छत्रसाल का थोडी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार करना, फिर क्रमश विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मुगलो से अविरत रूप से युद्ध करते रहना, आदि १६ दिसम्बर १७१० ई० (स० १७६७-वि०) तक की घटनाओं का वर्णन किया है। साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनो दृष्टियो से यह ग्रथ विशेष महत्वपूर्ण है।

श्रीधर—मुरलीधर (जनवरी, १७१३ ई० = स० १७७० वि०)—ये प्रयाग के रहने वाले थे। ग्रियर्सन ने श्रीधर और मुरलीधर को दो भिन्न कवि मानते हुए लिखा है कि ये दोनो मिलकर कविता किया करते थे, पर वास्तव में ऐसा नही है। वस्तुत श्रीधर का ही अन्य नाम मुरलीधर था, जैसा कि 'जगनामा' की इस पक्ति से स्पष्ट है—

श्रीधर मुरलीधर उरुफ, द्विजवर बसत प्रयाग। (पक्ति ५)

ग्रियर्सन ने इस कवि का समय १६८३ ई० (स० १७४० वि०) माना है, परन्तु 'जगनामा' में वर्णित घटना जनवरी, १७१३ ई० (स० १७७० वि०) की है, अत श्रीवर इसी तिथि के लगभग (जनवरी, १७१३ ई० = स० १७७० वि०) वर्तमान रहे होगे।

मुरलीघर ने कई ग्रथ लिखे हैं। इनका एक ग्रथ राग-रागिनियो का, एक नायिका-भेद का, एक जैन के मुनियो के वर्णन का, श्रीकृष्ण-चरित की स्फुट कविता, कुछ चित्र-काव्य, फर्रुख-सियर का 'जगनामा' और उस समय के अमीर कर्मचारियो और राजाओ की प्रशसा की कविता है। शिवसिंह तथा ग्रियर्सन ने इनके वनाए हुए 'कविविनोद' का भी वर्णन किया है।

'जगनामा' इनकी प्रमुख रचना है। इसमे १६३० पक्तियाँ हैं जिनमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है जो जनवरी, १७१३ ई० (स० १७७० वि०) में हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से 'जगनामा' का एक विशिष्ट स्थान है।

गंजन (१७२८ ई० = स० १७८५ वि०)—ये काशी के रहने वाले थे। इन्होने अपने ग्रथ में अपना परिचय दिया है। इनके प्रपितामह मुकुटराय अकवर के विशेष कृपापात्र थे। मुकुट-राय के मानसिंह, उनके गिरिधर, उनके मुरलीघर और मुरलीघर के गजनराम हुए। यह गुर्जर गौड ब्राह्मण थे। गजन कमरुद्दीनखाँ के आश्रित थे जिनकी आज्ञा से इन्होने 'कमरुद्दीनखाँ-हुलास' लिखा है। इसमें ३२७ छद हैं। कमरुद्दीनखाँ दिल्ली के वादशाह मुहम्मदशाह के मत्री थे। उक्त ग्रथ के चतुर्थांश में ऐतमादुद्दौला वजीर कमरुद्दीनखाँ का यश-वर्णन है और शेप में भाव-भेद एव रस-भेद लिखा है। गजन ने पटऋतु वर्णन अच्छा किया है। भाषा मधुर है। मिलित वर्ण वहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। इनकी कविता उत्तम श्रेणी की है।

हरिकेश कवि—१७३१ ई० (स० १७८८ वि०) के लगभग वर्तमान ये वुन्देलखण्डान्त-र्गत सेहुडा के निवासी थे। इनका रचना-काल १७३१ ई० (स० १७८८ वि०) के लगभग है। ये छत्रसाल वुन्देला के आश्रित थे। इनके लिखे हुए निम्नलिखित ग्रथ मिलते हैं—

(१) स्फुट-पद—वीर रस के उत्तम पद है। (२) जगत-दिग्विजय (१७२५ ई०-स० १७८२ वि०)—इसमें जयतपुर के महाराजा जगतसिंह की जीवनी एव चदेल आदि राजवशो का वर्णन किया गया है। (३) व्रजलीला (१७३१ ई० = स० १७८८ वि०)—इसमें महाराजा छत्रसाल वुन्देला तथा हृदयशाह की प्रशसा के उपरात कृष्ण-रावा-मिलन का वर्णन है।

हरिकेश की कविता में अनुप्रास की अनुपम छटा है। उमगोत्पादिनी वीर रसात्मक कविता करने में इनके समान वहुत कम कवि हुए हैं।

सदानन्द (नवम्बर, १७३५ ई०=सं० १७९२ वि०)—सदानन्द के विपय में कुछ भी ज्ञात नही है। इन्होने अपने विषय में कुछ भी नही लिखा है। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे अपने आश्रयदाता भगवतराय खीची (अक्टूवर, १७३५ ई०=स० १७९२ वि०) के समकालीन थे और उन्होने आँखो देखी घटनाओ का वर्णन किया है।

सदानन्द ने 'रासा भगवतसिंह' की रचना की है। असोथर (फतेहपुर) के शासक भगवतराय ने मुसलमानो से युद्ध (नवम्बर १७३५ ई० = स० १७९२ वि०) किया था। वीरता-पूर्वक युद्ध करते हुए ये मारे गए थे। सदानन्द ने अपने ग्रथ में उसी का वर्णन किया है।

कुँवर कुशल (१७३९ ई०=सं० १७९६ वि०)—ये दो भाई थे—कुँवर कुशल और कनक

कुशल। ये जोधपुर के रहने वाले जैन कवि थे। कच्छ के राजा लखपतिसिंह वडे गुणग्राही थे। ये १७३९ ई० (स० १७९६ वि०) में गद्दी पर बैठे। इन्होने कुँवर कुशल को आश्रय दिया। इन्ही के लिए कुँवर कुशल ने 'लखपति-यश-सिंधु' नामक एक बहुत वडा ग्रथ बनाया जिसमें आश्रय-दाता की प्रशसा की गई है।

हम्मीर (१७३९ ई०=स० १७९६ वि०)—यह रतनू शाखा के चारण थे। कच्छ-भुज के राजा महाराव श्री देशलजी प्रथम (१७१७–१७५१ ई० = स० १७७४–१८०८ वि०) के महाराज कुमार लखपतजी के आश्रित थे। इनका जन्म जोधपुर राज्य के घडोई गाँव में हुआ था। इन्होने विद्याध्ययन कच्छ-भुज में किया। हम्मीर ने २२ ग्रथ रचे जिनमें 'लखपत पिंगल' सर्वोपयोगी रचना है। यह डिंगल के छदशास्त्र का ग्रथ है। इसकी रचना १७३९ ई० (स० १७९६ वि०) में हुई थी। इसमें चार प्रकरण हैं जिनमें क्रमश वर्णिक छन्दो, मात्रिक छन्दो, गाहा छन्द के विविध भेदो और गीतो की विविध जातियो का विस्तार से वर्णन किया गया है। कुल मिलाकर ४६९ छन्द हैं। पहले छन्द का लक्षण देकर फिर उदाहरण दिया गया है जिसमें महाराजकुमार लखपतजी की प्रशसा की गई है।

नन्दराम (१७४५ ई०—स० १८०२ वि०)—ये मेवाड के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के आश्रित कवि थे। ब्राह्मण जाति में इनका जन्म हुआ था। इन्होने दो ग्रथो की रचना की है जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) शिकार-भाव—इसकी रचना १७३३ ई० (स० १७९० वि०) में हुई थी। इसमे महाराणा जगतसिंह के शिकार का वर्णन है। (२) जग-विलास—इसका निर्माण-काल १७४५ ई० (स० १८०२ वि०) है। इसमें महाराणा जगतसिंह की दिनचर्या, राजवैभव तथा जग-विलास महल की प्रतिष्ठा आदि का वर्णन है। कुछ विद्वान इसकी रचना १६२८–'५४ ई० (स० १६८५–१७११ वि०) में मानते हैं जो अशुद्ध है।

नन्दराम के ये दोनो ग्रथ साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनो दृष्टियो से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

देवकर्ण (१७४६ ई०=स० १८०३ वि०)—ये मेवाड के महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) के दीवान थे। देवकर्ण जाति के कायस्थ थे। इनके पितामह का नाम महीदास और पिता का हरनाथ था। इन्होने 'वाराह-पुराण' के काशीखड के आधार पर एक बहुत वडा ग्रथ रचा जिसका नाम 'वाराणसी-विलास' है। इसकी रचना १७४६ ई० (स० १८०३ वि०) में हुई थी। इसमें ४०५२ छन्द हैं। ग्रथ तीस विलासो में विभक्त है। ग्रथारम्भ में कवि ने मेवाड का सक्षिप्त इतिहास और थोडा-सा अपना परिचय दिया है। यही विवरण आलोच्य धारा के अन्तर्गत आता है। यह एक प्रौढ रचना है।

शभुनाथ मिश्र (१७९४ ई०=स० १८०६ वि०)—ये असोथर जिला फतेहपुर के राजा भगवतराय खीची के यहाँ रहते थे। (१) इन्होने 'रसकल्लोल' की १७५० ई० (स० १८०७ वि०) में रचना की। इसमें आश्रयदाता का यश-वर्णन और नायिका-भेद-निरूपण है। (२) रसतरगिनी में यश-वर्णन और नायिका-भेद-विवेचन है। (३) अलकार-दीपक की रचना १७४९ ई० (स० १८०६ वि०) में हुई। इसमें अलकारो का विवेचन किया गया है। इसमें दोहा छन्द अधिक हैं और

शेष कम। खीची नृप का यश-वर्णन किया है जो उच्चकोटि का है। कवि ने गद्य में टीका भी लिख दी है। खोज-रिपोर्ट में शभुनाथ मिश्र का समय १७३० ई० (स० १७८७ वि०) माना गया है जो सदिग्ध प्रतीत होता है।

तीर्थराज (१७४९ ई०=स० १८०६ वि०)—तीर्थराज लगभग १७४९ ई० (स० १८०६ वि०) में वर्तमान थे। खोज-रिपोर्ट में इनका समय १७५० ई० (स० १८०७ वि०) माना गया है। ये डौंडियाखेरे के राजा अचलसिंह के यहाँ थे और वैसवाडा इनका निवास-स्थान था। खोज-रिपोर्ट में इन्हें अलीपुर (मध्यभारत) के राजा अचल सिंह का आश्रित माना गया है। इन्होने 'समरसार' की रचना की है। इनकी कविता प्रौढ और उत्तम है।

सोमनाथ (१७३३-१७५३ ई०=सं० १७९०-१८१० वि०)—ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराजा वदनसिंह के आश्रित थे जिन्होने इनको राज्याचार्य, दानाध्यक्ष आदि के पद दे रक्खे थे। सोमनाथ उनके कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के पास रहते थे। सस्कृत-हिन्दी के प्रकाड पडित होने के अतिरिक्त ये ज्योतिष एव काव्य-रचना में भी परम प्रवीण थे। इनके पिता का नाम नीलकठ था। इन्होने १५ ग्रथो की रचना की है, जिनमें से वीरकाव्य की दृष्टि से 'सुजान-विलास' विशेष उल्लेखनीय है। इनका रचनाकाल १७३३–१७५३ ई० (स०१७९०–१८१० वि०) तक माना गया है। 'सुजान-विलास' सस्कृत के प्रसिद्ध ग्रथ 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' का अनुवाद है। इसके आरम्भ में इन्होने अपने आश्रयदाता राजा वदनसिंह और उनके पुत्र सूरजमल आदि की वीरता का वर्णन किया है। ये शृगार रस के भी अच्छे कवि और उच्चकोटि के आचार्य थे।

सूदन (लगभग १७५३ ई०=सं० १८१० वि०)—सूदन ने 'सुजान-चरित्र' में आत्म-परिचय के रूप में केवल दो पक्तियाँ दी हैं—

> मथुरा पुर सुभ धाम, माथुर कुल उतपत्ति वर।
> पिता वसत सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि।[1]

इस उद्धरण से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ये मथुरा-निवासी चौबे थे और इनके पिता का नाम वसत था। इनके आश्रयदाता भरतपुराधीश महाराजा वदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह (सूरजमल) थे। इन्होने अपने आश्रयदाता की प्रशसा में 'सुजान-चरित्र' ग्रथ की रचना की है। इस पुस्तक में सूरजमल के २८ अक्टूबर–२७ नवम्बर १७४५ ई० से १७५३ ई० (स० १८०२–१८१० वि०) तक की घटनाओ का वर्णन है। अतएव इसकी रचना १७५३ ई० (स० १८१०-वि०) के आसपास हुई होगी। इससे सूदन के विद्यमानत्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

सूदन ने इस ग्रथ के आरम्भ में १७५ पूर्ववर्ती एव समकालीन कवियो के नामो का उल्लेख किया है, तत्पश्चात सूरजमल के वश का वर्णन करके उनके द्वारा लडी गई इन ७ लडाइयो का उल्लेख किया है—

१ सूरजमल द्वारा फतेह अली खाँ की सहायता, २ ईश्वरीसिंह की सहायता, ३.

---

१. सुजान-चरित्र, छद १०, पृष्ठ ३।

सलावत खाँ की पराजय, ४ पठानो के विरुद्ध सफदरगज की सहायता, ५ राजा बहादुर सिंह की पराजय, ६ दिल्ली की लूट, ७ बादशाही तथा मराठो की सम्मिलित सेना से युद्ध। ऐतिहासिक घटनाओ का तथ्यपूर्ण और विस्तृत वर्णन जितना इस ग्रथ में मिलता है उतना अन्यत्र नही। साहित्यिक दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण रचना है।

प्रतापसाहि (१७५५ ई०=स० १८१२ वि०)—ये वदीजन रतनेस के पुत्र थे और चरखारी के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने कई ग्रथ बनाए है। प्रस्तुत अध्ययन के अतर्गत इनका 'जयसिंह प्रकाश' ग्रथ आता है। इसकी रचना इन्होने १७५५ ई० (स० १८१२ वि०) में की थी। कुछ विद्वानो के अनुसार यह ग्रथ १७९५ ई० (स० १८५२ वि०) में बना था। इसमे किन्ही महाराजा जयसिंह के यश का वर्णन किया गया है। इनकी भाषा में प्रौढता और अनुप्रास की सुन्दर छटा है।

गुलाब कवि (१५ अगस्त, १७६७ ई०=स० १८२४ वि०)—ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनका निवासस्थान आतरी था। इन्होने 'करहिया कौ रायसौ' ग्रथ की रचना की है। इस ग्रथ की वर्णित घटना के दस मास पश्चात की स्वय कवि की हस्तलिखित प्रति कवि के वशज पडित चतुर्भुज जी वैद्य, आतरी के यहाँ सुरक्षित है। 'करहिया कौ रायसौ' में कवि के आश्रयदाता प्रमारो और भरतपुराधीश जवाहरसिंह के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। कवि ने इसमें आँखो देखा वर्णन किया है। यह युद्ध १५ अगस्त, १७६७ ई० (स० १८२४ वि०) को हुआ था। इसी से कवि के विद्यमान होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

मडन भट्ट (१७७३ ई०=स० १८३० वि०)—ये जयपुर के महाराजा जयसिंह (तृतीय) के आश्रित कवि थे। ये तैलग ब्राह्मण थे। इनका जन्म १७७३ ई० (स० १८३० वि०) में हुआ था। इनके पिता का नाम ब्रजलाल था जो ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। मडन को जयपुर के अतिरिक्त बूदी आदि राज्यो में भी अच्छा सम्मान मिला था। इन्होने ११ ग्रथो की रचना की है। इनमें से निम्नलिखित वीररसात्मक हैं—

(१) राठौड चरित्र, (२) रावल-चरित्र, (३) जयसाह-सुजस-प्रकाश।

गणपति भारती (१७७८-१८०३ ई०=स० १८३५-१८६० वि०)—इनके पिता का नाम मथुरामल था। ये माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे तथा जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंह के आश्रित तथा काव्यगुरु थे। इनके आश्रयदाता ने इनको एक गाँव, पालकी, पदवी आदि देकर सम्मानिन किया था। इन्होने १० ग्रथो की रचना की है। इनका 'वीरहजारा' नामक ग्रथ वीर रस की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है।

उत्तमचद भण्डारी (१७८०-१८०७ ई०=सं० १८३७-१८६४ वि०)—ये जोधपुर के निवासी ओसवाल महाजन थे। मिश्रबन्धुओ के अनुसार ये जोधपुर के महाराजा भीमसिंह और महाराजा मानसिंह के मत्री रहे थे, परन्तु जोधपुर के इतिहास एव ख्यातो आदि से इस कथन की पुष्टि नही होती। इतिहास-ग्रथो से केवल इतना ही विदित होता है कि ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह के आश्रित थे।

इनका रचनाकाल १७८०–१८०७ ई० (स० १८३७–१८६४ वि०) है। इन्होने ६ ग्रथ लिखे हैं जिनमें से 'रतना हमीर की वात' वीररसात्मक रचना है।

पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०=स० १८१०-१८९० वि०)—पद्माकर तैलग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज गोदावरी के निकट रहा करते थे। १५५८ ई० (स० १६१५ वि०) में महारानी दुर्गावती के राज्यकाल में गढा माडला में पद्माकर के पूर्वज आकर रहने लगे। इनमें से कुछ ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का आश्रय ग्रहण किया। इनके यहाँ बसने पर इनके समुदाय की दो शाखाएँ हो गईं जो मथुरास्थ और गोकुलस्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। पद्माकर मथुरास्थ शाखा के थे।

इनके पिता मध्यप्रातान्तर्गत सागर में रहा करते थे। इनके पूर्व-पुरुषो का निवास उत्तर में जाने पर पहले पहल बादा में हुआ। इसीलिए ये लोग बाँदा वाले भी कहलाए। पद्माकर का जन्म १७५३ (स० १८१० वि०) में सागर में हुआ था।

इन्होने अपने पिता से कविता तथा मत्र-सिद्धि का अभ्यास किया था। तत्कालीन सागर-नरेश रघुनाथराव अप्पा साहब की प्रशसा में एक कविता सुनाकर एक लक्ष मुद्रा प्राप्त की थी। कुछ समय पश्चात ये बाँदा में आकर रहने लगे, जहाँ इन्होने महाराज जैतपुर तथा सुगरा-निवासी नोने अर्जुनसिह को अपना शिष्य बनाया।

वहाँ से पद्माकर दतिया के महाराज परीक्षत के दरबार में गए। दतिया से होकर रजधान के गोसाईं अनूपसिह उपनाम हिम्मतबहादुर के यहाँ गए। कहा जाता है कि १७९८ ई० (स० १८५५ वि०) तक पद्माकर हिम्मतबहादुर के यहाँ रहे। तत्पश्चात सितारा गए और महाराज रघुनाथ राव (राघोबा) के दरबार में पहुँचे। १७९९ ई० (स० १८५६ वि०) में सागर के रघुनाथराव ने इन्हें फिर अपने यहाँ बुलाया। इसके अनतर बाँदा होते हुए जयपुर के सवाई महाराजा प्रतापसिह के यहाँ पहुँचे। उक्त महाराजा की मृत्यु के उपरात यह पुन बाँदा लौट आए। कुछ समय के पश्चात पद्माकर फिर जयपुराधीश जगतसिह के दरबार में पहुँचे। उक्त महाराजा ने इन्हें अपना राजकवि बनाया। पद्माकर जयपुर से उदयपुर गए। उन दिनो वहाँ महाराणा भीमसिह राज्य करते थे। एक बार जयपुर से बाँदा जाते समय बूदी-नरेश ने इनका बडा आदर किया था। इसके अनतर यह तत्कालीन ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के यहाँ गए। वहाँ दौलतराव के एक मुसाहब ऊदाजी ने भी इनका अच्छा आदर किया था। श्वेत कुष्ठ से आक्रात होने पर यह गगासेवन के लिए कानपुर चले गए। कहा जाता है, वहाँ इनका कुष्ठ नष्ट हो गया। इसके बाद केवल छ मास तक यह और जीवित रहे। कानपुर में ही १८३३ ई० (स० १८९० वि०) को यह स्वर्गवासी हुए।

पद्माकर-रचित ९ ग्रथ बतलाए जाते हैं, जिनमें से निम्नलिखित प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत आते हैं—

(१) हिम्मतबहादुर-विरुदावली—यह रचना पद्माकर की प्रारम्भिक कृतियो में परिगणित की जाती है। इसमें हिम्मतबहादुर के तीन युद्धो का वर्णन किया गया है। अतिम युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। यह युद्ध हिम्मतबहादुर और नोने अर्जुनसिह के बीच हुआ था। यह लडाई बुधवार, १८ अप्रैल, १७९२ ई० (स० १८४९ वि०) को नयागाँव (नौगाँव) और अजयगढ के मध्य स्थान पर हुई थी। उस समय पद्माकर हिम्मतबहादुर के साथ थे और उन्होने आँखो देखा वर्णन किया है। अत यह पुस्तक १७९२ ई० (स० १८४९ वि०) के आसपास ही लिखी

गई होगी। (२) जगद्विनोद—यह रस-सबंधी ग्रंथ है। इसकी रचना जयपुराधीश महाराजा जगतसिंह के आदेशानुसार हुई थी। पद्माकर ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा के उपरांत नायिका-भेद तथा रस का निरूपण किया है। इस ग्रंथ के संरक्षक-सम्बन्धी छन्द ही इस अध्ययन की परिधि में आते हैं। (३) आलीजाह-प्रकाश (आलीजाह सागर) पद्माकर ने दौलतराव सिंधिया के नाम पर नायिका-भेद के रस-ग्रंथ की रचना की थी। कहा जाता है कि इस कृति और 'जगद्विनोद' में बहुत कम अंतर है। 'जगद्विनोद' के ही छन्द कहीं-कहीं थोड़े शब्दांतर से और अधिकांश में उन्हीं शब्दों में आलीजाह-प्रकाश में रख दिए गए हैं। वर्णन-पद्धति में भी कोई अंतर नहीं है। हाँ, आरम्भ में दौलतराव की प्रशंसा के छन्द अवश्य रखे हुए हैं। यथास्थान कुछ अन्तर भी पाया जाता है। 'आलीजाह-प्रकाश' की रचना-तिथि १८२१ ई० (सं० १८७८ वि०) है। इनके ग्रंथों में केवल इसी का रचना-काल दिया है। (४) प्रतापसिंह-विरुदावली—कुछ विद्वानों ने इसका नाम सवाई जयसिंह-विरुदावली माना है, पर वास्तव में यह 'प्रतापसिंह-विरुदावली' है। यह पद्माकर के जयपुर-निवासी वंशजों के पास सुरक्षित है। इसे देखने का इस लेखक को अवसर मिला है। यह ६८ पृष्ठों का ग्रंथ है जिसमें सवाई महाराज प्रतापसिंह के यश का रोचक शैली में वर्णन किया गया है। इस प्रकार रीतिकालीन आचार्य पद्माकर आलोच्य धारा के प्रमुख कवियों में से हैं।

चंडीदान (१७९१-१८३५ ई०=सं० १८४८-१८९२ वि०)—यह बूंदी के रहने वाले और मिश्रण शाखा के चारण थे। इनका जन्म १७९१ ई० (सं० १८४८ वि०) में और देहावसान १८३५ ई० (सं० १८९२ वि०) में हुआ था। इनके पिता का नाम बदन जी था जो बूंदी-दरबार के बहुत सम्मानित कवि थे। इनके पुत्र प्रसिद्ध कवि सूर्यमल्ल मिश्रण थे। चंडीदान संस्कृत, पिंगल एवं डिंगल के अच्छे विद्वान थे। बूंदी के रावराजा विष्णुसिंह के यह विशेष कृपा-पात्र थे। इनके आश्रयदाता ने इनका विशेष सम्मान किया था। इन्होंने ५ ग्रंथ लिखे जिनमें से 'वंशाभरण' और 'विरुद-प्रकाश' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी कविता में गति और प्रवाह है।

मान (खुमान) (१७९५ ई०=सं० १८५२ वि०)—इनका उपनाम खुमान था। यह चरखारी-नरेश राजा विक्रमसाहि के आश्रित छतरपुर राज्यांतर्गत खरगवा निवासी थे। यह बन्दीजन ब्रजलाल के पिता थे। इन्होंने कई ग्रंथ बनाए हैं। इनका 'समरसार' नामक वीर-रसात्मक ग्रंथ है। इसकी रचना १७९५ ई० (सं० १८५२ वि०) में हुई थी। किसी उच्च पदाधिकारी अंग्रेज को राजकुमार धर्मपालसिंह द्वारा वश में किया गया था, इसी घटना का इस कृति में वर्णन किया गया है।

दुर्गाप्रसाद (१७९६ ई०=सं० १८५३ वि०)—यह पंडित राजाराम के आश्रित थे। इनका रचनाकाल १७९६ ई० (सं० १८५३ वि०) के लगभग माना जाता है। इन्होंने 'अजीतसिंह फत्ते-ग्रंथ' अथवा 'नायक रासो' नामक ग्रंथ की रचना की है। रीवाँ के महाराज अजीतसिंह के सरदारों और पेशवा के सरदार जसवंतसिंह के बीच चारहट (रीवाँ) के मैदान में जो युद्ध हुआ था, उसी का इसमें वर्णन किया गया है।

जोधराज (१८२८ ई०=सं० १८८५ वि०)—जोधराज ने 'हम्मीररासो' में अपने परिचय के जो छन्द लिखे हैं उनसे विदित है कि वे अलवर राज्यांतर्गत नीमराणा के चौहान वंशीय राजा चन्द्रभाण के आश्रित थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था। इनका निवासस्थान

वीजवार था। जोधराज अत्रि गोत्रीय गौड-वश कुलोत्पन्न ब्राह्मण थे। इन्होने अपने आश्रयदाता की आज्ञा से 'हम्मीररासो' की रचना की थी। इसमें रणथभौर के राव हम्मीर और अलाउद्दीन खिलजी के युद्धो का वर्णन है। इन्होने अपने ग्रथ की रचना-तिथि इस प्रकार दी है—

चन्द्र नाग वसु-पच गिनि सवत् माघव मास।
शुक्ल सुतृतिया जीव जुत ता दिन ग्रथ प्रकास।। छ० ९६८ ।।

नागो की सख्या सात और आठ दोनो मानी गई है। आठ सख्या मानने से इसका रचना-काल स० १८८५ वि० वैशाख शुक्ला तृतीया वृहस्पतिवार आता है। गणना करने पर यह तिथि ठीक आती है। अतएव इसकी रचना उक्त तिथ्यनुसार वृहस्पतिवार, १७ अप्रैल १८२८ ई० को हुई थी।

नागो की सख्या ७ मानने पर इसका रचनाकाल स० १७८५ वि० आता है जो गणना करने पर अशुद्ध ठहरता है। मिश्रवन्धुओ, श्यामसुन्दरदास, लाला सीताराम आदि ने इसकी रचना स० १७८५ वि० (१७२८ ई०) और शुक्ल जी ने १८१८ ई० (स० १८७५ वि०) मानी है। इन समस्त विद्वानो द्वारा दिया हुआ रचना-काल अशुद्ध है।

हम्मीररासो में चौहानो की उत्पत्ति के पश्चात हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

(ख) नीचे उन कवियो एव ग्रथो का उल्लेख किया जा रहा है जिनका विस्तृत विवरण नही प्राप्त हो सका है। रचना-काल यथासम्भव दे दिया गया है—

कवि ग्रंथ रचना-काल

१ ऋषभदास जैन—कुमारपाल रासो (१६१३ ई०=स०१६७० वि०)
२ महाराजा मानसिंह—मानचरित्र (१६१८ ई०=स० १६७५ वि०)
३ वनवारी—स्फुट छन्द (१६३३ ई०=स० १६९० वि०)—जसवतसिंह के भाई अमरसिंह द्वारा सलावत के मारे जाने का विवरण।
४ निधान—जसवत-विलास (१६४१ ई०=स० १६९८ वि०) तृतीय त्रैमासिक खोज-रिपोर्ट में इसे १६१७ ई० (स० १६७४ वि०) की रचना माना है।
५ दलपति मिश्र—जसवत-उद्योत (१६४८ ई०?=स० १७०५ वि०?) जोधपुर के महाराजा जसवतसिंह के आश्रित थे।
६ गभीरराय—एक ग्रथ (१६५० ई०=स०१७०७ वि०) जिसमें मऊवाले जगतसिंह और शाहजहाँ का युद्ध-वर्णन है।
७ रामकवि—जयसिंह-चरित्र (१६५३ ई०=स० १७१० वि०) ये मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित थे।
८ रत्नाकर—कुछ कविताऐं (१६५५ ई०=स० १७१२ वि०) इन्होने शाहशुजा की प्रशसा में कविता की है।
९ सुखदेव मिश्र—फाजिल अली-प्रकाश (१६७१ ई०=१७२८ वि०) नृप-यश आदि वर्णन।

१० श्रीपति भट्ट—हिम्मत-प्रकाश (१६७४ ई०=स० १७३१ वि०) ये बाँदा के नवाब सैयद हिम्मतखाँ के दरबार में थे।

११ कुभकर्ण—रतन-रासो (१६७५ ई०=स० १७३२ वि०) ये साँदू शाखा के चारण थे। कुछ विद्वानो के अनुसार इसका रचनाकाल १६७३ ई० (स० १७३० वि०) है। इस ग्रथ में शाहजहाँ के विद्रोही पुत्रो के युद्ध का वर्णन है। इसमें राठौर रतनसिंह ने औरगजेब का वीरतापूर्वक सामना किया था।

१२ घनश्याम शुक्ल—स्फुट कविता (१६८०–१७७८ ई०=स० १७३७–१८३५ वि०) ये रीवाँ-नरेश के यहाँ थे। उनकी प्रशसा में कविता की है। सरोज में एक छन्द काशी-नरेश की प्रशसा में भी लिखा है।

१३ रणछोड—राजपट्टन (१६८० ई०–स० १७३७ वि०) मेवाड के राजघराने का इतिहास वर्णित है।

१४ निवाज तिवारी—छत्रसाल-विरुदावली (१६८० ई०=स० १७३७ वि० के लगभग) ये नवाबआजम खाँ के आश्रित थे।

१५ महाराजा जयसिंह—जयदेव-विलास (१६८१–१७०० ई०=स० १७३८–१७५७ वि०) ये उदयपुर के राणा थे। इस ग्रथ में अपने वश का वर्णन किया है।

१६ सतीप्रसाद—जयचद-वशावली—जयचद की वशावली और उनका परिचय दिया गया है।

१७ उत्तमचद—दिलीप रजिनी (१७०३ ई०=स० १७६० वि०) राजा दिलीपसिंह के आश्रित। आश्रयदाता के वश का वर्णन किया है।

१८ मूक जी—खीची जाति की वशावली (१७१८ ई०=स० १७७५ वि०) खीची राजाओ का वश-वर्णन किया है। इनके कुछ फुटकर छद भी मिलते हैं।

१९ केवलराम—बाबी-विलास (१७२६ ई०=स० १७८३ वि०) मिश्रबन्धु-विनोद में इसका रचनाकाल १६९९ ई० (स० १७५६ वि०) दिया है। जूनागढ़ के नवाबो की प्रशसा में यह ग्रथ लिखा गया है।

२० रसपुज—कवित्त श्री माता जी रा (१७३३ ई०=स० १७९० वि०) ये जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित थे।

२१ सुजानसिंह—सुजान-विलास (१७३३ ई०=स० १७९० वि०) करौली के राजघराने से सवधित थे।

२२ शाहजू पडित—१ बुदेलवशावली ओडछा निवासी २ लक्ष्मणसिंह-प्रकाश (१७३७ ई०=स० १७९४ वि०) ये टहरौली के जागीरदार लक्ष्मण सिंह के आश्रित थे।

२३ अनत फदी—स्फुट रचना (१७४३ ई०=स० १८०० वि०) ये महाराष्ट्र के कवि थे। हिंदी में नाना फडनवीस की प्रशसा की है।

२४ महताव—नखशिख (१७४३ ई०=स० १८०० वि०) इन्होने हिन्दूपति की प्रशसा की है। आश्रयदाता के लिए इन्होने राजा के स्थान पर वादशाह शब्द का प्रयोग किया है।

२५ विहारीलाल—हरदौल-चरित्र (१७५८ ई०=स०१८१५ वि०)

२६ दत्तू अथवा देवदत्त—व्रजराज-पचाशा (१७६१ ई० = स० १८१८ वि०) राजा व्रज राजदेव की चढ़ाई का वर्णन किया है।

२७ लालकवि वनारसी—कवित्त (१७७५ ई० = स० १८३२ वि०) ये गणेश कवि के पितामह और गुलाव कवि के पिता थे। काशी नरेश चेतसिंह के आश्रित थे। महाराजा महीप नारायण सिंह तथा अन्य काशी-नरेशो की प्रशसा में कवित्त लिखे हैं।

२८ लाल झा मैथिल—कनरपी घाट की लडाई (१७८० ई० = स० १८३७ वि०) ये दरभगा-नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह के आश्रित थे।

२९ श्रीकृष्ण भट्ट—आलीजा-प्रकाश (?) (१७८३ ई० = स० १८४० वि०) ये अलवर-निवासी तैलग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर भट्ट था। ये जन्माध वतलाए जाते हैं।

३० मान कवि—नरेन्द्र-भूपण (१७८८ ई० = स० १८४५ वि०) राजा रणजोरसिंह के यश का वर्णन है।

३१ शिवराम भट्ट—(१) प्रताप-पच्चीसी (२) विक्रम-विलास (१७९० ई० = स० १८४७ वि०) ये ओडछा के महाराजा विक्रमादित्य के दरवार में थे।

३२ शिवनाथ—रासा भैया वहादुरसिंह का (१७९६ ई० = स० १८५३ वि०) वलरामपुर के राजकुमार वहादुरसिंह द्वारा किसी शरणार्थी की रक्षा करने के लिए किसी शत्रु से युद्ध का इसमें वर्णन है।

वीर-काव्यधारा का विविध दृष्टियो से अध्ययन करने के पश्चात यह निष्कर्प निकलता है कि यह हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण धारा है। सुचारु रूप से इसका अनुशीलन करके भारत के अतीत गौरव और शौर्यपूर्ण कार्य-कलाप से युक्त भारतीय इतिहास का नव-निर्माण किया जा सकता है।

१. हिन्दी-वीरकाव्य-सूची

ग्रंथ सं०	कवि	ग्रन्थ	रचना-काल	विवरण
१	भट्ट केदार	जयचन्द्र-प्रकाश	११६८ ई०	जयचन्द्र के आश्रित, ग्रन्थ अप्राप्य।
२	जगनिक	आल्हा-खण्ड	११७३ ई०	आल्हा-ऊदल का वर्णन, मूल ग्रन्थ अप्राप्य।
३	मधुकर कवि	जयमयक-जसचन्द्रिका	११८३ ई०	जयचन्द्र के आश्रित, ग्रन्थ अप्राप्य।
४	शार्ङ्गधर	हम्मीररासो	१३६३ ई०	अप्राप्य, प्राकृत-पैंगलम् में कुछ पद्य सगृहीत।
	"	हम्मीर-काव्य		
६	श्रीधर	रणमल-छन्द	१४०० ई०	रणमल और जफरखाँ का युद्ध-वर्णन।
७	नरहरि	फुटकर रचना	१५०५–१६१० ई०	अकबर आदि आश्रयदाताओं की प्रशसा।
८	तानसेन	फुटकर रचना	१५३१-१५८९ ई०	अकबर आदि की प्रशसा।
९	केशव	कवि-प्रिया	१६०१ ई०	आरम्भ में इन्द्रजीतसिंह की प्रशसा।
	"	रत्न-वावनी	—	रत्नसिह की वीरता का वर्णन।
	"	वीरसिंहदेव-चरित	१६०८ ई०	वीरसिंहदेव की गौरव गाथा।
	"	जहाँगीर-जसचन्द्रिका	१६१२ ई०	जहाँगीर-यश वर्णन।
१३	ऋषभदास जैन	कुमारपाल रासो	१६१३ ई०	—
१४	गङ्ग कवि	फुटकर कविता	१५७८-१६१७ ई०	अकबर आदि की प्रशसा।
१५	महाराजा मानसिंह	मान-चरित्र	१६१८ ई०	—
१६	जटमल	गोरा-वादल की कथा	१६२३ (अथवा १६२८ ई०)	गोरा-वादल की वीरता का वर्णन।
१७	वनवारी	स्फुट-छन्द	१६३३ ई०	अमरसिंह राठौर द्वारा सलावतखाँ के वध का वर्णन।
१८	निधान	जसवन्त-विलास	१६४१ ई०	—
१९	दलपति मिश्र	जसवन्त-उद्योत	१६४८ ई० (?)	जोधपुराधीश जसवन्तसिंह के आश्रित।
२०	गम्भीर राय	एक ग्रन्थ	१६५० ई०	मऊ के जगतसिंह और शाहजहाँ के युद्ध का वर्णन।
२१	डूंगरसी	शत्रुसालरासो	१६५३ ई०	राव शत्रुसाल हाडा की वीरता का वर्णन।
२२	राम कवि	जयसिंह-चरित्र	१६५३ ई०	मिर्जा राजा जयसिंह के आश्रित।
२३	रत्नाकर	स्फुट-कविता	१६५५ ई०	शाहशुजा की प्रशसा।

२४. मतिराम	ललितललाम	१६६१-१६६२ ई०	बूंदीपति भावसिंह के परिवार की प्रशंसा के कुछ पद ।
२५ कुलपति मिश्र	रस-रहस्य	१६७० ई०	ग्रन्थारम्भ में रामसिंह प्रथम (जयपुर) की प्रशंसा ।
,,	संग्रामसार	१६७६ ई०	महाभारत के द्रोण-पर्व का पद्यानुवाद ।
२७ सुखदेव मिश्र	फाजिल अली प्रकाश	१६७१ ई०	नृप-यश वर्णन आदि ।
२८ भूषण	शिवराज-भूषण	२९ अप्रैल, १६७३ ई०	शिवाजी-यश-वर्णन ।
,,	शिवा-बावनी	—	५२ छन्दो में शिवाजी का गुणगान ।
,,	छत्रसाल-दशक	—	१० छन्दो में छत्रसाल बुन्देला का यश-वर्णन ।
,,	फुटकर छन्द	—	विभिन्न आश्रयदाता-विषयक छन्द ।
३२ श्रीपति भट्ट	हिम्मत-प्रकाश	१६७४ ई०	सैय्यद हिम्मत खाँ (बाँदा) के आश्रित ।
३३ कुम्भकर्ण	रतनरासो	१६७५ ई०	औरङ्गजेब के उत्तराधिकार-युद्ध में रतनसिंह की वीरता का वर्णन ।
३४ घनश्याम शुक्ल	स्फुट कविता	१६८०-१७७८ ई०	रीवाँ-नरेश की प्रशंसा ।
३५ रणछोड	राज-पट्टन	१६८० ई०	मेवाड के राजघराने का इतिहास ।
३६ निवाज तिवारी	छत्रसाल-विरुदावली	१६८० ई०	नवाब आजम खाँ के आश्रित ।
३७ महाराणा जयसिंह	जयदेव-विलास	१६८१-१७०० ई०	उदयपुर के महाराणा ।
३८. सतीप्रसाद	जयचन्द-वंशावली	—	जयचन्द के वंश का परिचय ।
३९ मान	राजविलास	१६७७-१६८० ई०	महाराणा राजसिंह की वीरता का वर्णन ।
४० दयालदास	राणारासो	१६८०-१६९८ ई०	मेवाड का इतिहास-वर्णन ।
४१. हरिनाम	केसरीसिंह-समर	१६८३-१६९७ ई०	राजा केसरीसिंह (खण्डेला) का यश-वर्णन ।
४२. उत्तमचन्द	दिलीप-रंजिनी	१७०३ ई०	दिलीपसिंह के वंश का वर्णन ।
४३ वृन्द कवि	वचनिका	१७०५ ई०	आश्रयदाता का गुणगान ।
,,	सत्यस्वरूप	१७०७ ई०	बहादुरशाह के उत्तराधिकार-युद्ध में राजसिंह (किशनगढ़) की वीरता का वर्णन ।
४५. लाल कवि (गोरेलाल)	छत्र-प्रकाश	१७१० ई०	छत्रसाल बुन्देला का गुणगान ।
४६ श्रीधर (मुरलीधर)	जंगनामा	जनवरी, १७१३ ई०	फर्रुखसियर और जहाँदारशाह का युद्ध-वर्णन ।
४७ मूक जी	खीची जाति की वंशावली	१७१८ ई०	खीची राजाओ का वर्णन ।
		[illegible] ई०	जूनागढ के नवाबो की प्रशंसा ।

			विवरण
४९ गञ्जन	कमरुद्दीन खाँ-हुलास	१७२८ ई०	कमरुद्दीन खाँ की प्रशसा तथा रस-वर्णन ।
५० हरिकेश	स्फुट पद	—	वीर रस की उत्तम रचना ।
"	जगत्-दिग्विजय	१७२५ ई०	जगतसिंह (जयपुर) तथा अन्य राजवशो का वर्णन ।
"	ब्रजलीला	१७३१ ई०	छत्रसाल तथा हृदयशाह की प्रशसा के उपरान्त कृष्ण-राधा-मिलन-वर्णन ।
५३. रसपुञ्ज	कवित्त श्रीमाता जी रा	१७३३ ई०	अभयसिंह (जोधपुर) के आश्रित ।
५४. सुजानसिंह	सुजान-विलास	१७३३ ई०	करौली राज-परिवार से सवन्धित ।
५५ श्रीकृष्ण भट्ट (काव्य-कला-निधि)	साँभर-युद्ध	१७३४ ई०	सवाई जयसिंह और सैय्यद भाइयो का युद्ध-वर्णन ।
५६ "	जाजव-युद्ध	—	—
५७ "	बहादुर-विजय	—	
५८ "	जयसिंह गुण-सरिता	—	—
५९ सदानन्द	रासा भगवन्तसिंह	नवम्बर, १७३५ ई०	महाराजा जयसिंह का यशोगान ।
६० शाहजू पण्डित	बुन्देल-वशावली	१७३७ ई०	भगवन्तराय खीची (असोथर) के युद्ध का वर्णन ।
"	लक्ष्मणसिंह-प्रकाश	१७३७ ई०	लक्ष्मणसिंह (टहरौली) के आश्रित ।
६२ कुँवर कुशल	लखपति-यश-सिन्धु	१७३९ ई०	
६३ हम्मीर	लखपत-पिंगल	१७३९ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) की प्रशसा ।
६४ अनन्त फन्दी	स्फुटरचना	१७४३ ई०	लखपतिसिंह (कच्छभुज) गुणगान ।
६५ महताब	नख-शिख	१७४३ ई०	महाराष्ट्र के कवि, नाना फडनवीस की प्रशसा में हिन्दी कविता ।
६६ नन्दराम	शिकार-भाव	१७३३ ई०	हिन्दू पति की प्रशसा ।
६७ "	जगविलास	१७४५ ई०	महाराणा जगतसिंह (मेवाड) के शिकार का वर्णन ।
६८. देवकर्ण	वाराणसी-विलास	१७४६ ई०	आश्रयदाता की प्रशसा ।
६९ शम्भुनाथ मिश्र	अलकार-दीपक	१७४९ ई०	ग्रन्थारम्भ में मेवाड का इतिहास-वर्णन ।
७० "	रस-कल्लोल	१७५० ई०	भगवन्तराय खीची का यश-वर्णन ।
			आश्रयदाता का यशोगान एव नायिका-भेद-निरूपण ।

७१ "	रस-तरगिनी	—	यश-वर्णन और नायिका-भेद-निरूपण।
७२ तीर्थराज	समर-सार	१७४९ ई०	अचलसिंह (डोडियाखेरे) के आश्रित।
७३ सोमनाथ	सुजान-विलास	१७३३-१७५३ ई०	बदनसिंह आदि (भरतपुर) की ग्रन्थारम्भ में प्रशसा।
७४ सूदन	सुजान-चरित्र	१७५३ ई०	सूरजमल (भरतपुर) का यशोगान।
७५ प्रतापसाहि	जयसिंह-प्रकाश	१७५५ ई०	महाराजा जयसिंह की प्रशसा।
७६. विहारीलाल	हरदौल-चरित्र	१७५८ ई०	—
७७ दत्तू (देवदत्त)	ब्रजराज-पचाशा	१७६१ ई०	राजा ब्रजराजदेव की चढाई का वर्णन।
७८ गुलाव कवि	करहिया को रायसौ	१५ अगस्त, १७६७ ई०	प्रमारो (आतरी) और जवाहरसिंह (भरतपुर) का युद्ध-वर्णन।
७९ मण्डन भट्ट	राठौड-चरित्र	(१७७३ ई० जन्मतिथि)	जयसिंह तृतीय (जयपुर) के आश्रित।
८० "	रावल-चरित्र	—	—
८१ "	जयसाह-सुजस-प्रकाश	—	आश्रयदाता-यश-वर्णन।
८२ लाल कवि (बनारसी)	कवित्त	१७७५ ई०	चेतसिंह के आश्रित, काशी नरेशो का यशोगान।
८३. लाल झा मैथिल	कनरपीघाट की लडाई	१७८० ई०	नरेन्द्रसिंह (दरभगा) के आश्रित।
८४ गणपति भारती	वीर हजारा	१७७८-१८०३ ई०	सवाई प्रतापसिंह (जयपुर) के आश्रित।
८५ उत्तमचन्द भण्डारी	रतना-हमीर की बात	१७८०-१८०७ ई०	मानसिंह (जोधपुर) के आश्रित।
८६ श्रीकृष्ण भट्ट	आली जा प्रकाश (?)	१७८३ ई०	—
८७ मानकवि	नरेन्द्र-भूपण	१७८८ ई०	रणजोरसिंह का यश-वर्णन।
८८ शिवराम भट्ट	प्रताप-पचीसी }	१७९० ई०	विक्रमादित्य (ओडछा) के आश्रित।
८९ "	विक्रम-विलास }		
९०. पद्माकर	हिम्मतवहादुर-विरुदावली	१७९२ ई०	हिम्मतवहादुर और अर्जुनसिंह नोने का युद्ध-वर्णन।
९१ "	जगद्-विनोद	—	जगतसिंह (जयपुर) की ग्रन्थारम्भ में प्रशसा।
९२ "	आलीजाह-प्रकाश (आलीजा सागर)	१८२१ ई०	दौलतराव सिन्धिया की ग्रन्थारम्भ में प्रशसा।
९३ "	प्रतापसिंह-विरुदावली	—	सवाई प्रतापसिंह (जयपुर) का यशोगान।
९४ चण्डीदान	वशाभरण }	१७९१-१८३५ ई०	वूदी-दरवार के आश्रित।
९५ "	विरुद-प्रकाश }		"

ग्रथ स०	कवि	ग्रन्थ	रचना-काल	विवरण
९६	मान (खुमान)	समर-सार	१७९५ ई०	विक्रमशाह (चरखारी) के आश्रित, राजकुमार धर्मपाल सिंह की वीरता का वर्णन।
९७	शिवनाथ	रासाभैया बहादुरसिंह	१७९६ ई०	बहादुरसिंह (बलरामपुर) की वीरता का वर्णन।
९८	दुर्गाप्रसाद	अजीतसिंह फत्ते (नायक रासो)	१७९६ ई०	रीवाँ के सैनिको और मराठो के युद्ध का वर्णन।
९९	जोधराज	हम्मीररासौ	१८२८ ई०	चन्द्रभान (नीमराणा) के आश्रित। हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध-वर्णन।

२. सहायक ग्रंथ सूची

१ अगरचन्द नाहटा, राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, भाग २, उदयपुर विद्यापीठ, प्रथम सस्करण, १९४७ ई० ।

२ अगरचन्द नाहटा, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, चतुर्थ भाग, साहित्य-सस्थान, राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, प्रथम सस्करण, १९५४ ई० ।

३ आर्थर ए० मेक्डानेल, डाक्टर, ए हिस्ट्री ऑव् सस्कृत लिट्रेचर, विलियम हेनमेन लन्दन, सेकेण्ड इम्प्रेशन, नवम्बर, १९०५ ई० ।

४ ईश्वरीप्रसाद, डाक्टर, भारतीय मध्ययुग का इतिहास, (१२००–१५२६ ई०), इण्डियन प्रेस, इलाहावाद, १९५५ ई० ।

५ उदयसिंह भटनागर, राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, तृतीय भाग, उदयपुर, प्रथम सस्करण, १९५२ ई० ।

६ ए० वेरीडेल कीथ, डाक्टर, ए हिस्ट्री ऑव् सस्कृत लिट्रेचर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, भाग १, १९४१ ई० ।

७ एम० विंटरनिट्ज, डाक्टर, ए हिस्ट्री ऑव् इण्डियन लिट्रेचर, यूनिवर्सिटी ऑव् कलकत्ता, १९२७ ई० ।

८ एस० एन० दास गुप्ता एण्ड के० डी०, ए हिस्ट्री ऑव् सस्कृत लिट्रेचर, भाग १, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९४७ ई० ।

९ ऋग्वेद-सहिता, वैदिक यत्रालय, अजमेर ।

१० केशव, कवि-प्रिया, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९२४ ई० ।

११ केशव, वीरसिंहदेव-चरित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

१२ 'गङ्गा' वेदाक, जनवरी, १९३२ ई०, कृष्णगढ, सुलतानगञ्ज, भागलपुर ।

१३ जटमल, गोरावादल की कथा, तरुण-भारत-ग्रन्थावली कार्यालय, दारागज, प्रयाग, प्रथमावृत्ति, स० १९९१ वि० ।

१४. जी० ग्रियर्सन, सर, मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आॅव् हिन्दुस्तान, कलकत्ता, १८८९ ई० ।

१५ जोधराज, हम्मीररासा, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय सस्करण, स० २००५ ।

१६ टीकमसिंह तोमर, डाक्टर, हिन्दी वीरकाव्य (१६००-१८०० ई०), हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहावाद, प्रथम सस्करण, १९५४ ई० ।

१७ द्वादश हिन्दी साहित्य सम्मेलन लाहौर, कार्य-विवरण, दूसरा भाग, (निवन्धमाला), स० १९७९ वि०, स्वागतकारिणी द्वारा प्रकाशित ।

१८ धर्मवीर भारती, डाक्टर, सिद्ध-साहित्य, कितावमहल प्रकाशन, इलाहावाद, १९५५ ई० ।

१९-३० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, काशी, नवीन सस्करण, भाग ३, ५, ६, ८, १०-१५, २०, २२ ।

३१. पद्माकर, हिम्मतवहादुर-विरुदावली, भारतजीवन प्रेस, वाराणसी ।

३२ प्राकृत-पैंगलम्, एशियाटिक सोसायटी आव वगाल, कलकत्ता, १९०२ ई० ।

३३ बाबूराम सक्सेना, डाक्टर, कीर्त्तिलता (विद्यापति-कृत), इण्डियन प्रेस, प्रथम सस्करण, स० १९८६ वि० ।

३४ भगवानदीन, लाला, केशव-पञ्चरत्न, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, प्रथम बार, १९८६ वि० ।

३५ भरतसिंह उपाध्याय, डाक्टर, पालि-साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

३६ भूरसिंह शेखावत, ठाकुर, मलसीसर (द्वारा सगृहीत), महाराणा यश-प्रकाश, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९०० ई० ।

३७ भूषण ग्रन्थावली, (प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित) काशी, द्वितीयावृत्ति, स० १९९६ वि० ।

३८ भोलानाथ व्यास, डाक्टर, सस्कृत-कवि-दर्शन, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी, प्रथम सस्करण, स० २०१२ वि० ।

३९ माताप्रसाद गुप्त, डाक्टर, हिन्दी पुस्तक-साहित्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९४५ ई० ।

४० मान, राज-विलास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

४१-४४ मिश्र-बन्धु, मिश्रबन्धु-विनोद, भाग १-४, गङ्गा ग्रन्थागार, लखनऊ ।

४५ मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, स० २००६ वि० ।

४६. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिङ्गल साहित्य, हितैषी पुस्तक भण्डार, उदयपुर, प्रथम सस्करण, १९५२ ई० ।

४७ मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान मे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, प्रथम भाग, उदयपुर, प्रथम वार, १९४२ ई० ।

४८ रामकुमार वर्मा, डाक्टर, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, तृतीय वार १९५४ ई० ।

४९ रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण, स० २००३ वि० ।

५० रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य, चिन्तामणि, भाग २, सरस्वती मन्दिर, जतनवर, काशी,

५१-५२ रामनारायण दूगड (द्वारा अनूदित), मुहणोत नैणसी की ख्यात, भाग १-२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५३ लाल कवि, छत्रप्रकाश, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९१६ ई० ।

५४-५५ श्यामसुन्दरदास, डाक्टर, हस्तलिखित पुस्तको का विवरण, भाग १–२, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५६ शिवसिंह सेंगर, शिवसिंह-सरोज ।

५७ सर्च रिपोर्ट्स फॉर हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स (प्रकाशित तथा अप्रकाशित), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

५८. सरयूप्रसाद अग्रवाल, डाक्टर, अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम सस्करण स० २००७ वि०।
५९ सूदन, सुजान-चरित्र, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, दूसरा सस्करण, स० १९८० वि०।
६० सूर्यमल्ल मिश्रण, वशभास्कर, रामश्याम प्रेस, जोधपुर।
६१ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर, नाथसम्प्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५७ ई०।
६२ हजारीप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, विहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्रथम सस्करण, १९५२ ई०।
६३ हरिवश कोछड, डाक्टर, अपभ्रश साहित्य, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।
६४ हरप्रसाद शास्त्री, महामहोपाध्याय, प्रेलिमिनरी रिपोर्ट ऑव दी ऑपरेशन इन सर्च ऑव दी मैनुस्क्रप्ट्स ऑव बारडिक क्रानीकिल्स, एशियाटिक सोसायटी ऑव बगाल, कलकत्ता, १९१३ ई०।

६. संतकाव्य

परिचय

हिन्दी साहित्य में भक्ति से सम्बन्ध रखने वाली भावधारा के अन्तर्गत सन्तकाव्य का विशेष महत्व है। यद्यपि भक्ति-सम्बन्धी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियो को 'सन्त' कहा जा सकता है, तथापि 'सन्तकाव्य' उन्ही कवियो की 'बानियो' का नाम है जिन्होने निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य-रचना की है। यह निर्गुण सम्प्रदाय भक्ति-युग के पूर्वार्द्ध में उन समस्त परम्पराओ से प्रभावित है, जो उस समय दक्षिण और उत्तर भारत में मान्य हो रही थी। यह बात दूसरी है कि सन्तकाव्य में अपने समय की प्रचलित सभी परम्पराओ का समावेश नही हो सका, उसके द्वारा उनका प्रतिनिधित्व तो हुआ है, किन्तु उसके अन्तर्गत जन-जीवन की स्वाभाविक एव धार्मिक प्रेरणाओ की सहज अभिव्यक्ति हुई है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि सन्तकाव्य ने प्राचीन परम्पराओ की स्थूल रूपरेखा ग्रहण कर उसमें जीवनगत पवित्रता के आधार पर विश्व-धर्म की स्वाभाविक प्रेरणा का रग भरा है। हिन्दी के धार्मिक साहित्य में सन्तकाव्य जन-जीवन के धार्मिक उन्मेष का एक नया प्रयोग है। यही कारण है कि सामान्य जीवन की स्वाभाविक भाव-भूमि पर धर्म की जो प्रेरणा उत्पन्न हुई, उसका अभिव्यक्तीकरण जनभाषा द्वारा ही हुआ। यदि यह कहा जाय कि सन्तकाव्य ने जनभाषा का आश्रय लेकर परवर्ती राम और कृष्ण की भक्ति के लिए काव्य का क्षेत्र प्रशस्त किया तो कोई अत्युक्ति न होगी। नाथ सम्प्रदाय भी जनभाषा में अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन कर चुका था, किन्तु उसकी भाषा में दो बातो की कमी थी। पहली यह कि वह भाषा केवल सिद्धान्तसम्मत थी, उसमें काव्यात्मकता का अभाव था और दूसरी यह कि नाथ सम्प्रदाय एक सीमित सम्प्रदाय होने के कारण अपनी भाषा को व्यापक नही बना सका था। सन्त सम्प्रदाय ने धर्मतत्व का सहज निरूपण करते हुए भाषा का भी ऐसा रूप प्रस्तुत किया, जो एक ओर व्यापक जन-जीवन को स्पर्श करता था और दूसरी ओर उसमें काव्यात्मकता का प्रयोग भी सम्भव हो सकता था। इस भाँति निर्गुण सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करते हुए जन-जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो में सामान्य भाषा के माध्यम से सन्तकाव्य हिन्दी के भक्ति-काव्य का एक महत्वपूर्ण अश बन सका। सन्तकाव्य का रूप निर्धारित करने में अनेक प्रेरणाओ और परिस्थितियो का योग है।

सतकाव्य की ऐतिहासिक स्थिति विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी से मानी जाती है। इसके प्रवर्तक सत कबीर है जिनका जन्मकाल सम्वत १४५६ (सन १५१३ ई०) है। सतकाव्य का उन्नयन करने में अनेक प्रेरणाओ और परिस्थितियो का योग है जो पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्व भी वर्तमान थी। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर ने उन प्रेरणाओ और परिस्थितियो का समन्वय इस प्रकार किया कि वे एक नवीन सम्प्रदाय में अकुरित हो सकी और उन्होने एक नए

दृष्टिकोण का निर्धारण किया। जिन परिस्थितियों में सतकाव्य की रूपरेखा साकार हुई, उनमें हमारे देश के धार्मिक, राजनीतिक एव सामाजिक इतिहास की पृष्ठभूमि है। इनका विश्लेषण करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा कि किन क्षेत्रो में सतकाव्य अपने निर्माण के उपकरण एकत्र कर सका और उन्हें किस रूप में नियोजित कर एक नए सम्प्रदाय का रूप देने में समर्थ हुआ। इन पर क्रम से विचार करना आवश्यक है।

(क) धार्मिक पृष्ठभूमि

सतकाव्य की आधार-शिला अनुभव-ज्ञान की है। उसमें जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिये यह स्पष्ट है कि उसमें प्राचीन परम्पराओ की शास्त्रसम्मत मान्यता का आग्रह नही है। सतकाव्य के मूल में निगम-आगम-पुराण आदि का कोई महत्व नही है। कवीर ने स्वय कहा है—

कवीर ससा दूर करि, पुस्तक देइ वहाइ।

इस कथन की प्रामाणिकता इसलिए है कि कवीर के परवर्ती कवि तुलसीदास ने इस दृष्टिकोण की निन्दा करते हुए कहा था—

'साखी सवदी' दोहरा, कहि कीनी उपखान,
भगति निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं वेद पुराण।

अत यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सतकाव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है। यदि इस दृष्टिकोण से सतकाव्य पर विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि इसका दृष्टिकोण वौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है जो शताब्दियो तक वैदिक धर्म से सघर्प करता रहा। यदि वौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि सतकाव्य वौद्ध साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। वौद्ध धर्म से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान से मत्रयान, मत्रयान से वज्रयान या तान्त्रिक वौद्ध धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वो को ग्रहण कर सत सम्प्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में वौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक जो जो जीवन के तत्व मनोभावो के धरातल पर उभर सके उन सव का समाहार सत सम्प्रदाय में हुआ। वौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ सम्प्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धो की 'सघा भापा' की उलटवाँसियो से लेकर नाथ सम्प्रदाय की अवधूत भावना तक सतकाव्य में सभी विचार-सरणियाँ पोपित हो सकी। वौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचार-धारा के विकास में ही यह सभव हुआ कि सतकाव्य उन समस्त वैदिक परम्परा के कर्मकाडो का विरोध कर सका जो कालान्तर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला, आदि सत सम्प्रदाय को ग्राह्य नही हो सके जो कर्मकाड के प्रतीक वने हुए थे। दूसरी ओर शून्य, काया-तीर्थ, सहज-समाधि, योग जिसके अन्तर्गत इडा, पिंगला, सुपुम्ना नाडियाँ, पटचक्र, सहस्रदल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन के स्वाभाविक और अन्त करणजनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता मत-

काव्य में हो सकी। अत यह स्पष्ट है कि सतकाव्य अपने मौलिक विचारो की कोटि में बौद्ध धर्म की परपरा के अन्तर्गत है तथा उसका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के परवर्ती सम्प्रदायो से होता हुआ प्रत्यक्ष रीति से नाथ सम्प्रदाय से है।

बौद्ध धर्म की विचारधारा से सत सम्प्रदाय का सम्बन्ध निरूपित हो जाने पर यह भी देखना उचित है कि वैदिक साहित्य की परम्परा में वैष्णव धर्म का प्रभाव कितनी मात्रा अथवा किस रूप में सतकाव्य पर पड सका है। विक्रम की चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दी में रामानन्द का प्रभाव उत्तरी भारत में व्यापक रूप से पड़ा। भक्ति का प्रवाह जो दक्षिण से उत्तर तक प्रवाहित हुआ उसने समस्त उत्तरी भारत को धर्म के क्षेत्र में भक्ति के प्रति आकृष्ट किया। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भक्ति का जनव्यापी प्रभाव दक्षिण के अलवार गायको से ही ईसा की छठवी शताब्दी में आरम्भ हो चुका था। इनके गीतो ने बडी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। जनता के लिए भी वेद-विहित याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति का रागात्मक रूप अधिक आकर्षक था, किन्तु जब आठवी शताब्दी के आरम्भ में कुमारिल ने पुन याज्ञिक कर्मकाड की प्रतिष्ठा की और शकराचार्य ने मायावाद के आधार पर ससार को मिथ्या प्रमाणित करते हुए ब्रह्म और जीव के बीच अद्वैतवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया तो इस वैष्णव भक्ति का स्रोत अवरुद्ध-सा हो गया। ब्रह्म और जीव जब एक ही हैं तो भक्ति किसकी किसके प्रति होगी? इसलिए ग्यारहवी शताब्दी के आरम्भ में नाथ मुनि ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या की और एक शताब्दी बाद रामानुजाचार्य ने अद्वैत के भीतर ही एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमें जीव को ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप माना गया जो ब्रह्म से भिन्न तो नही है, किन्तु अपने पार्थक्य से वह भक्ति का अधिकारी है। इस भाँति दर्शन के आधार पर शकर ने जो भक्ति की महत्ता समाप्त कर दी थी, वह नए ढग से पुन प्रतिष्ठित हुई। भक्ति को एक दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया जिसकी उस समय बहुत आवश्यकता थी। रामानुज के बाद मध्व और निम्बार्क ने भी भक्ति का पक्ष सबल बनाया और वह शकर के ज्ञान तथा योग से अधिक शक्तिशाली प्रमाणित हुआ, यद्यपि यह ज्ञान और योग, शैव धर्म का आश्रय लेकर, नाथ सम्प्रदाय के रूप में भारत के अनेक स्थानो में प्रचारित होता रहा। रामानन्द ने रामानुजाचार्य के भवित-सिद्धान्तो को उत्तर भारत में अनेक प्रयोगो के साथ प्रस्तुत किया। यह भक्ति-मार्ग ही उत्तर भारत में एक ऐसी ढाल बना सका जिस पर विदेशियो की धर्म-प्रचार की तलवार भी कुठित हो गई।

दक्षिण से उत्तर की ओर आने में इस भक्ति सम्प्रदाय को अनेक बाधाओ का सामना करना पडा। पहली बाधा तो शैव धर्म के ज्ञान और योग की थी जो नाथ सम्प्रदाय की साधना में पोषित हो रही थी। आठवी शताब्दी में शकराचार्य का प्रभाव देशव्यापी था और इसलिए वज्रयान की गुह्य साधनाओ की प्रतिक्रिया में जो नाथ सम्प्रदाय नवी शताब्दी में उठ खडा हुआ था, उसने सहज ही शिव को आदि नाथ मान कर ज्ञान और योग में अपनी साधना का रूप निर्धारित कर लिया था। इसलिए अपनी उत्तरी यात्रा में भक्ति की लहर जब महाराष्ट्र में पहुँची तो वहाँ शैव सम्प्रदाय का प्रभाव वर्तमान था। १२९० ई० (स० १३४७ वि०) में लिखित ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर स्वय नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे गुरु गोरखनाथ की

परम्परा में हुए थे। यद्यपि ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता के आधार पर ही लिखी गई है, तथापि उसमें तत्व-निरूपण की पद्धति अनेकानेक रूपको और प्रतीको के आधार पर नाथ सम्प्रदाय की परम्परा के अनुरूप ही है। "जब धृतराष्ट्र ने सजय से महाभारत के परिणाम के सम्बन्ध मे पूछा कि विजय किसकी रहेगी तो सजय ने निस्सकोच होकर कहा—'जहाँ कृष्ण हैं, वही विजय है, जहाँ चन्द्र है, वही चाँदनी है, जहाँ देव शकर है, वही देवी अम्बिका है, जहाँ सत हैं, वही विवेक है, जहाँ राजा है, वही सेना है, जहाँ सात्विकता है, वही मैत्री है, जहाँ अग्नि है, वही जलाने की शक्ति है, जहाँ दया है, वही धर्म है, जहाँ धर्म है, वही सुख है, जहाँ सुख है, वहीं ब्रह्म है, जहाँ गुरु हैं, वही ज्ञान है ' आदि।"

ज्ञानेश्वर के समकालीन नामदेव (जन्म १२७० ई०=स० १३२७ वि०) ने विट्ठल की उपासना की, जिसमें नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्व है। यह विट्ठल सम्प्रदाय सन १२०९ (स० १२६६ वि०) के लगभग पढरपुर में प्रचारित हुआ। इसके प्रचारक कन्नड सत पुडलीक कहे जाते हैं। विट्ठल सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय और शैव सम्प्रदाय का मिश्रित रूप है। इस प्रकार विट्ठल सम्प्रदाय के सत विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं मानते। विट्ठल की उपासना विष्णु के अवतार वासुदेव कृष्ण की उपासना से ही आरम्भ हुई, पर आगे चल कर विट्ठल और पाडुरग मे कोई अन्तर नही रह गया। पाडुरग वस्तुत श्वेत अग वाले शिव ही हैं। इस भाँति विष्णु ही शिव हैं और शिव ही विष्णु हैं। पढरपुर मे विट्ठल की मूर्ति शिवलिंग को शीश पर चढाए हुए विष्णु की ही है। ये विट्ठल इस भाँति एक सर्वव्यापी ब्रह्म के प्रतीक बन कर समस्त महाराष्ट्र में आराध्य मान लिए गए। ऐसा ज्ञात होता है कि आठवीं शताब्दी के शैव धर्म से ग्यारहवी शताब्दी के वैष्णव धर्म का समझौता विट्ठल सम्प्रदाय के रूप में हुआ जिसके सब से बडे सत नामदेव हुए। इस भाँति महाराष्ट्र मे आते-आते दक्षिण की भक्ति में कुछ सशोधन हुआ और वह एक व्यापक रूप लेकर ज्ञान के आश्रय से आत्मचिंतन के रूप मे परिवर्तित हुई और यही इस भक्ति मे रहस्यवाद की अनुभूति उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर और नामदेव ने साथ-साथ सारे उत्तर भारत का पर्यटन किया और अपने इस व्यापक धर्म का प्रचार किया। इस विट्ठल सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनेकानेक सत हुए जिनमें गोरा कुम्हार, सावता माली, नरहरि सोनार, चोखा भगी, जनाबाई दासी, सेना नाई, कान्हो पात्रा वेश्यापुत्री प्रमुख हैं। भक्तो के लिए ज्ञानेश्वर ने 'सत' शब्द का प्रयोग कर ही दिया था—

ज्ञान देव ह्मणें तुम्हीं सत बोलगावेति आम्हीं।
हें पडविलो जी स्वामी निवृत्तिदेवी। (ज्ञानेश्वरी १२)
आत्मज्ञानें चोखडी। सत हे माझे रूपडीं। (१८, १३५६)

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि महाराष्ट्र में दक्षिण की भक्ति को लेकर तेरहवीं शताब्दी के आसपास ऐसी विचारधारा प्रवाहित हुई जिसमें विट्ठल को ब्रह्म का प्रतीक मान कर उसके प्रेम की पवित्र धारा में जाति और वर्ग का सारा द्वेष बह गया और नाम का सस्कार हृदय में स्थिर हो गया। सभव है कि यह परिस्थिति महानुभाव सम्प्रदाय के प्रच्छन्न प्रभाव के कारण हुई हो जिसकी स्थापना ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई थी और जिसमें जाति-बन्धन की शिथिलता के साथ कृष्ण चक्रधर की उपासना प्रबल हो गई थी। इसमें नाथ सम्प्रदाय

किन्तु सूफीमत ने उसमें एक नया पार्श्व भी जोडा। यो तो सूफीमत अपनी विकासकालीन अवस्था में वेदान्त का ऋणी है, फिर चाहे उसमें कुरान के सात्विक सिद्धान्तो का सम्मिश्रण भले ही हो, किन्तु यह प्रसग यहाँ विचारणीय नही है। प्रस्तुत प्रश्न तो यही है कि सूफीमत ने ऐसी कौन सी विशेषता भक्ति मार्ग में जोड दी जो पढरपुर के विट्ठल सप्रदाय की भक्ति में नही थी।

ईसा की बारहवी शताब्दी में इस देश में सूफीमत का प्रवेश हुआ। यह मत चार सप्रदायो के रूप में आया जिन्होने समय-समय पर देश में अपना प्रचार किया। ये है—

१ चिश्ती सप्रदाय — बारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचारित हुआ।
२ सुहरावर्दी सप्रदाय — तेरहवी शताब्दी के पूवार्द्ध में सगठित हुआ।
३ कादरी संप्रदाय — पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पोषित हुआ।
४ नक्शबदी सप्रदाय — सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यवस्थित हुआ।

ये चारो सप्रदाय अपने मूल सिद्धान्तो में समान थे। धार्मिक और सामाजिक पक्षो में ये सभी सप्रदाय अत्यन्त उदार थे—अनेक देववाद के विपरीत ईश्वर की एकता (यूनिटी ऑफ गॉड) और सर्वोपरिता (ट्रासेन्डेन्टल गॉडहुड) सर्वमान्य है और केवल आचारात्मक दृष्टिकोण से इन सप्रदायो में नाममात्र का भेद है। कही ईश्वर के गुण जोर से कहे जाते है, कही मौन रूप से स्मरण किए जाते है, कही गाकर कहे जाते है, इत्यादि। चिश्ती और कादरी सप्रदायो में सगीत का जो महत्व है वह सुहरावर्दी और नक्शबदी सप्रदायो में नही है। पिछले सप्रदायो में नृत्य और सगीत धार्मिक भावना की दृष्टि से अनुचित समझे गए है, अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सभी सप्रदायो में समान रूप से मुख्य है। इसीलिए सूफी धर्म में एक सप्रदाय के सत सरलता से किसी दूसरे सप्रदाय के सदस्य वन सकते थे।[1]

सूफीमत के सिद्धान्त मूलत वही थे जो शकराचार्य के अद्वैतवाद के थे। ब्रह्म (हक) की व्यापकता सर्वत्र है और जीव (बन्दा) उसका अश (जात) होकर उसी में शाश्वत जीवन (वफा) के लिए अपने इन्द्रियजनित अस्तित्व (नफस) को नष्ट (फना) करता है। इसकी साधना चार स्थितियो (शरीयत, तरीकत, हकीकत, और मारिफत) में होती है। मारिफत में अनलहक (मै हक—ब्रह्म हूँ) प्रत्यक्ष हो जाता है। यह साधना प्रेम (इश्क) और प्रेम की भावुकता (इश्क के खुमार) द्वारा सभव हो सकती है, जिसको नष्ट करने के लिए शैतान (माया) सदैव प्रयत्नशील है। शैतान का प्रभाव दूर करने के लिए सपूर्ण शुभ आचरणो से पूर्ण और सम्पूर्ण दुराचरणो से युक्त (अवूवक्र हरीरी के अनुसार) अथवा पवित्र जीवन, त्याग और शुभ गुण का आश्रय (शहा-वुद्दीन सुहरावर्दी के अनुसार) आवश्यक है। गजाली ने कहा है कि ज्ञान और आचरण के मिश्रण का नाम 'सूफी' धर्म है। शरीयत (कुरानोक्त) के भक्ति मार्ग और सूफी मार्ग में यही अन्तर है कि शरीयत में ज्ञान के वाद आचरण (कर्म) आता है और सूफी मार्ग के अनुसार आचरण के वाद ज्ञान।[2]

---

१. हिं० सा० आ० इ०, पृष्ठ ३०३।

२. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल साकृत्यायन, पृष्ठ १०२।

यदि भारतीय दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत का मिश्रण सूफीमत की रूपरेखा है। विशिष्टाद्वैत की प्रेममयी भक्ति ही सूफीमत में इश्क की साधना है, किन्तु उसमें कर्मकांड का स्थान नहीं है। केवल जप (जिक्र) और ईश्वर की तन्मयता में ईश्वरानुभूति (तसव्वुफ) उसका लक्ष्य है। यद्यपि रहस्यवाद के दर्शन हमें विट्ठल सम्प्रदाय के संत नामदेव के काव्य में होते हैं, तथापि उसमें उस 'खुमार' पर बल नहीं दिया गया है जो सूफीमत की विशेषता है। उसमें तो भक्ति के बल पर ब्रह्मानुभूति का आनन्द और उल्लास ही है।

उत्तर के संत सम्प्रदाय में जहाँ रामानन्द के प्रभाव से अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की संधि में रहस्यवाद की पुष्टि हुई है और उसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म से अभिन्नता स्थापित हुई है, वहाँ पवित्र आचरणमयी मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रेरणा उत्पन्न हुई और उस प्रेम में मादकता की स्पष्ट व्यंजना हुई है। इसके लिए सूफीमत के रूपकों से मिलते-जुलते रूपक भी ग्रहण किए गए हैं। संत कबीर ने एक स्थान पर लिखा है —

हरि रस पीया जानिए, जे कबहुँ न जाय खुमार।
मैंमता घूमत फिरैं, नाहीं तन की सार॥[1]

संत सम्प्रदाय में आचरण की पवित्रता तो विशिष्टाद्वैत की भक्ति, नाथ सम्प्रदाय की सहज साधना और विट्ठल सम्प्रदाय के प्रतिबिम्बित प्रभाव से भी आ सकती थी, किन्तु भक्ति में प्रेम की मस्ती और मादकता सूफीमत से ही आई हुई ज्ञात होती है। इसी प्रकार कबीर ने माया का जैसा मानवीकरण किया है, वह सूफीमत के शैतान से बहुत कुछ साम्य रखता है। इस भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत में संत सम्प्रदाय की भूमि तैयार करने के लिए निम्नलिखित धार्मिक प्रभाव देखे जा सकते हैं—

१ बौद्ध धर्म से विकसित हुई कर्मकांडों के निषेध की प्रवृत्ति लिए हुए वज्रयान की प्रतिक्रिया में उत्पन्न नाथ सम्प्रदाय की आत्मानुभव और योग की परम्परा,

२ विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति,

३ रामानन्द के प्रभाव से उत्पन्न अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत की सम्मिलित विचार-धारा में भक्ति की साधना, और

४ सूफीमत की रूपकों से संपन्न रहस्यवादमयी मादकता और माया के मानवीकरण की एक नई प्रवृत्ति।

इन चारों प्रभावों के समन्वय में ही कबीर की स्वाभाविक सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि ने संत सम्प्रदाय की रूपरेखा निर्मित की। इसमें विट्ठल सम्प्रदाय की प्रेमासक्ति को अग्रसर करते हुए धर्म की ऐसी भावना-भूमि तैयार हुई जिसमें सामान्य जनता अपने आराध्य को पहचानने में समर्थ हुई।

(ख) राजनीतिक पृष्ठभूमि

संत साहित्य के निर्माण में राजनीतिक परिस्थितियों का भी विशेष हाथ रहा। उत्तर भारत में संत सम्प्रदाय का आविर्भाव-काल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है। उस समय उत्तरी भारत राज-

---

१. कबीर ग्रन्थावली, सं० श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ १६।

नीतिक दृष्टिकोण से अत्यन्त अव्यवस्थित था । सन १३९८ (स०१४५५) में तैमूर के आक्रमण ने दिल्ली की नीवें हिला दी थी और समस्त राजनीतिक मान्यताएँ पक के जल की भाँति मलीन हो गई थी। जो राजवश दिल्ली में उठे, वे वर्षाकाल के बादलो की भाँति उठे, घुमडे, गर्जे, और पानी-पानी हो कर भूमि पर गिर पडे। उनके कुछ काल तक घुमडने और गरजने में ही सारी राजनीतिक, सामाजिक, और धार्मिक परिस्थितियाँ अस्त-व्यस्त हुईं और उनके रूपो में परिवर्तन हुए। विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी में तुगलक, सैयद और लोदी राजवशो ने उत्तरी भारत का शासन किया। मुहम्मद-बिन-तुगलक (सन १३२५—१३५१ ई० =स० १३८२–१४०८ वि०) से लेकर इब्राहीम लोदी (सन १५१८ – १५२६ ई० =स० १५७५–१५८३ वि०) तक सोलह शासक दिल्ली के तख्त पर बैठे और उन्होने अपने राज्यकाल में शासन-व्यवस्था के बदले अधिकतर आक्रमण और युद्ध ही किए। ये युद्ध निरन्तर होते रहे और राज्य-लिप्सा के साथ साथ धर्म का प्रचार भी इन युद्धो का कारण बनता रहा। इसीलिए इन युद्धो का स्वाभाविक परिणाम जनता में घोर असतोष का कारण बना। इसी असतोष ने समस्त जनता का ध्यान राजनीति से हटाकर धर्म की ओर और धर्म की मान्यताओ पर आधारित समाज की ओर आकृष्ट किया। इस समय राजनीति कटी हुई पतग की भाँति पतनोन्मुख हो रही थी। जो उसकी घिसटती हुई डोर पकड लेता, वही उसे भाग्याकाश की ऊँचाई तक खीच ले जाता। राजनीति में कोई पवित्रता नही रही। कूटनीति, हिंसा, छल त्रिशूल की भाति फेंके जाते थे और देश के वक्षस्थल में चुभ कर उसे रक्त से नहला देते थे। स्मशान में घूमते हुए प्रेतो की भाँति दिल्ली के शासक शवो पर बैठ कर आनन्द से खिलखिला उठते थे। जब शासको की सेवा में रहने वाले हिजडे और गुलाम भी सिंहासन पर अधिकार कर प्रजा के भाग्य का निर्णय करते थे तो उनके प्रति जनता के हृदय में कितनी श्रद्धा और स्वामि-भक्ति हो सकती थी। इस भाति शासक वर्ग जनता की सहानुभूति खो चुका था, जनता भी 'कोउ नृप होउ' की मनोवृत्ति से राजनीति के प्रति उदासीन थी—उदासीन ही नही, आक्रोशमयी भी हो उठी थी, क्योकि म्लेच्छ और शूद्र उसके आचार-विचार के निर्णायक थे और आज यदि 'क' शासक है, तो कल 'ख' होगा और दोनो ही उसके धर्म और प्राण के गाहक थे। किसके प्रति सहानुभूति और किसके प्रति घृणा, इसके निर्णय की बात ही नही थी। इसलिए राज्यो के उत्थान और पतन होते रहे और जनता प्रेक्षक की भाँति सारे दृश्य बिना किसी 'आह' और 'वाह' के देखती रही। दो शताब्दियो बाद भी राजनीति की विगर्हणा करते हुए तुलसीदास ने दोहावली में लिखा था—

गोड गवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कहु, केवल दड कराल॥

जब दो शताब्दियो बाद अकबर के अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण शासनकाल में यह स्थिति थी, तो आलोच्य काल की राजनीतिक स्थिति की अव्यवस्था और आतक के विषय में सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कबीर ने अपने एक पद में आध्यात्मिक रूपक रखते हुए भी तत्कालीन राजनीतिक स्थिति की ओर सकेत किया है —

एकु कोटु पच सिकदारा पचे मागहि हाला।
जिमी नाही मै किसी की बोई, ऐसा देनु दुखाला।

ऊपरि भुजा करि मैं गुर पहि पुकारिआ
तिनि हउ लीआ उवारी ॥१॥
नउ डाडी दस मुसफ धावहिं, रईअति वसन न देही।
डोरी पूरी माँपहि नाही, वहु विसटाला लेही ॥आदि
सत कवीर, रागु सूही ५

राजनीति की ऐसी हिंसापूर्ण प्रवृत्ति के कारण देश की समस्त प्रतिभा जीवन की व्यवस्था की ओर अग्रसर हुई और धर्म एव समाज के सगठन की ओर उसका ध्यान आकृष्ट हुआ। एक वात और थी। जव मुसलमान शासकों ने अपनी शक्ति का प्रयोग धर्म के प्रचार करने में किया, तो जनता में इसकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। मुसलमानी राज्य के पूर्व भी राजनीति के साथ धर्म चलता था, चाहे वह धर्म वैदिक हो या वौद्ध। किन्तु यह राजनीति सहिष्णु थी। वैदिक धर्म में विश्वास रखने वाला नरेश वौद्ध धर्म को भी जीवित रहने की सुविधा दे देता था, किन्तु अधिकाश मुसलमान शासक अपने धर्म, इस्लाम का केवल प्रचार ही नही करते थे, भारतीय धर्म के प्रतीक, मन्दिरो और विहारो को भी ध्वस्त करते थे। उन आक्रमणकारियो को दो लाभ थे। एक तो मन्दिर में सचित अपार सम्पत्ति उनके हाथ आती थी और दूसरे मूर्तियो को तोडने और काफिरो को मारने से उन्हें अपने धर्म में 'गाजी' और 'मुजाहिद' का सम्मान, प्राप्त होता था। तैमूर ने सन १३९८ ई० (स० १४५५ वि०) में भारत पर जो आक्रमण किया था, उसका उद्देश्य भी यही था। उसके सस्मरण में इस वात का स्पष्ट उल्लेख है।[1] तैमूर की शक्ति और उसकी विजय-यात्रा की सफलता वाद के सभी शासको के लिए आदर्श वन गई और उनका शासन तैमूर के पद-चिह्नों पर ही होने लगा[2]।

---

1 'My object' he wrote or caused to be written in his memoirs, 'my object in the invasion of Hindustan is to lead a campaign against the infidels, to convert them to the true faith according to the command of Mohammad (on whom and his family be the blessing and peace of god), to purify the land from the defilement of misbelief and polytheism and overthrow the temples and idols, whereby we shall be *ghasis* and *mujahids*, champions and soldiers of the faith before God

Stanely Lane-poole, Mediaeval India under Mohammadan Rule, page 155 (T Fisher Unwin Ltd).

2. Khizr Khan, the founder of the dynasty of Syyids, who claimed descent from the family of the Arabian Prophet, had prudently cast his lot with Timur when the 'noble Tartarian' invaded India and on taking the command at Delhi, in May 1414, he made no pretention to be more than Timur's deputy

—Ibid. page 161.

मुसलमानो के इस धर्म-प्रचार ने प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय धर्म को भी व्यवस्थित होने की प्रेरणा प्रदान की। दक्षिण से धर्म की जो लहर उठी थी वह आचार्यों के हाथ से निकल कर जनता के कवियो के हाथ में आ गई और वे धर्म और समाज की व्यवस्था के लिए जनभाषा में जागरण के गीत गाने लगे। दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत की परिस्थितियाँ अधिक भयावह थी, क्योकि मध्यदेश में मुसलमानी शासन का अधिक प्रभाव था। इसलिए उत्तरी भारत में धर्म के सगठन की जो रूपरेखा बनी वह दक्षिण भारत की धर्म-व्यवस्था से कुछ भिन्न होने लगी। मध्यदेश में इस समय मूर्तिपूजा के लिए सुविधा नही थी, यह मुसलमान नरेशो की असहिष्णु नीति से स्पष्ट है। कुछ साहित्यकारो का मत है कि यदि इस देश में मुसलमानो का आगमन न हुआ होता तो हमारा साहित्य नव्वे प्रतिशत उसी भाँति लिखा जाता, जिस भाँति वह वर्तमान रूप में है, क्योकि धर्म की प्राचीन परम्पराएँ इतनी सुदृढ थी कि उन्ही के प्रभाव से साहित्य का विकास होता चला गया। इस कथन में सपूर्ण सत्य नही है। मैने इस सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा था—

"जब कि सत सम्प्रदाय के पूर्व नाथमत शिव और शक्ति के व्यक्तित्व से अनुप्राणित था और बाद में वैष्णव सप्रदाय राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से स्फूर्तिमय हो उठा था, तब मध्य में स्थित निर्गुण सम्प्रदाय में ब्रह्म को साकार व्यक्तित्व से पूर्ण क्यो नही माना गया? न उसका विश्वास मूर्ति में रह सका, न अवतारो में। अन्य छोटे-छोटे कारणो के साथ एक विशेष कारण यह भी है कि सत सप्रदाय का आविर्भाव दिल्ली के लोदी वश के राज्यकाल में हुआ। लोदी वश के शासक विशेष रूप से असहिष्णु थे तथा मन्दिर और मूर्तियो को तोडने में उनकी राजनीति सक्रिय थी। पठानो के आक्रोश से सुरक्षित रखने के लिए ही सत सम्प्रदाय ने अपने धार्मिक रूप को स्थूल होने से बचाया। अपने आराध्य को 'कँवलाकन्त', 'सारगपानि', 'रघुनाथ', 'गोपाल' आदि नामो से पुकारते हुए भी सत कबीर ने उनके अवतारो का तथा उनकी मूर्तियो का घोर विरोध किया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो की परख कबीर में विशेष रूप से ज्ञात होती है। मुसलमानी धर्म के निराकार और निर्गुण ईश्वरवाद के समकक्ष ही उन्होने अपने राम की कल्पना की। इसीलिए उन्होने राम और रहीम, केशव और करीम को पर्यायवाची बना दिया और तत्कालीन विद्वेष-भावनाओ को समाप्त करने के लिए ही ऐसे विश्व-धर्म की स्थापना की जिसमें हिन्दू और मुसलमान एक साथ सम्मिलित हो सकें। तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दुओ के प्रति मुसलमानो के हृदय में तथा मुसलमानो के प्रति हिन्दुओ के हृदय में जो भयानक विक्षोभ था उसी के निराकरण के लिए कबीर ने अपने साहित्यिक अस्त्र का प्रयोग किया। इस भाँति कबीर की कविता परम्परा से उतनी अनुशासित नही है, जितनी अधिक तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो से और फिर कबीर ने परम्पराओ का घोर विरोध किया है। इसलिए यह कहना कि कबीर की कविता परम्परा की एक कडी है, सत्य की अवहेलना ही होगी।"[१]

इस भाँति यह स्पष्ट है कि सत सप्रदाय के विकास में राजनीतिक परिस्थितियो का बहुत बडा हाथ है।

---

१. साहित्य शास्त्र, रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८१-८२, भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद, १९५५।

ग. सामाजिक पृष्ठभूमि

समाज का सम्बन्ध एक ओर तो राजनीति से है, दूसरी ओर धर्म से। जब राजनीतिक परिस्थितियाँ अव्यवस्थित होती है, तो समाज के आचरण और व्यवहार में भी उच्छृखलता आ जाती है। प्राण और धन-हानि की आशका सिर के ऊपर झूलती हुई तलवार की भाँति जिस समाज के ऊपर हो, उसकी आचार-प्रवणता कैसे सुरक्षित रह सकती है ? जनता देखती थी कि अधिकाश विदेशी आक्रमणकारी अपार धन-सम्पत्ति लूट कर भोग-विलास में लीन हो जाते थे और अपने चारो ओर विलासिता का वातावरण छोड जाते थे, जिसमें समाज पतनोन्मुख हो सकता था। इसीलिए उसे सचेत करने में कबीर ने अनेकानेक साखियो की रचना की —

> कबीर कचन के कुंडल बने ऊपरि लाल जडाउ।
> दीसहि दाधे कान जिउ, जिन मनि नाही नाउ ॥४॥
> कबीर सतन की झुंगिआ भली, भठि कुसती गाउ।
> आगि लगउ तिह धउलहर जिह नाही हरि को नाउ ॥१५॥
> कबीर तासिउ प्रीति करि, जाको ठाकुर राम।
> पडित राजे भूपती, आवहि कवने काम ॥२४॥
> कबीर ऊजल पहिरहि कापरे पान सोपारी खाहि।
> एकै हरि के नाम बिनु, बाँधे जमपुर जाहिं ॥३४॥
> कबीर गरबु न कीजीऐ चाम लपेटे हाड।
> हैवर ऊपर छत्र तर ते फुनि धरनी गाड ॥३७॥
> को है लरिका बेचई लरिकी बेचै कोइ।
> साझा करै कबीर सिउ, हरि संगि बनजि करेइ ॥४३॥

उपर्युक्त दोहो में तत्कालीन वैभव की आसक्ति के प्रति व्यग्य है। कनक और कामिनी के विरोध में सत कवियो ने अपनी वाणी में जो प्रखरता उत्पन्न की है, वह साधना-पक्ष के यम और नियम के समर्थन में भले ही हो, साथ ही साथ वह तत्कालीन समाज की विलासिता की ओर भी प्रकारान्तर से प्रकाश डालती है—

> रामु बिसरिओ है अभिमान।
> कनिक कामिनी महा सुन्दरी पेखि पेखि सचु मानि ॥—केदारा ५

आलोच्य काल में वर्ग-भेद का विष भी समाज के अग अग में व्याप्त हो रहा था। इसका स्पष्ट प्रमाण कबीर की रचनाओ में मिलता है। जैसा ऊपर कहा गया है कि समाज का सम्बन्ध धर्म से भी है और धर्म ने समाज की व्यवस्था में बडा कार्य किया है। धर्म के क्षेत्र में जाति की सकीर्णता हटाने का कार्य बौद्ध धर्म ने किया था। महायान में तो सभी जाति और वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे। बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया में वैदिक धर्म ने समाज की व्यवस्था में जाति-बन्धन को और अधिक दृढ़ कर दिया। कुमारिल और शकर ने जब यज्ञ की प्रतिष्ठा पुन स्थापित की तो ब्राह्मणो का महत्व और भी बढ गया। किन्तु सनातन धर्म तब तक लोकप्रिय नहीं हो सका, जब तक कि जाति-बन्धन

है। किन्तु यह होते हुए भी युग के प्रभाव के कारण साहित्य में कुछ विशेप रजना होती ही है जो समकालीन परिस्थितियो से अपना रूप ग्रहण करती है।

सत साहित्य की मूल प्रवृत्ति खोजते हुए हमारी दृष्टि सिद्धो और नाथो के साहित्य तक पहुँचती है। वज्रयानी सिद्धो ने जीवन के प्रति सहज अनुभूति को प्रधानता दी। उन्होने अन्ध-विश्वासो की परपरा जड मूल से उखाडने की चेष्टा की। तिल्लोपाद ने लिखा—

[1]सहजे चीअ विसोहहु चग।
इह जम्महि सिद्धि (मोक्ख भग) ॥१०॥

सहज से चित्त विशुद्ध करो। इस जन्म में सिद्धि और मोक्ष प्राप्त करोगे।

[2]तित्थ तपोवण म करहु सेवा।
देह सुचिहि ण सान्ति पावा॥१९॥

तीर्थ और तपोवन का सेवन मत कर। देह मात्र पवित्र करने से तू शान्ति प्राप्त न कर सकेगा।

[3]आवइ जाइ कहविण णाइ।
गुरु उवएसें हिअहि समाइ॥

इसी प्रकार सरहपाद ने भी सामान्य तर्क से कर्मकाड और परपराओ का परिहास किया है—

[4]जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमु पाडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्वह॥

यदि नग्न रहने से ही मुक्ति होती है तो कुत्ते और सियार की मुक्ति क्यो न होगी ? यदि रोमोत्पाटन में सिद्धि है तो युवती के नितम्वो को सिद्धि क्यो न मिलेगी ?

सत सप्रदाय के कवियो, विशेषतया कवीर, ने भी यही दृप्टि ग्रहण की है—

नगन फिरत जौ पाइअै जोगु।
वन का मिरग मुकति सभु होगु॥
किआ नागे किआ वाधे चाम।
जव नही चीनसि आतम राम॥
मूंड मुंडाए जो सिधि पाई।
मुकती भेट न गईआ काई[5]॥

---

१. दोहाकोश, वागची-सपादित (सन १९३८ ई०), भा० १, पृ० ४।
२ वही, पृ० ५।
३ वही, पृ० ७।
४ वही, पृ० १६।
५ सत कवीर, पृ० ६।

अतर केवल यही था कि सिद्धो का सघर्ष प्रधान रूप से जैनो से था, जो सघर्ष करना नही जानते थे तथा कबीर का सघर्ष वैदिक धर्म के अन्तर्गत उत्पन्न विविध सम्प्रदायो से था, जो पारस्परिक द्वेषाग्नि में ही पोषित हो रहे थे। इसलिए कबीर का स्वर अधिक प्रखर और उत्तेजनापूर्ण था। यो सहज, गुरु, उपदेश, शून्य, निरजन कबीर ने ज्यो के त्यो सिद्धो की विचारधारा मे ही ग्रहण किए है, जो नाथ सम्प्रदाय मे भी प्रवेश पा गए थे। शैली की दृष्टि से भी सिद्धो की 'सन्धा भाषा' में जो 'कूट' और प्रतीक है, उन्ही मे कबीर के रूपक और उल्टवासियो का निर्माण हुआ है। डोम्बिपा का चर्यापद है—

गगा जऊना मांझे रे वहई नाइ।
तहि बुडिली मातगि पोइया लीले पार करेइ।
वाहुत डोम्वी वाहलो डोम्वी वाटत भईल उछारा।
सद्गुरु पाअ पए जाईव पुणु जिण ऊरा॥[1]

कवीर ने लिखा है—

गगा के सग सलिता विगरी।
सो सलिता गगा होइ निवरी॥
विगरिओ कवीरा राम दुहाई।
साचु भइओ अन कतहि न जाई।
सतन मगि कविरा विगरिओ
सो कवीर रामै होइ निवरिओ॥[2]

इस भांति यह स्पष्ट है कि सिद्ध साहित्य की विचारधारा का सत साहित्य पर विचार और शैली दोनो ही दृष्टियो से वडा प्रभाव है। यह प्रभाव, सभव है, नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से आया हो। नाथ सम्प्रदाय ने सिद्ध सम्प्रदाय का सिद्धान्तगत दृष्टिकोण तो स्वीकार किया, किन्तु आचारगत दृष्टिकोण को घृणा की दृष्टि से देखा। सिद्ध सम्प्रदाय में नारी के प्रति जो आसक्ति थी, वह नाथ सम्प्रदाय में विरक्ति बन गई और साधना का परम लक्ष्य 'महासुह' शिव और शक्ति की प्राप्ति की 'निरति' और 'महारस' में परिणत हो गया।

नाथ सम्प्रदाय

शैव सम्प्रदाय मे प्रभावित होने के कारण नाथ सम्प्रदाय मे 'शिव' आदिनाथ के रूप में मान्य हुए। इस उपासना मे योग का विशेष महत्व था। इस भांति सिद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव लेकर नाथ सम्प्रदाय में कुछ विशेषताए आई, जीव और ब्रह्म की स्थिति हुई और उपासना में सदाचार और योग का अभ्यास माना गया।

---

१ दोहाकोश, पृ० १२१।
२ संत कवीर, पृ० २०१।

जीव और ब्रह्म—जीव सीव सगे वासा। वधि न षाइवा रुघ्र मासा।
हस घात न करिबा गोत। कथत गोरव निहारि पोत॥[१]

योग— इकवीस सहस षटसा आदू पवन पुरिप जपमाली।
इला प्यगला सुषमन नारी अहनिसि वहै प्रनाली॥[२]

सत सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध नाथ सप्रदाय से है। सत सप्रदाय ने सिद्ध सप्रदाय से आई हुई नाथ सप्रदाय की विचारधारा मूल रूप से ग्रहण की। भक्ति आन्दोलन के महासागर में भी योग का द्वीप सतो का विश्राम-स्थल बना रहा। नाथ सप्रदाय की आचार-निष्ठा, विवेक-सम्पन्नता, अधविश्वासो को तोडने की उग्रता एव परम्परागत कर्मकाडो की निरर्थकता सत सप्रदाय में सीधी चली आई। यहाँ तक कि उल्टवासियो की कुतूहलजनक शैली भी सतो को नाथ सप्रदाय से ही प्राप्त हुई। अनेक प्रसगो और उनकी अभिव्यक्ति मे भी साम्य है। उदाहरण के लिए कुछ पक्तियाँ देखिए—

गोरख	कबीर
१ अठसठि तीरथ समदि समावै[३]	१ लउकी अठसठ तीरथ न्हाई।[४]
२ अरधै जाता उरवै धरै।[५]	२. अरधइ छाडि उरध जउ आवा।[६]
३ प्यड पडै तो सतगुर लाजे।[७]	३ पिंडु परै तउ प्रीति न तोरउ।[८]
४ काचै भाडै रहै न पाणी।[९]	४ काचे करवै रहइ न पानी।[१०]
५ यहु मन सकती यहु मन सीव। यह मन पाच तत्व का जीव। यहु मन ले जै उनमनि रहै। ता तीन लोक की बाता करै॥[११]	५ इहु मनु सकती इहु मन सीउ। इहु मनु पच तत को जीउ। इहु मनु ले जउ उनमनि रहै। तउ तीनि लोक की बातै कहै॥[१२]

---

१. गोरखवानी, स० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल, पृष्ठ ७३।
२ वही, पृष्ठ ९५।
३ वही, पृष्ठ ५।
४ सत कवीर, पृष्ठ १३७।
५. गोरखवानी, पृष्ठ ७।
६ सत कवीर, पृष्ठ ८१।
७ गोरखवानी, पृष्ठ १२।
८ सत कवीर, पृष्ठ १२५।
९ गोरखवानी, पृष्ठ १४।
१०. सत कवीर, पृष्ठ १४८।
११ गोरखवानी, पृष्ठ १८।
१२ सत कवीर, पृष्ठ ८२।

मभव है, यह साम्य सप्रदायो के शिष्यो के परस्पर सम्वन्ध के फलस्वरूप हो, किन्तु समान विचारो की अभिव्यक्ति में कुछ समानता हो ही मकती है। इसी भाँति उल्टवासी की पक्तियाँ भी देखिए—

गोरख— चीट्या परवत ढाक्या रे अवधू,
गाया वाघ विडार्या जी।
मुसलै ममदा लहर मचाई।
मृघा चीता मार्या जी।।[1]

कवीर— कहत कवीर सुनहु रे सतहु कीटी परवत खाइआ।
कछूआ कहै अगार भिलोर उलूकी मवदु मुनाइआ।।[2]

सत सप्रदाय की विचारधारा के निर्धारण में नाथ सप्रदाय का विशेष याग है। सत सप्रदाय की भाव-भूमि पर निर्गुण उपासना ने एक सुदृढ दुर्ग का निर्माण किया जो विदेशी धर्म-प्रचार के कठिन अस्त्रो मे भी नही तोडा जा सका। कवीर ने नाथ मप्रदाय से स्फूर्ति ग्रहण कर के भी अपनी साधना को एक स्वतन्त्र रूप दिया। उन्होंने नाथ मप्रदाय में मान्य शकर (शिव) को भी अनेक स्थलो पर स्वीकार नहीं किया। एक उदाहरण देखिए—

मउली धरती मउलिआ अकासु।
घटि घटि मउलिआ आतम प्रगासु।।
राजा रामु, मउलिया अनत आई।
जह देखहु तह रहिआ ममाई।।
दुतीआ मउले चारि वेद।
सिम्रिति मउली सिउ कतेव।।
सकरु मउलिओ जोग घिआन।
कवीर को मुआमी सभ ममान।।[3]

यही नाथ सप्रदाय से भिन्न मत मप्रदाय की निर्गुण उपामना है।

विट्ठल सप्रदाय

ऊपर इस वात का उल्लेख हो चुका है कि यह सप्रदाय दक्षिण में महाराष्ट्र सतो की भक्ति-भावना से समृद्धिशाली वना। इस मप्रदाय मे ज्ञानेश्वर और नामदेव का प्रमुख स्थान है। मत मप्रदाय पर नामदेव का विशेष प्रभाव पडा। चौदहवी शताब्दी ई० मे दक्षिण में भी अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर के आक्रमण ने मुसलमानो का आतक वटा। इसी चौदहवी शताब्दी में नामदेव का आविर्भाव हुआ। उनकी मृत्यु सन १३५० (स० १४०७) में हुई।

---

१ गोरखवानी, पृष्ठ १५४।
२ सत कवीर, पृष्ठ ९६।
३ वही, पृष्ठ २३०।

नामदेव ने ५६ वर्ष मुसलमानो के आतक का अनुभव किया। इसलिए उनकी दृष्टि भी मूर्तिपूजा से अधिक मानसिक भक्ति और नाम-स्मरण की ओर रही। नामदेव की विचार-धारा और उनके आराध्य विट्ठल की स्पष्ट छाप सत कबीर पर है। उदाहरण के लिए एक पद लीजिए—

नामदेव— जत्र जाऊ तत्र वीठुल भैला।
बीठुलियो राजि राम देवा॥

आणिलै कुभ भराय लै उदिक, बाल गोबिन्दहि न्हाण रचौ।
पहली नीर जु मछ बिटाल्यौ, जूठनि भैला काइ करौ॥
आणि लै केसरि सूकडि समसरि, बाल गोबिन्दहि षौलि रचौं।
पहलै वास भव्यगा लीन्ही, जूठनि भैला कहा करू।
आणिलै पहप गुथाइलै माला, बाल गोविन्दहि माल रचौं।
पहली बास जु भवरा लीन्ही, जूठनि भैला कहा करूँ॥
आणि लै घृत जोइ लै बाती, बाल गोविन्दहि जोति रचौ।
पहली जोति पतगौ लीन्ही, जूठनि भैला कहा करौ॥
आणि लै अग्र ठोइलै धूपा, बाल गोविन्दहि बास रचू।
पहली बास नासिका आई, जूठणि भैला कहा करौं।
आणि लै तन्दुल राधिलै षीरो, बाल गोविन्दहि भोग रचौं।
पहली दूध जो वछा विटाल्यौ जूठनि भैला कहा करौ॥
आउ तौ **विठुल** जाउ तौ **विठुल वीठुल** व्यापक माया लौ।
नामै का चित्त हरि सौ लागा, तातें परम पद पाया लो।७।१०॥[1]

कबीर— ग्रिहु तजि बनखड जाइअै चुनि खाइअै कदा।
अजहु विकार न छोडई पापी मनु मदा॥
किउ छूटउ कैसे तरउ भव जल निधि भारी।
राखु राखु मेरे **वीठुला**, जनु सरनि तुम्हारी॥[2]

पन्द्रहवी शताब्दी में उत्तर भारत में नामदेव और ज्ञानेश्वर का नाम विशेष प्रसिद्ध था। दोनो ने साथ साथ उत्तर भारत का पर्यटन भी किया था। कबीर ने अपने एक पद में नामदेव का नाम श्रद्धा से स्मरण किया है—

गुर प्रसादी जैदेउ नामा।
भगति कै प्रेमि इनही है जाना॥[3]

---

१. नामदेव के पद, जोधपुर राज्य पुस्तकालय।
२ सत कबीर, पृष्ठ १५४।
३. वही, पृष्ठ ३९।

विशिष्टाद्वैत का भक्ति सप्रदाय

यद्यपि सत सप्रदाय नाथ सप्रदाय के विकास की एक स्वतत्र कडी था और योग का अभ्यास ही उसकी साधना का अग बन गया था, तथापि इस युग में भक्ति की जो धारा उत्तर भारत में लहरा उठी थी, वह सत सप्रदाय की साधना का अग बन कर ही रही। यही नहीं, भक्ति का महत्व इतना अधिक बढ गया था कि योग की कष्टसाध्य क्रियाएँ नाम मात्र के लिए साधना के अन्तर्गत रह गई थीं। एकमात्र भक्ति और उसके अन्तर्गत प्रेम की विश्वासमयी अनुभूति ही साधना की प्रमुख मान्यता बन गई थी। रामानन्द के प्रभाव से राम और उनकी भक्ति का प्रसार इतना अधिक था कि सत सप्रदाय में भी राम और उनकी भक्ति का रूप स्वीकार किया गया। यह बात दूसरी है कि राम का नाम ही सत सप्रदाय में मान्य हुआ, राम का व्यक्तित्व नहीं। राम के ब्रह्म रूप को विस्तार देने के लिए एक ओर अवतार और मूर्ति का खडन किया गया और दूसरी ओर राम के अनेकानेक नाम तथा उनके निर्गुण रूप पर अधिक बल दिया गया। यह कुतूहल की बात अवश्य है कि कबीर ने अपने ब्रह्म के लिए ऐसे नाम भी स्वीकार किए जिनका सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूपो या अवतारो से है, किन्तु उनसे उनका अभिप्राय एकमात्र निर्गुण ब्रह्म से है—

उदाहरण के लिए सारिंग पानी,[1] माधउ,[2] हरि,[3] रघुराइआ,[4] बनवारी,[5] मधुसूदन,[6] मुकुन्द,[7] नारायण,[8] गोपाल[9] आदि अनेक नाम पदो में प्रयुक्त किए गए है। इसका एकमात्र कारण भक्ति का प्रवाह था जिसमे ये नाम जन-जीवन में रत्न-राशियो की भाँति बिखर गए थे और सत सप्रदाय उन नामो की अवहेलना नही कर सका। सत सप्रदाय द्वारा भक्ति ग्रहण करने के तीन प्रमुख कारण हो सकते हैं—

१ नाथ सप्रदाय से आया हुआ योग मार्ग केवल सप्रदाय के शिष्यो तक सीमित था। वह धार्मिक दृष्टि से गोपनीय और रहस्यमय होने के कारण सर्वसाधारण को सुलभ नहीं था। साथ ही उसकी क्रियाएँ कष्टसाध्य भी थी।

२ सूफी सप्रदाय की 'इश्क' (प्रेम) की साधना पीरो और सतो द्वारा प्रचारित की जा रही थी, जो भक्ति के समकक्ष ही थी।

३ विट्ठल सप्रदाय तथा राम और कृष्ण सप्रदायो की भक्ति भावना, जो जन-जन में व्याप्त हो रही थी।

इस भाँति सत सप्रदाय निर्गुण ब्रह्म का समर्थक होते हुए भी भक्ति की, जो सगुण ब्रह्म की अपेक्षा रखती है, प्रेममयी आसक्ति की अवहेलना नही कर सका। कबीर ने एक स्थान पर योग की निन्दा करते हुए भक्ति की इस प्रेममयी अनुभूति का सकेत किया है—

जोगी कहहि जोगु भल मीठा, अवरु न दूजा भाई।
रुडित मुडित एकै सबदी, एइ कहहि सिधि पाई॥

१—८ देखो सत कबीर, क्रमश रागु गउडी ३३, २, ३, ६, १८, २८, ५८, ५८।
९. रागु आसा १५।

हरि बिनु भरमि भुलाने अधा।
जा पहि जाउ आपु छुटकावनि ते वाधे बहु फधा॥
तजि बावे दाहने विकारा, हरि पदु द्रिडु करि रहिअै।
कहु कबीर गूंगे गुड खाइआ, पूछे ते किआ कहीअै॥[1]

इसी भक्ति की प्रेमासक्ति में कबीर का रहस्यवाद पोषित हुआ।

सूफी सम्प्रदाय

सत साहित्य के प्रवर्तक कबीर मुसलमान थे, साथ ही साथ वे पर्यटनशील भी थे। मुसलमान होते हुए भी वे हिन्दू और मुसलमानो में कोई भेद नही मानते थे। इसलिए जब मुसलमानो के असहिष्णु समाज ने सूफीमत को प्रश्रय दिया, तो कबीर ने भी भावानुकूल सूफीमत के तत्वो को ग्रहण किया और उन्हे अपनी साधना-पद्धति में जोड दिया। मेरी दृष्टि में सूफी विचारधारा के जो तत्व सत सम्प्रदाय को प्रभावित कर सके, उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं—

१ आचार की पवित्रता, 'सुफ' (ऊन) की भाँति पवित्र जीवन जिस पर आध्यात्मिकता का पूर्ण रग उभर सके।

२ प्रेम और उसकी मादकता, जिससे प्रतीको के माध्यम में रहस्यवाद (तसव्वुफ) की अवतारणा हो सके।

३ माया का मानवीकरण, जो शैतान के समकक्ष ही है। जिस प्रकार शैतान बन्दे को सही रास्ते से हटा कर 'नफ्सपरवरी' (इन्द्रियासक्ति) की ओर ले जाता है, उसी प्रकार माया भी भक्त को ईश्वरीय प्रेम से हटा कर ससार के क्षणिक आकर्षणो के जाल में फँसा देती है।

सूफीमत की जो विचार,-शैली थी उसका स्पष्ट प्रभाव कबीर की अनेक रचनाओ पर है। एक रचना देखिए—

वेद कतेब इफतरा भाई, दिल का फिकरु न जाइ।
टुकु दम करारी जउ करहु, हाजिर हुजूर खुदाइ॥
वदे खोजु दिल हर रोज ना फिरु परेसानी माहि।
इह जु दुनीआ सिहरु मेला दसतगीरी नाहि॥
दरोगु पडि पडि खुसी होइ वेखबर बादु वकाहि।
इकु सचु खालकु खलक मिआने सिआम मूरति नाहि॥
अममाने म्याने लहग दरीआ गुसल करदन वूद।
करि फकरु दाइम लाइ चसमे जहा तहा मउजूद॥
अलाह पाक पाक है सक करउ जे दूसर होइ।
कवीर करम करीम का उहु करै जानै सोइ॥[2]

सूफी सम्प्रदाय ने कबीर को अनेकानेक प्रतीक दिए जिनसे कबीर का तत्व-चितन और रहस्यवाद पुष्ट हुआ।

उपर्युक्त सम्प्रदायो और उनके साहित्य के विवेचन मे यह स्पष्ट है कि कबीर पर परंपरागत

---

१ सतकबीर, पृ० ५४। २ वही, पृ० १४६।

विचारधारा का प्रभाव तो अवश्य पडा, किन्तु वह प्रभाव युगानुकूल सशोधनो के साथ था। कवीर ने किसी सप्रदाय का अन्धानुकरण नही किया। उन्होने जहाँ अनेक परम्पराओ को विवेक के साथ सशोधित रूप में ग्रहण किया, वहाँ उन्होने अनेक परम्पराओ पर कठोर आघात भी किए। अत. सत साहित्य में परम्परा वही तक है, जहाँ तक जीवन में कर्मकाडरहित निर्मल प्रेम से ईश्वर की सहजानुभूति प्राप्त होती है।

संतकाव्य का आविर्भाव

राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियो तथा परपरागत प्रभावो पर विचार कर लेने पर सत साहित्य के आविर्भाव की सभावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। परपराओ के उचित सचयन तथा परिस्थितियो की प्रेरणा में धर्म ऐसा रूप खोज रहा था कि वह केवल आचार्यों की वाणियो में सीमित न रह कर जन-जीवन की व्यावहारिकता में उतर सके और ऐसा रूप ग्रहण करे कि वह अन्य धर्मों के प्रसार में समानान्तर वहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख सके। वह रूप सहज और स्वाभाविक हो तथा अपनी विचारधारा में सत्य से इतना प्रखर हो कि विविध वर्ग और विचार वाले व्यक्ति अधिक से अधिक सख्या में उसे स्वीकार कर सके और उसे अपने जीवन का अग वना लें। स्वामी रामानन्द ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में धर्म को वहुत वडी सुविधा दे भी दी थी। उन्होने प्रमुख रूप से वारह शिष्य वनाए—

अनतानद, कवीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि।
पीपा, भावानन्द, रैदासु, धना, सेन, सुरसरि की धरहरि॥[1]

इन शिष्यो में कवीर, पीपा, रैदास, धना और सेन सत और कवि दोनो रूपो में प्रसिद्ध हैं। इनमें कवीर अग्रणी हैं। अधिकाश शिष्य समाज के निम्नवर्ग में से थे जिनका शास्त्रीय ज्ञान 'नहीं' के वरावर था, किन्तु जो जीवन के अनुभव और सघर्षों से जीवित हो उठे थे। ये धर्म को ऐसा रूप दे सकते थे जिसमें समाज के निम्न से निम्न स्तर के लोग विश्वासप्रवण वन सकते थे और अपने जीवन में धर्म के मूल तत्वो की प्रतिष्ठा कर सकते थे।

एक वात और भी थी कि स्वामी रामानन्द अपनी धार्मिक दृष्टि में इतने उदार थे कि उन्होने अपने शिष्यो को स्वतत्र दृष्टिकोण अपनाने की पूरी छूट दे दी थी। यह आवश्यक नही था कि उनके शिष्य साकारोपासना में ही विश्वास रक्खें। शिष्यो के लिए यही पर्याप्त था कि वे धर्म के वास्तविक महत्व को हृदयगम कर लें और भक्ति की सहज अनुभूति प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए, पीपा (स० १४८२ वि० = १४२५ ई०) जो प्रथम दुर्गा के उपासक थे और वाद में रामानन्द के शिष्य हुए, अपनी साधना में निर्गुणोपासना की ही दृष्टि रखते हैं—

हरि का मरम न जानै कोई।
जैसा भाव तिनी सिध होई॥
घर वैठा तीरथ कूँ ध्यावै, तीरथ जाइ पाछें पछितावै।
तिहि तीरथ कूँ चलि मेरी जीइरा पुनरपि जन्म न आवै॥

---

१. भक्तमाल, नाभादास, पृष्ठ ४६१-४६२।

तीरथ करि करि जगत भुलाना षोज्या तिन हरि पाया।
काष्ट पषान सबन में कैसो, अैसा त्रिभुवनराया।।
विद्या अषिर देव दिज पूजा इहि बेसास बिगूता।
पीपा कहै प्रगट प्रमेस्वर जन जागै जग सूता।।[१]

कबीर के सिवाय रामानन्द के ये शिष्य उत्तर भारत में निर्गुण सप्रदाय के अग्रदूत थे। किन्तु निर्गुणोपासना का कटा-छँटा सिद्धान्त और विवेचन उनके पास नही था। रैदास, पीपा, धना, आदि निर्गुणोपासना का समर्थन करते हुए भी कभी कभी मूर्ति-पूजा, छापा, तिलक-चदन आदि में विश्वास रखते थे। हम उन्हे निर्गुणोपासना और सगुणोपासना की सधि के सत मान सकते है। उनके पास भक्ति की ही भावुकता है। रैदास कहते हैं —

जो तुम तोरौ राम मैं नही तोरौं।
तुम सूँ तोरि कौन सूँ जोरौं।।
तीरथ बरत न करू अदेसा। तुम्हारे चरन कँवल क भरोसा।
जहा जहा जाउँ तुम्हारी पूजा। तुम से देव और नही दूजा।।
मैं अपनौ मन हरच सूँ जोरचौं। हरि सू जोरि सबन सू तोरचौं।
सब परिहरि तुम्हही से आसा। मन क्रम बचन कहै रैदासा।।[२]

इन सतो की वाणियो में धर्म अथवा साधना की शास्त्रीय व्याख्या नही है, जीवन में डूबी हुई विवेकसपन्नता अवश्य है। इस भाँति लौकिक और धार्मिक दृष्टिकोण का युक्तिसगत सतुलन इस सतकाव्य के आरभिक साहित्य में है। जीवन के सत्य की अभिव्यक्ति सीधी-सादी अलकार-विहीन भाषा में है। उसमें वाटिका-सौन्दर्य नही, वनराजि की प्रकृति-श्री है।

इस वर्ग के साहित्य की प्रमुख विशेषता यह है कि वह किसी विशिष्ट धार्मिक सप्रदाय से मान्यता लेकर अग्रसर नही हुआ। फिर भी इस साहित्य में विचारगत साम्य और एकता है। इस वर्ग के सभी कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति थे, नाथपथियो की भाँति योगी नही। यही कारण है कि इन कवियो में जीवनगत अनुभव की सर्वांगीणता है। यद्यपि इनकी वाणियो में कही-कही नाथ सप्रदाय से आए हुए हठयोग के प्रतीको की योजना है, तथापि वह केवल तत्व-निरूपण के लिए ही है। सामान्य दृष्टि से यह साहित्य जनसाधारण के लिए सरल भाषा में लिखा गया है। उसे समझने के लिए पुस्तक ज्ञान की उतनी आवश्यकता नही, जितनी वास्तविक अनुभूति की है। यह स्मरणीय है कि नाथ सप्रदाय की पद्धति शास्त्रीय थी और साधना व्यक्तिगत थी। सत सप्रदाय की पद्धति स्वतत्र और साधना सामाजिक थी।

सत सप्रदाय और उससे सम्बन्धित साहित्य का आविर्भाव सत कबीर से माना जाता है। कबीर के पूर्ववर्ती या समकालीन सत या तो अहिन्दी भाषा-भाषी थे या अत्यन्त साधारण कोटि

---

१. वाणी गुटिका नौ हजार (हस्तलिखित पोथी, सवत १८४२, पृष्ठ १८८)।
२. वही, रैदास की वाणी।

के थे। अत उत्तर भारत में सत सम्प्रदाय को प्रतिष्ठित करने का श्रेय इतिहास और साहित्य ने कबीर को ही दिया है। सत साहित्य का आविर्भाव-काल विक्रम की पन्द्रहवी शताब्दी है।

कबीर का महत्व

कबीर के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालने वाली सामग्री दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है। एक तो कवि द्वारा आत्म-निर्देश तथा सतो द्वारा कबीर के उल्लेख, जिनमें पीपा, रैदास, जगजीवनदास आदि की 'बानियाँ' तथा सत अनन्तदास कृत 'कबीर परची' और सत चददास कृत 'भक्त विहार' आदि सम्मिलित हैं, दूसरे वर्ग में ऐतिहासिक प्रमाणो एव इतिहास-लेखको के निष्कर्ष हैं। इनके अनुसार जो तथ्य हमें प्राप्त होते हैं, वे हैं—

१. वे जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे।

२. वे गुरु रामानन्द के शिष्य तथा बघेल राजा वीरसिंह देव के समकालीन थे।

३. सिकन्दर लोदी का काशी में आगमन हुआ था और सम्भवत उसने कबीर को दडित किया था।

इनके जन्म और मृत्यु की तिथियो में अभी तक मतभेद है। जन्म तिथि सम्भवत स० १४५५ वि० (सन १३९८ ई०) और मृत्यु तिथि स० १५५१ वि० (सन १४७४ ई०) प्रामाणिकता के अधिक पक्ष में है।

इस देश के प्रमुख सतो में सत कबीर की मान्यता असदिग्ध है। उन्होंने जीवन के चिरतन सत्य को इतनी सरल और सुबोध वाणी में व्यक्त किया है कि वह हमारे प्रतिदिन के अनुभव का सहज रूप हो गया है। उन्होंने इतने व्यापक दृष्टिकोण से धर्म के मर्म को समझा है कि उनमें सम्प्रदाय या वर्ग की विभाजक रेखाएँ मिट गई हैं और मानवता अपने छिन्न-भिन्न हुए जाति-विभेदों को भूल कर सम्बद्धता से जीवन की इकाई बन गई है। उसमें हिन्दू, मुसलमान, एव ब्राह्मण और शूद्र अपने कर्मकाड और आडम्बर को छोडकर एक पक्ति में खडे हो गए हैं और अपनी व्यक्तिगत महानता या हीनता का परित्याग कर पारस्परिक समता और एकता के प्रेम-पाश में आबद्ध हो गए हैं। कबीर ने धर्म के मूल सिद्धान्तो की तुला पर मानवता को तौल कर सृष्टि के मध्य में उसका वास्तविक मूल्य निर्धारित किया है।

कबीर ने सास्कृतिक दृष्टि से जो सब से प्रमुख कार्य किया, वह यह कि उन्होंने विचारो के प्रतिपादन की शैली सहज और सुबोध रक्खी। धर्म के गूढ और जटिल सिद्धान्त जो भाषा और साहित्य के कठोर नियन्त्रण में सरलता से समझ में नही आते थे और जिनके लिए सतत अभ्यास करना पडता था तथा जो केवल पडितो और विद्वानो के विचार-सम्पत्ति बने रहते थे, उन्हें कबीर ने जनता की भाषा और भाव-राशि में सजाकर बोधगम्य बना दिया। कोई भी आन्दोलन या धार्मिक अभियान तब तक सफल नही हो सकता जब तक कि वह जनता का मनोबल प्राप्त नही कर लेता। जनता का जागरण ही राष्ट्र का जागरण है। जनसाधारण की बातो में तत्व की बडी बात कह देना महाकवियो का ही काम है।

ईश्वर ससार के कण-कण में व्याप्त है। भौतिकवाद का बडे से बडा आलबन लेकर भी इस ईश्वर की अनुभूति प्राप्त नही की जा सकती। उसके समझाने के लिए तो सूक्ष्म बुद्धि की

आवश्यकता है । अहकार के विनाश की अपेक्षा लघु होने में है । जो अपने को जितना छोटा समझेगा, वह ईश्वर के उतने ही समीप होगा, वही उस रस को जान सकता है जो रसिक है । यह बात कबीर ने जिस सरल ढग से कही है, वह निम्नलिखित साखी में है—

हरि है खाडु रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होइ कै खाई।।[1]

हरि तो खाड की तरह है जो ससार रूपी रेत में बिखर गया है । मद से उन्मत्त मन रूपी हाथी उसे चुन नही सकता । कबीर कहते है कि गुरु ने मुझे अच्छी युक्ति बतला दी है । मैं सूक्ष्म और सहज शक्ति से चीटी बनकर उस खाँड को खा रहा हूँ ।

हाथी, चीटी और खाँड प्रतिदिन के अनुभव के विषय है, जिन्हे अशिक्षित ग्रामीण भी समझ सकता है । एक बात और है । कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नही रहने दिया । जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है । जिस धर्म के लिए जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति एव यति में परिवर्तन करना पडे, उसे हम धर्म की सज्ञा नही दे सकते। अत धर्म के नाम पर जो आडम्बर और कर्मकाड से परिपूर्ण दम्भ फैला हुआ है, वह धर्म नही है। धर्म तो जीवन की सहज और पवित्र अनुभूति का ही दूसरा नाम है । अत धर्म जीवन में ही है, हृदय में ही है, उसकी पूर्ति के लिए हमें तीर्थाटन की आवश्यकता नही है। माला तो हमारी साँस की है, जिसमें न काठ है, न गाँठ। वह तो स्वाभाविक क्रम से चलती है, उसी में हम ईश्वर का नाम पिरो सकते हैं और यही माला जीवन भर चलती है, कभी पुरानी नही होती, टूटती भी नही। अगर टूटती है तो जीवन के साथ ही टूटती है । इस भाँति कबीर ने जनता में जिस धर्म का प्रतिपादन किया वह मानव-जीवन का स्वाभाविक धर्म है। उसके लिए धर्म के अभिचार की आवश्यकता नही। जीवन और धर्म एक है, उसमें शास्त्र की मध्यस्थता नही है ।

धर्म का प्रधान अग विश्वास और भक्ति है । विश्वास का सम्बन्ध ईश्वर की सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता से है और भक्ति का सबन्ध भक्त की निश्चल प्रेरणा और प्रेमानुरक्ति में है ।

पन्द्रहवी शताब्दी वि० में जब सत कबीर का आविर्भाव हुआ, उस समय काशी में रामानन्द का प्रभाव अधिक था। यो तो श्रीरामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में होने के कारण रामानन्द श्री सप्रदाय के अतर्गत विशिष्टाद्वैत के समर्थक थे, किन्तु स्वय अपने सप्रदाय में मान्य 'अध्यात्म रामायण' के दृष्टिकोण से वे अद्वैतवाद में भी विश्वास रखते थे। इस प्रकार रामानन्द जी से विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद दोनो को बल मिल रहा था। पूर्व में गोरखनाथ का शैव सप्रदाय भी हठयोग की क्रियाओ में प्रतिफलित हो रहा था। झूँसी, मानिकपुर और जौनपुर में सूफियो की प्रधान शाखाएँ सूफीमत के कादरी सप्रदाय का प्रचार कर रही थी। समकालीन होने के कारण कवीर की विचारधारा भी व्यक्त और अव्यक्त रूप से इन सप्रदायो से प्रभावित हो रही थी, किन्तु इन प्रभावो के होते हुए भी कवीर की विचार-दृढता और मौलिकता में कोई अन्तर नही आ सकता था।

---

१. सत कवीर, पृष्ठ २८२।

इसका कारण था। कबीर शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभव-ज्ञान को अधिक महत्व देते थे। उनका विश्वास संतों के सत्संग में था और वे संतों की अनुभवगम्य विचारधारा में अवगाहन करना अधिक उचित और विश्वसनीय समझते थे। जो कोई भी धर्म उनके समक्ष आता था उसे वे अपने अनुभव और सत्य की तुला पर तौलते थे और उसके अनुभूति-सत्य को ग्रहण कर अपनी विचारधारा के अनुसार उसका प्रतिपादन करते थे। उन्होंने अद्वैत से तो इतना ग्रहण किया कि ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं और जो कुछ भी दृश्यमान है, वह माया है, मिथ्या है, पर उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भाँति पथभ्रष्ट करने वाली समझा। उनका ईश्वर एक, निराकार और निर्विकार है, वह अजन्मा है, अरूप है। उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता पर प्रश्न-चिह्न लगाना है। किन्तु ऐसे ईश्वर की, जो अरूप और निर्गुण है, भक्ति कैसे हो सकती है? भक्ति तो व्यक्तित्व की अपेक्षा रखती है। वह साकार की भावना चाहती है, किन्तु कबीर का ब्रह्म तो निराकार है। अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति की संभावना कैसे हो सकती है? किन्तु कबीर को तो जनता में इस निराकार, सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म का उपदेश करना था, लोगों के मन में उसके प्रति अनुरक्ति और भक्ति जागरित करना था। इस कठिनाई को किस प्रकार हल किया जाय! कबीर ने इसके लिए प्रतीकों का—जीवनगत सम्बन्धों के प्रतीकों का आश्रय लिया। वे कर्मकांड में विश्वास तो रखते नहीं थे, अतः मूर्ति और अवतार के लिए उनके हृदय में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने अपने ब्रह्म से मानसिक सम्बन्ध जोड़ा और ब्रह्म को अनेक प्रकार से अपने समीप लाने की विधि सोची। उन्होंने ब्रह्म को गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूप में मानने की शैली अपनाई। ब्रह्म का गुरु रूप देखिए—

> गुरु गोविंद तो एक है, दूजा यहु आकार।
> आपा मेटि जीवत मरै, तो पावै करतार॥[1]

राजा रूप

> राजा राम कवन रंगे, जैसे परिमल पुहुप संगे॥[2]
>
> अथवा
>
> अब मैं पायो राजा राम सनेही।
> जा बिन दुख पावै मेरी देही॥[3]

पिता रूप

> बाप राम सुनि बीनती मोरी।
> तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सो चोरी॥[4]

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३।
२. वही, पृष्ठ १४३।
३. वही, पृष्ठ १८४।
४. वही, पृष्ठ २०७।

जननी रूप

हरि जननी मैं बालिक तोरा।
काहे न औगुन बकसहु मोरा॥[1]

स्वामी रूप

कबीर प्रेम न चाखिया, चखि न लीया साव।
सूने घर का पाहुणा, ज्यू आया त्यू जाव॥[2]

मित्र रूप

देखो कर्म कबीर का, कछू पूरब जनम का लेख।
जाका महल न मुनि लहै, दोसत (दोस्त) किया अलेख॥[3]

पति रूप

हरि मोरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥[4]

इन प्रतीको में पति या प्रियतम का रूप प्रधान है। इसी प्रतीक में कबीर के रहस्यवाद का रूप निखरा है। रहस्यवाद में साधक और साध्य में इस प्रकार की अभिन्नता हो जाती है कि दोनो मे किसी प्रकार का अन्तर नही रह जाता। यह अभिन्नता प्रेम पर ही आश्रित है। अत कबीर ने अपने प्रतीको की सार्थकता के लिए प्रेम को ही साधना का प्रमुख अग माना है। यह प्रेम जहाँ एक ओर विशिष्टाद्वैत की भक्ति का प्राण है, वहाँ दूसरी ओर यह सूफीमत के इश्क का रूपान्तर मात्र है। इस भाँति कबीर ने अपने प्रेम-तत्व से वैष्णवी भक्ति और सूफीमत दोनो की प्रमुख भावनाओ का प्रतिनिधित्व किया है। इसीलिए इस प्रेम को कभी कबीर ने 'भक्ति' कहा है और कभी 'इश्क' या उसका प्रतीक 'मदिरा' या मादकता उत्पन्न करने वाला। इस प्रेममयी भक्ति का रूप इस प्रकार है—

चरन कवल चित लाइए राम नाम गुन गाइ।
कहै कबीर ससा नही, भगति मुकति गति पाइ॥[5]

और मदिरा या रस का रूप इस प्रकार है—

हरि रस पीया जाणिए, जे कबहु न जाय खुमार।
मैमता घूमत फिरै, नाही तन की सार॥[6]

---

१. क० ग्र०, पृ० १२३।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ठ ७।
४. वही, पृष्ठ १२५।
५. वही, पृष्ठ ८९।
६. वही, पृष्ठ १६।

प्रेम में आडम्बर नहीं होता, अत कबीर ने अपनी भक्ति को एकमात्र मानसिक रूप ही दिया है। वैष्णवों की नवधा भक्ति के पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य भक्ति का कर्मकाडसम्मत रूप कबीर की भक्ति में नहीं है। इनमें से यदि कहीं किसी रूप का सकेत है भी, तो वह प्रतीकात्मक मात्र है। कबीर की भक्ति में केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आत्म-निवेदन हैं जिनका सम्बन्ध एकमात्र मानसिक पक्ष से है। इस भाँति कबीर की भक्ति ने पन्द्रहवी शताब्दी वि० के अव्यवस्थित साधना-मार्ग को एक अत्यन्त व्यावहारिक पक्ष प्रदान किया। सक्षेप में उनकी भक्ति से जितनी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई, उनका विवरण निम्न-लिखित है—

१ ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीको द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता,

२ प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकाड की आवश्यकता दूर करना,

३ अशिक्षित और अर्ध-शिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न करने के लिए विविध सबधो की अवतारणा और गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपकों के सहारे उससे नैकट्य स्थापित करना,

४ सूफीमत के प्रेम-तत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति-तत्व को मिलाकर हिन्दू और मुसलमानो के बीच साम्प्रदायिकता दूर करना,

५ विश्वव्यापी प्रेम से विश्व-धर्म की स्थापना करना जिसमें वर्ग-भेद और जाति-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है, और

६ इस प्रेम के माध्यम से आत्मसमर्पण की भावनाओं को जागरित करना जिसमें पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता मे रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात हो।

इस भाँति कबीर की मानसिक भक्ति में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम इतना व्यापक है कि इसमें ब्रह्म अनेक नामो से सबोधित हुआ है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, परपरा मे आने वाली भक्ति में ब्रह्म के जिन नामो का प्रयोग होता चला आया है, उन नामो को कबीर ने निस्सकोच स्वीकार किया। ब्रह्म के तो अनेक नाम हैं। समस्त सृष्टि में वह जल में नमक की भाति व्याप्त है, तो उसके नामो की सख्या भी अनत है। सृष्टि में जितने नाम है, वे सभी ब्रह्म के नाम हैं। इसलिए सगुण भक्ति में प्रचलित ब्रह्म के सभी नामो को कबीर ने स्वीकार किया। जनता की रुचि को कोई आघात न लगे इसलिए भी कबीर को सगुणवाची नाम ग्राह्य थे। कबीर ने न केवल वैष्णव धर्म के नाम ग्रहण किए वरन उन्होंने ब्रह्म की सर्वव्यापी सत्ता की दृष्टि से मुसलमानों में प्रचलित ईश्वरवाची नामो को भी स्वीकार किया। इसलिए उनकी रचना में 'राम' के साथ 'रहीम', 'केशव' के साथ 'करीम', 'रघुनाथ' के साथ 'रहमान', 'अलख' के साथ 'अल्लाह' आदि नामो का प्रयोग हुआ है।

कबीर की यह मानसिक भक्ति आनन्द और शान्ति से सम्पन्न अन्त करण की स्वाभाविक शक्ति है। अत इसे सहज का नाम भी दिया गया है। कबीर की इस सहज भक्ति ने हमारे धार्मिक जीवन में एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया, इसमें कोई सदेह नहीं।

संतकाव्य के अन्य प्रारभिक कवि

यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि रामानन्द ने जिन शिष्यो को भक्ति में दीक्षित किया था वे अपनी विचार-निष्ठा में स्वतत्र थे। परम्परा और युग के प्रभाव को लेकर वे सगुण और निर्गुण उपासना के सधि-स्थल पर खडे थे। यह अवश्य सत्य है कि क्रमश उनका झुकाव निर्गुणोपासना की ओर होता जा रहा था। इनमें कबीर के अतिरिक्त सेन, घना, पीपा और रैदास विशेष प्रसिद्ध थे। इन पर सक्षेप में विचार करना उचित है।

सेन—इनका आविर्भाव-काल विक्रम की पन्द्रहवी शताव्दी माना गया है। ये जाति के नाई थे और बाधोगढ नरेश राजाराम की सेवा में रहते थे। इनकी भक्ति के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित है। साधु सतो की सेवा में व्यस्त रहने पर स्वय भगवान ने इनका रूप ग्रहण कर राजा की सेवा की, आदि। इनके सम्वन्ध में अधिक विवरण ज्ञात नही है। इनका एक पद गुरु ग्रन्थ साहब में दिया गया है—

धूप दीप घृत साजि आरती।
बारने जाउ कमलापति॥
मगला हरि मगला।
नित मगलु राजा राम राइ को॥
ऊतम दिअरा निरमल बाती।
तुही निरजनु कमलापती॥
रामा भगति रामानदु जाने।
पूरनु परमानदु बखाने॥
मदन मुरति मै तारि, गोविंदै।
सैणु भणै भजु परमानदे॥रागु धनासरी—१

विशेप द्रष्टव्य है रामानन्द का नाम तथा कमलापति की आरती। यह पद स्पष्ट करता है कि सेन रामानन्द के समकालीन थे तथा उनके शिष्य थे।

धना—इनका जन्म स० १४७२ (१४१५ ई०) में हुआ था। ये जाति के जाट थे और धुवान (राजपूताना) के निवासी थे। ये आरम्भ में मूर्तिपूजक थे। इनके सम्वन्ध मे अनेक अलौकिक कथाएँ है। ये रामानन्द से दीक्षित हुए और निराकारोपासना में प्रसिद्ध हुए। गुरु-ग्रन्थ साहिव से एक पद उदाहरण के लिए देखिए—

भ्रमत फिरत वहु जनम विलाने तनु मनु धनु नही धीरे।
लालच विखु काम लुवध राता मनि विसरे प्रभु हीरे॥
विखु फल मीठ लगे मन वउरे चार विचार न जानिआ।
गुन ते प्रीति वडी अनभाती जनम मरन फिरि तानिआ॥
जुगति जानि नही रिदै निवासी जलत जाल जम फद परे।
विखु फल सचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभ मन विसरे॥

गिआन प्रवेशु गुरहि धनु दीआ धिआनु मानु मन एक भए।
प्रेम भगति मानी सुख जानिआ तृपति अघाने मुकति भए।।
जोति समाए समानी जाकै अछली प्रभु पहिचानिआ।
धनै धनु पाइया धरणी धरु, मिलि जन सत समानिआ।।
—रागु आसा ।।१।।

सत धना की कविता में उपदेश की प्रवृत्ति अधिक है।

पीपा—इनका जन्म स० १४८२ वि० (१४२५ ई०) में हुआ था। ये गगरौनगढ-नरेश थे। पहले भगवती दुर्गा के उपासक थे, बाद में रामानन्द से दीक्षित होकर वैष्णव हो गए। पीपा की भक्ति उत्कृष्ट कोटि की थी। इनके सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक चमत्कार कहे जाते हैं। इनकी कविता का उदाहरण भी गुरु ग्रंथ साहब से लिया गया है—

कायउ देवा, काइअउ देवल काइअउ जगम जाती।
काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजउ पाती।।
काइया बहु खड खोजते नव निधि पाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दोहाई।।
जो ब्रह्मडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम ततु है सति गुरु होइ लखावै।।
—राग, धनासरी ।।१।।

पीपा ने अपने काव्य से अधिक लोकप्रियता प्राप्त की थी। इनका दृष्टिकोण अन्य समकालीन सतो से निर्गुण उपासना की ओर अधिक देखा जाता है।

रैदास—इनका आविर्भाव-काल स० १४४५ वि० (१३८८ ई०) से स० १५७५ (सन १५१८ ई०) तक माना जाता है। यद्यपि इनका जन्म चमार के घर में हुआ था, तथापि सत रूप में इनकी प्रसिद्धि दूर-दूर स्थानो तक थी। ये काशी में ही निवास करते थे। उनकी कविता भावपूर्ण और सरल थी। उदाहरण देखिए—

प्रानी किआ मेरा किआ तेरा।
जैसे तरवर पखि बसेरा।।
राखहु कच उसारउ नीवा। साढे तीन हाथ तेरी नीवा।।
बक बाल, पाग सिर डेरी। इहु तन होइगो भसम की ढेरी।
ऊचे मदर सुदर नारी। राम नाम बिनु बाजी हारी।।
मेरी जाति कमीनी पाति कमीनो ओछा जनम हमारा।
तुम सरनागति राजा रामचद्र कहि रविदास चमारा।।

उपर्युक्त चारो सतो की कविता भक्ति और उपदेश पूर्ण है। इन सतो की रचनाएँ कबीर के सतसम्प्रदाय की भूमिका मात्र हैं। हिन्दी काव्य की इस पृष्ठभूमि को लेकर कबीर ने निर्गुण सम्प्रदाय का उत्तरी भारत में सूत्रपात किया। इस निर्गुण सम्प्रदाय को पुष्ट करने वालो में नामदेव, त्रिलोचन, वेनी, सधना आदि सत कवि हैं।

सत कबीर के दृष्टिकोण को आदर्श मान कर निर्गुण संप्रदाय में अनेक सत हुए हैं जिन्होने अपने काव्य से सतकाव्य के रूप में यथेष्ट साहित्य की रचना की। यदि इस काव्य पर भाव-पक्ष की दृष्टि से विचार किया जाय तो चार कोटियाँ दृष्टिगत होगी। ये कोटियाँ सतो की विशिष्ट अनुभूतियो को लेकर निर्धारित की जा सकती है, अन्यथा सामान्य रूप से निर्गुण सप्रदाय के आदर्श सभी सतो की रचनाओ में पाए जा सकते है। सतसप्रदाय की इन कोटियो और कवियो का वर्गीकरण निम्न प्रकार से है—

प्रथम कोटि . तत्वदर्शी—कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास, चरणदास, गरीबदास और तुलसी साहब।

द्वितीय कोटि : भावनासंपन्न—जगजीवनदास, गुलाल साहब, दूलनदास, दरिया साहब (बिहार वाले), यारी साहब, सहजोबाई और दयाबाई।

तृतीय कोटि ' स्वच्छन्द—मलूकदास, धरनीदास, दरिया साहब (मारवाड), गुलाल साहब और भीखा साहब।

चतुर्थ कोटि सूफी—बुल्लेशाह, पल्टू साहब।

प्रथम कोटि तत्वदर्शी कवि

कबीर—तत्वदर्शी कोटि के कवियो में कबीर अग्रगण्य है। इन्होने पूर्ववर्ती परम्परा को परिमार्जित कर युगानुकूल विचारधारा का प्रवर्तन किया। इनकी रचनाओ में शास्त्रीय मान्यताओ के लिए उतना स्थान नही है जितना जीवनगत अनुभूतियो के लिए है। अत कबीर की दृष्टि में शास्त्रीय दर्शन का महत्व नही है। वे तत्वदर्शी हैं, सिद्धातदर्शी नही। इसीलिए वे निर्गुण सप्रदाय के प्रमुख सत और कवि है।

सहज अनुभूतियो के आधार पर सत कबीर ने अपनी वाणी में जिस दर्शन का सकेत किया है वह जितना सत्य के निकट है, उतना ही व्यावहारिक भी है। कबीर जनता के कवि थे, इसलिए उन्होने ऐसे दर्शन की उद्भावना की जो जनता द्वारा सहज ही समझा जा सके। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, मानसिक पवित्रता को धर्म का आधार मान कर उन्हे वे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, नाथ सप्रदाय और सूफी सप्रदाय की ब्रह्म, जीव, माया और साधना सबन्धी उपर्युक्त और बोधगम्य बातें लेकर उन्हे अपनी सीमा और सप्रदायरहित धर्म में स्थान दिया और निर्गुण और सगुण से परे ब्रह्म की योग भक्तिमयी उपासना का दर्शन प्रस्तुत किया। भक्ति में प्रेम की प्रधानता थी और यही प्रेम अपनी चरम सीमा मे सहज का रूप ग्रहण कर सका। इसी प्रेम के प्रतीको से उनका रहस्यवाद पुष्ट हुआ। ये प्रतीक जब जीवनगत सम्बन्धो में आए तो वे भक्ति के आधार बने, जब हठयोग की क्रियाओ में आए तो योग के आधारभूत साधन बने। जीवन और स्वाभाविक धर्म के युग में ही कबीर का दर्शन बना जिसकी अनुभूति में गुरु का विशेष महत्व है। कविता के उदाहरण में इनकी दो साखिया दी जाती हैं—

कबीर तू तू करता तू हुआ, मुझ में रही न हू।
जब आपा पर का मिटि गइआ, जउ देखउ तत तू॥[1]

---

१. संत कबीर, पृष्ठ २७८।

ऊच भवन कनकामिनी सिखरि धजा फहराइ।
ताते भली मधूकरी, सत मग गुन गाइ ॥[1]

गुरु नानक—श्री गुरु नानक सिख धर्म के प्रवर्तक थे। इनका जन्म स० १५२६ वि० (१४६९ ई०) में तलवंडी—पंजाब में हुआ था। इनके दार्शनिक सिद्धान्त संत कबीर से बहुत मिलते-जुलते हैं। इन्होंने एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा-विरोध तथा हिन्दू मुसलमानों में अभिन्नता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सिख सम्प्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। इनकी रचनाएँ गुरु ग्रंथ साहब के पहले महले में संकलित हैं। जपुजी इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। उनसे एक उदाहरण देखिए—

तीरथ नावा जे तिसु भावा विणु भाणे की नाइ करी।
जेती सिरठि उपाई वेखा विणु करमा कि मिलै लई॥
मति विच रतन जवाहर माणिक जे इक गुरु की सिख गुणी :
गुरा इक देहि बुझाई।
सभना जीआ का इकु दाता सो मैं विसरि न जाई॥[2]

दादू—इनका जन्म स० १६०१ वि० (१५४४ ई०) में अहमदाबाद (गुजरात) में हुआ था। स्वानुभूति और प्रेम की व्यञ्जना करने में दादू की रचनाएँ सफल हुई हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्त-पक्ष का निर्धारण कबीर की रचनाओं को आदर्श मान कर किया है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता एकेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति की है जो इन्होंने प्रेम और विरह के माध्यम से कही है। इनकी भाषा सरल और मिश्रित है—

सब लालों सिरि लाल है, सब खूबों सिर खूब।
सब पाकों सिरि पाक है, दादू का महबूब।[3]
लोहा पारसि परसि करि, पलटै अपना अंग।
दादू कंचन ह्वै रहै, अपने साईं संग॥[4]

सुन्दरदास—इनका जन्म स० १६५३ वि० (१५९६ ई०) में द्यौसा (जयपुर) में हुआ। ये दादू के शिष्य थे। इन्होंने काशी में विद्याध्ययन विशेष रूप से किया। इनकी रचनाओं का सर्वश्रेष्ठ गुण अनुभव-तत्व और काव्य-चमत्कार है। संत कवियों में सब से सुन्दर कविता संत सुन्दरदास की है। भक्तियोग, पचेन्द्रिय-निर्णय तथा सहजानन्द इनके प्रिय विषय हैं। इनके उपदेशों में शक्ति का चमत्कार भी है। उदाहरण देखिए—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइके देह सवारी।
मेघ सहे सिर सीत सह्यो तनु धूप समै जु पंचागिन बारी॥

---

1 संत-कबीर पृ० २७०।
२. गुरु साहब, पृ० २।
३. संत सुधासार, श्री वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृष्ठ ४८८।
४. वही, पृ० ४८९।

भूख सही रहि रुख तरे परि सुन्दरदास सहे दुख भारी।
डासन छाडि कै कासन ऊपर आसन मार्‌यो पै आस न मारी ।।[1]

चरनदास—चरनदास का जन्म स० १७६० (१७०३ ई०) में देहरा (अलबर) मे हुआ। यद्यपि इनकी रचना साधारण है, किन्तु उसमे योग, भक्ति, ज्ञान आदि की समीक्षा बहुत विस्तार से की गई है। सत कबीर की विचारधारा में इन्होने मूर्तिपूजा का घोर तिरस्कार किया है। तन्मयता इनकी भक्ति का विशेष गुण है।

अब घर पाया हो मोहन प्यारा।
लखो अचानक अज अविन सी, उघरि गये दृग तारा।
झूमि रह्यौ मेरे आगन में टरत नही कहु टारा।
रोमरोम हिय माही देखो, होत नही छिन न्यारा।
भयो अचरज चरनदास न पैये खोज कियो बहु बारा।।

गरीबदास—इनका जन्म स० १७७४ (१७१७ ई०) में छुडानी (रोहतक) में हुआ था। ये जाति के जाट थे। सत कबीर की भॉति इनकी प्रतिभा भी तत्वदर्शन में बहुमुखी थी। इनकी भाषा स्वाभाविक और मिश्रित है और इसमें अरबी-फारसी के शब्द स्वतन्त्रता से लिए गए हैं। इन्होने गुरु, देव और स्मरण पर बहुत बल दिया है—

नाम जपा तो क्या हुआ, उर में नही यकीन।
चोर मुसै घर लूटही, पाच पचीसो तीन ।।
कोटि गऊ जे दान दे, कोटि जज्ञ जेवनार।
कोटि कूप तीरथ खनै, मिटै नही जम भार।।

तुलसी साहब—इनका जन्म स० १८८५ वि० (१८२८ ई०) में हुआ। इनका समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ) में व्यतीत हुआ। ये अपने को रामचरितमानसकार तुलसीदास का अवतार मानते थे। इन्होने प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन किया है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म की व्याख्या विशेष विस्तार से की है। शब्दयोग की गहरी साधना को ही इन्होने अपना लक्ष्य बनाया था। इनका 'शब्दावली' शीर्षक ग्रथ सरस और लोकप्रिय है। इन्होने शृगार के प्रतीको से ब्रह्मसाधना का सकेत किया है—

सोहागिन सुन्दरी, तुम बसहु पिया के देस।
नैहर नेह छाडि देवो री, सुन सतगुर उपदेस।।
कोटि करो इहा रहन न पैहो, क्या धनि रक नरेस।
प्रभु के देस परम सुख पूरन, निरभय सुनत सदेस।।
जरा मरन तन एकन व्यापै, सोक मोह नहि लेस।
सब से हिल मिल बैर बिपन तज, परम प्रतीत प्रवेस।
दम पर दम हरदम प्रीतम सँग, तुलसी मिटा कलेस ।।

---

१. वही, पृ० ६२३।

द्वितीय कोटि भावना सम्पन्न कवि

इस कोटि के कवियो ने भक्ति की तल्लीनता ही अधिक प्रदर्शित की है। ज्ञान-विज्ञान की विवेचना में उनकी रुचि नही रही। इस सम्बन्ध में यदि उन्होने कुछ लिखा भी तो वह केवल परम्परागत ही है। प्रेम, दीनता, क्षमा, आदि मानसिक सत्प्रवृत्तियो पर उनकी विशेष आस्था है। ऐसे कवियो में निम्नलिखित अधिक प्रसिद्ध हुए है—

जगजीवनदास—इनका जन्म स० १७२७ वि० (१६७० ई०) में सरदहा (बाराबंकी) में हुआ था। इन्होंने जाति-बंधन तोड़ने में अधिक रुचि दिखलाई। इनकी साखियाँ मंगल और उपदेशमय है—

भूलु फूलु सुखकर नही, अवहूँ होहु सचेत।
साई पठवा तोहि का, लावो तेहि के हेत॥[1]

यारी साहब—इनका जन्म स० १७२५ वि० (१६६८ ई०) में दिल्ली में हुआ। इन्होंने कबीर की भाति प्रतीको का भी उपयोग किया है। इनकी रचना सरस और हृदयग्राही—

विरहिनी मदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सो बिन दीपक उजियार।
प्रानप्रिया मेरे गृह आयो रचि रचि सेज सँवार॥
सुखमन सेज परम तत रहिया पिया निरगुण निरकार।
गावहु री मिलि आनन्द मगल, यारी मिलि के यार॥[2]

दरिया साहब (बिहारवाले)—इनका जन्म अनुमानत स० १७३० वि० (१६७३ ई०) में हुआ। इनका निवास धरकधा (आरा) था। निर्गुण की भक्ति में इन्होंने दोहे-चौपाई में बडी सरस रचना की है—

दूजा दुविधा जेहि नहि सोई। भगत सुजान कहावै सोई॥
ब्राह्मन सो जो ब्रह्महि चीन्हा। ध्यान लगाइ रहै लवलीना॥
क्रोध मोह तृष्णा नहि जोई। पडित नाम सदा है सोई॥
दरिया भव जल अगम अति, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हस चढाइकै, जाइ करहु सुखराज॥[3]

गुलाल साहब—इनका जन्म स० १७५० वि० (१६९३ ई०) भुरकुडा ग्राम (गाजीपुर) में हुआ था। प्रेम, भक्ति और अनुभव इनकी कविता की प्रमुख विशेषताएँ है। इनकी भाषा पूर्वी ढाँचे में ढली हुई है, जैसे—

कोउ नहि कहल मोरे मन कै बुझनिया।
घरि घरि पल पल छिन छिन डोलत, डोरत साफ अँगनिया॥

---

१. सत सुधासार, वियोगी हरि, दूसरा खड, पृष्ठ ७०।
२. वही, पृ० ७३।
३. वही, पृ० ९९।

अब की बेर सुनो नर मूढो बहुरि न ल्यो अवतरिया।
कह गुलाल सतगुरु बलिहारी भवसिंध अगम राम तरिया॥[1]

दूलनदास—इनका आविर्भाव-काल स० १७८० वि० (१७२३ ई०) के लगभग है। इनका जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था। चेतावनी, उपदेश, प्रेम और विनय ने इनकी रचना में विशेष रूप से स्थान पाया है—

राम नाम दुइ अच्छरै, रटै निरतर कोई।
दूलन दीपक बरि उठै, मन परतीति जो होई॥
चारा पील पिपीलको, जो पहुचावत रोज।
दूलन ऐसे नाम की, कीन्ह चाहिए खोज॥[2]

सहजोबाई—इनका आविर्भाव स० १७४० वि० से १८२० (सन १६८३ से १७६३ ई०) तक माना जाता है। इनका जन्म देहरा राज्य (राजस्थान में) हुआ था। ये चरणदास की शिष्या और बाल ब्रह्मचारिणी थी। इनकी साधना उच्च कोटि की थी और ये गुरु को सर्वोपरि महत्व देती थी।

हरि ने कर्म भर्म भरमायो। गुरु ने आतम रूप लखायो।
हरि ने मोसूं आप छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायो॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाए। गुरु ने सबही भरम मिटाए।
चरनदास पर तन मन वारू। गुरु न तजूं हरि कू तजि डारू॥[3]

दयाबाई—इनका आविर्भाव-काल भी स० १७४० से १८२० वि० (१६८३ से १७६३ ई०) तक माना जाता है और ये सहजोबाई के साथ चरणदास की शिष्या थी। ये भी बाल ब्रह्मचारिणी थी। तन्मयता इनमें अधिक थी और ये गुरु के अतिरिक्त निर्गुण, निरजन और अजपा जाप पर विशेष ध्यान रखती थी—

पदमासन सू बैठ करि अतर दृष्टि लगाव।
दया जाप अजपा जपौ, सुरति सांस में लाव॥
चरणदास गुरु कृपा तें, मनुवा भयो अपग।
सुनत नाद अनहद दया, आठो जाम अभग॥[4]

तृतीय कोटि : स्वच्छन्द कवि

इस कोटि के कवियो ने किसी विशिष्ट विचारधारा का प्रवाह अपनी रचनाओ में नही किया। ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, भक्ति, विश्वास में भी जो विषय इन्हे परिस्थितियो के अनुकूल

---

१. वही, पृ० १२२।
२. वही, पृ० ८५।
३. वही, पृ० १८१।
४. वही, पृ० २०५।

जान पडा उस पर उन्होने रचना की। चेतावनी पर इन कवियो ने विशेष वल दिया है। इस कोटि के कुछ प्रमुख कवियो का विवरण इस प्रकार है—

मलूकदास—इनका जन्म स० १६३१ वि० (सन १५७४ ई०) में कडा (इलाहावाद) में हुआ था। ये निर्गुण के साथ ही सगुण की भक्ति भी करते थे। यह इनकी स्वच्छदता का प्रमाण है। प्रेम और विश्वास का परिचय इनकी रचनाओ में स्थान-स्थान पर मिलता है यहाँ तक कि ये हरि को भी अपना भक्त मानते थे—

माला जपो न कर जपो, जिम्या कहो न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं, मै पाया विसराम।
राम राय असरन सरन, मोहि आपन करि लेहु।
सतन सँग सेवा करौं, भक्ति मजूरी देहु॥[1]

धरनीदास—अन्तर्साक्ष्य से इन्होने शाहजहा के उत्तराधिकारियो के युद्ध का सकेत किया है। इन्होने अपना सासारिक वैभव छोडकर सहसा वैराग्य ले लिया। ये माफी गाँव (छपरा) के निवासी थे अत इनकी भाषा पर भोजपुरी का प्रभाव है। वैराग्य, विरह और मिलन के अनेक चित्र इनकी कविता में दृष्टिगत होते है—

ज्ञान को वान लगो धरनी जन सोवत चौकी अचानक जागे।
छूटि गयो विपया विष वन्धन पूरन प्रेम सुधारस पागे॥
भावत वाद विवाद निषाद, न स्वाद जहा लगि सो सव त्यागे।
मूदि गईं अखिया तव तें जव तें हिये में कछु हेरन लागे॥[2]

दरिया साहब (मारवाड)—इनका जन्म स० १७७३ वि० (१७१५ ई०) में जैतारण (मारवाड) में हुआ। ये जाति के धुनियाँ (मुसलमान) थे और कवीर साहव को अपना आदर्श मानते थे। इन्होने कवीर की **उलटवासियो** का भी अनुसरण किया है। अन्य स्थलो पर भापा सजीव और सरल है—

वड के वड लागै नही, वडके लागै वीज।
दरिया नान्हा होय कर, राम नाम गह चीज।
नारी जननी जगत की, पाल पोप दे पोष।
मूरख राम विसार कर, ताहि लगावै दोप॥[3]

गुलाल साहव—इनका जन्म अनुमानत स० १७५६ वि० (१६९३ ई०) माना जाता है। ये भुरकुडा (गाजीपुर) के जमीन्दार थे, वाद में वडे प्रसिद्ध भक्त हो गए। भापा सहज और स्वाभाविक है। प्रेम और विरह के वडे सुन्दर चित्र इन्होने उपस्थित किए है। भापा पर पूर्वीपन की छाप है—

---

१ वही, पृ० ३७।
२. वही, पृ० ४७।
३. वही, पृ० ११३।

सबद सनेह लगावल हो, पावल गुरु रीती।
पुलकि पुलकि मन भावल हो, ढहली भ्रम भीती॥
सतन कहल पुकारी हो, जिन सूनल बानी।
सो जन जम तें बाचल हो, मन सारगपानी॥[1]

भीखा साहब——इनका जन्म सवत १७७० वि० (१७१३ ई०) के लगभग है। ये गुलाल साहब के शिष्य थे। इनकी रचना कोमल और मधुर है, किन्तु शब्दो के प्रयोग में ये बडे स्वतत्र थे। प्रेम, परिचय और उपदेश इनकी रचना में विशेष रूप से स्पष्ट हुए है——

प्रीति यह रीति बखानौ।
कितनौ दुख सुख परै देह पर चरन कमल कर ध्यानौ।
हो चैतन्य बिचारि तजो भ्रम, खाड धूरि जनि सानौ॥
जैसे चात्रिक स्वाति बिन्दु बिन प्रान समर्पण ठानै।
भीखा तेहि तन राम भजन नहि काल रूप तेहि जानै॥[2]

चतुर्थ कोटि : सूफी

इस कोटि के कवियो ने सतसप्रदाय के सभी तत्वो को तो ग्रहण किया, किन्तु उन तत्वो का निरूपण सूफी सिद्धान्तो के आधार पर ही किया। सूफी सप्रदाय की शब्दावली भी अनेक स्थलो पर आ गई है। ऐसे दो प्रमुख कवियो का विवरण निम्नलिखित है——

बुल्ले शाह——इनका आविर्भाव-काल स० १७६० से १८१० वि० (१७०३–१७५३ ई०) तक माना जाता है। यो तो इनका जन्मस्थान रूम कहा जाता है, किन्तु इन्होने अपनी वाणी का प्रचार कुसूर (लाहौर) में किया। ये एक प्रसिद्ध सूफी थे। इनकी वाणी में प्रेम और उपदेश विशेष रूप से स्थान पा सके है। इनकी भाषा पर पजाबी प्रभाव है——

बुल्ला हिजरत विच अलाह दे, मेरा नित है खास अराम।
नित नित मरा ते नित जिया, मेरा नित नित कूच मुकाम॥
बुल्ला आसिक हो यो रब्ब दा, मुलामत होई लाख॥[3]
लोग काफर काफर आखदे, तू आहो आहो आख॥

पलटू साहब——इनका आविर्भाव स० १८५० वि० (१७९३ ई०) के लगभग समझा जाता है। ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समकालीन थे। इनका जीवन अधिकतर अयोध्या मे ही व्यतीत हुआ। इन्होने कुडलियो की रचना अधिकतर की है। ये कुडलियाँ कबीर की साखियो के आधार पर ही है। इन्होने सूफीमत के नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत, हाहूत आदि का भी वर्णन बडे विस्तार से किया है। आशिक का वर्णन देखिए——

---

१. वही, पृ० १३३-१३४।
२. वही, पृ० १४२।
३. वही, पृ० १५२।

जीते जी मर जाय, करै ना तन की आसा।
आसिक का दिन रात, रहै सूली पर वासा॥
मान वडाई खोय नीद भर नाही सोना।
तिल भर रक्त न मास, नही आसिक को रोना॥
पलटू वडे वेकूफ वे आसिक होने जाहिं।
सीस उतारै हाथ सें सहज आसकी नाहिं॥

इन कवियो के अतिरिक्त सत साहित्य में अनेक सतो का योग है जिनकी रचनाएँ आज भी देश के विविध स्थानो में श्रद्धा और भक्ति से कही और सुनी जाती हैं। इन सतो में धनी धरमदास, सुथरादास, वीरभान, लालदास, वावादास, हरिदास, स्वामी प्राणनाथ, रज्जव जी, वपानजी, वाजिद जी, वुल्ला साहव, वालकृष्ण, सहजानन्द और गाजीदास विशेष प्रसिद्ध हैं। अधिकतर इन सतो के सप्रदाय भी स्थापित हो गए हैं और कवीरपथ से लेकर आवापथ तक कम से कम वीस सप्रदाय आज भी विविध केन्द्रो में ज्ञान और भक्ति का प्रचार कर रहे हैं। सब से वडी वात यह है कि इन सप्रदायो से देश की वह जनता धार्मिक वनी हुई है जो समाजशास्त्रियो की दृष्टि में निकृष्ट, दलित और अछूत है। उपर्युक्त सतो की रचनाओ को दृष्टि में रखते हुए अव सत सप्रदाय के भाव-पक्ष और शैली पक्ष पर विचार करना आवश्यक है।

सतकाव्य का भाव पक्ष

सत सप्रदाय अपने भाव पक्ष में विशेप सगठित है। इसके तीन विभाग किए जा सकते हैं— धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक।

धार्मिक—सत सप्रदाय का धर्म विश्वधर्म है। इसमें न तो किसी प्रकार का कर्मकाड है न वर्ग और वर्ण का भेद है। मानवमात्र का स्वाभाविक और सात्विक आचरण ही धर्म है। इस धर्म का मूलाधार हृदय की पवित्रता है। जव तक हृदय ससार की वासनाओ से मुक्त होकर पवित्र नही होता तव तक वह ईश्वरानुभूति के योग्य नही हो सकता। मैले कपड़े पर किसी प्रकार रग नही चढ सकता। कपडे पर गहरा रग चढाने के लिए उसे धोने की आवश्यकता है। इसलिए सत सप्रदाय में मन को चुनरी (कपडा) कहा गया है और सद्गुरु को रगरेज—

सतगुरु हैं रगरेज, चुनरि मेरी रग डारी।

(क) विधि और निषेध—इसी हृदय की पवित्रता के लिए विधि और निषेध की आवश्यकता है। हृदय को शुद्ध रखने के लिए कुछ कार्य विधेय हैं, कुछ वर्ज्य हैं। उदाहरण के लिए उदारता, शील, क्षमा, सतोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक ग्रहण करने योग्य हैं और काम, क्रोध, लोभ, कपट, तृष्णा, कनक और कामिनी, निन्दा, मासाहार, तीर्थव्रत आदि छोडने योग्य हैं। सत सप्रदाय में इस पक्ष पर विशेप वल दिया गया है। वार वार हृदय की पवित्रता के लिए विधि-निषेध के अन्तर्गत गुण-ग्रहण और दोप-परिहार पर उपदेश दिए गए हैं।

(ख) गुरु—विधि-निषेध का वास्तविक ज्ञान तव तक नही होता जव तक कि गुरु का मार्ग-दर्शन प्राप्त न हो। इस सप्रदाय में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। वह ब्रह्म से भी ऊँचा है, क्योंकि

बलिहारी गुरु आपने जिन गोविंद दिया बताय।

गुरु के बिना ज्ञान अधूरा है, वही ज्ञान का दीपक हाथ में देकर सन्मार्ग की ओर अग्रसर कराता है। ब्रह्म की अनुभूति उसी के इगित मार्ग से होती है। इस भाँति साधना में गुरु का स्थान अद्वितीय है।

(ग) नाम-स्मरण—इस धर्म में किसी कर्मकाड के लिए स्थान नही है, न मूर्तिपूजा, न तीर्थ-व्रत, न जप-माला, न छापा-तिलक के लिए ही। इसका आचार एक मात्र नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन है। इस मानसिक भक्ति मे सत्सग का विशेष स्थान है। साधु पुरुषो के साथ मन की पवित्रता बढती है और नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन की ओर मन आकृष्ट होता है।

इस भाँति सत सप्रदाय का धर्म विधि-निषेध, गुरु और नाम-स्मरण के आधार पर ही सगठित है।

दार्शनिक—सत सप्रदाय का दर्शन किसी विशेष शास्त्र से नही लिया गया। शास्त्रो में कबीर की आस्था नही थी, क्योकि शास्त्र एक दृष्टिकोण विशेष से लिए या कहे जाते है और वे साम्प्रदायिकता के आधार पर ही टिके होते है। यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि कबीर ने धर्म और दर्शन को सप्रदाय की सम्पत्ति नही समझा, क्योकि वे अपने धर्म और दर्शन में किसी प्रकार की सकीर्णता नही लाना चाहते थे। शास्त्र और दर्शन के अध्ययन से अहकार भी बढता है और दर्शन में अहकार के लिए स्थान नही है, उसमें तो अनुभूति और विश्वास ही होना चाहिए। शास्त्रीय जटिलताओ से अनुभूति सुसाधित नही होती। अत सत सप्रदाय का दर्शन उपनिषद, भारतीय षट दर्शन, बौद्ध धर्म, सूफी सप्रदाय, नाथ सप्रदाय की विश्वजनीन अनुभूतियो के तत्वो को मिला कर सुसगठित हुआ है। ये तत्व सीधे शास्त्र से नही आए, वरन शताब्दियो की अनुभूति-तुला पर तुल कर महात्माओ की व्यावहारिक ज्ञान की कसौटी पर कसे जाकर सत्सग और गुरु के उपदेशो से सग्रहीत हुए। यह दर्शन स्वार्जित अनुभूति है, जैसे सैकडो पुष्पो की सुगन्ध मधु की एक बूंद में समाहित है, किसी एक फूल की सुगध मधु में नही है। उस मधु-निर्माण में भ्रमर की अनेक पुष्पतीर्थों की यात्राएँ सन्निविष्ट है, अनेक पुष्पो की क्यारियाँ मधु के एक एक कण में निवास करती है। उसी प्रकार सत सप्रदाय का दर्शन अनेक युगो और साधको की अनुभूतियो का समुच्चय है।

सत दर्शन में चार तत्वो की प्रधानता है—ब्रह्म, जीव, माया और जगत। इन पर सक्षेप में विचार करना है।

ब्रह्म—सत सप्रदाय का ब्रह्म एक है, उसका रूप और आकार नही है। वह निर्गुण और सगुण से परे है। वह ससार के कण कण में है। वह मूर्ति अथवा तीर्थ में नही है, वह हमारे शरीर में ही है, हमारी प्रत्येक साँस में है। वह अवतार लेकर नही आता, वरन ससार की प्रत्येक वस्तु में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान है। इसका न तो वर्णन हो सकता है न कल्पना के द्वारा ग्रहण होता है। वह अनुभवगम्य है। गूंगे का गुड है। उसके अनेक नाम है। प्रत्येक सप्रदाय के ईश्वर सबधी नाम उसके नाम है। वह न वर्गों मे बाटा जा सकता है, न जातियो में। ब्राह्मण, शूद्र और मुसलमान का एक ही ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्म एक, अनादि, अनन्त और निर्गुण-सगुण से परे है। वह शून्य है, निरजन है, अक्षय है। उसकी प्राप्ति भक्ति के अन्तर्गत प्रेम और अनुभूति से तथा योग के अतर्गत समाधि से हो सकती है। इस साधना में गुरु मार्ग-दर्शक है। शिष्य को परमात्मा से मिलाने के कारण गुरु का स्थान स्वय परमात्मा से ऊँचा है।

जीव—ब्रह्म और जीव में वस्तुत कोई अन्तर नही है, दोनो की एक ही सत्ता है, किन्तु माया द्वारा दोनो में अन्तर भासित होता है। माया को दूर करने के लिए साधना की आवश्यकता है। इस साधना से ब्रह्म और जीव पुन एक दृष्टिगत होते हैं।

जीव माया से आक्रान्त होकर अविद्या के वशीभूत होता है। यह अविद्या गुरु द्वारा दूर की जाती है और वह जीव को भक्ति का मार्ग बतलाता है। जीवन के लिए ब्रह्म का रूप जानना, अर्थात आत्मबोध करना कठिन होता है। इसलिए उसी के माध्यम से ब्रह्म को प्रतीको के रूप में अनुभव की भूमि पर लाने की आवश्यकता होती है। ये प्रतीक माता-पिता, स्वामी-मित्र अथवा पति का सबध निरूपित करते हैं। इन प्रतीको में पति या प्रियतम का प्रतीक सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि दाम्पत्य भाव ही में प्रेम की पूर्णता है। इस प्रतीक में ब्रह्म प्रियतम बन जाता है और जीव विरहिणी, जो प्रियतम के विरह में सतप्त है। इस विरह में प्रेम कचन की भाँति निर्मल हो जाता है। इस दाम्पत्य रति का अनुसरण कर प्रियतमा के रूप में जीव अपने प्रियतम ब्रह्म में आत्मसमर्पण कर देता है। इस आत्मसमर्पण में आनन्द की जो अनुभूति है उसी का नाम रहस्यवाद है। तत्वदर्शी कोटि के सतो ने रहस्यवाद का आश्रय ग्रहण कर ब्रह्म और जीव के मिलन का मार्ग स्पष्ट किया है, अन्यथा माया के प्रभाव से जीव और ब्रह्म मे मिलाप होने की सभावना ही नही होती। यदि इन प्रतीको की स्थापना न होती तो रहस्यवाद की भी सृष्टि नही हो सकती थी। योग के नाडी-साधन तथा षटचक्र वेधन से सहस्रदलकमल-स्थित ब्रह्म की अनुभूति समाधि द्वारा सभव है, किन्तु जीव के लिए सरल मार्ग प्रतीको द्वारा ब्रह्म का नैकट्य प्राप्त करना ही है।

ब्रह्म और जीव का यह मिलन कभी रहस्यवाद के अतर्गत है कभी अद्वैतवाद के अन्तर्गत। वस्तुत रहस्यवाद और अद्वैतवाद में विशेष अन्तर नही है। जो अन्तर है, वह यही कि अद्वैतवाद में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता का निषेध है—

ज्यो जल में जल पैसि न निकसै, यो ढुरि मिला जुलाहा।

किन्तु रहस्यवाद में जीव की सत्ता ब्रह्म में स्थित होते हुए भी अलग है। जीव की यह स्थिति विशिष्टाद्वैतवाद के अन्तर्गत भक्ति की चरम सिद्धि के अनुरूप ही है। नारद भक्तिसूत्र के अनुसार भक्त ब्रह्म में स्थित होता हुआ भी ब्रह्म से अलग सत्ता का अधिकारी है। यही स्थिति रहस्यवाद की है। यदि जीव की अलग सत्ता न होगी तो वह ब्रह्म के मिलाप की आनन्दानुभूति कैसे कर सकेगा, आनन्द का केन्द्र कहाँ होगा ? 'मैं' के अहकार का विनाश तो होता है, किन्तु 'मैं' की स्थिति रहनी आवश्यक है—

लाली मेरे लाल की, जित देखो तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

यदि ब्रह्म और जीव की स्थिति एक हो जाती तो 'मैं भी' कहने की आवश्यकता ही न रहती।

ब्रह्म और जीव एक ही सत्ता के दो रूप भासित होते हैं। जल-लहर की भाँति दोनो कहने को तो अलग हैं, किन्तु वस्तुत दोनो एक ही हैं। उनमें अन्तर नहीं है।

माया—सत सप्रदाय में माया अद्वैतवाद की माया की भाति भ्रमात्मक और मिथ्या तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त वह सक्रिय रूप से जीव को सत्पथ से हटाने वाली भी है। इस

दृष्टि से सत सप्रदाय में माया का मानवीकरण है। यह मानवीकरण एक नारी के रूप में है, जो ठगिनी है, डाकिनी है, सब को खाने वाली है। सम्भवत यह सूफीमत के शैतान का ही प्रतिरूप है। इस माया की सत्ता समस्त सृष्टि में है। पांच इन्द्रियो और पचीस प्रकृतियो का इसको सहारा है। इन्ही से वह जीव को ससार के मिथ्या उपभोगो मे नष्ट करती है। कामिनी और कचन ही ससार को ईश्वर की दिशा में जाने से रोकते है।

इस भाति माया का मानवीकरण निम्न प्रकार से हुआ है—

१. वह निर्गुणात्मक है।

२ वह सत्य के विपरीत भ्रम का जाल फैलाने वाली है।

३. वह कचन और कामिनी के आकर्षणसूत्र से जीवो को सत्पथ से हटाने वाली है।

४. वह खाँड की तरह मीठी है, किन्तु उसका प्रभाव विष के समान है।

५. ससार में जितनी ही आकर्षक और मोह मे आबद्ध करने वाली वस्तुएँ है, वे सब माया की रस्सियाँ है।

६. इसके प्रतिकार के लिए दो युक्तियाँ है—

(क) ब्रह्म का विरह—जिसमें मन को कुछ अच्छा नही लगता। फलस्वरूप माया के समस्त आकर्षण समाप्त हो जाते है।

(ख) ब्रह्म से होली—जिसमें मिलन की आकाक्षा वलवती हो जाती है, जिसके आगे अन्य आकर्षण तुच्छ हो जाते हैं।

ये दोनो युक्तियाँ रहस्यवाद के अन्तर्गत है जो अनुभूतिसम्पन्न हैं।

७. इसका विनाश दो प्रकार से होता है—

(क) भक्ति—जिससे ब्रह्म के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है।

(ख) सत्सग—जिससे मन के विकार दूर होते हैं।

ये दोनो प्रकार साधना के अन्तर्गत हैं, जो अभ्यास की अपेक्षा रखते हैं। कबीर ने माया के सम्बन्ध में कडी चेतावनी दी है। वह विश्वासघातिनी है, अस्थिर है, उसने ससार को ठगा है। वह केवल अज्ञान नहीं है वरन अज्ञान में ले जाने वाली अहेरिन है—

सगल माहि नकटी का वासा, सगल मारि अउहेरी।
सगलिआ की हउ वहिन भानजी, जिनहि वरी तिसु चेरी॥
हमरो भरता वडो विवेकी आपै सतु कहावै।
ओहु हमारे माथे काइमु, अउरु हमरै निकटि आवै॥[1]

जगत—सतसप्रदाय में जो कुछ दृष्टि में आता है वह जगत है। वह चचल है, गतिशील ह। उसमें स्थिरता नही है, वह नश्वर है। माया ने ही उसका निर्माण किया है, इसलिए वह भ्रमात्मक है। धन, वैभव, आडम्वर, विलास, सुख, दुख ये सव जगत के रूप है। यह जगत चार दिनो की चाँदनो है। दिन की हाट है, जो शाम होने पर उठ जाती है। इस पर विश्वास करना अपने आप से छल

---

१. संत कबीर, पृष्ठ ९४।

करना है। सत कवियो ने जगत की निस्सारता के सवध में विस्तार से उपदेश दिया है। ब्रह्म, जीव, माया और जगत का निरूपण हो चुकने पर साधना पर विचार करना चाहिए। यह साधना गुरु द्वारा स्पष्ट की जाती है। इस साधना के दो रूप हैं—

साधना—

१ भक्ति—जिसके अन्तर्गत रहस्यवाद है, और

२ योग—जिसके अन्तर्गत एक ओर तो नाडी साधन और षटचक्र हैं, दूसरी ओर वह सहज समाधि है, जो अन्तत रहस्यवाद के समीप पहुँचती है।

(१) **भक्ति**—यह भक्ति निश्चल और निर्विकार होनी चाहिए। विधि-निषेध से जव मन शुद्ध हो जाता है तभी उसमें नाम-स्मरण की भावना उत्पन्न होती है। नाम-स्मरण, श्रवण और कीर्तन से मन सपुष्ट होता है, कीर्तन से प्रेम की स्थिति होती है, फिर इस प्रेम में मादकता आती है। जव प्रेम को मादकता आ चुकती है, तव प्रतीको का आविर्भाव होता है। दाम्पत्य प्रेम में आत्मसमर्पण की भावना का उदय होता है। आत्मसमर्पण में जो ब्रह्मानुभूति होती हे उसी आनन्द में रहस्यवाद की स्थिति आती है। विकास का रेखाचित्र निम्न प्रकार से है—
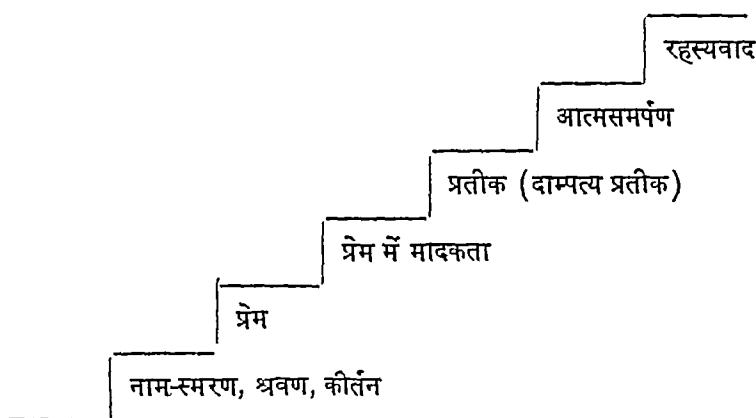
ऐसा ज्ञात होता है कि सत सप्रदाय के रहस्यवाद में वैष्णव भक्ति के प्रेम का उत्कर्ष और सूफीमत के इश्क की मस्ती का योग है। इसमें कर्मकाड का निषेध है और आनन्द की अनुभूति है।

(२) **योग**—सत सप्रदाय का नाथ सप्रदाय की शृखला में विकास होने के कारण योग की साधना सत कवियो को सहज ही प्राप्त हो गई। किन्तु इसका महत्व स्थिर नही रह सकता। इसके तीन कारण थे।

१. योग की क्रियायें सहज साध्य नही थी। नाथ सप्रदाय में योग सवधी वहुत सी वातें थी जो केवल सप्रदाय के मान्य शिष्यो को ही वतलाई जाती थी, सामान्य रूप से उनका प्रचार नही था। वे गुप्त और साम्प्रदायिक थीं।

२ सत सप्रदाय के साधक समाज के सामान्य या निम्न वर्ग के व्यक्ति थे जिनके पास शास्त्र की कोई परम्परा नही थी।

३ भक्ति का प्रचार उत्तर भारत में जिस तीव्र गति से हुआ उसके समक्ष योग सबधी आस्था डगमगा चुकी थी और सत सप्रदाय के कवि अपने निराकार ब्रह्म के लिए भी भक्ति का आधार खोजने लगे थे।

इस भाँति सत सप्रदाय में योग का और वह भी, हठयोग का परपरागत रूप ही ब्रह्मानन्द के मिलन का आनन्द स्पष्ट करने के लिए प्रतीक रूप से सुरक्षित रह गया था। इडा, पिंगला (इगला-पिंगला), सुषुम्णा (सुखमन) नाडियाँ, कुडलिनी, षटचक्र, त्रिकुटी, सहस्रदलकमल का चन्द्र, ब्रह्मरन्ध्र, उससे द्रवित होने वाला अमृत, कुडलिनी द्वारा षटचक्र वेध होने तथा सहस्रदलकमल तक पहुँचने पर अनहद नाद और अजपा जाप की सिद्धि यही विविधि शब्दो, रूपको और प्रतीको में स्पष्ट हुआ है। उदाहरण के लिए कबीर का एक पद लीजिए—

बधचि बधनु पाइआ। मुकतै गुरु अनलु बुझाइआ।
जब नखसिख इहु मन चीन्हा। तब अन्तरि भजनु कीन्हा।
पवन पति उन्मनि रहनु खरा। नही मिरतु न जनमु जरा॥१॥
उलटीले सकति सहार। पैसीले गगन मझार।
बेधीअले चक्र भुअगा। भेटीअले राइ निसगा॥२॥
चूकीअले मोह मइआसा। ससि कीनो सूर गिरासा।
जब कुभ कु भरि पूरि लीणा। तह बाजे अनहद वीणा।
बकतै बकि सबदु सुनाइआ। सुनतै सुनि मनि वसाइआ।
करि करिता उतरसि पार। कहै कबीरा सार॥[1]

इस योग का महत्व केवल एक दृष्टि से सत सप्रदाय में मान्य है। वह दृष्टि है अजपा जाप की और उससे सबध रखने वाली सहज या सहज समाधि की।

जव प्राणायाम साधन से मूलाधार चक्र में स्थित कुडलिनी सुषुम्णा नाडी के अन्तर्गत ऊपर चढती हुई इडा और पिंगला के वर्तुल मिलन केन्द्रो को (जिन्हें चक्रो की सज्ञा दी जाती है) पार कर चुकती है और सहस्रदलकमल में स्थित ब्रह्मरन्ध्र का द्वार खोलती है तो मस्तिष्क में अनाहत नाद होने लगता है और रोम रोम से शब्द ब्रह्म की झकृति होने लगती है। इस झकृति को ही अजपा जाप कहते हैं जिसके लिए किसी प्रयास की आवश्यकता नही होती, वह सास के आवागमन की भाँति स्वाभाविक रूप से होने लगता है—

सहजै ही धुन होत है, हरदम घट के माँहि।
सुरत शब्द मेला भया, मुख की हाजत नाँहि॥

इस अजपा जाप का ही विकसित रूप सहज समाधि है। जब अजपा जाप का यह स्वाभाविक आयासरहित क्रम जीवन के प्रत्येक कार्य-व्यापार में अवतरित हो जाता है तव वह अवस्था सहज समाधि की है। यह समाधि जाग्रत समाधि है। कवीर ने इसका विस्तार से वर्णन किया है—

---

१. संत कबीर, पृष्ठ १८६।

सतो सहज समाधि भली है।
साई से मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अन्त चली है।
आख न मूँदू कान न रूधू, काया कष्ट न धारू।
खुले नैन मैं हस हस देखू, सुन्दर रूप निहारू।
कहू सो नाम सुनू सो सुमिरन, जो कछु करू सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूं, भाव मिटाऊ दूजा।
जह जह जाऊ सोइ परिकरमा, जो कछु करीं सो सेवा।
जव सोऊ तव करू डडवत, पूजू और न देवा।
सव्द निरतर मनुआ राता, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत वैठत कवहु न विसरै, ऐसी तारी लागी।
कहै कवीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई।[1]

इस सहज समाधि के दो रूप हैं। पहला रूप तो हठयोग की सिद्धि के फल स्वरूप है जिसमें अजपा जाप की स्फूर्ति इन्द्रियो में भी अवतरित होकर उन्हें विशुद्ध कर देती है और दूसरा रूप वह है जव जीवन के समस्त कार्य-व्यापार इन्द्रियो के प्रभाव से मुक्त होकर अपने विशुद्ध रूप में आ जाते हैं। दूसरे शव्दो में जव चित्त-वृत्तियो का साधारणीकरण हो जाता है। माया-मोह से मुक्त होकर जीवन विशुद्ध हो जाता है और तभी उसमें परमात्मा के दर्शन होते है। सत कवीर ने इस सहज का वर्णन करते हुए लिखा है—

सहज सहज सव कोई कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै **विषया तजी**, सहज कहीजै सोइ।
सहज सहज सव कोई कहै, सहज न चीन्है कोई।
पाचू राखे परसती, सहज कहीजै सोइ।
सहज सहज सव कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै **हरि जी मिलें**, सहज कहीजै सोइ॥[2]

वास्तव में चित्त-वृत्तियो को विपय से मुक्त करना वहुत ही कठिन है, इसीलिए सहज अवस्था प्राप्त करना भी अभ्यास-साध्य है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी इस सहज को उस स्वाभाविक अनुराग का नाम देते हैं जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम-पात्र या प्रेमी के प्रति हुआ करता है। वौद्ध दर्शन में महासुख के रूप में और वैष्णव सहजिआ में राधा-कृष्ण के नित्य प्रेम में इस सहज का प्रयोग चतुर्वेदी जी मानते है।[3] सम्भव है, वौद्ध साहित्य और वैष्णव सहजिआ साहित्य में सहज का यही तात्पर्य हो, किन्तु

---

१ शव्दावली, कवीरचौरा, पृ० ५, वेलवेडियर प्रे०, भा० १ पृ० १८।

२. कवीर ग्रन्थावली : सहज को अग, पृष्ठ ४१-४२, सम्पादक श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

३. उत्तरी भारत की सत-परम्परा, पृष्ठ ९२।

सत सम्प्रदाय में सहज का यह अर्थ नही हो सकता। इसका कारण यह है कि सत कबीर ने सहज का प्रयोग जहाँ कही किया है, अधिकतर योग से सबध रखने वाले शब्दो के साथ ही किया है। उपर्युक्त पद में सहज के साथ समाधि शब्द का प्रयोग हुआ है। कही-कही सहज के साथ शून्य का प्रयोग है—

अबरन बरन घाम नही छाम।
अबरन पाइअ गुर की साम।
टारी न टरै आवै न जाइ।
सुन सहज महि रहिओ समाय॥[१]

इस भाँति कबीर की चरम साधना के दो मुख्य रूप हैं—भक्ति के अन्तर्गत रहस्यवाद तथा योग के अन्तर्गत सहज समाधि।

सामाजिक—सत सम्प्रदाय ने सामाजिक दृष्टि के निर्माण में आध्यात्मिक दृष्टि का ही आश्रय लिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से ब्रह्म की सत्ता कण कण में वर्तमान है। जब समस्त सृष्टि ही ब्रह्ममय है तो वस्तु और व्यक्ति में भेद कैसा! कबीर ने कहा है—

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।
अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निन्दा।
ता नूर थें सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा।
ता अला की गति नहिं जानी गुरि गुड दीया मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा॥[२]

समाज की व्यवस्था तब तक सम्भव नही है जब तक कि विविध व्यक्तियो और वर्गों का समुचित सगठन न हो। सत सम्प्रदाय में जो विधि-निषेध का आग्रह है वह इसलिए कि व्यक्ति गुणो के ग्रहण और दोषो के त्याग से अपने जीवन को सात्विक बना सके। यह सात्विकता जहाँ एक ओर धार्मिक जीवन की सभावनाएँ उपस्थित करती है वहाँ दूसरी ओर वह समाज में नैतिकता का प्रसार भी करती है। नीति की नीव पर जिस समाज का सगठन होता है, वह स्थायी और दृढ होता है। सत सम्प्रदाय ने समाज की व्यवस्था में पवित्र जीवन को अधिक महत्व दिया है।

समाज में जितने कम वर्ग होगे—जितनी कम जातियाँ होगी, सामाज की एक रूपता उतनी ही अधिक होगी। सत सम्प्रदाय ने वर्ग और जाति में अपना विश्वास नही रखा। यहाँ तक कि ब्राह्मण और शूद्र तथा हिन्दू और मुसलमान के भेद को हटाने का प्रयत्न शताब्दियो तक सत सम्प्रदाय द्वारा होता रहा। यही कारण है कि समाज पर बाहर और भीतर से अनेकानेक आक्रमण होते रहे, किन्तु यह समाज नष्ट-भ्रष्ट नही हो सका। आज भी निम्न जातियाँ जो धर्म में आस्था रखती हैं तथा समाज के अन्तर्गत हैं, वह अधिकाश में सत सम्प्रदाय का ही प्रभाव है। आज

---

१. सत कबीर, पृष्ठ २२६।
२. क० ग्र०, ना० प्र० स०, पृ० १०४।

धर्म और समाज अलग अलग हैं किन्तु शताब्दियो ने यह सिद्ध कर दिया है कि जिस समाज की नीव धर्म पर होगी वह समाज स्थिर रहेगा। धर्मरहित होकर समाज छिन्न-भिन्न हो जायगा।

सतकाव्य का शैली पक्ष

सतकाव्य भाव तथा अनुभूतिप्रवण था। उसमें सिद्धान्त-कथन का आग्रह नही था। कथनी की अपेक्षा करनी का विशेप महत्व था। इसलिए भक्ति द्वारा जीवन का जो परिष्कार हुआ वह आचरण द्वारा ही सभव हो सका। जो आनन्द रहस्यवाद में गूगे का गुड है, वह किस मुख से कहा जा सकता है। यदि उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता भी हुई तो वह टेढे-मेढे रूप से ही स्पष्ट हुआ। उपदेश और चेतावनी के रूप में यदि कुछ कहने का प्रसग आया तो वह ऐसे रूप में कहा गया जो सरलता से समझ में आ सके। इसलिए सत काव्य का शैली पक्ष साहित्यिक मान्यताओ के पीछे नही चला। सक्षेप में कारण निम्नलिखित हैं—

१ सम्प्रदाय ने किसी शास्त्र या सिद्धान्त ग्रन्थ का आवार नही लिया, इसलिए शास्त्रसम्मत शैली का अनुसरण नही किया जा सका।

२ सत सम्प्रदाय के सत अधिकतर समाज के सामान्य या निम्न वर्ग के थे जिनमें साहित्यिक अध्ययन और अनुशीलन की प्रवृत्ति अधिक नही मानी जा सकती।

३ सत सम्प्रदाय के पूर्व भाषा में साहित्यिक आदर्शो की वैसी स्थापना नही हुई थी, जैसी परवर्ती साहित्य में। जैन साहित्य, चारण साहित्य और नाथ साहित्य में जो उपदेशात्मक शैली थी, वही सतकाव्य को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। पूर्व में विद्यापति के पदो ने सतकाव्य की पद-शैली का मार्ग प्रशस्त किया।

४ सत सम्प्रदाय में काव्य की जो रचना हुई उसका लक्ष्य सामान्य जनता के बीच सत्य का निरूपण करना था और सामान्य जनता के लिए सरल भापा और सुवोध शैली की ही आवश्यकता थी।

५ नाथ सम्प्रदाय में प्रतीक शैली तथा उल्टवाँसियो की जो शैली थी उसी के अनुकरण में सतकाव्य ने प्रतीक शैली अपनाई, जो कुतूहल जनक और अस्पष्ट थी।

६ सत सम्प्रदाय के कवि भारत के विविध स्थानो में जनता के बीच सत साहित्य के आदर्शों पर काव्य रचना कर रहे थे। अत जो जिस स्थान का था उसने स्थानीय प्रभाव और वातावरण को ही ग्रहण किया।

७ सत पर्यटनशील थे, अत स्थान स्थान की भापा और मुहाविरे उनकी शैली में आप से आप आ जाते थे, इस भाँति उनकी भापा मिश्रित हो जाती थी और उसमें काव्यगत सौष्ठव नही आ पाता था।

शैली के अन्तर्गत रस, अलकार, छन्द, और भापा की समीक्षा होनी चाहिए। यहाँ हम उन पर सक्षेप में विचार करेंगे।

रस—जिस अर्थ और विशेपता के साथ काव्य में रस की सृष्टि होती है, वैसी विशेपता सतकाव्य में रस की नही है। रस का जो विशेप गुण साधारणीकरण है, वह इस काव्य में अवश्य है। वस्तुस्थिति का सौंदर्यवोध भी सतो द्वारा ग्रहण किया गया है, किन्तु स्थायी भाव, विभाव,

अनुभाव और सचारी भावो की सम्मिलित अनुभूति से रस-निष्पत्ति में सतो का काव्य नही लिखा गया। अपनी अनुभूति के चित्रण की विह्वलता में उनके पास इतना अवकाश भी नही था कि वे रस के उपकरण खोजते। दूसरी बात यह है कि सतो ने मुक्तक या गीतिकाव्य ही लिखा है, जिसमें वे अपनी प्रमुख भावना अपने आराध्य के अथक जिज्ञासु के समक्ष रख देते थे। प्रबन्ध काव्य में कथा या परिस्थिति के सूत्रो में रस-निर्वाह के लिए पर्याप्त स्थान मिलता है। यदि कोई कवि रस-सृष्टि करना चाहे तो वह मुक्तक और गीतिकाव्य में भी कर सकता है, किन्तु सत कवियो के समक्ष काव्यगत दृष्टि से अपनी रचना प्रस्तुत करने का ध्येय ही नही था। सत सुन्दरदास, दरिया साहब (बिहारवाले) या चरणदास में ही काव्य का निखरा हुआ रूप मिलता है।

भक्तो ने काव्य की रस-निष्पत्ति की चिन्ता नही की। उनकी समझ में तो भक्ति ही रस था और उसमें लीन होकर साधारणीकरण से ओतप्रोत एक वाक्य कह देना ही, उनके भक्तिरस की चरम सिद्धि थी। इस एक वाक्य में चाहे स्थायी भाव हो, चाहे विभाव, चाहे अनुभाव या चाहे सञ्चारी भाव मात्र हो।

जिन कवियो ने रहस्यवाद में दाम्पत्य प्रतीक ग्रहण किया है, उनमें सयोग और वियोग शृंगार के बडे सरस और हृदयग्राही चित्र मिलते हैं। यह बात अवश्य है कि उसमें उनकी व्यञ्जना परोक्ष या अलौकिक प्रेम की है। इसी प्रकार, जहाँ उन्होने नश्वर शरीर के विनाश की चर्चा की है, वहाँ चित्रण कही-कही वीभत्सता के निकट पहुँच गया है। यदि स्थायी भावादि की दृष्टि से रस की मीमासा न कर तीव्रानुभूति की दृष्टि से रस की मीमासा करें तो निष्कर्ष इस भाँति निकलेगा—

१ चेतावनी और उपदेश—शान्तरस।
२ ब्रह्म की विराट कल्पना—अद्भुत रस।
३ प्रेतादि और शरीर का विनाश—वीभत्स रस।
४ कर्मकाड और परपरा का परिहास—हास्य रस।
५ प्रतीक द्वारा विरह और मिलन—शृगार रस।

वीर, रौद्र, भयानक और करुण रस की व्यजना सत साहित्य में इसलिए नही है कि वे क्रोध के स्थान पर प्रेम और अनुराग को अपनी भावनाओ का माध्यम बनाना चाहते थे और अपने दृष्टिकोण में वे आशावादी थे। प्रधान रसो की दृष्टि से सतकाव्य में शान्त और शृगार रस माने जा सकते हैं।

अलकार—जब सत कवियो में काव्योत्कर्ष ही नही था तो अलकारो का साभिप्राय प्रयोग उनकी रचनाओ में आ ही नही सकता। किन्तु उन्होने अलकारो का प्रयोग अपने विचार-निरूपण में अवश्य किया है। जिस विचार को वे जनता के सामने करना चाहते थे अथवा किसी वस्तु-स्थिति से उसका साम्य उपस्थित करते थे तो उनके इस प्रयोग में उपमा, रूपक, यमक, दृष्टात, अर्थान्तरन्यास आदि अलकार सहज ही आ जाते थे। किन्तु वे इन अलकारो में काव्य सौंदर्य देखने की अपेक्षा अपने भावो का स्पष्टीकरण ही देखते थे। भावो के स्पष्टीकरण की दृष्टि से ही उन्होने प्रतीक पद्धति का आश्रय लिया। जब कि रचनाकार समझता है कि उसकी तत्वानुभूति सामान्य भाषा से प्रकट नही हो पाती तब वह प्रतीक का आश्रय ग्रहण करता है। यह प्रतीक शैली भिन्न-भिन्न रूपो में भारतीय साहित्य में स्थान पाती रही है। कही कही इसे 'कूट-काव्य' भी कहा गया

है। वेद कालीन साहित्य में भी अनेकानेक ऋचाएँ देवताओं और देवियों की शक्तियों के सबध में प्रतीकात्मक ढग से कही गई हैं। 'रान्या वत्सो अजायत'[1], अर्थात रात्रि ने एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका सकेत सूर्योदय से है। ऐसे अनेक अवतरण सहिताओं में प्राप्त होते हैं। उपनिषदो की दार्शनिक चिन्ताधारा में तो ब्रह्म का सकेत अश्वत्थ वृक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, जिसकी जडें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं—

ऊर्ध्वमूलो वाक् एकोश्वत्थ सनातन।
तदेव शुक्ल तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥[2]

महाकाव्य साहित्य में महाभारत तो प्रतीको से भरपूर है, जिनकी सख्या लगभग आठ सौ है। रामायण में अनेक अलकारो के साथ प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। यही परम्परा भागवत पुराण में भी है, जहाँ दार्शनिक तत्वो का निरूपण प्रतीको द्वारा हुआ है। अपभ्रश भापा के परवर्ती काल में तथा हिन्दी के आदि काल में इन प्रतीको को 'सधा भापा' की प्रमुख शैली के रूप में स्थान दिया गया है। चौरासी सिद्धो के वज्रयानी सिद्धान्तो में इनका यथेष्ट प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए, भुसुकिपा के एक चर्यापद में कहा है—अधकारमयी रजनी है जिसमें मृत्यु चूहे की भाँति जीवन का आहार कर रही है—

निसि अधारी मूसा अचारा।
अमिअ भखअ मूसा करअ अहारा॥
मार रे जोइआ मूसा पवणा।
जेण टूटअ अवणा गवणा।[3]

ये प्रतीक दो प्रकार के हैं। पहला प्रकार तो मान्यता के आधार पर किन्ही विशिष्ट शब्दो के विशिष्ट अर्थों की व्यजना में है, जैसे सत सम्प्रदाय में सिंह शब्द ज्ञान के लिए, चींटी शब्द सूक्ष्म वुद्धि के लिए, पनिहारी शब्द इन्द्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। इसे हम अर्थ रूपको की कोटि में रख सकते हैं। दूसरा प्रकार उल्टबाँसियो का है जिन्हें हम प्रतीक रूपक या अर्थविपर्यय रूपक कह सकते हैं। सत सम्प्रदाय में तत्व चिंतन की दिशा में इन दोनो का प्रयोग हुआ है।

अर्थ रूपक—ये रूपक सामान्य जीवन की घटनाओं पर आधारित हैं। किन्ही विशिष्ट परिस्थितियो की गूढ व्यजना आध्यात्मिक अर्थ में घटित करने का उद्देश्य ही इन रूपकों की रचना का कारण है। उदाहरण के लिए कबीर की एक साखी लीजिए—

कबीर ऐसा काई न जनमिओ, अपने घर लावै आगि।
पाचउ लरिका जारिकै, रहै राम लिव लागि॥१॥[4]

इस रूपक का स्पष्टीकरण है—

---

१. ऋग्वेद, प्रथम मंडल, १६४, २६।
२. वृहदारण्यक, २, ३, १।
३ चर्यापद, मणींद्रमोहन वसु सम्पादित, पृ० १०९।
४. सत कबीर, पृष्ठ २५४।

घर=शरीर
आगि=ब्रह्मज्ञान
पाचउ लरिका=पचेन्द्रियाँ

इन अर्थ रूपको से जहाँ काव्य का सौंदर्य बढता है, वहाँ अर्थ की अनुभूति भी सरलता से हो जाती है। इनके द्वारा दर्शन और धर्म की गम्भीर से गम्भीर बातें अत्यन्त सरल और सुबोध ढग से कह दी जाती हैं। इन रूपको में आटा, आम, ओला, कसौटी, किसान, कुत्ता, कुम्हार, खाड, गगरी, गाँव, गाय, गूँगा, चन्दन, चक्की, चोर, चौपड, जुलाहा, थैली, दही, दीपक, नट, नाव, पनिहारी, बनजारा, बाजीगर, बीज, बूँद, मखी, मछली, लकडी, विवाह, वैद्य, साँप, सवार, हल्दी, हाँडी, हाथी आदि अनेक प्रकार से उपयोग में लाए गए हैं।

इन जाने-पहिचाने हुए रूपको से तत्व-दर्शन की कठिन बातें भी आसानी से समझ में आ जाती हैं।

उल्टवाँसी—प्रतीक रूपक अथवा धर्म विपर्यय रूपक को ही उल्टवाँसी कहते है। प्राकृतिक परिस्थितियो को उलट कर विपरीत निरूपण करना ही इस शैली का उद्देश्य है। ऐसा वर्णन प्रथम दृष्टि में तो असभव-सा लगता है, किन्तु जब आध्यात्मिक दृष्टि से उसका विश्लेषण किया जाता है तो उसमें चमत्कारपूर्ण अर्थ निहित रहते हैं। उल्टवाँसी की अस्पष्टता भाषा या वर्ण्य विषय की नही है, वह अस्पष्टता शैली की है। केवल सत साहित्य के कवियो ने ही नही, ससार के सभी रहस्यवादी कवियो ने अपने आनन्द की अनुभूति स्पष्ट करने में इस शैली का आश्रय लिया है। बडे से बडा विद्वान उल्टवाँसी का अर्थ स्पष्ट नही कर सकता। उसे तो वही समझ सकता है जो आध्यात्मिक सकेतो से परिचित है। इन प्रतीक रूपको की सृष्टि गभीर मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अनुभवो द्वारा ही सभव है। इसीलिए ये सामान्य और सरल भापा द्वारा व्यक्त नही किए जा सकते। फारसी के कवि इजुलफरीद ने अपने ३९६ वें गीत में कहा है कि इन प्रतीक रूपको का भाव सामान्य भापा में कैसे कहा जा सकता है। मुस्क.न शब्दो में कैसे बाँधी जा सकती है। आर० ए० निकल्सन ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि एक हो जाने का हर्ष तो रूपक द्वारा ही व्यक्त हो सकता है। सामान्य कथन तो अर्थ को छू भी नही सकता। जो रहस्य अनुभव से प्राप्त हुआ है, वह विद्वत्ता से कैसे व्यक्त किया जा सकता है?

उल्टवाँसी का अर्थ विपरीत-कथन है। इसमें कार्य अथवा वस्तु की स्वाभाविक क्रिया को उलट कर असम्भव-सी स्थिति उत्पन्न करना है। यह स्थिति परिहासमयी हो उठती है। 'पहले पुत्र हुआ, पीछे माता हुई' का सामान्य अर्थ समझ में नही आता, किन्तु यदि पुत्र को जीव मान लिया जाय और माया को माता तो यह सरलता से समझ में आ जाता है कि जीव के उत्पन्न होने पर माया उसे चारो ओर से घेर लेती है।

आधार—इस उल्टवाँसी की कल्पना का एक विशिप्ट आधार है। हठयोग के आठ अग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अगो में प्रत्याहार का विशेप महत्व है। प्रत्याहार में साधक को अपनी इन्द्रियो को विपय-वासना में विचरण करने के वदले भीतर की ओर ले जाने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो में इन्द्रियो के वहिर्मुखी होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी होने की आवश्यकता है, अर्थात उन्हें अपनी गति में उलट जाना है। इन्द्रियो

के उलट जाने से इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य विषय भी उलट जाते हैं। सासारिकता उलट कर आध्यात्मिकता में परिणत हो जाती है। इस उलट लेने की क्रिया का परिणाम कबीर ने अपने एक शब्द में अत्यन्त विस्तार से किया है—

जम ते उलटि भये हैं राम।
दुख विनसे सुख कीओ विसराम।।
वैरी उलटि भए हैं मीता।
साकत उलटि सुजन भये चीता।।
अब मोहि सरब कुसल करि मानिआ।
साति भई जब गोबिंद जानिआ।।
तन महि होती कोटि उपाधि।
उलटि भई सुख सहज समाधि।।
आपु पछानै आपै आप।
रोगु न बिआपै तीनौ ताप।।
अब मन उलटि सनातन हुआ।
तब जानिआ जब जीवत मूआ।
कहु कबीर सुखि सहजि समावउ।
आपि न डरउ न अवर डरावउ।।[1]

प्रत्याहार में इन्द्रियो के विषय अन्त करण को स्पर्श नही कर पाते, इसलिए उनका कोई प्रभाव भी नही होता। प्रभाव न होने पर अन्त करण शुद्ध हो जाता है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और इन्द्रियो की गति अन्तर्मुखी होने के कारण वह अपने आप को पहिचानने लगता है। इन्द्रियो के इसी विपर्यय में उल्टवांसी का निर्माण होता है।

दूसरी बात यह भी है कि आध्यात्मिक दृष्टि और सासारिक दृष्टि में विरोध है। जो सासारिक दृष्टि से सत्य है वह आध्यात्मिक दृष्टि से मिथ्या है। यह ससार, जो हमें प्रतिक्षण सत्य भासित होता है, दार्शनिक दृष्टि से देखने पर मिथ्या ही है। अत सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य रूप देते समय भी उलटने की क्रिया हो जाती है।

तीसरी बात यह भी हो सकती है कि आध्यात्मिक सत्य का सौंदर्य सामान्य व्यक्ति ग्रहण ही नही कर सकता। अत अपात्र या कुपात्र के हाथों से इस सौंदर्य की रक्षा करने के लिए ही उसे प्रच्छन्न रूप से प्रस्तुत किया जाता है।

सामान्य व्यक्ति उसे समझ ही नही सकेगा। जो उस तत्व का जानकार है और जिसके पास उस रहस्य की कुजी है वही सरलता से वास्तविक सत्य को ग्रहण कर लेगा।

चौथी बात कुतूहल उत्पन्न करने की हो सकती है। जिज्ञासु का आकर्षण इस शैली के प्रति अधिकाधिक तीव्र होगा और वह धर्म में दीक्षित होकर अथवा उपदेश का सत्पात्र बन कर उस उल्टवांसी का अर्थ समझ कर ही रहेगा।

---

१. संत कबीर, रागु गउडी, १७, पृष्ठ १९।

इस भाँति निम्नलिखित उद्देश्यो से प्रेरित होकर उल्टवाँसियो का प्रयोग सत साहित्य में हुआ है —

(१) प्रत्याहार की सिद्धि,
(२) आध्यात्मिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा,
(३) दुरुपयोग से बचाने के लिए प्रच्छन्न कथन,
(४) कुतूहल और जिज्ञासा की शाति ।

सत काव्य की रचना सामान्य रूप से जनसाधारण की स्वाभाविक भाषा में ही हुई है, किंतु कही कही तत्वनिरूपण या विशिष्ट उपदेश के लिए रूपक-प्रतीको और उनके अन्तर्गत उल्टवाँसियो का भी प्रयोग किया गया है।

छन्द—सत सप्रदाय के विस्तार में छदो का विशेष हाथ है। सतकाव्य में प्रमुख रूप से साखी और शब्द का प्रयोग हुआ। साखी वस्तुत दोहा ही है, किंतु उसे आध्यात्मिक नाम 'साखी' दे दिया गया है। जो कथन सत्य के साक्षी स्वरूप है वही साखी है। इसी प्रकार पदो को 'शब्द' सज्ञा दी गई है—जो कथन शब्द ब्रह्म के रूप में है अथवा जो उपदेश शब्द रूप में पद का ही रूप है, जो सगीत के स्वरो में गाया जाता है ।

साखी और शब्द सरल और सगीतात्मक छद है। इनके द्वारा सतो की वाणी न केवल उपदेश रूप में सामान्य जनता को सुनाई जा सकती है, वरन सहज ही कठस्थ भी हो जाती है। इसी कारण सत काव्य का प्रचार शताब्दियो तक जनता ग्रहण करती रही। आज भी कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि के पद जनता की स्मृति में सुरक्षित हैं।

साखी और शब्द के अतिरिक्त चौपाई (जिसका प्रयोग अधिकतर आरती में हुआ है), कवित्त, सवैया, हसपद (जिसका प्रयोग अधिकतर ककहरा में हुआ है), झूलना, आदि भी सतकाव्य में प्रयुक्त हुए है । राग-रागिनियो मे गाए जाने के कारण इन छदो की ओर जनता सरलता से आकृष्ट हुई।

भाषा—सतकाव्य की भाषा सामान्य जनता की भाषा है। उसमें न तो पद-सौष्ठव की दृष्टि से कोई परिष्कार हुआ और न उसमें सस्कृत के कठिन शब्द ही रक्खे गए। विचारधारा शास्त्रीय न होने के कारण भी भावो के लिए विशिष्ट शब्दो के प्रयोग की आवश्यकता नही जान पडी। सतकाव्य जनसमुदाय के लिए ही लिखा गया था, अत भावो के प्रचार एव प्रसार के लिए भापा का सरल होना आवश्यक था। यदि कठिन भापा का प्रयोग किया जाता तो उसके द्वार ईश्वर सबधी कठिन और दुरूह विपय जनसमाज तक कैसे पहुँच सकता था?

सतकवि भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न स्थानो पर होते रहे । वे सामान्य समाज के व्यक्ति थे ही। ऐसी स्थिति में जिस स्थान पर उनका आविर्भाव हुआ उसी स्थान की सामान्य भापा उनके काव्य का माध्यम बनी। उन्होने जिस प्रदेश में पर्यटन किया, वहाँ की भापा के भी कुछ शब्द उनकी रचनाओ में आ गए । उनकी रचना जनता के मुख की निवासिनी थी, अत जितनी बार वह दुहराई गई उतनी बार उसमें कुछ न कुछ अन्तर आता गया। गेय होने के कारण उनके पदो की भापा में भी परिवर्तन होता रहा ।

ये रचनाएँ बहुत समय तक लिपिबद्ध भी नही हुई, अत जिस स्थान पर ये प्रचलित रहीं

वहाँ का प्रभाव धीरे-धीरे उन पर बढता गया। जब ये रचनाएँ लिपिबद्ध हुईं तो लिपिकर्ता जिस स्थान का था, उस स्थान की भाषा का प्रभाव कवि की रचना पर अज्ञात रूप से पडता रहा। इस प्रकार सतकाव्य की भाषा का रूप अत्यन्त अस्थिर और अप्रामाणिक बन गया। पन्द्रहवी शताब्दी में कही हुई सत कबीर की रचना वर्तमान भाषा के रूप में भी कही कही पढने को मिल जाती है।

अधिकाश सत पूर्वी क्षेत्रो, राजस्थान तथा पजाब में हुए। अत सतकाव्य की भाषा के रूप हमें उन प्रातो की भाषा में ही अधिकतर मिलते हैं।

अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पजाबी भाषाओ में सतकाव्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। ये भाषाएँ पारस्परिक रूप से प्रभावित हुईं। अवधी पर भोजपुरी का या पजाबी का प्रभाव स्पष्ट देखा जाता है। इसी प्रकार राजस्थानी पर अवधी या भोजपुरी का प्रभाव देखा जा सकता है। जब तक सतकाव्य के प्रामाणिक सस्करण उपलब्ध नही होते, तब तक उसकी भाषा के सबध में निश्चित निष्कर्ष नही निकाले जा सकते।

उपसहार

इस देश के इतिहास में जहाँ सत सप्रदाय ने जनता में नैतिक बल का विकास किया, वहाँ सतकाव्य ने हिन्दी काव्यधारा को देश के कोने-कोने में प्रवाहित कर दिया। जब धर्म के मानदण्डो में नवीन परिवर्तन हो रहे थे और उसे अनेक परिस्थितियो से सघर्ष करना पड रहा था उस समय सत सप्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, व्यावहारिक और विश्वासमय रूप उपस्थित किया कि वह विश्वधर्म बन गया और शताब्दियो के लिए जन-जागरण का सदेश लेकर चला। उसने अधविश्वासो को तोड कर समाज का पुन सगठन किया, जिसमें ईर्ष्या-द्वेष के लिए कोई स्थान नही था। समाज के जिस स्तर तक देववाणी नही पहुँच सकती थी तथा धार्मिक ग्रथो की गहराई की थाह जिनके द्वारा नही ली जा सकती थी, उन्हें धर्मप्रवण बनाकर आशा और जीवन का सदेश सुनाना सत सप्रदाय द्वारा ही सभव हो सका था। पुरातन का सशोधन और नवीन का सचयन करने में सत सप्रदाय ने विशेष अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक दिशाओ में इस सप्रदाय ने जो कार्य किया है उसे इतिहास कभी भुला नही सकेगा।

सतकाव्य ने हमारी जन-भाषाओ को बडा बल दिया है। उन भाषाओ में जो काव्य लिखा गया, वह साहित्य का स्थायी अश है। लगभग चार शताब्दियो से सतो की वाणी ने जो जनता को आस्तिकता का सबल दिया है वह अभी तक उसी रूप में वर्तमान है। आचरण की पवित्रता का जो उपदेश सतवाणी में है, उसका सास्कृतिक मूल्य कितना अधिक है।

काव्य की दृष्टि से भी सतवाणी का महत्व है। सत्य का ओजस्वी निरूपण निर्भीकता के साथ होते हुए भी बहुत कोमल भावनाओ और कल्पनाओ से सपन्न है। ये सत वास्तविक अर्थ में कवि थे। उनमें भाषा का लालित्य और रस-अलकार का निर्वाह सम्यक रूप से भले ही न हो, किन्तु उनमें जो सौंदर्य-दृष्टि है, वह वस्तुवाद को छूती हुई भी उससे परे है। यह सौंदर्य इन्द्रियो का विषय न होकर अत करण का विषय है। इसीलिए जो सतवाणी में उपदेश है, वे निरे आदेश-सूत्र न होकर जीवन की सरसता से ओतप्रोत हैं। उनमें जीवन का सदेश है, अनुभूति की तन्मयता

है। जीवन के विश्लेषण में एक-एक अग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म परख है। उसमें निहित रहस्य की सूचना है। आत्म-विश्वास, आशावाद और आत्माभिव्यक्ति की जीवत शक्तियाँ सतो की वाणी में है। इसीलिए सौंदर्य के साथ सत्य को लेकर सत कवियो ने हिन्दी काव्य को सम्पन्न किया है।

परिशिष्ट

सतकाव्य में अग-क्रम

सतकाव्य में धर्म की विवेचना विविध अगो में की गई है, जैसे गुरुदेव को अग, सहज को अग आदि। कवियो ने अपना वर्ण्य विषय जब साखियो और शब्दो में लिखा तब उनका वर्गीकरण उन्होने विशिष्ट कोटियो में किया। इसमें तीन विशेषताएँ थी —

१ किसी विषय विशेष पर उनका कथन एक ही स्थान पर प्राप्त हो जाय।

२ विषय को समान विचार-कोटियो की उलझन से बचा कर स्पष्टता दी जा सके।

३ सरलता से उसे स्मृति में सुरक्षित किया जा सके।

विचारधारा के ये अग अनेक विषयो से सबध रखते है। उनमें कही धर्म, कही दर्शन, कही आचार, कही विधि-निषेध, और कही नीति है। कही कही स्पष्ट उपदेश भी है। इनमें भी अनेक भेद-उपभेद हैं। स्थान-स्थान पर परपरागत और समकालीन विचारधाराओ का खडन-मडन भी है। इन विचार-कोटियो के सबध में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते है—

१ विचार कोटियो का समुचित विस्तार तो है किन्तु विषय-कोटियो का विस्तार नही है।

२ इनमें शास्त्रीय पद्धति न होकर अनुभवगम्य जीवन का सत्य है।

३ विश्वास का अनुपात तर्क से अधिक है।

४ भाव-प्रतिपादन के लिए उदाहरण स्वरूप उपमा, रूपक, और दृष्टान्त ग्रहण किए गए है।

५ साधारणत भाषा सरल और स्वाभाविक है।

नीचे उद्धृत की गई तालिका यह स्पष्ट करने के लिए बनाई गई है कि सतकाव्य में किस विपय का महत्व कितना है। काव्य में मान्य विपयो के क्रम से यह सूची है जिससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि सत कवियो ने किस अनुपात में अपने वर्ण्य विपय को प्रधानता दी है, किस विषय पर उन्होने सब से अधिक बल दिया है और किस पर कम।

सामान्य रूप से विचारधारा का निर्धारण करने के लिए एक ही स्थान से प्रकाशित सतवाणी सग्रह[1] का उपयोग किया गया है।

यद्यपि इस ग्रथ की प्रामाणिकता सदिग्ध है तथा काव्य-सग्रह में भी रुचि वैचित्र्य से भेद पड सकता है, तथापि सतकाव्य की प्रवृत्तियो के निरूपण में कुछ सामान्य निष्कर्ष तो निकाले ही जा सकते हैं। सतकाव्य की प्रवृत्तियो का सकेत करना ही यहाँ अभीष्ट है।

---

१ प्रकाशक बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

इस सवव में निम्नलिखित कवियो की रचनाएँ (शब्द और साखियाँ) गणना में रक्खी गई हैं—

(अकारादि क्रम से) कवीर, काष्ठ जिह्वा स्वामी, गरीवदास, गुरुनानक, गुलाल साहव, चरनदास, जगजीवन साहव, तुलसी साहव, दयावाई, दरिया साहव (विहार), दरिया साहव (मारवाड), दादूदयाल, दूलनदास, धनी वर्मदास, धरनीदास, नरसी मेहता, नामदेव, पलटू साहव, पीपाजी, वुल्ला साहव, वुल्ले शाह, भीखा साहव, मलूकदास, यारी साहव, रैदास, सदना जी, सहजोवाई और सुन्दरदास। इस भाँति अट्ठाईस सत कवियो की सग्रहीत वानियो को मिलाकर निर्गुण सप्रदाय की विचारधारा के विविध अगो का सापेक्ष्य महत्व कितना है इसका निष्कर्प निम्नलिखित तालिका से ज्ञात होगा। अगो के सामने जो अक दिए गए है वे शब्द और साखी की सख्या के हैं—

१	विनय या विनती	२८०	२८	कपट या कपटी	१६
२	उपदेश	२६८		करम धरम	,,
३	चेतावनी	२३५		दया	,,
४	गुरुदेव	१९९		नन्हा महा उत्तम	,,
५	प्रेम	१९८		निन्दा	,,
६	विरह या विरह उराहना	१४२		पारख	,,
७	नाम	१२८		सारगहनी	,,
८	साधु या साधु के लक्षण	१०८		होली	,,
९	सुमिरन	७३	२९	मूर्तिपूजा और तीर्थ	१५
१०	सूरमा	६६		सूक्ष्म मार्ग	,,
११	सत्सग	४६	३०	वैराग	१४
१२	भेद या भेदवानी	४४		भक्तजन	,,
१३	घटमठ	४३		मवास अहार	,,
१४	मन	४२		लव	,,
१५	पतिव्रत (ता)	३८		सेवक और दास	,,
१६	अनहद शब्द	३६	३१	दुर्जन	१२
१७	साच	३३		सत्त वैराग जगत मिथ्या	,,
१८	भेप या भेप की रहनी	३२	३२	दीनता	११
१९	परिचय भक्ति और लय	३१		दुष्ट	,,
२०	माया	२९		सच्चिदानन्द	,,
२१	विश्वास	२८	३३	काम	१०
२२	कनक कामिनी	२७		तीर्थ व्रत	,,
२३	मान और हगता	२३		सत या साध	,,
२४	शब्द या सुरत शब्द योग	२२	३४	अजपा जाप	९
	जीवन मृतक	,,		निर्गुण सगुण निवारण	,,
२५	वेहद	१९		मौन भक्ति	,,
२६	कुसग	१८	३५	क्रोध	८
	विचार सामर्थ या सर्व समरथ	,,		गुरु शिक्षा खोज	,,
२७	जरना	,,		निज कर्ता निर्णय	,,
	निद्रा	१७		कभिचारिन	,,

	ब्राह्मण	८
३६	झूठे गुरु	,,
	दुविधा	,,
	नित्य अनित्य सांख्यमत	७
	मध्य	,,
	लोभ	,,
३७	आतम अनुभव	६
	करनी और कथनी	,,
	कर्म अनुसार जोगी	,
	पडित और सस्कृत	,,
	पाखडी	,,
	मोह	,,
३८	असाध	५
	आशा	,,
	उदारता	,,
	जीवन की अज्ञानता	,,
	ज्ञान	,,
	तृष्णा	,,
	धीरज	,,
	बदगी	,,
	वाचक ज्ञान	,,
	सती	,,
	नसा	,,
३९	अनुभव ज्ञान	४
	क्षमा	,,
	मनमुख	,,
	विवेक	,,
४०	अद्वैत	३
	असारगहनी	,,
	आन देव की पूजा	,,
	गुरुमुख	,,
	गृहस्थ की रहनी	,,
	जागृत	३
	ज्ञानी	३
	ध्यान	,,
	निन्दक	,,
	महत	,,
	वचन विवेक	,,
	सतोष	,,
	सजीवन	,,
४१	अपारख	२
	कपट भक्ति	,,
	करुना	,,
	कलयुग महिमा	,,
	निगुरा	,,
	नि सशय ज्ञानी	,,
	बसत	,,
	वैराग की रहनी	,,
	शील	,,
	सहज	,,
	समदृष्टि	,,
	सादा खानपान	,,
	स्वादिष्ट आहार	,,
	स्वरूप विस्मरण	,,
	साख्य ज्ञान	,,
४२	अहकार	१
	कर्म भर्म	,,
	गुप्त	,,
	जगत मिथ्या	,,
	बारह मासा	,,
	भ्रम	,,
	जाति पाति भेद खडन	,,
	जीवात्म वा प्राप्त	,,
	देहात्मा विछोह	,,
	नारी पुरुप	,,
	प्रेम ज्ञानी	,,

७. सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य

परिचय

सूफी प्रेमाख्यान वा सूफी प्रेमगाथा वाला 'सूफी' शब्द एक मत विशेष के अनुयायियो का सूचक है, जिनका बहुत-कुछ परिचय इसकी व्युत्पत्ति के विषय में किए गए विविध अनुमानो के आधार पर भी उपलब्ध किया जा सकता है। 'सूफी' शब्द को कुछ लोगो ने 'सफा' (पवित्रता) से बना हुआ बतलाया है, तो दूसरो ने इसका 'सफ्फ' (आगे की पक्ति) से निर्मित होना स्वीकार किया है तथा इसी प्रकार यदि किसी-किसी ने 'सोफिस्त' (ज्ञानी) शब्द का एक विकृत रूप समझ रखा है, तो अन्य लोगो ने इसे 'सूफा' (अरब की एक जाति विशेष) वा 'सुफ्फाह' (भक्त विशेष) का एक रूपातर मान लिया है। किंतु स्पष्ट है कि इन जैसे अनुमानो द्वारा प्रस्तावित शब्दो में से किसी के भी सहारे 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय नही किया जा सकता और तदनुसार, इतना और भी कहा जा सकता है कि यहाँ पर केवल अटकल मात्र से ही काम लिया गया है जिससे इनमें कुछ न कुछ खीचातानी भी अवश्य आ गई है। इनसे कही अधिक तर्कसगत अनुमान, कदाचित्, उन लोगो का ही कहा जा सकता है जिनके अनुसार 'सूफी' शब्द 'सूफ' (ऊन) के आधार पर निर्मित ठहराया जाता है। कहते भी हैं कि पहले के सूफी लोग केवल मोटे ऊनी वस्त्रो को ही अपने उपयोग में लाया करते थे और यह, सभवत, उन कतिपय ईसाई सतो के अनुकरण में था जो ससार का त्याग कर सन्यासियो जैसा जीवन व्यतीत करने का व्रत लिए रहते थे और जिनका आचरण भी अत्यन्त सीधा-सादा और पवित्र था। ऐसी रहन-सहन के कारण इन सूफियो की पहले निंदा भी की गई, किंतु इन्होने इस बात की कोई परवा नही की, प्रत्युत इस पहनावे को इन्होने एक विशिष्ट प्रकार का रूप भी दे दिया।

अतएव, 'सूफी' शब्द मूलत उन अरब और ईराक देशो के कतिपय व्यक्तियो को ही सूचित करता जान पडता है जो मोटे ऊनी वस्त्रो का चोगा पहना करते थे, जो विरक्तो वा सन्यासियो का-सा पवित्र जीवन यापन करते थे तथा जो अपनी महत्वपूर्ण साधनाओ के कारण मुस्लिमो की अगली पक्ति में खडे होने के अधिकारी थे। पता चलता है कि उन दिनो ऐसे सूफियो का कोई विशिष्ट सप्रदाय नही था और इनमें स्वभावत उन लोगो की गणना कर ली जाती थी जो न केवल हजरत मोहम्मद, अपितु उनके सहयोगी और कुछ उत्तराधिकारी खलीफाओ तक के सात्विक जीवन का आदर्श स्वीकार करते थे तथा जो, इसके साथ ही, प्रचलित अधविश्वासो में आस्था न रखते हुए ईश्वर के प्रति प्रगाढ प्रेमभाव रखना अपना परम कर्तव्य समझते थे। इस्लाम धर्म के इतिहासो में प्रारभिक युग के सूफी केवल इन्ही विशेषताओ के लिए प्रसिद्ध बतलाए गए हैं और ईस्वी सन की आठवी शताब्दी तक की सूफी-साधना भी प्रमुखत आचरण-प्रधान ही रही

है। परन्तु नवी शताब्दी के सूफियो ने क्रमश गभीर चिंतन और अध्यात्मवाद की चर्चा का भी अभ्यास आरभ कर दिया और सूफी मत में दार्शनिकता का प्रवेश हो गया। इस प्रकार, उसका मूल इस्लामी विचारधारा से भिन्न दिशा की ओर जाना देखकर ग्यारहवी शताब्दी से उसे सँभाल कर सुव्यवस्थित रूप देने का भी प्रयत्न होने लगा। सूफीमत का प्रचार उन दिनो इधर ईरान तक हो चुका था और सभवत वही से साम्प्रदायिक रूप ग्रहणकर यह भारतवर्ष की ओर भी अग्रसर हुआ। उसी शताब्दी में यहाँ प्रसिद्ध सूफी अलहुज्विरी का भी अफगानिस्तान से आगमन हुआ जिसने सर्वप्रथम इसके लिए यहाँ ग्रन्थ-प्रणयन एव प्रचार-कार्य की वुनियाद डाली।

सूफी साहित्य

अलहुज्विरी ने सूफीमत के प्रचार में अच्छी सफलता पाई और वे यहाँ पर 'हजरत दाता गज' कहलाकर प्रसिद्ध हो गए। उन्होने अपनी रचना 'कुश्फुलमहजूव' द्वारा अपने सप्रदाय की अनेक बातो का स्पष्टीकरण बडे विशद रूप में किया और अपने समय तक विकसित इसके रूप का एक सागोपाग विवरण तक उपस्थित कर दिया। उनका यह ग्रथ बहुत कुछ उसी आदर्श पर लिखा गया था जिसका अनुसरण उनके पहले से होता आ रहा था। वास्तव में सूफीमत के प्रचार-कार्य में फारसी साहित्य के तत्कालीन निर्माताओ ने अपना हाथ वहुत कुछ अशो तक वँटाने की चेष्टा की। इसकी जो बातें केवल नीरस उपदेशो से भरी प्रतीत हो सकती थी उन्हें फारसी के योग्य कवियो ने अपनी रोचक शैली द्वारा आकर्पक रूप देकर सर्वसाधारण तक के लिए स्वीकार्य बना दिया और इस प्रकार सूफीमत के शुष्क वैराग्य में भी सरसता आ गई तथा सूफियो के जीवना-दर्श वाली सादगी पर भी एक अपूर्व मस्ती का रग चढ गया। फारसी कवियो की एक वहुत वडी विशेपता यह भी थी कि वे अपनी रचनाओ के वर्ण्य विपय से अविक ध्यान उसकी वर्णन-शैली की ओर दिया करते थे तथा घटनाओ के वर्णनो को विवरणपूर्ण भी वना देते थे। इस कारण उन्होने अपने लिए ऐसे छद और काव्य-प्रकार भी अपनाए जिनके द्वारा उन्हें इस ओर कुछ अधिक सफलता मिल सकती थी। 'रुवाई' छदो की रचनाओ द्वारा जहाँ एक ओर उन्होने अपनी चमत्कारपूर्ण व्यजना का कौशल दिखलाया तथा इसी प्रकार अपनी 'गजलो' के सहारे जहाँ गूढातिगूढ रहस्यो के भी उद्घाटन का सफल प्रयत्न किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होनें अपनी 'मसनवी' कही जाने वाली रचनाओ के निर्माण द्वारा किसी विपय को विस्तारपूर्वक चित्रित करने की कला में भी कमी नही आने दी। इस मसनवी रचना-पद्धति के प्रयोग से उन्होने न केवल धार्मिक वा उपदेशपूर्ण ग्रथो का ही प्रणयन किया, अपितु ऐसे सुन्दर प्रेमाख्यानो की भी रचना कर डाली जिनके कारण उनमें से कई-एक, आज अनेक शताव्दियो के वीत जाने पर भी, अमर वने हुए है। सूफीमत की दृष्टि से प्रेम-सावना को विशेप महत्व दिया जाता है और सूफी लोग ईश्वर के प्रति अनुभूत प्रेम-भाव अथवा 'इश्क हकीकी' का वर्णन वडे चाव के साथ किया करते हैं। मसनवी काव्यो के रचयिता सूफी कवियो ने एक ऐसी वर्णन-शैली अपनाई जिसके सहारे इस आध्यात्मिक प्रेम का स्पष्टीकरण 'इश्क मजाजी' वा लौकिक प्रेम की कहानियो के सावारण व्यापारो द्वारा भी किया जा सकता था।

प्रेमाख्यानो की परम्परा

प्रेमाख्यानो के निर्माण की परम्परा केवल फारसी साहित्य की ही विशेपता नही है, इसके

उदाहरण अन्यत्र भी पाए जाते हैं। इनके अविकसित रूप का पता हमें भारत के प्राचीन ग्रथ 'ऋग्वेद' के कतिपय सवादो तक में मिलता है। प्रेमाभिव्यक्ति का विषय ही इतना रोचक है कि वह न केवल 'आपवीती' के रूप में होने पर, अपितु किन्ही अन्य दो व्यक्तियो की प्रेम-कहानी बन जाने पर भी, कथन एव श्रवण दोनो प्रकार से ही, आनन्दप्रद हो जाता है। तदनुसार प्रेमाख्यानो की सख्या, प्राय प्रत्येक साहित्य के अतर्गत, बहुत बडी पाई जाती है और कभी-कभी तो अन्य प्रकार के भी आख्यानो मे प्रेमात्मक प्रसग आ जाते है। सस्कृत साहित्य की पौराणिक रचनाओ में जिनका प्रमुख विषय विविध युगो और मन्वन्तरो का वर्णन करना रहता है, इन प्रेमाख्यानो का बाहुल्य दीख पडता है और कथा एव काव्य कहे जाने वाले उसके अगो में तो इसकी इतनी प्रचुरता है कि यदि उन्हें हम प्रेमप्रधान भी कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य के 'जातक' सज्ञक अश में तथा जैन साहित्य की धर्मकथा एव उपमिति कथाओ में भी हमें इनके अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। बौद्ध एव जैन प्रेमाख्यानो में तो यह बात भी उल्लेखनीय है कि यहाँ पर इनके द्वारा धार्मिक बातो के प्रचार का भी काम लिया जाता है। प्रमुख अतर केवल यही प्रतीत होता है कि सूफी प्रेमाख्यानो में जहाँ किसी लौकिक प्रेम-व्यापार का वर्णन उसके आध्यात्मिक रूप का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से किया जाता है, वहाँ बौद्ध एव जैन प्रेमाख्यानो की कथाओ द्वारा इसका चित्रण इस प्रकार किया जाता है जिससे चरम धार्मिक उद्देश्य की दृष्टि से इसका महत्व अति नगण्य सिद्ध हो जाय। सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रश के कथा-साहित्य अथवा काव्य-साहित्य के अन्य प्रकार वाले प्रेमाख्यानो मे ऐसे किसी उद्देश्य का कोई सकेत नही मिलता।

प्रेमाख्यान का स्वरूप

प्रेमाख्यान का 'आख्यान' शब्द मूलत आख्यायिका का ही एक रूपान्तर-सा प्रतीत होता है और इसके अर्थ में कथा शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु आख्यायिका के लिए जहाँ कहा गया है कि वह केवल नायक द्वारा ही वर्णित गद्य के रूप में होती है वहाँ कथा स्वय नायक वा किसी अन्य पात्र द्वारा भी कथित हो सकती है और साहित्य-शास्त्र के पडितो ने आख्यानादि को इन दोनो के ही अतर्भूत मान लिया है।[1] फिर भी, जैसा 'पुराणमाख्यानम्' से प्रकट होता है, 'आख्यान' शब्द का प्रयोग किसी समय पुराणो के लिए भी किया जाता था और उनके अतर्गत पाई जाने वाली अतर्कथाओ को 'उपाख्यान' की सज्ञा दे दी जाती थी। 'महाभारत' को कदाचित इन्ही के अनुसार कही-कही 'भारताख्यान' कहा गया मिलता है और उसकी कुछ अतर्कथाओ को 'शकुन्तलोपाख्यानम्' वा 'नलोपाख्यानम्' आदि कहा गया है। आख्यानो का रूप स्वभावत वर्णनात्मक हुआ करता है और उनमें आई हुई कथा को इतिवृत्तात्मक रूप में दिया जाता है। उनके कथानको का किसी रचयिता द्वारा कल्पित कर लिया जाना ही आवश्यक नही, क्योकि वे साधारणत लोक-प्रचलित वा ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। इनमें मुख्य अतर केवल इसी बात का रहता है कि प्रथम

---

१. दण्डी : काव्यादर्श १।२३–८ तथा विश्वनाथ . साहित्यदर्पण (न० कि० प्रेस लखऊ), पृष्ठ ३२५–६।

वर्ग वालो के पात्र कल्पनाप्रसूत ही होते हैं तथा उनसे सबधित घटनाओ के परिवर्तन वा विकास में जहाँ कवि को किसी प्रकार के बधन का अनुभव नही करना पडता, वहाँ दूसरे वर्ग वाली रच-नाओ में ऐसी कम गुजायश रहा करती है। इसके सिवा प्रेमाख्यानक साहित्य में बहुधा यह भी देखा जाता है कि उनकी कहानियो के अतर्गत हमें किन्ही धर्मगत, समाजगत, परम्परागत अथवा योनिगत भेदो तक का भी कोई विचार किया गया नही मिलता और इसी कारण, उनमें प्रसगवश आए हुए सभी पात्र लगभग एक ही स्तर पर व्यवहार करते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ तक कि उनमें अवसर आ जाने पर अनेक प्राकृतिक व्यापारो तक का हाथ स्पष्ट रूप में काम करता हुआ दीख पडता है तथा अनेक देवी-देवता तक पात्रो से सहयोग करते है।

प्रेमाख्यानो में प्रधानत किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति अथवा किसी स्त्री का ही किसी पुरुष के प्रति प्रेमासक्त हो जाना दिखलाया जाता है। इस प्रकार की घटना या तो प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा घटित होती है अथवा इसे चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण अथवा किसी आभूष-णादि की प्राप्ति से भी प्रेरणा मिल जाती है। इस प्रकार प्रभावित प्रेमी वा प्रेमिका प्रेमपात्र को अपनाने के प्रयत्न करने लग जाते है और उनमें इतनी एकातनिष्ठा आ जाती है कि उनके लिए सभी कुछ गौण वन जाता है। वे अपने समक्ष आ पडने वाली किसी भी प्रकार की वाधा को तुच्छ मान कर उसे दूर करने लग जाते हैं और केवल अपनी सफलता के नाम पर ही जिया करते हैं। वे अपने प्रेमपात्र के किसी क्षणिक वियोग को भी सहन नही करते और कभी-कभी इसके कारण पूरे वावले तक भी बन जाते है। पुरुष प्रेमी न केवल विकट यात्रादि में निकल पडते है और अनेक प्रकार के कष्ट झेलते है, अपितु अपनी प्रेमिका की उपलब्धि के लिए वे घोर सग्रामो तक में जुट जाते है। बहुत से प्रेमाख्यानो में तो छल-कपट, षड्यन्त्र अथवा मत्र, योग वा जादू-टोने के प्रयोगो तक के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। भारतीय प्रेम-कथाओ का अत वहुधा प्रेमी एव प्रेमपात्री के बीच विवाह-सवध के घटित हो जाने पर ही अवलबित रहता है और इसके सवध में कर्मविपाक एव पुनर्जन्म की कथाएँ तक जोड दी जाती है, किंतु कभी-कभी प्रेमाख्यानो का रूप दु खान्त भी वन जाया करता है जिसके अधिक उदाहरण ऐसी सूफी रचनाओ में ही मिलते हैं। सूफी प्रेमाख्यानो में, और विशेपकर उनमें जिनके कथानक अभारतीय स्रोतो से लिये गए रहते हैं, ऐसे प्रेम-सवध की कहानी प्रचुर मात्रा में मिलती है जिसके लिए वैध या अवैध का कोई प्रश्न नही उठा करता और जहाँ प्राय प्रत्येक कार्य पूर्ण स्वच्छदता के साथ किया जाता है। परन्तु भार-तीय कथानको में अधिकतर ऐसी नारियो का ही समावेश रहा करता है जो पातिव्रत धर्म का पालन अत्यत आवश्यक समझती है तथा जो पति के अभाव में प्राय 'सती' भी हो जाती है।[1]

प्रेमाख्यानो का वर्गीकरण

सूफियो के मसनवीवद्ध प्रेमाख्यानो का वास्तविक रूप निर्धारित करते समय हमारा ध्यान प्रसगवश उस पूरे प्रेमाख्यान-साहित्य की ओर भी चला जाता है जिसका विकास भारतीय

---

१. परशुराम चतुर्वेदी ' भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ १—३।

वातावरण में हुआ है और जिसकी रचनाओ के वर्गीकरण द्वारा हम उसकी विशेपताओ को भी समझ सकते है। भारतीय प्रेमाख्यानो का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनके प्राचीनतम रूपो के निर्माण-काल में कदाचित इसका कोई निश्चित उद्देश्य न रहा होगा। ये उन दिनो सभवत योही कह दिए जाते थे और इनका विस्तार भी केवल यही तक सीमित था कि अमुक दो व्यक्तियो के वीच प्रेम-सवध स्थापित हो गया, इस प्रसग में उन्होने अमुक प्रकार की चेष्टाएँ की तथा अमुक प्रकार की घटनाएँ घटी और फिर अमुक परिणाम निकला। अतएव, वे इतिवृत्तात्मक मात्र होते थे और इस प्रकार की प्रेम-कथाओ के अतर्गत हम उन सभी की गणना कर सकते है जो वैदिक, पौराणिक वा ऐतिहासिक कहलाकर प्रसिद्ध हैं। परतु इनके अतिरिक्त हमें यहा वहुत-से ऐसे प्रेमाख्यान भी मिलते हैं जिनका कथन करने वालो वा जिनके रचयिताओ का विशेप उद्देश्य दूसरो का मनोरजन करना रहता है। ऐसी रचनाओ के अतर्गत वे प्रेम-कथाएँ आती हैं जो या तो लोक-गाथाओ के रूप में प्रचलित है अथवा जिनका निर्माण कथा-साहित्य वा काव्य-साहित्य के अगरूप में हुआ है तथा जिनका प्रमुख उद्देश्य किसी का मनवहलाव ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार इन रचनाओ में से अनेक हमें इस वात के उदाहरण मे भी मिल सकती है कि उनके निर्माण का उद्देश्य सदा केवल मनोरजन ही नही रहा करता। वे या तो इसलिए वनी है कि उनके द्वारा किसी धार्मिक मत-विशेप का महत्व प्रतिष्ठित किया जाय अथवा उनकी प्रतीकात्मक रचना-शैली के आधार पर किसी साधना का स्वरूप निश्चित किया जाय। ये प्रेमाख्यान, इसीलिए, अधिक मनोरजनात्मक ही न रहकर वहुत-कुछ व्याख्यात्मक वा प्रचारात्मक तक वन गए सिद्ध होते है और इनके अतर्गत हम उनकी गणना कर सकते है जिनका निर्माण वौद्धो, जैनियो, सतो, सूफियो और भक्तो द्वारा हुआ है।[१]

परन्तु इस वर्गीकरण के आधार पर भी यह नही कहा जा सकता कि किसी भी एक वर्ग के प्रेमाख्यान दूसरे वर्ग वालो से नितान्त भिन्न ठहरते हैं। जिस प्रकार इतिवृत्तात्मक प्रेम-कथाओ द्वारा हमारे मनोरजन का होना कोई असभव वात नही, उसी प्रकार उनकी किसी धार्मिक व्याख्या द्वारा हम उनमें किसी न किसी मत-विशेप की वातो का स्पष्टीकरण भी पा सकते हैं और, इसी प्रकार, कोरे मनोरजनात्मक से दीख पडने वाले प्रेमाख्यानो में भी हमें किसी मत-विशेप के प्रचार की गध मिल सकती है अथवा विशुद्ध प्रचार की दृष्टि से रचे गए ऐसे ग्रथो में भी इतिवृत्तात्मकता वनी रह सकती है। प्रेम-सवध एव प्रेम-व्यापार की कुछ अपनी विशेपताएँ है जिनका वर्णन, अत्यन्त सीधासादा होता हुआ भी, कुछ न कुछ काल्पनिक-सा रूप अवश्य ग्रहण कर लेता है और, जिनके प्रति स्वभावत स्वय भी आकृष्ट हो जाने के कारण, प्रेमाख्यानो के रचयिताओ को न्यूनाधिक वहक जाना भी पडता है। वे इसलिए कभी-कभी प्रासगिक घटनाओ का चित्रण अधिक विस्तार के साथ करने लग जाते है, उनके साथ विभिन्न कथोपकथनो का समावेश कर देते है और सदा इस वात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि किस प्रकार, एक सर्वथानुकूल वातावरण उपस्थित करके सारे वर्णन मे ही सजीवता और स्वाभाविकता ला दी जाय। तदनुसार ठेठ से ठेठ ऐतिहासिक प्रेम-कथाओ में भी पौराणिकता वा लोकोत्तरता का रग भर दिया जा सकता है और विशुद्ध काल्पनिक

---

१. वही, पृष्ठ १४८।५२।

रचनाओ में भी यथार्थता लाई जा सकती है। सूफियो के प्रेमाख्यान इस नियम के अपवाद नही कहे जा सकते, केवल इतना हो सकता है कि जिन ऐसी रचनाओ का निर्माण फारसी मसनवियो की प्रचलित परपरा के अनुसार तथा उनके विशिष्ट आदर्शों को ध्यान में रखते हुए किया गया है उनमें परिस्थिति-वैविध्य के कारण कुछ विलक्षणता भी आ गई हो। भारतीय प्रेमाख्यान की पर-परा का अनुकरण करने वाले सूफी कवियो ने भरसक यही की रचना-पद्धति को अपना कर चलने का प्रयत्न किया है।

सूफी प्रेमाख्यान

सूफी प्रेमाख्यानो की रचनाएँ सदा सोद्देश्य होती आई हैं और वे, इसी कारण, धर्मकथाओ के अतर्गत भी गिनी जा सकती हैं। परन्तु जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, इनमें तथा जैन कवियो की ऐसी धर्मकथाओ में बहुत-कुछ अतर भी दीख पडता है। जैन धर्मकथा के रचयिता का प्रमुख उद्देश्य मोक्ष की उपलब्धि है जिसके लिए वह किसी प्रेम-साधनाजनित सिद्धि वा ईश्वरीय सयोग की दशा को स्वभावत महत्व नही दे सकता। उसकी दृष्टि में प्रेम का उपयोग केवल उसके लौकिक पक्ष में ही किया जा सकता है जहाँ सूफी के लिए लौकिक व अलौकिक दोनो पक्ष हो सकते हैं तथा उन दोनो में कोई मौलिक अतर भी नही है। यदि पहला वास्तविक और विशुद्ध है तो वह दूसरे में परिणत हो सकता है तथा, इसी कारण, उसे दूसरे की पूर्ण परिणति का एक दृढ साधन भी बनाया जा सकता है। अतएव सूफियो ने जिन प्रेम-गाथाओ को धर्मकथाओ का महत्व दिया है वे जैन कवियो की दृष्टि में केवल 'सकीर्ण कथा' ही कही जा सकती हैं, 'सत्कथा' नही हो सकती। जैन धर्मकथाओ में उदाहृत प्रेम-सबध को बहुधा, इसीलिए, मोहपरक बधन के रूप में भी स्वीकार किया गया जान पडता है जिसका ज्ञान द्वारा भग हो जाना ही मोक्ष है। बौद्ध प्रेम-कथाओ में भी, इसी प्रकार, कही-कही शारीरिक सौन्दर्य को अत में उपेक्षणीय कहा गया है और एक सुन्दरी की आँखो तक को सारे अनर्थों की जड सिद्ध किया गया है। परन्तु सूफियो के यहाँ ऐसा सौन्दर्य वस्तुत उस 'नूर' (ईश्वरीय ज्योति) का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी एक साधारण-सी झलक भी ऐसे साधको की अभीष्ट है। फारसी मसनवी साहित्य के कवियो ने सदा इसी प्रकार की धारणा के साथ अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और भारतीय सूफी कवियो ने भी उनका अनुसरण किया है।

भारतीय सूफी कवियो ने भी अपने प्रेमाख्यानो की रचना पहले-पहल फारसी भापा के ही माध्यम से आरभ की थी तथा मसनवी-पद्धति को ही अपनाया था। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो (१२५५–१३२५ ई०=स० १३१२–१३८२ वि०) ने ईरान के फारसी कवि निजामी के 'पजगज' नामक 'खम्स' (अर्थात पाँच मसनवियो के सग्रह) के जवाव में एक अपना भी 'खम्स' तैयार किया था जिसकी 'शीरी-खुसरू' एव 'मजनू-लैला' नामक दो का सबध दो प्रसिद्ध प्रेम-कहा-नियो मे था। उसने, इसी प्रकार, एक तीसरी भी मसनवी, 'दुवलरानी खिज्रखाँ' के नाम से प्रत्यक्षत' किसी ऐतिहासिक प्रेम-व्यापार का आधार लेकर लिखी थी जिसे, कदाचित, सूफी प्रेमाख्यान का नाम नही दिया जा सकता और न जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से भी वैसा महत्व प्रदान किया जा सकता है। उसकी प्रेम-कहानी निरी कल्पित और मनगढ़त है क्योंकि, तथ्य है कि बहुत

से इतिहासज्ञो के मत से खुसरो द्वारा निर्दिष्ट समय म कोई देवलरानी जैसी प्रसिद्ध राजपूत वाला ही नही थी।[1] खुसरो के अनन्तर उसकी मसनवी रचना-पद्धति का अनुसरण कई अन्य सूफी कवियो ने भी किया, किंतु इसके लिए उन्होने केवल फारसी भाषा क ही माध्यम को अनिवार्य नही समझा, प्रत्युत जहाँ कुछ ने वैसी प्रसिद्ध रचनाओ का हिन्दवी वा पुरानी उर्दू में रूपातर कर डाला, वहाँ दूसरो ने उसी में मौलिक प्रेमगाथाएँ भी लिखी। वास्तव में उस समय तक हिंदी अथवा उर्दू का भी स्पष्ट रूप निखर नही पाया था और जहाँ तक उनके छदो वा 'वहरो' के प्रयोग का प्रश्न है, इसके विषय में भी उस समय तक कोई ऐसा निर्भ्रान्त निर्णय नही किया जा सकता था जिसके अनुसार प्रेम-कहानियो वाली मसनवियो की रचना आगे वढ सके। फलत उस काल के सूफी कवियो ने अपने यहाँ की स्थानीय भाषा को ही अपनाया और या तो पुरानी अवधी का माध्यम स्वीकार करते हुए, अपनी प्रेम-कहानियाँ प्रचलित चौपाई-दोहो में रच डाली अथवा, हिंदवी या पुरानी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) के माध्यम से, उन्हें फारसी वहरो में निर्मित किया। दोहो-चौपाइयो के प्रयोग का आदर्श उनके लिए अपभ्रश की प्रवन्ध-रचनाओ ने वहुत पहले से ही प्रस्तुत कर रखा था और मसनवी का फारसी रूप भी उनके सामने वर्तमान था।

प्रेमाख्यानो की रचना करते समय भारतीय सूफी कवियो को हम, इसी कारण, ईस्वी सन की चौदहवी शताब्दी से ही दो भिन्न-भिन्न मार्गों को अपनाते हुए पाते हैं। इनमें से एक, जिसके अनुसार अवधी को प्रधानता दी जाती है और जिसके लिए दोहा-चौपाई जैसे छदो का प्रयोग होता है, भारतीय भावना एव भारतीय सस्कृति से अधिक सपर्क रखता हुआ चलता है तथा उसकी पद्धति पर निर्मित रचनाओ को पीछे हिंदी साहित्य का एक महत्वपूर्ण अग भी समझ लिया जाता है, किंतु दूसरा, जो प्रधानत हिंदवी के तत्कालीन दकनी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) को अपनाकर आगे वढता है और जिसके लिए फारसी वहरो का प्रयोग भी किया जाने लगता है, अधिकतर ईरानी वा शामी परम्परा की ही ओर उन्मुख रहना पसद करता है तथा उसकी शैली में रचित प्रेमाख्यानो का झुकाव परवर्ती उर्दू साहित्य की दिशा में हो जाता है। इसमें सदेह नही कि हिंदवी अथवा दकनी उर्दू (दक्खिनी हिंदी) कही जाने वाली भाषा मूलत उत्तर की खडीवोली हिंदी का ही एक रूप उद्धृत करती है और फारसी एव अरवी से अधिक प्रभावित होती हुई भी, उसकी रचनाएँ उतनी विलक्षण नही प्रतीत होती। किंतु इसके साथ ही इतना और भी कह दिया जा सकता है कि सूफी कवियो एव लेखको की इन रचनाओ के ही कारण वह पीछे क्रमश अपना रगरूप वदलती भी दीख पडी तथा अत में, उसे उर्दू का वर्तमान वेश मिल गया। जव तक ऐसे साहित्य की रचना का लगाव दक्षिण के वीजापुर एव गोलकुडा वाले राज्यो तक सीमित रहा, ऐसा अतर उतना स्पष्ट न हो सका था, किंतु पीछे दिल्ली जैसे नगरो के भी साथ सवध दृढ हो जाने पर उसके आमूल परिवर्तित हो जाने तक का समय आ गया। इस कारण ईस्वी सन की सत्रहवीं शताब्दी तक रचे गए सूफी प्रेमाख्यानो का न्यूनाधिक समावेश यदि हिंदी साहित्य के अतर्गत भी कर लिया जाय तो उतना अनुचित नही कहा जा सकता। इस समय तक दक्षिण में मसनवी रचनाओ का निर्माण

---

१. प्रो० के० आर० कानूनगो : ए क्रिटिकल एनालिसिस आव द पद्मिनी लीजेंड, माडर्न रिव्यू, नवम्बर, १९५६, पृ० ३६१–८ और विशेषतया पृ० ३६५ की पादटिप्पणियाँ।

प्रचुर मात्रा में हो गया था और दकनी निजामी ने 'कदमराव ओ पदम' (सन १४६०-६२ ई० = स० १५१७-१५१९ वि०), शाह हुसेनी ने 'वशीरतुल अनवर' (सन १६२३ ई० = स० १६८० वि०), गवासी ने 'सैफुल्मुल्क व वदीपुज्जमाल' (सन १६२६ ई० = स० १६८३ वि०), मुल्ला वजही ने 'सबरस' (सन १६३६ ई० = स० १६९३ वि०), मुकीमी ने 'चादर वदन व महियार' (सन १६४० ई० = स० १६९७ वि०), नुसरती ने 'गुलशने इश्क' (सन १६५७ ई० = स० १७१४ वि०), तवई ने 'किस्सा वहराम ओ गुलअदाज' (सन १६६० ई० = स० १७१७ वि०), गुलामअली ने 'पद्मावत' (सन ६६६ ई० = स० १७२३ वि०) तथा हाशिमी ने 'यूसुफ ओ जुलेखा' (सन १६८० ई० = स० १७३७ वि०) जैसे प्रसिद्ध प्रेमाख्यानो को उक्त प्रथम शैली के अनुसार प्रस्तुत कर दिया था। परन्तु हम देखते हैं कि उत्तर की ओर उसी के समानान्तर उपर्युक्त दूसरा मार्ग भी निकल चुका था और तदनुसार प्रेमगाथाएँ अवधी भाषा वाले साँचे में भी ढाली जा रही थी। यह दूसरी पद्धति पहली की अपेक्षा प्राय सौ वर्ष पहले से ही अपनाई जाती आ रही थी और लगभग उसी से मिलती-जुलती इधर एक अन्य ऐसी परपरा भी चलती आ रही थी जिसका लगाव विशुद्ध भारतीय आदर्शों के साथ कुछ और भी अधिक मात्रा में था और जिसे, इसी कारण, हम 'असूफी प्रेमाख्यान-परपरा' भी कह सकते हैं।

उक्त दूसरी रचना-पद्धति वाली सूफी प्रेमाख्यान-परपरा का आरभ अभी तक ज्ञात रचनाओ के आधार पर मुल्ला दाऊद के प्रेमाख्यान 'चदायन' वा 'नूरक चदा' से समझा जाता है जिसकी एक उपलब्ध प्रति के अनुसार उसका रचना-काल हिजरी सन ७८१ वतलाया गया है[1] जो ईस्वी सन १३७९ (स० १४३६ वि०) भी कहा जा सकता है। परन्तु एक अन्य ऐसे ही स्रोत से[2] पता

---

१. श्री अगरचन्द नाहटा ने इसकी तद्विषयक पक्तियो को इस प्रकार उद्धृत किया है--

वरस सात सै होइ इक्यासी। तिहि माह कविसर सेउ भासी॥
साहि पीरोज ढिली सुलताना। जोना साहि जीत वखाना॥
दल्यौं न यह वसे नवरगा। उपरि कोट तले वहे गगा॥

(नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५४ अक १ पृ० ४२)

२. डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, प्रोफेसर, लखनऊ यूनीवर्सिटी को निम्नलिखित पक्तिया मिली हैं--

वरस सात सै हते उन्यासी। तहिया यह कवि सरस अभासी॥
शाह फिरोज देहली सुलतानू। ज्योना शाह वजीर भा खानू॥
उलमउ नगर वसे नवरगा। ऊपर कोट तरे वह गगा॥
धरमी लोए वसें भगवता। गुनग्राहक नागर चितवन्ता॥ इत्यादि

(डा० दीक्षित के सौजन्य से उनके एक पत्र द्वारा प्राप्त)

चलता है कि यह समय कदाचित हि० सन ७७९ रहा होगा जो तदनुसार ईस्वी सन १३७७ (स० १४३४ वि०) में पड सकता है। इस रचना की ही एक खडित प्रति उसे भी कहा जा सकता है जो पटना के प्रो० हसन अस्करी को उसी के निकट वर्तमान 'मनेर शरीफ खानकाह पुस्तकालय' से मिली है, किंतु जिसमें रचना-काल नहीं है।[1] 'चदायन' वा 'नूरक चदा' की एक पूरी एव सचित्र प्रति का लाहौर के 'सेंट्रल म्यूजियम' में होना भी कहा जाता है,[2] किंतु उसके विषय में इससे अधिक बातें अब तक विदित नही हैं। आज तक की गई खोजो के अनुसार इस रचना के अनन्तर लगभग सवा सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर इस प्रकार का एक सूफी प्रेमाख्यान लिखा गया जो 'मिरगावती' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका रचयिता शेख कुतवन था जिसने इसका निर्माण, अब तक उपलब्ध खडित प्रतियो के अनुसार, हिजरी सन ९०९ अर्थात् सन १५०३ ई० (स० १५६० वि०) में किया था। उसने इसकी आरम्भिक पक्तियों द्वारा जिस शाहेवक्त की प्रशसा की है उसका नाम 'हुसेन साह' दिया हुआ है। यह हुसेन शाह कौन रहा होगा इसके सबध में मतैक्य नही दीख पडता। लोग इसे शेरशाह का पिता समझते हैं जिसका वास्तविक नाम 'हसन खाँ' था और जो अपनी किसी योग्यता के लिए वैसा प्रसिद्ध भी नही था। हुसेन शाह नाम द्वारा निश्चित रूप से विदित उस समय केवल दो ही शासक थे जिनमें से एक हुसेन शाह शर्की जौनपुर का शासन करता था और दूसरा, उसी प्रकार, बगाल में राज्य करता था। पहले को बहलोल खाँ लोदी ने सन १४८८ ई० (स० १५४५ वि०) में हरा दिया और वह फिर अपने यहाँ से भाग कर बगाल वाले हुसेन शाह की शरण में रहने लगा। उसकी मृत्यु भी हि० सन ९०५ अर्थात सन १४९९ ई० (स० १५५६ वि०) में ही हो गई जो 'मिरगावती' के रचना-काल वा सन १५०३ ई० (स० १५६० वि०) से चार साल पहले पडता है[3]। अतएव अधिक सभव यही जान पडता है कि 'मिरगावती' की रचना वस्तुत बगाल के शासक हुसेन शाह (सन १४९३–१५१९ ई० = स० १५५०–१५७६ वि०) की छत्रछाया में ही हुई होगी, क्योंकि वह एक धर्मपरायण पुरुष भी था तथा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के उद्देश्य से उसने 'सत्यपीर' नामक एक सप्रदाय भी चलाया था जिसका प्रचार उधर के क्षेत्रों में बहुत दिनो तक होता रहा। इस 'मिरगावती' वा 'मृगावती' प्रेमाख्यान की भी आज तक कोई ऐसी प्रति नही मिल सकी जो सभी प्रकार से पूर्ण कही जा सके तथा जिसका पाठ भी पूर्णरूपेण असदिग्ध हो। सबसे अधिक उल्लेखनीय दो प्रतियाँ क्रमश 'अनूप सस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर' की तथा 'एकडला' वाली हैं, किन्तु इनके भी उपलब्ध विवरणों द्वारा कोई सतोषजनक परिणाम नहीं निकाला जा सकता।[4]

---

१. एस० एच० अस्करी : 'रेयर फ्रैगमेण्ट्स आव चन्दायन एण्ड मृगावती', पृष्ठ ७–८।

२. देखिए, 'भोजपुरी' (आरा, सन १९५४ ई० के सावन अक) में प्रकाशित डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेख।

३. हाफिज मुहम्मदखाँ शीरानी : 'पजाब में उर्दू', पृष्ठ २१२।

४. दे० 'राजस्थान भारती' (बीकानेर, मार्च सन १९५५ ई०) में पृष्ठ ३९–६४ पर दीनानाथ खत्री, एम० ए० का लेख तथा १३ सितम्बर सन १९५५ ई० के 'भारत', प्रयाग में डा० रामकुमार वर्मा का वक्तव्य और उसका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (स० २०१२) के पृ० १६३ पर उल्लेख।

'चदायन' एव 'मृगावती' वाले आदर्श पर पीछे और भी अनेक सूफी प्रेमाख्यानो की रचना हुई और उनकी यह परपरा ईस्वी सन की बीसवी शताब्दी तक भी प्रचलित रही है। सोलहवी तथा सत्रहवी से लेकर अठारहवी शताब्दी तक इस प्रकार के साहित्य का निर्माण विशेष उत्साह के साथ किया गया प्रतीत होता है और बीसवी शताब्दी की ऐसी उल्लेखनीय रचना जो अभी तक उपलब्ध है वह सन १९१७ ई० (स० १९६४) में रचित शेख नसीर का 'प्रेमदर्पण' नामक प्रेमाख्यान है। सभव है कि बहुत सी ऐसी प्रेम-कहानियाँ उसके अनतर भी लिखी गई हो, किंतु अभी तक उनका कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्य नही है। इतना अवश्य जान पडता है कि 'चदायन' के निर्माण के लगभग साथ ही कतिपय ऐसे प्रेमाख्यानो की रचना भी आरभ हो गई थी जो सूफी परपरा का अनुसरण न करते हुए भी महत्वपूर्ण कहे जा सकते थे और जिनका सूफी प्रेमाख्यानो के साथ किया गया तुलनात्मक अध्ययन बहुत मनोरजक और उपयोगी भी सिद्ध हो सकता है। इन असूफी प्रेमाख्यानो में से जो आज तक उपलब्ध हो सके है उनमें से सब से अधिक प्राचीन दामो कवि की रचना 'लखमनसेन पदमावत' है जो स० १५१६ वि० वा सन १४५९ ई० की है। इसके केवल चौदह वर्ष पीछे रची गई राजस्थानी की वह प्रसिद्ध प्रेम-कहानी भी कही जा सकती है जो 'ढोलामारू रा दूहा' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इसके रचयिता ने अपना नाम स्वय 'कल्लोल' बतला दिया है और इसका रचना-काल भी उसने स० १५३० वि० वा सन १४७३ ई० सूचित किया है।[1] इस प्रकार का एक अन्य प्रेमाख्यान, जिसे पौराणिक आख्यान का भी नाम दे सकते है, इन दोनो रचनाओ का समकालीन बतलाया गया है और वह प्रेमानन्द का 'उषाहरण' है।

सूफी प्रेमाख्यानो के आधारभूत कथानक

सूफी प्रेमाख्यानो के रचयिता कवियो ने जो प्रारभिक रचनाएँ प्रस्तुत की थी वे फारसी भाषा में थी और उनके आधारभूत कथानक भी प्रधानत अभारतीय स्रोतो से ही लिए गए थे तथा उनका रचनात्मक ढाँचा भी यथासभव मनसनवी पद्धति पर ही खडा किया गया था। अमीर खुसरो के 'दुवलरानी खिज्रखाँ' जैसे प्रेमाख्यान, जिनकी मूल कथा काल्पनिक रखी गई थी, वस्तुत सूफी प्रेम-गाथाओ में नही गिने जा सकते है। पीछे दक्खिनी हिंदी में लिखने वाले कवियो ने भी,जिन्होने उन फारसी रचनाओ के आदर्श को अपनाया,अधिकतर इसी नियम का पालन किया। इन्होने न केवल अभारतीय कथानको को ही अधिक महत्व दिया, अपितु, भारतीय प्रेम-कहानियो की कल्पना करते हुए भी उन्हें उसी रग में विकसित करना अधिक उपयुक्त माना तथा उनके अतिम परिणाम का भी चित्रण करते समय भरसक उसी रचना-शैली को निभाया। उदाहरण के लिए गवासी ने अपने प्रेमाख्यान 'सैफुलमुल्क व वदीयुज्जमाल' के अतर्गत जिस प्रकार 'अलिफलैला' की एक प्रसिद्ध कहानी को अपनाया उसी प्रकार इब्ननिशाती ने भी अपने 'फूलवन' में उसी आदर्श को स्वीकार किया तथा अपनी रचना के अतर्गत कुछ भारतीय जैसे नाम देते हुए भी उन्होने उक्त

---

१. पं० मोतीलाल मेनारिया: 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृष्ठ १०१ पर उद्धृत दोहा—

पनरहसै तीसे वरस, कथा कही गुण जाण।
व्रदि वैसाखे वार गुरु, तीज जाण सुभ वाण॥

शैली नही छोडी। मुकीमी ने तो अपने प्रेमाख्यान 'चदरवदन ओ माहयार' में प्रत्यक्षत एक भारतीय कहानी को ही प्रश्रय दिया और उसकी कल्पना करते समय, खुसरो की भाँति, एक हिन्दू प्रेमिका एव एक मुस्लिम प्रेमी की प्रेम-कहानी तैयार कर दी, किंतु इन दोनो के प्रेम-व्यापार का रूप उन्होंने इस प्रकार चित्रित किया जिससे अरब के लैला व मजनू जैसे किस्सो का ही आदर्श सामने आ गया। नुशरती के 'गुलशने इश्क' एव गुलाम अली के 'पदुमावत' भी, यद्यपि ये दोनो भारतीय प्रेम-कहानियो की छाया लेकर चलते है, यथार्थत अभारतीय रगो में ही चित्रण उपस्थित करने वाले प्रेमाख्यान कहे जा सकते है और 'यूसुफ ओ जुलेखा' के रचयिता हाशिमी ने तो अपनी मूल कहानी ही बाहर से ली है। इसके सिवाय मुल्ला वजही ने अपने 'सबरस' वाले हुस्न व दिल के कथानक को वस्तुत फारसी कवि 'फताही' के 'दस्तूरे इश्क' से लिया है और उसे केवल विस्तार मात्र दे दिया है।

परन्तु अवधी के माध्यम से लिखे गए दोहा-चौपाई वाले सूफी प्रेमाख्यानो में, अथवा उनके आदर्श को अपनाने वाली अन्य रचनाओ के विषय में भी, हम ऐसा नही कह सकते। उनमें हमें ऐसे उदाहरण भी मिल सकते है जिनमें भारतीय कथा-साहित्य एव लोक-गाथाओ तक का आश्रय ग्रहण किया गया है। हिन्दी मे उपलब्ध प्रथम सूफी प्रेमगाथा 'चदायन' एक ऐसी लोकप्रिय प्रेम-कहानी पर आश्रित है जिसका प्रचार यहाँ पर उसके बहुत दिनो पहले से होता आया था। मिथिला के ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने अपनी रचना 'वर्णनरत्नाकर' के प्रथम अश में नगर का वर्णन करते समय जिन 'लोरिक नाचो' का उल्लेख किया है उससे अनुमान किया जा सकता है कि लोरिक वाली इस कथा का कोई न कोई रूप उनके यहाँ, ईस्वी सन की तेरहवी-चौदहवी शताब्दी में भी, रहा होगा। इसके अतिरिक्त, आजकल के लोकगीत-विषयक अनुसधानो द्वारा यहाँ तक प्रमाणित किया जा सकता है कि इसका प्रचार-क्षेत्र लगभग सारे उत्तरी भारत तक विस्तृत रहता आया है। लोरिक एव चदा तथा लोरिक एव मैनावती अथवा इन तीनो ही प्रेमी-प्रेमिकाओ की सम्मिलित कथा के कुछ न कुछ परिवर्तित रूप बगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश आदि से लेकर छत्तीसगढ तक अच्छी सख्या में मिलते है और रायपुर जिले के आरग नामक स्थान पर तो लोरिक एव चदैनी वा चदा के स्मारक-रूप में एक इमारत भी वर्तमान है।[1] जिस प्रकार 'लोरिक' शब्द कही-कही 'लोर' बन गया है उसी प्रकार 'चदा' का भी 'चदैनी वा चद्राली' हो गया है और 'मैना' वा 'मैनावती' का रूप 'मजरी' वा 'मझरिया' तक में परिवर्तित हो गया है। कही-कही पर तो ऐसा भी हुआ है कि कथा के अतर्गत कुछ अन्य प्रान्तो का भी समावेश हो गया है तथा घटना-सबधी विवरणो में कुछ फेरफार हो गया है।

'चदायन' की प्रति के अभी तक अपूर्ण रूप में ही मिल सकने के कारण उसके आधारभूत कथानक का स्पष्ट रूप निर्धारित कर लेना सरल नही है। किन्तु उपलब्ध पृष्ठो के अनुसार जो सकेत मिल पाते है उनसे अनुमान किया जा सकता है कि वह अधिकतर बिहार व बगाल की कहानियो से ही मिलता-जुलता रहा होगा। इस रूप के अनुसार लोरिक गौरा वा गौरनगर (गुआरनगर) का निवासी भगवती दुर्गा का प्रिय पात्र था और उसकी पत्नी का नाम मजरी (मैना) था।

---

१. एलविन : फोक सांग्स ऑव छत्तीसगढ़, पृ० ४१-८।

'कल्किपुराण' में भी हुआ है और जायसी तथा चदबरदाई की नायिकाओं का गुण-श्रवण जहाँ उनके नायको के हृदय में प्रेम जाग्रत करता है, वहाँ राजवल्लभ का नायक चित्रसेन पद्मावती की एक सुन्दर पुत्तलिका वा प्रतिमूर्ति देखकर ही उसके प्रति आसक्त हो जाता है और उसके विरह में मरने तक की आशका कर बैठता है।[1] वास्तव में, कथानको के प्रत्यक्षत कुछ न कुछ भिन्न होते हुए भी ये सभी प्रेमाख्यान प्राय एक ही प्रकार के अभिप्रायो वा रूढियो द्वारा सवलित है और किसी विशिष्ट परपरा की ओर सकेत करते हैं।

परतु जहाँ तक पद्मावत की कहानी के ऐतिहासिक होने का प्रश्न है, इस बात का निर्णय केवल असभावना के रूप में ही दिया जा सकता है। इस सबध में जो सबसे प्रमुख बात है वह यह है कि इस रचना के पहले, एव इसमें वर्णित तथाकथित रतनसेन की सिंहल-यात्रा वा पद्मावती के उस द्वीप में अस्तित्व के होने के अनतर वाली अवधि में, लिखे गए किसी भी प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रथ में इसकी ओर सकेत भी किया गया नही जान पडता। उस काल के किसी ऐसे सिंहल द्वीप का भी पता नही जिसका राजा कोई गन्धर्वसेन रहा हो और न चित्तौडगढ के ही किसी रतनसेन की पद्मावती नामक रानी का कही उल्लेख मिलता है। राजस्थान के प्रसिद्ध वीर गोरा एव बादल की युद्ध-कथाओ के साथ जहाँ-जहाँ इस पद्मावती की भी कथा के प्रसग मिलते है, उन रचनाओ का निर्माण-काल जायसी की इस प्रेमगाथा के पीछे ही ठहरता है जिसके आधार पर यह कथन अधिक युक्ति-सगत हो सकता है कि इनके रचयिताओ ने भी जायसी का ही अनुकरण किया होगा। इस सबध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय ह कि सिंहलद्वीप, पद्मिनी नारी, प्रेमी का जोगी बन जाना वा किसी जोगी से सहायता लेना, शिव-पार्वती एव दुर्गा जैसी दैवी शक्तियो की कृपा से सफलता उपलब्ध करना और अपने प्रयत्नो में सूए जैसे पक्षियो का सहयोग प्राप्त करना आदि बातें केवल किसी विशिष्ट प्रेमगाथा के ही प्रसगो में आती नही पाई जाती, प्रत्युत इनके विविध प्रयोग एक से अधिक ऐसी रचनाओ में आपसे आप मिल जाया करते हैं। इतिहासज्ञो ने इसी कारण, वहुत छानवीन करने के उपरात, 'पद्मावत' के कथानक को प्रधानत काल्पनिक ही ठहराया है।[2] अतएव, जान पडता है कि जायसी ने भी इसकी कथा का ढाँचा खडा करते समय कदाचित उसी मार्ग का अनुसरण किया है जिसे उनके दो सौ वर्ष पहले अमीर खुसरो ने देवलदेवी के विपय में अपनाया था। सभव है, जायसी के समय में इस कल्पित कहानी का कल्पित रूप सर्वसाधारण में प्रचलित भी रहा हो, किंतु इस सबध में अभी निश्चित रूप में नही कहा जा सकता।

सूफी प्रेमाख्यानो के कथानको पर विचार करते समय हमें शेख मझन की रचना 'मधुमालती' का भी महत्व कुछ कम नही जान पडता। इसके नायक एव नायिका के नाम भी ऐसे हैं जिनके, अथवा जिनसे मिलते-जुलते नामो के, आधार पर लिखी गई अनेक प्रेमगाथाएँ उपलब्ध

---

१. वही, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सवत २०११, पृष्ठ ५०-७।

२. दे० 'माडर्न रिव्यू' (नवम्बर, १९५०, पृष्ठ ३६१-८), 'हिन्दी अनुशीलन' (वर्ष ६ अंक ३, पृष्ठ २६-३१), 'साहित्य सन्देश' (भाग १३ अंक ६, पृष्ठ २४९-५०) तथा इन्द्रचन्द्र नारंग की पुस्तक 'पद्मावत का ऐतिहासिक आधार' (इलाहावाद, १९५६) आदि।

है। जायसी ने अपनी रचना 'पद्मावत' के अन्तर्गत एक स्थल पर[1] कुछ प्रेम-कहानियो की ओर सकेत किया है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वे उसके पहले से ही चली आती होगी और वहाँ पर 'मधुमालती' शब्द का भी स्पष्ट प्रयोग मिलता है, यद्यपि इतने मात्र से ही उसकी कहानी का भी पता नही लगाया जा सकता। मझन की रचना के कथानक को लेकर पीछे फारसी में 'किस्स कुँवर मनोहरमालती' तथा 'मिह्र व माह' एव 'हुस्न व इश्क' का निर्मित होना बतलाया जाता है ।[2] परतु, सभवत इसके पहले की समझी जाने वाली रचना, चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' की कथा की कथावस्तु इससे नितात भिन्न है। इस दूसरे कथानक पर आश्रित प्रेमकथा सबधी कुछ प्रेमाख्यानो का राजस्थानी और गुजराती के माध्यम से भी निर्मित होना बतलाया जाता है ।[3] परतु मझन की मधुमालती वाले कथानक का साम्य जान कवि की रचना 'मधुकर मालती' वा 'बुद्धिसागर' की कहानी के साथ भी सिद्ध नही हो पाता। 'मधुमालती' की पूर्ण रचना अभी तक प्रकाश में नही आ सकी है और न इस विषय में कोई तुलनात्मक अध्ययन ही हो पाया है। ऐसी दशा में इसके कथानक को भी यदि बहुत कुछ कल्पना-प्रसूत अथवा किसी लोकगाथा पर ही न्यूनाधिक आश्रित मान लें तो कदाचित सत्य से दूर जाना नही कहा जा सकता। इसके सिवाय, इसी प्रकार का अनुमान हम शेख उसमान की 'चित्रावली', शेख नबी के 'ज्ञानदीपक', जान कवि की ऐसी रचनाओं, नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती', कासिम शाह के 'हस जवाहर', ख्वाजा अहमद की 'नूरजहाँ' तथा शेख रहीम की रचना 'भाषा प्रेमरस' के कथानको के विषय में भी कह सकते है। शेख बसार की 'यूसुफ जुलेखा' एव नसीर की रचना 'प्रेमदर्पण' का आधार एक पुरानी प्रेम-कहानी है, जिसे फारसी के सूफी कवियो ने भी अपनी रचनाओं के लिए बहुत पहले से ही चुन रखा था और नूर मुहम्मद की 'अनुराग बाँसुरी' में तो स्पष्ट ही कोरी कल्पना से काम लिया गया है। इसके विरुद्ध असूफी प्रेमाख्यानो के कथानक बहुधा ऐसे ही जान पडते है जो या तो सस्कृत के पौराणिक उपाख्यान अथवा कथा-साहित्य से लिए गए हैं वा अपभ्रश के जैन साहित्य से किसी न किसी प्रकार आ गए हैं। इनमें विशुद्ध कल्पना-प्रसूत अथवा लोकगाथात्मक कहानियो पर आश्रित रचनाएँ अपेक्षाकृत कम दीख पडती हैं और सामी कथाओ वाली प्रेमगाथाओ का भी यहाँ प्राय. अभाव है।

प्रेमाख्यानो का अध्ययन करते समय हमें उनमें न केवल पूर्व प्रचलित विविध कथा-रूढ़ियो वा अभिप्रायो के ही उदाहरण मिलते हैं, अपितु कभी-कभी हमें यह भी प्रतीत होता है कि ऐसे साहित्य के अतर्गत कई कथानक-चक्र भी चला करते हैं जिनका प्रचार प्राय किसी एक ही भाषा के वाङ्मय तक सीमित भी नही जान पडता। सूफी प्रेमाख्यानो की उपलब्ध प्रथम चार प्रसिद्ध रचनाओ की चर्चा करते समय हम देख चुके हैं कि उनके मूल स्रोत क्या रहे होगे तथा इसी प्रसग में हमें इस बात का भी कुछ न कुछ सकेत मिल गया है कि किस प्रकार सभवत किसी एक ही सूत्र को पकड कर विभिन्न कवियो ने अपनी-अपनी पृथक् रचनाएँ की होगी। लोरिक एव चदा की प्रेम-कहानी अधिकतर लोकगाथाओ के ही रूपो में प्रचलित रह गई। कम से कम उनके इन अशो का

---

१. दे० 'पद्मावत' (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का सस्करण, प्रकरण २३३, पृष्ठ २२३)।
२. दे० 'उर्दू' (हैदराबाद), जनवरी, १९३४ ई०, पृष्ठ १३।
३. दे० 'भारती' (ग्वालियर), जून १९५६, पृष्ठ २८७–८।

अधिक प्रचार नही हो पाया। जहाँ तक लोरिक एव मैना वा मयनावती के प्रेमाख्यान का सबध है उसके विभिन्न रूप कतिपय साहित्यिक रचनाओ में भी दीख पडे। इसका कारण कदाचित यह रहा हो कि इस कथा के नायक एव नायिका ग्वाल अथवा धोबी होने के कारण निम्न श्रेणी के व्यक्ति थे और उनकी सस्कृति भी बहुत-कुछ ग्रामीण थी। फिर भी जान पडता है कि तद्विषयक एकाध प्रेमाख्यान का बगाल तक प्रचार हुआ और वहाँ पर उसकी छाया पर एक से अधिक रचनाएँ निर्मित हुईं। कही-कही तो ऐसा करते समय लोरिक को किसी राजकुमार वा धनी व्यक्ति जैसा व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया और चदा 'शाहजादी' तक में परिणत कर दी गई। परतु शेख कुतबन की 'मृगावती', जायसी के 'पद्मावत' एव शेख मझन की 'मधुमालती' के प्रमुख पात्र प्रत्यक्षत राजन्यवर्ग के थे और तदनुसार उनके उच्च सास्कृतिक स्तर का प्रेम-व्यापार उनकी साहित्यिक रचनाओ में चित्रित किया जाकर शिक्षित लोगो के लिए भी आकर्षक बन सकता था। अतएव, हम देखते है कि इन प्रेमाख्यानो के कथानको को अपेक्षाकृत कही अधिक लोकप्रियता मिल सकी और इनके आधार पर बने कथानक-चक्रो ने, पूर्णत वा अशत अनेक रूप धारण कर विविध भाषाओ का भी साहित्य-भडार भरने में सहयोग प्रदान किया। उदाहरण के लिए जायसी के 'पद्मावत' का वह अश, जिसमें गोरा-बादल की युद्ध-योजना द्वारा पद्मावती के पति रतनसेन को बधन-मुक्त करने की कथा आती है, एक पृथक साहित्य का ही उपकरण बन गया। इसमें प्रसगवश कतिपय ऐसी रचनाएँ भी सम्मिलित हो गईं जिनके कवियो ने प्रेम-भाव को गौण स्थान देकर उक्त दोनो वीरो के युद्ध-कौशल को ही विशेष महत्व दे दिया। इसी प्रकार मझन की 'मधुमालती' के कथानक का जहाँ नुसरती के 'गुलशने इश्क' की कथा के साथ बहुत-कुछ साम्य है वहाँ यह चतुर्भुजदास की रचना की प्रेम-कहानी से भिन्न है और इस तीसरी रचना की कथा जान कवि की 'मनोहर मधुमालती' वा 'बुद्धिसागर' के कथानक से मिलता-जुलता जान पडता है। 'मधुमालती' और 'मधुकरमालती' की कथा वाले फारसी, उर्दू व बगला, गुजराती एव नेपाली भापा तक में प्रेमाख्यान वर्तमान हैं जिनके कथानको का तुलनात्मक अध्ययन करके देखा जा सकता है कि इसके कितने भेद-प्रभेद हो गए होगे तथा ऐसी कितनी रचनाओ में केवल नाम-साम्य ही आ गया होगा।

सूफी प्रेमाख्यानो की मूल प्रेरणा

सूफी कवियो की दृढ धारणा है कि परमात्मा हमारा प्रियतम है जिससे हमारा वियोग हो चुका है तथा जिसके साथ पुर्नमिलन की स्थिति को किसी प्रकार उपलव्ध करना ही हमारे जीवन का चरम उद्देश्य हो सकता है। वे इसीलिए सदा विरहाकुल वने रहकर प्रेम-सावना में निरत होना तथा नित्यश यही चेष्टा करना कि हम क्रमश उसके मार्ग में अग्रसर हो, अपना परम कर्तव्य समझते हैं। परतु उनका यह ईश्वरीय प्रेम वा 'इश्क हकीकी' सच्चे सासारिक प्रेम वा 'इश्क मजाजी' से वहुत विलक्षण नहीं है, प्रत्युत, अत में उसका एक महत्वपूर्ण सावन भी वन सकता है। कहते है कि सूफी अपने उस प्रियतम को एक परम शुभ्र ज्योतिप्पुज के रूप में वर्तमान समझते हैं और वे यह भी मानते हैं कि वह अखिल सांदर्य का निवान भी है इसीलिए उनका विश्वास है कि इस जगत में जहाँ कही भी हमें इस उत्कृप्ट गुण का आभास मिलता हो वहाँ सर्वत्र हमारे प्रियतम का ही

प्रतिनिधित्व उदाहृत हो सकता है। उसके विना किसी सुन्दर वा मनोहर वस्तु की कभी कल्पना तक नहीं की जा सकती और इसीलिए हमारा उसकी ओर आपसे आप आकृष्ट हो जाना भी परम स्वाभाविक है। एक सूफी कवि के ही शब्दो में किसी बुलबुल का गुलाव का सौंदर्य देखकर चहक उठना, किसी पतिंगे का दीपक के प्रकाश की ओर स्वभावत आकृष्ट होकर उसकी ओर लपक पडना तथा कमलों का सूर्य के उगते ही उसके प्रभाव में आकर खिल जाना, ये सभी उस नियम को ही उदाहृत करते हैं। उसने इसी आधार पर यह भी वतलाया है कि लैला प्रेमपात्री की ओर मजनूं का हृदय किस प्रकार आपसे आप खिंच गया था, किस प्रकार फरहाद ने अपनी प्रेमपात्री शीरी के लिए इसी धुन में अपने प्राण दे दिए थे। यह वात केवल एक प्रेमपात्री के प्रति किसी प्रेमी में ही देखने को नहीं मिलती, प्रत्युत जुलेखा जैसी प्रेमिका भी इसी नियमानुसार यूसुफ के लिए वेचैन हो पडती है। वास्तव में जहाँ कहीं भी सौंदर्य की ओर आकर्पण हो एव प्रेमभाव की जागृति हो वहाँ उसका मूल कारण उस पात्र में ईश्वरीय ज्योति का निहित होना मात्र ही होगा। सूफियो ने इस नियम की व्यापकता का आशय वा परिणाम इस प्रकार भी निर्धारित किया है कि इस सौंदर्य-प्रेम द्वारा ही हम एक न एक दिन उस प्रियतम को उपलव्ध भी कर सकते हैं।

परतु तथ्य यह है कि ऐसी दृढ धारणा के होते हुए भी, हमें अपनी प्रेम-साधना में सदा सफलता नही मिल पाती जिसका कारण भी सूफियो ने वतला दिया है। सूफी दार्शनिको के अनुसार ईश्वरीय ज्योति के सर्वत्र वर्तमान रहते हुए भी, उस पर एक विचित्र 'हिजाव' (पर्दा) पडा रहता है जिसका दूर होना आवश्यक है। सौंदर्य के प्रति प्रेमानुभूति में कोरा मानसिक आकर्पण ही नही रहा करता, प्रत्युत उस दशा में सदा हमारा हृदय भी प्रयत्नशील हो पडता है और, यदि वह सर्वथा स्वच्छ और विशुद्ध रहा तो उसमें एक ऐसी अनुपम शक्ति भी आ जाती है जिससे अपने चरम उद्देश्य का पाना सुकर हो जाता है। जव तक अपने हृदयाकाश में कलुपता के वादल घिरे रहते हैं अयवा जव तक हमारे हृदय-दर्पण पर किसी मलिनता को, 'मुर्चे' की भांति, स्थान मिला रहता है, उक्त प्रकार का पर्दा काम करता है और हम लाख प्रकार के वाहरी प्रयत्न करने पर भी कभी कृतकार्य नहीं हो पाते। इस प्रकार ये विकार ही हमारी वाधाएँ है जिन्हें क्रमश टालते हुए अपने प्रेम-मार्ग में अग्रसर होना पडता है और जैसे-जैसे ये क्षीण पडती जाती है हमारे हृदय को नवीन जीवन और नवशक्ति का प्रश्रय मिलता है। सूफियो के अनुसार इसमें सदेह नहीं कि जब तक परमात्मा स्वय हमारे प्रति अनुग्रह का भाव प्रदर्शित नही करता, हम सफल नही हो पाते, किंतु यह भी तभी सभव है जव हमारी प्रेम-निष्ठा उसके प्रति एकात भाव की हो तथा जब हमारे भीतर ऐसा दृढ सकल्प भी हो जाय कि इसके लिए हम अपना सर्वस्व निछावर कर देंगे। प्रेमभाव की प्रगाढ़ता, सतत प्रयास तथा सिद्धि-प्राप्ति के लिए स्वीकृत कठोर व्रत एव दृढ निश्चय एक साथ मिलकर हमें उक्त पर्दे के व्यवधान से मुक्त करा देते हैं और हम अपने प्रियतम की उपलब्धि का साक्षात अनुभव करके कृतकृत्य हो जाते हैं। इस प्रकार सूफियों की प्रेम-साधना उस यात्रा के समान समझी जा सकती है जिसके मार्ग में अनेक विघ्न-वाधाएँ आ जाती हैं और उन्हें दृढतापूर्वक झेले विना निर्दिष्ट स्थान तक पहुँच पाना सभव नहीं।

सूफी कवियो ने अपने प्रेमाख्यानो की रचना करते समय इस वात को सदा ध्यान में रखा है। उन्होंने अपने चुने हुए कथानको की घटनाओ का विकास आरभ करते समय सर्व-

प्रथम प्रेमभाव की उत्पत्ति का आधार सौंदर्य को ही माना है और दिखलाया है कि किस प्रकार वह प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, गुण-श्रवण अथवा प्रेम-पात्र सबधी किसी वस्तु के दृष्टि में आने मात्र के माध्यम से भी अपना काम करने लग जाता है। उसका प्रभाव फिर क्रमश एक प्रेमी के हृदय पर इतना गहरा होता चला जाता है कि वह अपने जीवन की सारी अन्य बातो के प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हुए केवल अभीष्ट व्यक्ति को अपना बनाकर सतोष की साँस लेने के सिवाय और कोई बात पसद नही करता तथा तब तक वह अत्यत व्याकुल और बेचैन भी रहा करता है। इसलिए जब उसे अपने घर पर रहते किसी सफलता की आशा नही रह जाती, वह किसी परामर्शदाता की सहायता से उसे छोड बाहर निकल पडता है। वह या तो जोगी बन जाता है, कठिन मार्गों से होकर भूलता-भटकता फिरता है, बीहड वनो, समुद्री लहरो, मरुस्थलो की यात्रा करता है वा गली-कूचो की खाक छानता फिरता है अथवा दानवो या परियो के क्षेत्रो में भी पहुँच कर अपने प्राणो को सकट में डालता रहता है। उसे अनेक प्रकार से युद्ध करने पड जाते हैं, कभी बदी-जीवन व्यतीत करना पडता है, कभी दासता स्वीकार करनी पड जाती है और कभी-कभी लबी अवधियो तक व्रतोपवास और मत्र-साधना तक का उपचार करना पडता है और देवी-देवताओ की सहायता से अथवा किसी महापुरुष के सदुपदेश के द्वारा ही वह अत में, फिर सफल होता है। सूफियो के अनुसार प्रेम-साधना में निरत 'सालिक' वा साधक की दशा बार बार तपाए जाने वाले स्वर्ण की जैसी हुआ करती है और वह अत तक सँभलता व निखरता ही जाता है। सकटो से होकर निकलना और यत्रणाओ का झेलना उसकी अग्नि-परीक्षा के साधन है और उनकी अनुभूति के बिना अतिम सिद्धि की उपलब्धि असभव है।

सूफी प्रेमाख्यानो के रचयिताओ ने इन जैसी बातो का वर्णन करते समय इसे सदा अपने ध्यान में रखा है कि कहानी की प्रतीकात्मकता बराबर बनी रहे। उसके प्रेमी नायक के हृदय में प्रेमासक्ति जाग्रत कर उन्होने उसमें यथाशीघ्र विरह की आग भी सुलगा दी है जिससे यह प्रकट हो जाय कि उसकी प्रेमपात्री उसके लिए अपरिचित नही है। जिस प्रकार अपने प्रियतम परमात्मा से वियुक्त होने की स्थिति का अनुभव कर एक सूफी बेचैन हो सकता है, ठीक उसी प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेमपात्री नायिका के प्रति आकृष्ट होते ही उसकी जुदाई के कारण पूरा विरही भी वन जाता है और उसे ऐसा लगता है जैसे अपनी सदा की सगिनी ही उससे दूर पड गई हो। इसी प्रकार जैसे फिर, किसी सूफी सालिक के अपने प्रियतम परमात्मा के लिए अधीर हो जाने पर उसे किसी पीर द्वारा मार्ग-प्रदर्शन मिला करता है और उसे कुछ न कुछ सात्वना भी मिल जाती है, ठीक उसी प्रकार इस प्रेमी को भी किसी सूए वा अन्य ऐसे माध्यम से सुझाव मिलने लग जाते है और वह कुछ सभल-सा जाता है। परतु एक सूफी की प्रेम-साधना का मार्ग कभी सरल नही होता और उसे उस पर चलते समय विपथ करने वाले अनेक अतराय आ उपस्थित हो जाते है जिन्हें वह किसी प्रकार सावधान वन कर ही, दूर कर पाता है। वैसे ही यहाँ पर प्रेमी नायक को भी विभिन्न प्रकार से जूझने एव वाल-वाल वचते जाने की स्थिति में दिखाया जाता है। जैसे-जैसे कठिनाइयो से मुक्ति मिलती जाती है, इन दोनो प्रकार के साधनो का उत्साह वढता जाता है और इनकी विरहाग्नि भी अधिकाधिक प्रज्वलित होती चली जाती है और इसके वीच में कभी-कभी इनकी दशा उन बावलो की सी भी हो जाती है जिन्हें अपने जीवन सबधी किसी भी अन्य व्यापार से कोई लगाव नहीं रह

जाता और जो अत तक अपनी धुन में एकरसता ही बनाए रह जाते हैं तथा जो, इसी कारण, दूसरो की दृष्टि में हास्यास्पद-से भी लगा करते हैं। सूफियो के अनुसार प्रेम द्वारा उपलब्ध परमात्मानुभूति को, उसकी प्रथम दशा में भी, 'मारिफत' का नाम दिया गया है जो इन्द्रियज वा विचार-बुद्धि-प्रसूत ज्ञान से कही भिन्न ठहरता है। इसे हम 'इल्म' कह सकते हैं, क्योकि इसका मूल क्षेत्र हृदय है और इसका कोरी जानकारी से नही, प्रत्युत गहरी अनुभूति के साथ अधिक लगाव है। इसकी दशा में जिस समय भावावेग की तीव्रता आ जाती है तो यह 'इश्क' कहलाने लगता है और उसमें भी अधिक उन्माद के आ जाने पर इसे 'वजद' वा समाधि भी कहा जाता है। सूफी कवियो ने अपनी रचनाओ के प्रेमी नायको में क्रमश इन सभी दशाओ को उदाहृत करने की चेष्टा की है और तब कही उन्हें 'वस्ल' (सयोग) की अतिम स्थिति तक पहुँचकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति अथवा पूर्ण सफलता का अवसर प्रदान किया है।

सूफी प्रेमाख्यानो का क्रमिक विकास

उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानो में से, कालानुसार, सर्वप्रथम रचना 'चदायन' ही समझी जाती है। इसकी कोई पूरी प्रति अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी है, किंतु जितना अश मिल सका है उसके आधार पर इसका रचनाकाल सन १३७९ वा १३७७ ई० (स० १४३६ वा १४३४ वि०) जान पडता है। तब से अर्थात ईस्वी सन की १४वी शताब्दी से लेकर आज तक लगभग छ सौ वर्षों का समय होता है और, इस लबी अवधि के भीतर, ऐसी अनेक रचनाएँ निर्मित हुई होंगी जिन्हें हम भारतीय साहित्यिक परम्परा के आदर्शों पर निर्मित सूफी प्रेमाख्यान का नाम दे सकते हैं। जो अब तक मिल सकी हैं उनकी सूची के देखने से विदित होता है कि इस दीर्घ काल के प्रथम सवा सौ वर्षों में केवल दो ही रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकी और इन दोनो अर्थात 'चदायन' (मुल्ला दाऊद) एव 'मृगावती' (शेख कुतबन) को हम इस विचार से ऐसे साहित्य की प्रारम्भिक रचनाएँ भी कह सकते है। इनमें से प्रथम का कथानक एक प्रचलित लोकगाथा है जिसे उसके रचयिता ने मलिक नायन से सुनकर यह रूप दिया है। इसके पात्र एव प्रमुख घटनाओं का सबध प्रधानत निम्नवर्गीय समाज के साथ है जिसमें शुभाशुभ शकुन-विचार, मत्र-प्रयोग आदि की सहायता ली जाती है और इसकी प्रेम-कहानी एक ऐसे युग की ओर भी सकेत करती है जब कि अपनी प्रेमिका को युद्ध करते हुए भगा ले जाना स्वाभाविक था। यहां पर वर्ण्य विषय एव घटना-प्रवाह की ओर जितना ध्यान दिया गया है उतना रचना-शैली के सँवारने का प्रयत्न नही लक्षित होता। इसकी भाषा भी सीधी-सादी और तद्भव-बहुल अवधी है जिसमें मुहावरो का प्रयोग भी कम नहीं है। इनके सिवाय 'मनेर शरीफ' वाली उपलब्ध खडित प्रति में, उसके प्राय प्रत्येक पृष्ठ पर, उसमें वर्णित कथा की ओर फारसी शीर्षको द्वारा निर्देश भी कर दिया गया है जो, यदि इसकी मूल प्रति के भी अनुसार हो तो, एक विशिष्ट रचना-पद्धति की ओर सकेत भी करता है। शेख कुतबन की 'मृगावती', जिसकी भी अभी तक कोई पूरी प्रति देखने में नहीं आई, एक ऐसी प्रेम-कहानी को लेकर चलती है जिसका नायक राजकुमार है और जिसकी नायिका भी उसी कोटि की है, किन्तु जिसमें इस राजकुमारी को उड़ने की विद्या में निपुण भी बतलाया गया है। यह न केवल अपने प्रेमी को धोखा दे

सकती है, अपितु अपने पिता का देहात हो जाने पर, उसकी जगह राज्य का भार भी सँभालने लग जाती ह। इस प्रकार इस कथा में भी विशेष आग्रह घटनाओ को महत्व देकर उनके प्रति कुतूहल जाग्रत करने का ही प्रतीत होता है। इसके रचयिता ने हमें यहाँ पर यह भी सूचित कर दिया है कि वह किसी रहस्यमयी बात को खोलकर कहने जा रहा है और इसके लिए उसने गाहा, दोहा, अरेल, अरल, सोरठा, चौपाई[1] आदि का प्रयोग करके तथा बहुत-कुछ चुने हुए 'देसी' शब्दो के भी माध्यम से उसे 'सरल' बना दिया है। अतएव, शेख कुतबन का कुछ न कुछ ध्यान अपनी इस कृति की रचना-शैली की ओर भी गया हुआ जान पडता है और पता चलता है कि उसने 'येक येक बोल मोती जस पुरवा, इकठा भव चित लाय'।[2] फिर भी ऐसा नही कि मुल्ला दाऊद ने भी इस प्रकार कथन न किया हो और वह अपनी प्रशसा करने से विरत रह गया हो। वह तो विनीत होकर भी कहता है—

अउर गीत मैं करू वीनती, सिर नामे कर जोर।
एक एक बोल मोत जस पुरवा, कहूँ जो हीरा तोर॥[2]

और इस पद्य का तीसरा चरण ठीक शेख कुतबन का आदर्श भी प्रतीत होता है।

'मृगावती' के रचना-काल (सन १५०३ ई०=स० १५६०) से केवल सत्रह वर्ष ही पीछे लिखी गई, हमें फिर से एक ऐसी रचना मिलती है जो इन दोनो से कही उच्चतर कोटि की है तथा जिसमें न केवल प्रबध-कल्पना की दृष्टि से, अपितु काव्य-सौन्दर्य का समावेश करने के विचार से भी, पूरा प्रयत्न किया गया जान पडता है। जायसी का 'पद्मावत' काव्य-ग्रथ एक प्रौढ रचना है जिसमें 'चदायन' से कही अधिक 'मृगावती' के आदर्श का पालन किया गया है। इसका नायक किसी काल्पनिक नगर का राजकुमार ही न होकर प्रसिद्ध 'चित्तउरगढ' का नरेश हो गया है और इसकी नायिका भी कोई साधारण-सी सुन्दरी न रहकर स्वय सिहलद्वीप जैसे एक अलौकिक प्रदेश की 'पद्मिनी' स्त्री भी ठहरती है। इसका प्रेमी नायक 'चदायन' के लोरिक-सा किसी जोगी से सहायता पाने की जगह 'मृगावती' के राजकुमार की भाँति स्वय जोगी भी वनकर निकलता है। 'चदायन' का 'तोता' भी यहाँ हीरामन 'सुआ' है। इसके सिवाय कुतवन एव जायसी ने जो 'वारहमासे' के वर्णन किए हैं उनकी तुलना करने पर भी पता चलता है कि 'पद्मावत' का रचयिता 'मृगावती' द्वारा सूचित होने वाले प्राय प्रत्येक आदर्श से न्यूनाधिक परिचित रहा होगा और उसने वैसे स्थलो में अभिवृद्धि लाने का भी प्रयत्न सजगतापूर्वक किया होगा। 'पद्मावत' के अन्य वर्णन भी 'मृगावती' की अपेक्षा कही अधिक विशद, विस्तृत और सजीव हैं तथा इसमें जायसी का पूर्ण पाडित्य भी दीख पडता है। इसके सिवाय जायसी की रचना में जहाँ किसी धार्मिक भाव से की गई प्रतीक-योजना का भी परिचय मिलता है वहाँ 'मृगावती' की खडित प्रति में यह वात उतनी स्पष्ट नही हो पाती और उसमें अधिकतर 'चदायन' का कहानीपन ही विवृत होकर रह जाता है।

परन्तु 'पद्मावत' के रचना-काल (सन १५२० ई०=स० १५७७) के पीछे सन १५४५ ई० (स० १६०२ वि०) में निर्मित मझन की 'मधुमालती' में हम फिर उक्त दोनो प्रकार की वातो

---

१. सूफी काव्य संग्रह, पृ० ९०।
२. रेयर फ्रैगमेण्ट्स आव चन्दायन ऐण्ड मृगावती, पृष्ठ १२।

का सामजस्य देखते हैं। इस रचना का नायक एक राजकुमार है और इसकी नायिका भी राजकुमारी ही जान पडती है, किंतु इन दोनो का प्रेम-सवध परियो के कारण आरभ होता है। वे मनोहर को उसके सोते समय मधुमालती की चित्रसारी में स्वय रातोरात जाकर पहुँचा देती है और उन्हें प्रेमासक्त पाकर फिर वे ही राजकुमार को लौटा भी लाती हैं। इस प्रेम-कहानी में फिर एक प्रसग ऐसा भी आता है जहाँ मधुमालती की माँ उसे शाप देकर एक चिडिया के रूप में परिवर्तित कर देती है। इसी प्रकार यहाँ मनोहर पहले रतनसेन की भाँति राजपाट छोडकर 'जोगी' बन जाता है और समुद्री लहरो के प्रभाव में आकर दूसरो से विछुड भी जाता है, किंतु दूसरी ओर वह फिर 'मृगावती' के नायक की भाँति, किसी पहाडी पर न सही एक जगल में ही, एक राक्षस के फदे में पडी कन्या को मुक्त भी करता है। इस रचना में भी किसी तोते की सहायता अपेक्षित नहीं जान पडती, किंतु वारहमासे के माध्यम से विरह-वर्णन की परम्परा को निभाया गया है। मझन कवि की रचना में एक यह विशेषता भी लक्षित होती है कि उसने यहाँ केवल शृगार एव अद्भुत रसो के ही सयोग को अधिक प्रश्रय दिया है और वीर, वीभत्स एव करुण रस तक के प्रसगो की ओर से अपनी उदासीनता प्रकट करते हुए, इसे जानबूझ कर दु खान्त बनने से भी बचा लिया है। इसके सिवाय 'मधुमालती' की प्रेम-कथा में हम दो विभिन्न प्रेमियो और ऐसी ही दो प्रेमिकाओं की भी प्रेम-कहानी को एक में जोडी गई-सी देखते है जिस कारण यहाँ पर एक छोटी-सी अतर्कथा का भी समावेश हो जाता है। परन्तु जहाँ तक अलौकिक बातो का वर्णन, कुतूहल जाग्रत करने की चेष्टा तथा, इसी प्रकार, रचना-शैली से अधिक घटना-प्रवाह की ओर ध्यान देने का प्रश्न है, 'मधुमालती' के रचयिता ने जायसी की अपेक्षा कुतवन के ही आदर्श का पालन विशेष रुचि के साथ किया है।

उसमान की 'चित्रावली' में, जिसकी रचना 'मधुमालती' के अनन्तर ६८ वर्ष पीछे सन १६-१३ ई० (स० १६७० वि०) में हुई, हम उक्त घटना-विस्तार-पद्धति का और भी विकास होता हुआ पाते हैं। इस कवि ने कथा का आरभ शीघ्र ही न करके पहिले उसके नायक के जन्म लेने, बल्कि इसके लिए उसके पिता के शिव-पूजनादि का अनुष्ठान करने तक की चर्चा छेड दी है। फिर यहाँ उसके प्रेम-सवध का किसी 'देव' तथा उसके साथी की सहायता से होना भी लगभग उसी प्रकार दिखलाया है जिस प्रकार 'मधुमालती' की 'अप्सराओं' द्वारा। किंतु 'मधुमालती' का कुँवर जहाँ चित्रसारी में अपनी प्रेमपात्री का प्रत्यक्ष दर्शन करता है वहाँ 'चित्रावली' का नायक ठीक वैसे ही स्थान में उसके केवल चित्र को ही देखकर प्रेमासक्त हो जाता है तथा वहाँ पर स्वय एक अपना चित्र भी बना देता है। इसी प्रकार उसमान की इस रचना के अतर्गत दोनो प्रेमियो के बीच एक दूत भी काम करता है जिसका नाम 'परेवा' दिया गया है और जो, इसी कारण, जायसी के 'सुआ'-सा लगता है। जायसी के अनुकरण का अनुमान हम इस रचना के उस प्रसग के आधार पर भी कर सकते हैं जिसमें प्रेमी अपनी प्रेमिका के लिए एक शिव-मन्दिर में ठहरता है, परन्तु अपनी प्रेम-कहानी की घटनाओं में विस्तार लाने का आग्रह इस कवि में इतना प्रबल है कि प्रेमी नायक को वहा से हटाकर एक बार फिर जगल में पहुँचा देता है, जहाँ वह अधा कर दिया जाता है, उसे एक अजगर निगल लेता है तथा जहाँ पर अजन द्वारा ज्योति के पुन पा लेने पर भी उसे किसी हाथी की चपेट में भी पडना पडता है। इसके सिवाय 'चित्रावली' के नायक को एक अन्य प्रेमिका के फेर में पडकर उससे विवाह तक कर लेना आवश्यक होता है और फिर यहाँ भी 'परेवा' के ही समान

कोई 'हस मिश्र' नामक दूत सवाद लाने का काम करता हुआ दीख पडता है। उसमान के इस प्रेमाख्यान की नायिका चित्रावली की उसके पितृगृह से की गई विदाई तथा वहाँ से लौटते समय की विकट यात्रा को पूर्ण महत्व दिया गया है और अत में, मझन की भाँति कथा को सुखात भी बना दिया है। 'चित्रावली' एव 'मधुमालती' के नायको में एक महान अतर यह है कि प्रथम का 'सुजान' एक वीर पुरुष भी है तथा वह अपने पराक्रम से उन्मत्त हाथी को पछाड देता है।

फलत 'चित्रावली' के रचना-काल तक निर्मित क्रमश 'चदायन', 'मृगावती', 'पद्मावत' एव 'मधुमालती' के साथ उसकी तुलना करते समय, यदि केवल कथानको के विकास और घटनाओ के विस्तार पर ही ध्यान दिया जाय तो, एक बहुत बडी अभिवृद्धि हो गई प्रतीत होती है। एक ओर जहाँ इन रचनाओ के नायक-नायिकाओ के सामाजिक स्तर, उनकी सास्कृतिक तथा उनके साधारण व्यापारो में परिवर्तन होता गया है, वहाँ दूसरी ओर न केवल इनके पात्रो की सख्या बढती गई है अपितु, इनकी घटनाओ की प्रगति एव विस्तार में नवीनता भी आ गई है और इनमें अतर्कथाएँ तक जुडने लग गई हैं। 'चदायन', जहाँ तक उसकी उपलब्ध खडित प्रति के आधार पर कहा जा सकता है, एक सीधी-सादी और घटना-प्रधान रचना है। उसमें वर्ण्य विषय को भरसक स्वाभाविक ढग से कह देने की प्रवृत्ति देखी जाती है और उसमें जो भी पौराणिकता आ गई है वह उसकी रचना-शैली की न होकर विशेषत उसके कथानक से ही सबधित है, परन्तु 'मृगावती' के रचना-काल तक आते-आते हमें ऐसा दीखने लगता है कि मूल वर्ण्य वस्तु के साथ-साथ कतिपय बाहरी बातें भी दी जाने लगी है। उनमें ऐसे पात्र लाए जाते हैं जिनके द्वारा कुछ न कुछ अलौकिकता की सृष्टि हो तथा ऐसे प्रसगो की भी योजना कर दी जाती है जिनके आधार पर सारा वातावरण ही अद्भुत और कुतूहलजनक प्रतीत होने लग जाय। इसमें सदेह नही कि इसका बीज स्वय 'चदायन' में ही वर्तमान है तथा जिन रचनाओ के आदर्श पर इसका निर्माण हुआ है उनके भीतर भी इसकी कमी न होगी। परन्तु यदि केवल सूफी प्रेमाख्यानो की इस रचना-पद्धति पर ही विचार किया जाय तो यही कहना उचित होगा कि इसकी प्रारभिक सादगी मे पीछे क्रमश वैविध्य और जटिलता का अधिकाधिक समावेश होता चला गया है तथा इस परिवर्तन के उदाहरण हमें विषय-विस्तार से लेकर काल्पनिक चित्रणो तक में बराबर मिलते जाते हैं।

परन्तु 'चित्रावली' के अनन्तर निर्मित अथवा उसके कतिपय समकालीन भी उपलब्ध प्रेमाख्यानो के देखने से पता चलता है कि उस समय तक ऐसी रचनाओ के अतर्गत कुछ न कुछ नवीन बातो का भी आने लगना आरभ हो गया था। उस काल तक के प्राय सभी ऐसे सूफी कवि उत्तरी भारत और प्रधानत उत्तरप्रदेश के ही निवासी हुआ करते थे और वे विशेष कर यहाँ की ही परम्पराओ द्वारा न्यूनाधिक प्रभावित भी होते थे। उन दिनो तक इधर अभी ऐसी कोई नवीन साहित्यिक रचना-पद्धति भी नही आरभ हो पाई थी जिससे वे किसी भिन्न प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करते तथा जिसके किसी आदर्श को अपनाते, परन्तु, जैसा इसके पहले भी सकेत किया जा चुका है, ईस्वी सन की सत्रहवी शताब्दी का आरभ हो जाने तक दक्षिण की ओर, और विशेषत बीजापुर के आदिलशाही एव गोलकुडा के कुतुबशाही शासको के सरक्षण वा प्रोत्साहन में, एक नए ढग के सूफी साहित्य की रचना-पद्धति का सूत्रपात हो गया। वहाँ के प्रचार-क्षेत्रो में काम करने वाले सूफी कवियो और लेखको ने अपनी साप्रदायिक बातो का उपदेश, न केवल हिंदवी वा दक्खिनी हिंदी

के साधारण फुटकर पद्यो वा गद्यमयी रचनाओ द्वारा देना आरभ कर दिया, अपितु उन्होंने उस काल तक प्रचलित फारसी मसनवी पद्धति के भी आदर्श को अपना लिया। इन रचनाओ के अतर्गत वे या तो विशुद्ध सामी परम्परा का अनुगमन करने लगे या उन्होंने यहाँ की स्थानीय बातो को भी लेकर उन पर ऐसे रगो का चढाना आरभ कर दिया। फलत उनकी प्राय सारी कृतियाँ फारसी एव अरबी साहित्यो द्वारा किसी न किसी प्रकार प्रभावित रहने लगी और उनके वाङमय से प्रेरणा ग्रहण कर पीछे एक ऐसी साहित्य-रचना-प्रणाली भी चल निकली जिसका अतिम परिणाम वर्तमान उर्दू साहित्य के रूप में दीख पडा। जिन सूफी कवियो ने प्रेमाख्यानो की रचना करते समय इस नवीन शैली को नही अपनाया, उनमें से कुछ को उस समय इतना अवश्य पसद आया कि जहाँ तक सभव हो, अपने कथानको के क्षेत्रो, घटनाओ तथा प्रसगो को अधिक व्यापक रूप दिया जाय। अभी तक लिखी गई कथाओ में अधिकतर नेपाल से लेकर सिहल द्वीप तक का ही क्षेत्र सीमित जान पडता था जो पीछे बढकर चीन, बलख, फारस, मिस्र जैसे देशो तक भी विस्तृत हो गया। समुद्री यात्रा, वाणिज्य-व्यापार, दास-प्रथा आदि का अधिक समावेश होने लगा तथा सरायो के पडाव, खिज्र के साथ भेंट एव परियो के बीचबिचाव जैसी बातो की भी विशेष चर्चा होने लग गई। इसके सिवाय फारसी साहित्य के आदर्श पर की गई प्रतीकात्मक योजना की पद्धति क्रमश अधिक अपनाई जाने लगी और वैसी ही उपमित कथाएँ भी रची गई। इन बहुत से सूफी कवियो की ओर से इस समय ऐसे भी प्रयत्न होने लगे जिनसे इस्लाम धर्म के साप्रदायिक रूप का भी महत्व सूचित किया जा सके।

जहाँ तक अपनी रचनाओ के अतर्गत भारत से बाहर वाले सुदूर देशो की चर्चा करने का प्रश्न है, इस बात का आरभ सर्वप्रथम कवि उसमान ने ही कर दिया था। उसने अपनी 'चित्रावली' के कतिपय पात्रो के ऐसे नाम भी रख दिए थे जिनमें उनकी विशेषताओ का परिचय सुगमता के साथ पा लिया जा सकता था। परन्तु अन्य अनेक बातो में उसने अधिकतर अपने समय तक प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया। इसके विपरीत उसके समसामयिक जान कवि ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक छोटे-बडे प्रेमाख्यानो की रचना की और उन्होंने उनमें से किसी-किसी में उक्त नवीन बातो का भी समावेश कर दिया। उन्होंने अपनी 'रतनावली' की रचना के सबध में बतलाया है कि वह किसी रूम निवासी 'महागुनीराय' द्वारा महमूद गजनवी के लिए कही गई अद्वितीय कथा का भारतीय रूप है और अपने 'मधुकरमालति' नामक प्रेमाख्यान में तो उसने दास-प्रथा, हारूँरशीद, तुर्किस्तान, अरमनी आदि के भी उल्लेख किए हैं। इसी प्रकार जहाँ इस कवि ने एक ओर 'नल दमयन्ती' के प्रसिद्ध भारतीय प्रेमाख्यान को अपनी एक रचना का विषय बनाया है वहाँ दूसरी ओर उसने 'ग्रथ लैले मजनू' और 'कथा खिजरखाँ साहिजादे की' या 'देवलदे की चौपाई' की भी रचना कर डाली है। जान कवि फतेहपुर (जयपुर) के निवासी थे और उन्होंने कहानी-रचना में इतनी निपुणता प्राप्त कर ली थी कि उन्हें उनकी कथावस्तु के सोचने तथा फिर उन्हें लिख डालने में भी अधिक समय नही लगा करता था। कवि उसमान के ही एक अन्य समकालीन सूफी रचयिता शेख नबी भी थे जिनका प्रेमाख्यान 'ज्ञानदीप' नाम से प्रसिद्ध है। इस रचना के अतर्गत सारी बातें भारतीय परम्परा के ही अनुकूल कही गई जान पडती है और इसमें प्रेमभाव नायक की अपेक्षा पहले नायिका में ही जाग्रत होना तक दर्शाया गया है। परन्तु ऐसा करते

समय भी कवि ने ज्ञान एव योग-साधना से कही बढकर प्रेमतत्व का महत्व सिद्ध करके तथा एक सौन्दर्यमुग्धा रमणी का, 'यूसुफ-जुलेखा' वाली प्रेम-कहानी की स्त्रियो की भाँति अपनी अगुली में चोट पहुँचाने पर भी उससे अप्रभावित रहना दिखला कर उसमें शामी अतर्भावो को भी स्थान दे दिया है।

इन सूफी कवियो के पीछे लगभग सौ वर्षों तक की रची हुई किसी ऐसी कृति का पता नही चलता जो इनके मूल आदर्शों के अनुसार प्रस्तुत की गई हो, परन्तु हिंदवी अथवा दक्खिनी हिंदी साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि यही समय उधर की प्रेमाख्यान-रचना के लिए 'स्वर्णयुग' बन गया था। इसी समय वहाँ के प्रसिद्ध कवि गवासी, वजही, तवई और हाशिमी ने सामी कथाओ को लेकर अथवा उनके आदर्शों पर अपनी प्रसिद्ध मसनवियाँ लिखी तथा मुकीमी, नुसरती और गुलाम अली ने भी इसी कार्य को, अन्य आधारो में न्यूनाधिक परिवर्तन लाकर पूरा किया जिसका एक बहुत बडा प्रभाव यह पडा कि इनके पीछे आने वाले उत्तरी भारत के कई सूफी कवियो की रचनाएँ भी उनका अनुसरण करती हुई जान पडने लगी। उदाहरण के लिए 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना करते समय नूर मुहम्मद ने सँभवत मुल्ला वजही के 'सबरस' का अनुकरण किया, कासिम-शाह ने अपने 'हस-जवाहर' नामक प्रेमाख्यान को बहुत-कुछ गवासी के 'सेफुल्मुल्क और वदीयुज्जमाल' के साँचे में ढाला तथा शेख निसार ने भी ठीक उसी यूसुफ और जुलेखा की कथावस्तु को अपनाया जिसे उनसे लगभग १०० वर्ष पहले दक्खिनी हाशिमी ने अपनी रचना के लिए चुना था। इसमें सदेह नही कि इन दोनो वर्गों की रचनाओ मे वाह्य सादृश्य के बहुत कुछ होते हुए भी महत्व-पूर्ण अतर दिखलाया जा सकता है, किंतु केवल इसी एक बात के कारण यह अनुमान भी कभी निराधार नही कहला सकता कि इधर सूफी कवियो में एक नई प्रवृत्ति काम करने लग गई थी। इतना ही नही, नूर मुहम्मद ने तो अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना ही इसलिए प्रस्तुत की कि उसके द्वारा वह कदाचित 'सखवाद की रीति मिटाने' में समर्थ हो। उसका स्पष्ट शब्दो में कहना है कि "मेरी इस हिंदी रचना का कोई विपरीत अर्थ न लगाए, क्योकि मै इसके द्वारा 'हिंदू मार्ग पर' नही चल रहा हूँ।"

सूफी प्रेमाख्यानो की इस रचना-पद्धति के उदाहरण फिर लगभग एक सौ वर्षों तक उपलब्ध नही होते। अब तक जो ऐसी उल्लेखनीय रचनाएँ मिल सकी है उनका निर्माण-काल ईस्वी सन की वीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में पडता है। ये रचनाएँ तीन हैं, जिनमें से प्रथम अर्थात 'नूरजहाँ' की प्रेम-कहानी कल्पित है और उसके पात्रो के नाम भी भरसक विदेशी घटना-स्थलो के ही अनुसार रखे गए हैं। इसकी एक अन्य विशेपता यह भी है कि इस प्रेमाख्यान के रचयिता ने भी अपनी प्रेम-कहानी का आध्यात्मिक अभिप्राय अत में स्पष्ट करके रख दिया है। इस युग की दूसरी प्रेम-कहानी 'भाषा-प्रेमरस' की भी कथावस्तु कल्पित है, किंतु इसमें नायक से पहले नायिका के ही जन्मादि की बातें भूमिका-रूप में कह दी गई हैं। इन दोनो के अतिरिक्त, जो ऐसा तीसरा प्रेमाख्यान है उसका नाम 'प्रेमदर्पण' होते हुए भी उसके कथानक का मूल स्रोत 'यूसुफ जुलेखा' की सामी प्रेमगाथा है। कहते हैं कि इसी तीसरी रचना को उसके कवि ने उर्दू कवि फिजार की किसी मसनवी के आधार पर लिखा है, किंतु फिर भी यह उसका ठीक-ठीक अनुवाद नही है, इसके सिवाय इस प्रेमाख्यान की एक यह भी विशेपता है कि इसमें किसी गुरु, पीर, सुआ वा परेवा जैसे मार्ग-

दर्शक की आवश्यकता नही पडी है, जो कदाचित इस कारण है कि इसकी मूल कथा में भी उसके लिए कोई गुजायश नही थी। इस रचना का निर्माण-काल हि० सन १३०५ अर्थात सन १९१७ ई० (स० १९७४ वि०) बतलाया गया है, जिस समय यहाँ पर अग्रेजो का शासन चल रहा था और योरपीय साहित्य एव सस्कृति का पूरा प्रभाव भी पडने लग गया था, किंतु इस बात का कोई भी स्पष्ट प्रभाव इस रचना के अतर्गत नही दीख पडता और इसका कवि इसे लगभग पुरानी ही धारणाओ के अनुसार पूरा कर देता है। वास्तव में हम इन उत्तरकालीन प्रेमाख्यानो में वैसा कलात्मक चमत्कार भी नहीं पाते जिसकी सभावना हमें अबतक लिखी गई रचनाओ के उत्तरोत्तर विकास का अध्ययन करते समय होने लगी थी, प्रत्युत इधर की कृतियाँ भी अधिकतर फिर उसी घटनाप्रधान आदर्श को स्वीकार करती दीखती रही हैं जो इनकी प्रारभिक विशेपता थी।

सूफी प्रेमाख्यानो का वर्गीय विभाजन

सूफी प्रेमाख्यानो का किसी दृष्टि-विशेप के अनुसार वर्गीकरण करना उतना सरल नही जान पडता। इनके रचयिताओ ने जिन स्थूल आदर्शों को सर्वप्रथम अपना लिया था उनका सर्वथा परित्याग करने में वे आज तक भी सफल वा समर्थ न हो सके। उनके वैसे ही कथानक है, वैसी ही रचनापद्धति है और प्राय वही उद्देश्य भी है जिसे ध्यान में रखकर उन्होने इन रचनाओ का निर्माण आरभ किया था। फिर भी, जैसा कि इनके रचना-विकास-क्रम पर विचार करने से विदित होता है, इस साहित्य को हम कम से कम तीन युगो में विभाजित कर सकते हैं और उन्हें क्रमश आदिकाल, मध्यकाल एव उत्तरकाल के पृथक-पृथक नाम देते हुए, उनकी कतिपय मोटी-मोटी विशेपताओ की ओर कुछ सकेत भी कर सकते हैं। तदनुसार हम कह सकते है कि सूफी प्रेमाख्यानक साहित्य का आदिकाल, ईस्वी सन की चौदहवी शताब्दी के लगभग उत्तरार्द्ध से आरभ होकर उसकी पद्रह्वी के अत तक चलता है और इन डेढ सौ वर्षो में प्रस्तुत की गई एकमात्र उपलब्ध रचना 'चदायन' के आधार पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनो विशेपकर घटनाओ के विवरण को ही महत्व दिया जाता होगा तथा नायको के अलौकिक बल-वीर्य, दैवी शक्ति की सहायता एव चमत्कारपूर्ण प्रसगो का समावेश भी किया जाता रहा होगा। परन्तु मध्यकालीन प्रेमाख्यानो का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान इनकी कुछ अन्य विशेपताओ की ओर भी गए बिना नहीं रहता। मध्ययुग ईस्वी सन की सोलहवी शताब्दी के आरभ से लेकर कम से कम उसकी अठारहवी के अत तक पहुँचता प्रतीत होता है और इसे हम निश्चित रूप से इसका स्वर्णयुग भी कह सकते हैं। इस काल के भी प्रथम सौ वर्षों में हमें वस्तुत पूर्वकालीन बातो की ही आवृत्ति, उन पर आश्रित काव्य-सौन्दर्य एव रचना-चातुर्य की विविध अभिव्यक्तियो के साथ, दीख पडती है। फिर इनके दूसरे सौ वर्षों में हमें इनके घटना-क्षेत्रो के अतर्गत कुछ अधिक व्यापकता आ गई लक्षित होती है, इनके पात्रो के स्वभावादि में आ गए कुछ न कुछ परिवर्तनो के दर्शन होने लगते हैं तथा, इसी प्रकार, कभी-कभी इनमें फारसी साहित्य से उधार ली गई कतिपय बातो का अनुसरण भी प्रकट होने लग जाता है। इनके अतिम सौ वर्षों में तो हमें इस बात के भी प्रमाण अच्छी मात्रा में मिलने लगते है कि सूफियो की इस रचना-पद्धति का मूल उद्देश्य वस्तुत साम्प्रदायिक ही रहा होगा। परन्तु उत्तरकालीन प्रेमाख्यानो के निर्माण-काल अर्थात उन्नीसवी ईस्वी सदी से लेकर बीसवी तक

की अवधि में इस प्रकार की सारी उमगें प्राय ठढी पडती-सी प्रतीत होती हैं। इस अतिम युग की ऐसी रचनाओ में न तो कही जायसी की प्रतिभा है, न मझन वा उसमान की सहृदयता है, न जान की योग्यता है, न नबी का पाडित्य है, न नूर मुहम्मद की कट्टरता है, न निसार की धार्मिकता है और न कासिमशाह की उदारता ही पाई जाती है। इस खेवे के सूफी कवियो की यदि कोई विशेषता है तो यह कदाचित इस बात से भिन्न नही कि उन्होने अपनी रचनाएँ न्यूनाधिक व्यक्तिगत रुचि वा आग्रह के कारण प्रस्तुत की हैं तथा उन्हे भरसक व्यर्थ के आडम्बरो से भी बचाया है।

इस प्रकार का वर्गीकरण प्राय रचना-कालीन परिस्थितियो तथा कवियो को प्रभावित करने वाले उनके विशिष्ट वातावरणो के अनुसार किया जाता है। इस विभाजन-पद्धति के वैज्ञानिक होने में सदेह नही किया जा सकता और इसे विभिन्न साहित्यो के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान भी मिलता आया है। परन्तु इसके अतिरिक्त कई अन्य ऐसे भी मानदड हो सकते हैं जिन्हे दृष्टि में रखकर ऐसी रचनाओ का वर्ग-विभाजन किया जाय। उदाहरण के लिए हम ऐसा करते समय इस बात पर भी ध्यान रख सकते हैं कि अमुक प्रेमाख्यान प्रत्यक्षत सोद्देश्य लिखा गया है अथवा उसकी रचना यो ही कर दी गई है। इसके सिवाय हम कभी-कभी इस वात को भी महत्व दे सकते हैं कि अमुक रचना अपने परिणामानुसार सुखात है वा दु खात कही जा सकती है। सूफी प्रेमगाथाओ का वर्गीकरण करते समय यदि हम इन दोनो में से किसी भी पद्धति को अपनाएं तो हमें इसके बहुत स्पष्ट उदाहरण मिल सकेंगे। परन्तु एक अन्य वर्गीकरण-प्रणाली जिसे हम इस सबध में बहुत उपयोगी कह सकते हैं, इन रचनाओ के, इनके कथानको के स्वरूपानुसार किए गए, वर्गीकरण की पद्धति है जिसका प्रयोग हम प्रसगवश इनके विकास की चर्चा करते समय भी करते आए हैं। इसके अनुसार विचार करने पर हमें पता चलेगा कि 'चदायन', 'मिरगावती' तथा 'मधुमालती' लोकगाथात्मक हैं और 'पद्मावत' का भी एक वहुत बडा अश इस वर्ग को ही सूचित करता है। परन्तु 'यूसुफ जुलेखा', 'प्रेमदर्पण', 'नलदमयन्ती' अथवा 'लैलामजनूँ' की कथावस्तुओ में अधिकतर पौराणिकता भी पाई जा सकती है और ये उनसे भिन्न हैं। इसी प्रकार 'चित्रावली', 'ज्ञानदीपक,' 'हसजवाहर', 'इन्द्रावती', 'नूरजहाँ', 'रतनावती', 'कामलता', 'भापा-प्रेमरस' और 'कुँवरावत' आदि के लिए कहा जा सकता है कि इनके कथानक पूर्णत काल्पनिक है तथा इसी कारण इन्हे हम एक भिन्न श्रेणी में रख सकते है। 'पद्मावत' और 'छीता' में, और विशेपकर पहली रचना के अतर्गत, कुछ ऐसे पात्रो और प्रसिद्ध स्थलो के नाम आते है जिनसे उनकी ऐतिहासिकता का भ्रम हो मकता है। यह कथन कुछ अशो में ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु वर्ण्य विपय तथा उनके प्रागगिक उल्लेखो द्वारा भी उनके अधिकतर काल्पनिक अथवा अधिक से अधिक लोकगाथात्मक हाने में सदेह नही किया जा सकता। इस वात की ओर इसके पहले भी ध्यान दिलाया जा चुका है।

इस प्रसग में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ तक असूफी प्रेमाख्यानो का प्रश्न है, उनकी रचना के लिए भी 'स्वर्णयुग' वही कहला सकता है जिसे सूफी प्रेमाख्यानो के लिए अनुमान किया गया है और यहाँ पर भी उस अवधि में, अर्थात सोलहवी से अठारहवी ईस्वी शताब्दी तक सर्वांगीण प्रौढता दीख पडती है। इसके सिवाय ऐसी रचनाओ का वर्गीकरण

करते समय हम उन्ही लोकगाथात्मक, पौराणिक एव काल्पनिक नामक, तीन प्रमुख श्रेणिय प्रयोग यहाँ पर भी कर सकते हैं तथा कतिपय रचनाओ को अर्द्ध ऐतिहासिक भी ठहरा सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के साहित्य में एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि इसमें उक्त तीनों वर्गों की रचनाएँ लगभग एक ही सख्या में उपलब्ध हैं तथा उनके निर्माण-कार्य में कभी विशेष बाधा भी नही पडी है।

प्रबन्ध-कल्पना

सूफियो के प्रेमाख्यानो का स्वरूप, प्रेम-कहानियो का कोरा कथन मात्र ही न होकर प्रबन्ध-काव्यो की कोटि का है जिस कारण उनके वर्ण्य विषय तथा घटना-विधान एव क्रम-योजना आदि के सम्बन्ध में कुछ विस्तृत विवेचन भी किया जा सकता है। जहाँ तक उनके कवियो द्वारा कथानको के चुनने का प्रश्न है इसके सबध में हम अन्य प्रकरणो के अतर्गत भी थोडी-बहुत चर्चा कर चुके हैं। प्रेम-कथाओं में प्रेमभाव का निरूपण वा निदर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियो के अनुसार किया गया दीख पडता है और प्राय सभी उदाहरण हमें अपने भारतीय साहित्य में मिल जाते हैं। वैदिक साहित्य के अतर्गत एव पुराणो में भी हमें ऐसी कहानिया मिलती हैं जिनमें प्रेम का उदय स्वच्छद रूप में होता है और उसमें प्राय वासना की प्रधानता भी रहती है। इसका कारण विशेषकर प्रेमी एव प्रेमिका का एक दूसरे के आमने-सामने आ जाना और रूप-सौन्दर्य द्वारा परस्पर आकृष्ट हो जाना रहा करता है। फिर एक की ओर से दूसरे को अपनाने के प्रयत्न होने लगते हैं अथवा, यदि दोनो समान रूप से प्रभावित हो किन्तु उनके एक साथ रहने में किसी प्रकार की बाधा आजाती हो तो भी,दोनो की ओर से उसे दूर कर मिल जाने की चेष्टाएँ आरम्भ हो जाती हैं और यदि परिस्थिति अनुकूल रही तो दोनो का सयोग भी हो जाता है। परन्तु पुराणो के ही अन्तर्गत हमें कतिपय ऐसी प्रेम-कथाएँ भी मिलती हैं जिनमें प्रेमभाव कभी-कभी स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन वा गुण-श्रवण के आधार पर जाग्रत होता है जिनमें न केवल मिलन, अपितु पहले प्रत्यक्ष दर्शन के लिए भी आकुलता होने लग जाती है। शेष बातें पीछे उसी प्रकार चलती हैं जिस प्रकार साक्षात दर्शन-जन्य प्रेम के विषय में देखी जाती हैं, किन्तु कभी-कभी यहाँ वासना की मात्रा बहुत कम प्रदर्शित की गई मिलती है। इसका प्रधान कारण कदाचित यह हो कि इन दूसरे प्रकार के माध्यमो द्वारा उत्पन्न प्रेम विशेषकर उच्च स्तरो के ही विकसित समाजो में देखा जाता है जहाँ प्रचलित नियमो और परम्पराओ के विविध बन्धन भी काम करते रहते हैं और जहाँ पर इसी कारण मर्यादा-रक्षा की प्रवृत्ति, उसे स्पष्ट बनकर उभरने नही देती। प्रत्यक्ष दर्शन-जनित प्रेम के उदाहरण हमें उर्वशी एव पुरूरवा तथा शकुन्तला एव दुष्यन्त के प्रसिद्ध प्रेमाख्यानो में मिलते हैं, जहाँ दूसरे प्रकार के लिए हम क्रमश उषा एव अनिरुद्ध तथा दमयन्ती एव नल की प्रेम-कथाओ का उल्लेख कर सकते हैं। सूफी प्रेमगाथाओ के अन्तर्गत हमें इसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन वाले प्रेम का उदाहरण 'मधुमालती', मानसीरा' आदि में मिलता है, स्वप्न-दर्शन का 'इन्द्रावती', 'यूसुफ जुलेखा' आदि में दीख पडता है। चित्र-दर्शन-विषयक प्रेमासक्ति की कहानी 'चित्रावली', 'रतनावली' आदि में देखने को मिलती है और गुण-श्रवण-जन्य प्रेम 'पद्मावत', 'कँवलावती' आदि कहानियो द्वारा उदाहृत पाया जाता है।

'अनुराग-बाँसुरी' एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसका नायक सर्वप्रथम एक सुन्दरी द्वारा प्रदत्त किसी मणिमाला को ही देखकर उसकी ओर आकृष्ट होता है और फिर उसके प्रेम की पुष्टि उसके सौन्दर्य के वर्णन द्वारा भी हो जाती है। भारतीय साहित्य के अन्तर्गत दो अन्य प्रकार की प्रेम-पद्धतियो के भी उदाहरण मिलते है जिन्हे क्रमश विवाहोत्तर उत्पन्न दाम्पत्य प्रेम एव अत पुर की नारियो के प्रति जाग्रत किसी नरेश के प्रेम से सम्बद्ध कह सकते है, किन्तु इनके उदाहरणो को सूफी कवियो की रचनाओ में उतना महत्व नही मिलता है।

सूफियो को अपने प्रेमाख्यानो की रचना करते समय इस बात की ओर भी सदा ध्यान देना पडता है कि हम केवल कोई प्रेम-कहानी ही नही लिखते, हमें अपनी इस रचना द्वारा प्रेम-तत्व का निरूपण करना है तथा प्रेम-साधना का स्वरूप भी निर्धारित करना है जिससे हम उनके महत्व का दूसरो के लिए समुचित रूप से प्रतिपादन कर सकें तथा जिससे वे हमारी स्वीकृतियो को सर्वथा उपयोगी एव हितकर समझते हुए उसकी ओर आकृष्ट हो जायँ। तदनुसार एक ओर जहाँ वे किसी प्रेम-कथा के प्रबध-सघटन एव घटना-प्रवाहादि को दृष्टि में रखते थे, वहाँ दूसरी ओर उन्हे इस बात में पूरा सावधान भी रहना पडता था कि यह सभी कुछ उनके अपने उद्देश्य के अनुकूल पडे तथा उनकी रचना उसके सर्वथा अनुरूप उतर सके। कोरी प्रेम-कहानी आदि से अन्त तक केवल घटना-प्रवाह के अनुसार भी कही जा सकती है, जिस दशा में पाठको वा श्रोताओ का ध्यान विभिन्न व्यक्तियो तथा उनके प्रेम-व्यापारो की ओर ही जाता है और वे उसे एक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुए, उस पर प्राय टीका-टिप्पणी भी कर देते है। परन्तु जब कभी वह किसी उद्देश्य-विशेष से कही जायगी तो उसे कहने वाले के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उसके विभिन्न स्थलो और प्रसगो के आने पर यथावसर कतिपय आकर्षणो की योजना करके तथा, यदि ठीक जान पडे तो उसमें अपनी ओर से कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दे। मूल प्रेम-कथा का रूप तो केवल इतना ही होगा कि उसमें किन्ही दो प्रेमी और प्रेमिकाओ का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण हो, इस कार्य में उन्हे आवश्यक सहायता मिले, वे अपने प्रेमपात्र को अपना बना लेने के लिए प्रयत्नशील हो, इस कार्य में उन्हे आवश्यक सहायता मिले और अत में, वे कृतकार्य भी हो जायँ। परन्तु एक सूफी कथाकार को केवल इतने कथन मात्र से ही स्वभावत सतोष नही हो सकता, क्योकि इसके द्वारा वह केवल किसी इतिवृत्त का एक विवरण मात्र ही उपस्थित कर पाता है जो उसके लिए तब तक अधूरा ही कहलाएगा जब तक उसके आधार पर वह उसमें प्रदर्शित लौकिक प्रेम अपने अभीष्ट ईश्वरीय प्रेम के साथ सुसगत भी न सिद्ध कर दे और इस प्रकार, अपनी उस कृति की रचना का प्रमुख उद्देश्य पूरा होता देख ले। सूफी कवियो को इसीलिए अपने प्रेमाख्यानो के अतर्गत प्रेमपात्र के सौन्दर्य को किसी प्रकाश वा ज्योतिप्पुज के रूप में चित्रित करना पडता है। उसके प्रेमी वहाँ पर उससे आकृष्ट होते ही उसकी ओर तत्क्षण उन्मुख हो पडते हैं, उसके विरह में तडपने लग जाते है, अपना सर्वस्व न्योछावर करते हुए उसकी प्राप्ति के लिए अग्रसर होते है तथा इस मार्ग में कठिन से कठिन विघ्नो को भी तृणवत तुच्छ मानते हुए, दृढव्रत वन कर सिद्धि प्राप्त करते है। एक साधारण लौकिक जीवन में यह अनिवार्य नही कि प्रत्येक प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिए ठीक इसी प्रकार का आचरण करे, किंतु एक सूफी प्रेमाख्यान के नायक वा नायिका तथा कभी-कभी उन दोनो के लिए यह स्वाभाविक हो

जाता है कि वे उक्त दोनो नियमो का पालन प्राय यत्नवत करते चलें। अतएव प्राय प्रत्येक ऐसे प्रेमाख्यान में हमें कतिपय घटना और प्रसगो की एक आवृत्ति-सी होती हुई भी जान पडती है।

सूफी कवियो को अपने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत-कुछ आवश्यक समझ कर नए-नए दृश्यो, वातावरणो, परिस्थितियो वा पात्रो, प्रसगो एव घटनाओ की भी सृष्टि करनी पडती है और कभी-कभी तो कथा में वैचित्र्य लाने की दृष्टि से उसमें अतर्कथाओ का अतर्भाव भी करना पड जाता है। आध्यात्मिक साधना के लिए जिस प्रकार किसी सूफी 'सालिक' को किसी पीर वा परामर्शदाता की आवश्यकता पडा करती है जो उसे विघ्नो द्वारा विचलित होने की स्थिति में भी उचित सुझाव तथा सात्वना देकर सँभाल लेता है, उसी प्रकार इन कहानियो में भी हमें उपयुक्त सहायक मिल जाते है। ये उसे न केवल प्रेमपात्र का प्रारभिक परिचय देकर उसके हृदय में प्रेमभाव जाग्रत करते है, कभी-कभी उन दोनो के बीच सबध-स्थापन का कार्य भी करते है। इन माध्यमो को सूफी कवियो ने अधिकतर पक्षी के रूप में अथवा कभी-कभी देवो वा अप्सराओ के नाम देकर चित्रित किया है, जिसका एक प्रधान कारण यह हो सकता है कि ऐसे प्राणी दूर देशो तक भी पहुँच कर सारा कार्य अपेक्षाकृत सरलता के साथ कर सकते है। इन कहानियो के अन्तर्गत हमें ऐसे प्राणी वा साधारण पदार्थ तक कम मिलेंगे जिन्हें प्रेम-व्यापार के क्रम-विकास में किसी न किसी प्रकार अनावश्यक ठहरा दिया गया हो। यदि कोई इसमें प्रत्यक्ष रूप से सहायता करता है तो दूसरा केवल गौण बन कर ही काम में आ जाता है और इसी प्रकार, यदि किसी के द्वारा नायक-नायिकाओ को पूरा प्रोत्साहन मिला करता है तो दूसरे उनके मार्ग मे बाधक बन कर भी कुछ न कुछ कर देते हैं। बीहड वन, भयकर तूफान, विषैले साप, सुदीर्घ अजगर, विशालकाय हाथी, बलशाली गरुड पक्षी और मनुष्यभक्षी राक्षस तथा यत्र, मत्र, जादू-टोना और अनेक विद्याओ के जानकार मानवो की ओर से जब कभी कोई बाधा उपस्थित की जाती है तो उससे बचकर आगे बढना प्राय असभव-सा जान पडता है। परतु जब अत में, इनसे मुक्ति मिल जाती है तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि इनका समावेश केवल प्रेम-परीक्षा के लिए किया गया है। प्रेमी एव प्रेमिका का एक दूसरे से पुन -पुन वियुक्त होते रहना भी केवल इसीलिए प्रदर्शित किया जाता है कि उनके प्रेमभाव में अधिकाधिक दृढता आती जाय। सूफी साधको को अपने ईश्वरीय प्रेम की साधना में विभिन्न सासारिक अतरायो का सामना करना पडता है और वे अनेक उलझनो के कारण उसमें शीघ्र कृतकार्य नही हो पाते। इन कवियो ने अपनी प्रेम-कहानियो की रचना करते समय इस बात को सदा अपने ध्यान में रखा है और तदनुसार ऐसे ही प्रसगो के चित्रण भी किए है।

काव्य-प्रकार

सूफी प्रेमाख्यानो को प्रबध-काव्य की कोटि में रखते समय हमारा ध्यान इनकी प्रमुख विशेषताओ की ओर गए बिना नही रहता। प्रबध-काव्य का एक रूप महाकाव्य भी हो सकता है जिसके लक्षण साहित्यशास्त्र के ग्रथो में गिनाए गए है। परन्तु यह स्पष्ट है कि उनकी सारी बाते यहा नही पाई जाती। इन प्रेमाख्यानो के लिए न तो यही आवश्यक है कि वे सर्गबद्ध हो और न यह कि इनका नायक किसी उच्च कुल का ही सतान हो। वास्तव में यहा पर कवि का उद्देश्य

किसी महान चरित्र की अवतारणा मात्र न होकर प्रेमतत्व का प्रतिपादन भी रहा करता है जो महाकाव्यो की दृष्टि से अनिवार्य नही। इसके सिवाय महाकाव्यो की रचना जहाँ अधिकतर शिष्ट समाज से ही सबध रखती है वहाँ प्रेमाख्यानो का क्षेत्र इससे कही अधिक व्यापक है। इसका विषय किसी साधारण कोटि के समाज से भी ग्रहण किया जा सकता है जहाँ उच्च बौद्धिक स्तर का प्राय अभाव-सा रहा करता है। प्रेमाख्यानो की एक बहुत बडी विशेषता इस बात में भी पाई जाती है कि इनकी रचना करते समय पात्रो की वास्तविक जीवन-पद्धति की ओर उतना ध्यान नही दिया जाता। उसके सबध में विविध काल्पनिक घटनाओ का समावेश कर दिया जाता है तथा आकर्षक प्रसगो की सृष्टि कर उन पर आश्चर्य-तत्व का गहरा रग भी चढा देते है। ऐसे आश्चर्य-तत्व का अतिरजन हमें प्राय जैन चरित-काव्यो में भी दीख पडता है, किंतु वहाँ पर कवियो की कल्पना उतने अनियत्रित ढग से नही काम करती। उन रचनाओ के प्रमुख पात्र जैन पुराणो से चुने हुए रहते है और उनके चरित की रूपरेखा बहुत-कुछ पहले से ही निश्चित रहा करती है। उनके विविध जन्मो की कथाएँ आती है जिनमें उनकी अलौकिक शक्ति का चमत्कारपूर्ण वर्णन रहा करता है तथा उनमें किसी वैराग्यमूलक परिणाम की ओर सकेत भी दे दिया जाता है, परन्तु सूफी प्रेमाख्यानो की कथाओ के बहुधा दु खान्त होते हुए भी हमें उनमें कभी शात रस की प्रधानता नही लक्षित होने पाती। इसके अतिरिक्त जैन चरित-काव्यो तथा सूफी प्रेमाख्यानो का सादृश्य हमें उन दोनो के किसी न किसी धार्मिक उद्देश्य से लिखे जाने में भी दिखलाई देता है। परन्तु पहले वाले वर्ग की रचनाएँ इसकी ओर सदा सकेत भी नही किया करती। फिर भी, जहाँ तक सूफी प्रेमाख्यानो के बाह्य रूप एव रचना-शैली का प्रश्न है, इसमें सदेह नही कि उसके लिए बहुत-कुछ जैन चरित-काव्यो की ही परम्परा का अनुसरण किया गया होगा।

सूफी प्रेमाख्यानो की रचना करते समय फारसी साहित्य की रचना-परम्परा से भी प्रेरणा ग्रहण की गई है, किंतु उसका अधानुसरण नही किया गया है। फारसी भाषा में लिखे गए प्रबध-काव्यो को प्राय 'मसनवी' का नाम दिया जाता है जिसकी रचना-शैली के लिए कतिपय रूढियाँ भी निर्धारित हो चुकी है। मसनवी पद्धति के अनुसार लिखित बडे-बडे काव्य-ग्रथो में भी कभी उनके सर्गो जैसे अगो मे विभाजित होने के उदाहरण नही मिलते। उनमें अधिक से अधिक विभिन्न प्रसगो वा घटनाओ के अनुसार उपयुक्त शीर्षक मात्र दे दिए जाते हैं। सूफी प्रेमाख्यानो के उस वर्ग में जिसकी रचना अधिकतर बीजापुर एव गोलकुडा के हिंदवी-कवियो ने आरभ की थी और जिसकी एक परम्परा उर्दू साहित्य में प्रचलित है, इस पद्धति का अनुसरण किया गया है। उन प्रेमाख्यानो का प्राय 'मसनवी' नाम तक भी दे दिया गया दीख पडता है और उनमें फारसी 'बहरो' के ही प्रयोग किए गए है। परन्तु हिंदी में लिखे गए उत्तरी भारत के सूफी प्रेमाख्यानो में यह बात नहीं पाई जाती और, यद्यपि वे कभी सर्गबद्ध भी नही होते तथा उनकी उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो में से किसी के अतर्गत उक्त शीर्षक वाली परिपाटी का पालन भी दीख पडता है, तथापि वे उसके बहुत ऋणी नहीं समझे जा सकते। इन रचनाओ का सर्गबद्ध न होना इस कारण भी सभव है कि वैसी रचनाएँ पहले प्राकृत एव अपभ्रश भाषाओ में भी कर दी जाती थी। वाक्पतिराज का प्रसिद्ध प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' सर्गबद्ध नही है और न हरिभद्र कवि की ऐसी अपभ्रश रचना 'णेमिणाह-चरिउ' के लिए ही हम वैसा कह सकते हैं। ऐसे महाकाव्य अपवाद-स्वरूप भले ही मान

लिए जाएँ, किंतु इनके द्वारा कम से कम इतना अवश्य सिद्ध होता है कि इस प्रकार की रचना-शैली का भी यहाँ अभाव नही था। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानो के इस वर्ग की एक विशेषता इस बात में भी लक्षित होती है कि इनके रचयिताओं ने अपने कथानको के लिए या तो लोकगाथाओं को विशेष महत्व दिया है अथवा पौराणिक वा ऐतिहासिक प्रेम-कहानियो को ही चुना है और जहा कही उन्होंने कोरी कल्पना से काम लिया है अथवा मुस्लिम धर्मकथाओ का आश्रय ग्रहण किया है वहाँ पर भी उन्होंने उस पर भरसक भारतीय रग चढाने के ही प्रयत्न किए है। जहा तक इन कवियो द्वारा अपनी रचनाओ का आरभ करते समय मगलाचरण जैसे प्रसगो के लाने का प्रश्न है, हम यहा पर भी इन्हें केवल 'मसनवी' के रचयिताओ का ही अनुकरण करते नही पाते, क्योंकि इसका भी एक रूप हमे जैन-चरित-काव्यो में दीख पडता है। यहां पर हमें पैगवरो व नवियो की स्तुति की जगह तीर्थंकरो की वन्दना मिलती है, 'शाहेवक्त' की प्रशसा की जगह आश्रयदाता के लिए कहे गए देव-भक्ति सूचक शब्द दीख पडते है तथा प्राय एक ही प्रकार से वतलाए गए वे आत्म-परिचय भी उपलब्ध होते है जिनमें अपनी विनम्रता सूचित की गई रहती है।

सूफी प्रेमाख्यानो को हम कथा-साहित्य के अतर्गत गिना करते है और इन दोनो को प्रधानत इस बात में ही पृथक करते है कि कथाओं अथवा आख्यायिकाओं का रूप जहाँ विशुद्ध घटना-प्रधान ही हुआ करता है वहाँ इन रचनाओ में ऐसे स्थलो की भी कमी नही रहती जहा पर साहित्यिक चमत्कार भी आ गया हो। यहां पर कल्पना का काम केवल वर्ण्य विषयो तक ही सीमित न रहकर वर्णन-शैली तक भी आगे वढ जाता है और पूरी कृति में रसात्मकता का समावेश हो जाता है। फिर भी प्रेमाख्यानो का यह अश उतनी मात्रा में नही पाया जाता जितनी किसी महाकाव्य वा खडकाव्य के लिए अपेक्षित होती है। बहुत से ऐसे प्रेमाख्यानो मे तो हमे वैसे वर्णन भी मिल जाते है जिनका उल्लेख महाकाव्य के लक्षणो की चर्चा करते समय किया गया है। उदाहरण के लिए हमें यहाँ प्राय वनो, नगरो, सागरो, पर्वतो, विभिन्न कालो तथा ऋतुओ के वर्णन मिलते है और युद्धो, उत्सवो, यात्राओ तथा भोग-विलास एव विरह-वेदना के स्पष्ट चित्रण भी उपलब्ध होते है। परन्तु इनमें से अधिकाश की चर्चा यहां केवल प्रासगिक रूप में ही कर दी जाती है। प्रेमियो की विकट यात्रा, उनका विघ्न-बाधाओ के साथ सघटित सघर्ष, उनकी विरह-यातना आदि ही कुछ ऐसी बातें हैं जिनका इनमें आ जाना प्राय अनिवार्य समझा जाता है। ये इन रचनाओं के लिए उसी प्रकार रूढिगत वन गई है जिस प्रकार लोक-गाथाओं से आकर इनमें स्थान पा लेने वाली विभिन्न कथा-रूढियो के विषय में कहा जा सकता है। सूफी प्रेमाख्यानो के नायक सदा साहसिक कार्यों की क्षमता रखते है और उनमें इसी कारण अपने को सकट में डालते रहने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है। उनका यह स्वभाव उनके भीतर अपार उत्साह की अपेक्षा रखता है जो किसी सच्चे वीर पुरुष के लिए भी अत्यन्त आवश्यक होता है। अतएव महाकाव्यो एव सूफी प्रेमाख्यानो का बहुत-कुछ सादृश्य उनके नायको के वीर, साहसी और पराक्रमी होने में भी पाया जा सकता है। परन्तु महाकाव्यो के नायक जहाँ अपने शौर्य-पराक्रम का प्रदर्शन अपने उदात्त स्वभाव अथवा यशोलिप्सा के कारण करते देखे जाते है वहाँ इन प्रेमाख्यानो के नायको को यह कार्य प्राय विवश होकर तथा अपने प्रेम-मार्ग का कटक दूर करने के ही लिए

पूरा करना पडता है। इसीलिए प्रेमाख्यानो के कवि बहुत-से विकट युद्धो का भी वर्णन केवल थोडी-सी ही पक्तियो में कर डालते हैं जहाँ महाकाव्यो में इन्हें कभी-कभी बहुत विस्तार दे दिया जाता है।

अतएव बडे-बडे सूफी प्रेमाख्यानो को 'महाकाव्य' तथा छोटी-छोटी रचनाओ को 'खड-काव्य' की सज्ञा देते समय इसका ठीक आशय भी प्रकट कर देना हमारे लिए आवश्यक हो सकता है, क्योकि केवल उसी दशा में उनके वास्तविक स्वरूप का निश्चित ज्ञान भी हम प्राप्त कर सकते हैं। महाकाव्यो की जो परिभाषा पहले दी जाती थी अथवा जो लक्षण, उनका परिचय देते समय, गिनाए जाते थे उनकी उपयुक्तता स्वभावत सभी प्रकार के प्रबध-काव्यो के लिए सिद्ध नही की जा सकती और न, कम से कम, उन सभी को हम कभी स्थायी रूप में चिर काल के लिए स्वीकार ही कर सकते हैं। महाकाव्य-सबधी धारणा का आज तक, पिछली कई शताब्दियो से, विकास होता आया है और इसमें सदेह नही कि उसमें और भी परिवर्तन वा परिमार्जन की आवश्यकता होगी। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानो के वर्ण्य विषय तथा उनके विकास-क्रम को प्रभावित करने वाले आदर्शों की ओर ध्यान देने से पता चलता है कि उनके स्वरूप-निर्माण मे अनेक प्रकार के कारणो ने सहयोग प्रदान किया होगा और इसी कारण इनका महाकाव्यत्व भी बहुत भिन्न लक्षणो पर आश्रित हो सकता है। सूफी प्रेमाख्यान एक ऐसी रचना है जिसमें किसी प्रबध-काव्य के प्राय सभी तत्व वर्तमान हैं, किंतु, जिसमें इसके साथ ही, कथा-आख्यायिका, जैन-चरित-काव्य, धर्मकथा, महाकाव्य एव मसनवी की भी विशेषताओ का समन्वय हो गया है और यही इसकी सबसे बडी विशेषता है। सभी उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानो का आकार-प्रकार ठीक एक समान नही कहला सकता और न ऐसा एक भेद उनके रचना-कलानुसार भी ठहराया जा सकता है। परन्तु इसमें भी सदेह नही कि उनमें कुछ ऐसी विलक्षणता है जो उन्हें असूफी प्रेमाख्यानो से भी पृथक कर देती है।

क्रम-योजना

सूफी प्रेमाख्यानो की रचना-पद्धति में प्रबध-रूढियो की प्रधानता है। इनके रचयिताओ ने एक विशेष आदर्श का पालन अपना कर्तव्य-सा समझ लिया है और भरसक प्रयत्न किया है कि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि न आ सके। वर्ण्य विषय के क्रमानुसार वे अपनी रचनाओ को पर-मात्मा की स्तुति से आरभ करते है और अधिकतर उसके सृष्टिकर्ता-रूप का वर्णन भी कर दिया करते है। वे उसकी सर्वशक्तिमत्ता का परिचय देकर फिर बहुधा हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियो की चर्चा करते हैं और उनकी प्रशसा भी कर देते हैं। यहाँ तक उनके मगलाचरण का अश रहा करता है, इसके अनतर वे साधारणत 'शाहेवक्त' के विषय में अपना कथन आरभ करते हैं और उसका नाम निर्देश करते हुए, उसके गुणो का उल्लेख भी कर देते हैं। यह उल्लेख प्राय अतिशयोक्तिपूर्ण रहा करता है और कदाचित इसलिए किया जाता है कि अपने ऊपर उसकी कृपा-दृष्टि बनी रहे। 'शाहेवक्त' की प्रशसा करके फिर कवि अपने पीर तथा कभी-कभी उसके सप्रदाय के अन्य प्रमुख लोगो के नाम लेता है और उनके प्रति भक्ति-प्रदर्शन करता है। फिर अत में वह स्वय अपना नामोल्लेख करता है और बहुधा प्रसगवश अपने जन्म-स्थान एव पूर्वजों

का एक सक्षिप्त परिचय देकर, अपनी रचना के निर्माण-काल का पता भी दे देता है और इस प्रकार उसकी कृति का यह प्रथम अश पूरा हो जाता है। आत्मपरिचय देते समय कवि को कभी-कभी अपने विषय में कुछ नम्र निवेदन भी करना पडता है तथा यह भी सूचित कर देना पडता है कि उसकी रचना का आधार क्या है।

इस प्रकार, मगलाचरण तथा परिचयात्मक उल्लेखो के आ जाने पर प्रेमाख्यानो की कथा का सूत्रपात किया जाता है। यहाँ पर या तो कवि पहले कथा-नायक के देश, कुल, प्रारम्भिक जीवन आदि की चर्चा करके फिर नायिका का भी परिचय देने लग जाता है अथवा वह पहले ऐसी ही बातो का वर्णन नायिका के ही सबध में कर लेता है और तब नायक का परिचय देता है। इस दूसरे ढग पर लिखी गई रचनाओं की सख्या कम है और इनमें विशेषकर जायसी की 'पद्मावत' एव जान कवि की 'छीता' जैसी कुछ प्रेमकथाओ की ही चर्चा की जा सकती है। परन्तु नायिका के पहले नायक का परिचय आरभ कर देने वाले प्रेमाख्यानो की सख्या अपेक्षाकृत कही अधिक है। इस सबध में 'मधुमालती', 'इद्रावती', 'अनुराग-बासुरी', 'यूसुफ जुलेखा' आदि के नाम लिए जा सकते हैं तथा उनके भी उल्लेख किए जा सकते है जिनके कवियो ने नायको के माता-पिता को पहले नि सतान के रूप में दिखलाकर तथा पुत्र-प्राप्ति के लिए उनसे बहुत-कुछ प्रयत्न भी कराकर फिर वैसे नायको का परिचय दिया है। इस प्रकार की रचनाओ में 'चित्रावली', 'हस-जवाहर', 'ज्ञान-दीपक', 'रतनावती', 'नूरजहाँ' और 'भाषा-प्रेमरस' के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय है। इन नायक-नायिकाओ में एक यह बात भी देखी जाती है कि वे अधिकतर एक-दूसरे से दूर के निवासी रहते हैं, केवल कुछ कथाओं में ही वे एकस्थानीय पाए जाते हैं। दूसरे प्रकार के उदाहरण में जान कवि की रचना 'मधुकरमालति' का नाम लिया जा सकता है जिसमें दोनो एक ही चटसार में पढ़ते है।

प्रेमी एव प्रेमपात्र को सुन्दर तथा उन दोनो के बीच बहुत बडी दूरी अथवा विकट व्यवधान चित्रित करके सूफी कवियो ने अपनी कथाओ में गति ला दी है। जब कोई नायक वा नायिका वा दोनो एक-दूसरे के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होते हैं और उन्हें अपने उद्देश्य की सिद्धि में इस प्रकार की किसी बाधा का भान हो जाता है कि वे विरह के कारण अधीर-से हो उठते हैं और उसी क्षण से उनमें एक अपूर्व ढग की क्रियाशीलता भी आ जाती है। अत सौन्दर्याकर्षण के लिए उपयुक्त अवसर तब आता है जब दोनो एक-दूसरे को देखते हैं अथवा उनमें से कोई एक दूसरे को चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन वा गुण-श्रवण के माध्यम से भी जान कर प्रभावित होता है। इन साधनो में से भी चित्र-दर्शन एव गुण-श्रवण के लिए किसी अन्य की भी अपेक्षा होती है, जहाँ स्वप्न-दर्शन और साक्षात दर्शन अपने आप भी हो जाते हैं। चित्र-दर्शन के पहले मझन की 'मधुमालती' में कुछ अप्सराएँ नायक मनोहर को नायिका की चित्रसारी में पहुँचा आती हैं, उसमान की 'चित्रावली' में वही काम किसी देव द्वारा किया जाता है तथा जान की 'रतनावती' में उसका नायक ऐसे चित्र द्वारा प्रभावित होता है जो राजा के दिए हुए जामा पर अकित रहता है। इसी प्रकार गुण-श्रवण के साधन रूप में भी जायसी के 'पद्मावत' में, रतनसेन के प्रति पद्मावती की प्रशसा करने के लिए, हीरामन तोते की आवश्यकता पडती है, जान की 'छीता' में उसकी नायिका के रूप-गुण की प्रशसा राजाराम के प्रति किसी व्यक्ति से करा दी जाती है और नूर मोहम्मद की 'अनुराग-

बाँसुरी' में भी अत करण के प्रति सर्वमगला के रूपादि की प्रशंसा एक ब्राह्मण आकर कर देता है।

प्रेमासक्ति के भाव जाग्रत हो जाने पर फिर प्रेमियो की ओर से विविध प्रयास आरभ होते है। 'पद्मावत' का नायक रतनसेन, सिंहल की पद्मावती को प्राप्त करने के लिए, सोलह सहस्र अन्य राजकुमारो के साथ जोगी बनकर निकल पडता है और तोता उसका पथ-प्रदर्शक बनता है। 'मधुमालती' का मनोहर अपना सारा राजपाट छोडकर जगलो में भटकने लग जाता है और उसकी नायिका को भी अपनी माता के शापवश एक पक्षी के रूप में घूमने-फिरने लगना पडता है, 'कनकावती' का राजकुमार जोगी का वेष धारण करके एक सेना के साथ सिंघलपुरी की ओर प्रस्थान करता है और इसी प्रकार 'इद्रावती' का राजा भी गुरुनाथ नामक तपी को गुरु-रूप में स्वीकार कर जोगी का वेष धारण कर लेता है और अपने मार्ग में सात बीहड वनो को लाँघता हुआ अगमपुर की ओर बढता है। सूफी कवियो ने इन प्रेमियो के प्रेम की दृढता सिद्ध करने के लिए उनकी बहुत कडी परीक्षा ली है और कभी-कभी उनके प्राणो तक को जोखिम में डाल दिया है। इस प्रेम-परीक्षा का रूप कही पर ऐसा भी देखा जाता है कि प्रेमी नायक के सामने कई अन्य सुन्दरियो के सपर्क में आ पडने की समस्या खडी हो जाती है। उसमान की 'चित्रावली' के सुजान को, अपने प्रेम-पथ पर रहते समय ही, बीच में कौलावती के साथ विवाह तक करना पड जाता है किंतु वह चित्रावली को नही भूलता। 'अनुराग-बाँसुरी' में तो यह समस्या, प्रेमी अत करण के सामने 'स्नेहनगर' की यात्रा में दो भिन्न-भिन्न मार्गों की कल्पना द्वारा भी लाई गई है। परन्तु सर्वत्र यही सिद्ध किया गया प्रतीत होता है कि इन प्रेमियो को अपने उद्देश्य की सिद्धि में अटूट विश्वास है और उन्हें इस ओर से कोई भी शक्ति डिगा नही सकती। इस सबध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन प्रेमाख्यानो के अतर्गत पुरुष प्रेमियो द्वारा जहाँ विभिन्न साहसिक कार्य कराए गए हैं वहाँ नारी प्रेमिकाओ की स्त्री-सुलभ अधीरता, विरह-वेदना एव बेचैनी में कमी लाने के लिए कतिपय साधनो की योजना कर दी गई है। रतनसेन के विरह में जब नागमती अत्यन्त प्रबरा उठती है तो एक 'पछी' की सहायता द्वारा उसकी दशा का परिचय सिंहलद्वीप में कराया जाता है। 'इन्द्रावती' की नायिका जब अत्यन्त व्याकुल हो जाती है तो उसे धीरज बँधाने के लिए दो प्रेम-कहानियाँ कही जाती हैं और इसी प्रकार उसकी प्रतिनायिका को भी एक वैसी ही सुनानी पडती है। ऐसे प्रसगो को ला कर सूफी कवि एक ओर जहाँ विरह-दशा का विस्तृत चित्रण कर देता है वहाँ दूसरी ओर इनके द्वारा प्रेम पथ का स्वरूप भी स्पष्ट करता है।

सूफी कवियो ने अपनी प्रेमगाथाओ में प्रतिनायको की सृष्टि करके, उनके नायको की शक्ति और योग्यता को कसौटी पर कस लिया है, और इसी प्रकार उनमें प्रतिनायिकाओ की अवतारणा करके उनकी दृढ़ता की भी परीक्षा ले ली है। इसी के लिए उन्होने कभी-कभी अत्यन्त कष्टप्रद अथवा अन्यत्र मृत्युदायी साधनो तक की योजना कर डाली है, किंतु, कही-कही सयोगवश तो कही दैवी सहायता द्वारा भी उन्हें सर्वथा नष्ट हो जाने से बचा लिया है। इसके सिवाय इष्ट फल की प्राप्ति के लिए देवताओ की आराधना कराई जाती है, मत्र-साधना का उपयोग किया जाता है, वरदान और आशीर्वाद दिलाए जाते हैं, दूतो, दूतियो तथा पराक्रमी नरेशो तक की सहायता को साधन का रूप दिया जाता है और जो बात जहाँ के लिए उपयुक्त ठहरे उससे आवश्यक

काम लिया जाता है। इस प्रकार प्रेममार्ग की विकट से विकट परिस्थितियो में भी परिवर्तन लाकर, अत में, प्रेमी-प्रेमिकाओ का पारस्परिक मिलन सभव करा दिया जाता है, परन्तु इन दोनो का सयोग भी सदा एक ही वार घटित होकर स्थायी रूप नही ग्रहण कर लेता। रतनसेन और पद्मावती सिंहल-द्वीप में एक दूसरे के वन जाते हैं और कुछ काल तक सुखमय जीवन भी व्यतीत करते हैं, किंतु वहाँ से चित्तौरगढ लौटते समय मार्ग में उनका एक वार विछोह हो जाता है। 'चित्रावली' का नायक कुवर भी जव अपनी प्रेमपात्री को लेकर घर की ओर चलता है, मार्ग में तूफान के चक्कर में पड जाता है और फिर किसी-किसी प्रकार जगन्नाथपुरी तक आ पाता है और इसी प्रकार 'हस-जवाहर' का हस भी जव अपनी जवाहर के साथ रूम की ओर लौटने लगता है, वीरनाथ के चेले का षड्यन्त्र उन दोनो को अलग-अलग कर देता है और फिर उसे जोगी हो कर घूमते-घामते भोलाशाह की शरण लेनी पडती है तथा अन्त में 'शब्द' की सहायता पाकर ही वह अपने देश लौटता है। परन्तु अपनी प्रेमिकाओ को पाकर तथा कभी-कभी उनके साथ वहुत दिनो तक आनन्दपूर्वक रह कर भी सभी प्रेमी स्वाभाविक मृत्यु से नही मरा करते। 'पद्मावत' का रतनसेन देवपाल के साथ युद्ध करता हुआ मरता है, 'मृगावती' का नायक आखेट के अवसर पर किसी हाथी पर से ही गिर कर मर जाता है। 'हसजवाहर' का हस छुरी से मार दिया जाता है और 'इन्द्रावती' का राजकुँवर भी अन्त में दुखित होकर ही मरता है और प्राय ऐसी सभी कथाओ की प्रेमिकाएँ या तो सती हो जाती हैं या यो ही मर जाती हैं। सूफी कवियो ने सुखात रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं, किन्तु उन्हें अन्त तक पहुँचाते समय प्रेमी और प्रेमिका के सुखमय सयोग तक ही ले जाकर छोड दिया है।

चरित्र-चित्रण

सूफियो के प्रेमाख्यानो को पहले कथा-आख्यायिकाओ की भाँति घटनाप्रधान कह देने की ही प्रवृत्ति होती है। एक प्रेम-कहानी में हमें जितना ध्यान उसके घटनाचक्रो और प्रसगो के विवरण तथा वातावरणो के चित्रण की ओर देना पडता है उतना उसके पात्रो की ओर नही। हम ऐसे पात्रो और विशेषकर नायक और नायिकाओ के साथ उनके वियुक्त हो जाने पर सहानुभूति प्रकट करते हैं और उनके मिल जाने पर प्रसन्न होते हैं। परन्तु हम ऐसे व्यक्तियो को अधिकतर प्रेमाभिव्यक्ति के लिए निर्मित किसी सजीव यन्त्र से वढकर महत्व नही देना चाहते। वास्तव में, प्रेमकथाओ के अतर्गत-उनके नायको और नायिकाओ के जीवन का केवल उतना ही अग प्रदर्शित भी किया गया है जितना उनके प्रेम-व्यापारो से सवध रखता है। ये रचनाएँ मानव-जीवन के पूर्ण दृश्यो के चित्रण का वैसा प्रयास नही किया करती, जैसा महाकाव्यो के सवध में कहा जा सकता है। इनके अन्य पात्रो में हमें कभी-कभी स्वभाव-वैविध्य की भी झलक दीख पडती है, किंतु उसके विकास को पूरा अवसर नही दिया जाता, जिस कारण उनका भी क्षेत्र प्राय सीमित ही हो जाता है। वहुत-से ऐतिहासिक पात्र भी यहाँ आकर प्रसगानुसार नितान्त भिन्न रग पकडते दीख पडते हैं और उनकी स्थिति भी किसी साधन से अधिक नही रह जाती। सूफी कवियो द्वारा किए गए चरित्र-चित्रण को इसी कारण उतना महत्व नही दिया जा सकता। परन्तु जिस समय हम इनके उद्देश्य की ओर भी ध्यान देने लगते हैं तथा जव हमें इस वात का स्मरण हो आता है कि ये रचनाएँ वस्तुत प्रवध-काव्यो के रूप में भी निर्मित की गई हैं तो हमें इन कवियो द्वारा किए गए उन प्रयत्नो के

ऊपर भी विचार करना पड जाता है जो उन्होने इन पात्रो को, कम से कम, एक स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए किए हैं।

सूफी कवियो का प्रधान उद्देश्य अपने प्रेमाख्यानो द्वारा उस ईश्वरीय प्रेम के स्वरूप का परिचय देना रहता है जिसके आधार पर ही हम परमात्मा को पा सकते हैं। उनके अनुसार परमात्मा ही हमारा प्रियतम प्रेमपात्र है और उसका मिलन ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। अतएव, इस दृष्टि से, प्रेम के क्षेत्र से अन्यत्र कही मानव-जीवन की सार्थकता ही नही रह जाती और न इस प्रकार विचार करने पर हम प्रेम-प्रभावित जीव को कभी एकागी ही ठहरा सकते हैं। इन प्रेमाख्यानो के नायक प्रत्यक्षत लौकिक प्रेम के अनुसार आचरण करते हैं और उनका उद्देश्य किसी प्रेमपात्री की उपलब्धि रहा करता है, परन्तु, यदि इन रचनाओ द्वारा की गई उनकी जीवन-पद्धति को देखा जाय तो उसके आरभ से ही हमें इनमें कुछ न कुछ विलक्षणता भी प्रतीत होगी। ये अधिकतर या तो अपनी माता की इकलौती सतान हुआ करते हैं और इन्हें वे वडी पूजा वा आराधना के अनन्तर प्राप्त करते है अथवा ये ऐसे वातावरण में पाले-पोसे ही गए रहते है जिससे इनमें भावुकता स्वभावत आ जाती है और ये अभीष्ट-सिद्धि के सामने किसी दूसरी बात की परवा नही किया करते। इनका जगत इनके आदर्शों का जगत हुआ करता है जिसमें तथ्य वा यथार्थता की कही गुजायश नही रहा करती, इनके प्रत्येक व्यापार के साथ सर्वस्व-त्याग की भावना वनी रहती है और वह किसी एकातनिष्ठ साधक द्वारा सम्पन्न की जाने वाली साधना का महत्व भी रखता है। उसके जीवन में अन्य लक्ष्य को सामने रखकर की गई किसी प्रकार की भी चेष्टा का सर्वथा अभाव दीखता है। ये नायक राजा वा राजकुमार होने के नाते सस्कारत वीर पुरुष भी होते हैं और अवसर आ जाने पर दानवो तथा राक्षसो को मारते, हाथियो को पछाडते तथा भयकर युद्धो में सक्रिय भाग लेकर विजयी भी हो जाते हैं। परन्तु उनके उस पराक्रम को प्रेमाख्यानो के अतर्गत केवल गौण स्थान ही दिया जा सकता है। इनके किसी साहसिक कार्य का भी कोई पृथक महत्व नही है। सूफी कवियो ने इन प्रेमी नायको के शील-विकास का किसी क्रमिक रूप में प्रदर्शन किया हो, ऐसा नही जान पडता, परन्तु इतना अवश्य है कि सभी प्रेमाख्यानो के नायको को हम ठीक एक ही प्रकार के आदर्श प्रेमी की कोटि में नही रख सकते और न सभी कवियो को इस कार्य में एक समान सफल ही ठहरा सकते हैं। मझन की 'मधुमालती' का नायक मनोहर कुँवर तथा शेख रहीम के 'भाषा प्रेमरस' का प्रेमसेन दो ऐसे पात्र हैं जिन्हें हम विशुद्ध प्रेमी कह सकते है, किन्तु 'इन्द्रावती' के राजकुँवर को हम उस कोटि में नही रख सकते क्योकि उसमें, सर्वस्व-त्याग की भावना होते हुए भी, वैसी गहरी भावुकता का अभाव है तथा इसी प्रकार न ही हम प्रसिद्ध यूसुफ को ही वैसे प्रेमी का नाम दे सकते हैं और न 'ज्ञानदीप' के नायक के विषय में ही ऐसा कह सकते हैं। नायिकाओं में जुलेखा उस आदर्श के सर्वाधिक निकट है।

सूफी कवियो ने नायक-नायिकाओ के अतिरिक्त जिन अन्य पात्रो का चित्रण किया है उनमें अधिकतर काल्पनिक हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐतिहासिक भी है। काल्पनिक पात्रो में से भी जो देवताओ वा नवियो के रूप में हैं उनपर अलौकिकता का रग इतना गाढ़ा चढ गया है तथा उनका स्वरूप इतना अधिक रूढिवद्ध-सा वन गया है कि उनके विषय में किसी प्रकार का विवेचन करना कभी उपयोगी नही हो सकता। उसी प्रकार जहाँ मानवेतर प्राणियो का मनुष्यवत चित्रण

गया है और उन्हें अतिप्राकृतिक बना दिया गया है वहाँ पर भी हम ऐसा ही कह सकते जहाँ तक वैसे पात्रों का प्रश्न है जो विशेषकर प्रेमियो के निकटवर्ती रहते हैं और की यथावसर सहायता प्रदान करके सफल बनाने की चिंता रहती है, उन्हें प्राय यो ने स्वभावत सहृदय बनाया है तथा उनसे 'मधुमालती' की प्रेमा की भाँति अथक ी करवाया है। इन प्रेमाख्यानो में जो पात्र चीन, बलख, रूम जैसे देशो के निवासी उनका भी चित्रण अधिकतर उसी रूप में हुआ है जैसा कि किसी भारतीय का हो सकता ासिक पात्रो में हमारे सामने राघवचेतन, रतनसेन, अलाउद्दीन, हारूँरशीद आदि आते हैं। इनमें से राघवचेतन से अलाउद्दीन का भेदिया बनने का काम 'पद्मावत' ने तथा 'छीता' में जान कवि ने लिया है और दोनो ही स्थलो पर उसका ऐतिहासिक सदिग्ध-सा प्रतीत होता है। रतनसेन का जो चित्रण जायसी ने किया है वह भी किसी द्वारा प्रमाणित नही होता। उस पर कवि ने बहुत-कुछ कालपनिक रग-चढा दिया है। ा तथा राघवचेतन इन दोनो के चरित्र का चित्रण जान कवि ने सभवत जायसी के में किया है। परन्तु जहाँ उसने अलाउद्दीन के परिचित स्वभाव में परिवर्तन लाकर की विदाई के समय एक सहृदय व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है, वहाँ कदाचित ल नवीनता भर दिखलाई है।

टना-वर्णन

जिस प्रकार सूफी कवियो ने चरित्र-चित्रण करते समय प्राय प्रबन्ध-रूढियो ली है उसी प्रकार उन्होंने वस्तु-वर्णन करते समय भी किया है। इन प्रेमाख्यानो समय जान पडता है कि सर्वत्र वे ही समुद्र हैं, वैसा ही तूफान है, वैसे ही वन- हैं तथा वे ही मकान एव फुलवारियाँ तक है। उनकी विशालता, भयकरता, बीहडपन नावट और सुरम्यता के प्रदर्शन में बहुत कम परिवर्तन किया गया दीख पडता है। थल हमें वैसे ही परिचित लगते हैं और विभिन्न घटनाओ का प्रवाह, उन्हें लेकर, वैसे ही आ मिलता है। उसमान, जान और नूर मोहम्मद ने कहीं-कही नवीन कल्पनाओ से का प्रयत्न किया है, किंतु कासिमशाह, शेख निसार और नसीर से उतना भी नही बन जायसी और शेख नबी ने अधिकतर वर्णन-विस्तार का आश्रय लिया है और मझन ने कही पाठको का ध्यान रमाने की ओर भी प्रयत्न किया है। कथा-आख्यायिका अथवा ओ की रचना-परम्परा में कुतूहल-वृद्धि को विशेष महत्व दिया जाता रहा है और घट- वर्णन की शैली ऐसी कर दी जाती रही है जिससे कही शिथिलता का बोध न हो सके। रसी साहित्य की रचना-पद्धति के अनुसरण में कभी-कभी यह बात अपने सामने से ओझल है और जिस समय ये कवि किसी वस्तु की गिनती वा रूढिवद्ध-वर्णन तक उतर आते त्सुक्य-वर्द्धन में कोई भी प्रगति नही हो पाती और न लक्ष्य के प्रति उनका आकर्षण ही है। इन कवियो ने एक ओर जहाँ सारी सृष्टि को ईश्वरीय ज्योति द्वारा आलोकित और उसम सर्वत्र परमात्मा का दर्शन पाने की आकाक्षा भी प्रदर्शित की है, वहाँ दूसरी एक प्रेमी के मार्ग में चारो ओर विघ्न-बाधाओ का भी आयोजन करना पड़ गया

है। ये विघ्न-बाधाएँ न केवल मानवेतर प्राणियो अथवा प्राकृतिक वस्तुओ की ओर से पहुँचती है अपितु इनके लिए मूल स्रोत स्वय मानव-वर्ग के भी सदस्य बनते आए है। सूफी कवि इनका वर्णन करते समय बहुधा अतिशयोक्तिपूर्ण शैली से काम लेता है और प्रेमी नायक के साथ सहानुभूति रखने के कारण उनके द्वारा पडने वाले उत्कट से उत्कट प्रभाव को भी सरलतया नगण्य सिद्ध कर देने में कभी सकोच नही करता। इसी कारण हमें किसी वैसे नायक के वास्तविक शौर्य वा पराक्रम का ठीक पता नही चल पाता और हम उसके विषय में कोरी अलौकिकता का ही अनुभव करके रह जाते है।

प्रकृति का वर्णन करते समय इन कवियो ने या तो उसे उपमानो के रूप में देखा है अथवा उसके दृश्यो को उद्दीपन का साधन बना दिया है। परन्तु इन दोनो ही वर्णन-शैलियो में उन्होने अधिकतर परम्परागत रूढ़ियो का ही अनुसरण किया है। बारहमासे का वर्णन करते समय इन्हें अच्छा अवसर मिला था कि ये प्रसगवश विभिन्न प्राकृतिक तथ्यो को उनके स्वाभाविक रूप में चित्रित कर दें। परन्तु ऐसे स्थलो पर उन्होने जितना ध्यान किसी वैसी वस्तु द्वारा पडने वाले प्रभाव की ओर दिया है उतना उस के यथातथ्य वर्णन की चेष्टा नही की है। 'ज्ञानदीप' के रचयिता शेख नबी ने तो विरह-वर्णन करते समय सुरज्ञानी द्वारा कुछ ऐसे उपचार तक कराए है जिनके कारण विरह-यातना में कुछ कमी आ जाय, किन्तु जिनमें मोर को डराने के लिए मार्जार, चद्र-ज्योत्स्ना के प्रभाव को दूर करने के लिए राहु आदि का केवल अकन कर देना मात्र ही पर्याप्त माना गया है। इन कवियो ने नगरो का वर्णन करते समय वहाँ के सरोवर, वाटिका, महल, चित्रशाला आदि का विवरण कभी-कभी कुछ विस्तार के साथ किया है तथा वहाँ के घाटो का भी उल्लेख कर दिया है। इसी प्रकार उन्होने वहाँ के लोगो के वैभव-विलास की चर्चा करते समय उनके आखेट एव जल-क्रीडा तक का विशद चित्रण कर डाला है। इस प्रकार के वर्णनो में विशेष कर जायसी, उसमान एव नूर मोहम्मद को अच्छी सफलता मिली है। रूप-सौंदर्य और स्वभावगत विशेषताओ का परिचय देते समय भी इन कवियो ने काव्य-रूढ़ियो का ही अधिक प्रयोग किया है। इन्होने वस्तुस्थिति के नग्न चित्रण का कदाचित कोई प्रयास ही नही किया है। यह बात वहाँ पर और भी अधिक स्पष्ट हो जाती ह जहाँ पर नखशिख-वर्णन का भी प्रयत्न किया गया रहता है। इसके सिवाय इन कवियो में से कुछ ने अपनी बहुज्ञता प्रकट करने के फेर में पडकर विभिन्न रागो अथवा रोगो तक का विवरण प्रस्तुत कर दिया है जो प्रत्यक्षत अनावश्यक जान पडता है।

भाव-व्यजना

सूफी कवियो की इन रचनाओ का प्रधान विषय प्रेमतत्व का निदर्शन एव प्रेम-व्यापारो का वर्णन होने के कारण उनकी भाव-व्यञ्जना-पद्धति की सीमा भी स्वभावत वही तक पहुँचती है जहाँ तक उसके अनुकूल वा समर्थक भावो का प्रश्न आ सकता है। सूफियो ने सब कही प्रेम के विरह-पक्ष को विशेष महत्व दिया है और इसी कारण, उन्होने जितना ध्यान प्रेमी एव प्रेमिकाओ के वियोग, उसकी अवधि मे झेले जाने वाले विविध कष्टो तथा उसका अत करने के उद्देश्य से किए गए विभिन्न प्रयत्नो के वर्णन की ओर दिया है उतना उनके अतिम

मिलन को भी नही दिया है। विरह की दशा वस्तुत वह मन स्थिति है जिसमें रहते समय अपने सारे जीवन को ही अपने प्रेमपात्र के प्रति नितात एकनिष्ठ वना देना पडता है। सयोग वा मिलन के अनुभव में उतनी तीव्रता नही रह जाती और न इसी कारण उसमें किसी प्रकार की गति लक्षित होती है। विरह के भाव में एक विचित्र अत प्रेरणा निहित रहती है जो प्रेमी वा प्रेमिका को कभी चैन की साँस नही लेने देती और सतत उद्योगशील वनाकर ही छोडती है। वह इसीलिए किसी अवरुद्ध जल-प्रवाह की भाँति अपने आगे वढने की चेष्टा करने लग जाता है और तद-नुसार उसे नित्य नए-नए विरोधो का सामना भी करना पडता है। उसके इस सघर्पमय जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट हो सकते है, किंतु उसे इसकी चिंता नही रहा करती। उसके हृदय में अपने प्रिय के साथ मिलने की इच्छा इतनी तीव्र हो गई रहती है कि तज्जन्य उत्साह उसे किसी दूसरी ओर देखने तक नही देता और उसके शारीरिक कष्ट भी वस्तुत मानसिक रूप ग्रहण कर लेते है। एक प्रेमी की दृष्टि में वाह्य सकटो पर विजय पाना उतना महत्व नही रखता जितना उस अवधि में कमी का लाना।

सूफी कवियो ने विरहावस्था का वर्णन करते समय वरहमासे के वर्णन को वहुत महत्व दिया है। उन्होने प्रत्येक मास के आगमन और उसके व्यतीत होते समय के ऋतुपरक प्रभाव का निदर्शन किया है और प्राय इतना और भी वतला देने की चेप्टा की है कि किस प्रकार सुखद वस्तुएँ तक विरह में दु खद वन जाती हैं। इस वारहमासे के वर्णन में इन कवियो ने भारतीय वातावरणो की ही चर्चा की है परन्तु जहाँ कही वे फारसी साहित्य की प्रचलित रूढियो द्वारा प्रभावित हो गए हैं, उन्हे इन वर्णनो को अतिरजित भी कर देना पडा है। इनके द्वारा किए जाने वाले 'रकत के आँसू' जैसे प्रयोगो की मात्रा इतनी अधिक वढ जाती है कि प्राय स्वाभावि-कता का उल्लघन हो जाता है और कही-कही वीभत्सता तक आ जाती है। इन सूफी कवियो में ऐसे वहुत कम होगे जिन्होने विरह का वर्णन करते समय उचित अनुपात एव मर्यादा की ओर भी पूरा ध्यान दिया हो। वे इस अवसर पर अपने को कदाचित कही भी सँभाल नही पाए है और प्राय उच्छृखल-से वनकर यथारुचि वहकते चले गए है। मझन कवि तक, जिसे हम इस विपय में अपेक्षाकृत अधिक सावधान रहने वाला समझते है, केवल प्रारम्भिक दशाओ तक ही अपने को सँभाल सका है। विरह के वर्णनो में नायक एव नायिका दोनो की ओर ध्यान देना पडा है और दोनो के शारीरिक कष्टो तथा मानसिक व्यथाओ का उल्लेख भी करना पडा है। परन्तु 'यूसुफ जुलेखा' के अतर्गत यह वात इस रूप में नही दीख पडती और वहाँ पर केवल नायिका की ही अवस्था अत्यन्त दयनीय चित्रित की जाती है। इस प्रेमाख्यान में एक दूसरी उल्लेखनीय वात यूसुफ के वियोग में उसके पिता याकूव का सताप भी वन जाता है। इसी प्रकार एकाध कवियो ने अपनी रचनाओ के अतर्गत कुछ न कुछ नवीनता लाने के भी प्रयत्न किए हैं। उदाहरण के लिए, कासिमशाह ने 'हसजवाहर' में उसकी विरहिणी की ओर से विरह-वेदना की अभिव्यक्ति कराते समय उसके प्रति पपीहे से भी कुछ उत्तर दिला दिया है तथा रहीम ने वारहमासे में 'मलमास' द्वारा आशा दिला दी है।

सयोगावस्था का वर्णन करते समय सूफी कवि कभी-कभी अश्लीलता की ओर भी वहक जाते है। मिलनपरक आनदानुभूति का वे कोई उत्कृष्ट परिचय नही दे पाते। इन कवियो

ने सयोगावस्था को या तो भोग-विलास के लिए उपयुक्त वातावरण मान लिया है अथवा कभी-कभी उसका रहस्यात्मक अर्थ भी कर डाला है। मझन का वर्णन इस प्रसग में भी बहुत-कुछ सयत जान पडता है, किंतु उसमान जैसे अन्य कवियो ने इस अवसर पर वाक्चातुर्य का प्रदर्शन तक करा दिया है। नूर मोहम्मद ने अपनी 'इन्द्रावती' के अतर्गत सयोगावस्था के वर्णन में षड्ऋतु जैसे उद्दीपनो का भी सहारा लिया है, किंतु इस कवि की वर्णन-शैली में रहस्य-भावना का भी रग चढ जाता है और कवि निसार ने तो ऐसे अवसर पर ईश्वरीय प्रेम का निरूपण तक आरभ कर दिया है। प्रेम-तत्व की व्याख्या प्राय सभी सूफी कवियो ने की है और उन्होने, इस प्रसग में, सौन्दर्य के स्वरूप एव प्रभाव पर भी बहुत-कुछ कह डाला है। जहाँ तक प्रेम तत्व के स्वरूप का प्रश्न है, इन सभी कवियो ने उसे अपूर्व, अखड एव सर्वव्यापी सिद्ध करने की चेष्टा की है और जायसी तथा नूर मोहम्मद ने इसके विरह-पक्ष को विशेष रूप से लक्षित करते हुए अपने साम्प्रदायिक सिद्धातो का भी पूरा परिचय करा दिया है। नूर मोहम्मद ने सौन्दर्य-तत्व की भी अच्छी व्याख्या की है। परमात्मा को एक अखड ज्योति के रूप में स्वीकार कर चुकने के कारण, ये सूफी कवि इस विषय के, स्वभावत , रूपगत पक्ष का ही विवेचन करते हैं। इसी प्रकार प्रेमपात्र को परम्परानुसार प्रधानत स्त्री-रूप में ही प्रदर्शित करते आने के कारण उनका ध्यान केवल ऐसे अगो की ही ओर आकृष्ट होता है जिन्हें हम रमणी-शरीर में विकसित पाया करते हैं। प्रेम एव विरह के अतिरिक्त प्रसगवश उत्साह, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, कपट, दया, सहृदयता और सौजन्य-परक भावो की भी व्यजना यहाँ प्रचुर मात्रा में दीख पडती है, किंतु उसमें केवल वे ही सूफी कवि अधिक सफल हो सके हैं जिनका ध्यान यथार्थता की भी ओर गया है। जिन लोगो ने, केवल प्रेमी एव प्रेमिका के प्रेम-व्यापारो को ही विशेष महत्व देते हुए, इन प्रेमाख्यानो के प्रतिनायको, प्रतिनायिकाओ तथा उनके सहयोगियो अथवा सहायको के प्रति न्यूनाधिक उपेक्षा का भाव रखा है, उनका चित्त, वास्तविक जीवन की इन प्रवृत्तियो मे उतना रम नही पाया है।

प्रतीक विधान

सूफियो का उद्देश्य एक ऐसे गहन विषय का स्पष्टीकरण करना था जिसे साधारण शब्दो द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। एक तो उनके अनुसार परमात्म-तत्व ही ऐसा है जिसके सबध में सर्वव्यापी जैसे शब्दो का व्यवहार किया जाता है, किंतु जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करा पाना सभव नहीं है। हम सदा उसके अनेकानेक गुणो की चर्चा करते हैं, उसे ही सभी कुछ का कर्ता धर्ता बतलाते हैं और उसके सिवाय किसी अन्य का न होना तक कह डालते हैं, परन्तु जब कभी उसके रूपरग, उसके प्रत्यक्ष व्यापार वा व्यवहार का प्रश्न आता है, हम उसका पूरा ब्योरा नही दे पाते। सूफियो की प्रेम-साधना उसी अनिर्वचनीय सत्ता के साथ तादात्म्य उपलब्ध करने के उद्देश्य से की जाती है, इसलिए उसका विवरण देना और भी कष्टसाध्य है। सूफी साधक जो इस ओर प्रवृत्त होते हैं उसकी पीर-साधना के स्वरूप का परिचय देना चाहते हैं और इस मार्ग में होने वाले विघ्नो तक का पता दे देना चाहते हैं, उनका प्रयत्न रहता है कि किस प्रकार सारी बातें समझा दी जा सकें जिससे उसे बीच मार्ग में घबराकर बैठ जाने का अवसर न आ पाए। इसके सिवाय सूफियो की यह भी धारणा है कि जो प्रेमभाव परमात्मा के प्रति जाग्रत होता है वह तत्वत उससे विलक्षण नही जो

हमारे लौकिक जीवन में दीख पडता है। दोनो के उदय, क्रम-विकास एव परिणाम तक में पूरा साम्य है और इसी कारण एक का दूसरे में परिवर्तित हो जाना तक असभव नही कहा जा सकता। सूफी कवियो ने, विशेष कर इसी विश्वास के आधार पर, प्रेमाख्यानो की रचना की है और उन्हें अपने सिद्धातो के स्पष्टीकरण का साधन बनाया है। परन्तु प्रेम-कहानी का सबध साधारण व्यक्तियो के ही साथ होने के कारण इन्हें सुनते वा पढते समय वास्तविक रहस्य और भी गुप्त बन जा सकता है। अतएव इनके रचयिताओ ने कभी-कभी यह भी चेष्टा की है कि इनके अतर्गत प्रयुक्त शब्दो में से कुछ को साकेतिक रूप भी दे दिया जाय। जहाँ कही ऐसा नही किया गया है वहाँ पर भी इन कवियो ने अपनी रचना के अत में पूरी कथा के वास्तविक रहस्य को समझाया है। ख्वाजा अहमद ने अपनी 'नूरजहाँ' के अत में तथा इसी प्रकार कवि नसीर ने भी अपने 'प्रेमदर्पण' को समाप्त करते समय कुछ ऐसी पक्तियाँ लिख दी हैं जिनसे बातें प्रकट हो जाती हैं। जायसी के 'पद्मावत' में भी इस प्रकार की कुछ पक्तियाँ जोडी गई कही जाती हैं, किंतु उसके प्रामाणिक सस्करणो में यह अश नही दीख पडता।

प्रेमाख्यानो के अतर्गत प्रयुक्त शब्दो को साकेतिक रूप देने अथवा किसी वस्तु वा व्यक्ति का साभिप्राय नामकरण करने के कुछ उदाहरण हमें उसमान कवि की 'चित्रावली' के रचना-काल से मिलने लग जाते हैं और पीछे इस पद्धति का अनुकरण अन्य अनेक सूफी कवि भी करते हैं। उसमान कवि ने अपनी उक्त रचना में कथा-नायक का नाम 'सुजान' दिया है और उसकी नायिका के निवास-स्थान का नाम भी 'रूपनगर' दिया है जिससे प्रतीत होता है कि प्रेम-साधना में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान होगा और उसका प्रेमपात्र भी वही का होगा जो स्थान सौन्दर्य का आकर हो। परन्तु फिर भी यह 'रूपनगर' कोई ऐसी जगह नही जहाँ पर सीधे पहुँच सकते हैं और वहाँ तक जाते समय बीच में कई अन्य स्थलो को भी पार करना पडता है जिसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा के निकट पहुँच पाने के पहले अपनी दशा में क्रमश विकास भी होता जा सकता है। इन स्थलो वा पडावो के नाम कवि ने, इसी कारण, क्रमश 'भोगपुर', 'गोरखपुर' एव 'नेहनगर' दिए हैं और नामानुसार ही उनमें से प्रत्येक का वर्णन भी कर दिया है। उदाहरण के लिए 'भोगपुर' में भोग-विलास का आकर्पण रहा करता है जहाँ से आगे बढना केवल उसी के लिए सभव है जो नियमानुसार सयत जीवन स्वीकार कर सके और इसी प्रकार 'गोरखपुर' का निवास भी उस दशा का सूचक है जिसमें केवल बाह्य साधना वा बाह्य शुद्धि पर ही अधिक बल दिया जाता है। उसमान के अनुसार 'नेहनगर' तक पहुँचने की दशा भी हमारे लिए आदर्श स्थिति नही कहला सकती, क्योकि वहाँ तक भी अभी पूर्ण त्याग का भाव नही आया रहता। वहाँ से आगे बढने पर ही, अर्थात् जब हमें अहभाव के सर्वथा परित्याग की दशा प्राप्त हो जाय तभी हम 'रूप-नगर' में प्रवेश पाने के अधिकारी हो पाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये भिन्न-भिन्न पडाव केवल अपने साकेतिक नामो द्वारा भी प्रेम-साधना के विभिन्न स्तरो का परिचय दिला देते हैं। इसी प्रकार, कासिमशाह की रचना 'हसजवाहर' में नायक का नाम जानबूझकर 'हस' रखा गया है जो जीवात्मा का बोधक हो सकता है और उसे सुन्दरी प्रेमपात्री का सर्वप्रथम परिचय देने वाली परी को 'शब्द' की सज्ञा दी गई है जो बहुत ही उपयुक्त ठहरती है।

परन्तु इन दोनो कवियो से भी इस बात में कही अधिक कुशल नूर मोहम्मद जान पड़ता

है जिसने 'इन्द्रावती' और 'अनुराग-बाँसुरी' की रचना की है। इस कवि ने 'इन्द्रावती' के नायक द्वारा नायिका के निवास-स्थान 'अगमपुर' की यात्रा कराई है जो परमात्मपद के लिए भी बहुत उपयुक्त नाम कहला सकता है। वहाँ तक पहुँचने वाले मार्ग वा प्रेम-साधना को फिर नूर मोहम्मद ने कई अतरायो वा विघ्नो से पूर्ण सिद्ध करने के लिए उसमें विभिन्न वनो की कल्पना की है। इन वनो में से प्रथम पाँच को उसने इस प्रकार चित्रित किया है जैसे उनमें रूप,शब्द,सुगध, स्वाद एव स्पर्श के आकर्पणो द्वारा वाधा पहुँचती हो और फिर अन्य दो के लिए बतलाया है कि उनका हार्दिक अभिलापा एव नाम-स्मरण के साथ सबध है। ये सातो ही वन बहुत गहन गभीर है जिस कारण उनसे होकर गुजर सकना सरल नही है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि इद्रियज सुखो का उपभोग करना मायाजाल मे फँस जाना मात्र है। इससे उद्धार तभी हो सकता है जब हम 'देहतपुर' तक पहुँच जायँ जहाँ शारीरिक सुखो का कोई महत्व न रह जाय और फिर जहाँ से सयम के साथ आगे बढने पर वास्तविक 'जिउपुर' की ओर अपनी अतर्दृष्टि भी रमने लग जाय। साधक राज-कुँवर यहाँ पर अपने साथी बुद्धसेन वा सभी प्रकार के तर्क-वितर्कादि का साथ छोड देता है और श्रद्धापूर्वक 'प्रेमपुर' की फुलवारी में जाकर ठहर जाता है जहाँ से उसके प्रयत्न फिर कुछ नए ढग से होने लग जाते हैं। अत में जव वह 'कृपा' राजा की सहायता से प्रोत्साहन पाकर 'जगपति' राजा के निकटवर्ती 'आनन्द' का साथ पकडता है तथा उसे प्रसन्न भी कर पाता है, तब कही उसे सफलता मिलती है और वह अपनी उस प्रेमपात्री को पाने में समर्थ होता है जिसके लिए उसने अपनी सारी चेष्टाएँ आरभ की थी। इसी प्रकार उस कवि ने अपनी 'अनुराग-बाँसुरी' में, सभवत मुल्लावजही की रचना 'सवरस' का अनुकरण करते हुए किंचित भिन्न शैली का भी उपयोग किया है। उसने यहाँ पर प्राय सारे प्रतीको का विधान मानव-शरीर से सवध रखनेवाली इद्रियादि के क्षेत्र में ही पूरा कर देने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर शरीर को 'मूर्तिपुर' का नाम देकर उसके राजा का नाम 'जीव' वतलाया गया है और उसके पुत्र का नाम भी 'अत करण' रखा गया है। इस 'अत करण' के भी, जो वास्तव में यहाँ केवल मन की ही ओर सकेत करता जान पडता है, दो साथी 'सकल्प' और 'विकल्प' नामधारी है और इसके तीन अन्य भी सहयोगी है जिन्हें 'वुद्धि' 'चित्त'और 'अहकार' कहा गया है। 'अत करण' ही इस प्रेमाख्यान का नायक है जो किसी श्रवण नामक ब्राह्मण से उसके मित्र 'ज्ञातस्वाद' द्वारा प्रदत्त एव 'सर्वमगला' की माला पाकर इसकी ओर आकृष्ट हो जाता है, जिसका अभिप्राय यह हो सकता है कि यह सुन्दरी जो 'स्नेहनगर' की निवासिनी है, मन को वाणी एव श्रवणेन्द्रिय के माध्यमो द्वारा प्रभावित कर देती है। तत्पश्चात 'अत करण' प्रेम-साधना में प्रवृत्त हो जाता है और 'स्नेहनगर' की ओर प्रस्थान भी कर देता है। इस कार्य में उसे उसके साथी 'वुद्धि'एव 'विकल्प'पहले वाधा पहुँचाते है, किंतु पीछे 'स्नेह गुरु' द्वारा प्रोत्साहन भी मिल जाता है और वह अत में, 'सकल्प' की सहायता से कृतकार्य हो जाता है। इस प्रेमाख्यान की नायिका का 'सर्वमगला' नाम भी वहुत उपयुक्त जान पडता है क्योकि यह मानव-जीवन के अतिम उद्देश्य, परम कल्याण का वोधक है।

रस और अलंकार

प्रेमाख्यानो के अतर्गत प्रधानत शृगार रस की ही व्यजना की गई है। इनके नायक सुन्द-

रियो की ओर आकृष्ट होते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते हैं और, अपने कार्य में सफल होने के पहले तक, निरतर विरह-वेदना द्वारा व्यथित रहा करते हैं। नायको के हृदय में पूर्वराग जाग्रत करने का काम नायिकाओं के प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन वा गुण-श्रवण के माध्यम से लिया जाता है। ये नायक वहुधा राजा वा राजकुमार अथवा धनी सेठ हुआ करते हैं जिनका पालन-पोपण आरभ से ही सुख व समृद्धि के वातावरण में हुआ करता है जिस कारण भोग-विलास की ओर ये वहुत-कुछ स्वभावत प्रवृत्त हो जा सकते हैं और इसलिए रूप-सौन्दर्य की ओर इनके सहसा आकृष्ट हो पडने में हमें विशेप आश्चर्य का अनुभव नही होता। जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन की योजना की गई है वहाँ इनके सामने कोई न कोई ऐसी वाधा भी डाल दी जाती है जिससे इनके अनुराग मे अधिक तीव्रता आ जाय। परन्तु जहाँ पर इन्हें रूप-सौन्दर्य की केवल एक परोक्ष झलक मात्र दिखला दी गई है वहाँ इनके लिए पहले से ही विकट समस्याओ की पूरी व्यवस्था कर दी गई मिलती है। फलत इनके पूर्वराग में किसी सावारण विरह का ही परिचय नही मिलता, प्रत्युत ये कथारभ से ही अत्यत व्याकुल और वेचैन वनकर व्यवहार करते पाए जाते हैं। इनके कष्टो में फिर उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है और जव इन्हें कभी यह पता चल जाता है कि उनकी प्रेमपात्री भी लगभग इन्ही की भाँति विकल हो रही है तो ये प्राय अधीर तक हो उठते हैं और अपने सर्वस्व का त्याग कर केवल उसके मिलन को ही अपने जीवन का एक मात्र ध्येय स्वीकार कर लेते हैं। इन प्रेमाख्यानो के नायको के जीवन का अधिकाश केवल पारस्परिक मिलन के लिए नियोजित विविध प्रयत्नो में ही व्यतीत होता है। इस अवधि में जो कुछ भी दृश्य इनके सामने आते हैं वे या तो इनके लिए उद्दीपन का काम करते हैं अथवा इनके कार्य में अवरोध डालकर इनकी मनोदशा को और भी सुस्थिर तथा एकातनिष्ठ वन जाने में सहायता पहुँचाते हैं और इस प्रकार, इन्हें उनके द्वारा भी अप्रत्यक्ष उत्तेजना ही मिल जाती है। जहाँ तक अनुभवो का प्रश्न है, ये हमें इन दोनो ही प्रधान पात्रो में प्रचुर मात्रा में दीख पडते हैं। जायसी और विशेप कर नूर मोहम्मद ने अपनी-अपनी रच-नाओ के अतर्गत इस प्रकार के वहुत से वर्णन किए हैं जिनमें ऐसी सारी वातो के उदाहरण मिल जाते हैं। उद्दीपन विभाव के अनुकरणो की तो प्राय सभी कवियो ने सखा, सखी, वन, उपवन, ऋतु-परिवर्तन आदि रूपो में चर्चा की है और फिर उन्होने प्रासगिक ढग से अनेक अनुभावो का भी दिग्दर्शन करा दिया है। वे स्वभावत विप्रलभ शृगार के ही वर्णन में अपनी रुचि का अधिक प्रदर्शन करते हैं। सभोग शृगार की दशाओ का कभी विस्तृत विवरण नही देते। इसी प्रकार हमें ऐसा भी लगता है कि उन्होने नायको एव नायिकाओ के विविध भेदो को उद्धृत करने की ओर भी उतना ध्यान नही दिया है।

सूफी प्रेमाख्यानो के कवियो ने शृगार रस के अतिरिक्त अन्य रसो का वर्णन स्वभावत वहुत कम किया है। वीर रस के वर्णन उन स्थलो पर आ जाते हैं जहाँ पर उनके नायको को अपना साहसिक कार्य दिखलाते समय कभी-कभी अपने विरोधियो वा शत्रुओ का सामना करना पडता है। मुल्ला दाऊद की 'चदायन' रचना का नायक लोरिक अपनी प्रेयसी को भगा कर लाते समय कई शत्रुओ से भिडता है और उन्हें परास्त भी कर देता है। वह अवसर आ पडने पर किसी की लल-कार से सत्रस्त नही होता, प्रत्युत निर्भीक वन कर उनके साथ अकेला भी लड पडता है। वीर रस की भावना के लिए सर्वथा उपयुक्त हमें 'पद्मावत्र' के रतनसेन की वह उक्ति लगती है जिसे उसने

पद्मावती के लिए किए गए अलाउद्दीन के प्रस्ताव पर व्यक्त किया है और इस सबध में उसी रचना का वह स्थल भी द्रष्टव्य है जहाँ पर गोरा ने अपने विषय में गर्वोक्ति प्रकट की है। युद्धो की तैयारी अथवा वास्तविक युद्ध-व्यापार के वर्णन इन रचनाओ में उतने नही पाए जाते, किंतु फिर भी इनके कुछ उदाहरण 'पद्मावत', 'हसजवाहर' तथा 'इन्द्रावती' आदि से भी दिए जा सकते है। इसी प्रकार, ऐसी रचनाओ के अतर्गत हमें एकाध ऐसे प्रसग भी मिल सकते हैं जहाँ पर करुण, शात एव वीभत्स जैसे रसो की किंचित अभिव्यक्ति हो गई हो। परन्तु इनके कवियो का प्रधान उद्देश्य निश्चित एव सीमित रहने के कारण इनकी शृगारेतर रसो के परिपाक की ओर की गई विशेष चेष्टा नही लक्षित होती। काव्य-चमत्कारो की ओर केवल उन्ही कवियो का ध्यान गया है जो या तो स्वभावत प्रतिभाशाली रहे है अथवा जो कभी किसी कारणवश इस ओर सचेष्ट हो गए है। इनमे से जायसी और नूर मोहम्मद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सूफी प्रेमाख्यानो के अतर्गत हमें अलकार-विधान के उतने उल्लेखनीय उदाहरण नही मिलते। इनके कवियो ने वहुधा प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है और उन्होने अपनी ओर से कोई विशेपता लाने का प्रयत्न नही किया है। फारसी साहित्य द्वारा वहुत-कुछ प्रभावित रहने पर भी उन्होने अधिकतर भारतीय क्षेत्रो से ही उपमानादि ग्रहण किए है तथा उनके प्रयोग भी भरसक यही की पद्धति के अनुसार किए है। जिन लोगो ने कतिपय वाहरी उपकरणो को भी काम में लाने की चेष्टा की है उनमे नूर मोहम्मद का नाम विशेप रूप से लिया जा सकता है। परन्तु इनकी रचनाओ मे भी हमें अधिक उदाहरण नही मिल सकते और न वे ऐसे हैं जिनके आधार पर कोई निश्चित मत प्रकट किया जा सके। इसके सिवाय जिन-जिन सूफी कवियो ने नायक-नायिकाओ की विरहावस्था का वर्णन करते समय अत्युक्तिपूर्ण कथन किए है उनकी रचनाओ से भी हमें उतने स्पष्ट उदाहरण नही मिल पाते और न वे इतने अधिक सख्या में ही उपलव्ध होते है जिससे उन पर उक्त साहित्य का कोई विशेप प्रभाव माना जा सके। किसी रमणी के विरह-पीडित शरीर को निताात रूप से गला वा जला हुआ वतलाना अथवा उसके रूप-सौन्दर्य की प्रशसा करते समय उसके गले से उतरती हुई पीक को वाहर से स्पष्ट झलकती हुई कह डालना फारसी रचनाओ की वर्णन-शैली का स्मरण अवश्य दिला देता है, किंतु ऐसे कथन भी यहाँ प्राय उपयुक्त स्थलो पर ही पाए जाते है और वे उतने हास्यास्पद भी नही वन जाते। सूफी प्रेमाख्यानो को हम रूपकात्मक रचनाओ में गिना करते हैं जिसका कारण यह है कि एक ओर जहाँ इनमें हमे कोई प्रेम-कहानी दीख पडती है वहाँ दूसरी ओर इनके अतर्गत हमें विशिष्ट सूफी प्रेम-साधना के विविध अगो का स्पप्टीकरण भी मिल जाता है। यहाँ पर प्रस्तुत का वर्णन किसी ऐसे ढग से किया गया रहता है जिससे केवल दो-चार शब्दो के ही सकेतो से हमें किसी अप्रस्तुत का भी वोध होने लगे और इस प्रकार हमें उससे कवि का आशय भी स्पष्ट हो जाय। ऐसे प्रासगिक वर्णनो को प्राय समासोक्ति की सज्ञा दी जाती है और सूफियो के प्रेमाख्यानो में इनका उपयोग वडे सुन्दर ढग से किया गया है। सूफी कवियो में समासोक्ति का सवसे अधिक सफल प्रयोगकर्ता जायसी है, जिसकी उत्प्रेक्षामूलक उक्तियो को भी हम कम महत्व नही दे सकते।

छद-योजना

सूफी प्रेमाख्यानो को हम प्रवध-काव्यो की श्रेणी में रखते है और इनमें से कई-एक को कुछ

लोग महाकाव्य तक कह डालने में सकोच न करेंगे। परन्तु प्रवध-काव्यो के सभी लक्षणो को ध्यान में रखते हुए हमें उन्हें वहुत-कुछ भिन्न भी ठहराना पडता है। इस विभिन्नता के आधारो में कुछ तो विपयगत हैं जिनकी ओर इसके पहले भी सकेत किया जा चुका है और शेप का सवध उनकी रचना-पद्धति से है जिसमें छन्द-योजना भी आ जाती है। जिन सूफी कवियो ने ऐसी रचनाओ को प्रस्तुत करते समय फारसी की बहरो को नही अपनाया उन्होंने अपभ्रश के चरित-काव्यो, धर्मकथाओ तथा सहजयानी सिद्धो के कतिपय फुटकर पदो में उपलव्ध चौपाई-दोहो को अपने लिए उपयुक्त समझा। अपभ्रश रचनाओ मे प्राय ऐसे छद वे ही आया करते थे जिनके अत में गुरु का होना आवश्यक नही था, किंतु चौपाइयों के अत में दीर्घ मात्रा का आ जाना नियम-जैसा था। इसके सिवाय अपभ्रश काव्यो में अर्धालियो की सख्या भी अपेक्षाकृत अधिक हुआ करती थी। अपभ्र श के ये छद 'अरिल्ल' कहे जाते थे। चरित-काव्यो में इनका प्रयोग करने के अनन्तर फिर वीच-वीच में प्राय घत्ता छद की कोई एक रचना दे दी जाती थी जिससे वर्णन-शैली में किसी प्रकार की शिथिलता न जान पडे। हिंदी में इस नियम का पालन चौपाइयों के अनतर दोहे के प्रयोग द्वारा किया गया। जहाँ तक अर्धालियो की सख्या का प्रश्न है, अपभ्रश की रचनाओ के अतर्गत अधिकतर सम ही दीख पडती थी, किंतु हिंदी के काव्य-ग्रथो में यह विपम भी होने लग गई। इसका कारण क्या था और चौपाई शव्द के चार पदो वा चरणो से युक्त अर्थ लगाने पर भी ऐसा परिवर्तन क्यो किया गया इसका ठीक पता नही चलता। सूफी रचनाओ के लिए यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके कवियो ने प्रत्येक अर्धाली को ही मसनवी की द्विपदियो की भाँति स्वतन्त्र मान लिया होगा। परन्तु यह समाधान ऐसी अन्य रचनाओ पर भी विचार करते समय सतोपजनक नही कहा जा सकता जव तक यह भी न मान लिया जाय कि वहाँ इनका अनुकरण हुआ होगा। सूफी प्रेमाख्यानो के कवियो में से दाऊद, कुतवन, मझन और नूर मोहम्मद (इन्द्रावती में) ने ५-५ अर्धालियो के अनन्तर दोहा दिया है जहाँ जायसी, उसमान, शेख नवी, कासिमशाह और नसीर ने यह क्रम ७-७ अर्धालियो के अनुसार निवाहा है और शेख निसार ने ९-९ अर्धालियाँ तक दे दी है। केवल शेख रहीम ने अपने 'भापाप्रेम रस' मे तथा नूर मोहम्मद ने अपनी 'अनुराग-वाँसुरी' के अन्तर्गत क्रमश ६-६ व ४-४ अर्धालियाँ रखी है जिसके अनुसार कहा जा सकता है कि इन दोनो कवियो ने क्रमश तीन-तीन और दो-दो चौपाइयों की ही योजना की होगी। इन दोहो-चौपाइयो अथवा द्विपदियो के अतिरिक्त सूफी प्रेमाख्यानो में केवल सोरठे, सवैये, प्लवगम और वरवै जैसे छदो के ही प्रयोग कभी-कभी किए गए हैं। नूर मोहम्मद ने अपनी 'अनुराग-वाँसुरी' में ३-३ चौपाइयो के अनन्तर १-१ वरवै दिया है, दोहा नही दिया है।

भाषा

सूफी प्रेमाख्यानो की भाषा प्राय सर्वत्र अवधी दीख पडती है और उसमें भी अधिकतर ठेठ रूप का ही प्रयोग हुआ है। केवल उसमान और नसीर पर कुछ भोजपुरी का भी प्रभाव लक्षित होता है और नूर मोहम्मद की 'इन्द्रावती' में भी हमें इसके कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। नूर मोहम्मद ने तो कही-कही व्रजभापा के भी प्रयोग किए हैं और इस प्रकार, अपनी पक्तियो में एक विभिन्न भापा का रूप खडा कर दिया है। इन कवियो ने विशेप कर तद्भववहुल शैली को ही अपनाया

है और तत्सम शब्दो के प्रयोग प्राय वही किए हैं जहाँ नामो का प्रश्न आया है। इन तत्सम शब्दो में केवल सस्कृत भाषा के ही शब्दो की गिनती नही की जा सकती, क्योकि किसी-किसी कवि ने फारसी और अरबी को भी अपनाया है। भाषा की दृष्टि से प्रारभिक सूफी प्रेमाख्यानो की अवधी अधिक ठेठ और मिश्रित जान पडती है। कुतबन की 'मृगावती' में तो हमें ऐसे बहुत कम शब्द मिलेंगे जिन्हें फारसी, अरबी अथवा तुर्की-जैसी भाषाओ का ठहरा सकते है। सस्कृत के तत्सम शब्दो को भी यहाँ पर बडी कमी जान पडेगी। सूफी कवियो ने अवधी भाषा के मुहावरो का भी अच्छा प्रयोग किया है और कुछ ने तो अपनी कृतियो में लोकोक्तियो तक को विशिष्ट स्थान दिया है। सूफी प्रेमाख्यानो के इन रचयिताओ में केवल एक जान कवि ही ऐसा है जो अवधी के क्षेत्र से अधिक दूर का निवासी है और कदाचित इसीलिए उसकी भाषा पर अन्य कवियो की अपेक्षा ब्रजभाषा का प्रभाव कही अधिक दीख पडता है। इस कवि ने अपनी रचना 'कनकावती' के अतर्गत एक स्थल पर भाषा-प्रयोग-सबधी अपने आदर्श पर भी कुछ प्रकाश डाला है और वहाँ पर बतलाया है कि अच्छी भाषा को इतना सरल और स्पष्ट होना चाहिए कि उसे लिखते, पढते वा बोलते समय किसी प्रयास का अनुभव न हो और जो गँवारो तक के लिए भी बोधगम्य हो सके।

मूल्याकन—सूफी और असूफी प्रेमाख्यान

आज तक उपलब्ध सामग्रियो के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंदी के सूफी प्रेमाख्यानो की रचना का आरभ ईसा की चौदहवी शताब्दी में हुआ था और ऐसी सर्वप्रथम कृति मुल्ला दाऊद की 'चदायन' वा 'नूरक चदा' थी। उस काल तक रचे गए किसी असूफी प्रेमाख्यान का पता नही चलता, यद्यपि यह कहना भी हमें युक्तिसगत नही जान पडता कि सूफी प्रेमाख्यान ही पीछे इनके भी आदर्श बने होंगे। प्रेमाख्यानो की रचना, उसके पहले से ही होती आ रही थी और वे अपभ्रश के जैन चरित-काव्यो, रासो-ग्रन्थो तथा सस्कृत के पौराणिक आख्यानो, काव्य-ग्रथो और प्रचलित लोकगाथाओ के रूपो में अच्छी सख्या में विद्यमान थे। तदनुसार उस समय तक इसके लिए अनेक प्रबध रूढियाँ प्रचलित हो चुकी थी, कथानक-रूढियो का प्रचार हो चुका था और ऐसे साहित्य को पूरी लोकप्रियता भी मिल चुकी थी। इन्हें न तो किसी सर्वथा नवीन शैली की सृष्टि करनी पडी और न अपने विषय के ही लिए कही अन्यत्र भटकना पडा। इनके मूल स्रोतो के आदर्श का काम उन कथानको ने दिया जो बहुत पहले से ही प्रसिद्ध थे और इन्हें अपनी रचना-शैली का आदर्श भी उपलब्ध रचनाओ मे ही मिल गया। अतएव अधिक सभव यही है कि इन दोनो वर्गो की रचनाओ ने मूलत किन्ही सामान्य आदर्शो से ही प्रेरणा ग्रहण की होगी। पीछे चलकर इनमें से एक को दूसरे से प्रभावित होने का भी अवसर अवश्य मिला होगा, किन्तु ऐसा होते हुए भी इनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ बनी रह गई होगी। सूफी प्रेमाख्यानो के सबध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि उन्हें इस ओर अनुप्राणित करने के लिए फारसी साहित्य का भी आदर्श विद्यमान था तथा उस काल तक स्वय भारत के भी सूफी कवियो ने प्रेम-कथात्मक मसनवियो की रचना आरभ कर दी थी। परन्तु हिंदी के सभी सूफी कवियो ने उनका अधानुसरण करना उचित नही समझा और जिन लोगो ने ऐसा किया उनकी एक पृथक उर्दू रचना-शैली ही चल पडी।

जहा तक असूफी प्रेमाख्यानो की विशेषताओ का प्रश्न है, इस विषय में प्रसगवश कतिपय

वातों का उल्लेख पहले भी हो चुका है। मूल स्रोतों की दृष्टि से इन दोनो के विभिन्न कथानको में कोई वैसा अतर नही लक्षित होता। केवल इतना कहा जा सकता है कि दोनो वर्गों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हमें ऐसा लगता है कि सूफी प्रेमाख्यानो की कथावस्तु में काल्पनिकता का अपेक्षाकृत अधिक समावेश हुआ है। इसके विपरीत असूफी प्रेमाख्यानो के रचयिताओ ने पौराणिक आख्यानो को कही अधिक मात्रा में अपनाया है। परन्तु इसके कारण इन दोनो की प्रवध-शैली में भी उतना अतर नही आ सका है और कम से कम अनेक स्थूल वातो में ये प्राय: एक ही समान निर्मित हुई है। दोनो का आरभ मगलाचरणो से होता है और तत्पश्चात कतिपय परिचयात्मक उल्लेख कर दिए जाते है। इनमें जो कुछ विभिन्नता दीख पडती है वह प्रधानत कवियो के मत-विभेद एव व्यक्तिगत विशेषताओ के कारण आ गई है और कभी-कभी तो इनके एकाध अपवाद तक मिल जाते है। इसी प्रकार मूल कथा का आरभ करते समय, दोनो वर्गों के कवि प्राय एक ही ढग से नायक वा नायिका के जन्मादि के वर्णन आरभ करते है। इस प्रसग में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि असूफी प्रेमाख्यानो में उनके माता-पिता का पहले नि सतान होना भी वतलाना विशेष रूप से द्रष्टव्य है। शेख नवी जैसे एकाध सूफी कवियो ने अपनी रचनाओ मे इस वात को भी सम्मिलित कर लिया है, किंतु इसकी सख्या उतनी वडी नही कही जा सकती। सूफी कवियो में से अनेक ने हिन्दू-जन्मान्तरवाद के भी उदाहरण प्रस्तुत किए है जो उनकी स्वीकृतियो के साथ कोई मेल नही खाता और उनका परमात्मा-विपयक वर्णन भी कभी-कभी वेदान्त के अद्वैतवाद की कोटि तक पहुँचने लग जाता है। किन्तु उनके ऐसे कथन वहुवा प्रासगिक रूप में ही आ गए है। उदाहरण के लिए, जिस जन्मातरवाद का प्रसग हमे मझन की 'मधुमालती' में मिलता है वह केवल कथा-विशेप के कारण है और उसे हम वैसा महत्व नही दे सकते जैसा आलम के 'माधवानल कामकदला' वाले ऐसे उल्लेख को दिया जा सकता है। इसी प्रकार असूफी कवियो में से कई ने अपने गुरु की वदना को भी आवश्यक समझा है, किन्तु उनका यह वर्णन सूफियो द्वारा किए गए पीरो वा औलिया के प्रति भक्ति-प्रदर्शन के ढग का नही है।

सूफी एव असूफी प्रेमाख्यानो में एक वहुत वडा अतर इस वात में दीख पडता है कि प्रथम वर्ग के कवियो का ध्यान जहाँ नायक वा नायिकाओं के वियोग-पक्ष का वर्णन करने की ओर विशेप रूप से जाया करता है और वे सयोग-पक्ष के प्रति प्राय उपेक्षा तक प्रदर्शित करते हैं, वहाँ द्वितीय वर्ग में यह वात नही पाई जाती और उनके कवि अधिकतर दोनो पक्षो के ही वर्णन की ओर लगभग समान भाव से प्रवृत्त होते जान पडते है। पुहकर के असूफी प्रेमाख्यान 'रसरतन' में तो अत में सूरसेन राजा के गोलोक सिधारने पर सोम का राज्य करना, अपने ज्येष्ठ पुत्र के उसके नाना का राज्य मिल जाने पर प्रसन्नता के कारण नाटक-प्रदर्शन की व्यवस्था कराना तथा इसी प्रकार, उससे वहुत प्रभावित होकर चारो पुत्रो में राज्य वाँटकर सन्यास लेना जैसी वातो का भी समावेश कर दिया गया है जिनका उस प्रेमकथा के साथ कोई भी सवध नही जान पडता। इसके सिवाय सूफी कवियो ने अपनी प्रेमगाथा में जितने उदाहरण प्रेम के, नायक-नायिकाओ के अविवाहित रूप में उत्पन्न होने के प्रस्तुत किए है उतने उनके विवाहोपरात वाली दशा के भी नही दिए हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य यह रहा है कि किन्ही पुरुषो और युवतियो के वीच रागात्मक सवध स्थापित कर उसके उत्तरोत्तर दृढतर होते जाने का वर्णन किया जाय तथा उन दोनो का मिलन हो चुकने पर उस दशा

को केवल फलप्राप्ति समझ कर वही से छोड दिया जाय। परन्तु असूफी कवियो ने प्राय प्रेमी नायक एव नायिका के उस जीवन को भी वही महत्व दिया है जिसे वे मिलनोपरात व्यतीत करते हैं। इनकी दृष्टि में स्वभावत वह वैवाहिक जीवन का आदर्श रहा होगा जो भारतीय समाज की एक विशेषता है और जिसके विशिष्ट अग दाम्पत्य सुख व पातिव्रत धर्म हैं। सूफी कवियो के प्रेमी इस प्रकार के गार्हस्थ्य जीवन के प्रति प्राय उपेक्षा तक प्रदर्शित करते दीख पडते है और उनकी सामी परम्परा से ली गई प्रेम-कहानियो की नायिकाओ ने तो कभी-कभी किसी एक पुरुष से व्याही जाने पर भी अन्य युवको के प्रति प्रेमासक्ति का प्रदर्शन किया है। मुल्ला दाऊद की 'चदायन' की मैना अथवा जायसी के 'पद्मावत' की नागमती-जैसी कुछ प्रेमिकाएँ सूफी प्रेमगाथाओ में भी मिल सकती हैं, किंतु वे वहाँ पर वस्तुत प्रधान नायिका बनकर नही आती और उनके प्रेम और विरह का वर्णन बहुत-कुछ उत्कृष्ट होने पर भी गौण बन जाता है।

सूफी कवियो ने अपनी रचना में प्रकृति-वर्णन एव नखशिख-वर्णन की शैली प्राय वही रखी है जो भारतीय साहित्य में दीख पडती है। उन्होने कभी-कभी प्रसगवश कामशास्त्र, साहित्यशास्त्र, योगशास्त्र तथा आयुर्वेदशास्त्र तक की बातो का समावेश ठीक उसी परम्परा के अनुसार किया है। उन्होने सर्वसाधारण में प्रचलित अधविश्वासो तथा परम्परागत उपचारो के विवरण देते समय भी किसी प्रकार की नवीनता नही दिखलाई है। इस प्रकार के वर्णनो में हमें सूफी एव असूफी प्रेमाख्यानो मे कोई प्रत्यक्ष अतर नही लक्षित होता। परन्तु जिस समय कोई सूफी कवि अपने प्रेमी नायक के विविध प्रयत्नो का वर्णन करने लग जाता है और उसका ध्यान अपनी साप्रदायिक प्रेम-साधना की ओर भी चला जाता है, हमें ऐसा लगता है कि उसके सामने प्रस्तुत की गई वस्तु वा घटना भी उसकी दृष्टि से कुछ न कुछ ओझल हो गई है और वह किसी अप्रस्तुत आदर्श के फेर में पड गया है। असूफी कवियो के ऐसे वर्णनो में उस कठिनाई का अनुभव नही हो सकता और वे ऐसी भूलें तभी करते हैं जब अत्यधिक अनुकरण करते हैं। अनुकरण करते समय तो कभी-कभी यहाँ तक बढ़ जाते है कि उन्हें पता नही चलता कि जिस वातावरण का चित्रण करना है उनका उन दृश्यो के साथ कुछ भी सबध नही जो 'अलिफलैला' जैसी रचना में, सामी परम्परा के प्रभाव में आकर, सम्मिलित कर लिए गए हैं। उदाहरण के लिए सामुदायिक दुर्घटना का जो वर्णन मृगेंद्र कवि की रचना 'प्रेम-पयोनिधि' में मिलता है वह भारतीय कथा-साहित्य की प्राचीन परपरा के साथ उतना मेल नही खाता जितना उन विवरणो के साथ जो फारसी साहित्य की प्रसिद्ध मसनवियो मे दीख पडते हैं और जिनका अनुकरण जायसी आदि सूफी कवियो ने स्वभावत अपने विशिष्ट सस्कारो के कारण ही कर दिया होगा।

जहाँ तक भाषा-प्रयोग एव छद-योजना का प्रश्न है—दोनो प्रकार की रचनाएँ लगभग एक ही आदर्श का पालन करती हुई जान पडती है। फिर भी सूफी कवियो का झुकाव जितना अवधी को अपनाने, दोहा-चौपाइयो का प्रयोग करने तथा ठीक एक ही प्रकार के ढाँचे में पूरी कहानी को रख देने की ओर दीख पडता है उतना असूफी कवियो का नही। इन कवियो में से 'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'छिताई वार्ता' के कवियो एव 'माधवानल कामकदला' के रचयिता कुशललाभ ने जहाँ राजस्थानी का प्रयोग किया है, वहाँ बोधा के 'विरहवारीश' एव नन्ददास की 'रूपमजरी' में ब्रजभाषा दीख पड़ती है। 'रसरतन', 'नल-दमन', दुखहरन की

'पुहुपावती' और चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' की अवधी का भी रूप एक ही प्रकार का नही है। 'रसरतन' और 'पुहुपावती' में जहाँ उसका चलता रूप दीख पडता है, वहाँ 'मधुमालती' के विषय में ऐसा नही कहा जा सकता और 'नल-दमन' में तो कही-कही पजावी तक आ गई है। इसी प्रकार छन्द-प्रयोग के सम्वन्ध में भी सभी असूफी कवि, सूफियो की भाँति, केवल दोहे-चौपाइयो को ही सर्वाधिक महत्व देते नही जान पडते। 'ढोला मारू रा दूहा' में जहाँ केवल दूहे हैं (और 'छिताई वार्ता' में इसके साथ दूहरे भी आ गए हैं), वहाँ कुशललाभ की रचना में चौपाई की प्रवा-नता है और गाहा, दूहा, सोरठा आदि को गौण स्थान दिया गया है। केवल 'नल-दमन' एव 'रूपमजरी' में ही दोहा-चौपाई के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। 'पुहुपावती', 'मधुमालती' एव 'प्रेमपयोनिधि' में इनके साथ कई अन्य छदो के भी प्रयोग किए गए हैं तथा 'रस-रतन' एव 'विरह वारीश' में तो इन सभी की भरमार कर दी गई है।

सूफी कवियों की देन

सूफी कवियो ने अपने प्रेमाख्यानो की रचना द्वारा जिस एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान दिलाया है वह मानव-जीवन के सर्वांगपूर्ण विकास के साथ सवध रखता है और जो प्रधानत: उसके एकोद्दिष्ट और एकातनिष्ठ हो जाने पर ही सभव है। इनका कहना है कि यदि हमारी दृष्टि विशुद्ध प्रेम द्वारा प्रभावित हो सके और हम उसके आधार पर अपना सवध परमात्मा से जोड लें तो हमारी सकीर्णता सदा के लिए दूर हो जा सकती है। ऐसी दशा में हम न केवल सर्वत्र एक व्यापक विश्वबधुत्व की स्थापना कर सकते है, प्रत्युत अपने भीतर भी अपूर्व शाति एव परम आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। इनके प्रेमाख्यानो का मुख्य सदेश मानव-हृदय को विशालता प्रदान करना, उसे सर्वथा परिष्कृत वना देना तथा अपने भीतर दृढता और एकातनिष्ठा की शक्ति लाना है। सूफियो के इस प्रेमावारित जीवनादर्श के मूल में उनका यह सिद्धात भी काम करता है कि वास्तव में ईश्वरीय प्रेम तथा लौकिक प्रेम में कोई अतर नही है। 'इश्कमजाजी' को हम तभी तक सदोष कह सकते हैं जव तक उसमें स्वार्थ-परा-यणता की सकीर्णता जान पडे और आत्म-त्याग की उदारता न लक्षित हो। जव तक वह अपने विशुद्ध रूप में नही रहा करता तभी तक उसमें वासना के सयोग की आकाक्षा भी की जा सकती है। व्यक्तिगत सुख-दुख अथवा लाभ-हानि के स्तर से ऊपर उठते ही वह एक अपूर्व रग पकड लेता है और फिर क्रमश उस रूप में ही आ जाता है जिसे 'इश्कहकीकी' के नाम से अभिहित किया जाता है। सूफियो ने उसे यह रग प्रदान करने के ही उद्देश्य से प्रत्येक प्रेमी को विभिन्न सकटो और वाधाओ की आग में तपाने की भी चेष्टा की है।

सूफियो की इस व्यापक नियम की अटलता में वहुत वडी आस्था है और इसके कारण उनमें हम कभी-कभी एक विचित्र अधविश्वास अथवा साप्रदायिकता तक की गध पाकर उन पर कट्टरता और हठधर्मिता का आरोप करने लग जाते हैं। कभी-कभी तो इसमें हमें उनके इस्लाम धर्म के प्रचार के उद्देश्य से दिए गए किसी ऐसे प्रलोभन का भी सदेह होने लगता है जो मनोहर कहानियो के प्रति आकर्षण उत्पन्न कराकर प्रतिफलित किया जाय। परन्तु सूफियो के प्रेमाख्यानो द्वारा ही इस प्रकार की शकाएँ निर्मूल होती जान पड़ती हैं। इन कवियो ने अपनी

ऐसी रचनाओ में इसकी ओर कभी कोई सकेत नही किया और न इनके कथानको से लेकर उनके क्रम, विकास अथवा अत तक भी कोई ऐसा प्रसग छेडा जिससे उनका कोई साप्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। यह अवश्य है कि जहाँ तक घटनाओ की क्रम-योजना का प्रश्न है, उसे इस प्रकार निभाया गया है जिससे सूफी प्रेम-साधना का भी मेल बैठ जाय। परन्तु फिर भी ऐसी बातें, अधिक से अधिक, केवल दृष्टातो के ही रूप में पाई जाती है जिस कारण उनमें साप्रदायिक आग्रह का भी रहना अनिवार्य नही है। इसके सिवाय इन प्रेमाख्यानो के नायक-नायिका, उनके दैनिक व्यापार-वातावरण तथा उनके सिद्धात वा सस्कृति में भी कोई परिवर्तन नही लाया जाता और न कही पर यही चेष्टा की जाती है कि कथा-प्रवाह के किसी भी अश में किसी धर्म वा सप्रदाय-विशेष के महापुरुषो द्वारा कोई मोड ला दिया जाय। इनमें प्रसगत यदि कोई हिंदू जोगी वा तपी आता है तो ख्वाजा खिज्र भी आ जाते हैं और दोनो लगभग एक ही उद्देश्य से काम करते पाए जाते हैं। जैनियो द्वारा लिखे गए प्रेमाख्यानो में भी कभी-कभी हम इसके विपरीत, किसी ऐसे महापुरुष का भी समावेश कर दिया गया पाते हैं जो अत्यन्त गभीर प्रेम वाले दो व्यक्तियो के जीवन में एक नया मोड घटित कर देते हैं और इस प्रकार, उन्हे उस आदर्श की ओर आकृष्ट भी कर लेते है जो जैन धर्म पर आश्रित है।

सूफी प्रेमाख्यानो की एक वहुत वडी विशेषता इस बात में भी देखी जा सकती है कि इनकी प्रेम-कहानियो के कवियो ने प्रेमपात्र का स्थान प्रधानत नारी को ही दिलवाया है और उसी के द्वारा भरसक उस परमात्म-तत्व का प्रतिनिधित्व कराने की भी चेष्टा की है जो उनके ईश्वरीय प्रेम का लक्ष्य है। नारी ही यहाँ पर उस 'नूर' का प्रतीक है जो सारे विश्व का मूल स्रोत है और वही यहाँ वस्तुत उस पूरक का भी काम करती है जिसके अभाव में सारा मानव-जीवन ही सूना है। नारियो के प्रति पुरुषो के प्रेमार्पण के अनेक उदाहरण हमें असूफी प्रेमाख्यानो में भी मिलते है और यहाँ भी ऐसी प्रेम-कथाओ का अभाव नही जहाँ पर एक प्रेमी नायक अपनी प्रेमपात्री के लिए अपने सर्वस्व का त्याग करके विविध प्रेम-व्यापारो में प्रवृत्त होता है। इसके सिवाय सूफी प्रेमाख्यानो में ही हमें इस वात के भी उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं, जहाँ स्वय नारियो ने ही पुरुषो के प्रति प्रेमासक्ति का भाव, सर्वप्रथम, प्रदर्शित किया हो। इनमें तो कभी-कभी वैसी पत्नियाँ मिल जाती है जो अपने पति के विरह में विभिन्न प्रकार की यातनाएँ भोगा करती हैं। अतएव इन दोनो प्रकार के प्रेमाख्यानो की उक्त दृष्टि के अनुसार तुलना करते समय हमारा ध्यान केवल ऐसे उदाहरणो की सख्या मात्र पर ही नही जाया करता। इस सवध में हम इन सूफी कवियो के उस विशिष्ट आदर्श को महत्व देते है जिससे अनुप्राणित हो कर इन्होने इस प्रकार का वर्णन अधिक पसद किया है। सूफी कवियो ने नारी को यहाँ अपनी प्रेम-साधना के साध्य रूप में स्वीकार किया है, जिस कारण वह इनके यहाँ किसी प्रेमी के लौकिक जीवन की निरी भोग्य वस्तु मात्र नहीं रह जाती। वह उस प्रकार की साधन-सामग्री भी नही कहला सकती जिस रूप में उसे, बौद्ध सहजयानियो ने मुद्रा नाम दे कर सहज-साधना के लिए अपनाया था। वह उन साधको की दृष्टि में स्वय एक सिद्धि बन कर आती है और इसी कारण, इन प्रेमाख्यानो में उसे प्राय. अलौकिक गुणो से युक्त भी बतलाया जाता है।

नारी को सूफी कवियो ने इसी कारण, बहुत-कुछ स्वतत्र रूप दे कर भी चित्रित किया है

और उसे भरसक वैवाहिक जीवन के प्रभावो से मुक्त ठहराया है। इनकी रचनाओ की नायिका केवल स्वकीया भाव के ही सीमित क्षेत्र में अपना प्रेम-व्यापार नही करती और इसीलिए इन प्रेमाख्यानो में हमें उस आदर्श दाम्पत्य जीवन के दृश्य भी नही मिला करते जिन्हे असूफी कवियो ने अपनी प्रेम-कहानियो में स्थान देकर विशिष्ट भारतीय रुचि का परिचय दिया है। सूफी प्रेमाख्यानो में नायक एव नायिका का विवाह-सवध अवश्य करा दिया जाता है, किंतु वह इसलिए कि वे अधिकतर हिंदू पात्र ही रहा करते है। इसके द्वारा उनके पास मिलन वा सयोग को केवल एक वैध रूप प्रदान कर दिया जाता है जो उनका अतिम ध्येय रहा है। हिंदू-समाज की दृष्टि से चाहे इस विवाह-प्रथा को जो भी महत्व दिया जाय और असूफी कवियो के द्वारा चाहे इसे पूरी प्रेम-कहानी का अतिम लक्ष्य तक समझ लिया जाय, किंतु सूफियो की दृष्टि से इसे केवल एक गौण महत्व ही प्रदान किया जा सकता है। उनके आदर्श मिलन वा सयोग के लिए विवाह की मुहर अनिवार्य नही है। सूफी कवियो की रचनाओ में, इसी कारण, हमें वैसी नायिकाओ का भी अभाव नही जान पडता जिन्हे 'परकीया' का नाम दिया जाता है। वास्तव में जिन कथानको को इन कवियो ने अभारतीय स्रोतो से लिया है उनमें इस वात के उदाहरण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। परकीया का वर्णन भारतीय साहित्य के अतर्गत भी आया है और उसके उदाहरण में गोपी प्रेमिकाओ का उल्लेख भी किया जा सकता है। परतु यहाँ पर वैसी नायिका का जितना किसी सुदर पुरुष के प्रति आकृष्ट होना दिखलाया गया है उतना उसका स्वय किसी पुरुष के लिए उसके जीवन का लक्ष्य वन जाना भी नही ठहराया गया है और यही एक प्रमुख विशेषता है जिसके कारण हमें इन सूफी कवियो की यह देन स्वीकार करनी पड जाती है।

सूफी कवियो ने अपने प्रेमाख्यानो द्वारा ठेठ लौकिक जीवन के प्रसगो को भी महत्व दिया है। अन्य प्रकार की प्रेम-गाथाओ में प्राय ऐसे नायक-नायिकाओ की ही चर्चा की गई मिलती है जो या तो पौराणिक परम्परा से सवध रखते है अथवा जिन्हे अवतारी व्यक्तियो में भी गिना जाता है। इस कारण उनके प्रेम-व्यापारो पर कथारभ से ही एक विचित्र प्रकार की अलौकिकता का रग चढा हुआ प्रतीत होता है। उनमें जो कुछ भी अपूर्वता दीख पडती है उसका कारण प्रेमासक्ति का विशिष्ट प्रभाव नही समझा जाता, प्रत्युत वहाँ इसके लिए प्राय उनके व्यक्तित्व को ही श्रेय दे दिया जाता है। परन्तु सूफी प्रेमाख्यानो के अतर्गत सर्वत्र केवल इसी एक वात पर विशेष वल दिया जाता हुआ दीख पडेगा कि ऐसी सारी विचित्रताओ की जड प्रेम की अपार शक्ति अथवा प्रेम-तत्व की महिमा को ही समझना चाहिए जिसके सामने वडे से वडे नरेशो तक को झुक कर अपना सर्वस्व अर्पित कर देना पडता है। प्रेम के प्रभाव में पूर्णरूप से आ जाने पर सामाजिक स्तर-भेद की भावना भूल जाया करती है, यहाँ तक कि प्रेमी नायक-नायिकाओ के लिए मानवेतर प्राणियो तथा कभी-कभी प्राकृतिक पदार्थों तक का महत्व उतना ही वडा हो जाता है जितना कि अपने समाज के समरूप व समशील सदस्यो का। ये सभी, एक समान ही, किसी एक सामान्य धरातल पर खीचकर एकत्र कर दिए जाते हैं और फिर प्रसगवश प्रेम-शक्ति के प्रदर्शन की पृष्ठभूमि भी वन जाते हैं। प्रेमाभिनय के रगमच पर इन सभी को अपने-अपने गुणो के अनुसार भाग लेना पडता है जिससे प्रधान पात्रो का प्रेम-व्यापार क्रमश अग्रसर होता चला जाता है और इन सभी के सामूहिक प्रयत्नो का अतिम परिणाम उनकी कार्य-सिद्धि के रूप में प्रकट होता है।

प्रेमाभिभूत राजकुमार न तो राजकुमार की कोटि का रह जाता है और न किसी धनी सेठ वा व्यापारी का ही पूर्व गौरव अक्षुण्ण बना रहता है। वे सामान्य वर्ग के सदस्य बन कर अधिकतर उसके समान ही व्यवहार करते दीख पडते हैं। वे निर्जन वनो में भटकते फिरते हैं, साधारण व्यक्तियो तक के यहाँ आश्रय ग्रहण करते हैं, लुक-छिप कर व्यवहार करने के लिए विवश रहते हैं तथा किंचित आशा के भी सहारे अपने प्राणो को जोखिम में डाल देते है। उनकी दयनीय दशा देख कर किसी को भी इस बात का भान नही हो पाता कि वे कभी कोई प्रभावशाली व्यक्ति भी रहे होगे। एक ओर तो वे इस प्रकार परिस्थितियो का शिकार बने चित्रित किए जाते हैं और दूसरी ओर उनके भीतर एक अदम्य उत्साह प्रदर्शित किया जाता है, एक ऐसी दृढ़ निष्ठा का बल प्रदान किया जाता है तथा अत में, उनके लिए ऐसे सुदर सयोगो की व्यवस्था कर दी जाती है कि उनकी अपूर्व सफलता देख कर दग रह जाना पडता है। उनके न केवल पिछले दिन ही फिर जाते है, प्रत्युत वे कभी-कभी सब के लिए आदर्श मानवो का रूप ग्रहण कर लेते है। सूफी कवियो के प्रेमाख्यानो में प्रधान नायको के इस प्रकार होने वाले चरित-विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया प्रतीत होता है। प्रेम-कथा के अतिम छोर पर पहुँच कर वे हमारे सामने ऐसे तपे-तपाए और अनुभव-सिद्ध रूप में आ जाते हैं कि हमें उनके भावी जीवन की भी एक झाँकी लेने की स्वभावत प्रबल इच्छा हो पडती है, परन्तु कथाकार उनका साथ हमसे ऐसे ही महत्वपूर्ण अवसर पर छुडा देता है और उनके विषय में बढती आई जिज्ञासा प्राय अतृप्त बन कर ही रह जाती है।

सूफी प्रेमाख्यानो की एक विशेषता उनके द्वारा लोक-पक्ष का सजीव चित्रण किया जाना भी है। इनमें सर्वसाधारण का अधविश्वास, उनकी मनौती, उनका यत्र-तत्र-प्रयोग, जादू-टोना, डाइनो की करतूत, विभिन्न लोकोत्सव और लोक-व्यवहार ऐसी सफलता के साथ अकित किए गए मिलते है कि पूरी कथा का घटना-प्रवाह विशुद्ध लौकिक वातावरण में ही आगे बढता दीख पडता है और हमें उसके महत्व का परिचय मिलते भी विलब नही लगता। इसका स्वाभाविक रग उस समय और भी निखर आता है जब हमें उनमें प्रचलित लोक-गाथाओ की कथा-रूढियाँ भी नजर आने लगती है तथा जब कभी उनमें व्यक्तियो वा प्रसगो के ऐसे अतिरजित चित्र प्रस्तुत कर दिए जाते हैं जिनको समझ पाना केवल कल्पना के ही सहारे सभव हो सकता है। इस कोटि की वर्णन-शैलियाँ इन सूफी कवियो की ही मौलिक देन नही कहला सकती, क्योकि इसके लिए वे अपने अन्य पूर्ववर्ती कवियो के भी ऋणी ठहराए जा सकते हैं। जैन चरित-काव्यो में हमें इसके प्रयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं और सस्कृत के कथा-साहित्य में भी इसका अभाव नही है। इस रचना-शैली का जन्म, कदाचित ईसा-पूर्व छठी-पाँचवी शताब्दी में ही हो चुका था और बौद्ध जातको के रचना-काल तक यह बहुत विकसित एव प्रौढ हो चुकी थी। पीछे की सस्कृत, प्राकृत और विशेषकर अपभ्रश की रचनाओ में जब इसे पूर्ण प्रोत्साहन मिला तो यह और भी लोकप्रिय बन गई। सूफी कवियो को इस सबध में केवल इतना ही विशेष श्रेय दिया जा सकता है कि काल्पनिक कथानको के बल पर इन्होंने इस अपभ्रश-परम्परागत शैली के निर्वाह में कुछ अधिक दक्षता दिखलाई है।

सूफी प्रेमाख्यानो का हिन्दी साहित्य में स्थान

सूफी प्रेमाख्यानो की रचना का आरभ उस समय हुआ जब हिंदी साहित्य के इतिहास का

आदिकाल प्राय बीत चुका था और वीरगाथा के नाम से अभिहित किए जाने वाले रासो साहित्य का आदर्श बहुत-कुछ फीका-सा पडने लग गया था। उस काल की रचनाओ में जिस प्रेम-पद्धति का वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया गया मिलता था वह उन राजाओ का वासनात्मक प्रेम था जो किसी सुदरी को अपने लिए केवल एक भोग्य वस्तु समझा करते थे और जो उसे उसके माता-पिता के यहाँ से अपहरण कर के अथवा युद्ध में जीत कर लाने का ही प्रयत्न किया करते थे। उनके यहाँ अपनी पत्नियाँ भी रहा करती थी जिनसे उनके दाम्पत्य प्रेम का निर्वाह भली भाँति हो सकता था, किंतु अधिक सुदरियो की उपलब्धि उनके लिए एक गौरव की बात भी थी। सुदरियो के लिए किए जाने वाले युद्धो में उस काल के वीरो को अपना पराक्रम दिखलाने का अवसर मिला करता था तथा उन्हे प्राप्त कर के अपनी पत्नी बना लेने पर उनके महलो की श्री-वृद्धि भी हो जाती थी और ये दोनो ही बातें उन दिनो के सामती समाज के लिए बहुत उपयुक्त कहला सकती थी। अपभ्रश के चरित-काव्यो में इससे किंचित भिन्न एक प्रेम-पद्धति का भी चित्रण किया गया मिलता था और उसमें वीरो का पराक्रम-प्रदर्शन उतना आवश्यक अग नही समझा जाता था। वहाँ सुदरियो का राजकुमारी की श्रेणी का होना भी अनिवार्य नही था और न प्रेमी नायक ही ऐसा होता था जिसे प्राय यशोलिप्सा से ही प्रेरणा मिलती हो। लोक-गाथाओ में तो प्रेमी एव प्रेमिका उच्च सामाजिक स्तरो के होते हुए भी सर्वसाधारण की स्थिति में आ जाते दिखलाए जाते थे। प्रारभिक सूफी प्रेमाख्यानो पर कदाचित इन सभी बातो का कुछ न कुछ प्रभाव पडा होगा और उनके रचयिताओ ने उस समय की उपलब्ध पृष्ठभूमि पर ही उनका निर्माण-कार्य सम्पन्न कर उसके द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति का भरसक प्रयत्न भी किया होगा। सब से प्रथम उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यान 'चदायन' वा 'नूरक चदा' में हमें एक ओर जहाँ उसके नायक लोरिक के शौर्य-पराक्रम का प्रदर्शन मिलता है वहाँ दूसरी ओर उसे एक प्रेमाभिभूत व्यक्ति की साधारण श्रेणी में भी रखा गया दीख पडता है और इन दोनो के साथ इसमें बहुत-सी वे विशेषताएँ भी ला दी जाती हैं जिनके कारण ऐसी रचनाओ को अलग स्थान दिया जाता है। वर्ण्य विषय के लगभग पूर्ववत रहते हुए भी उसकी वर्णन-शैली में परिवर्तन आ जाता है और एक घटना-प्रधान रचना उद्देश्य-प्रधान-सी जान पडने लग जाती है।

हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल आ जाने पर हमें उसमें अनेक नवीन प्रवृत्तियो के उदाहरण मिलने लगते हैं। सर्वप्रथम उसमें हमें उस भक्ति-धारा का प्रभाव लक्षित होने लगता है जो कुछ दिनो पहले से अन्य माध्यमो का भी आश्रय ग्रहण करती हुई उमडती चली आ रही थी। उस काल की हिंदी-रचनाएँ उससे आप्लावित-सी हो गईं और उक्त युग के कम से कम पूर्वार्द्ध अश को इसी कारण यहाँ भक्ति-काल का नाम दिया जाता है। भक्ति का भाव वस्तुत प्रेम के ही व्यापक रूप का एक अग मात्र है और वह इसके साथ केवल श्रद्धा का सयोग हो जाने पर किसी हृदय में उदय होता है। सूफीमत का प्रेम भी मूलत परमात्मा के प्रति उद्दिष्ट समझा जाता था, जिस कारण उसे भक्ति-भाव से अधिक भिन्न भी नही ठहराया जा सकता। मुख्य अतर केवल तभी लक्षित होता है जब हम देखते हैं कि एक श्रद्धालु भक्त, अपने दैन्य के प्रभाव में आकर, अपने इष्टदेव में अखिल ऐश्वर्य का आरोप करता है तथा उसे अपने से एक नितात भिन्न स्तर पर समझने लग जाता है, किंतु सूफी उसे

केवल अपनी आत्मीयता के बल पर ही उपलब्ध करना चाहता है। जहाँ भक्त अपने भगवान से अपने ऊपर कृपा चाहता है वहाँ सूफी को केवल उसके अपने प्रति स्नेह-भाव की ही आवश्यकता रहती है। हिंदी के भक्ति-कालीन कवियो में से कुछ ने परमात्मा के श्रीकृष्ण-रूप को विशेष महत्व दिया, कुछ ने उसके राम-रूप के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की तथा दूसरो ने उसकी उस गुणातीत सत्ता के ही अनुभव का प्रयत्न किया जिसे, अपने से पृथक न समझने के कारण, कभी कोई श्रद्धा का भाव किसी प्रकार प्रदर्शित भी नही कर सकता था। हिंदी काव्यो मे उस समय श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम-भाव के प्रदर्शन का भी विषय लाया गया, किंतु उसका माध्यम उन गोपियो को ही बनाया गया जो उनके साथ क्रीडाओ मे भाग लेने वाली प्रेमिकाएँ समझी जा सकती थीं और उन्हे भक्तो के रूप में भी स्वीकार कर लेना उतना स्वाभाविक न था। इसके सिवाय उस प्रेमी की भी एक यह विशेषता थी कि उसकी जितनी घनिष्ठता उन स्त्रियो से दिखलाई गई उतनी श्रीकृष्ण में नही और, इसी कारण, उसे सूफियो की उन प्रेम-पद्धतियो से कुछ पृथक भी रखा जा सकता है जिसके अनुसार इसके लिए स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो को ही कही अधिक प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी प्रकार रामकाव्य में कभी-कभी प्रदर्शित प्रेम भाव भी बहुत-कुछ सीमित एव मर्यादित ही कहला सकता था। सीता एव राम के पूर्वराग में भी एक ऐसे अपूर्व नियत्रण का प्रभाव चित्रित किया गया जो सूफी प्रेमाख्यानो की दृष्टि से उतना महत्व नही रखता। निर्गुणिया सतो का प्रेम-भाव किसी अन्य प्रेमी-प्रेमिकाओ के माध्यम से उदाहृत किए जाने की अपेक्षा स्वय उन कवियो की ही बानियो में प्रस्फुटित हुआ। उसमें विरह की पीर की और उन्माद की भी कमी नही थी, किंतु वह कभी उन साधको के यहाँ अपनी सिद्धि के रूप में नही स्वीकार किया गया जैसा सूफियो के यहाँ देखा जाता था। सतो का ईश्वरीय प्रेम उनके आध्यात्मिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अग मात्र बन सकता था, जहाँ सूफियो के लिए उसके अतिरिक्त और कुछ भी किसी काम का न था। कुछ सतो ने पीछे प्रेमाख्यान-रचना का भी प्रयास किया, किंतु वहाँ पर उन्हें सूफियो की ही शैली का अनुकरण करना पड गया।

हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्यकाल पीछे वर्ण्य विषय से कही अधिक वर्णन-शैली की ओर ध्यान देने के कारण विशेष प्रसिद्ध हो चला। उसके उत्तरार्द्ध वाले कवियो के लिए भक्ति का महत्व कम हो गया और जिस प्रेम ने उसका स्थान लिया वह ईश्वरोन्मुख भी नही कहला सकता था। सूफियो ने नायक-नायिकाओ के प्रेम का वर्णन करते समय उनके सभी वैसे व्यापारो को केवल दृष्टातो का-सा ही महत्व दिया था और उन्होने ऐसी चेष्टा भी की थी कि उनके प्रत्यक्षत लौकिक रूप को किसी अलौकिक ईश्वरीय प्रेम के रूप में घटा दिया जाय। परतु इस युग के कवियो ने अपने नायक-नायिकाओ को क्रमश कृष्ण एव राधा के नाम देते हुए भी उन्हे उल्टे, लौकिक प्रेम का ही माध्यम बना डाला। सूफियो के प्रेमाख्यान इस समय भी रचे जाते थे और यह युग असूफी प्रेमाख्यानो की रचना के लिए भी कम महत्व का नहीं था, परतु फिर भी इसकी प्रसिद्धि जितनी फुटकर शृगारी रचनाओ के कारण हुई उतनी किसी अन्य प्रकार के साहित्य के आधार पर न हो सकी और उस काल के अनेक प्रबध-काव्यो पर भी उनका प्रभाव पडे बिना न रह सका। प्रेमाख्यानो के कवियो ने भी नायिका-भेद, नख-शिख, ऋतु-परिवर्तन आदि सबधी वर्णनो के लिए इन युग में प्रचलित शैलियो का ही अनुकरण किया और अपनी रचनाओ के अतर्गत

रची गई ऐसी प्रेम-कहानियो का आरभ और घटना-विकास प्राय उसी ढग पर किया गया मिलता है जो उसकी चौदहवी शताब्दी में दीख पडा था।

सूफी प्रेमाख्यानो की रचना केवल हिंदी में ही नही हुई और न इन्हें केवल इसी भाषा के साहित्य में कोई महत्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। फारसी की मसनवियो से प्रेरणा ग्रहण कर तथा कभी-कभी उनके एव हिंदी प्रेमाख्यानो के अनुवाद-रूप में भी वँगला के सूफी कवियो ने, ईसवी सन की सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी से ही, अपनी सुदर 'पाचाली' रचनाओ का निर्माण आरभ कर दिया था। दौलत काजी की 'लोर चन्द्राणी' अलाओल की 'पद्मावती', अमीरहमजा की 'मनोहर-मालती' तथा मुहम्मदखान की 'मृगावती' एव 'लयलामजनूँ' आदि कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जिन्हे कम महत्व नही दिया जाता। इन कवियो ने भी अपनी रचनाओ के अतर्गत लगभग उसी प्रकार प्रेम-साधना की व्याख्या की है, जैसे अन्य सूफियो ने की थी और इन्होने भी उनके कथानको के घटना-विकास तथा प्रसगो के विविध चित्रणो में प्राय परम्परागत रचना-शैली का ही अनुकरण किया है। इसी प्रकार सूफी प्रेमाख्यानो के उदाहरण हमें पजावी साहित्य के अतर्गत मिलते हैं जहाँ 'ससीपूनू', 'हीरराझा', 'सोहिनीमहेवाल' जैसी प्रेम-कहानियो के आधार पर पजावी मुस्लिम कवियो ने अत्यत रोचक रचनाओ की सृष्टि की है तथा उन्हे कभी-कभी काव्य-रूपको का भी रूप दे दिया है। इनकी 'लैला-मजनूँ' एव 'शीरी-फरहाद' की प्रेम-कहानियो में उक्त शैली के उदाहरण और भी अधिक स्पष्ट वन कर दीख पडते हैं। इसके सिवाय उर्दू साहित्य में गिने जाने वाले सूफी प्रेमाख्यानो की सख्या भी कम नही कही जा सकती। वीजापुर एव गोलकुडा की ओर दक्षिण में लिखी गई हिंदवी की रचनाओ की चर्चा इसके पहले की जा चुकी है और वहाँ हमने देखा है कि किस प्रकार उन्होने उर्दू साहित्य के निर्माण में आदर्श का काम किया। इनकी सब से वडी विशेषता यह है कि इन्होने फारसी में रचे गए प्रेमाख्यानो का, न केवल वर्ण्य विषय की दृष्टि से अपितु रचना-शैली एव छदो के प्रयोग तक में, अनुकरण किया है और भरसक ऐसा प्रयत्न किया है कि उनकी मूल प्रकृति की भी सुरक्षा की जा सके। उर्दू साहित्य के अतर्गत इन प्रेमाख्यानो को इसलिए भी विशेष महत्व दिया जा सकता है कि इनके कारण प्रेमतत्व का विषय सारे वाङ्मय के लिए सामान्य वन गया। दक्षिण की हिंदवी में इसे सर्वप्रथम केवल सूफी मत के प्रचारार्थ रची गई कहानियो में ही देखा जाता था, किंतु पीछे इसे उत्तर भारत में निर्मित होते जाने वाले विशाल उर्दू साहित्य में प्रमुख स्थान मिल गया और इसके कारण उसके शृगारिक रग में पूरी अभिवृद्धि हो गई।

परतु हिंदी साहित्य के अतर्गत हम इन सूफी प्रेमाख्यानो को उतना अधिक महत्व नही दे सकते। यहाँ इन रचनाओ के विषय में हम यही कह सकते हैं कि इनका आरभ केवल एक प्रवृत्ति विशेष के परिचायक रूप में हुआ और ये पीछे भी यहाँ दूसरे प्रकार की रचनाओ के समानान्तर, वीसवी शताब्दी तक, लगभग एक ही शैली के अनुसार निर्मित होती चली गईं। इनका विषय फारसी साहित्य की मसनवियो के आदर्शानुसार चुना गया और इनकी रचना का उद्देश्य भी वही रखा गया जो ईरान में रची गई प्रेम-कहानियो का रह चुका था। परतु हिंदी के सूफी कवियो ने, इन सभी कुछ के होते हुए भी, इन्हे एक पूर्व परम्परागत भारतीय साँचे में ही ढालना अधिक पसद किया। उन्होने इनकी रचना के लिए अवधी वोली का प्रयोग किया जो सर्वसाधारण के समाज में

लोकप्रिय वन चुकी थी, दोहा-चौपाई-छदो के एक निश्चित क्रम को अपनाया जिमका आदर्श अपभ्रश के जैनचरित-काव्यों के लिए वहुत पहले से ही स्वीकृत हो चुका था, उन कथानक-रूढियो को स्थान दिया जो प्रचलित लोकगाथाओ के भीतर न जाने किस काल से प्रवेश कर चुकी थी और, सवसे वढकर, उस भारतीय वातावरण को भी सुरक्षित रखने की चेष्टा की जो सवके लिए परिचित था। इन रचनाओ के समानान्तर यहाँ भक्ति-काव्य का निर्माण होता रहा, शृगार रस एव वीर रस की कविताएँ लिखी जाती रही तथा वहुत से ऐसे प्रेमाख्यान भी निर्मित होते रहे जिन्हें, अन्य उपयुक्त नाम न होने के कारण, हमने असूफी कहकर परिचित कराया है। परन्तु सूफी प्रेमाख्यानो की यह विशेपता थी कि इनके द्वारा हमें प्रेमतत्व के व्यापक रूप को समझ पाने में अधिक सहायता मिली और इनके कारण धर्म, सप्रदाय अथवा वर्गगत भेदभावो को दूर कर एक सर्वमान्य समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा भी प्राप्त हुई। अतएव, हिंदी-साहित्य के अतर्गत हम इन्हें इसलिए भी एक विशेप स्थान दे सकते है कि इनकी रचना द्वारा लोक-रजन के साथ लोक-मगल की भी सिद्धि हुई है।

परिशिष्ट

(१) हिन्वी के उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानो की सूची

१	मुल्ला दाऊद	चदायन (नूरक चदा)	हि० स० ७७९ (१३७७ ई०) वा ७८१ (१३७९ ई०)	अप्रकाशित
२	शेख कुतबन	मृगावती	हि० स० ९०९ (१५०३ ई०)	,,
३	मलिकमुहम्मद जायसी	पद्मावत	हि० स० ९२७ (१५२० ई०)	प्रकाशित
४	मझन	मधुमालती	हि० स० ९५२ (१५४५ ई०)	,,
५	शेख उसमान	चित्रावली	हि० स० १०२२ (१६१३ ई०)	,,
६	जान कवि	कनकावती	स० १६७५ (१६१८ ई०)	अप्रकाशित
७	शेख नवी	ज्ञानदीप	हि० स० १०२६ (१६१९ ई०)	,,
८	जान कवि	कामलता	स० १६७८ (१६२१ ई०)	,,
९	,,	मधुकरमालती	स० १६९१ (१६३४ ई०)	,,
१०	,,	रतनावती	स० १६९१ (१६३४ ई०)	,,
११	,,	छीता	स० १६९३ (१६३६ ई०)	,,
१२	हुसेन अली	पुहुपावती	हि० स० ११३८ (१७२५ ई०)	,,
१३	कासिमशाह	हसजवाहर	हि० स० ११४९ (१७३६ ई०)	प्रकाशित
१४	नूरमुहम्मद	इन्द्रावती	हि० स० ११५७ (१७४४ ई०)	,,
१५	,,	अनुराग-बाँसुरी	हि० स० ११७८ (१७६४ ई०)	,,
१६	शेखनिसार	यूसुफ-जुलेखा	हि० स० १२०५ (१७९० ई०)	अप्रकाशित
१७	ख्वाजा अहमद	नूरजहाँ	हि० स० १३१२ (१९०५ ई०)	,,
१८	शेख रहीम	भाषाप्रेमरस	सन् १९१५ ई०	प्रकाशित

१९. कवि नसीर — प्रेमदर्पण — हि० स० १३३५ (१९१७ ई०) — प्रकाशित
२०. अली मुराद — कथा कुँवरावत — अज्ञात — अप्रकाशित

(२) सहायक साहित्य

१.	कमल कुलश्रेष्ठ	हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य (१५००–१७५० ई०) (१९५३ ई०) अजमेर
२	श्रीराम शर्मा	दक्खिनी का पद्य और गद्य (हैदरावाद, १९५४ ई०)
३	विमलकुमार जैन	सूफीमत और हिंदी साहित्य (दिल्ली, १९५५ ई०)
४	हरिकान्त श्रीवास्तव	भारतीय प्रेमाख्यान-काव्य (वनारस, १९५५ ई०)
५	परशुराम चतुर्वेदी	भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा (दिल्ली, १९५६ ई०)
६.	,,	सूफी काव्य-सग्रह द्वि० स० (प्रयाग, १९५६ ई०)
७	सरला शुक्ल	जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और काव्य (लखनऊ, १९५६ ई०)
८	शिवसहाय पाठक	पद्मावत का काव्य-सौन्दर्य (वम्वई, १९५६ ई०)
९	इन्द्रचन्द्र नारग	पद्मावत का ऐतिहासिक आधार (इलाहावाद,१९५६ ई०)
१०	सुकुमार सेन	इस्लामि वाङ्ला साहित्य (वगला) (कलिकाता, १३५८ ई०)
११.	सैयद एहतिशाम हुसेन	उर्दू साहित्य का इतिहास (अलीगढ, १९५४ ई०)
१२.	हाफिज मुहम्मद खाँ शीरानी	पजाव में उर्दू
१३	मोतीलाल मेनारिया	राजस्थानी भाषा और साहित्य
१४	जी० ए० एस० रैर्मांग	मुन्तखवुत्तवारीख (कलकत्ता, १८९९ ई०)
१५	सुकुमार सेन	वगला साहित्येर इतिहास (वगला) (कलिकाता, १९४० ई०)
१६	हरनाम सिंघसान	ससी हाशम (पजावी) (लुधियाना, १९५६ ई०)
१७	मॉडर्न रिव्यू	(कलकत्ता, नव० १९५०)
१८	नागरी प्रचारिणी पत्रिका	(काशी, वर्ष ५४, अक १०, स० २०११)
१९	अस्करी	रेयर फ्रैगमेंट्स ऑफ चन्दायन ऐण्ड मृगावती
२०.	भोजपुरी	(आरा, सावन अक, १९५४ ई०)
२१	राजस्थान भारती	(वीकानेर, मार्च, १९५५ ई०)
२२	भारती	(ग्वालियर, सितवर, १९५५ ई०; जून, १९५६ ई०)
२३	साहित्य सदेश	(आगरा, भा० १३, अक ६)
२४	उर्दू	(हैदरावाद, जनवरी, १९३४ ई०)
२५	जर्नल ऑफ विहार रिसर्च सोसाइटी (वॉल्यूम ३९, खड १–२, १९५३)	

८. रामकाव्य

राम-साहित्य का विकास

भारतीय साहित्य के इतिहास में सब से प्रथम वैदिक संहिताएँ आती हैं। तुलसीदास ने प्राय लिखा है कि राम की गुणगाथा का गान वेद करते हैं, उन्होंने 'रामचरितमानस' के उत्तर-काड में वेदो से राम की स्तुति कराई है (७ १३), किन्तु वेदो में रामकथा नही पाई जाती। वेदो में और वैदिक साहित्य में राम का नाम अवश्य आता है, किन्तु ईश्वर के लिए नही, और न दाशरथि राम के लिए, और न किसी रूप में वह कथा पाई जाती है जो रामायण में है।

वैदिक साहित्य में एक राम का नाम कुछ प्रतापी असुर राजाओ के नामो के साथ आता है[१], एक राम मार्गवेय है, जो ब्राह्मण है[२], एक और राम औपतस्विनि है, जो आचार्य है[३], इसी प्रकार एक अन्य राम क्रातुजातेय है, वे भी आचार्य है[४]। प्रकट है कि इनमें से कोई भी राम दाशरथि नही है, और न कोई ईश्वर के रूप में आया है।

सीता नाम की स्थिति भी इससे विशेष भिन्न नही है। वैदिक साहित्य में 'सीता' शब्द का प्रयोग साधारणत हल से जोतने पर बनी हुई रेखा के लिए हुआ है। किन्तु एक सीता कृषि की अधिष्ठात्री देवी भी है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह पिछला रूप दैवीकरण की प्रवृत्ति से निर्मित हुआ है। एक अन्य सीता सूर्य की पुत्री है।[५] जनक अथवा विदेहतनया सीता वैदिक साहित्य में नही है।

रामकथा के कुछ अन्य प्रमुख पात्रो के नाममात्र वैदिक साहित्य में अवश्य मिलते हैं। दशरथ का नाम उसमें योद्धा राजाओ की पक्ति में आता है[६], इसी प्रकार अश्वपति कैकेय[७] तथा जनक वैदेह[८] का नाम विद्वान राजाओ के रूप में आता है। किन्तु इनमें से किसी के साथ वह कथा नही मिलती जो इन नामो के साथ रामायण में आती है।

---

१. ऋग्वेद १०, ९३, १४।
२. ऐतरेय ब्राह्मण ७, २७, ३४।
३. शतपथ ब्राह्मण ४, ६, १, ७।
४. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण ३७, ३२, ४, ९, १, १।
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण २, ७, १०।
६. ऋग्वेद १, १२६, ४।
७. शतपथ ब्राह्मण १०, ६, १, २; छादोग्य उपनिषद ५, ११, ४।
८. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, १०, ९; शतपथ ब्राह्मण ११, ३, १, २, ४; ११, ४, ३, २०, ११, ६, २, १, १०, ११, ६, ३, १ आदि।

फलत अधिकतर विद्वानो का विचार है कि रामकथा वैदिक आर्यों को अज्ञात थी। यद्यपि वैदिक साहित्य में रामकथा का न पाया जाना इस बात का निश्चयात्मक प्रमाण नही हो सकता, फिर भी यह कल्पना की जा सकती है कि यदि वैदिक आर्यों को राम और भरत जैसे असामान्यशील और शक्ति-सपन्न चरित्रो का ज्ञान होता तो विस्तृत ैदिक साहित्य में अवश्य किसी न किसी अश में उनका समावेश मिलता। पिता के सत्य की रक्षा के लिए उनकी इच्छा के विरुद्ध भी राज्य-त्याग और वनवास-ग्रहण और उस राज्य को बडे भाई की वस्तु समझ कर छोटे भाई द्वारा उसका परित्याग किसी भी युग के सास्कृतिक इतिहास में असाधारण घटनाएँ होती।

फिर भी, रामकथा ऐसे ही युग की वस्तु प्रतीत होती है जब कि वैदिक युग के जीवन के आदर्श बने हुए थे, जब कि आर्य पुरुषो और ललनाओ के नाम वैदिक नामो को ले कर रखे जाते थे, जब कि वैदिक देवताओ का प्राधान्य बना हुआ था, जब कि यज्ञो का प्रचलन समाप्त नही हुआ था, अर्थात सक्षेप में, जब कि आर्य सस्कृति का रूप प्राय वही था जो वैदिक युग में था। राम और रावण का युद्ध भी आर्य-अनार्य-सघर्ष की ही घटना है, जिसमें आर्यों की विजय हुई। पुन, जिस रामकथा के जिस आदिम रूप की कल्पना की गई है, उसी में नही, वाल्मीकि की कृति का जो मूल रूप विद्वानो ने स्थिर किया है उसमें भी राम का रूप अवतार का नही, महापुरुष का ही है। इसलिए रामकथा यदि वैदिक युग की वस्तु नही तो उसके कुछ ही पीछे की है, यह कदाचित माना जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण के तीन पाठ है—पश्चिमोत्तरीय, गौडीय और दाक्षिणात्य। किन्तु इन तीनो पाठो में अन्तर अधिक नही है और बालकाड तथा उत्तरकाड की कथाएँ एव अवतार-वाद के अनेक स्थल तीनो पाठो में समान रूप से पाए जाते हैं। प्राय इस बात की सभावना यथेष्ट रूप से हो सकती है कि तीनो पाठो में इन अशो में पाई जाने वाली समानता का कारण यह हो कि तीनो पाठो के सामान्य पूंज में ये अश इसी रूप में विद्यमान रहे हो।

महाभारत में जो रामोपाख्यान दिया हुआ है[९] वह वाल्मीकि रामायण के इस पिछले रूप के भी बाद का माना गया है, क्योकि रामोपाख्यान और रामायण के अनेक स्थलो पर शाब्दिक साम्य है, किन्तु रामोपाख्यान के कुछ स्थल ऐसे हैं जो वाल्मीकि रामायण के इस रूप की सहायता के बिना पूर्णत स्पष्ट नही होते है।[१०]

रामकथा का एक अन्य रूप हमें बौद्ध जातकों में मिलता है। 'दशरथ जातक'[११] के अनुसार वाराणसी के राजा दशरथ की तीन सन्तानें है—राम, लक्ष्मण और सीता। इनकी माता के देहान्त के अनन्तर राजा दूसरा विवाह करते है, जिससे भरत का जन्म होता है। भरत की माता राम के स्थान पर अपने पुत्र के लिए राज्य चाहती है, इसलिए अन्य सन्तानो के अनिष्ट की आशका

९. महाभारत ३, २५७ तथा बाद के अध्याय।

१०. वी० एस० सुकथंकर : रामोपाख्यान ऐण्ड महाभारत, कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० ४७२-८८।

११. फॉसबॉल : दि जातक, भाग ४, १२३, ४६१।

से वे उन्हे यह कह कर वन भेज देते है कि उन (दशरथ) के जीवन के केवल बारह वर्ष शेष है, और उन बारह वर्षों की समाप्ति पर राम वाराणसी का राज्य ले सकते है। राम, लक्ष्मण और सीता वन के लिए प्रस्थान करते है। वे हिमालय के वनो में चले जाते है, दशरथ पुत्र-वियोग में व्यथित हो कर नौ वर्षों में ही शरीर त्याग देते है। दशरथ की मृत्यु के अनन्तर राज्य भरत को दिया जाता है, किन्तु वे उसे स्वीकार नही करते है और राम को वापस लाने के लिए वन को जाते है। राम जब नही लौटते, तो भरत उनकी चरण-पादुकाएँ ले कर वापस आते है। बारह वर्ष समाप्त होने पर राम लौट कर सीता के साथ पाणिग्रहण करते है और वाराणसी का राज्य ग्रहण करते है। किन्तु इस 'दशरथ जातक' का प्राचीन अश गाथाओ मात्र का है, उसका गद्य-वार्तिक पीछे का है। गाथाओ में केवल यह आता है कि भरत से दशरथ के निधन का समाचार पाकर जब लक्ष्मण आदि अधीर हो उठते है, राम शात भाव से स्थिर रहते है और लक्ष्मण और सीता को भी धैर्य धारण करने का और चित्त को स्थिर रखने का उपदेश करते है। इसीलिए 'दशरथ जातक' में राम को पडित कहा गया है।

कुछ अन्य जातको के अनुसार निर्वासित राम-सीता दण्डकारण्य को जाते है और सीता राम की स्त्री है। रामकथा का एक रूप 'अनामक जातक' मे है, जिसका चीनी अनुवाद मात्र प्राप्त हुआ है[१२]। इसमें पूरी रामकथा है, केवल पात्रो के नाम नही है। इसमें भरत की कथा नही है। इसमें कहा यह गया है कि मामा के आक्रमण के भय से राजा वन को चला जाता है और मामा के देहान्त के अनन्तर लौटता है। पुन रावण के स्थान पर इसमें एक नाग आता है।

कथा के ब्राह्मण और बौद्ध रूपो में जो अन्तर है, उसका समाधान प्राय- दो प्रकार से किया गया है। कुछ विद्वान बौद्ध रूप को प्राचीनतर मानते है—विशेष रूप से 'दशरथ जातक' के रूप को—और रामायण के रूप को बाद का। कुछ विद्वान इसके विपरीत रामायण के रूप को प्राचीनतर और बौद्ध रूप को बाद का मानते है, जिसमें बौद्ध लेखको ने अपने अज्ञानवश अथवा जानबूझ कर परिवर्तन किया है। किन्तु एक तीसरा समाधान यह भी हो सकता है कि रामायण की कथा और जातको की रामकथा का कोई सामान्य उद्गम रहा हो, जिससे किंचित भिन्न-भिन्न रूपो में ब्राह्मण और बौद्ध परम्पराओ में उसका विकास हुआ हो।

जैन साहित्य में रामकथा सर्वप्रथम विमल सूरि के 'पउम-चरिउ' के रूप मे मिलती है।[१३] वाल्मीकि की कथा से 'पउम-चरिउ' की कथा में मुख्य अन्तर यही है कि रावण से राम का सघर्ष शूर्पणखा के नाक-कान काटने के अनन्तर नही, वरन खर-दूषण के पुत्र शबूक का शिर काटने पर होता है और रावण का वध राम नही, लक्ष्मण करते है। ये अन्तर साधारण है और हो सकता है कि जैन धर्म के आदर्शों का निर्वाह राम के चरित्रो में दिखाने के लक्ष्य से ही मूल कथा में इस प्रकार के अन्तर किए गए हो।

जैन साहित्य में रामकथा का इससे किंचित भिन्न रूप दक्षिण भारत में रचे गए गुणभद्र

---

१२. सरस्वती विहार ग्रन्थमाला ८ : १९३८ ई०।

१३. भावनगर, १९१४।

कृत 'उत्तर पुराण' में पाया जाता है।[14] इसकी विशेषता सीता के अवतार की कथा है। तपस्विनी मणिमती रावण द्वारा तपस्या में विघ्न उपस्थित होने पर रावण का विनाश करने के लिए मन्दोदरी के गर्भ से अवतार ग्रहण करती है, किन्तु यह बात रावण को ज्ञात हो जाती है और वह उसे एक पेटिका में बंद कराकर जनक के राज्य में गड़वा देता है। खेत जोतते समय वह पेटिका हल की नोक से अटकने पर निकाली जाती है और बालिका जनक को अर्पित कर दी जाती है। 'उत्तर पुराण' की शेष कथा प्राय 'पउम-चरिउ' के ही अनुसार है।

पुराणो में जो रामकथा आती है, वह प्राय वाल्मीकीय रामायण के अनुसार है।

पुराणो की शैली पर कई रामायणें भी लिखी गई हैं, जिनमें सब से प्रमुख 'अध्यात्म रामायण' है। इसकी कथा में अवतारवाद के अतिरिक्त भक्तिवाद का दृष्टिकोण मिलता है। मुख्य कथा वाल्मीकि की कथा से अभिन्न है। 'आनन्द रामायण' प्राय 'अध्यात्म रामायण' का अनुसरण करती है। 'अद्भुत रामायण' की भी मुख्य कथा वाल्मीकि के अनुसार है, केवल इसमें सीता के द्वारा सहस्रशीर्ष रावण के वध की कथा अधिक है। इसमें शक्ति-उपासना का प्रभाव प्रत्यक्ष है। कई रामायणें और भी बताई जाती हैं, किन्तु अधिकतर उनकी प्रतियाँ प्राप्त नही हैं। इनमें से जो मिलती हैं, उनमें से 'भुशुण्डि रामायण' में कहा जाता है कि काग-गरुड़-सवाद के रूप में रामकथा और राम-भक्ति का निरूपण हुआ है और 'रामचरितमानस' का काग-गरुड-सवाद उसी के आधार पर लिखा गया है। किन्तु किसी विद्वान द्वारा इस ग्रन्थ का यथेष्ट अध्ययन अभी तक नही हुआ है, इसलिए इसके सबध में अधिक नही कहा जा सकता।

रामकथा के अशो को लेकर बहुत प्राचीन काल से अनेक नाटको और काव्य-ग्रन्थो की रचना भारतीय साहित्य में हुई है। प्राप्त नाटककारो में सब से प्राचीन भास माने जाते हैं, किन्तु उनके नाम से पाए गए नाटको की प्रामाणिकता निश्चित नही है।[15] उनके 'प्रतिमा' तथा 'अभिषेक' नाटक राम-वनगमन तथा रामाभिषेक की कथाओ को ले कर लिखे गए हैं। अन्य नाटको में सर्वप्रमुख हैं भवभूतिकृत 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' (आठवी शताब्दी), दिङ्नागकृत 'कुंदमाला' तथा मुरारिकृत 'अनर्घराघव' (नवी शताब्दी), राजशेखरकृत 'बालरामायण' (दशवी शताब्दी), हनुमानकृत 'महानाटक' (दसवी शताब्दी), तथा जयदेव-कृत 'प्रसन्नराघव' (तेरहवी शताब्दी)। नाटयकला के उत्कर्ष की दृष्टि से किए गए साधारण अतरो के अतिरिक्त इन नाटको में कथावस्तु रामायण की ही है। इसी प्रकार राम-काव्यो में प्रमुख हैं कालिदासकृत 'रघुवश' (पाँचवी शताब्दी), प्रवरसेनकृत 'रावण-वध' (छठी शताब्दी), 'भट्टिकाव्य' (सातवी शताब्दी), कुमारदासकृत 'जानकीहरण', अभिनदकृत 'रामचरित' (नवी शताब्दी), क्षेमेन्द्रकृत 'रामायणमज री' (ग्यारहवी शताब्दी) तथा 'दशावतारचरित' (ग्यारहवी शताब्दी)। इन काव्य-ग्रन्थो में भी काव्य-कला के उत्कर्ष के लिए किए गए साधारण अतरो के साथ मुख्य कथा वाल्मीकीय ही है।

---

१४. स्याद्वाद ग्रन्थमाला, इन्दौर, सं० १९७५।

१५. एस० कुप्पुस्वामि शास्त्रि कृत 'आश्चर्य चूड़ामणि' की भूमिका, बालमनोरमा ग्रन्थमाला, मद्रास।

भारत के बाहर भी विभिन्न वातावरणो में पोषित होने के कारण रूप में किंचित भिन्न रामकथा लका, जावा, बाली, मलय, हिंद-चीन, श्याम, ब्रह्मदेश, तिब्बत, काश्मीर, चीन आदि अनेक देशो में पाई जाती है। इन बहिर्गत रामकथाओ की रामायण की कथा से किंचित भिन्नता का एक कारण यह हो सकता है कि रामकथा इन विभिन्न देशो में उसी समय गई होगी जब वाल्मीकीय रामायण की रचना हो चुकी होगी, अथवा भारतवर्ष में ही रामकथा के एक से अधिक रूप पाए गए है, इन विभिन्न रूपो से सबद्ध होने के कारण भी उक्त बहिर्गत रामकथाओ के रूपो में कुछ विभिन्नता हो सकती है।

हिंदी के राम-भक्त कवियो के सम्मुख यह विशाल और सम्पन्न राम-साहित्य था। अपने मूल रूप में ही रामकथा ऐसी आदर्श कथा थी कि उसमें कुछ अधिक परिष्कार सभव नही था। वाल्मीकि की रचना के अनतर तो परिष्कार की यह सभावना प्राय और नही रह गई थी। इसके अतिरिक्त राम की कथा किसी लौकिक नायक की कथा नही थी, अवतारी परमपुरुष की कथा थी, उसमे कोई विशेष परिवर्तन करने का साहस भी अभिनन्दनीय नही माना जा सकता था। मुख्यत इन्ही कारणो से हिंदी के राम-भक्त कवियो ने भी कथा में कोई विशेष सुधार या परिवर्तन नही किया।

हिंदी राम-भक्ति धारा में अनेक कवि हुए, किंतु राम-भक्ति धारा का साहित्यिक महत्व अकेले तुलसीदास के कारण है। धारा के अन्य कवियो और तुलसीदास में अतर तारागण और चद्रमा का नही है, तारागण और सूर्य का है। तुलसी की अपूर्व आभा के सामने वे साहित्याकाश में रहते हुए भी चमक न सके। इसलिए इस धारा का अध्ययन मुख्यत तुलसीदास में ही केन्द्रित करना होगा।

तुलसीदास के पूर्व का हिंदी का राम-साहित्य प्राय अप्रकाशित है। अत उसके सबध में नीचे सक्षेप में वे सूचनाएँ दी जा रही है जो खोज-विवरण से प्राप्त है।

इस सूची में सबसे पहले रामानद का नाम आता है। स्वामी रामानद का समय पूर्णतया निश्चित नही है, किन्तु सामान्यत स० १४०० वि० (सन १३४३ ई०) के लगभग माना जाता है। रामानदी सप्रदाय की परम्परा के अनुसार उनका जन्म स० १३५६ वि० (सन १२९९ ई०) में हुआ था। उनकी एकमात्र प्राप्त हिंदी रचना 'रामरक्षास्तोत्र' है। इसमें विभिन्न शारीरिक और मानसिक व्याधियो को दूर करने के लिए मत्र और योगिनी को आदेश तथा हनुमान, सीता और राम की स्तुति है।[१६] साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का कोई महत्व नही है।

रामानन्द का महत्व इस कारण है कि उन्होने उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व किया। उनकी शिष्य-परम्परा का एक बहुत कुछ विश्वसनीय इतिवृत्त हमें नाभादास के 'भक्तमाल' में प्राप्त होता है। नाभादास के अनुसार उनके अनतानद, कबीर, सुखानद, सुरसुरानद, पद्मावति, नरहरि, पीपा, भावानद, रैदास, धना, सेना, सुरसुरानद की स्त्री आदि अनेक शिष्य-प्रशिष्य हुए।[१७] इन भक्तो में से पद्मावति और भावानद के अतिरिक्त उपर्युक्त

---

१६. दे० नागरी प्रचारिणी सभा का खोज विवरण (१९००) सख्या ७६।
१७. भक्तमाल, छप्पय ३६।

समस्त सतो के परिचयात्मक उल्लेख भी नाभादास ने किए है।[१८] किन्तु इनमें से किसी की रचना में राम का अवतारी रूप हमारे सामने नही आता। इन भक्तो में से जिनकी भी रचनाएँ हमें प्राप्त हुई है, उनके राम निर्गुण ब्रह्म हैं। इसलिए इस 'रामरक्षास्तोत्र' के कर्ता उपर्युक्त सत-परपरा के प्रवर्तक स्वामी रामानद ही है, इसमे यदि सन्देह किया जाय तो अनुचित न होगा। किन्तु, दूसरी ओर रचना में भाषा की प्राचीनता के निश्चित तत्व मिलते हैं, इसलिए एक सभावना यह भी है कि 'रामरक्षास्तोत्र' के रामानद उक्त सत-परपरा के प्रवर्तक रामानद से भिन्न रहे हो और कालातर में नाभादास के समय (स० १६५० वि०=सन १५९३ ई०) तक दोनो महात्माओ का व्यक्तित्व एक मान लिया गया हो।

दूसरा नाम इस सूची में विष्णुदास का आता है। इन्हे वाल्मीकीय रामायण के किसी हिंदी रूपान्तर का कर्ता बताया गया है।[१९] विष्णुदास नाम के भक्त एक से अधिक हुए है। एक विष्णुदास महाभारत के एक सक्षिप्त रूपान्तर के कर्ता हैं और उनका समय स० १४९२ वि० (सन १४३५ ई०) माना गया है।[२०] यदि वे ही वाल्मीकीय रामायण के इस रूपान्तर के भी कर्ता हो तो कुछ असभव नही है।

इस सूची में तीसरा नाम ईश्वरदास का आता है। इनकी एक रचना 'भरतमिलाप' बताई गई है।[२१] भरत और शत्रुघ्न ननिहाल में है, उसी समय राम का वनगमन होता है और उनके विरह में दशरथ का स्वर्गवास। भरत ननिहाल से लौट कर यह देखते है तो वे बडे दुखी होते हैं और विलाप करते है। उनके साथ सारी अयोध्या बिलखने लगती है। इस पुस्तक में यही दिखाया गया है। ईश्वरदास की एक रचना 'सत्यवतीकथा' है, जिसका रचना-काल स० १५५८ वि० (सन १५०१ ई०) है।[२२] उसी के लगभग इसका भी रचना-काल माना जा सकता है।

इन्ही ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'अगद पैंज' भी है।[२३] रावण की सभा में अगद ने जो प्रतिज्ञा की थी, उसी का इसमें वर्णन किया गया है। इसकी तिथि ज्ञात नही है। किन्तु ईश्वरदास की 'सत्यवतीकथा,' जैसा ऊपर हम देख चुके है, स० १५५८ वि० (सन १५०१ ई०) की रचना है, इसलिए यह भी इसके आसपास की होनी चाहिए।

उपर्युक्त रचनाएँ राम-भक्ति-परपरा में आती है। कुछ रचनाएँ जैन रामकथा की परपरा में भी आती है, जिनका सक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

इस परपरा की एक प्राचीन रचना मुनि लावण्य की 'रावण-मदोदरी-सवाद' है, जिसका

---

१८. वही, छप्पय ५९-६७।
१९. नागरी प्रचारिणी सभा का खोज विवरण (१९४१-४३) सख्या ५४।
२०. वही (१९०६-०८), संख्या २४८।
२१. वही (१९४४-४६), संख्या २१।
२२. हिन्दुस्तानी, भाग ७ (१९३७)।
२३. नागरी प्रचारिणी सभा खोज विवरण (१९००) संख्या ८५।

विषय सीताहरण की कथा है।[२४] इसकी निश्चित तिथि अज्ञात है, किन्तु भाषा का रूप पुरानी पश्चिमी राजस्थानी का है, इसलिए यह रचना स० १५०० वि० (सन १४४३ ई०) के लगभग की लगती है।

इसी नाम और विषय की एक अन्य रचना जिनराज सूरि की है। इसकी तिथि ज्ञात नही है। भाषा का रूप सत्रहवी शती का प्रतीत होता है।

इस सूची में दूसरा उल्लेखनीय नाम ब्रह्मजिनदास का है जिनकी दो रचनाएँ इस परपरा में आती है—'रामचरित या रामरास'[२५] और 'हनुमतरास'[२६]। इन रचनाओ की निश्चित तिथियाँ ज्ञात नही हैं, किन्तु इसी लेखक की एक कृति 'श्रीपालरास' की प्राप्त प्रति स० १६१६ वि० (सन १५५९ ई०) की है। इसलिए इन रचनाओ का समय अनुमानत विक्रमीय सोलहवी शती होना चाहिए।

इस प परा में अन्य दो उल्लेखनीय नाम ब्रह्मराय मल्ल तथा सुदरदास के है जिनकी रचनाएं 'हनुवतगामीकथा'[२७] तथा 'हनुमानचरित'[२८] सवत १६१६ वि० (सन १५५९ ई०) की रची हुई हैं।

सूरदास के साथ हम हिंदी भक्ति-धारा के मध्य में पदार्पण करते हैं। सूरदास सामान्यत वल्लभ के पुष्टि सप्रदाय के कहे जाते हैं, किंतु उनमें हमें वह साप्रदायिकता बिलकुल नही मिलती जो उस सप्रदाय के शेष सभी भक्तो में मिलती है। उस सप्रदाय के और किसी प्रमुख भक्त ने राम-चरित्र का गान नही किया, किंतु सूरदास की एक अनल्प पदावली राम-चरित्र का गान करती है। तुलसीदास में भी हम बहुत कुछ यही बात देखते हैं। तुलसीदास के रामकाव्य और कृष्णकाव्य में आकार-प्रकार विषयक जो अनुपात है, लगभग वही सूरदास के कृष्णकाव्य और रामकाव्य में दिखाई पडता है और सूरदास ने राम का गुण-गान और उनकी लीलाओ का वर्णन उतनी ही तन्मयता के साथ किया है, जितना तुलसीदास ने कृष्ण की लीलाओ का किया है। इसमें सन्देह नही कि अपने अपने इष्ट स्वरूपो के प्रति उनका जितना अधिक उत्कट अनुराग है, उतना अन्य स्वरूप के प्रति नही है, फिर भी उनकी पूरी श्रद्धा अन्य स्वरूपो के प्रति है। सूरदास के राम-चरित के सबध के भी अनेक पद कला की दृष्टि से सुदर बन पड़े हैं। इसलिए राम-साहित्य में सूरदास का योग उपेक्षणीय नही है। यही नही, वह उल्लेखनीय भी है।

ठीक इसी समय राम-भक्ति-धारा में एक नवीन विकास दिखाई पडता है जिसके आदि प्रवर्तक के रूप में अग्रदास आते हैं, जिन्होने अग्रअली के नाम से रचनाएँ की है। अग्रदास ने जानकी की एक सखी की भावना से राम-भक्ति की है। इनकी इस भावना की दो प्रसिद्ध रचनाएँ

---

२४. ऐलक पन्नालाल दिगबर जैन सरस्वती भवन, बबई (अनेकात, वर्ष ५, किरण १-२, पृष्ठ १०३)।

२५. जैन पचायती मदिर, दिल्ली (अनेकात, वर्ष ४, किरण १०, पृ० स० ५६६)।

२६. वही।

२७. वही।

२८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका का खोज विवरण (१९३२-३४)।

'रामाष्टयाम' तथा 'रामध्यानमजरी' है। इधर एक तीसरी रचना 'रामज्योनार' का भी पता लगा है।

'रामध्यानमजरी' में माधुर्य भाव के उपासक भक्तो के लिए राम के स्वरूप, धाम आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है, राम की धनुष-बाण की वदना कर कवि ने साकेत धाम, रत्न-सिंहासन, राम के परिकरो का वर्णन करते हुए सीता की सुरति, विमला आदि सखियो की सेवाओ का भी वर्णन किया है।

'रामाष्टयाम' मे सियप्रिय राम की आह्निक लीला का सविस्तर वर्णन है। राम के ऐश्वर्य के साथ द्वादशलीला, सयोग-वियोग, मधुर रति आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। नाभादास का जो 'अष्टयाम' मिलता है, वह इसी रचना को लेकर पल्लवित किया गया प्रतीत होता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अग्रदास के कुछ स्फुट छप्पय भी हैं जो राम-भक्ति से सबधित हैं।

अग्रअली की यह मधुर उपासना-धारा तुलसीदास के मर्यादावाद के सामने बहुत दिनो तक दबी रही, किंतु प्राय सौ वर्ष पीछे, जैसा हम आगे देखेंगे, बडे वेग से बह निकली और तदनतर हिंदी का प्राय सारा राम-भक्ति-साहित्य उससे सराबोर हो गया। इस मधुर धारा का सूत्रपात निस्सन्देह कृष्ण-भक्ति-धारा के प्रभाव और उसी के अनुकरण में हुआ था।

तुलसीदास का जीवन-वृत्त

तुलसीदास की जीवनियाँ अनेक मिलती हैं। किंतु वे प्राय: आधुनिक लेखको की लिखी हुई हैं। प्राचीन लेखको की लिखी हुई जीवनियाँ इनी-गिनी हैं, वे प्राय सुनी-सुनाई बातो पर आधारित हैं और प्रामाणिक नही मानी जा सकती।[२९]

पुन राजापुर तथा सोरो से—विशेष रूप मे सोरो से—बहुत-सी जीवन-सामग्री प्रकाश में आई है, किंतु उसकी प्रामाणिकता विवाद-ग्रस्त है।[३०] अन्य सूत्रो से भी कोई उल्लेखनीय प्रकाश कवि के जीवन पर नही पडता। ऐसी दशा में तुलसीदास के जीवन-वृत्त का निर्माण बहुत-कुछ उनकी रचनाओ के आधार पर करना होगा।

तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ था, यह अभी तक अनिश्चित है। भिन्न-भिन्न आधारो पर राजापुर और सोरो उनके जन्म-स्थान कहे गए हैं, किन्तु वे आधार दृढ नही है।

तुलसीदास का जन्म प्राय, स० १५८९ वि० (सन १५३२ ई०) में माना जाता रहा है। सत तुलसी साहब ने इस तिथि का पूरा विस्तार दिया है (सवत १५८९, भादो शु० ११, मगलवार) और यह विस्तार गणना से शुद्ध आता है। अन्य किसी तिथि का पूरा विस्तार नही प्राप्त है।[३१] अन्त साक्ष्य के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि स० १६२१ वि० (सन १५६४ ई०)

---

२९. विस्तृत विचार के लिए दे० लेखक का 'तुलसीदास' (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय), तृतीय संस्करण, पृ० ३९-६४।

३०. वही, पृ० ८८-१२७।

३१. घट रामायण, पृ० ४१५।

(रामाज्ञा प्रश्न), स० १६३१ वि० (सन १५७४ ई०) (रामचरितमानस), स० १६४२, वि० (सन १५८५ ई०) (पार्वती मगल) में रचना करने वाले कवि का जन्म अनुमानत स० १५८०-९० वि० (सन १५२३-१५३३ ई०) के लगभग हुआ होना चाहिए। इसलिए विरोधी साक्ष्य के अभाव में स० १५८९ वि० (सन १५३२ ई०) कवि की जन्म-तिथि मानी जा सकती है।[३२]

तुलसीदास की जाति-पाँति के सबध में अनेक दावे किए गए हैं, किंतु स्पष्ट आत्मोल्लेखो का अभाव है। केवल 'कवितावली' के एक छद में कवि को सबोधित करते हुए कहा गया है—

ब्राह्मन ज्यो उगिल्यो उरगारि हौं त्यौं ही तिहारे हिए न हितैहौं।

इस कथन से इस प्रकार की ध्वनि ली जा सकती है कि तुलसीदास ब्राह्मण थे।

तुलसीदास की जीवन-लीला का प्रारभ बडी सकटपूर्ण परिस्थितियो में हुआ। जन्म ग्रहण करने के कुछ ही क्षणो के अनतर उन्हे माता-पिता के सरक्षण से वचित होना पडा। उन्होने कहा है—

मात पिता जग जाय तज्यो ।[३३]
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यो तज्यो मातु पिताहू।[३४]

पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में इस परित्याग के कारण का निश्चयपूर्वक कथन सभव नही है। अनाथ तुलसीदास उसके अनतर भिक्षा-याचना द्वारा उदर-पूर्ति करने लगे थे—

बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानतहौं चारि फल चारि ही चनक को।[३५]

इसके कुछ ही अनतर तुलसीदास को हनुमदाश्रय प्राप्त हो गया था—कदाचित किसी हनुमान-मन्दिर से उनके भोजन-भरण की व्यवस्था हो गई थी—

टूकनि को घर घर डोलत कगाल बोलि
बाल ज्यौं कृपाल नित पालि पालि पोसो है।
कीन्ही है सभार सार अजनीकुमार बीर
आपनो विसारिहै न मेरे हूँ भरोसो है।[३६]

हनुमान-मन्दिरो के लिए प्राय खोची—पडियो में आए हुए धान्यादि की राशि में से कुछ उगाहने—की परपरा लगी रहती है, जिसे 'महाबीरी' कहते है। इसी से मदिर के भोग तथा

---

३२. कवितावली, उत्तरकाड, १०२।
३३. वही, उत्तरकाड, ५७।
३४. विनय पत्रिका, २७५।
३५. कवितावली, उत्तरकाड, ७३।
३६. बाहुक, २९।

पुजारी आदि के निर्वाह का प्रवन्ध होता है। इस प्रकार की खोची उगाहने का भी उल्लेख तुलसीदास ने किया है—

खायो खोची माँगि तेरो नाम लिया रे।
तेरे वल वलि आजु लौं जग जागि जिया रे।।[३७]

हनुमान-पूजा मध्ययुग की सगुण रामोपासना का एक अनिवार्य अग थी। इसलिए उन्होने अन्यत्र जो लिखा है—

वालपने सूधेपन राम सनमुख गयो
राम नाम लेत माँगि खात टूकटाक हौं।[३८]

वह उपर्युक्त कथन के विरुद्ध नही माना जा सकता।

प्राय इसी समय तुलसीदास ने गुरु की शरण में जाकर उनसे रामभक्ति की दीक्षा ली और गुरु ने लगन के साथ सूकरखेत में तुलसीदास को अनेक वार राम-कथा सुनाई और उसका मर्म स्पष्ट किया—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि वालपन, तव अति रहेउँ अचेत।।[३९]
तदपि कही गुरु वारहिं वारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।।

इन गुरु का नाम ज्ञात नही है। नीचे लिखी पक्तियो के आधार पर कुछ लोग इन्हें नरहरि या नरहरिदास कहते हैं—

वदौं गुरु पद कज, कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महामोह तम पुज, जासु वचन रविकर निकर।।[४०]

किंतु इनसे उक्त नाम की ध्वनि निश्चयपूर्वक नही ली जा सकती।

अपने विवाहित जीवन के सवन्ध में तुलसीदास ने स्पष्ट नही लिखा है, केवल वाल्यावस्था में राम-नाम लेते हुए भिक्षा-याचना करके उपर्युक्त कथन के साथ ही उन्होने कहा हैं—

पर्‌यो लोकरीति में पुनीत प्रीत राम राय,
मोहवस वैठ्यो तोरि तरक तराक हो।।[४१]

इससे ज्ञात होता है कि अवस्था प्राप्त करने पर उन्होने कदाचित विवाह किया और फिर कुछ दिनो के लिए दुनियादारी में ऐसे लग गए कि उनका राम-प्रेम शिथिल पड गया।

---

३७. विनयपत्रिका, ३३।
३८. वाहुक, ४०।
३९. रामचरितमानस, वाल० ३१।
४०. रामचरितमानस, वालकाड, वदना।
४१. वाहुक, ४०।

किंतु अधिक दिनो तक वे दुनियादारी में फँसे न रह सके। पूर्व के सस्कारो ने पुन वल दिया और वे उससे पीछा छुडा कर पुन अजनीकुमार की शरण—हनुमान-सेवा—में आ गए और राम-भक्ति में दत्तचित्त हो गए—

खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो
अजनीकुमार सोध्यो राम पावि पाक हौं।।[४२]

'रामाज्ञाप्रश्न' (स० १६२१ वि० = सन १५६४ ई०) में उन्होने विपय से विरक्त होकर चित्रकूट-सेवन का उपदेश किया है, जिससे यह प्रकट है कि स० १६२१ वि० (सन १५६४ ई०) के पूर्व ही किसी समय वे विरक्त हो चुके थे और कदाचित स० १६२१ वि० (सन १५६४ ई०) में उन्होने चित्रकूट की यात्रा भी की थी—

पय पावनि बन भूमि भलि, सैल सुहावनि पीठि।
रागिहि सीठि बिसेषि थलि, विषय बिरागिहि मोठि।।
सगुन सकल सकट समन, चित्रकूट चलि जाहु।
सीताराम प्रसाद सुभ, लघु साधन वड लाहु।।[४३]

तिथियुक्त रचना 'रामचरितमानस' (स० १६२१ वि० = सन १५७४ ई०) है। अयोध्या में उसके प्रणयन के प्रारभ तथा काशी-सेवन के उल्लेख मिलते हैं—

सबत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।।[४४]

मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघहानिकर।
जह् बस सभु भवानि, सो कासी सेइय कस न।।[४५]

कदाचित इसके अनन्तर ही तुलसीदास काशी में स्थायी रूप से रहने लगे थे, यद्यपि यात्राओ के लिए अन्य स्थानो को जाते रहते थे।

'मानस'-रचना के अनन्तर तुलसीदास जी की प्रतिष्ठा बहुत बढी थी, यहाँ तक कि वे अपने जीवन-काल में ही वाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे थे। सत्रहवी शती विक्रमी के उत्तरार्द्ध में लिखे गए अपने 'भक्तभाल' में तुलसीदास के विषय में नाभादास ने तो यह कहा ही है—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो।[४६]

स्वत तुलसीदास ने भी इसका उल्लेख किया है—

---

४२. वही, ४०।
४३. रामाज्ञाप्रश्न, २, ६, १ तथा २, ६, ३।
४४. रामचरितमानस, बालकाड, ३४।
४५. रामचरितमानस, किष्किन्धा कांड, प्रारंभ।
४६. भक्तमाल, छप्पय १२८।

राम नाम के प्रभाउ पाऊँ महिमा प्रताप,
तुलसी से जग मानियत महामुनी सो ॥[47]

किंतु इस प्रतिष्ठा-वृद्धि के साथ द्वेष-वृद्धि भी हुई—

माँगि मधुकरी खात जे, सोवत गोड पसारि।
पाप प्रतिष्ठा वढि परी, ताते बाढी रारि ॥[48]

इस विरोध के दो रूप हमें उनकी रचनाओ में मिलते हैं, एक तो उनकी जाति-पाँति के सवध में—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहव काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥[49]

मेरे जाति-पाँति न चहौ काहू की जाति-पाँति
मेरे कोऊ काम को न हौ काहू के काम को।
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को ॥[50]
लोग कहैं पोच सो न सोचु न सँकोच मेरे
ब्याह न वरेखी जाति पाँति न चहत हौं ॥[51]
साधु जानैं महासाधु खल जानैं महाखल
बानी झूठी साँची कोटि उठत हवूब हैं ॥[52]

ठेठ शिव की पुरी में राम-भक्ति की जो तीव्र धारा तुलसीदास के द्वारा प्रवाहित हुई होगी, उसी को रोकने की असफल चेष्टा कदाचित इन विरोधो के रूप में व्यक्त हुई। किंतु तुलसीदास इन सव से प्रभावित होने वाले नही थे, उन्होने फटकार कर कहा—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे ?[53]

यद्यपि तुलसीदास ने स्पष्ट कहा नही है, किंतु अनुमान से कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विरोध धीरे-धीरे ठडा पड गया।

तुलसीदास ने जीवन के अन्तिम बीस-पचीस वर्षों में काशी में होनेवाले उत्पातो का उल्लेख किया है।

---

४७. कवितावली, उत्तरकांड, ७२।
४८. दोहावली, ४९४।
४९. कवितावली ?
५०. वही, उत्तरकाड, १०६।
५१. विनयपत्रिका, ७६।
५२. कवितावली, उत्तरकाड, १०८।
५३. कवितावली, उत्तरकाड, ४८।

इनके अतिरिक्त उन्होने एक महामारी का भी वर्णन किया है[५४] जो इसी अवधि मे आई थी। स० १६७३ वि० (सन १६१६ ई०) में ताऊन का प्रकोप पहले पहल भारत में हुआ, जो लगातार आठ वर्षों तक देश के विभिन्न भागो में बना रहा। असभव नही कि तुलसीदास ने जिस महामारी का वर्णन किया है, वह ताऊन की ही हो।

इसके अतिरिक्त अपनी एक रचना 'हनुमानवाहुक' मे उन्होने वाहु-पीडा, तथा पुन शरीर के अग-प्रत्यग की पीडा का वर्णन किया है, जो उन्हें वर्षा ऋतु में हुई थी और कई महीने तक वनी रही। किंतु उसी के एक छद में तुलसीदास ने कहा है कि इन पीडाओ का शमन हो गया।[५५] कुछ लोगो ने कहा है कि यह ताऊन की महामारी थी, किंतु यह मानने के लिए पर्याप्त कारण नही है।

'हनुमानवाहुक' के कुछ छदो में शरीर भर में वरतोड के फोडो के निकलने का उल्लेख हुआ है, जिनसे तुलसीदासजी को अपार कष्ट था।[५६] एक किंवदती है कि उनका देहान्त इन्ही फोडो से हुआ। उनकी रचनाओ में इनके शमन का कोई उल्लेख नही है, इसलिए यह असभव भी नही माना जा सकता।

उनके देहान्त का सवत सर्वसम्मति से स० १६८० वि० (सन १६२३ ई०) माना जाता है, किंतु तिथि विवादग्रस्त है। साधारण रूप से श्रावण शुक्ल सप्तमी निधन-तिथि मानी जाती है, किंतु श्रावण कृष्ण तृतीया को उनके मित्र टोडर चौधरी के वशज आज तक उनकी वर्षी मनाते आ रहे है, इसलिए यह अधिक प्रामाणिक ज्ञात होती है।

तुलसीदास इन शारीरिक व्याधियो का कारण भी प्राय आध्यात्मिक मानते थे और अपनी अन्तिम व्याधि का कारण उन्होने गोसाईं वन जाने के अनन्तर स्वामी राम के उपकारो का विस्मरण हो जाना बताया है—

तुलसी गोसाईं भयो भोडे दिन भूलि गयो
ताको फल पावत निदान परिपाक हो।।[५७]

साधारणत तुलसीदास नाम के साथ लगी हुई 'गोसाईं' उपाधि को लोग केवल आदरार्थक विशेषण के रूप में लेते है, किंतु वस्तुत ऐसा नही ज्ञात होता। गोसाईं एक उपाधि है जो असी-घाट, तुलसीदास के स्थान, पर होने वाले प्रत्येक महत की उनके अनतर भी कई पीढियो तक वरावर रही है। सं० १८३२ वि० (सन १७७५ ई०) के एक चेतसिंह के फर्मान में स्थान के महत को गोसाईं तुलाराम और इसी प्रकार स० १८४८ वि० (सन १७९१ ई०) के एक दानपत्र में स्थान के महत को गोसाईं पीतावर वैस्नो कहा गया है। उक्त स्थान भी बहुत दिनो तक तुलसीदास-मठ प्रसिद्ध था, क्योकि स० १७८७ वि० (सन १७४० ई०) की लिखी हुई 'न्यायसिद्धातमजरी' की प्रति के नाम से प्राप्त हुई है, जिसकी पुष्पिका में उसके लिपिकर्ता जयकृष्णदास ने लिपि-स्थान 'लोलार्के तुलसीदासमठे' लिखा है। अत यह भलीभाँति प्रकट है कि तुलसीदास को असी घाट

---

५४. वही, १७३-७६।
५५. बाहुक, ३९।
५६. वही, ४०, ४१।
५७. वही, ४०।

के उक्त मठ के महत बनने पर गोसाईं उपाधि प्राप्त हुई। तुलसीदास के समकालीन केशवदास ने स० १६५८ वि० (सन १६०१ ई०) में लिखी गई 'रामचन्द्रिका' में मठधारियो की जो निन्दा की है, उसकी पृष्ठभूमि में यदि हम इसे देखें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि अपने अतिम दिनो में वरतोड से पीडित होने पर उन्होने अपने गोसाईं होने पर जो पश्चात्ताप किया है वह क्यो किया है।

ऊपर तुलसीदास के जीवन-वृत्त के सबध में कुछ विस्तार के साथ जो विचार किया गया है उससे ज्ञात होगा कि काव्य में जीवन के मधुर और कोमल पक्ष का जो अभाव-सा दिखाई पडता है उसका एक बडा कारण उनके अपने जीवन में इनका अभाव है। असभव नही है कि भिन्न परिस्थितियो में से होकर गुजरे हुए तुलसीदास प्राप्त तुलसीदास से बहुत भिन्न होते।

रचनाएं—

तुलसीदास के नाम निम्न रचनाएँ मिलती है—

(१) रामललानहछू, (२) रामाज्ञाप्रश्न (३) जानकीमगल, (४) रामचरितमानस, (५) पार्वतीमगल, (६) गीतावली, (७) कृष्णगीतावली, (८) विनयपत्रिका, (९) बरवै, (१०) दोहावली, (११) कवितावली, (१२) हनुमानबाहुक, (१३) वैराग्यसदीपनी, (१४) सतसई, (१५) कुडलिया रामायण, (१६) अकावली, (१७) बजरगबाण, (१८) बजरग-साठिका, (१९) भरतमिलाप, (२०) विजय दोहावली, (२१) बृहस्पतिकाड, (२२) छदावली रामायण, (२३) छप्पय रामायण, (२४) धर्मराय की गीता, (२५) ध्रुवप्रश्नावली, (२६) गीताभाषा, (२७) हनुमान स्तोत्र, (२८) हनुमानचालीसा, (२९) हनुमानपचक, (३०) ज्ञानदीपिका और (३१) राममुक्तावली।

इनमें से केवल प्रथम बारह रचनाएँ प्रामाणिक रूप से तुलसीदास की मानी जा सकती हैं, शेष समस्त रचनाएँ सदिग्ध है। केवल इन्ही एक दर्जन रचनाओ का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

रामललानहछू—इसके मुख्यतया दो विभिन्न पाठ प्राप्त है—एक वह जो नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है और दूसरा एक अन्य जिसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है और वह प्रस्तुत लेखक के सग्रह में है। सभा के पाठ में २० चतुष्पदियाँ अथवा ४० द्विपदियाँ हैं, जब कि इस प्रति के पाठ में केवल २६ द्विपदियाँ है। दोनो में लगभग समान रूप से पाईं जाने वाली द्विपदियाँ केवल १३ है, शेष द्विपिदियाँ दोनो में भिन्न-भिन्न हैं। विषय दोनो का एक है--राम का नहछू जो विवाह के अवसर का है। दोनो पाठो में एक महत्व का अतर यह है कि 'सभा' के पा में इस अवसर पर आई हुई प्रजागण की स्त्रियो के—लोहारिन, अहीरिन, मोचिनि आदि के—हाव-भाव-कटाक्ष का वर्णन किया गया है और वर के पिता दशरथ को इनमें से एक के यौवन पर मुग्ध तक कहा गया है। लेखक की प्रति का पाठ इस दोप से सर्वथा मुक्त है। साथ ही उसमें एक विशेषता यह है कि नाइन का अपने नेवछावर के लिए झगडने का बडा ही यथातथ्य वर्णन है, यथा—

मडवहि झगरैं नउनिया एहि सब निहछावर थोर हे।
रघुवर के निहछावर लेवु नए घोर हे।
काहे झगरैं नउनिया एहि सब लेहु हे।
राम बिआहि घर आएव देवु नए घोर हे।।

और एक दूसरी विशेषता यह है कि इसमें लोकगीतो के प्रश्नोत्तर की शैली का वडा मनोरम रूप मिलता है, यथा——

के दिहल चुटकी मुदरिया के दीहल रूप हे।
के दिहल रतन पदारथ भेरि गएउ सूप हे।।
केकइ दिहल चुटकी मुदरिया सोमित्रा दीहल रूप हे।
कौसिला दीहल रतन पदारथ भरि गएउ सूप हे।।

प्रति के पाठ में पूर्वी हिंदी का प्रभाव स्पष्ट है, किंतु वह इसलिए भी सभव है कि वह गया जिले की लिखी हुई है, अन्यथा दूसरे पाठ की अपेक्षा यह कवि की परिमार्जित रुचि और लोकगीत परपरा के अपेक्षाकृत कही अधिक निकट है। वस्तुत 'रामललानहछू' का वैज्ञानिक पाठ-निर्णय आवश्यक है।

रामाज्ञाप्रश्न——इस रचना की प्रतियाँ अनेक नामो से मिलती है, यथा——रामायण सगुनौती, सगुनावली, रामशलाका, रघुवरशलाका तथा सगुनमाला। इसकी एक पूर्ण प्रति स० १६५५ वि० (सन १२९८ ई०) की थी जिस पर तुलसीदास के हस्ताक्षर भी थे। यह प्रति प्रह्लाद घाट पर काशी मे एक पडित के पास थी जो पीछे गुम हो गई। पजाव की खोज में इसी प्रकार की एक अन्य प्रति का पता लगा है। उसे भलीभाँति देखने की आवश्यकता है।

'रामाज्ञाप्रश्न' की समस्त प्रतियाँ पाठ के विषय में परस्पर अभिन्न है। रचना सात सर्गों मे विभक्त है और प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक और प्रत्येक सप्तक मे सात दोहे है, इस प्रकार कुल ७×७×७=३४३ दोहे इस रचना में है। इसमें पूरी रामकथा कही गई है, किंतु विशेषता यह है कि प्रत्येक दोहा किसी मानसिक प्रश्न के सबध में शुभ या अशुभ परिणाम की सूचना देता है। इसमे प्रथम तीन सर्गों मे राम-जन्म से लेकर सपाती-वानरयूथ मिलन तक की कथा देने के अनन्तर चौथे सर्ग में पुन राम-जन्म से कथा प्रारभ की गई है, जो छठे सर्ग में समाप्त हुई है। छ` सर्ग में सीता-अवनि-प्रवेश तक की अनेक कथाएँ है, जो 'रामचरितमानस' में नही है। कवि ने इस रचना का समय भी दिया है——

समय सत्य ससि[1] नयन[2] गुन,[3] अवधि अधिक नय वान[1]।
होई सुफल सुभ जासु जस, प्रीति प्रतीति प्रवान।।

यह सवत १६२१ वि० (सन १५६४ ई०) है। इस रचना की तिथि ज्ञात होने से कवि की अनेक रचनाओ के समय-निर्धारण में यथेष्ट सहायता मिलती है।

जानकीमगल——इस रचना के भी दो पाठ प्राप्त हुए है। एक वह है जो नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है और दूसरा एक अन्य जिसकी एकमात्र प्रति पटुवा डाँगर, नैनीताल के डा० भवानीशकर याज्ञिक के पास है। दोनो पाठ एक दूसरे से नितात भिन्न है। यदि साम्य है तो

विषय के बारे में ही—दोनो में सीता-राम-विवाह का वर्णन किया गया है। ऐसा कोई भी अश नही है जो दोनो में समान हो। किंतु 'सभा' का पाठ कथा और शब्दावली की दृष्टियो से 'रामचरितमानस' के अधिक निकट है, इसलिए वह अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है। फिर भी इस रचना का वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण आवश्यक है।

'सभा' के पाठ की एक प्रति अयोध्या में है, जिसके प्रारम्भ में सिरे पर सवत १६३२ वि० (सन १५७४ ई०) दिया हुआ है। किंतु वह प्रतिलिपिकार से भिन्न व्यक्ति की लिखावट में है, इसलिए विश्वसनीय नही है।

रामचरितमानस—इस रचना की समस्त प्रतियो में प्राय एक-सा पाठ मिलता है—केवल प्रक्षिप्ताशो के कारण उनमें परस्पर अतर हो गया है। किंतु इन प्रतियो के सूक्ष्म अध्ययन से पता लगा है कि तुलसीदास अपनी इस रचना में सशोधन प्राय करते ही रहे थे, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न समयो पर मूल प्रति से की गई प्रतिलिपियो में पाठ के चार स्तर मिलते हैं।

'मानस' की सब से प्राचीन प्रति अयोध्या की है, जिस पर यद्यपि स० १६६१ वि० (सन १५०४ ई०)की तिथि दी हुई है, किंतु जो वास्तव में स० १६९१ वि० (सन १६३४ ई०)की है, और केवल बालकाड की है। अन्य महत्वपूर्ण प्रतियाँ स० १७०४ वि० (सन १६४७ ई०),१७२१ (सन १६६४ ई०), १७६२ (सन १७०५ ई०) की है, जो काशी में है। राजापुर, जिला बाँदा की 'अयोध्याकाड' की प्रति स्वत तुलसीदासजी के हाथ की लिखी कही जाती है। किंतु प्रति के अत में पुष्पिका का सर्वथा अभाव है, और पाठ में इस प्रकार की अशुद्धियाँ है कि उक्त प्रति कवि-लिखित नही हो सकती।

'रामचरितमानस' का विषय राम का पावन चरित्र है। यह कवि के समस्त अध्ययन और जीवन-दर्शन का प्रौढतम रूप प्रस्तुत करता है और अपने अनेकानेक गुणो के कारण इतना लोकप्रिय हुआ है कि ससार का कोई भी ग्रन्थ कभी भी कदाचित ही इतना लोकप्रिय हुआ होगा।

कवि ने इसकी रचना-तिथि स्वत दी है—

सवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा॥

किंतु तिथि का जो विस्तार उसने दिया है, गणना करने पर उसमें एक दिन का अतर पडता है। जिन पक्तियो में यह तिथि-विस्तार दिया गया है, वे स्पष्टतया कवि द्वारा कुछ पीछे बढाई गई हैं। असभव नही कि उस समय दिन के स्मरण करने में कवि से भूल हो गई हो।

पार्वतीमंगल—इसकी प्रतियाँ भी एक ही पाठ की मिलती हैं। विषय है शिव-पार्वती-विवाह, जो 'मानस' के शिव-पार्वती-विवाह से किंचित भिन्न है। इसका मुख्याधार कालिदास का 'कुमारसभव' है, जब कि 'मानस' के शिव-पार्वती-विवाह की कथा का मुख्याधार 'शिवपुराण' है।

कवि ने स्वत रचना की तिथि दी है—

जय सवत फागुन सुदि, पाँचै गुरु दिन।
अस्विनि विरचेउँ मगल सुनि, सुख छिनु छिनु॥

यह तिथि सं० १६४३ वि० (सन १५८६ ई०) फाल्गुन, मगल शुक्ल पचमी, गुरुवार है।

गीतावली—'गीतावली' के दो पाठ उसकी प्रतियो में मिलते हैं—एक पाठ का नाम

'पदावलीरामायण' है, और दूसरे का 'गीतावली'। 'पदावलीरामायण' की केवल एक प्रति प्राप्य है और वह सब से प्राचीन और महत्वपूर्ण प्रति है। यद्यपि उसका अतिम पत्र नष्ट हो जाने से उसकी पुष्पिका प्राप्त नही है, किंतु वह स० १६६६ वि० (सन १६०९ ई०) की 'विनयपत्रिका' की एक प्रति के साथ की है और पाठ की दृष्टि से उसी के समकक्ष है, इसलिए वह भी स० १६६६ वि० (सन १६०९ ई०) के लगभग की है। कवि के जीवन-काल की होने के कारण यह तुलसी-ग्रन्थावली की सब से महत्वपूर्ण प्रतियो में से है। किंतु दुःख का विषय यह है कि यह प्रति बुरी तरह से खडित है। 'सुदर' और 'उत्तर' काडो के अतिरिक्त—और वे भी सपूर्ण नही हैं—और कोई काड उसमें शेष नही है। किंतु जितना अश हमें प्राप्त है उससे हमें 'पदावलीरामायण' के पाठ के विषय में यह ज्ञात होता है कि वह 'गीतावली' से पूर्व का था और आकार-प्रकार में 'गीतावली' पाठ से किंचित भिन्न था। जितना अश हमें प्राप्त है, उतने मे 'पदावलीरामायण' में 'गीतावली' की तुलना में कुछ कम पद है और वे भी किंचित भिन्न क्रम में सग्रहीत हैं। 'गीतावली' पाठ की समस्त प्रतियाँ आकार-प्रकार में एक है।

'गीतावली' में रामकथा सबधी पदावली है। यह पदावली काड-क्रम से सकलित है। कुल पद-सख्या ३२८ है। 'गीतावली' के गीतो में कथा की पुनरावृत्तियाँ भी प्राय मिलती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि गीतो की रचना किसी क्रम से नही हुई। इस पदावली की रचना कदाचित महात्मा सूरदास के 'सूरसागर' के अनुकरण पर हुई। इसके कुछ पद तो थोडे अतर के साथ 'सूरसागर' में पाए भी जाते हैं। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि किस रचना में यह किससे आए, किंतु 'गीतावली' पाठ की समस्त प्रतियो मे उनके पाए जाने से, जब तक यह न हो कि 'सूरसागर' की समस्त प्रतियो में भी वे समान रूप से पाए जाते है, यह मानना पडेगा कि वे मूलत तुलसीदास के हैं, कारण यह है कि 'सूरसागर' की पाठ-परपरा के मूल में कवि-लिखित पाठ नही था।

'गीतावली' के पद गीति कला की दृष्टि से निस्सदेह सफल हैं, किंतु उतने सफल नही जितने 'विनयपत्रिका' के हैं—कारण मुख्यत कदाचित यह है कि कथा के प्रमुख पात्रो में यहाँ भी उसी सयम, मर्यादावाद और विवेकवाद की प्रधानता है जो 'मानस' में दिखाई पडती है, और गीतिकाव्य की सफलता में ये बाधक हुए हैं।

विनयपत्रिका—'गीतावली' की भाँति ही 'विनयपत्रिका' के भी दो पाठ उसकी प्रतियो में प्राप्त हैं—एक 'रामगीतावली' और दूसरा 'विनयपत्रिका'। 'रामगीतावली' पाठ की केवल एक प्रति प्राप्त है और वह कवि की रचनाओ की जितनी भी प्रतियाँ हमें इस समय प्राप्त हैं, उन सब में सब से अधिक महत्वपूर्ण है। कारण यह है कि न केवल वह अपने पाठ की एक मात्र प्रति है, वह स० १६६६ वि० (सन १६०९ ई०) की—कवि के जीवन-काल की—है और पाठ की दृष्टि से अत्यत शुद्ध प्रति है। यह प्रति भी खडित है, जिसके कारण इसके गीतो के सबध में हमें कुछ भी ज्ञात नही है। किंतु अतिम पन्ना शेष है जिससे उसके आकार-प्रकार के विषय में बहुत-कुछ ज्ञात हो जाता है। 'रामगीतावली' पाठ में १७५ पदो पर ग्रथ की समाप्ति होती है जब कि 'विनयपत्रिका' पाठ में २७९ पर और 'रामगीतावली' पाठ के पाँच गीत 'विनयपत्रिका' पाठ में नही है, वे 'गीतावली' पाठ में मिलते हैं—उसके 'पदावलीरामायण' पाठ में वे नही हैं, यही

ध्यान देने योग्य है। गीतो के सग्रह-क्रम में भी किंचित अतर है और सब से बडा अतर यह है कि 'रामगीतावली' के पदो में 'विनयपत्रिका' प्रस्तुत करने और राम के मुसाहिबो से उसके लिए समर्थन प्राप्त करके उसकी स्वीकृति कराने की कल्पना नही है । विभिन्न पदो में पाठ-सबधी अतर भी कुछ हैं, यद्यपि अधिक नही ।

'विनयपत्रिका' तुलसीदास की दूसरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है। तुलसीदास की भावनाओ का जितना सहज रूप हमें उनकी इस रचना में मिलता है, किसी अन्य रचना में नही मिलता। 'मानस' यदि उनकी साधना का आदर्श प्रस्तुत करता है, तो 'विनयपत्रिका' उन आदर्शों की अपने जीवन में साधना। अन्यथा भी 'विनयपत्रिका' का महत्व उल्लेखनीय है। हिंदी के ही नही, कदाचित ससार के सर्वश्रेष्ठ आत्मनिवेदनात्मक साहित्य में 'विनयपत्रिका' के अनेक गीतो की गणना होगी ।

कृष्णगीतावली—'कृष्णगीतावली' की समस्त प्राप्त प्रतियाँ एक ही पाठ देती है। इसमें कुल केवल ६१ पद हैं, जो कृष्ण-चरित्र सबधी हैं। 'गीतावली' की अपेक्षा तुलसीदास को यहाँ गीति-काव्य के अधिक अनुकूल क्षेत्र मिला था, इसलिए आकार में इसके कम होते हुए भी परिमाण में गीतितत्व इस रचना में 'गीतावली' की तुलना में कदाचित ही कम होगा। इस पदावली की भी रचना तुलसीदास ने कदाचित 'सूरसागर' के अनुकरण पर की थी और 'गीतावली' की भाँति इसके भी कुछ पद 'सूरसागर' में पाए जाते हैं। किंतु इस रचना पर तुलसीदास के व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट है। यद्यपि कृष्ण का सपूर्ण चरित्र प्राय इस रचना में आ गया है, किंतु उसमें मर्यादा का वह अतिक्रमण नही है, जो प्राय अन्य सभी कृष्ण-भक्तो की रचनाओ में पाया जाता है।

बरवै—'बरवै' के भी दो पाठ प्राप्त हुए है। एक पाठ तो वह जो मुद्रित प्रतियो में मिलता है और एक दूसरा स० १७९७ वि० (सन १७४० ई०) की प्रति में मिलता है। इसमें मुद्रित पाठ के प्रथम बयालीस बरवै जो 'बाल' से लेकर 'लका' काडो के हैं और अतिम ग्यारह बरवै, जो 'उत्तर-काड' के है, नही मिलते, केवल 'उत्तरकाड' के प्रथम सोलह बरवै मिलते है और इनके पूर्व ऐसे पच्चीस बरवै और आते हैं जो मुद्रित पाठ में नही मिलते। इनमें से कुछ रामकथा के और कुछ राम-भक्ति के हैं। फलत इस ग्रथ के भी पाठ की समस्या लगभग वैसी ही है जैसी ऊपर हमने 'रामललानहछू' के पाठ की देखी है और इस रचना का भी वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण आवश्यक है। 'बाल' से लेकर 'लकाकाड' तक आए हुए मुद्रित पाठ के अनेक बरवै के सबध में उस मर्यादावाद की शिथिलता का अनुभव पाठक को होता है जो 'रामलालानहछू' के अतिरिक्त अन्यत्र कवि की रचनाओ में नही पाई जाती। मुद्रित पाठ के इस प्रकार सन्देहपूर्ण होने की अवस्था में पाठ-निर्धारण और भी आवश्यक हो जाता है। रचना छोटी होने पर भी कलापूर्ण है।

दोहावली—'दोहावली' की अनेक प्रतियाँ मिलती हैं, किंतु इन सभी में छद-सख्या में परस्पर बहुत भेद है, उदाहरणार्थ, मुद्रित प्रति में ५७३ दोहे है तो एक अत्यत प्राचीन प्रति में केवल ४७८ दोहे है और इन ४७८ में से भी ६ ऐसे हैं जो मुद्रित पाठ में नही हैं। ऐसी दशा में इस रचना का भी वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण आवश्यक प्रतीत होता है।

'दोहावली' तुलसीदास के दोहो का सकलन-ग्रथ है। इसमें उनकी अन्य रचनाओ—यथा 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'मानस'—के भी अनेक दोहे मिलते हैं, यद्यपि अनेक दोहे ऐसे भी हैं जो केवल

'दोहावली' में ही मिलते है। 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'मानस' से लिए हुए दोहे कभी कभी विशिष्ट प्रसगो के है और स्वतत्र रूप से स्फुट काव्य के लिए उपयुक्त नही है। इसलिए इस बात में सन्देह प्रतीत होता है कि वे तुलसीदास द्वारा इस सकलन में सकलित हुए है। शेष दोहे प्राय भक्ति, नीति, वैराग्य तथा आत्मचरित विषयक है। वे निस्सदेह भावपूर्ण और सुन्दर है। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसीदास के स्फुट दोहो का भी सग्रह था, उसमे किसी व्यक्ति ने उनके प्रबन्ध ग्रथो से भी कुछ दोहे चुनकर रख लिए। आशा है कि वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण से इस समस्या पर यथेष्ट प्रकाश पडेगा, अन्यथा 'दोहावली' तुलसीदासजी की सफल कृतियो में से है। चातक की एकनिष्ठा के चौंतीस दोहे तथा कुछ अन्य अश निस्सदेह कला की दृष्टि से सुदर है।

कवितावली (सबाहुक)—इसके भी मुख्यत दो पाठ अभी तक मिले है। एक वह जो मुद्रित है, दूसरा स० १८२० वि० (सन १७६३ ई०) की एक प्रति में मिलता है। अतर दोनो मे यह है कि स० १६२० वि० (सन १५६३ ई०) की प्रति के पाठ मे छद-सख्या कम है और छद-क्रम भी किंचित भिन्न है। यह अतर 'कवितावली' और 'हनुमानबाहुक' के अतिम अशो में है, जिनमें कवि के आत्मचरित सबधी अनेक छद आते है। छूटे हुए प्रसगो मे सब से प्रमुख महामारी, बाँह के अतिरिक्त शरीर के अन्य अगो की पीडा, बरतोड के फोडे तथा प्रयाण समय के प्रसग है। अन्य साक्ष्यो से भी यह प्रमाणित है कि ये प्रसग कवि के जीवन के अतिम अश के है, जिससे ज्ञात यह होता है कि मुद्रित पाठ कदाचित कवि के जीवन-काल के बाद का है और स० १८२० वि० (सन १७६३ ई०) की प्रति का पाठ जीवन-काल का। कवि के जीवन-वृत्त के लिए 'कवितावली' से अधिक अनिवार्य कोई दूसरी रचना नही है, इसलिए इसके भी वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण की आवश्यकता प्रकट है।

कला की दृष्टि से 'कवितावली' का स्थान तुलसीदास की रचनाओ में प्राय 'गीतावली' के समकक्ष ही है। 'कवितावली' के प्रारभिक छद अपनी मधुर शैली के लिए अत्यत प्रसिद्ध है, और अतिम छद आत्म-व्यजना की प्रभावपूर्णता के लिए और उनकी यह सर्वप्रियता उचित भी है।

तुलसीदास की कला

ऊपर हम देख चुके है कि हिन्दी राम-भक्त कवियो के सामने एक अत्यत सपन्न राम-साहित्य सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश में था। तुलसीदास ने 'अध्यात्मरामायण' को आधार मानते हुए कुछ पुराणो तथा नाटको से भी 'रामचरितमानस' की रचना में यथेष्ट सहायता ली। उनकी अन्य रचनाओ में वाल्मीकीय 'रामायण' का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक दिखाई पडता है। इस विषय मे मौलिकता का उन्होने कोई दावा नही किया है, प्रत्युत उन्होने लिखा है कि उपर्युक्त समस्त ग्रथो के प्रमाण पर उन्होने अपना काव्य प्रस्तुत किया है—

नानापुराण-निगमागम-सम्मत यद्
रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषानिबद्धमतिमजुलमातनोति ॥

अत प्रश्न यह है कि तुलसीदास की विशेषता किस वात मे है। वे ससार के गिने-चुने कलाकारो में माने जाते है। उनकी कला किस बात में है ? क्या वे इसलिए महान है कि उन्होने अपने समय में प्रचलित अनेक शैलियो में सफलतापूर्वक रचनाएँ प्रस्तुत की अथवा इसलिए कि उनका प्रकृति-चित्रण, अलकार-विघान, उक्ति-प्रयोग और भापा पर अविकार अपूर्व था ? अथवा, इसलिए कि उनके समय में 'पाश्चात्य रहस्यवाद'—सूफी साघना आदि से प्रभावित जो अनेक साघना-सप्रदाय इस देश में चल पडे थे, जिनमें इस देश के प्राचीन वर्मग्रथो और धर्मशास्त्रो के आवार पर निर्मित वर्णाश्रम धर्म की उपेक्षा और इस कारण सामाजिक अव्यवस्था के वीज सन्निहित थे, सफल निराकरण करके उन्होने लोकधर्म की प्रतिष्ठा की ? तुलसीदास का यह महत्वाकन काव्य, रीति और धर्म विपयक सकुचित घारणाओ का परिणाम है। अपनी इन्ही या इसी प्रकार की विशेषताओ के कारण तुलसीदास महान कलाकारो में अपनी गणना नही करा सकते।

कला की उपयोगिता इस वात में है कि वह मानवता को ऊँचा उठा सके। मानव में सब प्राणिमात्र के समान पशुता है, किंतु वह निरा पशु नही है, उसमें कुछ ऐसी विशेपता भी है जिसके कारण वह पशुमात्र से भिन्न भी है और इसी के आवार पर देवत्व की कल्पना हुई है। वहुतेरे तथाकथित कलाकार मानव की पशुता का चित्रण करने में अपनी प्रतिभा का उपयोग करते है और मानवता को पशुता की ओर ढकेलने का प्रयास-सा करते है। दूसरे कलाकार मानव-प्रवृत्ति के दूसरे पक्ष पर वल देते है और अपनी प्रतिभा का प्रयोग मानवता को देवत्व की ओर ले चलने में करते है। वास्तव में इन्ही को कलाकार कहना चाहिए। पहले प्रकार के कलाकारो को विस्मृति के गर्त में जाते अधिक समय नही लगता, किंतु दूसरे प्रकार के कलाकारो को मानवता शीघ्र भुला नही सकती।

तुलसीदास इन्ही दूसरे प्रकार के कलाकारो में अग्रगण्य है। यह नही कि कला का प्रथम पक्ष—अभिव्यक्ति पक्ष—तुलसीदास में हीन हो, प्रत्युत वह अत्यत सवल है—इतनी सशक्त अभिव्यक्ति कम ही मिलेगी। उनका शब्द-चयन, उनका भावानुवव, उनका कथा-प्रवव, उनका छद-विघान, उनकी उक्ति-योजना, उनका अलकार-प्रयोग, उनका चरित्र-चित्रण, उनकी भापा शैली, सभी सुरुचिपूर्ण है और सभी में उनकी अपनी छाप दिखाई पडती है। किंतु ये विशेपताएं प्रत्येक देश के प्रथम श्रेणी के कवियो में दिखाई पडेंगी जिनका कुछ भी समृद्ध साहित्यिक इतिहास है। अपने ही देश में यदि सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश साहित्य को लिया जाय तो एक वडी सख्या ऐसे कवियो की मिलेगी जिनमें ये सारी या इनमें से अधिकतर विशेपताएँ पाई जाती है। इसलिए इनके आवार पर तुलसीदास को अन्य कलाकारो की अपेक्षा विशेप सम्मान देना इनके प्रति अन्याय होगा।

तुलसीदास की विशेपता इस वात में है कि सत्य, अहिसा, वैर्य, क्षमा, अनासक्ति, इद्रिय-निग्रह, शुचिता, निष्कपटता, त्याग, निर्वैरता, उदारता आदि अपने जिन दिव्य गुणो के कारण मानवता पशुता से पृथक है, उनका जैसा समाहार तुलसीदास ने राम, भरत, कौशल्या, जनक और जानकी आदि अपनी कथा के अनेक पात्रो में किया है, वैसा अन्यत्र नही मिल सकता। रामकथा भारतीय सस्कृति के प्रभात काल से मानवता के इस दिव्य रूप की खोज का एक

इतिहास प्रस्तुत करती है, तुलसीदास ने उस साधना के इतिहास में अपने असाधारण योगदान से अपने लिए एक अमिट स्थान निर्मित कर लिया है। अत तुलसीदास और उनके द्वारा हिंदी की राम-भक्ति-धारा ने इस प्रकार का जो योग प्रदान किया है, उसी को समझना पर्याप्त होगा।

हम ऊपर देख चुके हैं कि वाल्मीकि से लेकर 'अध्यात्मरामायण' तक निरतर रामकथा का विकास होता रहा है। फिर भी कथा के पात्रो में कुछ तत्व ऐसे चले आ रहे थे—और वे भी कथा के सतोगुण-सपन्न पात्रो में—जो रामकथा की उस सात्विक चरित्र-धारा में उत्कट रूप से विषम प्रतीत हो रहे थे। तुलसीदास ने इन तत्वो को दूर करके उक्त चरित्र-धारा को समता प्रदान की। उदाहरण के लिए, उन पात्रो में अनावश्यक रूप से जहाँ-तहाँ जो आवेश, अविचार और अधीरता के स्थल थे, उनको तुलसीदास ने सुधारने की चेष्टा की। इस सवध में नीचे कुछ उदाहरण 'अध्यात्मरामायण' से दिए जा रहे हैं—वाल्मीकीय 'रामायण' तथा अन्य कृतियो में भी इस विषय में अधिक अतर नही है।

कौशल्या राम को भय दिखाती है कि यदि वे उनकी आज्ञा का उल्लघन कर वन चले जाएँगे तो वे अपने जीवन का अत कर लेंगी (२ ४, १२-१३)। लक्ष्मण (२ ४, ५१-५२), सीता (२. ४, ७८) और निषाद (२ ६, २४) राम से कहते हैं कि यदि वे उन्हे अपने साथ वन को नही ले जाएँगे, तो वे अपने जीवन का अत कर डालेंगे। अयोध्या का राज्य ग्रहण करने के लिए कैकेयी के कथन पर भरत कहते हैं कि वे अग्नि-प्रवेश, विष-भक्षण अथवा खड्ग द्वारा आत्मघात कर के यमलोक चले जाएँगे (२ ७, ८०-८१)। चित्रकूट में भरत राम से कहते हैं कि वे अन्न-जल छोड कर प्राण-त्याग कर देंगे, यदि राम उन्हे अपने साथ रहने की आज्ञा न देंगे और इतना ही नही, वे इसके अनन्तर उसके लिए पूर्व की ओर मुख करके धूप में बैठ भी जाते हैं (२ ९, ४०)। पुन चित्रकूट से लौटते समय वे राम से कहते हैं कि यदि अवधि के समाप्त होते ही राम अयोध्या नही लौटेंगे तो वे आत्मघात कर लेंगे (२ ९, ५३)। स्वर्णमृग के पीछे गए हुए राम को विपत्ति में मान कर सीता लक्ष्मण से कहती हैं कि वे आत्मघात कर लेंगी, यदि लक्ष्मण राम की सहायता के लिए तुरत प्रस्थान नही करेंगे (३ ७, ३२-३३)। तुलसीदास ने रामकथा के सात्विक पात्रो को इस आवेशवाद से मुक्त किया है।

इसके अतिरिक्त कथा के मुख्य पात्रो को अलग-अलग भी अपनी भावनाओ की उदात्तता प्रदान की है और उन्हें अधिक उदात्त बनाया है। इस प्रसग में केवल राम, भरत और कौशल्या के चरित्रो पर विचार कर लेना पर्याप्त होगा।

राम—वाल्मीकीय 'रामायण' से 'अध्यात्मरामायण' तक की यात्रा में राम का चरित्र बहुत कुछ परिष्कृत हो चुका था। उदाहरण के लिए वाल्मीकीय 'रामायण' में कौशल्या से विदा लेने के लिए गए हुए राम उनसे कहते हैं "देवि, आप जानती नही है, आपके लिए, सीता के लिए और लक्ष्मण के लिए वडा भय उपस्थित हुआ है। इससे आप लोग दुखी होगे। अब मैं दडकारण्य जा रहा हूँ—महाराज युवराज का पद भरत को देते हैं" (२ २०, २५-३०)। पुन सीता से विदा लेने के लिए जाने पर राम उनसे कहते हैं "तुम भरत के सामने मेरी प्रशसा मत करना, क्योकि समृद्धिवान लोग दूसरो की स्तुति नही सह सकते। भरत के आने पर उनके सामने तुम मुझे श्रेष्ठ न वतलाना, ऐसा करना भरत का प्रतिकूलाचरण कहा जाएगा,

और अनुकूल रहकर ही भरत के पास रहना सभव हो सकता है (२ २६, २६-२९)।" सीता-हरण के अनतर व्यथित राम लक्ष्मण से पूछते है, "लक्ष्मण, सीता के वियोग में मेरे मरने और तुम्हारे अकेले अयोध्या लौटने पर क्या कैकेयी अपने मनोरथो के पूर्ण होने पर सुखी होगी ?" (३. ५८, ७) किंतु 'अध्यात्मरामायण' में भरत और कैकेयी के सबध में ऐसे स्थल नही रह गए थे।

तुलसीदास ने 'अध्यात्मरामायण' के इसी परिष्कृत रूप को लिया और उसे और भी ऊँचा उठाने का प्रयास किया। इस प्रसग में ऊपर की भूमिका में केवल अयोध्या के राज्य, भरत तथा कैकेयी के विषय की राम की भावनाओ और चेष्टाओ का 'मानस' में उल्लेख पर्याप्त होगा। युवराज-पद पर अभिषेक के विषय में राम की प्रतिक्रिया देखिए—

गुरु सिख देइ राउ पहँ गयऊ। राम हृदय अस विसमय भयऊ।
जनमे एक सग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।
करनबेध उपवीत बिवाहा। सग सग सब भएउ उछाहा।
बिमल बस यह अनुचित एकू। बधु बिहाइ बडेहि अभिषेकू।

भरत की प्रशसा में चित्रकूट में वशिष्ठ से कहे गए निम्नलिखित वाक्य देखिए—

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भएउ न भुवन भरत सम भाई।
जे गुरु पद अबुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड भागी।
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू।
लखि लघु बधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बडाई।

और चित्रकूट में राम का अपनी माता को छोडकर पहिले कैकेयी के पैरो में पडना और उनके सारे कुकृत्यो के लिए काल, कर्म और विधि को दोषी ठहराना देखिए—

देखी राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी।
प्रथम राम भेंटी कैकेयी। सरल सुभाय भगति मति भेई।
पा परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।

राम के सबध में इतना पर्याप्त होगा।

भरत—यदि आधार ग्रन्थों में कोई ऐसा चरित्र है जो सर्वथा उज्ज्वल है, तो वह भरत का चरित्र है। राम का शूर्पणखा को कुरूप करना और छिप कर वालि-वध करना शुद्ध नैतिक दृष्टि से अनुमोदनीय नही माने जा सकते। मारीच की बनावटी कातर ध्वनि सुनने पर राम की सहायता के लिए लक्ष्मण को भेजते समय सीता के मुख से उनके प्रति निकले हुए अपमानपूर्ण शब्द भी समर्थनीय नही कहे जा सकते। लक्ष्मण में तो आदि से अत तक आवेश और अविचार-प्रमुखता है। मृत्यु-शय्या पर पडे हुए दशरथ के प्रति कौशल्या ने जो व्यग्य किए है, वे उनके महान चरित्र को बहुत छोटा बना देते है। भरत के चरित्र के विषय में आधार ग्रन्थो में इस प्रकार की कोई त्रुटियाँ नही दिखाई पडती। तुलसीदास भरत के इस उज्ज्वल चरित्र को उज्ज्वलतर बना कर उन्हे इतना ऊँचा उठाते है कि वे राम से भी अधिक सराहनीय हो जाते है—

लखन राम सिय कानन वसही। भरत भवन वसि तपि तनु कसही।
दोउ दिसि समुझि करत सब लोगू। सब विधि भरत सराहन जोगू।

तुलसीदास ने जिस प्रकार राम में समता—समत्व-बुद्धि—का चरमोत्कर्ष उपस्थित किया है, उसी प्रकार भरत में उन्होने प्रेम और भक्ति की पराकाष्ठा प्रस्तुत की है—

भरत अवधि सनेह ममता की।
जद्यपि राम सीं समता की।

'मानस' के 'अयोध्याकाड' का उत्तरार्द्ध इसी प्रेमी की प्रेम-गाथा है। राम-भक्ति की सुधा को तुलसीदास ने इन्ही भरत के द्वारा वसुधा के लिए सुलभ कर दिया है—

राम भरत अब अमिय अघाहू।
कीन्हिहु सुलभ सुधा वसुधाहू।

उन्होने भरत के चरित्र-सिन्धु से प्रेमामृत को प्रकट किया है—

पेम अमिअ मदर विरहु, भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित, कृपासिंधु रघुवीर।।

भरत के इस प्रेम को तुलसीदास ने विधि-हरि-हर के लिए भी कल्पनातीत वताया है—

अगम सनेह भरत रघुबर को।
जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को।।

और कहा है कि भरत की इस महत्ता को केवल राम जानते हैं, यद्यपि वे भी पर्याप्त रूप में उसका बखान नही कर सकते—

भरत अमित महिमा सुनु रानी।
जानहि रामु न सकहिं बखानी।।

कौशल्या—इसी प्रकार रामकथा के स्त्री पात्रो में तुलसीदास का सब से अधिक महत्वपूर्ण योग कौशल्या के विषय में है। पूर्ववर्ती सभी रामकथा-कृतियो में कौशल्या एक मानवी है, किंतु 'रामचरितमानस' में वे देवी हैं। वाल्मीकीय 'रामायण' से लेकर 'अध्यात्मरामायण' तक की कथा-यात्रा में राम तो मानव से देव बन गए थे, किंतु राम-माता जहाँ की तहाँ बनी हुई थी। उनको मानवी से देवी बनाने का श्रेय तुलसीदास को है। पूर्ववर्ती कौशल्या के साथ तुलसीदास की कौशल्या से तुलना करने पर तुलसीदास का योग स्पष्ट हो जाएगा।

'अध्यात्मरामायण' में राम से उनके निर्वासन का समाचार सुनकर कौशल्या कहती है, "हे राम, जिस प्रकार पिता तुम्हारे गु है, उसी प्रकार मैं भी तो उनसे अधिक तुम्हारी गुरु हूँ। यदि पिता ने तुमसे वन जाने के लिए कहा है, तो मैं तुम्हे रोकती हूँ। यदि तुम मेरी आज्ञा का उल्लघन कर वन चले जाओगे, तो मै अपने जीवन का अत कर यमपुर चली जाऊँगी।"

तुलसीदास ने इस स्थल पर कौशल्या के चरित्र में धर्म और स्नेह के बीच अन्तर्द्वन्द्व दिखाते हुए वडी योग्यतापूर्वक स्नेह पर धर्म की विजय अकित की है—

धरम सनेह उभय मति घेरी। भइ गति साँप छछुंदर केरी॥
वहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। राम भरत दोउ सुत समजानी॥
सरल सुभाउ राम महतारी। वोली वचन धीर धरि भारी॥
तात जाउँ वलि कीन्हेहु नीका। पितु आयेसु सव धरम क टीका॥

राजु देन कहि दीन्ह वनु, मोहिं न सो दुख लेसु।
तुम्ह विनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचड कलेसु।

जौं केवल पितु आयेसु ताता। तौ जनि जाहु जानि वड़ि माता।
जौं पितु मात कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।

तुलसीदास की कौशल्या मातृत्व के अपने अधिकारो का ध्यान करके दशरथ की आज्ञा का उल्लघन करने के लिए राम को भले ही कह सकती हो, किंतु राम पर कैकेयी का—निर्वासित करने वाली कैकेयी का—भी अपने ही समान अधिकार समझ कर उसकी आज्ञा को सहर्ष शिर पर धारण करना ही राम का कर्तव्य मानती हैं।

'अध्यात्मरामायण' में सुमत्र के प्रत्यागमन पर उनके मुख से राम, सीतादि के वन-गमन की गाथा सुन कर रोते हुए दशरथ से कौशल्या ने कहा है, "राजन, आपने यदि प्रसन्न होकर अपनी प्रिया कैकेयी को वर दिया, तो भले ही आपने उसी के पुत्र को राज्य दिया होता, किंतु मेरे पुत्र को निर्वासन क्यो दिया ?" इसका उत्तर देते हुए दशरथ ने ठीक ही कहा है, "मैं तो आप ही दु ख से मर रहा हूँ, फिर इस प्रकार मुझे और दु ख क्यो देती हो ? इससे क्या लाभ है ? इसमें सन्देह नही कि मेरे प्राण अभी निकलने वाले हैं।" और इसके अनतर दशरथ ने अव मुनि के शाप की कथा सुनाकर अपने प्राण त्याग कर दिए।

तुलसीदास की कौशल्या ने इस अवसर पर जो कुछ किया है, उसे देखिए—

कौसल्या नृप दीख मलाना। रविकुल रवि अयएउ जिय जाना॥
उर धरि धीर राम महतारी। वोली वचन समय अनुसारी॥
नाथ समुझि मन करिअ विचारू। राम वियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिउ त उतरिअ पारू। नाहिं त वूडिहि सव परिवारू॥
जौं जिय धरि अविनय पिय मोरी। राम लपनु सिय मिलहिं वहोरी॥

और दशरथ पर इन वचनो का जो प्रभाव हुआ है, उसे देखिए—

प्रिया वचन मृदु सुनत नृप, चितएउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु, सीचेउ सीतल वारि॥

दोनो में कितना विशाल अतर है।

'अध्यात्मरामायण' में यद्यपि गुरु ने भरत से राज्य ग्रहण करने के लिए आग्रह किया है, किंतु कौशल्या की ओर से इस प्रकार की किसी चेष्टा का उल्लेख नहीं है। तुलसीदास ने यहाँ कौशल्या से भी उक्त विषय में कहलाया है और कितनी योग्यतापूर्वक उन्होंने कौशल्या से यह कार्य कराया है—

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुरु आएसु अहई।।
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषाद कालगति जानी।।
बन रघुपति सुरपुर नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू।।
परिजन प्रजा सचिव सब अबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलवा।।
लाख बिधि बाम काल कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई।।
सिर धरि गुरु आयेसु अनुसरहू। प्रजा पालि पुरजन दुख हरहू।।

कौशल्या के इन वचनो में हृदय की कितनी विशालता प्रतिविबित हो रही है।

केवल एक और प्रसग अपेक्षित होगा। यह भी 'अध्यात्मरामायण' में नही है और यह तुलसीदास की उद्भावना का परिणाम है। चित्रकूट में तुलसीदास जनक और जनक-भार्या का आगमन भी दिखाते है और जनक-भार्या और राम-माता की भेंट कराते है। इस अवसर पर जब जनक-भार्या राम के निर्वासन और उसके परिणामस्वरूप दशरथ के स्वर्ग-प्रयाण की चर्चा चलाती है, कौशल्या कैसे विवेक और महानता के साथ अपनी भावनाएँ उक्त सारे प्रसगो के विषय में प्रकट करती है—

कौसल्या कह दोष न काहू। करम बिबस सुख दुख छति लाहू।।
के बिमोह बस सोचिय बादी। बिधि प्रपच अस अचल अनादी।।
भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिय सखि लखि निज हित हानी।।

कौशल्या के इसी चरित्र को देखकर यह विश्वास हो सकता है कि स्वत: भगवान ने उनके गर्भ से अवतार ग्रहण किया था। राम-माता का ऐसा चरित्र और चित्र उपस्थित करना मानो 'रामचरितमानस' के अमर कलाकार के लिए ही छोड दिया गया था।

जनक, सीता, हनुमान, अगद, बिभीषण आदि अन्य सात्विक चरित्रो के सबध में भी तुलसीदास ने इसी प्रकार विशेषता उपस्थित की है। निस्सदेह तुलसीदास का यह योगदान असाधारण है।

एक बार पुन उसी बात को कहने की आवश्यकता है जो ऊपर कही जा चुकी है। तुलसीदास एक पूर्ण कलाकार है, उनमें अनेकानेक गुण हैं—कला का अभिव्यक्ति पक्ष उनका अत्यत सबल है और इसी प्रकार उसका अनुभूति-पक्ष भी अत्यत सशक्त है। किंतु वे महान कलाकार अपने अभिव्यक्ति पक्ष के कारण नही हैं—उसके नाते वे एक कुशल कलाकार अवश्य है। महान कलाकार वे अपने उस अनुभूति पक्ष के कारण ही है, जिसके द्वारा उन्होने मानवता का वह उदात्त रूप प्रस्तुत किया है जिसकी खोज में वह उनके पूर्व एक दीर्घ काल से लगी हुई थी और इसीलिए वह शीघ्र उन्हे भुला भी न सकेगी।

तुलसीदास का तत्वदर्शन

कुछ लोग तुलसीदास को अद्वैतवादी और कुछ उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते है। कुछ कहते हैं कि उन्होने इन दोनो का समन्वय किया था और कुछ कहते हैं कि दोनो के परस्पर विरोधी सिद्धान्त भी उनकी रचनाओ में पाए जाते हैं। कुछ यह भी कहते है कि उनके आध्यात्मिक विचार

उनके अपने है और इसलिए उनके सिद्धान्तो को तुलसी-मत या तुलसी-दर्शन नाम देना चाहिए। किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी विचार ग्राह्य नही है और सभी भ्रमात्मक है। इस भ्रम का कारण यह है कि तुलसीदास के पूर्व राम-भक्ति धारा का दर्शन क्या था, इसे जानने और समझने की यथेष्ट चेष्टा नही हुई है।

वास्तविकता यह है कि तुलसीदास ने जिस प्रकार अपनी रामकथा का निर्माण पूर्ववर्ती रामकथा के उस अन्तिम रूप की नीव पर किया था जो 'अध्यात्मरामायण' में मिलती है, उसी प्रकार उन्होने अपने राम-भक्ति-दर्शन का निर्माण भी राम-भक्ति-दर्शन के उस अतिम रूप की नीव पर किया था जो 'अध्यात्मरामायण' में मिलता है।

राम परमात्मा है, वे ही निर्गुण और सगुण ब्रह्म है, वे अपनी माया का आश्रय लेकर अवतार धारण करते है, मायाश्रित राम के सगुण रूप की लीलाओ को देखकर ज्ञानी भी भ्रम में पड जाते हैं और उस भ्रम से प्रेरित होकर राम में कर्मों का आरोप करने लगते है और इस प्रकार केवल अपने ही भ्रम या अज्ञान का आरोप राम पर करते है। अपनी माया के द्वारा ही राम सृष्टि की रचना, पालन और सहार करते है।

राम विष्णु भी हैं, विष्णु ने राम के रूप में अवतार धारण किया है।

लक्ष्मण शेष है, वे विश्व के कारण—उपादान कारण—है, वे समस्त जगत के आधार है।

सीता मल प्रकृति, योगमाया और परम शक्ति है। समस्त जगत राम और सीता से व्याप्त है।

सीता लक्ष्मी भी हैं, लक्ष्मी ने ही सीता के रूप में अवतार धारण किया है।

माया त्रिगुणात्मिका है। वही मूल प्रकृति है। अखिल विश्व, एव ब्रह्मादि देवासुर भी इसके वशवर्ती है। माया स्वत जड है तथा राम के आश्रय से ही क्रियाशील होती है। यह माया राम के अधीन है।

माया का एक और रूप भी है, वह है उसका अविद्या रूप जो जीव को भव-चक्र में डालने वाला और समस्त दु खो का कारण है।

जीव ईश्वर का अश है और इसलिए वह भी सच्चिदानद है। ईश्वर के, माया के और अपने स्वरूप को न जानने के कारण ही उसको जीव कहा जाता है। वह पचभौतिक शरीर से भिन्न है और नित्य है। किंतु उसमे ज्ञान के साथ अज्ञान और हर्ष के साथ विषाद आदि है, इसलिए वह द्वन्द्वधर्मी है। फलत ईश्वर जब कि मायाधीश है, जीव माया के वशवर्ती है। इसी कारण वह अपने को कर्मों का कर्ता-भोक्ता समझता है और उन कर्मों से उत्पन्न गतियो का अधिकारी बनने के कारण ससार-चक्र में पड जाता है।

इस भव से मुक्ति कर्म-मार्ग द्वारा नहीं होती, क्योकि समस्त अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार अच्छी-बुरी गतियाँ जीव को प्राप्त होती है और उसे भव-चक्र मे बना रहना पडता है।

ज्ञान मोक्षप्रद अवश्य है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते ही जीव ईश्वर हो जाता है।

भव से मुक्ति के लिए भक्ति अमोघ साधन है। राम-भक्ति से मुक्ति स्वत प्राप्त हो जाती है। भक्ति से विमुख प्राणियो के लिए मुक्ति अत्यत दुर्लभ है।

राम-भक्ति से अत करण में अविद्या के स्थान पर विद्या का प्रादुर्भाव होता है, जिसके कारण दास का नाश नही होता।

सत-समागम प्रथम प्रकार की भक्ति है, कथा में अनुराग दूसरे प्रकार की भक्ति है, गुरु-सेवा तीसरे प्रकार की भक्ति है, निष्कपट भाव से हरिगुण-गान चौथे प्रकार की भक्ति है, मत्र-जप पाँचवे प्रकार की, इद्रिय-दमन और परोपकार-परता छठे प्रकार की, जगत को ब्रह्ममय देखना सातवें प्रकार की, सतोष और परदोष-दर्शन से दूर रहना आठवें प्रकार की, मन की सरलता, निष्कपटता और भगवदाश्रय बुद्धि नवें प्रकार की भक्ति है। भक्ति के ये नव रूप सबसे प्रमुख हैं।

शिव-भक्ति राम-भक्ति की एक स्वतत्र भूमिका है।

उपर्युक्त समस्त विषयो में 'अध्यात्मरामायण' और 'रामचरितमानस' का पूर्ण साम्य है। अतर मुख्यत निम्नलिखित विषयो में है—

१ 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार विष्णु परमात्मा हैं, ब्रह्म हैं, आदि नारायण हैं और त्रिगुणात्मिका माया का आश्रय लेकर जगत की उत्पत्ति, पालन और लय करते हैं। तुलसीदास इसे नही स्वीकार करते हैं। तुलसीदास वह पद केवल राम के लिए सुरक्षित रखते हैं और कहते हैं कि राम के अशमात्र से नाना विष्णु उत्पन्न होते हैं, राम विष्णु को नचाने वाले हैं, राम करोडो विष्णुओ के समान ससार का पालन करने वाले हैं, विष्णु राम के चरणो की सेवा करते हैं।

२ 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार लक्ष्मी ही मूल प्रकृति, योगमाया अथवा शक्ति हैं। तुलसीदास यह पद केवल सीता को देते है और कहते है कि सीता के अशमात्र से अगणित रमा उत्पन्न होती हैं, वे रमा द्वारा वदिता भी हैं।

३ 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार परमात्मा ने दशरथ के घर में चार अशो में अवतार ग्रहण किया था। तुलसीदास के अनुसार परमात्मा राम ने स्वत अपने अशो के साथ दशरथ के घर में अवतार ग्रहण किया था।

४ 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार वानरादि विष्णु के पार्षद देवता है। तुलसीदास के अनुसार वे सगुण ब्रह्म के उपासक भक्त हैं, जो मोक्ष-सुख छोड कर सदैव उनके साथ रहा करते हैं।

५ 'अध्यात्मरामायण' के अनुसार भक्ति विज्ञान रूपी राजभवन के लिए एक सीढी के तुल्य है, मुक्ति उसी विज्ञान से प्राप्त होती है। किंतु तुलसीदास भक्ति को ही चरम साध्य मानते हैं, उसी को समस्त पारमार्थिक साधनो का सुदर फल बताते है और तुलसीदास के समस्त राम-भक्त अपनी समस्त साधनाओ का फल राम को अर्पित कर उनसे केवल उनकी भक्ति की याचना करते हैं। तुलसीदास के भक्त भक्ति की तुलना में मुक्ति को हेय समझते हैं।

इस अतर के मूल में भावनाओ का अतर है—'अध्यात्मरामायण' राम और राम-भक्ति का प्रतिपादन करते हुए अपने को विष्णु-भक्ति और ज्ञान की प्रभुता से मुक्त नही कर सकी थी। तुलसीदास ने दोनो से अपने को मुक्त कर राम और राम-भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया। राम की तुलना में विष्णु को और सीता की तुलना में लक्ष्मी को जैसा हीन स्थान तुलसीदास ने दिया है, वैसा कोई भी निरा विष्णु-भक्त नही कर सकता था। यह तुलसीदास जैसे राम-भक्त के ही लिए सभव था। तुलसीदास अपने आराध्य का स्थान पूर्ण रूप से विष्णु को नही दे सकते थे।

तुलसीदास की राम-भक्ति में स्थान ग्रहण करने के लिए विष्णु को राम-सेवक के ही रूप मे आना पडा। ठीक यही परिस्थिति ज्ञान और भक्ति की भी है। भक्त तुलसीदास को ज्ञान से कोई विरोध नही था, किंतु ज्ञान के साथ वे उस प्रकार का समझौता नही कर सकते थे, जैसा 'अध्यात्मरामायण' में हुआ है। भक्त होने के नाते स्वभावत भक्ति को उन्होने ज्ञान-विज्ञानादि सभी के ऊपर महत्व दिया है और उसी को साध्य भी माना है।

फलत यहाँ भी हम तुलसीदास के व्यक्तित्व की वह महानता स्पष्ट रूप से देखते हैं जो अन्यत्र देखी है। जिस प्रकार राम-साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अमर है, उसी प्रकार उन्होने राम-भक्ति के इतिहास में भी अपना स्थान अमिट वना लिया है।

तुलसीदास की राम-भक्ति

तुलसीदास की राम-भक्ति के स्वरूप पर हम विचार करते है तो स्पष्ट देखते है कि वह मानवता की एक महान कल्पना पर आधारित है। यही कारण है कि उनके पात्र, जैसा हम पहले देख चुके हैं, पहले मानव है और फिर राम-भक्त है और यह हम ऊपर तुलसीदास की कला के विवेचन में देख चुके हैं। इस विपय में वे कृष्ण-भक्त कवियो से ही नही, अग्रदासादि राम-भक्ति की मधुरधारा के कवियो से भी वहुत पृथक है। इस सवध में यदि उनकी तुलना कुछ की जा सकती है तो कवीर आदि निर्गुण उपासक भक्तो से। किंतु एक वात में वे उनसे भी भिन्न है, निर्गुण धारा के भक्त अपनी भक्ति की निष्पत्ति के लिए हठयोग का आश्रय लेते हैं, ज्ञान का आश्रय लेते हैं, मुक्ति की कल्पना करते है। तुलसीदास का साधन-साध्य सभी कुछ राम-भक्ति है—वह है निष्केवल प्रेम और वह प्रेम जिस राम से करने का वे उपदेश करते हैं, वे राम है मानवता के सव से वडे प्रतीक। इसलिए तुलसीदास की राम-भक्ति निरी आध्यात्मिक साधना ही नही है, वह उतना ही एक नीतिमूलक जीवन-दर्शन भी है।

परवर्ती राम-साहित्य

केशवदास—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की रचना के प्राय एक सौ वर्ष वाद तक रामभक्ति-धारा में राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप ही प्रधान रहा, उसमें मधुर भाव की भक्ति नही पनप सकी। इस एक सौ वर्षों की अवधि में सव से पहले केशवदास आते हैं, जिन्होने स० १६५८ (सन १६०१ ई०) में 'रामचन्द्रिका' की रचना की। ग्रथ के प्रारभ में उन्होने लिखा है कि उन्होने स्वप्न में वाल्मीकिजी के दर्शन किए और उन्ही की प्रेरणा से उन्होने 'रामचद्रिका' की रचना की। इससे ज्ञात होता है कि उन्होने वाल्मीकीय 'रामायण' का आधार विशेप रूप से ग्रहण किया। अधिकाश में यह ठीक भी है, क्योंकि उसमें राम विपयक परमात्म-भावना कुछ उसी प्रकार दवी हुई है जिस प्रकार वाल्मीकीय 'रामायण' में वह दवी हुई है। किंतु शेप वातो में दोनो की तुलना करना ठीक न होगा। वाल्मीकि ने रामादि के चरित्र में महामानव की जो झाँकी दिखाई है, केशवदास उसकी छाया को भी अपनी रचना में नही ला सके। न उनमें वह भक्ति की ही भावना मिलती है, जो सूर-तुलसी में मिलती है।

कही-कही पर तो केशवदास में सामान्य विवेक की भी कमी दिखाई पडती है—माता से विदा होते समय राम का उन्हें नारी-धर्म और पुन वैधव्य-धर्म का उपदेश करना इसी

प्रकार की बातें है। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर राज्यश्री की निंदा भी कुछ ऐसी ही लगती है।

केशवदास की यह रचना प्रबध की दृष्टि से भी त्रुटिहीन नही है। प्रारभ में राम-जन्म की कथा नही है, दशरथ-परिवार का परिचय देकर विश्वामित्र आगमन से कथा प्रारभ की गई है। ताडका और सुबाहु-वध की कथाएँ अत्यत सक्षिप्त है। पुन सीता-स्वयवर का वर्णन बडे विस्तार से किया गया है। कैकेयी की वर-याचना का प्रसग केवल दो छदो में समाप्त कर दिया गया है। इसी प्रकार ग्रथ भर मे अन्यत्र भी प्रबधतत्व का यथेप्ट निर्वाह नही किया गया है।

केशवदास का बल वर्णन पर है, अलकार पर है, उक्ति पर है और छद पर है। अवसर-अनवसर पर वे इनके विषय में अपना कौशल प्रदर्शित करने में नही चूकते, इसीलिए बहुत से रीति-प्रेमी पाठको को वे प्रभावित भी करते है, किंतु उनकी शैली मे प्राय कृत्रिमता मिलती है—भाषा में अव्यवस्था और तोडमोड और कल्पना मे क्लिष्टता। कला की सहज साधना उनकी इस रचना में बहुत-कुछ नही दिखाई पडती।

केशवदास के कुछ सवाद अवश्य अच्छे बन पडे है। इन पर 'प्रसन्नराघव' तथा 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव यथेष्ट है, फिर भी ये सवाद केवल अनुवाद नही है और इनकी रचना केशवदास ने प्राय कुशलता और विवेक के साथ की है।

केशवदास वास्तव में भक्ति-धारा के कवि नही थे, वे रीति-धारा के कवि थे। उनके इस काव्य को रीति-धारा की कसौटियो पर ही कसने पर कुछ हाथ लग सकता है।

नाभादास—ये तुलसीदास के उत्तर समसामयिकों में दूसरे प्रमुख कवि है। ये अग्रदास के शिष्य और स्वामी रामानद के सप्रदाय के थे। इनके 'अष्टयाम' की चर्चा ऊपर अग्रदास के 'रामाष्टयाम' के प्रसग में की जा चुकी है। इन्होने राम-भक्ति सबधी कुछ रचना भी की है, किंतु इनकी ख्याति 'भक्तमाल' (रचना-काल स० १६५३ वि० ?=सन १५९६ ई०) के कारण है, जो मध्य युग के वैष्णव-आन्दोलन की रूपरेखा समझने के लिए सब से अधिक प्रामाणिक और महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। यह सारी रचना केवल ३१६ छप्पयो में है, किंतु पूर्ववर्ती तथा समकालीन सतो का बिना किसी प्रकार के पक्षपात अथवा विरोध के और साप्रदायिक सकीर्णता से मुक्त हो कर जैसा सारपूर्ण परिचय इस रचना में मिलता है, अन्यत्र नही मिलता। 'भक्तमाल' के छप्पयो का एक-एक शब्द सारगर्भित है और इसी कारण 'भक्तमाल' की टीकाओ और टिप्पणियो की एक अत्यत समृद्ध परपरा हिंदी साहित्य में मिलती है। इस समस्त परपरा का अध्ययन अत्यत रोचक और उपादेय विषय होगा। इन टीकाओ मे सब से अधिक निकट की टीका प्रियादास की है, जिसका रचना-काल स० १६६९ वि० (सन १६१२ ई०) है।

सेनापति—ये इस धारा के अन्य सुकवि है। इनका 'कवित्तरत्नाकर' अपने प्रकृति-वर्णन —विशेष रूप से ऋतु-वर्णन—के लिए बहुत प्रसिद्ध है। 'कवित्तरत्नाकर' की दो तरगें 'रामायण-वर्णन' और 'रामरसायनवर्णन' शीर्षक हैं जिनमें रामकथा और राम-भक्ति सबधी सेनापति के मुक्तक छदो का सकलन हुआ है। शैली की दृष्टि से सेनापति रीति-परपरा के कवि थे और श्लेष और यमक विषयक चमत्कार में हिंदी साहित्य में ऐसे सफल कवि कम ही हुए है। उनकी रामकथा का आधार प्राय वाल्मीकीय 'रामायण' है। भक्ति-सिद्धात की दृष्टि से सेनापति तुलसीदास की

परंपरा में आते हैं, उन्होंने राम के लोकोपकारी गुणों का वर्णन विस्तार से किया है और उनके पराक्रम का वर्णन तन्मयता के साथ, राम के सौंदर्य-चित्रण का प्रयत्न उन्होंने बहुत कम किया है। वे राम के वीरत्व और उनकी भक्तवत्सलता से ही विशेष रूप से प्रभावित दिखाई पडते हैं और उनकी भक्ति भी सहज प्रतीत होती है।

उपर्युक्त सौ वर्षों की अवधि के बीच आने वाले शेष कवियों में उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

महाराज पृथ्वीराज जिन्होंने प्रसिद्ध डिंगल काव्य 'कृष्णरुक्मिणीवेलि' की रचना की है, 'दशरावउत' नामक राम-भक्ति काव्य की भी रचना की। इसमें राम की स्तुति के लगभग ५० दोहे हैं। रचना-तिथि अज्ञात है, किंतु महाराज पृथ्वीराज का देहान्त स० १६-५७ वि० (सन १६०० ई०) में हुआ था, इसलिए इस कृति की रचना उससे पूर्व हुई होनी चाहिए।

प्राणचंद चौहान ने स० १६६७ वि० (सन १६१० ई०) में 'रामायणमहानाटक' की रचना की, जिसमें सवादों के रूप में रामकथा कही गई है।

माधवदास चारण ने 'गुणरामरासो' नामक एक सुदर काव्य राम-चरित्र के विषय का प्रस्तुत किया जो विविध छदों मे है। इसकी रचना उन्होंने स० १६७५ वि० (सन १६२८ ई०) में की थी। स० १६८१ वि० (सन १६२४ ई०) की रची हुई 'अध्यात्मरामायण' नाम की एक रचना भी इनकी मिलती है जो सस्कृत की 'अध्यात्मरामायण' पर आधारित है।

हृदयराम ने स० १६८० वि० (सन् १६२३ ई०) में 'हनुमाननाटक' की रचना की जो सस्कृत के 'हनुमन्नाटक' पर आधारित है। यह रचना कवित्त-सवैया में है और बहुत लोकप्रिय रही है। इसके अनेक सस्करण उन्नीसवी शती ईसवी में हुए थे।

मलूकदास ने इसी समय के लगभग 'रामअवतारलीला' नामक ग्रथ की रचना की।

लालदास ने स० १७०० वि० (सन १६४३ ई०) में 'अवधविलास' नामक राम-कथा-ग्रंथ दोहा-चौपाई में लिखा। आकार में यह रचना बडी है, यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से साधारण है।

इन्हीं की एक दूसरी रचना 'भरतजी की बारहमासी' भी है, जिसकी तिथि अज्ञात है। अनुमान से उसका समय भी स० १७०० वि० (सन १६४३ ई०) के लगभग माना जा सकता है।

नरहरिदास चारण का 'अवतारचरित्र' १६०० से अधिक छदों का एक विशाल ग्रथ है, जिसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथाएँ हैं। इसकी रचना-तिथि अज्ञात है, किंतु कवि का देहांत स० १७३३ वि० (सन १६७६ ई०) में हुआ कहा गया है, इसलिए इसकी रचना स० १७०० वि० (सन १६४३ ई०) के आसपास मानी जा सकती है। रामचरित वाले अश में तुलसी और केशव का प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पडता है।

रायचद ने स० १७१३ वि० (सन १६५६ ई०) में 'सीताचरित्र' की रचना की।

विक्रमीय अठारहवीं शती के दूसरे चरण में यह धारा पुन मधुर भाव की भक्ति की ओर मुड जाती है।

बालकृष्ण नायक बाल अली की 'ध्यानमजरी' (स० १७२६ वि०=सन १६६९ ई०)

में नव दपति के रूप में सीता-राम का ध्यान, नगजडित वेदिका, राजसिंहासन तथा सीता की सखियो आदि का वर्णन है। सीता-राम के सौन्दर्य का विशेष विस्तार किया गया है।

उनकी 'नेहप्रकाशिका' (स० १७४९ वि०=सन १६९२ ई०) में सीता को राम की आह्लादिनी शक्ति रस-राशि के रूप में दिखाई गई है। अष्टयाम का वर्णन करते हुए दपति की विलास-क्रीडा, सीता-सौभाग्य, उनके नखशिख तथा उनकी सखियो का वर्णन हुआ है।

रामप्रियाशरण के 'सीतायन' (स० १७६० वि०=सन १७०३ ई० के लगभग) में विवाह तक का सीता का चरित्र वर्णित हुआ है। यह वर्णन बडे विस्तार से हुआ है, इसमें प्रमुखता उनकी बाल-क्रीडाओ की है। सीता के अतिरिक्त जनक के भाइयो की कन्याओ का भी इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

यमुनादास ने सस्कृत के 'गीतगोविंद' के अनुकरण पर सीता-राम-केलि सबधी 'गीत-रघुनन्दन' नाम की रचना अठारहवी शती विक्रमी के मध्य में की।

जानकीरसिकशरण के स० १७६० वि० (सन १७०३ ई०) के लगभग रचे हुए 'अवधीसागर' में राम-सीता के अष्टयाम और उनके विहार का वर्णन है।

प्रेमसखी के 'सीताराम नखशिख' (स० १७९१ वि०=सन १७३४ ई०) का विषय स्वत प्रकट है। सीता के नखशिख का वर्णन करते हुए उनके नितब, कटि, उरोज तक का वर्णन किया गया है। नखशिख वर्णन के अतिरिक्त कवि ने उनके प्रमोदवन-विहार, चन्द्रकला, चारुशिला आदि सखियो के साथ उनकी विविध क्रीडाओ, होलिकोत्सव आदि का वर्णन किया है।

प्रेमसखी के 'होरी छदादि प्रबध' तथा 'कवित्तादि प्रबध' (स० १७९१ वि०=सन १७३४ ई० के लगभग) भी इसी प्रकार के हैं, जिनमें दपति के नखशिख तथा उनकी होलिकोत्सव आदि क्रीडाओ का वर्णन है।

रामसखे के 'राघवमिलन' (स० १७०४ वि०=सन १६४७ ई०) में सीता-राम-विहार का वर्णन है। उनकी रचना (स० १८०४ के लगभग) में उनके राम-भक्ति सबधी पद है।

महाराज विश्वनाथ सिंह रीवाँ-नरेश ने स० १७९० वि० (सन १७३३ ई०) के लगभग 'आनन्दरघुनन्दन नाटक', 'सगीतरघुनन्दन', 'आनन्दरामायण', 'रामचद्र की सवारी', और 'रामायण' नामक राम-भक्ति परक रचनाएँ की। 'आनन्दरघुनदन' हिंदी का प्रथम नाटक माना गया है। इसके सवाद ब्रजभाषा गद्य में हैं, यद्यपि बीच बीच में पद्य भी आए हैं। इसमें पात्रो के नाम अवश्य बदले हुए हैं, यद्यपि विषय रामकथा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम-भक्ति की सहज धारा धीरे-धीरे कृष्ण-भक्ति और रीति धाराओ से प्रभावित होकर उन्ही की सजातीय बन गई और वाल्मीकि से लेकर तुलसीदास ने लोक-कल्याण के जो आदर्श उसमें प्रतिष्ठित किए थे, वे सब विलीन हो गए।

सहायक ग्रथ-सूची

१ माताप्रसाद गुप्त तुलसीदास (हिंदीपरिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, तृतीय सस्करण, १९५३)

२ माताप्रसाद गुप्त . तुलसी (साहित्यकुटीर, प्रयाग, १९४९)
३ कामिल बुल्के : रामकथा का विकास (हिंदी-परिषद, प्रयाग वि० वि०, १९५०)
४ सी० एच० वौदवील स्टडी आन दि सोर्सेज इन कपजीशन आफ तुलसीदासज रामायण (फ्रेंच में, पेरिस, १९५५)
५ रामचद्र शुक्ल (सपा०) गोस्वामी तुलसीदास (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी)
६ ,, तुलसीग्रथावली (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, १९३७)
७ श्यामसुदर दास : तुलसीदास (हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, प्रयाग, १९३२)
८ बलदेवप्रसाद मिश्र . तुलसीदर्शन (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९३८)
९ श्रीकृष्णलाल . मानसदर्शन (काशी, १९४९)
१० राजपति दीक्षित . तुलसीदास और उनका युग (ज्ञानमडल लि० काशी, १९२३)
११. जे० एम० मेकफी : दि रामायण आव तुलसीदास (टी० ऐंड डी० क्लार्क, एडिनबरा, १९३०)
१२ जे० एन० कारपेंटर दि थियालोजी आव तुलसीदास (क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी, मद्रास, १९१८)

(पूर्ण सूची के लिए देखिए माताप्रसाद गुप्त : 'तुलसीदास'—भूमिका तथा सहायक ग्रथसूची)

६. कृष्ण-भक्ति साहित्य

कृष्णाख्यान की प्राचीनता

हमारे देश की सस्कृति जिन उपकरणो से मिल कर बनी है उनमें कृष्ण-वार्ता और कृष्ण-कथा का अद्वितीय स्थान है। मूर्ति, स्थापत्य, चित्र, साहित्य और सगीत ही नही, वस्त्र, आभूपण, प्रसाधन, भोजन और मनोरजन के विविध रूप और प्रकार भी कृष्ण के अद्भुत व्यक्तित्व और उनके प्रति लोक-मन की अनुरागमयी पूजा-भावना से प्रभावित हुए है। यह प्रभाव पद्रहवी-सोलहवी शताब्दी ईसवी से जितना गहरा और लोकव्यापी होता गया है, कदाचित पहले उतना नही था। उसी समय उसका रूप पूर्णतया धार्मिक हो गया और वह भाषा-साहित्यो का प्रधान विषय बन कर इतना विविध-रूप हो गया कि हमारे जीवन का कोई अग उससे अछूता न बचा। परतु कृष्ण-वार्ता का उससे पहले भी सस्कृति और साहित्य में कम महत्वपूर्ण स्थान नही था। वस्तुत उसकी परपरा अत्यत प्राचीन है और इसी कारण सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की प्रेरक शक्तियो में उसका इतना महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अत उचित है कि हम प्राचीनतम काल से कृष्णाख्यान के सूत्रो का अन्वेपण करने की चेष्टा करें।

'ऋग्वेद' के स्तोताओ में कृष्ण आगिरस नाम के भी एक ऋषि है जो सोमपान के लिए अश्विनीकुमारो का आह्वान करते है[1] तथा अहिसनीय गृह प्रदान करने की उनसे प्रार्थना करते है।[2] इन्ही अश्विद्वय की स्तुति में कक्षिवान ऋषि ने कहा है कि तुमने स्तुति करने पर ऋजुता-तत्पर कृष्ण-पुत्र विश्वकाय को उनका मृत पुत्र दिखा दिया था। इस मृत पुत्र का नाम विष्णापु बताया गया है।[3] कृष्ण के पुत्र विश्वक (विश्वकाय ?) के नाम से भी एक सूक्त है जिसमें उन्होंने अश्विनीकुमारो का सन्तान के लिए आह्वान किया है और दूरस्थ विष्णापु को लाने की प्रार्थना की है।[4] इन सदर्भो से सूचित होता है कि कदाचित विष्णापु आहत हो गया था और कृष्ण आगिरस और उनके पुत्र ने उसके जीवन के लिए आरोग्य के देवता अश्विनीकुमारो की स्तुति की थी। परन्तु प्रसिद्ध कृष्णाख्यान का इन सदर्भो से कोई सीधा सम्बन्ध नही जान पडता।

'ऋग्वेद' में कृष्ण नाम के एक असुर का भी उल्लेख हुआ है जो अपने दस सहस्र योद्धाओ के साथ अशुमती तटवर्ती प्रदेश के एक गूढ स्थान मे रहता था। इन्द्र ने मरुतो का आह्वान करके

---

१. ऋग्वेद ८।८५।१-९।

२. वही ८।८५।५।

३. वही १।११६।७, २३।

४. वही ८।८६।१-५।

बृहस्पति की सहायता से उसे हराया और उसकी सेना का सहार किया था।[1] एक अन्य स्थल पर इन्द्र को कृष्णासुर की गर्भवती स्त्रियो का वध करने वाला कहा गया है।[2] आगिरस कृष्ण और कृष्णासुर एक ही है, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। परन्तु दोनो हिंसा से पीडित जान पडते है। प्रसिद्ध कृष्णाख्यान में कृष्ण के सम्मुख वैदिक देवता इन्द्र को जो हीन और निर्वीर्य चित्रित किया गया है, उसे इस वैदिक कृष्णासुर के सदर्भ की प्रतिक्रिया समझा जाए तो असगत न होगा।

'छादोग्य उपनिषद' में घोर आगिरस के शिष्य, देवकी-पुत्र कृष्ण के विषय में कहा गया है कि गुरु ने उन्हें ऐसा ज्ञान दिया था कि उन्हें फिर ज्ञान की पिपासा नही हुई तथा उन्हें यज्ञ की एक ऐसी सरल रीति बताई थी जिसकी दक्षिणा तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य थी।[3] 'कौशीतकि ब्राह्मण' में भी कृष्ण आगिरस का उल्लेख मिलता है।[4] वैदिक कृष्ण के व्यक्तित्व के साथ अहिंसा, सत्य आदि का सम्बन्ध होना उन्हें गीता के उपदेष्टा और भागवत-धर्म के पूज्य कृष्ण के अत्यत निकट ले जाता है।

'महाभारत' से कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्तित्व की सूचना मिलती है और विदित होता है कि प्रारम्भ में कृष्ण सात्वत जाति के कोई पूज्य पुरुष थे। 'घत जातक' में वर्णित देवगब्भा और उपसागर के बलवान, पराक्रमी, उद्धत, क्रीडाप्रिय पुत्र वासुदेव कण्ह (वासुदेव कृष्ण) की कथा कदाचित इन्ही ऐतिहासिक कृष्ण की कथा है जो सम्भवत पर्याप्त लोकप्रिय हो चली थी।[5] इस कथा का 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्ण-कथा से अद्भुत साम्य है। वासुदेव कण्ह ने भी कुवलया-पीड, मुष्टिक, चाणूर और कस तथा अन्य वैरियो का नाश करके द्वारका में अपना राज्य स्थापित किया था। 'घत जातक' में ये वासुदेव कण्ह पुत्र-शोक में दुखी चित्रित किए गए है। 'महा-उमग्ग जातक' में भी वासुदेव कृष्ण का उल्लेख है और कहा गया है कि उन्होने कामासक्त होकर चाडाल-कन्या जाबवती को महिषी बनाया था।[6]

गोपाल कृष्ण के आख्यान की परपरा

कदाचित 'महाभारत' और पुराणो ने कृष्ण के जिस चरित का विकास किया वह ऐतिहासिक वासुदेव कृष्ण से भिन्न था, इसी कारण उन्हें बारबार यह बताने की आवश्यकता हुई हो कि यही कृष्ण वासुदेव है, यही द्वितीय वासुदेव है। 'महाभारत' और 'पुराणो' में कृष्ण द्वारा मिथ्या वासुदेव—पौंड्र-राज पुरुषोत्तम और करवीरपुर के राजा शृगाल—को मार कर अपना एक मात्र वासुदेवत्व प्रमाणित करने का उल्लेख है। 'महाभारत' में कृष्ण-सम्बन्धी अनेक

---

१. ऋग्वेद ८।९६।१३-१५।
२. वही १।१०१।१।
३. छादोग्य उपनिषद, ३।१७।४-६।
४. कौशीतकि ब्राह्मण ३०।९।
५ जातक, फॉसबोॅल, स० ४२१।
६. वही, सं० ४२१।

वृत्तान्त है। भारत-युद्ध में कृष्ण का प्रमुखतम स्थान और उनके व्यक्तित्व में पराक्रम, ऐश्वर्य और ीर्य ही नही, देवत्व का भी प्रचुर समन्वय पाया जाता है। सभापर्व में भीष्म ने उन्हें समस्त वेद-वेदाग के ज्ञाता, राजनीति में निपुण, वलवान योद्धा कह कर उनकी प्रशसा की है।

उद्योग प ं में कहा गया है कि अर्जुन वज्रपाणि इन्द्र की अपेक्षा कृष्ण को अधिक पराक्रमी समझकर उन्हें युद्ध में अपनी ओर करने में अपना सौभाग्य मानते है, क्योकि कृष्ण ने दस्युओ को मारा था, भोज राजाओ को नष्ट किया था, रुक्मिणी का हरण किया था, नगजित के पुत्रो को जीता था, सुदर्शन राजा को मुक्त किया था, पाण्ड्य का सहार किया था, काशी नगरी का उद्धार किया था, निपादो के राजा एकलव्य का वध किया था, उग्रसेन के पुत्र सुनाम को मारा था, इत्यादि। देवताओ ने प्रसन्न होकर कृष्ण को अवध्यता का वरदान दिया था। उन्होने वाल्यावस्था में ही इन्द्र के घोडे, उच्चै श्रवा के समान वली, यमुना के वन में रहने वाले हयराज को मारा था तथा वृष, प्रलव, नरक, जृभ, मुर, कस आदि का सहार किया था। उन्होने जलदेवता व ण को हराया था तथा पातालवासी पचजन को मारकर वे पाचजन्य ले आए थे। सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए वे महेन्द्र की अमरावती से पारिजात लाए थे।

'हरिवश', और कुछ पुराणो में भी, कृष्ण द्वारा पारिजात-आनयन की कथा विस्तार से दी गई है। 'महाभारत', 'हरिवश', तथा 'विष्णु', 'वायु', 'वामन', 'भागवत' आदि पुराणो में कृष्ण की अपेक्षा इन्द्र की हीनता सिद्ध करने के लिए अनेक आख्यान दिए गए है। फिर भी, कृष्ण इन्द्र की ज्येष्ठता को स्वीकार करते है और वे इन्द्र द्वारा ही गोलोक मे गोविन्द रूप से अभिषिक्त होते है। वे महेन्द्र के छोटे भाई होने के नाते 'उपेन्द्र' कहे जाते है।[१] पुराणो में कृष्ण के ऐश्वर्य और वीर्य की उत्त ोत्तर जितनी वृद्धि होती गई, उसी अनुपात से इन्द्र की हीनता भी बढती गई और 'भागवत' तक आते आते इन्द्र इतने हीन हो गए कि भाषाओ के ैष्णव भक्ति-साहित्य ने उन्हें सरलता से निकृष्टता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया।

परन्तु 'महाभारत' तथा पुराणो में वर्णित कृष्ण का ऐश्वर्य और पराक्रमपूर्ण चरित ललित-साहित्य का विषय नही बना। मध्यकालीन भाषा-कवियो ने भी कृष्ण-चरित के इस पक्ष पर अधिक ध्यान नही दिया। कदाचित इसका कारण यह है कि कृष्ण की मधुर और ललित कथाएँ ही लोकगीतो और लोककथाओ के माध्यम से अधिक प्रचलित थी और वे ही लोक-मन को अधिक मुग्ध भी करती थी। 'महाउमग्ग' जातक के काम-पीडित वासुदेव कृष्ण के उल्लेख से भी यह सूचित होता है कि उनके शृगारी जीवन से सम्बन्धित कथाएँ लोक-प्रचलित रही होगी। परन्तु 'महाभारत' में उनके जीवन के इस पक्ष का सभापर्व के उस प्रसग में भी कोई सकेत नही है जिसमें शिशुपाल ने उनकी निन्दा करते हुए उनके द्वारा पूतना, बकासुर, केशी और वत्सासुर की हत्या, कसवध, तथा गोव ंन-धारण का उल्लेख किया है।[२] 'महाभारत' का यह अश प्रक्षिप्त कहा जाता है। फिर भी इसमें शिशुपाल द्वारा कृष्ण के गोपी-प्रेम का कोई सकेत नही है। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि गोपाल कृष्ण का चरित मूलत 'महाभारत' के कृष्ण से भिन्न था।

---

१ हरिवश, विष्णुपर्व, १९।३७–४०

२. अध्याय ४१।

जो हो, 'हरिवंश' और पुराणो मे कृष्ण के शृगारी रूप के द्विविध चरित मिलते है—एक उनका राजसी वैभव-विलास का ऐश्वर्यपूर्ण चरित तथा दूसरा उनका गोपाल रूप में ग्रामीण क्रीडाकेलि का माधुर्यपूर्ण चरित। कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की विलास-क्रीडा 'हरिवंश' तथा कुछ पुराणों में अत्यन्त नग्न रूप में वर्णित है। गोवर्धन की पूजा तक में दूध, घी, चावल, आदि के साथ मेष, महिषादि की बलि चढाने का उल्लेख हुआ है।[1] मदिरा प्रेमी बलराम तो भोग-प्रवृत्त हैं ही, स्वय श्रीकृष्ण पिंडारयात्रा में बलराम, नारद, अर्जुन और समस्त यादवो तथा सहस्रो वेश्याओ और अपनी सोलह सहस्र स्त्रियो के साथ जल-क्रीडा और नग्न भोग-विलास में लिप्त दिखाए गए हैं।[2] इसे देखते हुए यह एक कुतूहल की बात लगती है कि 'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' में गोपाल कृष्ण की लीला 'भागवत', 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' की अपेक्षा बहुत सक्षिप्त रूप में दी गई है। उसमें कृष्ण के गोपी-विहार और कुज-केलि-विलास के वैसे वर्णन नहीं हैं, जैसे आगे चल कर मिलते है। फिर भी, कृष्ण-गोपी-लीला के शृगारी वातावरण का सूत्र 'हरिवंश'-वर्णित पारिजात-आनयन की कथा में सत्यभामा के मान-मनुहार सबधी वर्णनो से जोडा जा सकता है।[3]

पुराणो मे सब से पहले 'भागवत' में ही गोपाल कृष्ण का जन्म से लेकर द्वारका-प्रवास तक का सम्पूर्ण चरित विस्तार के साथ दिया गया है, जिसमें कृष्ण के ऐश्वर्य और माधुर्य रूपो का अद्भुत मिश्रण है। ऐसा जान पडता है कि पुराणकार धार्मिक उपयोग के उद्देश्य से गोपाल कृष्ण की लोक-विश्रुत ललित लीलाओ को उत्तरोत्तर अधिकाधिक रूप में ग्रहण करते गए। परन्तु उन लीलाओ को पुराण—यहाँ तक कि 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' भी—नि शेष कभी न कर सके। वस्तुत उन्हे नि शेष किया भी नही जा सकता था, क्योकि वे लोक-कवि की उर्वर कल्पना का विषय बन गई थी और निरन्तर वृद्धि पाती जाती थीं। स्वय पुराणकारो की कल्पना-शक्ति इस विषय में अधिक उदासीन नही थी। 'पद्म' और 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण तथा 'गोपालतापनी' और 'राधातापनी' आदि अर्वाचीन पौराणिक उपनिषद इस तथ्य के साक्षी है।

ग्रियर्सन, केनेडी, वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानो ने अनुमान किया था कि गोपाल कृष्ण का बाल-चरित जिसे वैष्णव भक्तो ने प्रेम-भक्ति के आलबन रूप में अपनाया क्राइस्ट के बाल-चरित का अनुकरण है। परन्तु पूतना को 'वर्जिन' तथा प्रसाद को 'लव फीस्ट' मानने का विचार सर्वथा अमान्य हो चुका है। सभावना यह है कि गोपाल कृष्ण मूलत शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि शी पशुपालक क्षत्रियो के कुलदेव थे और उनके कीडा-कौतुक की मनोरजक कथाएँ मौखिक रूप में लोक-प्रचलित थी। कुछ जातियो में आज तक बाल और किशोर कान्ह की ललित लीलाएँ जातीय उत्सवो का विषय बनी हुई है। छोटा नागपुर के अहीर ग्वालो में 'वीर कुँवर' की पूजा इसका उदाहरण है।

गोपाल कृष्ण की ललित कथा के लोक-प्रचलित होने के प्रमाण कुछ पाषाण मूर्तियो तथा शिलापट्टो पर उत्कीर्ण चित्रो में भी मिले हैं। कृष्ण की जन्म और लीला भूमि मथुरा में एक खडित

---

१. हरिवंश, विष्णुपर्व १६।१४, १५, १८।

२ वही, अध्याय ८८, ८९।

३. वही, अध्याय ६७।

शिलापट्ट मिला है जो प्रथम शताब्दी ईसवी का अनुमान किया गया है। इस पर नवजात कृष्ण को एक सूप मे सिर पर रखे हुए वसुदेव यमुना पार करते हुए चित्रित किए गए हैं।[१] मथुरा में ही एक दूसरा खडित शिलापट्ट मिला है जो अनुमानत पाँचवी शताब्दी ईसवी का है। इस पर कालिय-दमन का दृश्य अकित है। कृष्ण की मूर्ति मुकुट, कुण्डल, हार तथा कटक युक्त है।[२] यही पर एक तीसरी कृष्ण-मूर्ति मिली है जिसमें गोवर्धन-धारण का दृश्य दिखाया गया है। यह छठी शताब्दी ईसवी की अनुमान की गई है। सुदूर पूर्व वगाल के पहाडपुर नामक स्थान में अनुमानत छठी शताब्दी ईसवी की ही कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं जिनमे धेनुकासुर-वध, यमलार्जुन-उद्धार तथा मुष्टिक-चाणूर के साथ मल्ल-युद्ध के दृश्य दिखाए गए हैं। यही से किसी गोपी, सभवत राधा, के साथ प्रसिद्ध मुद्रा में खडे हुए कृष्ण की एक अन्य मूर्ति भी प्राप्त हुई है। राधा की प्राचीनता का यह सर्वप्रथम मूर्तिगत प्रमाण कहा जा सकता है।[३] राजस्थान के मडोर नामक स्थान में प्राप्त दो द्वारपाटो पर गोवर्धन-धारण, नवनीत-चौर्य, शकट-भजन और कालिय-दमन के चित्र उत्कीर्ण हैं। इनका समय चौथी-पाँचवी शताब्दी ई० माना गया है।[४] राजस्थान में वीकानेर के पास सूरत-गढ नामक स्थान पर गोवर्धन-धारण और दानलीला का दृश्याकन करने वाले कुछ सुन्दर मिट्टी के खिलौने मिले है। दक्षिण भारत के बादामी के पहाडी किले पर कृष्ण-जन्म, पूतना-वध, शकट-भजन, प्रलव-वध, धेनुक-वध, अरिष्ट-वध, कस-वध आदि के अनेक दृश्य गुफाओ में उत्कीर्ण मिले हैं, जो छठी-सातवी शताब्दी ईसवी के माने जाते हैं।[५]

परन्तु जिस प्रकार कृष्णाख्यान की प्राचीनता के उपर्युक्त स्फुट प्रमाण प्राप्त हुए हैं, वैसे प्रमाण राधा या राधा-कृष्ण के सबध में नही मिलते। सब से प्राचीन पुरातत्व का प्रमाण पहाडपुर की उपर्युक्त मृण्मूर्ति का ही कहा जा सकता है। साहित्य में प्रथम शताब्दी ईसवी की 'गाथा सप्त-शती' के सदर्भ अवश्य उपलब्ध हैं जिनका उल्लेख आगे किया गया है।

किस प्रकार शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वशीय क्षत्रियो के कुलदेव गोपाल कृष्ण सम्पूर्ण देश के भावुक जनो की कल्पना और पूजा के आलवन बन गए और किस प्रकार उनके द्वारा साहित्य, सगीत, धर्म और अध्यात्म सभी क्षेत्रो का जन-जीवन अद्वितीय रूप मे प्रभावित हो गया यह एक अत्यन्त कुतूहलजनक प्रश्न है। पुराणो की तरह ललित साहित्य में भी गोपाल कृष्ण की कथा उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई है, यह बात कृष्णकाव्य के सामान्य सिंहावलोकन से भली भाँति प्रमाणित हो जाती हैं।

कृष्णकाव्य की परंपरा

काव्य में गोपाल कृष्ण की लीला का प्रथम सदर्भ अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) के

---

१. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२५-२६ ई०।
२. मथुरा पुरातत्व सग्रहालय में सुरक्षित।
३. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९२६-२७।
४. वही, १९०५-०६ ई०।
५. आर्कियालाजिकल मेमॉयर, १९२८-२९ ई०।

'वुद्धचरित' (१-५) में पाया जाता है। परन्तु वास्तव में सस्कृत के महाकवियों की अपेक्ष इस ललित कथा की ओर प्राकृत के मुक्तक गाहाकारो ने अधिक ध्यान दिया। अनुमानत प्रथम शताब्दी ई० में हाल सातवाहन ने 'गाहासत्तसई' नाम से जिन प्राकृत गाथाओं का सग्रह कराय वे निश्चय ही वहुत पहले से लोक-प्रचलित रही होगी। यही नही, उस प्रकार की और भी अनेव गाथाएँ और गीतियाँ मौखिक रूप में प्रचलित रही होगी, यह अनुमान भी सहज ही लगाया ज सकता है। 'गाहासत्तसई' की शृगार और नीति सवघी सुन्दर गीत्यात्मक मुक्तक कविताओं में वर्ड सरसता और वचन-विदग्धता है। उसकी कई गाथाओ में कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि क उल्लेख हुआ है। एक गाथा में कृष्ण को मुख-मारुत से राधिका के गोरज का अपनयन करवे दूसरी वल्लभियो और नारियो के गौरव-हरण का लाछन लगाया गया है,[1] तो एक दूसरी गाथा मे उन्हे सलाह दी गई है कि यदि वे महिलाओ के गुण-दोप परखने में समर्थ हो तो इसी प्रकार सौभाग्य-गर्वित हो कर गोष्ठ में भ्रमण क ।[2] एक गाथा में कृष्ण की अचगरी का सकेत है और जव यशोद कहती है कि दामोदर आज भी वालक है, तो व्रज-वधुएँ कृष्ण के मुख की ओर निहार कर ओट मे हँसती हैं।[3] एक निपुण गोपी को नृत्य की प्रशसा के वहाने वगल में आकर अन्य गोपियो के कपोलो पर प्रतिविम्वित कृष्ण-मुख के चुम्वन का वर्णन करते हुए[4] एक गाथा रास-नृत्य का सकेत करती है। इन उल्लेखो में गोपाल कृष्ण की प्रेम-कीडाओ के वे अनेक सदर्भ हैं जिनका कृष्ण-भक्ति मे उपयोग हुआ है, यद्यपि 'गाहासत्तसई' में भक्ति-भावना का सकेत नही मिलता। परन्तु इसके विपरीत, तमिल प्रदेश के आलवार सतो द्वारा रचित गीत भक्ति-भावना से ही प्रेरित और अनुप्राणित हैं। इन सतो का समय पाँचवी से नवी शताब्दी ई० माना जाता है। 'प्रवन्धम्' नाम से सग्रहीत उनके चार हजार भावपूर्ण गीतो में विष्णु, नारायण या वासुदेव तथा उनके अवतारो—राम और कृष्ण—के प्रति अनन्य भाव का प्रेम प्रकट किया गया है। अत दक्षिण के इस कृष्णकाव्य की प्रकृति पूर्णतया धार्मिक है और उसमें गोपाल कृष्ण की ललित लीलाओं के वे अनेक प्रसग वर्णित हैं जो उत्तर भारत के मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य के उपजीव्य रहे हैं। इन तमिल गीतो में वर्णित कृष्ण की प्रेम-लीलाओ में जिन गोपियो का सहयोग है उनमें नाप्पिन्नाइ नामक गोपी उसी प्रकार प्रमुख है, जैसे उत्तर भारत के कृष्णकाव्य में राधा। वही कृष्ण की प्रियतमा तथा विष्णु की अर्धांगिनी, लक्ष्मी की अवतार है। इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि पाँचवी-छठी शताब्दी में राधा-कृष्ण की लीला की निश्चित रूप में धार्मिक परिणति हो गई थी। आलवार सतो की भक्ति प्रपत्ति की भावना और भगवान के अनुग्रह पर आधारित है। उनके कृष्ण-लीला-गायन में दास्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की सरस अभिव्यक्ति हुई है।

भट्ट नारायण ने 'वेणीसहार' नाटक के नादी श्लोक में रास के अन्तर्गत राधा के केलि-कुपित होने और कृष्ण के अनुनय करने का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध है कि भट्टनारायण कान्य-

---

१ गाहासत्तसई १।२९।

२. वही ५।४७।

३. वही २।१२।

४. वही २।१४।

कुब्ज ब्राह्मण थे और उन्हें बगाल के राजा आदिशूर (राज्यारोहण ७१५ ई० स० ७७२ वि०) ने वैदिक धर्म के प्रचार के लिए कन्नौज से बुला भेजा था। आठवी शताब्दी ई० मे कान्य-कुब्ज के राजा यशोवर्मा के सभाकवि वाक्पतिराज द्वारा लिखित प्राकृत महाकाव्य 'गउडवहो' में देवता-स्तुति विपयक मगलाचरण के चार श्लोको में कृष्ण की स्तुति की गई है। इनमें कृष्ण के लक्ष्मीपति, विष्णुस्वरूप होने के साथ-साथ यशोदा के वात्सल्यभाजन बालरूप और राधा तथा गोपियो के द्वारा नख-क्षतयुक्त किशोर कृष्ण का पूज्य भाव से उल्लेख किया गया है।[1]

नवी शताब्दी ईसवी में आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें कृष्ण पूछ रहे हैं कि हे भद्र, उन गोप-वधुओ के विलास-सुहृद और राधा के गुप्त साक्षी कलिंदराजतनया के तट वाले लता-गृह क्षेम से तो हैं? अब अनग सजाने के लिए तोडे जाने की आवश्यकता न रहने के कारण शायद वे पत्ते सूख कर जरठ हो रहे हैं।[2] यह पद्य दसवी शताब्दी ईस ी के 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में भी पाया जाता है।[3] 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत एक अन्य श्लोक में मधुरिपु कृष्ण के द्वारावती चले जाने के बाद राधा के विरह का वर्णन[4] किया गया है। निश्चय ही ये दोनो श्लोक नवी शताब्दी ईसवी के पहले के हैं। 'सदुक्तिकर्णामृत' में सकलित कृष्ण-लीला सबधी श्लोको में दो श्लोक अभिनद नामक कवि के हैं जो अनुमानत नवी शताब्दी का था।[5]

'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' नामक कविता-सग्रह भी दसवी शताब्दी ईसवी का माना गया है। इसमे सकलित कविताएँ निश्चय ही उससे पहले की होगी। इनमें कई कविताएँ कृष्ण की गोपी और राधा सबंधी लीला विषयक हैं।[6]

दसवी शताब्दी ईसवी (स० १०३१ भाद्रपद सुदि १४) के मालवाधीश वाक्पति मुज पर-मार के एक अभिलेख में श्रीकृष्ण की स्तुति में कहा गया है कि जिन्हें लक्ष्मी के वदनेन्दु से सुख नही मिलता, जो वारिधि के जल से आर्द्रित नही होते, जिन्हें अपनी नाभि के कमल से शाति नही मिलती, जो शेषनाग के सहस्र फणो के मधुर श्वास से आश्वस्त नही होते, उन राधा-विरहातुर मुररिपु का कपित वपु तुम्हा ी रक्षा करे।[7]

बारहवी शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में राधा-कृष्ण सबधी दो पद्य उद्धृत किए हैं तथा 'द्वयाश्रयकाव्य' में गोपगीत का उल्लेख किया है। बारहवी शताब्दी के पहले भी राधा-कृष्ण सबधी सपूर्ण ग्रथ रचे गए थे इसका प्रमाण रामचन्द्र गुणचन्द्र (बारहवी शताब्दी ई०) के 'नाट्यदर्पण' में उल्लिखित राधा विप्रलम्भ तथा शारदातनय (बारहवी शताब्दी ई०) के 'भावप्रकाशन' में उल्लिखित 'रामाराधा' नामक नाटको से मिलता है। इसी प्रकार कवि

---

१. गउड़वहो—मगलाचरण देवतास्तुतय. २०-२३।
२. ध्वन्यालोक, २।६।१०, २।५।९।
३. कवीन्द्रवचनसमुच्चय, ५०१।
४. श्री राधा का क्रम विकास—शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ ११९ पर उद्धृत।
५ वही तथा सदुक्तिकर्णामृत, ५३।२, ५४।२।
६. कवीन्द्रवचनसमुच्चय, २१, २२, ३४, ४१, ४२, ५१२।
७ इडियन एटिक्वेरी ५, पृ० ५१ तथा एपिग्राफिका इडिका, २३, १०८, ३।

कर्णपूर ने 'अलंकार कौस्तुभ' में 'कदंबमंजरी' नामक नाटक का उल्लेख किया है। यह नाटक भी राधा-कृष्ण विषयक बताया गया है।[1]

परन्तु बारहवीं शताब्दी में कृष्णकाव्य अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में लिखा गया। साथ ही उसकी प्रकृति भी जो 'गाहासत्तसई' में नितांत शृंगारिक थी, उत्तरोत्तर धार्मिक होते होते बारहवीं शताब्दी तक और अधिक भक्ति-भाव-समन्वित हो गई। लीलाशुक का 'कृष्णकर्णामृत' स्तोत्र इसी शताब्दी की रचना मानी जाती है। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु इसे दक्षिण से अपने साथ लाए थे और अत्यन्त प्रेमभाव से उसे सुना करते थे। ईश्वरपुरी द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' का शृंगार रस निश्चित रूप से माधुर्य भक्ति है। इसी प्रकार महाकवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' राधा-माधव के उद्दाम शृंगार का वर्णन करते हुए भी एक धार्मिक काव्य है। स्वयं कवि ने इसे हरि-स्मरण के द्वारा मन को सरस रखने तथा विलास कलाओं के प्रति कुतूहल की तृप्ति करने के दुहरे उद्देश्य से रचा था। वस्तुतः कृष्णकाव्य की यह विलक्षणता न्यूनाधिक रूप में निरंतर देखी जा सकती है कि जहाँ एक ओर वह लोक-रंजन की रसमय, ललित सामग्री जुटाता रहा है, वहाँ दूसरी ओर पूजा और भक्ति की लोक-भावना को भी आबद्ध करता आया है।

संस्कृत साहित्य में 'गीतगोविन्द' एक अनूठी काव्य कृति है। आधुनिक आलोचकों ने इसे गीतिकाव्य, गीतिनाट्य, संगीत रूपक, यात्राकाव्य आदि विविध नामों से अभिहित किया है। इसमें राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वसंत के मनोरम वातावरण में विरहाकुल राधा गोपीवल्लभ केशव की मुग्ध माधुरी के ध्यान में लीन हैं। वे अपनी सखी के द्वारा कृष्ण के पास संदेश भेजती हैं। उधर श्रीकृष्ण भी राधा से मिलने को आतुर हैं और दूती के द्वारा उनके पास संदेश भेजते हैं। कवि विप्रलब्धा राधा को क्रमशः वासकसज्जा, खण्डिता, कलहांतरिता, मानिनी और अभिसारिका के रूप में चित्रित करता हुआ अंत में उनके कृष्ण-मिलन और केलि-विलास का वर्णन करता है। 'गीतगोविन्द' सर्गबद्ध काव्य है। उसके बारह सर्गों के नाम ही—सामोद दामोदर, मुग्ध मधुसूदन, साकांक्ष पुण्डरीकाक्ष, विलक्ष्य लक्ष्मी, सुप्रीति पीतांबर आदि—कवि की कांत कल्पना और ललित पदावली का परिचय देते हैं।

काव्य-लालित्य के कारण ही कदाचित 'गीतगोविन्द' इतना लोकप्रिय हुआ कि उसके अनुकरण में अनेक कवियों ने अपनी कल्पना-शक्ति को आजमाया। 'संगीतमाधव' (प्रबोधानन्द सरस्वती), 'गीतगोपाल' (चतुर्भुज) और 'अभिनव गीतगोविन्द' (राजा प्रतापरुद्रदेव) में शैली ही नहीं, वर्ण्य विषय में भी 'गीतगोविन्द' का अनुकरण किया गया है।

'सदुक्तिकर्णामृत' का उल्लेख किया जा चुका है। यह मुक्तक संग्रह श्रीधरदास ने बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों की संधि में तैयार किया था, जिसमें बारह शीर्षकों में गोपाल-कृष्ण की लीला के साठ श्लोक हैं। संग्रह में स्वयं राजा लक्ष्मणसेन, उनके पुत्र केशवसेन और जयदेव के श्लोकों से सूचित होता है कि संभवतः श्रीधरदास उनके समकालीन और जयदेव की तरह लक्ष्मणसेन के सभाकवि थे। वैष्णवमतानुयायी सेन राजाओं की काव्य-रसिकता के फलस्वरूप कृष्णकाव्य को जो प्रगति मिली वह कदाचित अभूतपूर्व थी। समसामयिक कवियों

---

१. श्री राधा का क्रम विकास, पृ० १२३।

की कविताओ के अतिरिक्त 'सदुक्तिकर्णामृत' में अनेक श्लोक पूर्ववर्ती सग्रह 'कवीन्द्रवचन-समुच्चय' के भी पाए जाते हैं, जिससे उनकी प्राचीनता प्रमाणित होती है।

बारहवी शताब्दी ई० के बाद कृष्णकाव्य प्रवन्धो के रूप में भी रचा गया प्रतीत होता है। वोपदेव की 'हरिलीला' तथा वेदान्तदेशिक की 'यादवाभ्युदय' रचनाएँ तेरहवी-चौदहवी शताब्दी ई० की हैं। पन्द्रहवी शताब्दी ई० की जिन रचनाओ की सूचना मिली है, वे हैं—'व्रजबिहारी' (श्रीधरस्वामी), 'गोपलीला' (रामचन्द्र भट्ट), 'हरिचरित काव्य' (चतुर्भुज), 'हरिविलास काव्य' (व्रजलोलिम्बराज), 'गोपालचरित' (पद्मनाभ), 'मुरारिविजय नाटक' (कृष्ण भट्ट) और 'कसनिधन महाकाव्य' (श्रीराम)।[1] सोलहवी शताब्दी में गौडीय वैष्णवमत के विद्वान् रूपगोस्वामी ने 'नाटकचद्रिका' में 'केशवचरित' और 'हरिविलास' के तथा 'उज्ज्वल-नीलमणि' में 'गोविन्दविलास' के नामोल्लेख सहित उद्धरण दिए हैं। सभवत ये रचनाएँ उनसे पहले की—कम से कम पद्रहवी शताब्दी ई० की होगी। रूप गोस्वामी ने ही अपनी 'पद्यावली' में अनेक पूर्ववर्ती सस्कृत कवियो की कृष्णलीला सबधी कविताओ को सकलित किया था।

इस प्रकार आधुनिक भाषाओ में कृष्ण-भक्ति साहित्य की रचना होने के पहले प्राकृत और सस्कृत साहित्य की एक लबी परपरा थी। इस साहित्य का लोकगीतो और लोककथाओ से घनिष्ठ सबध था तथा वह अधिकतर गीति और मुक्तक रूप में ही था। जो रचनाएँ प्रवधकाव्य और नाट्य के रूप में हुईं, उनमें भी कदाचित गीति-भावना प्रधान रही होगी। सभवत इसी कारण सस्कृत साहित्य में उन्हें अधिक गौरव का स्थान नही मिल सका। परतु आगे चलकर परिस्थितियाँ बदल गईं, जिनके फलस्वरूप काव्य की प्रेरणा, भावना, रूप और भाषा में आमूल परिवर्तन हो गया। इसी परिवर्तन के क्रम में हिन्दी कृष्णकाव्य को जन्म मिला, जिसकी प्रकृति मूलत धार्मिक है।

बारहवी शताब्दी के बाद लगभग दो शताब्दियो की साहित्यिक गतिविधि की जानकारी, कम से कम जहाँ तक हिंदी प्रदेश का सबध है, अपेक्षाकृत बहुत कम है। इस बीच देश की राजनीतिक और सास्कृतिक परिस्थितियो में जो अभूतपूर्व परिवर्तन घटित हुए उनके कारण नई समस्याएँ एक महान चुनौती के रूप में आ उपस्थित हुईं। उस चुनौती का सामना करने के लिए समाज की जीवनी-शक्ति जिन विविध रूपो में प्रकट हुई, उनमें सबसे प्रमुख भक्ति-धर्म का वह प्रबल आन्दोलन था जिसने सम्पूर्ण उत्तर भारत के जन-जीवन को नई आस्था और नई स्फूर्ति से अनुप्राणित कर दिया।

कृष्ण-भक्ति के विविध सम्प्रदायो का इस आन्दोलन को देशव्यापी बनाने में कदाचित सबसे अधिक हाथ है। अत हिन्दी कृष्णकाव्य के पर्यवेक्षण के पहले उसके प्रेरणा-स्रोत—कृष्ण-भक्ति का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

कृष्ण-भक्ति का स्रोत और दार्शनिक आधार

मध्ययुग की नूतन वैष्णव भक्ति के प्रणेता चार आचार्य—रामानुज (सन १०३७-

---

१ हिस्ट्री आव व्रजबुलि लिटरेचर, सुकुमार सेन, पृष्ठ ४८५।

११३७=स० १०९४–११९४ वि०),निम्वार्क (वारहवी शताब्दी ई०),मध्व (तेरहवी शताब्दी ई०) और विष्णुस्वामी माने जाते हैं। प तु उत्तर भारत में कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने वाले सम्प्रदायो का सगठन कदाचित सोलहवी शताब्दी में ही हो सका। यह स्वाभाविक है कि यह सगठन कृष्ण-लीला की भूमि व्रज प्रदेश—प्राचीन शूरसेन जनपद—के केन्द्र मथुरा-वृन्दावन से प्रारभ हुआ। सोलहवी शताब्दी में सगठित कृष्ण-भक्ति सप्रदायो का संवंध उपर्युक्त तीन आचार्यों—निम्वार्क, मध्व और विष्णुस्वामी से जोडा जाता है। परन्तु इनमें से विष्णुस्वामी की ऐतिहासिकता का कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता। निम्वार्क और मध्व के सम्प्रदायों की कोई सगठित परपरा सोलह्वी शताब्दी ई० के पहले उत्तर भारत में कही मौजूद थी, इसका भी कोई पुप्ट प्रमाण उपलव्ध नही हुआ है। निम्वार्क द्वारा प्रणीत 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' और 'दशश्लोकी' उपलव्व हैं, जिनमें व्रह्मसूत्रो का द्वैताद्वैतपरक भाष्य तथा प्रेम-भक्ति के स्वरूप का निरूपण किया गया है। परन्तु निम्वार्क द्वारा स्थापित सनकादि या हंस सप्रदाय के अनुयायी कुछ ही हिंदी भक्त कवि हुए हैं। मध्वाचार्य के द्वैतवादी विचारो को प्रतिपादित करनेवाले व्रह्म-सूत्र, गीता, उपनिपद और भागवत के भाष्य उपलव्व हैं, प तु मध्व द्वारा स्थापित व्रह्म सप्रदाय का व्रज के भक्ति-सम्प्रदायो में प्रत्यक्षत. कोई महत्वपूर्ण स्थान नही है। किसी हिंदी भक्त कवि का इस सम्प्रदाय से सीधा सवध नही देखा गया है।

सोलहवी शताब्दी में स्थापित संप्रदायो में, विशेप रूप से जहाँ तक हिंदी कृष्ण-भक्ति साहित्य का सवध है, वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग, चैतन्य का गौड़ीय, गोस्वामी हित हरिवश का रावावल्लभी तथा स्वामी हरिदास का सखी या टट्टी सप्रदाय प्रमुख हैं।

वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग को छोड कर सोलहवी शताब्दी के उपर्युक्त सभी सप्रदाय नितात साधन-पक्षी थे। उनके प्रवर्तको ने दार्शनिक विवेचन की कोई आवश्यकता नही समझी थी। कदाचित इसी कमी को पूरा करने के लिए कालातर में उनके अनुयायियो ने उन्हें प्राचीन सप्रदायो से सवद्ध कर दिया। इन प्राचीन सप्रदायो के प्रवर्तको ने नूतन वैष्णव भक्ति-धर्म को दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए जगद्गुरु शकराचार्य की तरह व्रह्मसूत्रो पर अपने अपने भाष्य लिखे थे।

मध्ययुग में शाकर अद्वैत की इतनी धाक थी कि दार्शनिक क्षेत्र में उसे अपदस्थ कर सकना असभवप्राय था। परतु भक्ति-धर्म के साथ उसकी सगति नही वैठती थी। अत दक्षिण के आचार्यो ने जव आलवार सतो में प्रचलित प्रपत्तिपूर्ण भक्ति को दार्शनिक आधार देकर प्रतिष्ठित करना चाहा तो यह आवश्यक हो गया कि अद्वैतवाद में सशोधन करके भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया जाय।

निम्वार्क ने अद्वैतवाद की व्याख्या करते हुए वताया कि चित और अचित अर्थात जीव और जड व्रह्म से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी, उसी प्रकार, जैसे दीपक की ज्योति दीपक का ही अग है और उससे अभिन्न है। दीपक से भिन्न ज्योति की कोई सत्ता नही, परतु दीपक और ज्योति पूर्णतया समरूप नही हैं। निम्वार्क के अनुसार श्रीकृष्ण ही परव्रह्म हैं। वे जगत के निमित्त कारण भी हैं और उपादान कारण भी। इसीलिए परम तत्त्व द्वैतहीन है। परतु जीव और जगत से विलक्षण होने के कारण वह द्वैत भी कहा जा सकता है। अद्वैतता और द्वैतता के इसी समन्वय के कारण निम्वार्क का मत द्वैताद्वैतवाद या भेदाभेदवाद कहा जाता है।

मध्वाचार्य ने सीधे-सीधे शाकर अद्वैत का खडन करके द्वैतवाद का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार भेद स्वाभाविक और नित्य है। ब्रह्म जगत और जीव में तो परस्पर भिन्नता है ही, जीव जीव तथा जड जड भी पृथक पृथक हैं। यह भिन्नता किसी भी अवस्था और परिस्थिति में समाप्त नही होती।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैतवाद ठीक सोलहवी शताब्दी का है। इस मत का दावा है कि इसी ने शाकर अद्वैतवाद को मायावाद से मुक्त करके शुद्ध किया है। इसके अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी का अस्तित्व नही है। जीव और जगत उसी के चित और सत अश हैं। पूर्ण अथवा अशी ब्रह्म परम आनदमय श्रीकृष्ण रूप है। प्रकृति, जीव तथा अनेक देवी-देवता ब्रह्म के ही अक्षर रूप के काल, कर्म, स्वभाव के अनुसार प्रकट होने वाले रूपातर हैं। श्रीकृष्ण का धाम भी ब्रह्म ही है और वह अक्षर अर्थात नित्य है। इस प्रकार निम्बार्क की तरह वल्लभ के अनुसार भी ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी।

चैतन्य के मतानुयायियो ने कालातर में ब्रह्म की व्याख्या करके सिद्ध किया है कि चैतन्य मत की भक्ति अचित्य भेदाभेदवाद दर्शन पर आधारित है। उसके अनुसार परम तत्त्व एक है और वह अनत शक्तियो का आकर है। उसकी शक्तियाँ अचित्य हैं, क्योकि उसमें एक साथ ही पूर्ण एकत्व और पृथक्त्व तथा अशभाव एवं अशीभाव विद्यमान रहते हैं। श्रीकृष्ण ही परम तत्व हैं। वे ही सर्व कारणो के कारण तथा स्वय प्रकाशशील हैं। जिस प्रकार एक ही पदार्थ दूध, जो रूप, रस आदि अनेक गुणो का आश्रय है, भिन्न-भिन्न इन्द्रियो द्वारा अलग-अलग रूपो में अनुभूत होता है, उसी प्रकार परम तत्त्व का भी भिन्न-भिन्न प्रकार से पृथक-पृथक अनुभव होता है। चैतन्य-मत के अनुसार भी परम तत्त्व स्वय श्रीकृष्ण है। उनकी शक्तियाँ अचित्य और अनत हैं। उन्ही की वहिरग या जड शक्ति माया है जो दो प्रकार की है—द्रव्य माया और गुण माया। द्रव्य माया जगत का उपादान कारण है और गुण माया निमित्त कारण। गुण माया भगवान की इच्छा के रूप में प्रकट होती है। जीव भगवान की तटस्थ शक्ति से उद्भूत हैं, उसी प्रकार जैसे सूर्य से किरणें निकलती है। इन दो—जड और तटस्थ—शक्तियो से भिन्न भगवान की स्वरूप शक्ति है जो सत, चित और आनदरूपिणी, सच्चिदानदमयी है। शब्दावली के किंचित अतर के साथ अचित्य भेदाभेद और शुद्धाद्वैत की व्याख्याओ में साम्य ही अधिक दिखाई देता है।

कृष्ण-भक्ति के शेष दो सप्रदाय—राधावल्लभी और हरिदासी या सखी सप्रदाय, नितात साधन-पक्षी हैं, उनमें किसी दार्शनिक मतवाद की स्वीकृति या अस्वीकृति पर विचार नही किया गया है। इन सप्रदायो को प्राय मध्व या निम्बार्क से सबद्ध किया जाता है, परतु राधावल्लभी सप्रदाय को किसी प्राचीन सप्रदाय से सबधित होना स्वीकार्य नही है और न यह कथन स्वीकार किया जाता है कि उसके प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवश कभी मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य हुए थे। हरिदासी सप्रदाय अवश्य अपने को निम्बार्क-मत के अतर्गत मानता है, परतु दोनो में पर्याप्त अतर है। दार्शनिक पक्ष का तो उसमें भी नितात अभाव है। फिर भी, यह निश्चित है कि इन सप्रदायो के सिद्धात भी अद्वैतवाद के ही ऐसे सशोधित मतवाद पर टिकाए जा सकते हैं जिनमें आशिक द्वैतता अथवा भिन्नता की स्वीकृति हो। राधावल्लभी मत में सिद्धाद्वैतवाद का आविष्कार किया गया है।

सामान्य रूप से दार्शनिक पक्ष में सभी कृष्ण-भक्ति सप्रदाय ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन करते हैं, सभी ब्रह्म की परिपूर्णता उसके रस या परम आनदमय रूप में ही मानते हैं जिसे साक्षात श्रीकृष्ण कहा गया है। सभी सप्रदायो में जगत और जीव को ब्रह्म का ही अश रूप माना गया है। इस प्रकार सभी श्रीकृष्ण ब्रह्म की अद्वैतता के साथ-साथ आशिक द्वैतता को भी स्वीकार करते हैं। सभी ने श्रीकृष्ण को भगवान मानकर उनमें अपने अपने भक्ति-भाव के अनुसार मानवीय गुणो का आरोप किया है। भगवान श्रीकृष्ण के परम धाम को गोलोक या वृन्दावन कहकर उसकी नित्यता तथा परम आनदमयता का प्राय सभी सप्रदायों में मोहक वर्णन किया गया है तथा उसके जड-चेतन—गोप, गोपी, यमुना, वन, वृक्ष, लता, कुज आदि—सभी उपकरणो को श्रीकृष्ण से अभिन्न वताया गया है। राधावल्लभी मत में पार्थिव वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का नित्य धाम वताकर राधाकृष्ण और सहचरीगण को अभिन्न, अद्वय कहा गया है।

जिस प्रकार कृष्ण-भक्ति सप्रदायो का दार्शनिक मतवाद किसी न किसी रूप में प्राय अद्वैत वेदात से प्रभावित है, उसी प्रकार उस पर साख्य का भी स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। निम्वार्क मत के अनुसार लक्ष्मी या भू शक्ति श्रीकृष्ण ब्रह्म के ऐश्वर्य रूप की तथा राधा और गोपी उनके माधुर्य रूप की अधिष्ठात्री हैं। माध्व मत में यद्यपि लक्ष्मी को परमात्मा से भिन्न कहा गया है, परतु उन्ही को परमात्मा के इगित पर सृष्टि, स्थिति, सहार आदि का कारण माना गया है। चैतन्य-मतानुयायी भगवान श्रीकृष्ण की आनद शक्ति या आह्लादिनी शक्ति को राधा और गोपी रूप में देखते हैं। वल्लभ सप्रदाय में राधा को भगवान श्रीकृष्ण के आनद रूप की पूर्ण सिद्ध शक्ति कहा गया है, वे उनकी आदि और पूर्ण रस-शक्ति हैं, रसरूप श्रीकृष्ण उनके वश में रहते हैं। राधावल्लभी सप्रदाय में इसी भाव को विकसित करके राधा को ही नित्य आनदस्वरूप कहा गया है, वे श्रीकृष्ण की आराधिका नही, वरन आराध्या है। श्रीकृष्ण और राधा, दोनों श्रीतत्व हैं, प्रिया प्रियतम हैं, दोनो एक होकर भी नित्य प्रेमलीला के सुख के लिए दो वने हुए हैं।

कृष्ण-भक्ति सप्रदायो में सिद्धान्तत माया की स्वीकृति नही है, अत यदि कही उसका उल्लेख भी हुआ है, तो उसकी ऐसी व्याख्या की गई है कि उसका अनस्तित्व सिद्ध हो जाय। प्राय भगवान की शक्ति को भी माया कहा गया है और उस रूप में वह सत्य है। वल्लभ-मत में माया के दो भेद—अविद्या और विद्या—वता कर उसके मिथ्या और सत्य रूपो को स्पष्ट किया गया है। अविद्या माया अथवा अज्ञान-जनित है। अज्ञान के कारण ही मनुष्य ब्रह्म के सत रूप जगत को अह और मम से निर्मित ससार के रूप में अनुभव करता है। साधारणतया माया के सवध में यही दृष्टिकोण मध्ययुग के सभी भक्ति-सप्रदायो में पाया जाता है। इससे भी सूचित होता है कि किस प्रकार अद्वैत दर्शन के वीच से भक्ति के प्रचार का मार्ग निकाला गया था।

कृष्ण-भक्ति के ये सभी सप्रदाय न्यूनाधिक रूप से 'श्रीमद्भागवत' को आधार वना कर चले हैं। उन्ही के द्वारा प्रस्थान-त्रय अर्थात् 'ब्रह्मसूत्र', 'उपनिपद्', और 'गीता' में 'श्रीमद्भागवत' को जोड़ कर प्रस्थान-चतुष्टय की परपरा चलाई गई। स्वय निम्वार्क की रचनाओं में तो 'भागवत' के किसी भाष्य का उल्लेख नही है, परतु उनकी भक्ति-पद्धति के सोलहवी शताब्दी के रूप पर 'भागवत' का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है। मध्वाचार्य ने 'भागवत-तात्पर्य निर्णय' ग्रन्थ लिखकर अपनी भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया है। १३ वी शताब्दी ई० में ही एक महा-

राष्ट्रीय पडित वोपदेव ने विष्णु-भक्ति का वर्णन-विवेचन करने के उद्देश्य से 'भागवत' के लगभग ८०० श्लोक 'मुक्ताफल' नाम से सग्रह किए थे। गौडीय सप्रदाय में इस गन्थ का यथेष्ट आदर हुआ है। परतु गौडीय सप्रदाय में श्रीधर स्वामी की भागवत-टीका की वहुत अधिक मान्यता है। इस सप्रदाय को सगठित रूप देनेवाले चैतन्यदेव के समकालीन भक्त और पडित सनातन गोस्वामी और रूप गोस्वामी ने भी 'लघुवैष्णवतोषिणी', 'बृहतभागवतामृत' तथा 'लघुभागवतामृत' नामक टीकाओ द्वारा गौडीय भक्ति का रूप निर्धारित किया है। इसी प्रकार वल्लभाचार्य ने 'श्रीसुबोधिनी' नाम की टीका में 'भागवत' के आधार पर अपनी पुष्टिमार्गीय भक्ति को स्पप्ट किया है। राधावल्लभी सप्रदाय में यद्यपि किसी प्राचीन परपरा की मान्यता नही है और उसका रूप-निर्माण स्वय उसके प्रवर्तक हित हरिवश के द्वारा हुआ है, फिर भी उसमें 'भागवत' को 'निगम कल्पतरु का गलित फल' कह कर सामान्य भक्ति-सिद्धात की दृष्टि से प्राथमिक मान्यता दी जाती है।

परतु इस सबध में यह स्पष्ट समझ लेना चाहि कि प्रत्येक सप्रदाय में 'भागवत' की व्याख्याएँ अपने-अपने ढग से भक्ति के साप्रदायिक स्वरूप को प्रामाणिकता देने के उद्देश्य से की गई हैं। उदाहरण के लिए मध्वाचार्य ने कृष्ण की रासलीला और गोपी-प्रेम को कोई महत्व नही दिया। दूसरी ओर गौडीय वैष्णवो ने केवल गोपी-प्रेम को अत्यत विस्तृत रूप देने में 'भागवत' की सहायता ली, बल्कि 'भागवत' के एक श्लोक[1] के आधार पर उन्होने उसमें राधा का भी सकेत प्रमाणित किया। वल्लभाचार्य ने यद्यपि पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की उपासना प्रतिष्ठित की थी, किंतु उनके अनुयायियो ने माधुर्य भाव की भक्ति का विकास भी 'भागवत' के ही आधार पर कर लिया।

'भागवत' में जिस प्रेम-भक्ति का सोदाहरण निरूपण किया गया है, सोलहवी शताब्दी के कृष्ण-भक्ति सप्रदायो ने उसी को अपने-अपने दृष्टिकोण से तर्क की स्वाभाविक परिणति पर पहुँचा दिया। भक्ति के भाव-पक्ष में यद्यपि विभिन्न सप्रदायो में बल और आग्रह का अतर पाया जाता है, परतु प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करते हुए सभी सप्रदाय और उनके अनुयायी भक्त कवि 'भागवत' में अत्यत आग्रह के साथ प्रचारित वर्णाश्रम धर्म और विधि-निषेध के विस्तृत विवरणो की सदा उपेक्षा करते हैं। विविध मानवीय भावो पर आधारित प्रेम-भक्ति के विस्तारो की प्रामाणिकता वे 'भागवत' की भाषा को समाधि-भाषा कह कर कर सिद्ध कर देते हैं। यही तर्क कृष्ण के साथ आराध्य रूप में राधा को सयुक्त करने में दिया गया है। वस्तुत मध्ययुग में 'भागवत' की इतनी अधिक लोकप्रियता थी कि उसे आधार बनाए बिना भक्ति के किसी सप्रदाय को प्रतिष्ठित करना सभव नही था। वैष्णव भक्ति-धर्म के पुनरुत्थान और नव-निर्माण में 'भागवत' का अद्वितीय योग रहा है। वह नूतन वैष्णव धर्म का अक्षय्य स्रोत है।

इष्टदेव

सभी कृष्ण-भक्ति सप्रदाय श्रीकृष्ण और राधा को इष्टदेव मानते हैं, परतु विभिन्न सप्रदायो में दोनो के सापेक्ष महत्व में पर्याप्त अतर पाए जाते हैं। कहते हैं, पहले निंबार्क-मत का

---

१. अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः।... १०-३०-२४।

वह रूप नही था जो आज है । कदाचित अन्य सप्रदायो की तरह उसमें भी राधा की महत्ता बढती गई है। जो हो, निंवार्क-मत के इष्टदेव प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आनदिनी शक्तियो अर्थात् गोपियो से परिवेष्ठित श्रीकृष्ण माने जाते हैं। निंवार्क ने 'दशश्लोकी' में कृष्ण के वामाग में विराजमान, सहस्रो सखियो से सेवित, प्रेम-शक्ति-स्वरूपा राधा की स्तुति की है। इसी प्रकार, यद्यपि वल्लभाचार्य ने केवल वाल कृष्ण की उपासना-पद्धति स्थापित की थी, उनके पुत्र विट्ठलनाथ के समय में राधा की महत्ता वढ गई और पुष्टिमार्ग में राधा-भाव का महत्व प्राय वही हो गया जो अन्य समसामयिक सप्रदायो में था। राधा की महत्ता के सवध में चैतन्य, राधा-वल्लभी और सखी सप्रदायो की स्थिति निंवार्क-मत के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल और, यदि उसे प्राचीनतर माना जाय तो, कदाचित उसी का विकसित रूप है। यह भी प्रसिद्ध है कि पहले व्रज के चैतन्य-मत में भी वल्लभ-मत की तरह वाल कृष्ण की उपासना प्रचलित थी। 'प्रेमविलास' और 'भक्तिरत्नाकर' नामक ग्रन्थो के अनुसार व्रज मे वाल कृष्ण के साथ राधा की उपासना का योग नित्यानद की पत्नी जाह्नवी की प्रेरणा से जीव गोस्वामी ने कराया था। इसे सहजिया वैष्णव सप्रदाय का प्रभाव कह सकते हैं। स्वय सहजिया सप्रदाय में परकीया भाव साहित्य में, विशेष रूप से लोक-साहित्य में, प्रचलित राधा-कृष्ण की प्रेम-कथाओ तथा तान्त्रिक साधनाओ में गृहीत स्त्री-पुरुष की युगनद्ध साधना की प्रणाली से प्रभावित कहा जा सकता है। जो हो, सोलहवी शताब्दी में प्रचलित सभी कृष्ण-भक्ति सप्रदायो में कृष्ण के साथ राधा की उपासना अनिवार्य रूप में जुड गई तथा चैतन्य सप्रदाय ही नही, वल्लभ सप्रदाय के कवियो ने भी परकीया भाव ग्रहण किया। परतु राधा की महत्ता का चरम रूप राधावल्लभी सप्रदाय में प्राप्त होता है, जहाँ राधा कृष्ण की आराधिका नही, उनकी अराध्या है। उसके अनुसार वे ही परम आनद तत्व हैं, वे ही हित तत्व हैं।

कृष्ण-भक्ति का मूलाधार—प्रेम

कृष्ण-भक्ति के सभी सप्रदायो की उपासना-पद्धति मध्ययुग के अन्य वैष्णव तथा इतर सप्रदायो से इस वात में भिन्न है कि उसमे एक मात्र प्रेम को ही महत्व प्राप्त हुआ है। धर्म का विधि-निषेध पक्ष प्राय उसी मे अतर्निहित और स्वयसिद्ध मान लिया गया है, प्रेम-भक्ति से भिन्न उसे अत्यत गौण और कभी-कभी उपेक्षणीय ही नही, उल्लघनीय भी माना गया है।

जिस समय प्राचीन भागवत धर्म लगभग ६०० ई० पूर्व वासुदेवोपासना के रूप में प्रारभ हुआ था, तव वह पशु-वलि-प्रधान वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया से प्रेरित एक निवृत्ति मार्ग के रूप में सगठित किया गया था। महाभारत[1] में उसे नारायणीय धर्म कहकर वैदिक ऋषियो द्वारा प्रचारित यज्ञ-प्रधान प्रवृत्ति-धर्म से भिन्न कपिल-सनकादि द्वारा सेवित निवृत्तिमूलक वेद-विहित वैष्णव यज्ञ वताया गया है। परतु पुराणो से इस वात की साक्षी मिलती है कि वैष्णव धर्म भी कदाचित ईसा की सातवी से वारहवी शताब्दियो में तान्त्रिक भोगवाद से प्रभावित हो गया था। पुराणो में वर्णित ऐश्वर्यशाली श्रीकृष्ण की भोग-क्रीडाएँ तान्त्रिक वामाचार के अत्यत निकट हैं।

---

१. शाति पर्व, अध्याय ३३६-३४२।

'हरिवंश' में ही, जो महाभारत का परिशिष्ट कहा जाता है और जो वस्तुत पुराण साहित्य का आदि रूप प्रस्तुत करता है, कृष्ण की पिंडार यात्रा में उनके कामासक्तिपूर्ण आचरण का विस्तृत वर्णन है। लगभग सभी पुराणो में, कदाचित तात्रिक वामाचार के प्रभाव के फलस्वरूप, ऐसी अनेक कथाएँ मिलती है जिनमे अनेक देवताओ की इन्द्रिय-परायणता और स्वच्छद भोग-क्रीडाओ का खुला वर्णन किया गया है। परतु पुराणो की यह विशेषता है कि जहाँ एक ओर वे प्रवृत्तिमय जीवन का अतिरजित चित्राकन करते है, वहाँ दूसरी ओर निवृत्ति और वैराग्य भावना को भी पराकाष्ठा पर पहुँचा देते है। बात यह है कि जिस समय वज्रयान-सहजयान की गुह्य तात्रिक क्रियाओ का लोकव्यापी प्रचलन हो रहा था, उसी समय शकराचार्य (आठवी-नवी शताब्दी ई०) के वेदातपरक वैराग्यवाद का भी प्रचार था। वस्तुत चतुर पुराणकारो ने तात्रिक आचार और शाकर वैराग्यवाद दोनो को वैष्णव भक्ति-धर्म में सम्मिलित करके अपनी अद्भुत नीति-कुशलता का परिचय दिया है।

परतु पुराणो की यह समन्वय-क्रिया अत्यत चतुरतापूर्ण होते हुए भी प्राय स्थूल शारीरिक धरातल पर ही अवस्थित है। इससे भिन्न मध्ययुगीन नूतन वैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति में प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कही अधिक सूक्ष्म और मानस-भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। उसमें समस्त भोगोन्मुख ऐन्द्रियता तथा सम्पूर्ण मानसिक प्रवृत्तियो को कृष्णार्पित करने का विधान है जिसमें सफलता मिलने पर मनुष्य को ससार से मानसिक विरक्ति प्राप्त हो सकती है। हम कह सकते है कि उस काल में, जब भोग-विलास के अतिरिक्त मनुष्य-जीवन का कोई लक्ष्य नही रह गया था, मनुष्य की स्थूल ऐन्द्रिय प्रवृत्तियो को शारीरिक भोग-हीन धार्मिकता की ओर प्रवृत्त करने में कृष्ण की प्रेम-वासनापूर्ण, लोकसामान्य, किंतु अलौकिक और अतीन्द्रिय लीला का मानसिक सन्तृप्तिदायक चिंतन अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ होगा। वस्तुत मध्ययुग की कृष्ण-भक्ति में भगवद्गीता के अनासक्तिपूर्ण सर्वात्म-समर्पणयुक्त भक्तियोग का ही युग-भावना के अनुकूल व्यावहारिक उदाहरण उपस्थित किया गया है, उसमें ससार से अनासक्ति दृढ करने के लिए निषेध के स्थान पर सहज विधान पर जोर दिया गया है। कृष्ण के प्रति प्रेम जब अदम्य आसक्ति और अनिवार्य व्यसन के रूप में विकसित हो जाय, तब नाशवान और दुष्परिणामी सासारिक विषयो से अनासक्ति या विरक्ति स्वत प्राप्त हो जाती है। यह भक्ति एकान्तत प्रेम-प्रधान अथवा रागानुगा है और मर्यादा-भक्ति से भिन्न है जिसमें प्रेम के साथ-साथ धार्मिक विधि-निषेध का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है।

गौडीय वैष्णव सप्रदाय के अनुयायी विद्वानो ने इस रागानुगा अथवा प्रेम-लक्षणा भक्ति का विस्तृत सैद्धातिक विवेचन किया है और वह सामान्यतया सपूर्ण कृष्ण-भक्ति को समझने में सहायक है। काव्यगत शृगार के स्थायी भाव की भाँति भक्ति के प्रेम को भी रति कहा गया है। किन्तु काव्य की अपेक्षा यह रति अधिक व्यापक है और उसके अन्तर्गत आनेवाले पाँच भावो मे स्थायी भावो की योग्यता स्वीकार की गई है। भक्ति-रति का यह भाव-भेद भक्तो के स्वभाव-भेद पर निर्भर होता है।

शान्त स्वभाव के भक्त में निर्वेद अथवा ससार से वैराग्य का भाव प्रधान होता है और उनकी भक्ति 'शाति' रति कही जाती है। किन्तु भक्तो में इस स्वभाव की सभावना बहुत कम है, क्योकि

इसमें निषेध की प्रधानता है। अभावात्मक होने के कारण ही इसको अधिक महत्व नही दिया गया। वस्तुत मन की यह विराग-स्थिति करुणानिधान भगवान के प्रति राग उत्पन्न होने की पीठिका मात्र है जो भक्ति के लिए अनिवार्य होते हुए भी अनुराग की अपेक्षा महत्वहीन है। दास्य स्वभाव के भक्त भगवान की सर्वसपन्नता, सर्वसमर्थता तथा सर्वशक्तिमत्ता के समक्ष अपनी दीनता, हीनता, असमर्थता और अशक्तता का अनुभव करके जिस आत्मीय भाव को अपनाते है उसे 'प्रीति' कहा गया है। वस्तुत यह दीनता का भाव सभी भावो की भक्ति का अनिवार्य लक्षण कहा जा सकता है और प्रेम-भक्ति के सभी भावो में प्रेम-विवशता के रूप में निहित रहता है। इसी के द्वारा प्रेम के मानवीय भाव उदात्त और अलौकिक भूमि पर प्रतिष्ठित होते है। किंतु कृष्ण भक्त अपने भगवान के साथ अधिकाधिक घनिष्ठता और ममता का संवध स्थापित करना चाहता है, अत वह केवल दैन्यपूर्ण प्रीति से सतुष्ट नही रहता। अत कृष्ण-भक्तो का स्वभाव-भेद सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन्ही तीन रूपो में बताया गया है और उनके आधार पर व्यक्त रति को 'प्रेम', 'अनुकम्पा' और 'कान्ता' अथवा 'मधुर' रति कहा गया है। भाव-भेद के कारण सिद्धान्तत भक्ति की सापेक्ष श्रेष्ठता नही मानी जाती और 'गीता' और 'भागवत' की साक्षी के आधार पर सर्वात्म-तल्लीनतापूर्ण ध्यान, फिर चाहे वह किसी भाव से हो—यहाँ तक कि वैर-भाव से ही क्यो न हो—सार्थक समझा जाता है, तथापि व्यवहार में यह माना गया है कि 'मधुर' अथवा 'काता' रति में तल्लीनता और सर्वात्म-समर्पण सबसे अधिक सुलभ है। लोक में भी भाव की गहनता और सघनता सबसे अधिक स्त्री-पुरुष के सबध में समझी गई है; काव्य के शृगार को इसी कारण रसराज कहते है। आनद और रस के सागर श्रीकृष्ण अपने पूर्ण परमानद रूप में इसी भाव के अतर्गत रासलीला में प्रकट होते है तथा यही एकमात्र भाव है जिसमें भक्त और भगवान की भावानुभूति एक समान दिखाई जा सकती है और दोनो के सम्पूर्ण एकाकार होने का वर्णन किया जा सकता है।

माधुर्य भाव का स्वरूप

परतु माधुर्य भाव के स्वरूप और विस्तार के सबध में विभिन्न सप्रदायो में किंचित अतर पाए जाते है। निंबार्क सप्रदाय में यद्यपि कृष्ण के ऐश्वर्य रूप की अपेक्षा उनके माधुर्य रूप का ही अधिक महत्व है और उसके उद्घाटन के लिए वृन्दावन की नित्य लीला में राधा तथा गोपियो के काता भाव का विशद चित्रण किया गया है, परतु निंबार्क सप्रदाय का राधाभाव या गोपीभाव स्वकीया प्रेम तक ही सीमित है तथा उसमे सयोग को ही महत्व दिया गया है।

इसके विपरीत चैतन्य सप्रदाय परकीया प्रेम में माधुर्य भाव के उज्ज्वल रस की चरम परिणति मानता है। प्रेम के इसी रूप में प्रेम के अतिरिक्त किसी अन्य विचार का स्थान नही होता, अत यही प्रेम अपने में पूर्ण होता है। साथ ही, परिजन, समाज तथा धर्म के बाधा-बन्धनो का अतिक्रमण करके अडिग रहता हुआ, जिस प्रकार यह प्रेम तीव्र से तीव्रतर होता जाता है, वसा स्वकीया भाव में सभव नही है। प्रेमानुभूति की अनुरजकता, विविधता तथा नित्य नवीनता के लिए भी परकीया भाव में ही स्वाभाविक परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती है। वस्तुत माधुर्य भाव का इसी के द्वारा इतना विस्तार हो सका है। वल्लभ सप्रदाय के कवियो ने भी इसी कारण माधुर्य भाव के अतर्गत राधा और गोपियो के प्रेम में परकीया का आदर्श सम्मिलित किया है।

परंतु यह परकीया भाव प्रेम के आदर्श का प्रतीक मात्र है। वास्तव मे न तो राधा कृष्ण से भिन्न है और न अन्य गोपियाँ, वे तत्वत अद्वय और एक ही है। साथ ही परकीया भाव केवल प्रेम-विकास की स्थिति के द्योतन के लिए है, प्रेम की परिपूर्णता तो उस स्थिति में है, जब स्वकीया और परकीया का लौकिक भेदाभेद मिट जाता है। यदि लौकिक दृष्टि से उसका वर्णन किया ही जाय तो उसे वास्तविक स्वकीया की स्थिति ही कहेंगे, क्योकि माधुर्य-भक्ति में वस्तुत पति तो एक मात्र कृष्ण ही हैं, उनसे भिन्न जो भी हैं—चाहे वे लीला के हेतु स्वय राधा या गोपियाँ हो या माधुर्य भाव को अपनाने वाले उनके अशरूप स्त्री-पुरुष भक्तगण—वे सब उन्ही प्रियतम कृष्ण की प्रेमिकाएँ हैं। स्पष्ट है कि प्रेम का यह स्वरूप सर्वथा अतीन्द्रिय और अलौकिक है। लौकिक अर्थ मे वह जितना निकृष्ट और गर्हित है, भक्ति के सदर्भ में उतना ही परिष्कृत और उदात्त।

काता भाव के प्रेम में विरह की महिमा सभी सप्रदाय स्वीकार करते हैं। परकीया भाव वस्तुत विरहानुभूति की तीव्रता के कारण ही इतना प्रशसित रहा है। विरह में प्रेम की अतीन्द्रियता सहज सुलभ है। वल्लभ सप्रदाय में इसी कारण श्रीकृष्ण के 'अवतीर्णपूर्व रस' अर्थात् 'सयोग रसात्मक' रूप की अपेक्षा उनका 'मूल रस' अर्थात 'विप्रयोग रसात्मक रूप' अधिक उत्कृष्ट कहा गया है। काव्य की भाँति यहाँ भी विरह पूर्वराग, मान और प्रवास के रूपो में होता है। परतु राधावल्लभी सप्रदाय की स्थिति इस सबध में भी भिन्न है। उसमें न तो परकीया भाव की स्वीकृति है और न विरह भाव की। वहाँ निकुज-लीला का वृन्दावन-रस नित्य-मिलन के रूप में कल्पित किया गया है। यह मिलन निरतर विरहानुभूति से अनुप्राणित और नवनवोन्मेषकारी रहता है। वल्लभ सप्रदाय के नददास ने जिसे 'प्रत्यक्ष' विरह कहा है, बहुत कुछ वैसी ही स्थिति राधावल्लभी 'प्रेम विरहा रस' की है। प्रत्यक्ष विरह में प्रेमावेश के कारण मिलन में ही विरह का भ्रम हो जाता है। 'पलकातर' विरह भी मिलन-दशा की ही विरहानुभूति है, अतर केवल स्थान की दूरी का है। इससे अधिक काल और स्थान की दूरी क्रमश 'वनातर' और 'देशातर' विरह में होती है।

राधावल्लभी मत की एक और विशेषता यह है कि उसमें राधा प्रेम की आलबन है और कृष्ण उसके आश्रय। वे नित्य विहार मे निमग्न रहते हुए एक दूसरे के सुख—'तत्सुख'—के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। उनके नित्य विहार की परिकर, सहचरीगण भी बिना किसी ईर्ष्या अथवा स्पर्धा के 'तत्सुखिभाव' से उनकी रसक्रीडा में सहायता देने के लिए परिचर्या में रत रहती हैं। इन सहचरियो में आठ विशिष्ट हैं, जिन्हे अष्टसखी कहते हैं। भक्त इन्ही सहचरियो के सौभाग्य की कामना करता हुआ, उन्ही के समान आचरण करने की चेष्टा करता है। चैतन्य सप्रदाय मे भी अष्टसखियो की गणना की गई है तथा वल्लभ-सप्रदाय के अष्टसखाओ के विषय मे कहा गया है कि उन्हे निकुज-लीला भी सिद्ध थी। सखीभाव से अष्टसखाओ के नाम भी गोस्वामी हरिराय ने गिनाए है। चैतन्य सप्रदाय में सखियो के अतिरिक्त परिचारिका 'मजरियो' का भी उल्लेख है तथा प्रत्येक सखी को 'यूथेश्वरी' कहकर उनके अलग-अलग यूथ गिनाए गए है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि निकुज-लीला की सखीभाव की भक्ति केवल राधावल्लभी मत की ऐसी विशेषता नही थी, जो अन्य कृष्ण-भक्ति सप्रदायो में न पाई जाती हो। अतर केवल विवरण और अवधान का है। कृष्ण के प्रति सखा भाव और वात्सल्य भाव की भक्ति अवश्य वल्लभ-सप्रदाय की निजी

विशेषता कही जा सकती है। प्रेम के इन विविध भावो के ही आधार पर श्रीकृष्ण की लीला के रूप, प्रकार तथा विवरण-विस्तार को भक्त कवियो ने पद-गायन का विषय बनाया और भाव-भक्ति जब वाणी के माध्यम से प्रकट हुई तो स्वत काव्य बन गई।

ब्रह्म में इस प्रकार मानवीय भावो का आरोप वस्तुत एक विपरीत कल्पना है। किन्तु निर्गुण, निराकार और निर्विकार ब्रह्म को सगुण और साकार रूप में अवतरित करना स्वत एक विपरीत कल्पना है। भक्ति के प्रतिपादको ने इस विरोध का समाधान श्रीकृष्ण ब्रह्म को 'विरुद्ध धर्माश्रय' बताकर किया है। चैतन्य और वल्लभ मतो के अनुसार परम आनदरूप श्रीकृष्ण गोलोक के नित्य वृन्दावन धाम में नित्य गोप-गोपियो के साथ नित्य विहार करते रहते है तथा अवतार दशा में वही आनद-लीला व्रज में प्रकट हो जाती है। राधावल्लभी मत में वृन्दावन को ही नित्य माना गया है और उसकी प्रेम और आनद की क्रीडा को निकुज-लीला कहा गया है। हम कह सकते है कि भक्ति के आराध्य कृष्ण और राधा तथा आदर्श भक्त गोप-गोपी आदि वस्तुत भाव रूप में कल्पित है, वे भावो के ही मूर्त प्रतीक है। मानवीय मनोविकारो की यह अलौकिक रूप कल्पना एक प्रकार से उनका परिष्करण अथवा उदात्तीकरण कही जा सकती है। पुष्टिमार्ग में इस उदात्त अलौकिक भावानुभूति को 'राग-विनाश' कहा गया है, क्योंकि भक्त कृष्णार्पित होकर सासारिक विषयो से सर्वथा उदासीन हो जाता है।

प्रेम-भक्ति की महत्ता तथा अन्य साधन-निरपेक्षता

मनुष्य के मन की प्रक्रिया के ज्ञान, अनुराग अथवा भाव, तथा सकल्प अथवा क्रिया में रागानुगा भक्तिमार्ग अनुराग अथवा भाव को सब से अधिक महत्व देता है तथा ज्ञान और कर्म को इसी के अतर्गत स्वयसिद्ध मानता है। आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के उपरात भले ही अह का विनाश हो जाय, साधनावस्था में प्रत्यक्षत अह की स्वीकृति रहती ही है। सभवत भक्ति के उत्थान-काल में ज्ञानमार्गी बहुधा दभी और अभिमानी देखे जाते थे, इसी कारण भक्तो ने उनकी विगर्हणा की और यह दिखाया कि समस्त चेतना का कृष्णमय या राधामय हो जाना ही सच्चा ज्ञान है। यह ज्ञान भक्तो के लिए सहज सुलभ है, ज्ञानियो के लिए कष्टसाध्य और दुर्लभ। साधारणत ज्ञानमार्ग का प्रथम सोपान वैराग्य है। भक्त भी वैराग्य को कम महत्व नही देता। अतर केवल यह है कि वैराग्य भक्ति का अनिवार्य साधन नही, उसका स्वाभाविक अग या लक्षण है। मनुष्य के हृदय में यदि विरक्ति का अकुर न भी हो, तो भी भगवान की कृपा से मन और इन्द्रियाँ लीला-पुरुष परमानदरूप श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख हो जाती है और भक्त अनायास ससार के विषयो से विरक्त हो जाता है। किन्तु भक्ति-पथ में वैराग्य को किसी प्रकार लक्ष्य और साधन नही माना जा सकता। कृष्ण-भक्ति मन के वैराग्य को ही महत्व देती है और सासारिक कर्तव्यो को त्यागने वाले विरागियो को प्रश्रय नही देती। समसामयिक लक्ष्य-भ्रष्ट विरागियो को लक्ष्य करके कृष्ण-भक्त कवियो ने वैराग्य की निन्दा की है। इसी प्रकार, योग और तपश्चर्या में जो साध्य और साधन की भिन्नता तथा साधन को ही साध्य मान बैठने की आशका दिखाई देती है, उसीके कारण, भक्तो ने योगियो और तपस्वियो के प्रयत्नो को निष्प्रयोजन काया-कष्ट एव पाखण्डपूर्ण आडम्बर बताया है। कृष्ण-भक्तो के निकट प्रेम का पथ ही सब से बडा

योग और सब से बडा तप है। प्रेम-भक्ति में चित्त-वृत्ति का निरोध और सासारिक विकारो का नाश सहज है।

कृष्ण-भक्तो ने धार्मिक कर्मकाड और वाह्य आचारो की भी उपेक्षा की है। यद्यपि स्वय कृष्ण-भक्ति सप्रदायो में कालातर में अनेक प्रकार का कर्मकाण्ड विकसित हो गया, किन्तु आरभ में भाव पर ही विशेष बल दिया जाता था। इसीलिए भक्त कवियो ने अपने काव्य में कर्मकाड को विशेष स्थान नही दिया, उन्होने भक्ति के भाव-पक्ष को ही एकात रूप से चित्रित किया है और उसी में ज्ञान, वैराग्य, योग, तप और कर्म का समाहार दिखलाया है। रागानुगा भक्ति की स्वत पूर्णता के कारण ही उसमें धर्म के स्मार्त विधि-निषेध अनावश्यक माने गए हैं। यही नही, परिवार, समाज और शास्त्र के नियम यदि भक्ति के सहज परिपालन में बाधक हो तो उनका तिरस्कार भी आवश्यक बताया गया है। इसी भाव से गोपियाँ कृष्ण-भक्ति में बाधक लोक, वेद और कुल की मर्यादाओ का प्रत्याख्यान करती दिखाई गई है। धर्म की इस भाव-पद्धति में मनुष्य की अच्छी-बुरी सभी प्रवृत्तियो के दमन के स्थान पर कृष्णोन्मुख करने का विधान तथा सदाचरण के सहज और सुलभ मार्ग का निदर्शन है।

भक्ति का व्यावहारिक पक्ष

किंतु भक्ति की पूर्णता केवल भगवान के 'अनुग्रह' से प्राप्त होती है। पुष्टिमार्ग में पूर्ण अनुग्रह प्राप्त जीवो को 'पुष्टिपुष्ट' कहा गया है। निम्बार्क सप्रदाय के अनुसार ये जीव 'मुक्त-जीव' कहे जाएँगे। राधावल्लभी मत में सहचरी भाव भी राधा की कृपा से ही सभव बताया गया है। अन्य जीव जो इस प्रकार पूर्ण अनुग्रह के इच्छुक होते हैं, अवस्थानुसार न्यूनाधिक मात्रा में धर्म की मर्यादा का पालन करते है और इस सबध में भक्तिमार्ग भी सदाचरण के समस्त शास्त्रीय नियमो का पालन आवश्यक मानता है। मध्ययुग के सभी भक्ति-सप्रदायो में धर्माचरण की शिक्षा और अभ्यास के लिए सत्सग की महिमा का विस्तार से वर्णन हुआ है। कृष्ण-भक्ति में भी सत्सग की महिमा के अतर्गत हरिविमुखो, असाधुओ और अभक्तो के परित्याग का उपदेश दिया गया है। गुरु की मान्यता भी उसमें अन्य भक्ति-सप्रदायो की ही भाँति है, विविध सप्रदायो में विवरणगत अतर अवश्य पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, राधावल्लभी मत में आदि-प्रवर्तक हित हरिवश को ही हरि-रूप गुरु माना गया है। गुरु की कृपा से ही भक्त साधना में प्रवेश पाता है तथा दृढ-चित्त और सकल्पशील रह सकता है। यही कारण है कि भक्त कवियो ने प्राय गुरु को इष्टदेव से अभिन्न तक कहा है और गुरु-भक्ति और इष्ट-भक्ति में अतर नही माना है। गुरु-भक्ति, सत्सगति और सामान्य धर्माचरण के साथ साप्रदायिक भक्ति में इष्टदेव की मूर्ति, उनके विग्रह या स्वरूप की सेवा भी भक्ति का एक अनिवार्य अग है और इस सबध में इतने अधिक विस्तार हो गए हैं कि प्राय भक्ति का वास्तविक रूप ओझल हो जाता है।

किंतु भक्ति के इस पक्ष के कारण, न केवल धर्म के सामाजिक रूप को विकसित होने का अवसर मिला, बल्कि उसने सगीत, साहित्य, चित्रकला, वस्त्र-रचना, आभूषण-निर्माण आदि कलाओ की उन्नति में भी अभूतपूर्व योग दिया, यहाँ तक कि पाकशास्त्र तक को उसने पूर्ण सरक्षण दिया। मूलत निवृत्तिप्रधान होते हुए भी इस भक्ति-धर्म ने व्यवहार में प्रवृत्ति को ही पुष्ट किया।

निषेध का तो मानो उसमें एकात अभाव है, क्योकि उसके आधार है कृष्ण और राधा तथा उनकी हृदयहारिणी लीलाएँ, जो उनके कृपापात्र जीवो को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है और भक्त के समस्त मनोविकारो को परमोत्कृष्ट रूप मे व्यक्त होने का अवसर देती है। इन्द्रियो की सहज प्रवृत्तियो को कृष्णोन्मुख करने के लिए ही मदिरो में उनके विग्रह का साज-श्रृंगार किया जाता है, इस उद्देश्य की पूर्ति जितनी अधिक सफलता से काव्य के मनोहर रूप-चित्रणो और लीला-वर्णनो के द्वारा होती है, उतनी सभवत मूर्तियो के श्रृगार से नही हो सकती। कृष्ण-भक्त कवियो ने इसी हेतु मानव-रूप और मानव-चरित के चित्रण में प्रकृति का समस्त सौन्दर्य और माधुर्य समाप्त कर दिया है। मन और आँखो के साथ कानो के आकर्षण के लिए कृष्ण की मुरली की अवतारणा की गई है, जिसकी लोक-लोकान्तरव्यापी स्वर-लहरी समस्त ससृति की गति को विपरीत कर देती है, जिसके प्रभाव से गोपियाँ अपने लौकिक सबधो को तोडकर कृष्ण-दर्शन के लिए विकल हो उठती है। मन और इन्द्रियो की स्वाभाविक गति पर आधारित कृष्ण-प्रेम उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ, क्रमश 'आसक्ति' और 'व्यसन' में परिणत हो जाता है। भक्त निरतर प्रेम-सयोग के लिए उत्कठित रहता है, किन्तु आसक्ति की जितनी गहनता विरहावस्था में होती है, उतनी सयोगावस्था में नही। वियोगावस्था में भक्त निरतर कृष्ण के रूप का ध्यान, उनके नाम का स्मरण और उनकी लीला और उनके गुणो का श्रवण और कीर्तन करता रहता है। मध्ययुग के समस्त भक्ति-सप्रदायो में नाम-स्मरण का अत्यधिक महत्व था, कृष्ण-भक्ति भी उसका अपवाद नही है, यद्यपि कृष्ण-भक्तो को नाम-स्मरण के साथ रूप और लीला में विविध प्रकार से तल्लीन होने की एक महत्वपूर्ण अतिरिक्त सुविधा है। यह स्पष्ट है कि नवधा भक्ति कृष्ण-भक्ति के लक्षणो में अतर्भुक्त है, उसका पृथक कोई अस्तित्व नही है।

कृष्ण-भक्ति का यह रूप जिस साहित्य के माध्यम से उद्घाटित हुआ है उसमें हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य का अन्यतम स्थान है। कृष्ण-भक्ति की प्रकृति में ही जीवन के आध्यात्मिक और इहलौकिक पक्षो का जो अद्भुत सम्मिश्रण है, उससे मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य को जहाँ धर्म-सप्रदायो के अतर्गत अत्यन्त सम्मानित, उच्च, धार्मिक साहित्य होने का गौरव मिला वहाँ दूसरी ओर उसने सहज ही लोक-सामान्य भावनाओ का उन्मुक्त प्रकाशन करके जन-साधारण के हृदय में भी ममतापूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। यही कारण है कि सप्रदायो के तत्त्वावधान में रचे जाने पर भी उसमें सकीर्णता और कट्टरता का प्राय एकात अभाव है। जैसा पीछे कहा गया है, सभवत लोक-प्रचलित कृष्णाख्यान पर आधारित लोकगीत और लोककथाएँ वैष्णव भक्ति के अभ्युत्थान के पहले से ही प्रचलित थी और उनकी प्रकृति अनिवार्यत धार्मिक नही थी, वरन उनका उद्देश्य प्रारम्भ में प्रधानतया लोकरजन ही था। इसीलिए हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य कालातर में सहज ही ऐसे ललित काव्य में परिणत हो गया जिसकी प्रकृति अत्यधिक सप्रदायहीन, इहलौकिक और लोक-सामान्य है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य का सामान्य स्वरूप

हम देख चुके है कि सस्कृत में ही कृष्णकाव्य की प्रकृति उत्तरोत्तर धार्मिकता और भक्ति-भावना से समन्वित होने लगी थी। परतु इतर काव्य की भाँति कम से कम बारहवी शताब्दी

तक कृष्णकाव्य की रचना को भी राजाश्रय की अपेक्षा बनी रही। जयदेव ने वैष्णव राजा लक्ष्मण-सेन के आश्रय में रह कर ही 'गीतगोविन्द' की रचना की थी। इसीलिए उसमें कुशल कवि ने हरि-स्मरण के साथ-साथ विलास-कलाओ के प्रति कुतूहल का भी यथेष्ट ध्यान रखा है। परतु बारहवी शताब्दी के बाद कोई ऐसा राजा नही हुआ जो कृष्णकाव्य को प्रश्रय-प्रोत्साहन देता। वस्तुत सच्चा साहित्य अब राज-सभाओ की सकीर्ण सीमाओ से निकलकर जन-साधारण की सवेदनाओ और आदर्शो का वहन करने की ओर अग्रसर होने वाला था। यह सकेत किया जा चुका है कि उस समय देश के जीवन में जो गभीर राजनीतिक और सास्कृतिक परिवर्तन घटित हुए उन्हीके क्रम मे वैष्णव भक्ति-धर्म एक व्यापक आन्दोलन के रूप में उठ खडा हुआ था। इस आन्दोलन की बहुत बडी विशेषता यह थी कि यह शुद्ध जनता का आन्दोलन था। अत उसका माध्यम भी मुख्यतया जन-भाषाएँ ही बनी। भक्ति-धर्म भावना-मूलक था, अत उसकी अभिव्यक्ति स्वभावतया काव्य के रूप मे हुई और इस प्रकार जन-भापाएँ काव्य के पद पर प्रतिष्ठित हो गई। सस्कृत भाषा का उपयोग वैष्णव भक्ति-धर्म के केवल दार्शनिक और सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट करने तक ही प्राय सीमित रहा। जन-भापाओ ने ही नूतन वैष्णव भक्ति का सदेश वहन करते हुए लोक-जीवन को आमूल हिला देने वाला वह सास्कृतिक पुनर्जागरण देश के कोने-कोने में फैला दिया जिसकी तुलना प्राचीन काल के बौद्ध आन्दोलन से ही की जा सकती है।

परतु पद्रहवी शताब्दी ई० के पहले आधुनिक भापाओ में कृष्णकाव्य के उदाहरण नही मिलते। पद्रहवी शताब्दी में ही हिंदी (मैथिली) मे विद्यापति, बगला में चडीदास, गुजराती में भीम और कदाचित इसी शताब्दी में भालण ने गोपालकृष्ण की लीलाओ को काव्य का विषय बनाया। परन्तु विद्यापति भी जयदेव की भाँति एक राजाश्रित कवि थे। साथ ही उनके आश्रय-दाता राजा शिवसिंह और उनके उत्तराधिकारी राजा लक्ष्मणसेन की भाँति वैष्णव मतानुयायी नही थे। अत विद्यापति की पदावली का कम से कम प्रारभिक उद्देश्य विलास-कलाओ के प्रति कुतूहल उत्पन्न करना ही था, उसमें हरि-स्मरण का सयोग कदाचित उतना ही था जितना गोपाल कृष्ण की कथा में परपरा से निहित रहता आया था।

अनुमान किया जाता है कि विद्यापति की पदावली 'गीतगोविन्द' से प्रभावित है। विद्यापति 'अभिनव जयदेव' के नाम से प्रसिद्ध भी हैं। परवर्ती होने के नाते विद्यापति ने जयदेव से प्रेरणा अवश्य ली होगी, परतु उनकी पदावली में वर्णित राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसगो का स्रोत तो वही अक्षय्य लोक-साहित्य रहा होगा जिसने जयदेव को भी प्रेम और भक्ति का अमर विषय प्रदान किया था।

निश्चय ही विद्यापति की पदावली उस धर्म-भावना से प्रसूत नही है जिसने सोलहवी शताब्दी ई० के कृष्णकाव्य को एक सर्वथा नवीन परिवेश में प्रस्तुत होने का अवसर दिया। पीछे कह चुके हैं कि सोलहवी शताब्दी ई० के पहले कृष्ण-भक्ति सप्रदायो का सगठित प्रचार ही नही प्रारभ हुआ था। मिथिला में तो कृष्ण-भक्ति की लोकप्रियता कदाचित विद्यापति के बाद भी अधिक नही हुई। परतु कृष्ण-वार्ता और कृष्णाख्यान जिसमें लोकरजनकारी माधुर्य और लालित्य के साथ-साथ पवित्र पूजा-भावना भी सयुक्त थी, मिथिला क्या, देश के किसी भाग के लिए अपरिचित नही थी। अत अपने आश्रयदाता राजा शिवसिंह और रानी

लखिमादेई के उदात्त मनोरजन के लिए इससे वढकर उपयुक्त विपय और क्या चुना जा सकता था ?

विद्यापति की अधिकाश रचनाएँ सस्कृत में हैं। देसी वोली के सर्वजन-आस्वाद्य मावुर्य के अनुरोध से उन्होने 'कीर्तिलता' की रचना अवहट्ठ में की थी। हिन्दी में तो उन्होने केवल पदो की रचना की थी। इस सबंध में डा० विमानविहारी मजुमदार ने श्री खगेन्द्रनाथ मित्र के साथ सपादित अपने 'विद्यापति' की भूमिका में एक स्थल पर कहा है कि जव विद्यापति समस्त देश के पडित समाज के लिए ग्रन्थ प्रणयन करते हैं, तव वे सस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं और जव उनके सामने उनका पाठक-समाज केवल मिथिला निवासियो का होता है, तव वे अवहट्ठ का व्यवहार करते हैं और जव उनकी इच्छा समस्त पूर्वोत्तर भारत—वगाल, असम, उडीसा तथा हिन्दी प्रदेशो के निवासियो के लिए साहित्य-सृजन की होती है, तव वे मैथिली का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार विद्यापति ने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को लोक-साहित्य से उठाकर पहली वार जन-भाषा के शिष्ट साहित्य के पद पर प्रतिष्ठित किया और साथ ही उस जन-भापा, हिन्दी की व्यापकता का एक साहित्यिक प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया।

विद्यापति की पदावली ने नर-नारियो, विशेषत नारियो के मनो में वस कर मिथिला की भूमि और आकाश को तो राधा-कृष्ण के प्रेम-गीतो से गुंजाया ही, सोलहवी शताब्दी के धार्मिक वातावरण के निर्माण में भी उसने, विशेष रूप से वगाल में, अत्यधिक योग दिया। चैतन्य महाप्रभु इन पदो को सुनकर उसी प्रकार आनन्दोन्मत्त हो जाते थे, जिस प्रकार लीलाशुक के 'कृष्णकर्णामृत', चडीदास के पदो तथा जयदेव के 'गीतगोविन्द' को सुनकर। 'चैतन्यचरितामृत' में विद्यापति के पदो का तीन वार उल्लेख हुआ है। ऐसा था वह भक्ति-धारा का मादक उन्मेष जिसके वेगवान प्रवाह में पडकर विद्यापति के हिन्दी पद वगला भक्ति-साहित्य के अभिन्न अग वन गए। कृष्ण-भक्ति और वँगला साहित्य दोनो ने उन्हे आत्मसात कर लिया।

आधुनिक काल के खोजियो ने विद्यापति के पदो के ऊपर जमे हुए भापा के वँगला रग को तो वडी सरलता से पहचान कर हटा दिया, परतु उनमें जिन लोगो को भक्ति का रस मिलता है उन्हें यह समझाना कठिन है कि विद्यापति तो नितात अवैष्णव थे, वे वस्तुत शैव थे और उनकी पदावली शुद्ध शृगारिक रचना है। इसमें कोई सदेह नही कि विद्यापति के सैकडो पद ऐसे भी हैं जिनमें राधा-कृष्ण का नामोल्लेख तक नही है और जिनकी भावधारा नितात लौकिक शृगारमयी है। डा० मजुमदार ने लिखा है, 'विद्यापति के ७९९ अकृत्रिम पदो में ३८४ पद, अर्थात सैकडे पीछे ४८ पदो में राधा-कृष्ण का कोई प्रसग नही है एव ३५ केवल हर-गौरी और गगा विपयक हैं।' डा० मजुमदार की स्थापना है कि विद्यापति ने तरुण वय में जो पद राजा शिवसिंह की राज-सभा के लिए रचे थे उनका विपय प्राकृत नायक-नायिका का प्रेम-वर्णन था, माधव और राधा के नामो का प्रयोग होने पर भी उनमें कृष्ण का प्रकृत लीलारस-गान नही है। उनमें स्वकीया, परकीया, सामान्या, वाला, तरुणी, युवती, वृद्धा आदि सभी प्रकार की लौकिक नायिकाओ का चित्रण हुआ है। परतु पदावली में ऐसे पद भी हैं जिनमें कवि वैष्णव भक्ति-भावना के रस में मग्न होकर राधा-कृष्ण का प्रकृत लीलारस-गान करता जान पडता है। ये पद विद्यापति ने सभवत परिणत वय में राजाश्रय से वचित होने के वाद लिखे होगे।

मजुमदार महोदय ने जिस प्रकार उस धारणा का खण्डन किया है जिसके वशीभूत होकर नगेन्द्रनाथ गुप्त जैसे विद्वान प्रत्येक पद को राधा-कृष्ण की लीला के सदर्भ में रखने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार डा० उमेश मिश्र प्रभृति विद्वानो के तर्कों का भी उत्तर दिया है जो विद्यापति के साथ सम्पूर्ण मैथिल ब्राह्मण-समाज को वश-परम्परानुगत शैव प्रमाणित करके पदावली को भक्ति-भावना से सर्वथा असपृक्त करना चाहते हैं। मैथिल विद्वान मजुमदार के सभी तर्कों और उनके निष्कर्षो से भले ही सहमत न हो, किंतु इधर कुछ विद्वानो ने, जिनमें एक मैथिल पडित डा० सुभ झा भी हैं, स्वीकार किया है कि विद्यापति के सभी पद भक्ति-शून्य और नितात लौकिक नही हैं। वस्तुत राधा-कृष्ण के प्रेम-चित्रण के प्रसग में विद्यापति के मन में कभी भक्ति का उन्मेष हुआ ही नही, यह बात तभी कही जा सकती है जब हम कृष्ण-वार्ता और कृष्णकाव्य की प्राचीन परपराओ को सर्वथा भुला दें। विद्यापति की स्थिति बहुत कुछ हिंदी भक्त कवियो के बाद में आनेवाले उन कवियो के समान है जिन्हें रीति या श्रृंगार काल के कवि कहा जाता है।

परतु, जैसा कि पीछे सकेत कर चुके हैं, सोलहवी शताब्दी का कृष्ण-भक्ति काव्य धार्मिकता और इहलौकिकता के सदिग्ध सम्मिलन से प्रारभ नही हुआ, विद्यापति से उसने प्रेरणा नही ग्रहण की। उसका प्रणयन विशुद्ध धार्मिक वातावरण में, प्राय साप्रदायिक तत्वावधान में, हुआ। उसका तात्कालिक मूल आधार प्रत्यक्षत 'श्रीमद्‌भागवत' में वर्णित कृष्ण-कथा है, यद्यपि हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य 'भागवत' या 'ब्रह्मवैवर्त' आदि किसी भी पुराण में वर्णित कृष्ण-कथा की लीलाओ में बँधा नही है। उसने अपनी भावना की पोषक सामग्री लेने में पुराणो की अपेक्षा लोक-साहित्य से कही अधिक स्वच्छदतापूर्वक सामग्री ग्रहण की है। स्वय कृष्ण-भक्त कवियो की उर्वर कल्पना-शक्ति भी नए-नए प्रसगो की उद्‌भावना करने में कदाचित लोक-कवि से पीछे नही रही है।

मूलत धर्म-प्रेरित होने के कारण हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य पूर्ववर्ती कृष्णकाव्य से अनेक बातो में बहुत भिन्न है। कृष्ण-भक्ति साहित्य के विशाल कलेवर में एक महत्वपूर्ण अश ऐसा है जिसका सीधा उद्देश्य सामान्य अथवा साप्रदायिक भक्ति के सिद्धातो का निरूपण करना तथा भक्ति का प्रचार करना है। यद्यपि इस साहित्य में काव्य के स्वारस्य का प्राय अभाव है, परन्तु उसके द्वारा वे रेखाएँ अवश्य ही निर्धारित हुई हैं जिनमें कृष्ण-भक्ति काव्य परिसीमित है। पुष्टिमार्ग, गौडीय, राधावल्लभी, हरिदासी, सभी सप्रदायो में न्यूनाधिक रूप में सैद्धातिक साहित्य पाया जाता है।

परतु इस सम्पूर्ण साप्रदायिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल के इस भावप्रवण वातावरण में कम से कम भक्त कवियो की तो सामर्थ्य के बाहर था कि वे कोई सैद्धातिक विवेचन कर सकें। न तो उनमें वैसी योग्यता और विद्वत्ता थी और न उनकी रुचि या प्रवृत्ति ही इस ओर थी। उनके पास उपयुक्त भाषा और शैली भी नही थी। यही कारण है कि 'सूरसागर' के वे अश जिनमें 'भागवत' के आधार पर भक्ति के निरूपण में सहायक कथाएँ वर्णित हैं भाषा-शैली की दृष्टि अशक्त और शिथिल तथा विचार की दृष्टि से अस्पष्ट और अपर्याप्त हैं।

सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य और पुष्टिमार्ग के 'जहाज' माने जाते हैं, परतु उनके

'सूरसागर' के आधार पर शुद्धाद्वैत दर्शन अथवा पुष्टिमार्गीय भक्ति-सिद्धान्त और सेवा-पद्धति का सम्यक ज्ञान प्राप्त कर सकना सभव नही है। उन्होने पुष्टिमार्ग के इष्टदेव श्रीनाथ जी का भी स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप में वर्णन नही किया है। उनके द्वारा गुरु की प्रशस्ति में रचना न करने का तो 'चौरासीवार्ता' में उलाहना भी दिया गया है। वस्तुत सूरदास के काव्य को पुष्टिमार्ग के सिद्धातो में बाँध देना सभव नही है। विद्वानो ने उनकी रचना से शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्गीय भक्ति के समर्थन और प्रमाण में उद्धरण अवश्य दिए है।[1] परतु यह सिद्ध कर सकना भी असभव नही है कि सूरदास का काव्य कृष्ण-भक्ति के उस रूप का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें सिद्धात और आचारगत विभिन्नताएँ घुलमिल कर विलीन हो गई है।

'सूरसागर' में शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नही मिलता। यह स्पष्ट है कि वे शाकर अद्वैत के विरोधी थे और अद्वैतवाद के उस सशोधित रूप के समर्थक थे जिसमें भक्त और भगवान तथा भक्ति के साधन-उपकरणो की पृथक स्वीकृति भी सभव हो सके। उसे शुद्धाद्वैत कहें या द्वैताद्वैत, कदाचित इस विषय में सूरदास विशेष चिंतित नही थे। उन्होने श्रीकृष्ण के लीला-वर्णन में पुष्टिमार्गसम्मत बाल-लीलाओ का वात्सल्य और सख्य भावपरक जो चित्रण किया है वह तो 'न भूतो न भविष्यति' कहा ही जा सकता है, परतु उनकी किशोर लीलाओ में जो माधुर्य या काता भाव की पोषक है, उनकी तन्मयता अपेक्षाकृत अधिक जान पडती है। इन लीलाओ में स्वकीया भाव, परकीया भाव, निकुज-केलि, नित्यविहार, सखीभाव, युगल उपासना आदि, कृष्ण-भक्ति के वे सभी पक्ष स्वाभाविक रूप में समन्वित मिलते है जिन पर पृथक पृथक रूप में निम्वार्क, चैतन्य, हरिवश और हरिदास के सप्रदायो में जोर दिया गया है। यदि साप्रदायिक मान्यता के आधार पर 'सूरसागर' में से, उदाहरण के लिए नित्यविहार और युगल-उपासना सबधी अश यह कहकर अलग कर दिए जाएँ कि वे तो राधावल्लभी मत के पोषक हैं, वल्लभ-मतानुयायी सूरदास के विचारो से मेल नही खाते, तो यह सूरदास पर उस साप्रदायिक सकीर्णता के आरोप करने की भूल होगी जिससे वे ऊपर उठे हुए थे।[2]

वस्तुत कोई भी सच्चा कवि सप्रदाय के सैद्धान्तिक बन्धन में पूर्णतया बँधना स्वीकार नही करता। काव्य की भूमि पर विरोध और पार्थक्य मिट जाता है। मध्ययुग में विभिन्न सप्रदायो के प्रचारक कवियो को अपने-अपने सप्रदायो में सम्मिलित करने की होड सी करते देखे जाते हैं। सप्रदाय-विशेष में सम्मिलित हो जाने पर राधा-कृष्ण के लीलारस में तल्लीन कवि सप्रदायसम्मत ढग से रचना करने का प्रयत्न अवश्य करते होगे, किन्तु उनका प्रयोजन भक्ति के भावना-पक्ष से विशेष था, सिद्धात-पक्ष से अपेक्षाकृत कम। यही कारण है कि विभिन्न सप्रदायो के अनुयायी अनेक कृष्ण-भक्त कवियो की रचनाएँ परस्पर मिल गई हैं। उदाहरण के लिए 'सूरसागर' में 'हित चौरासी' (हित हरिवश) के कुछ पद,[3] हरिराम व्यास (राधावल्लभी)

---

१. दे० अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, पचम और षष्ठ अध्याय।

२. दे० राधावल्लभ सप्रदाय सिद्धात और साहित्य, डा० विजयेन्द्र स्नातक, पृ० ३३९-३४५।

३. वही, पृ० ३३९-३४५।

का समूचा 'रासपचाध्यायी'[1] तथा सूरदास मदनमोहन के अनेक पद मिल जाने की बात कही गई है। यह नितात सभव है कि 'सूरसागर' में इन तथा इन्ही के समान अन्य कवियो के और भी पदो का मिश्रण हो गया हो, परन्तु 'सूरसागर' की भावधारा से न तो नित्यविहार के पद भिन्न हैं और न तथाकथित व्यासजी के 'रासपचाध्यायी' का हार्द सूर की रासलीला में कोई व्यत्यय उत्पन्न करता है। सूर के पदो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का निर्णय 'सूरसागर' के आलोचनात्मक रीति से सपादित सस्करण के आधार पर ही हो सकता है। यहाँ केवल यह दिखाना अभीष्ट है कि सूर के काव्य में कृष्ण-भक्ति भाव-भक्ति की युगानुकूल सपूर्ण सभावनाओ के साथ व्यापक रूप में व्यक्त हुई है। कृष्ण-भक्ति काव्य के किसी भी अध्येता से यह छिपा नही है कि सभी कवियो ने बिना किसी सप्रदाय-भेद के उससे प्रेरणा और सहायता प्राप्त की है। काल-क्रम की दृष्टि से ही नही, विषयाधार की दृष्टि से भी सूरदास कृष्ण-भक्ति काव्य के आदि कवि हैं।

परन्तु अष्टछाप के अन्य कवियो में साप्रदायिक सजगता अपेक्षाकृत अधिक थी और उन्होने पुष्टिमार्गीय सिद्धातसम्मत कथन यत्र-तत्र किए हैं। यही नही, उन्होने वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ तथा उनके पुत्रो का नामोल्लेख करके उनकी प्रशस्तियाँ और बधाइयाँ भी गाई हैं। यह स्वाभाविक है कि काव्य के अतर्गत सिद्धातवाद और साप्रदायिकता के आग्रह ने कवित्व को उसी अनुपात में कम कर दिया है। इसका प्रमाण व्रजभाषा के कुशल शिल्पी नददास की रचनाओ से मिलता है। उन्होने 'भँवरगीत' के उद्धव-गोपी-सवाद तक में शुद्धाद्वैतपरक दार्शनिक और सैद्धातिक शब्दावली का प्रयोग कराया है। 'रासपचाध्यायी', 'सिद्धातपचाध्यायी', 'दशमस्कध' आदि अन्य रचनाओ मे भी पुष्टिमार्गीय भक्ति के स्वरूप और माहात्म्य के प्रतिपादन की चेष्टा देखी जा सकती है।

वल्लभ सप्रदाय के अतिरिक्त केवल निम्बार्क सप्रदाय और है जिसका दार्शनिक आधार उसके प्रवर्तक की रचनाओ में प्रतिपादित मिलता है। उस सप्रदाय के अनुयायी भक्त कवि भट्टजी प्रसिद्ध केशव कश्मीरी के प्रधान शिष्य कहे जाते हैं। परतु उनके 'युगल शतक' के आधार पर निम्बार्क के द्वैताद्वैतवाद का सम्यक ज्ञान सभव नही है। 'युगल शतक' में भक्ति भावना से समन्वित सिद्धातवाद ही मिल सकता है। हरिदास स्वामी का सखी सप्रदाय भी अपना सबध निम्बार्क से जोडता है। उसके अनुयायी भगवत रसिक अपेक्षाकृत अधिक सिद्धातवादी जान पडते हैं और उन्होने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि शब्दो का प्रयोग किया है, परन्तु दार्शनिक मतवाद का विवेचन उनकी भी प्रवृत्ति और सामर्थ्य से बाहर है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य को प्रेरणा और प्रोत्साहन देनेवाले सप्रदायो में राधावल्लभी सप्रदाय अन्यतम है। इस मत के अनुयायी कवियो की सख्या और उनके द्वारा रचित काव्य का परिमाण अद्वितीय है।[2] इस सप्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवश स्वय एक रससिद्ध भक्त कवि थे और वे सूरदास के साथ हिंदी कृष्ण-भक्ति-काव्य के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। उनकी वाणी राधावल्लभी सप्रदाय में श्रुति के समान मान्य है। परतु हरिवश गोस्वामी की रचना में

१. दे० वही, पृष्ठ ४०६ तथा भक्त कवि व्यासजी, श्री वासुदेव गोस्वामी।
२ दे० साहित्य रत्नावली, श्री किशोरीलाल अलि।

दार्शनिक विवेचन तो क्या, सिद्धातवाद भी वैसा स्पष्ट नही है, जैसा कि उन्ही के अनेक अनुयायी भक्त कवियो की वाणी में पाया जाता है। वस्तुत दार्शनिक मतवाद की तो इस मत में उपेक्षा ही की गई है। यह नितात साधन-पक्ष का भक्ति-सप्रदाय है और साधन-पक्ष में भी इसमें केवल माधुर्य भाव के एक विशिष्ट रूप को ही अपनाया गया है। अत 'चौरासी पद' में भक्ति रस का ही उद्घाटन है, सिद्धातवाद का सीधा प्रतिपादन नही। स्वभाव और प्रकृति से गोस्वामी हरिवश रसिक और भावप्रवण थे; अत उन्होने अपने सप्रदाय में रस की ही प्रधानता रखी। परतु हरिवश के अनुयायियो में कई सिद्धातवादी विवेचक भी हुए है। हरिवश की वाणी के वाद उसके व्याख्याता श्री सेवक जी का इस सप्रदाय में वहुत महत्व है। उन्होने हितजी के प्रति साप्रदायिक ढग से अनन्य भक्ति-भावना प्रकट करने के अतिरिक्त राधावल्लभी रस-रीति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है तथा रसिक भक्तो के लक्षणो का निरूपण किया है। यद्यपि उन्होने नित्य विहार और निकुज-लीला का भी वर्णन किया है, परतु उनकी वृत्ति काव्य के भाव-पक्ष में उतनी नही रमी, जितनी सिद्धात के प्रतिपादन में।

इस सप्रदाय के अनुयायियो में हरिराम व्यास सस्कृत के विद्वान तथा दीक्षा लेने के पूर्व एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थी पडित थे। उन्होने राधावल्लभी मत के सिद्धातो का तो विवेचन किया ही, साधारण भक्ति-धर्म के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। परन्तु प्रेम-भक्ति का इतना प्रभाव है कि वे सिद्धात-प्रतिपादन भी सरस कवित्व से समन्वित करके ही करते हैं तथा राधा-कृष्ण के विहार-वर्णन में अपना प्रखर पाडित्य सर्वथा भूल जाते है।

सिद्धातवाद को समझने की दृष्टि से इस सप्रदाय में चतुर्भुजदास, ध्रुवदास और काला-न्तर में चाचा हित वृन्दावनदास की वाणियाँ भी अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। चतुर्भुजदास द्वारा रचित 'द्वादशयश', ध्रुवदास द्वारा रचित 'व्यालीस लीलाओ' में से अधिकाश तथा चाचा हित वृन्दावनदास द्वारा रचित अनेक ग्रन्थो मे अत्यन्त साधारण और व्यावहारिक शैली में भक्ति की आवश्यकता, लक्षण, साधन और महत्व का प्रतिपादन हुआ है। परन्तु यह सिद्धात-प्रतिपादन राधा-कृष्ण के केलि-वर्णन में रति-रग, विहार-विनोद, आनन्द-उल्लास आदि की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए ही किया गया है और कम से कम ध्रुवदास और चाचा हित वृन्दावनदास ने तो प्रेम-भक्ति के इस प्रकृत और क्रियात्मक विषय की ओर अपेक्षाकृत अधिक ही ध्यान दिया है।

कृष्ण-भक्ति काव्य के अनेक परवर्ती रचयिताओ ने कृष्ण-भक्ति का साप्रदायिक भेद-भावरहित रूप अधिक ग्रहण किया, यहा तक कि अनेक कवियो के विपय में यह कहना कठिन हो जाता है कि वे किस सप्रदाय-विशेष के अनुयायी थे। रसखान को पुष्टिमार्गीय भक्त कहा गया है, 'दो सो वावन वैष्णवन की वार्ता' में उनका वर्णन है, परतु उनकी रचना में साप्रदायिक सिद्धात ढूँढना व्यर्थ है। इसी प्रकार घनानद की रचनाओ के आधार पर उन्हे निम्बार्क-मतानुयायी सिद्ध करना सभव नही है।

कृष्ण-भक्ति-काव्य में मीरावाई की पदावली का स्थान अद्वितीय है। परतु वे किसी कृष्ण-भक्ति सप्रदाय की अनुयायी नही थी, इसीलिए उनके सबध में इतनी अधिक साप्रदायिक खीचातानी हुई है। उनकी भक्ति-भावना पर निर्गुण सतमत का भी प्रभाव था और वे अपने गिरिवर नागर की सलोनी साकार मूर्ति में ही निर्गुणवादी सतो के राम का भी दर्शन करती थी।

सच्चे भावप्रवण भक्तो की दृष्टि में साम्प्रदायिक सकीर्णता तथा जाति, वर्ण और ऊँच-नीच के भेद-भाव प्राय नगण्य थे, इसका उदाहरण हरिराम व्यास जैसे विद्वान पडित की वाणी से उपलब्ध होता है, जिन्होने कबीर की तरह के वर्णाश्रम धर्म-विरोधी विचार प्रकट किये है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि मध्ययुग के कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायो की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा द्वेष और कट्टरता से सर्वथा रहित थी। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मीराबाई जैसी भक्त के सबध में बडी कटु बातें कही गई है। स्पष्ट है कि वार्ताकार का साम्प्रदायिक द्वेष इसीलिए इतना तीखा हो गया है कि कृष्णदास के प्रयत्न करने पर भी मीराबाई पुष्टिमार्ग में सम्मिलित नही हुई थी। बगाली वैष्णवो को श्रीनाथजी के मन्दिर से निकालने के लिए कृष्णदास ने छल और बल का प्रयोग करने में सकोच नही किया था। फिर भी भावुक भक्त अपने कवि-कर्म में धर्म-प्रचारको की इस सामयिक और सकुचित मनोवृत्ति से प्राय निर्लिप्त रहे है। स्वय कृष्णदास के पदो में साम्प्रदायिक कट्टरता का सकेत नही मिलता।

सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर यह निष्कर्ष सत्य से दूर न होगा कि वे सभी कृष्ण-भक्त कवि जो वस्तुत कवि कहलाने के अधिकारी है, सम्प्रदायो की सकीर्ण परिधियो के भीतर रहते हुए भी कृष्ण और राधा-कृष्ण की उस भक्ति के व्यापक और सम्मिलित सम्प्रदाय के अनुयायी थे जिसका परिचय पीछे दिया गया है। उन सब का समान रूप से एक ही उद्देश्य था—रस, आनद और प्रेम की मूर्ति श्रीकृष्ण और राधा-कृष्ण की लीला का गायन।

कृष्ण-भक्ति साहित्य में सामान्य अथवा साम्प्रदायिक भक्ति-निरूपण के क्रम में भक्ति की सामयिक आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए सामयिक परिस्थिति का यथातथ्यपूर्ण चित्रण भी किया गया है। सूरदास ने अपने विनय के पदो में अपने ऊपर सासारिक विषय-वासनापूर्ण प्रवृत्तियो तथा धर्म-कर्म और सदाचरण-विरोधी आचरण का आरोप करते हुए तथा परीक्षित के पश्चात्ताप और 'भागवत' के कुछ अन्य प्रसगो को चुनकर सामयिक जीवन की उद्देश्यहीनता और इन्द्रियपरता की तीव्र आलोचना की है। उद्धव-गोपी-सवाद और भ्रमरगीत के प्रसग में भी उन्होने अलखवादी, निर्गुणिया सतो, पाडित्याभिमानी अद्वैतवेदान्तियो, निष्फल कायाकष्ट में लिप्त हठयोगियो आदि के पाखण्ड की खूब खिल्ली उडाई है। परमानददास तथा अष्टछाप के अन्य कवियो ने भी अपने समय के वर्णाश्रम धर्म के पतन का अच्छा चित्रण किया है। राधावल्लभी सेवकजी 'काचे धर्मी' का वर्णन करते हुए अपने समय के धार्मिक दभ और कपट का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करते है। व्यासजी की वाणी में भी धर्म का नाम बेचकर खानेवालो की तीव्र निन्दा मिलती है। कलियुग के प्रभाव का वर्णन करते हुए वे वस्तुत अपने समय की ही सामाजिक कुरीतियो और धार्मिक प्रवचनाओ की कटु आलोचना करते है। इसी प्रकार अन्य भक्तो ने भी अपने चारो ओर के समाज पर दृष्टि डालते हुए, उसकी दीनावस्था से व्यथित होकर सुधार और उन्नयन के उद्देश्य से चित्राकन किया है।

इस प्रकार इन भक्त कवियो को नितात वैयक्तिक साधन में लीन अथवा लोक-सग्रह की भावना से शून्य नही कहा जा सकता। वस्तुत वे सभी समाज के कल्याण की भावना से प्रेरित थे और उन्होने आतरिक शुद्धाचरण पर बल देनेवाले सब प्रकार के भेद-भाव से रहित भावनामूलक सामान्य लोक-धर्म का प्रचार करने के लिए ही अपनी वाणी का उपयोग किया था।

कृष्ण-भक्ति साहित्य के इस व्यावहारिक अश में भक्तो की स्तुतियाँ और प्रशस्तियाँ भी पाई जाती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्व कम नही है। सूरदास के अतिरिक्त अष्टछाप के कवियो ने वल्लभ-कुल से सबधित व्यक्तियो का उल्लेख किया है। राधावल्लभी भक्तो में तो हित हरिवश को अवतार मानकर उनका यश-वर्णन करने की एक निश्चित परपरा रही है। हरिराम व्यास ने अनेक भक्तो का गुणगान किया है। इसी प्रकार ध्रुवदास ने 'भक्त-नामावली' में अन्य सप्रदायो के भक्तो की भी प्रशसा की है। हरिदासी भक्तो ने भी अपने गुरु का गुणगान किया है।

भक्तो की प्रशसा और सिद्धात-प्रतिपादन के लिए व्रजभाषा गद्य का भी कृष्ण-भक्ति साहित्य में यत्किंचित प्रयोग हुआ। प्रारभिक भक्त कवियो में हित हरिवश द्वारा किन्ही विट्ठलदास को लिखे गए दो पत्र प्रकाश में आए हैं[1], जिनमें सोलहवी शताब्दी के व्रजभाषा गद्य का उदाहरण मिलता है। पुष्टिमार्ग के वार्ता-साहित्य की प्राचीनता और ऐतिहासिकता यद्यपि असदिग्ध नही है, परतु 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से भक्ति-काल की सामान्य प्रवृत्ति का महत्वपूर्ण परिचय प्राप्त होता है। परवर्ती काल में टीकाओ के रूप में तो व्रजभाषा गद्य का व्यवहार हुआ ही, कुछ स्वतत्र गद्य-रचनाओं में भी गद्य का व्यवहार किया गया है। राधावल्लभी भक्त अनन्य अली का 'स्वप्न-प्रसग' ध्रुवदास का 'सिद्धात विचार' तथा प्रियादास का 'राधेनेह' गद्य की रचनाएँ हैं।

सप्रदायो के उपयोगी साहित्य ने निश्चय ही कृष्ण-भक्ति काव्य को उद्देश्य और आदर्श के प्रति सजगता तथा सामाजिक दृष्टिकोण उपलब्ध करने में सहायता दी, परतु भक्ति का भावनामूलक उन्मेष तो काव्य के माध्यम से ही व्यक्त हो सकता था, जीवन को गति देने में वही कृतकार्य हो सकता था। यही कारण है कि परवर्ती काल में सिद्धात-प्रतिपादन अपेक्षाकृत अधिक हुआ, परतु सरस काव्य-रचना उसी अनुपात से कम हो गई। काव्य-गुणो में तो वह पूर्ववर्ती कवियो का अनुकरण मात्र होकर रह गई।

विषय-वस्तु और उसका निर्वाह

पीछे कहा जा चुका है कि हिंदी कृष्णकाव्य में अनेक ऐसी भी कथाएँ हैं जिनका कोई निश्चित पौराणिक आधार नही है और जो उस उर्वर जन-समाज की कल्पना की सृष्टि जान पडती हैं जिसका मानसिक जीवन शताब्दियो से कृष्ण के मनोहर व्यक्तित्व से परिपूर्ण रहा है। कृष्ण-कथा के हिंदी कवियो ने स्वय भी इस सबध में अपनी मौलिक उद्भावनाओ के द्वारा महत्वपूर्ण योग दिया है। परतु कृष्ण-भक्ति काव्य की रचना अधिकाशत गीतिकाव्य के रूप में हुई है और उसका रूप बहुत कुछ स्फुट काव्य जैसा है। अत सम्पूर्ण कृष्ण-कथा के सबध में सम्यक प्रबन्ध-रचना बहुत कम पाई जाती है। फिर भी, अनेक कृष्ण-भक्त कवियो में कृष्ण-कथा के सम्पूर्ण नही तो किसी अश-विशेष की क्रमबद्ध कल्पना भी मिलती है, भले ही उनके पद स्फुट रूप में गाए

---

१. दे० श्रीहित हरिवश गोस्वामी—सप्रदाय और साहित्य, ललिताचरण गोस्वामी, पृष्ठ २८१-२८२।

जाते हो। सूरदास के काव्य मे ही व्रजवासी कृष्ण की सपूर्ण कथा देने का सचेष्ट प्रयत्न दिखाई देता है। सूरदास के अतिरिक्त कृष्ण की सपूर्ण कथा रचने का दूसरा प्रयत्न व्रजवासीदास का 'व्रजविलास' है जो वर्ण्य विषय में 'सूरसागर' और शैली में 'रामचरितमानस' का अनुसरण करता है, यद्यपि काव्य की दृष्टि से उसका कोई महत्व नहीं है, क्योकि वह सर्वथा इतिवृत्तात्मक और कलाहीन है। नददास ने भी 'भागवत' के दशम स्कध पूर्वार्ध के २९ अध्यायो का पद्यबद्ध उल्था किया था, पर कदाचित कार्य की गुरुता के कारण वे उसे आगे न बढा सके। किन्तु नद-दास में छोटे-छोटे प्रबन्धो को स्वतत्र रूप देने की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी और उन्होने 'स्याम सगाई', 'भँवरगीत', 'रुक्मिनीमगल' और 'रासपचाध्यायी' नाम से कृष्ण-कथा सबधी लघु प्रबन्धात्मक रचनाएँ लिखी तथा 'रूपमजरी' नामक कल्पित कथा-प्रबन्ध कृष्ण-भक्ति के माहात्म्य के लिए रचा। अन्य कृष्ण-भक्त कवियो में ध्रुवदास, नागरीदास, हित वृन्दावनदास, नरोत्तम-दास आदि ने छोटे-बडे अनेकानेक कथा-प्रबन्ध रचे, यद्यपि काव्य की दृष्टि से उनकी रचनाएँ उत्तम कोटि की नही है।

इस सबध में राधावल्लभी हित वृन्दावन दास के 'लाडसागर' और 'व्रजप्रेमानदसागर' का उल्लेख आवश्यक है। 'लाडसागर' में शैशवावस्था के बाल-विनोद और विवाह की उत्कठा से लेकर किशोरावस्था में राधा-कृष्ण के विवाह-मगल, गौनाचार और क्रीडा-केलि की कथा वर्णित है। 'व्रजप्रेमानदसागर' का भी मुख्य वर्ण्य विषय यही है, साथ ही उसमें कृष्ण की माखन-चोरी, उलूखल-बधन आदि कुछ लीलाओ का भी प्रसगवश वर्णन किया गया है।

परतु यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि कृष्ण-कथा की स्वतत्र प्रबन्धात्मक रचनाओ में अधिकाशत कृष्ण के माधुर्यरूप की अपेक्षा उनके ऐश्वर्यरूप की प्रधानता है। सभवत कृष्ण का माधुर्यरूप सम्यक प्रबन्ध के लिए अधिक उपयुक्त नही था। भारतीय कथा-प्रबधो की परपरा के अनुसार, जिसमें राजन्य वर्ग का श्रेष्ठ व्यक्ति ही काव्य का नायक होता है, यह स्वाभाविक ही है। गोपाल कृष्ण की मधुर लीला केवल गीति-पदो का ही विषय समझी गई और जिस प्रकार कवियो ने कृष्ण के राजसी वैभव और ऐश्वर्य की उपेक्षा की उसी प्रकार उन्होने प्राय काव्य के परपरागत प्रबन्ध रूप को भी नही अपनाया। फलत नददास का 'रुक्मिणीमगल' प्रारभिक भक्त कवियो की रचनाओ में एक प्रकार से अपवादस्वरूप है। द्वारकाधीश श्रीकृष्ण के विवाह की कथा दरबारी कवियो को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय रही है। अकबरी दरबार के नरहरि बदीजन (सन १५०५-१६१० ई०=स० १५६२=१६८५ वि०) और समथर राज्य के आश्रित नवलसिंह (कविता-काल सन १८१५-१८७०=स० १८७२-१९२७ वि०) ने 'रुक्मिणी-मगल' तथा रीवा-नरेश महाराज रघुराजसिह (सन १८२३-१८७८ ई०=स० १८८०-१९३६ वि०) ने 'रुक्मिणी-परिणय' नामक ग्रथ लिखे। स्पष्टत ये कवि कृष्ण-भक्तो की परपरा में नही आते। ✓पृथ्वीराज की राजस्थानी में लिखी हुई 'बेलि किसण रुक्मिणी री' तो नितात लौकिक प्रेम-कथा है। 'सुदामाचरित' लिखने वाले नरोत्तमदास भी उस प्रकार के कृष्ण-भक्त कवि नही हैं, यद्यपि उनमें साधारण ढग की दैन्यपूर्ण भक्ति-भावना पाई जाती है। ध्रुवदास, हित वृन्दावनदास और नागरी-दास की कृष्ण के ऐश्वर्यरूप की व्यजक प्रबन्धात्मक रचनाओ में भी भक्ति और काव्य का उच्च वातावरण नही मिलता तथा उनकी प्रवृत्ति कृष्ण के माधुर्यरूप के वर्णन में अधिक रमती दिखाई

देती है। स्वय 'सूरसागर' के दशमस्कध, उत्तरार्ध वाले अश मे—जिसमें कृष्ण-रुक्मिणी-परिणय और सुदामा-चरित दिया गया है, कृष्ण-भक्ति दैन्य भाव से सीमित है और इसी कारण उसमें भावना और कल्पना का अपेक्षाकृत सकोच है। सूरदास ने कृष्ण के राजसी वैभव का वर्णन अत्यन्त न्यून किया है तथा उसमें कोई रुचि नही दिखाई, प्रत्युत व्रजवासियो के दृष्टिकोण से उसके प्रति कटु व्यग्य करते हुए घोर उपेक्षा प्रकट की है।

वस्तुत भक्ति और काव्य के आवश्यक तत्वो और लक्षणो से समन्वित हिंदी कृष्ण-काव्य के चरित-नायक व्रजवासी गोपाल कृष्ण ही हैं, उन्ही की मधुर लीला को भक्त कवियो ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार गाया है। गोपाल कृष्ण व्रजभूमि में केवल अपनी मधुर लीला विस्तार मात्र करते हैं, लीला के अतिरिक्त किसी अन्य उद्देश्य मे अवतरित होकर उसके लिए प्रयत्नशील नही होते, अत उनकी कथा में किसी फलागम की उत्सुकता नही है, अपितु उनकी लीला का प्रत्येक अश अपने में पूर्ण है। अत इस लीला का वर्णन करने वाले कवियो द्वारा गीति-पद्धति का अपनाया जाना स्वभाविक है। फिर भी, कृष्ण-लीला गाने वाले कवियो में कृष्ण-कथा के किसी न किसी अग-विशेष की प्रबन्ध-कल्पना पृष्ठभूमि के रूप में प्राय पाई जाती है। उदाहरण के लिए, हित हरिवश और उनके अनुयायियो के पदो की पृष्ठभूमि में राधा-कृष्ण-विहार के कथा-प्रसग निरतर विद्यमान रहते हैं, रसखान के कवित्त-सवैयो के पीछे कृष्ण-कथा की ऐसी छोटी-छोटी प्रसग-कल्पनाएँ रहती हैं जो कृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य की व्यजक है और सर्वस्व वलिदान करने की आकाक्षा रखने वाले प्रेम का रूप उपस्थित करती हैं।

इस दृष्टि से इन समस्त कृष्ण-भक्त कवियो द्वारा वर्णित कृष्ण-कथा के विविध अशो को एकत्र करके एक सम्पूर्ण चरित-कथा का निर्माण तथा कृष्ण-भक्त कवियो की प्रवृत्ति की समीक्षा की जा सकती है। इस सबध में 'सूरसागर' में वर्णित कृष्ण-कथा का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि परवर्ती कवियो द्वारा वर्णित प्राय सपूर्ण लीला-प्रसग छोटे-मोटे अतरो के साथ उसी में अतर्भुक्त हैं। सूरदास ने ही सबसे पहले गोपाल कृष्ण की पूर्ण कथा रचने का विधिवत उपक्रम किया। इस कथा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

क जन्म, गोकुल-आगमन, शिशु-लीला, नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाँठ, कनछेदन आदि संस्कार तथा जागने, कलेऊ करने, खेलने, हठ करने, भोजन करने, सोने आदि के दैनिक प्रसग जो वात्सल्य भाव के पोषक हैं।

ख. गो-चारण तथा वन-विहार लीला जो सख्य भाव की पोषक है।

ग कृष्ण और राधा के बाल और किशोर काल के प्रेम-प्रसग जो युगल रूप के सौन्दर्य और आनद के द्योतक हैं तथा गोपियो की माधुर्य भक्ति के प्रेरक हैं।

घ. कृष्ण और गोपियो के बाल और किशोर काल के कथा-प्रसग जो माधुर्य भाव के पोषक हैं।

ङ कृष्ण की ऐसी अतिमानुष और अलौकिक लीलाएँ जो विस्मय-व्यजना के साथ उनके परम देवत्व की सूचक, किंतु वात्सल्य अथवा सख्य भाव की पोषक हैं।

च कृष्ण की ऐश्वर्यसूचक लीलाएँ जो दैन्य भाव की पोषक हैं।

इनके अतिरिक्त राधावल्लभी भक्तों ने, उदाहरणार्थ हित वृन्दावन दास ने 'लाडसागर' में, राधा के शैशव और बाल्य जीवन के वात्सल्य भाव पोषक घटना-प्रसगों का भी वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के युगल-विहार के वर्णन में राधावल्लभी और चैतन्य सम्प्रदाय के भक्तों ने कुछ नवीन घटना-प्रसगों की भी उद्भावना की है।

कृष्ण की ऐश्वर्यसूचक लीलाएँ 'सूरसागर' के केवल दशम स्कध—उत्तरार्ध में दी गई है। किंतु द्वारकावासी महाराज श्रीकृष्ण के चरित-वर्णन में सूरदास की विशेष रुचि नही है और समस्त वर्णन केवल कथा की पूर्ति के लिए जान पडता है। केवल रुक्मिणी-परिणय इस कथा-भाग में अधिक कवित्वपूर्ण है और उसमें माधुर्य और दैन्य भावों का अद्भुत मिश्रण हुआ है। सुदामा-दारिद्र्य-भजन की कथा को भी किंचित विस्तार मिला है और उसमें कृष्ण की दीनबन्धुता का चित्रण किया गया है। यद्यपि सूरदास कृष्ण के परब्रह्मत्व का सकेत करते कभी नही थकते और पद-पद पर उसका स्मरण दिलाते जाते हैं, फिर भी उनके असुर-सहार कार्यों के वर्णन में उनके परम पराक्रम की व्यजना उनका उद्देश्य नही है, अपितु विस्मय-व्यजना के साथ वात्सल्य अथवा सख्य भाव का पोषण ही उन्हें अभीष्ट है। शिशु कृष्ण द्वारा पूतना, कागासुर और शकटासुर के सहार से कृष्ण के देवत्व की सूचना अवश्य मिलती है, परन्तु कवि कृष्ण के प्रति वात्सल्य भाव दृढ रखने के लिए अधिक दत्तचित्त दिखाई देता है। इसी प्रकार वत्स, वक, अघ, धेनुक, प्रलव, शखचूड, वृषभ, केशी और भौम असुरो का वध तथा बाल-वत्स-हरण और कालिय-दमन लीलाओं में कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की सूचना और विस्मय-व्यजना के साथ-साथ सख्य और वात्सल्य भावों की दृढता सपादित करने का अधिक सचेष्ट प्रयत्न किया गया है। गोवर्धन पूजा के वर्णन में भी इन्द्र की पूजा का खण्डन करके कृष्ण की अनन्य मान्यता की प्रतिष्ठा करते हुए, यशोदा के वात्सल्य और गोप-सखाओं के सख्य भावों को सुरक्षित रखने की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

परतु सूरदास ने वात्सल्य और सख्य से भी अधिक माधुर्य भाव का विस्तार किया है। बाल्य काल के माखन-चोरी के प्रसग से आरभ कर चीरहरण, पनघट, दान, यमुना-विहार, मुरली-वादन, रास, जलक्रीडा, खडिता-समय, हिंडोल, वसत और फाग आदि लीलाओं में कृष्ण-गोपी के सयोग-सुखों का क्रमिक विकासशील माधुर्य प्रेम बडी गहनता और तन्मयता के साथ चित्रित किया गया है। इस माधुर्य भाव के आराध्य है परम सुदर, परम आनदमय श्रीकृष्ण और आराधिका है अगणित गोप किशोरियाँ। किंतु कृष्ण के परम आनद रूप की सपूर्णता उनके युगल—राधा-कृष्ण—रूप में ही होती है। गोपियो का माधुर्य भाव भी राधा के 'परम भाव' में ही सपूर्णता प्राप्त करता है। अत सूरदास ने बाल्य काल के 'चकई-भौंरा' खेलने से आरभ करके राधा-कृष्ण के बाल-केलि, सर्प-दशन, उपर्युक्त माखन-चोरी आदि लीलाओं, अनुराग-समय, अँखियाँ-समय के पदों तथा राधा-कृष्ण-विवाह और मान-लीलाओं में राधा-कृष्ण-प्रेम के क्रमिक विकास का वर्णन किया है। गोपियो के लिए यह प्रेम परम आदर्श और स्पृहणीय है। श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन और मथुरा-प्रवास के वियोग वर्णन में भी माधुर्य भाव का ही विस्तार और उसी की गहनता अधिक है, यद्यपि वात्सल्य की मार्मिकता भी कम नही है तथा सख्य भाव भी यत-तत्र व्यजित हुआ है। दशम स्कध—उत्तरार्ध के कुरुक्षेत्र-मिलन में

माधुर्य भाव की प्रधानता है और व्रजवासी कृष्ण की लीला राधा-कृष्ण के कीट-भृग की तरह परम-मिलन के साथ समाप्त होती है।

इस प्रकार सूरदास कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा-प्रवास और द्वारका-प्रवास तक का वर्णन करते हुए उनके व्रजवल्लभ रूप पर ही निरतर दृष्टि रखते है और विविध-भाव-सवलित परम प्रेम का उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी चरम आनददायिनी परिणति दिखाते है। उनके कृष्णकाव्य में वाह्य और सरसरी दृष्टि से देखने पर भले ही विखरापन और कथा के एकात्मक विन्यास में व्यवधान दिखाई दे, वास्तव में उसमें आतरिक कथात्मक्ता और भावात्मक एकसूत्रता निरतर विद्यमान रहती है। इस एकसूत्रता में कृष्ण की उन लीलाओ के द्वारा भी वाह्य दृष्टि से विशृखलता पैदा होती जान पडती है जिनकी रचना सुसहत, एकात्मक प्रवन्ध के रूप में हुई है। वस्तुत उपरिलिखित लगभग सभी कृष्ण-लीलाए स्वतत्र प्रवन्धो के रूप में रची गई है, जिन्हें हम खण्डकाव्य का नाम दे सकते है। परतु, जैसा कहा गया है, इन सव लीलाओ का उपयोग कृष्ण-कथा के निर्माण के लिए हुआ है। सपूर्ण कृष्ण-कथा में समाहृत होकर ही उनका वास्तविक मूल्याकन हो सकता है, क्योकि न केवल वे अलग-अलग कृष्ण-कथा के अश मात्र का वर्णन करती है, वरन भाव-विकास में भी उनका अनिवार्य सहयोग रहता है।

कृष्ण-भक्ति के परवर्ती कवियो में से किसी ने सूरदास की भाँति व्रजवल्लभ गोपाल कृष्ण की सपूर्ण प्रेम-कथा का वर्णन नही किया। कृष्ण की असुर-सहार-लीला की तो प्राय सर्वथा उपेक्षा ही की गई है, अधिक से अधिक उसका यदा-कदा प्रसगवश उल्लेख मात्र हुआ है। इसी प्रकार कृष्ण के ऐश्वर्य का वर्णन भी भक्त कवियो ने वहुत कम किया। व्रजवल्लभ वाल कृष्ण की वात्सल्य और सख्य व्यजक लीला भी वहुत थोडे से कवियो ने गाई। कृष्ण-भक्त सप्रदायो में केवल पुष्टि-मार्ग में वाल कृष्ण को इष्टदेव माना गया था, अत केवल पुष्टिमार्गीय भक्त कवियो ने वाल लीलाओ के स्फुट पद रचे हैं। सपूर्ण वाल-लीला रचने की ओर उनकी भी प्रवृत्ति नही थी।

राधावल्लभी सप्रदाय के चाचा हित वृन्दावनदास ने 'लाडसागर' में राधा के प्रति उसके माता पिता—कीर्ति और वृषभानु—का वात्सल्य भाव प्रकट करके कृष्णकाव्य में एक नवीनता पैदा करने की चेष्टा की है। यद्यपि 'सूरसागर' में भी राधा की माता कीर्ति का वात्सल्य कई स्थलो पर चित्रित किया गया है, परतु 'लाडसागर' में राधा के प्रति वात्सल्य भाव को जो प्रमुखता, विस्तार तथा एक पारिवारिक परिवेश प्रदान किया गया है वह काव्य-गुणो के अधिक उत्कर्ष न होने पर भी, अपनी एक विशेषता रखता है।

प्राचीन काल से कृष्णकाव्य का सवसे अधिक लोकप्रिय विषय राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-क्रीडाओ के प्रसग रहे है। कृष्णकाव्य की यह परपरा ऐसी दृढ और सहज आकर्षण-पूर्ण थी कि उसे कृष्ण-भक्त कवि भी छोड नही सकते थे। दूसरे, निम्वार्क, चैतन्य, हरिवश और हरिदास—इन सभी कृष्ण-भक्ति सप्रदायो में स्वय माधुर्य भाव का सर्वाधिक महत्व था और राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओ का श्रवण, स्मरण, चितन और गायन उनकी प्रेम-भक्ति साधना का अनिवार्य अग था। सभवत इन सप्रदायो के सम्मिलित प्रभाव से कृष्ण-भक्ति माधुर्य भाव में ही केन्द्रीभूत होने लगी थी, वल्लभ-सप्रदाय भी उससे अप्रभावित न रह सका। अत उपर्युक्त सप्रदायो के कवियो की भाँति पुष्टिमार्गीय कवियो ने भी राधा-कृष्ण

और गोपी-कृष्ण की प्रेम-क्रीडाओ—यमुना-विहार, निकुज-लीला आदि विषयो पर प्रचुर रचनाएँ की। सूरदास के काव्य में भी राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण की प्रेम-कथा का ही विस्तार सबसे अधिक है। सूरदास के उपरात लगभग सभी कृष्ण-भक्त कवियो की दृष्टि कृष्ण की आनद लीला के केवल मधुर पक्ष पर ही रही। हित हरिवश और उनके राधावल्लभी सप्रदाय के कवि, हरिदास और उनके सखी सप्रदाय के अनुयायी भक्त तथा चैतन्य के गौडीय सप्रदाय में दीक्षित भक्त कवि, सभी लगभग एक स्वर से राधा और गोपियो के साथ कृष्ण के प्रेम-विहार का वर्णन करने में लीन दिखाई देते हैं।

परतु सूरदास ने कृष्ण की मधुर रति के वर्णन में एक विशेष प्रकार का विवेक रखा था, उन्होने कृष्ण और राधा तथा कृष्ण और गोपियो के प्रेम-सबधो में एक निश्चित आध्यात्मिक और भावात्मक अतर की व्यजना की थी। परवर्ती कवियो ने इस सूक्ष्म अतर को भुला दिया; इन कवियो के प्रेम-वर्णन कुछ थोडे से चुने हुए प्रसगो तक सीमित रह गए। कृष्ण का क्रीडास्थल केवल यमुना-कूल, लता-निकुज और अत पुर-प्रकोष्ठ ही रह गया। सूरदास ने कृष्ण में जिस मानसिक वीतरागत्व की निश्चित और अखण्ड व्यजना की थी वह सर्वथा भुला दी गई। स्वाभाविक था कि इस इहलौकिकता से आक्रान्त और उत्तरोत्तर आध्यात्मिक सकेतो से रहित कृष्ण-लीला ने उन परवर्ती कवियो को एक अत्यत सुविधाजनक विषय सुलभ कर दिया जो बाह्य रूप में विलासी जीवन बिताने वाले राजाओ, सामन्तो और रईसो के मनोरजन का सामान जुटाते थे। सूरदास ने गीति-शैली में प्रबन्ध-रचना की जो पद्धति डाली थी, परवर्ती कवि उसका भी निर्वाह नही कर सके। उन्होने साधारणतया 'भागवत' तथा अन्य पुराणो में और विशेषतया सूरदास के काव्य में वर्णित व्रजवल्लभ कृष्ण की प्रेम-कथाओ को आधार मानकर स्फुट पद्य-रचना करने में ही अपनी प्रतिभा और भक्ति-भावना का उपयोग किया, उनकी मौलिक उद्भावना केवल छोटे-छोटे प्रेम-प्रसगो की कल्पना में ही दिखाई देती है।

काव्य-रूप और छद-प्रयोग

कृष्ण-भक्ति काव्य प्रधानतया गीतिकाव्य है। किन्तु इस गीतिकाव्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। कृष्ण-भक्ति के गीतिकाव्य मे आत्म-निवेदन का तत्त्व अनिवार्य रूप से पाया जाता है, किंतु उसका रूप सदैव ही व्यक्तिगत नही होता, अपितु उसके माध्यम कृष्ण-कथा के कोई पात्र—यशोदा, राधा, गोपी, गोप-सखा आदि—होते हैं। कृष्ण-भक्त कवि उन्ही के भाव मे तल्लीन होकर अपनी व्यक्तिगत सत्ता विस्मृत करके कृष्ण के रूप-विशेष पर समर्पित हो जाता है। अत उसके गीतिपदो की स्वानुभूतिमूलक तन्मयता उसकी भक्ति-भावना की गहनता पर निर्भर होती है। मीरा को छोडकर, जिनका आत्मनिवेदन व्यक्तिगत रूप में प्रकट हुआ है, कृष्ण-भक्त कवियो में सबसे अधिक भावात्मक तल्लीनता सूरदास में पाई जाती है। किंतु सभी कृष्ण-भक्त कवियो का काव्य साधारण गीतिकाव्य की अपेक्षा सहृदय श्रोताओ और पाठको में तदनुरूप भाव उद्दीप्त करने में अधिक सफल हो जाता है, क्योकि इस काव्य के आलबन कृष्ण ऐसे लोकप्रिय नायक है जिन्होने शताब्दियो मे समाज के भाव-जगत पर अधिकार रखा है। यही कारण है कि आश्रयदाता राजा की प्रसन्नता के लिए रचे गए विद्यापति के पद भक्तो को भाव

विभोर करते रहे हैं तथा परवर्ती कवियो की राधा-कृष्ण विषयक रचनाएँ भी, जो सभवत निश्चित रूप से भक्ति-प्रेरित नही हैं, भावुक भक्तो के निकट आदर पाती रही है।

भाव-सकलन और उसकी सहिति, जो सफल गीतिकाव्य के अनिवार्य लक्षण हैं— कृष्ण-भक्ति के पदो में आवश्यक रूप से पाए जाते हैं। प्राय प्रत्येक सफल गीतिपद या तो कृष्ण, राधा अथवा राधा-कृष्ण की युगल छवि के किसी विशेष पक्ष या उसकी लीला के किसी विशेष अग को लेकर जिस प्रधान भाव को उद्दीप्त करता है वह अन्य सहायक भावो की सहायता से क्रमश विकसित होता हुआ अत में चरम परिणति पर पहुँच कर एक स्थायी प्रभाव छोड जाता है। स्वभावत व्यक्तिगत स्वानुभूति प्रकट करनेवाले गीतिकाव्य में भाव का इतना विस्तार और ऐसी विविधता नही हो सकती जैसी असख्य लोक-विश्रुत घटनाओ और परिस्थितियो का वर्णन करने वाले इस कृष्णकाव्य में सहज ही प्राप्त हो जाती है।

अधिकाश कृष्ण-भक्ति काव्य गेय है। उसकी रचना प्राय कृष्ण-कीर्तन के उद्देश्य से विशेष कालो तथा अवसरो पर विविध राग-रागिनियो में गाने योग्य पदो के रूप में हुई है। अत कृष्णकाव्य की भी मूल प्रेरणा गीतिकाव्य के मूल लक्षण, सगीत तत्व मे ही है। कृष्णकाव्य के द्वारा भारतीय सगीत परपरा के अतर्गत भावपूर्ण भजनो की एक प्रभावशाली सगीत-शैली विकसित हो गई जिसमें स्वर और ताल के साथ शब्द और उसके अर्थ का भी कम महत्व नही होता। काव्य और सगीत का यह सामजस्य अपूर्व और अनुपमेय है। यद्यपि कृष्णकाव्य में अनेक ऐसे पद मिलेंगे जिनमें सगीत या काव्यतत्व एक दूसरे से विशेपता प्राप्त करने का उद्योग-सा करता जान पडता है, फिर भी दोनो तत्वो के समरस समन्वय के उदाहरण भी कम नही हैं। अधिकतर कृष्ण-भक्त कवि सगीत में भी व्युत्पन्न थे और सगीत के स्वरो के आश्रय से ही उनके पद रचे जाते थे।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति काव्य का विषय परपराभुक्त और चिर परिचित है, फिर भी कवियो ने अनेक छोटे-छोटे नवीन प्रसगो की कल्पना करके अपने भक्ति-भाव को नवोद्रेक और सहज स्फूर्ति के साथ प्रकट किया है। किंतु कृष्णकाव्य का सहजोद्रेक और उसकी अत प्रेरणा कवि की भाव प्रवणता के साथ उसकी भक्ति-भावना की गहनता पर निर्भर है। भक्त कवि अपने भाव के द्वारा भगवान के साथ आत्मीयता का जितनी ही अधिक गहरी अनुभूति कर लेता है, उतनी ही स्वाभाविकता और अकृत्रिमता के साथ आत्मनिवेदन करते हुए वह अपने हृदय को खोलकर रख सकता है। यही कारण है कि कृष्ण-भक्त कवियो की गोपियाँ लौकिक शिष्टाचार के माप में जो कुछ उचित और अनुचित समझा जाता है, उसकी बिल्कुल परवा नही करती। भक्त का भगवान के साथ आत्मीय सबध इतना घनिष्ठ और आडवरहीन होता है कि उसे अपने भाव-समर्पण के लिए कोई लबी-चौडी अथवा टेढी-मेढी भूमिका बाँधने की आवश्यकता नहीं होती। वह जो कुछ कहना चाहता है सीधे और स्पष्ट ढग से कहता है।

इस प्रकार कृष्णकाव्य के गीतिपदो में गीतिकाव्य की सहज स्फूर्ति, अनाडवर और निश्छलता अद्भुत रूप में मिलती है। साथ ही यह निश्छलता और नैसर्गिकता प्राय. निरतर प्रचुर कलापूर्ण गोपन और रहस्य-सौंदर्य से अलकृत है, फूहड ग्राम्यता उसमें बहुत कम दिखाई देती है।

कवियो की इसी सौन्दर्य-साधना के अतर्गत भाषा-शैली के वे असख्य विधान आते हैं जिनमें कवियो ने लक्ष्यार्थ और व्यग्यार्थ के द्वारा शब्द-शक्ति का अनुपम विस्तार किया है। कभी-कभी, विशेषतया रूप-वर्णन के प्रसगो में, कवियो की अलकार-प्रियता अवश्य उनके पदो को बोझिल बनाकर उनकी सद्य स्फूर्ति को नष्ट-सा करती देखी जाती है, किंतु रूप-वर्णन के परपराभुक्त अलकारो मे भी प्राय उन्होने अपनी नवीन उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है। अत यह नि सकोच कहा जा सकता है कि कृष्णकाव्य का उत्तम अश, जिसका परिमाण प्रचुर है, गीतिकाव्य के समस्त आवश्यक लक्षणो से युक्त है तथा कुछ अपनी विशेषताओ से उसने गीतिकाव्य का श्लाघनीय विषय-विस्तार किया है।

किन्तु कृष्णकाव्य के बृहद आकार में ऐसा अश भी है जिसके गीतिपदो में गीतिकाव्य के बहुत कम लक्षण मिलेंगे, जिनमें न तो कवि की गहन स्वानुभूति होगी, न भाव की सहति तथा जिनमें भावात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता ही अधिक होगी। स्वय 'सूरसागर' में अनेक लबे और वर्णनात्मक पद हैं जिनमें घटना और इतिवृत्त की प्रधानता तथा भाव की न्यूनता और विशृखलता है। वस्तुत ये पद गेय भी नही हैं और न वे कवि की किसी गहरी अनुभूति को व्यक्त करते हैं। परतु कृष्णकाव्य में गीतिपदो की लोकप्रियता और सफलता का ही यह एक प्रमाण कहा जाएगा कि वर्णनात्मक कथा-प्रसगो को भी गीतिपदो की शैली में रचा गया है।

कृष्णकाव्य के गीतिपदो की अतिम किंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें स्वानुभूतिमूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्णकाव्य के अनेक प्रसगो का प्राय क्रमबद्ध रूप में वर्णन मिलता है। 'सूरसागर' में गोपाल कृष्ण की सपूर्ण कथा प्राय पदो मे ही गाई गई है। जैसा कि पीछे कहा गया है, 'सूरसागर' के गीतिपदो में वर्णित सपूर्ण कृष्णलीला में एक सामान्य कथानिबद्ध प्रबन्धात्मकता पूर्ण तो है ही, उसके अतर्गत विशिष्ट कथानको को गीतिपदो की शैली में ही और अधिक सुसबद्धता और पूर्वापर प्रसग-सदर्भ के साथ रचा गया है, यहाँ तक कि उन्हें प्रसग से भिन्न करके समझने में प्राय भूल हो सकती है और फिर भी यह नि सकोच कहा जा सकता है कि इन पदो में भी गीति तत्व प्राय अक्षुण्ण रहा है। कृष्णकाव्य की यह अतुलनीय विशेषता है कि उसमें प्रबन्ध और गीति के परस्पर विरोधी लक्षण एकाकार हो गए हैं।

कृष्णकाव्य में गीति पदो का प्रयोग वस्तुत 'सूरसागर' को छोडकर अधिकतर मुक्तक रूप में ही हुआ है। लबे वर्णनो और कथात्मक प्रबन्धो में प्राय उस पद्धति को अपनाया गया है जो अपभ्रश काव्य के अनुकरण पर सबसे पहले प्रेमाख्यानक काव्यो मे प्रयुक्त हुई है। 'सूरसागर' की 'भागवत' के आधार-पर वर्णित अधिकाश कथाएँ चौपई-चौपाई-चौबोला छदो में रची गई हैं। इनके अतिरिक्त कृष्ण-कथा से सबधित अनेक बडी-बडी लीलाएँ, जिनका रूप स्वतन्त्र खण्ड-काव्यो जैसा है, चौपई आदि छदो मे दुहराई गई हैं। यह अवश्य है कि इन अशो की भाषा, शैली और भावना अधिकाश इतनी शिथिल, असमर्थ, व्यक्तित्वहीन और कवित्वशून्य है कि उन्हें सूरदास द्वारा रचित मानने में सकोच होता है। परतु 'सूरसागर' का द्वादशस्कधी रूप इन वर्णनात्मक अशो पर ही निर्भर है और कदाचित पर्याप्त प्राचीन है। वेंकटेश्वर प्रेस और नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' के साथ सलग्न 'सूरसागर-सारावली' भी जो सूरदास के नाम से प्रसिद्ध रही है सार और सरसी छदो की वर्णनात्मक शैली में रची गई है।

ऐसा जान पडता है कि प्रेमाख्यानक काव्य और रामकाव्य की भाँति कृष्णकाव्य को भी वर्णनात्मक रूप देने के प्रयत्न होने लगे थे, यद्यपि इस शैली में कवियो को कदाचित अधिक सफलता नही मिल सकी। सभवत कृष्ण-कथा में घटना-वैचित्र्य की अपेक्षा भावात्मकता की प्रधानता ही इसका मुख्य कारण है। सूरसागर' में चौपई आदि छदो के बीच-बीच दोहो का प्रयोग नही हुआ है, केवल अर्धालियो के युग्म समूहबद्ध करके सख्याकित कर दिए गए हैं। परतु नददास ने 'रूपमजरी', 'विरहमजरी' तथा 'रसमजरी' में बीच-बीच में दोहे भी रखे हैं। 'दशम-स्कध' में भी कही-कही दोहे आ गए हैं। ध्रुवदास की ब्यालीस लीलाओ या ग्रन्थो में से कई दोहा-चौपाई-चौपई में रचे गए हैं। वृन्दावनदास और व्रजवासीदास क्रमश राधावल्लभी और वल्लभ सप्रदायो के परवर्ती कवि है, अत इनके क्रमश 'व्रजप्रेमानद-सागर' और 'व्रजविलास' नामक ग्रन्थो की शैली पर 'रामचरितमानस' का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

कृष्णकाव्य की वर्णनात्मक और कथात्मक रचनाओ में केवल दोहा, रोला, रोला-दोहा के मिश्रण तथा दोहा-चौपई-चौपाई आदि के आधार पर निर्मित नवीन छदो का भी प्रयोग हुआ है। 'सूरसागर' में मिश्रित तथा नवीन निर्मित छदो का प्रयोग गीतिमयता के अनुरोध से हुआ जान पडता है। सफल, सुसबद्ध तथा नाटकीय प्रभाव-व्यजना वाले कथा-प्रसगो के लिए एक दर्जन स्थलो पर रोला-दोहा के मिश्रित छद का प्रयोग किया गया है।[1] इसमे और अधिक मनोहारिता लाने के लिए 'दानलीला' के वर्णन में छदात में दस मात्राओ की एक पक्ति जोड दी गई है। सूरदास के अनुकरण पर नददास ने भी 'भँवरगीत' और 'स्याम सगाई' में इस मिश्रित छद का सफल प्रयोग किया है। दोहा और चौपाई छदो को बीच-बीच से तोडकर तथा निश्चित मात्राओ की पक्तियो को जोडकर इन छदो में भी सूरदास ने अभिनव सगीतात्मकता पैदा कर दी है। 'सूरसागर' के फाग और होली के वर्णनो में इनका प्रयोग करके विषयानुकूल उत्फुल्ल और स्वच्छद वातावरण पैदा किया गया है। कदाचित सूरदास ने ही सबसे पहले चौपाई की दो अर्धालियो के बाद १३ मात्राओ की एक पक्ति जोडकर एक त्रिपदी छद का प्रयोग किया था। राधावल्लभी कवियो में यह छद विशेष रूप में लोकप्रिय रहा है। सेवकजी, हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास आदि कई कवियो ने इसका प्रयोग किया है। कथात्मक प्रसगो के लिए केवल रोला छद का प्रयोग नददास ने अपने 'रुक्मिणीमगल' और 'रासपचाध्यायी' में किया है। यह छद कृष्णकाव्य के कुछ अन्य कवियो को भी आकृष्ट करता रहा है, जैसे राधावल्लभी सेवकजी की वाणी में तथा 'हरिवश सहस्रनामावली' में इसका प्रयोग मिलता है।

दोहा छद कृष्णकाव्य में भी सर्वप्रिय रहा है। यह पूर्वापर प्रसग-निरपेक्ष मुक्तक रचना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। 'सूरसागर' में कई स्थलो पर इसका प्रयोग मिलता है, जहाँ सूक्तियो के रूप में मार्मिक अनुभव की बातें कही गई हैं। उदाहरण के लिए, ३२५ वें पद में प्रारभिक स्थायी और अतरा छोडकर पच्चीस दोहो में प्रेम की महत्ता, प्रेम के पथ में आत्म-बलिदान की अनिवार्यता तथा प्रेम की अमरता का प्रतिपादन किया गया है। यही पच्चीस दोहे पृथक रूप मे सूरदास की 'सूरपच्चीसी' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सपूर्ण पद भाव-सकलन की

---

१. दे० सूरसागर।

दृष्टि से एक पूर्ण इकाई है, फिर भी प्रत्येक दोहा अपने में पूर्ण और स्वतंत्र भी है। दोहो का इस प्रकार का प्रयोग सभी कृष्ण-भक्त कवियो ने न्यूनाधिक रूप में किया है। हित हरिवश की रचना परिमाण में न्यून है, फिर भी उनकी स्फुट वाणी में चार दोहे भी पाए जाते है। उनके सप्रदाय के तो सभी भक्त कवियो ने इस छद का प्रचुर प्रयोग, विशेष रूप से सिद्धात-निरूपण, भक्ति-माहात्म्य-वर्णन, व्यावहारिक धर्मोपदेश, अथवा युगधर्म के चित्रण आदि के प्रसगो में किया है। इस सबध में हरिराम व्यास और ध्रुवदास का विशेष रूप में नामोल्लेख किया जा सकता है। वल्लभ-सप्रदाय के नददास ने भी 'मानमजरीनाममाला' तथा 'अनेकार्थमजरी' नामक सपूर्ण रचनाएँ केवल दोहा छद में ही लिखी है। इसी सप्रदाय के नागरीदास (महाराज जसवतसिह) ने भी इस छद का प्रचुर प्रयोग किया है। निम्वार्क सप्रदाय के भट्टजी द्वारा रचित 'युगलशतक' में भी दोहो का प्रयोग है।

कवित्त, सवैया, छप्पय, कुडलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरिल्ल तथा कुछ और छदो के मुक्तक प्रयोग की परपरा भी कृष्ण-भक्ति काव्य में प्रारभ से परिलक्षित होती है। 'सूरसागर' में भी कवित्त, सवैया और गीतिका के कुछ इनेगिने उदाहरण मिलते है। हित हरिवश की स्फुट वाणी में कुछ सवैया, छप्पय और कुडलिया भी है। इन छदो का व्यवहार कृष्णकाव्य में उत्तरोत्तर बढता गया। किंतु इन छदो का उस प्रकार मुक्तक रूप में पूर्ववर्ती कवियो ने प्रयोग नही किया जिस प्रकार परवर्ती रसखान तथा उनके बाद रीतिकालीन शैली से प्रभावित कृष्ण-भक्त कवियो ने किया है। कवित्त और सवैया में भी प्राय एक प्रकार से सूक्तियाँ ही होती है जिन्हें कृष्ण-कथा के किसी घटना-प्रसग अथवा भाव-विशेष पर आधारित किया जाता है।

कृष्णकाव्य के गीति पदो में भी कवियो ने विविध छदो का व्यवहार किया है, उसमें मात्रिक छदो की विविधता अनुपमेय है। सफल गीतिकार कवियो ने भाव की अनुकूलता और उपयुक्तता की दष्टि से गति, लय और ताल का ध्यान रखते हुए लबे और छोटे छदो के निर्वाचन में अपनी कला-कुशलता और नाद-सौन्दर्य का परिचय दिया है। कृष्णकाव्य का चरम विकास गीतिपदो में ही हुआ और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ज्यो-ज्यो कवियो में भक्ति-भावना का भावोन्मेष क्षीण होता गया, त्यो-त्यो कृष्णकाव्य भी गीति शैली के स्थान पर सूक्तिकारो की दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया आदि की शैली अपनाता गया और उसकी परिणति लौकिक शृगार के काव्य में हुई। 'सूरसागर' में भावो के साथ काव्य-रूपो, काव्य-शैलियो और छदो की जो अनेकरूपता और विविधता मिलती है, वह सूरदास के बाद किसी एक कवि में क्या, सम्मिलित रूप से सपूर्ण कृष्णकाव्य में भी नही मिलती। जिस प्रकार भाव की दृष्टि से कृष्णकाव्य सीमित और सकुचित होता गया, उसी प्रकार काव्य-रूप, छद और शैली की दृष्टि से भी उसमें सकोच आता गया। और, दोनो का कारण यही है कि कवियो में भावानुभूति और अत प्रेरणा के स्थान पर उधार लिए हुए भावो को नवीन चमत्कार के साथ उपस्थित करके धनार्जन और यशोलिप्सा की भावना अधिक बढती गई।

चरित्र-निरूपण और पात्रो का प्रयोग

कृष्ण-कथा के नायक **श्रीकृष्ण** मानव और अतिमानव के परस्पर विरोधी तत्वो से

निर्मित है। पीछे बताया गया है कि उन्हें विष्णु का अवतार मानते हुए भी पौराणिक त्रयी से ऊपर परब्रह्म अथवा तत्वज्ञान की परिभाषा में अद्वैत ब्रह्म माना गया है। परंतु कृष्ण के व्यक्तित्व का यह अलौकिक पक्ष कृष्णकाव्य में स्फुट स्थलों, सूक्तियों और संदर्भों में ही मिलता है। कृष्ण-भक्त कवियों ने उसका वर्णन नहीं किया, केवल अत्यन्त विलक्षण ढंग से उसकी व्यंजना की है। काव्य के वे सब पात्र जो उनसे प्रेम करते दिखाए गए हैं उनकी अद्वैतता को अस्वीकार करते हैं तथा उनके निर्गुणत्व और निराकारत्व का निषेध करते हैं। निश्चय ही यह अस्वीकृति और निषेध न्याय और विवेक पर आधारित नहीं, वरन प्रेम की चरम अभिव्यक्ति मात्र है। धर्म और दर्शन के आधार पर समस्त कृष्णकाव्य में कृष्ण के ब्रह्मत्व की अतर्क्य स्वीकृति की व्यंजना है, केवल भक्ति-पक्ष में उनके मानवरूप से ही प्रयोजन है—उस मानवरूप से जो उनके विविध भावरूपी प्रेम का आलंबन बन सके। 'महाभारत' के योद्धा कृष्ण भी व्यवहारवादी मानव हैं, परंतु भक्तों के कृष्ण स्वभाव में उनसे सर्वथा भिन्न हैं। यशोदा के यहाँ जन्म लेते ही वे देश-काल के अनुकूल सामान्य शिशु की तरह आचरण करने लगते हैं और व्रजवासपर्यन्त ऐसी मनोहारी क्रीड़ाएँ करते रहते हैं जिनमें बाल और किशोर काल की मानवीय स्वाभाविकता ओत-प्रोत है।

सूरदास ने उनके इस संपूर्ण चरित्र का चित्रण करने में मनुष्य-प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। सूरदास के इस यथातथ्य चित्रण की अनुपमेयता निर्विवाद है, किंतु वस्तुतः सूर के कृष्ण का आकर्षण केवल मात्र उनकी मानवीय स्वाभाविकता में नहीं है। उनका वास्तविक आकर्षण उनकी विलक्षणता में ही है—स्वाभाविक चित्रण ने उस विलक्षणता को और अधिक निखार दिया है। सबसे अधिक अद्भुत तो यही है कि वे ब्रह्म हैं और ऐसा आचरण करते हैं कि किसी को उनके ब्रह्मत्व का सहज रूप में ध्यान ही नहीं रहता। यशोदा, नंद और व्रज के वयस्क नर-नारी उन्हें निरंतर अपने पुत्र और भोले बालक के रूप में ही ग्रहण करना चाहते हैं, गोप-सखा उन्हें सदैव सुहृद के रूप में अपनाए रहना चाहते हैं तथा किशोरी और युवती गोपियाँ उन्हें अपने रति-नायक से भिन्न रूप में कभी देख ही नहीं सकतीं। फलतः, कवि उन्हें यथाभावानुसार पूर्ण रूप में शिशु, बालक, किशोर, सखा अथवा प्रगल्भ प्रेमी के रूप में उपस्थित करके मानवीय स्वाभाविकता का अंत कर देता है।

वात्सल्य, सख्य और माधुर्य के आलंबन कृष्ण के तीन रूपों में पर्याप्त भिन्नता और साथ ही पर्याप्त एकता है। अतः एक ही व्यक्ति जब सहसा भाव-परिवर्तन करके भिन्न रूप में उपस्थित होता है और फिर भी उसकी स्वाभाविकता अक्षुण्ण रहती है, तब पाठक को अत्यन्त कुतूहल होता है और श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की यह विलक्षणता उनकी मानवीय स्वाभाविकता के बीच उनकी अतिमानवता के काव्यपूर्ण रहस्य का संकेत कर जाती है। बीच-बीच में होनेवाले पराक्रमपूर्ण विस्मयव्यंजक संहार-कार्य इन संकेतों को और पुष्ट कर देते हैं।

इस संबंध में यह विशेष रूप से देखने योग्य है कि नंद, यशोदा, गोप, गोपी आदि के साथ राग-रंग में आचूल मग्न श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में कुशल संकेतों द्वारा निरंतर वीतरागत्व की व्यंजना होती जाती है। अक्रूर के साथ मथुरा जाते समय उनका यह भाव स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है। उनके चरित्र के इस गुण से, काव्य के साधारण अर्थ में, उनके सफल नायकत्व की विलक्षणता तथा भक्ति के आध्यात्मिक अर्थ में, उनके वास्तविक व्यक्तित्व की अलौकिकता

व्यजित होती है और इस प्रकार भक्त कवि के चरित-नायक में गीता के योगिराज कृष्ण की अनासक्ति का व्यावहारिक दर्शन होता है।

सूरदास ने श्रीकृष्ण के इस सपूर्ण चरित का चित्रण किया है। अन्य कवियो ने उनकी उपर्युक्त विशेषताओ में से कुछ ही प्रकट की। बहुत थोड़े कवि, और वह भी विच्छिन्न रूप में, सूरदास के बाल और किशोर कृष्ण का वह चित्र दे सके जो वात्सल्य और सख्य भावो का आलबन है। अधिकाश कवि उनके माधुर्यपूर्ण चरित की ही ओर झुके और राधा और गोपियो के साथ उनके प्रेम-सबधो के चित्रण में ही लीन रहे। यद्यपि अनेक कवियो ने इस चित्रण में अतीव तन्मयता प्रदर्शित की है, परतु सूरदास ने उसमें वीतरागत्व और अनासक्ति के सकेतो तथा अन्यान्य उपायो से आध्यात्मिकता की जो उच्च काव्यमयी व्यजना की थी, वह सभवत कोई अन्य कवि नही कर सका।

कृष्ण के असुर-सहारी रूप में सूरदास ने ओज का तो सन्निवेश नही किया, परतु उन्होने जिस अलौकिक विस्मय की व्यजना के लिए कृष्ण की आनदमयी लीला में चरित के इस पक्ष की अवतारणा की थी, उसे सभवत अन्य कवि नही समझ सके। अत श्रीकृष्ण का चरित लौकिक होते-होते इहलौकिकता में ही बद्ध होता गया और उसमें मानव-व्यक्तित्व की सकुचित एकागिता ही शेष रह गई। फलत जीवन की व्याख्या की कसौटी पर कसने पर वह अत्यत कल्पित और अयथार्थ लगता है, राग-रग और आनद-विहार में लिप्त जीवन का मानो कोई उद्देश्य ही न हो।

परतु वास्तविकता यह है कि कृष्ण-चरित जीवन के वास्तविक चित्रण अथवा आदर्श चित्रण के रूप में रचा ही नही गया। उनकी लीला का लीलानद के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नही है। उसका उद्देश्य तो अखण्ड आनद में जीवन की आध्यात्मिक परिपूर्णता की व्यजना करना ही है। कवियो ने उस आनद का चरम रूप स्त्री-पुरुष के रति भाव में कल्पित किया है। अत श्रीकृष्ण को परमानदरूप में परम पुरुष मानकर प्रकृतिरूप राधा के सयोग से उसकी पूर्णता सिद्ध की गई है।

सूरदास ने कृष्ण की भाँति **राधा** को भी सहज मानवीय रूप में चित्रित किया है तथा राधा और कृष्ण के प्रेम-भाव को बाल्यावस्था से ही सहज आकर्षण के रूप में आरभ करके उसका मनोविज्ञानसम्मत विकास दिखाया है। इस प्रकार राधा के चरित के दो पक्ष हैं। वास्तव में तो वे कृष्ण से अभिन्न हैं, किंतु व्यवहार में उन्हें उत्तरोत्तर कृष्ण के प्रेम को अधिकाधिक प्राप्त करने मे प्रयत्नशील चित्रित किया गया है। बाल्यावस्था का आकर्षण पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं का जैसे-तैसे अतिक्रमण करता हुआ उस स्थिति को पहुँच जाता है जब वे अत्यत विवश, अधीर और कातर हो जाती हैं। किंतु कृष्ण के आदेश से उन्हे अपना प्रेम गुप्त और गूढ रूप में रखना पडता है। दुर्मिलन-जन्य वियोग की अग्नि मे तपकर, गर्व का सर्वथा परिहार हो जाने पर, स्वात्म को सर्वभावेन समर्पित कर देने के उपरात ही उन्हें श्रीकृष्ण का सयोग-सुख प्राप्त होता है। रास-क्रीडा के अतर्गत, वन-भूमि के स्वच्छद वातावरण में राधा-कृष्ण का विवाह रचा जाता है और तदुपरात राधा और कृष्ण दाम्पत्य भाव से प्रेम करते दिखाए जाते हैं। राधा का प्रेम परिपूर्ण होने पर इतनी महत्ता प्राप्त कर लेता है कि स्वय श्रीकृष्ण उसकी याचना करते हैं और राधा के मान करने पर उन्हें मनाते तथा उनके विरह में व्याकुल होते हैं।

संयोग की अवस्था में राधा का शरीर और मन सौंदर्य, कांति और उत्फुल्लता का आगार है। वे अत्यंत चंचल, चतुर और विनोदमयी हैं तथा उनके मन का भाव उनके चपल अनियारे नयनों से अत्यंत आकर्षक रूप में व्यक्त होता है। किंतु वियोग की अवस्था में वे अत्यंत खिन्न, मलिन और मूक हो जाती हैं, उनका प्रेम गूढ से गूढतर हो जाता है, उनकी प्रकृति में अपार गंभीरता आ जाती है। राधा के प्रेम की महत्ता तथा कृष्ण से उसकी अभिन्नता का प्रमाण कुरुक्षेत्र-मिलन के अवसर पर मिलता है जब राधा और कृष्ण कीट-भृंग की भाँति एकाकार हो जाते हैं।

सूरदास ने राधा के चरित-चित्रण में मानवीय स्वाभाविकता का पूर्ण समावेश करते हुए, सूक्ष्म, रहस्यमय, किंतु असंदिग्ध संकेत किए हैं जो उनके अलौकिक व्यक्तित्व के व्यंजक हैं। किंतु सूरदास के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने न तो राधा के प्रेममय चरित का मनोविज्ञान-सम्मत चित्रण किया और न उसमें ऐसे गूढ रहस्य-संकेत ही किए। प्राय वे सूरदास के चित्रण को मानसिक पृष्ठभूमि में रखकर अधिकतर राधा-कृष्ण के प्रेम-विलास के ही चित्र अंकित करते रहे। इन चित्रों में नि संदेह प्रेमी नायिका के अनगिनती रूप और असख्य भाव मिलते हैं। एक सीमित क्षेत्र में प्रेमी स्त्री-पुरुष का ऐसा मनोहारी चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। परंतु अंततोगत्वा हैं राधा एक भाव की प्रतीक मात्र। उस भाव के अंतर्गत तो उनमें पूर्ण मानवीय स्वाभाविकता अवश्य है, पर उसके अतिरिक्त उनका कोई रूप नहीं मिलता।

'सूरसागर' में राधा के इस महत्व का कारण अन्य संप्रदायों का, विशेष रूप में राधा-वल्लभी संप्रदाय का प्रभाव बताया जाता है। परंतु सूरदास से पहले इन संप्रदायों के किसी कवि का उल्लेख नहीं हुआ है। हित हरिवंश का रचना-काल सूरदास के बाद प्रारंभ हुआ, परंतु वे उनके समकालीन अवश्य थे। हित हरिवंश के 'हितचौरासी' में 'तत्सुखि-भाव' के प्रेम-सिद्धांत तथा राधा-कृष्ण की अद्वयता का निरूपण करते हुए केवल उनके नित्यविहार, सुरति, शृंगार, मान, रास आदि का स्फुट वर्णन किया गया है। अष्टछाप के कवियों के स्फुट पदों में तो 'सूरसागर' की भूमिका ही विद्यमान है। नंददास ने 'भागवत' के अधिक अनुकूल रहकर रचना की है, अत उन्होंने राधा की अपेक्षा सामूहिक रूप में गोपियों को अधिक महत्व दिया है। राधावल्लभी, हरिदासी, निम्बार्क तथा गौडीय संप्रदाय के सभी कवियों ने अपने-अपने संप्रदायों के सिद्धांतानुसार राधा के युगल रूप, संयोग-सुख, स्वकीया-भाव अथवा परकीया-भाव के प्रेम का चित्रण करते हुए राधा को नि सन्देह अधिक महत्ता प्रदान की है, परंतु फिर भी उनके चित्रण अपूर्ण और एकांगी हैं। हित वृन्दावन दास के 'लाडसागर' और 'व्रजप्रेमानंदसागर' में राधा को वात्सल्य-स्नेह-संवलित स्वकीया नवोढा के रूप में चित्रित करने की चेष्टा की गई है, परंतु यह चित्रण अत्यंत सीधा-सादा तथा सौन्दर्य और कला से सर्वथा शून्य है।

रति भाव के विकास और उसकी चरम परिणति में राधा काम-भावसंपन्न गोपांगनाओं की आदर्श हैं। यद्यपि **गोपियाँ** जानती हैं कि राधा के गूढ भाव की उपलब्धि संभव नहीं है, फिर भी वे उनका अनुकरण करते हुए, प्रेम की पूर्णता प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहती हैं। सूरदास ने राधा की भाँति गोपियों के प्रेम का भी उत्तरोत्तर विकास दिखाया है और गर्व-नाश के हेतु विविध परीक्षाओं के द्वारा कृष्ण को उनकी सहायता करते चित्रित किया है। यद्यपि खंडिता नायिकाओं के रूप में 'सूरसागर' में श्रीकृष्ण उन्हें एकांत प्रेम का प्रतिपादन करते दिखाए गए हैं, फिर भी

सूरदास ने उनके प्रेम को राधा के प्रेम की भाँति महत्ता नही दी। न तो गोपियो के साथ उनका दाम्पत्य सबध दिखाया गया और न उनके प्रेम में वैसी उत्फुल्लता, प्रसन्नता और गूढता व्यजित की गई। वे निरतर विकल प्रेम को परिपूर्ण बनाने में प्रयत्नशील रहती है। सूरदास के अतिरिक्त राधा और गोपियो के इस आध्यात्मिक अतर को कोई कवि ऐसी कुशलता से नही निभा सका।

किंतु गोपियो के चरित्र-चित्रण में व्यक्तिगत विशेपताएँ वहुत कम दिखाई गई हैं। सूरदास ने केवल **ललिता** और **चंद्रावली** नाम की दो गोपियो में किंचित व्यक्तिगत विशेषताओ का उल्लेख किया है तथा कुछ अन्य गोपियो—**शीला, सुषमा, कामा, वृन्दा, कुमुदा, प्रमदा** आदि—के नामोल्लेख मात्र से उनकी विशिष्टता वताई है। इनके अतिरिक्त कृष्णकाव्य में परपरा से चले आते हुए गोपियो के कुछ अन्य नाम भी मिलते हैं, यथा, विशाखा, हरिप्रिया, सुमुखी, वल्लभी, माधुरी, माधवी, श्यामला, लीला, पद्मा, वनप्रिया आदि। किंतु इन नामो के साथ किसी स्पष्ट व्यक्ति-वैचित्र्य का वोध नही होता। कभी-कभी कुछ नाम भावो के प्रतीक रूप में अवश्य प्रयुक्त हुए हैं, पर सव मिलाकर काम-भाव वाली सभी गोपियो की प्रकृति और व्यवहार एक-समान है। वे सम्मिलित रूप से कृष्ण की प्रिया हैं और यह वात उनके प्रेम की लोकातीत गूढता का पर्याप्त प्रमाण है। राधा की भाँति वे भी भाव की प्रतीक मात्र है। व्रज के सहज ग्रामीण वातावरण में वे अवश्य अत्यत यथार्थ रूप में चित्रित की गई हैं, किंतु उनका चरित भी भाव-विशेष की सीमाओ में आवद्ध है, जीवन की व्यापकता उसमें नही मिलती।

राधावल्लभी सप्रदाय की स्थिति इस विषय में कुछ भिन्न है। उसके अनुसार गोपियो की सबसे वडी आकाक्षा यह होती है कि वे राधा-कृष्ण के नित्य निकुज-रति-विहार के सपादन में अधिक से अधिक घनिष्ठतापूर्वक सहायक हो तथा कुज-रध्रों से उस विहार का दर्शन कर सकें। इस 'तत्सुखि भाव' की गोपियो में आठ अतरग सखियो का नामोल्लेख अवश्य किया गया है, परतु नित्य विहार की निष्क्रिय द्रष्टा मात्र होने के कारण उनमें किन्ही व्यक्तिगत विशेषताओ के प्रकट होने की कोई सभावना नही है। नित्यविहारी राधा-कृष्ण की परिचर्या मात्र को वे अपना परम सौभाग्य मानती हैं, अत उनके भावलोक में भी किसी विशेष क्रियाशीलता की कल्पना नही की जा सकती। गौडीय सप्रदाय के भक्तो ने भी यद्यपि सखियो, मजरियो और यूथेश्वरियो की पृथक स्थितियाँ स्वीकार की हैं, परतु गोपियो के व्यक्तिगत चरित-चित्रण की ओर उनका भी कोई प्रयास नही दिखाई देता। सखी सप्रदाय की भी स्थिति ऐसी ही है। सूर के परवर्ती कृष्णकाव्य में गोपियो के चरित और भाव में उत्तरोत्तर सकोच आता गया तथा राधा और अन्य गोपियो का अतर भी प्राय विस्मृत हो गया।

श्रीकृष्ण के साथ माधुर्य रति करने वाली स्त्रियो में **कुब्जा** और **रुक्मिणी** को भी गिना जा सकता है। इन दोनो के चरित्रो में स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत विशेषताएँ पाई जाती हैं और अनेक कृष्ण-भक्त कवियो ने प्राय उन्हे उभारकर चित्रित किया है। **कुब्जा** गोपियो की असूया, ईर्ष्या तथा व्यग्य-वचनो का लक्ष्य रही है क्योकि मथुरा-प्रवासी कृष्ण का प्रेम उसे कही अधिक सरलता से प्राप्त हो गया था। काव्य में वह अत्यन्त हीन, अहम्मन्य और वक्रशील नारी के रूप में उपस्थित की गई है, पर वस्तुत उसके चरित्र से कृष्ण की अपार भक्तवत्सलता प्रमाणित होती है।

रुक्मिणी का चरित्र भी कृष्ण की भक्त-वत्सलता का ही द्योतक है। दापत्य भाव का होते हुए भी उसके प्रेम में दैन्य की अधिकता है, क्योंकि उसमें राधा के प्रेम की भांति स्वच्छदता नही है। परकीया रूप में उसके प्रेम को विकसित होने का अवसर नही मिला, अत उसमें गूढता, गभीरता, महत्ता और गौरव का अभाव है। उसके प्रेम में गोपियो जैसी आध्यात्मिकता का कोई सकेत नही मिलता।

माधुर्य रति को अपनाने वाली गोपियो के अतिरिक्त व्रज में ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो कृष्ण के प्रति अनुकम्पा अथवा वात्सल्य का भाव रखती हैं। **यशोदा** उनमें प्रमुख हैं। सूरदास ने यशोदा के रूप में सहज, स्नेहशील मातृत्व का सजीव चित्रण किया है। सरलता और स्नेहशीलता—उनके चरित्र के यही दो प्रधान गुण हैं, जिन्हें सूरदास ने अनेक यथार्थ परिस्थितियो की विविध घटनाओ में बडी स्वाभाविकता के साथ व्यजित किया है। किंतु सूर के परवर्ती कवियो की सवेदना राधा और गोपियो के माधुर्य भाव में सीमित रही, अत भूले-भटके यदि वात्सल्य का कभी चित्रण भी हुआ, तो सदैव ही उसकी भूमिका में सूरदास की यशोदा का चरित्र रहा है। यशोदा के अतिरिक्त वात्सल्य भाव किसी अन्य गोपी में विशेष रूप से नही दिखाया गया, यद्यपि व्रज की सभी वयस्क गोपियाँ यशोदा के भाव की स्वभावत भागी हैं। केवल बलराम की माता **रोहिणी** और राधा की माता **कीर्ति** में सूरदास ने यशोदा के वात्सल्य की झलक दिखाई है। इनके अतिरिक्त **देवकी** के मातृवत वात्सल्य में दैन्यपूर्ण भक्ति-भावना का सन्निवेश किया गया है, लगभग उसी प्रकार, जैसे रुक्मिणी का माधुर्य भाव दैन्यपूर्ण भक्ति से प्रभावित है।

कृष्णकाव्य में स्त्री पात्रो की प्रधानता और प्रचुरता है, क्योंकि उसमें भाव की प्रधानता है। अत कृष्णकाव्य के सभी **स्त्री पात्र** वात्सल्य और माधुर्य, इन्ही दो भागो में बँट जाते हैं। इन दोनो भावो को व्यक्त करने वाली स्त्रियो के चित्रण में, विशेपतया सूरदास ने तथा सामान्यतया उनका अनुकरण करने वाले अन्य कृष्ण भक्त कवियो ने, मानवीय स्वाभाविकता की सहज प्रतीति कराने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है।

कृष्णकाव्य के **पुरुष पात्र** भी प्रधानतया दो वर्गों में बँट जाते हैं। **नंद** तथा उनके समवयस्क गोप अनुकपा रति प्रकट करते हैं तथा कृष्ण के क्रीडा-सहचर गोप उनके साथ सखा भाव से प्रेम करते हैं। यशोदा की भांति नद के चरित्र में भी सरलता और स्नेहशीलता की अधिकता है। वे भी अपनी पत्नी की भांति इतने सरल हैं कि कृष्ण के सबध में तनिक-सी आशका से भयभीत हो जाते हैं और तनिक-से हर्ष से फूल उठते हैं। व्रज के सभी वयस्क गोप इसी प्रकार सरल विश्वासी और नागरो के प्रति शकाशील हैं।

कृष्ण के **गोप सखा** भी अत्यत सरल, चचल, मोदप्रिय और सद्य प्रभावशील हैं। कृष्ण-प्रेम के स्थायी भाव के अन्तर्गत वे कितनी शीघ्रता से भाव-परिवर्तन करते हैं। इन सखाओ में सूरदास ने **अर्जुन, भोज, सुबल, श्रीदामा, मधुमंगल** आदि का नामोल्लेख किया है; पर व्यक्तिगत परिचय केवल **श्रीदामा** के चरित्र का मिलता है जो कालिय-दमन लीला की भूमिका में विशेष रूप से सामने आते हैं। परतु 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में श्रीदामा का जैसा महत्त्व और प्रभाव चित्रित किया गया है, उसका कोई सकेत 'सूरसागर' में नही मिलता। 'सूरसागर' पर 'ब्रह्मवैवर्त' की छाया

भी नही जान पडती। परवर्ती कवियो ने, यदि कभी कृष्ण-सखाओ के प्रेम का चित्रण किया है तो केवल सामूहिक रूप में ही किया है। इन समस्त सखाओ को गौडीय वैष्णवो के अनुसार अवस्थानुसार तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—कृष्ण से बडे जो बलराम के सदृश उनके प्रति अनुकपा मिश्रित स्नेह रखते हैं, कृष्ण से छोटे जो सूरदास के **रैंता, पैंता, मना, मनसुखा** की भाँति कृष्ण के स्नेहभाजन हैं तथा कृष्ण के समानवय, समान शील-व्यसन सखा जो उनकी मधुर लीला में भी बहुत दूर तक उनके साथ रहते हैं और उनके साथ क्रीडा-सुख का भी थोडा-बहुत लाभ उठाते हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि इन्ही सखाओ के भाव से कृष्ण-लीला का वर्णन करते बताए गए हैं। उन्हें अष्टसखा कहकर भी सम्मानित किया गया है। गोपियो को मुग्ध करके आर्य-पथ से विचलित कर देने वाली कृष्ण की मुरली उनके सखाओ को अत्यत प्रिय है और वे उसके मोहक नाद-सौंदर्य के रहस्यपूर्ण आनद के लिए निरतर लालायित रहते हैं।

कृष्ण के सखाओ में **बलराम** का एक विशेष स्थान है। वास्तव में वे कृष्ण के सखा नही, अपितु उनके बडे भाई तथा उनके अलौकिक व्यक्तित्व के एक अश के प्रतीक हैं। कृष्ण के सहार और उद्धार के अतिप्राकृत कार्यों में वे उनकी सहायता करते हैं, उनके व्यक्तित्व में कठोरता और प्रखरता है तथा तमस का प्रतिनिधित्व करते हुए वे कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की पूर्ति करते हैं। अत पुष्टिमार्गी भक्तो ने श्याम-बलराम की जोडी को अपने इष्टदेव के रूप में माना है। पुराणो की परपरा के अनुसार सूरदास ने भी रौद्र रूप बलराम के सुरापान और उन्माद का उल्लेख किया है, पर उनके चरित्र की यह विशेषता कृष्णकाव्य की प्रकृति के अनुकूल नही है, अत कवियो ने उसका अधिक विस्तार नही किया। वे केवल अवसर के अनुकूल कृष्ण के अलौकिक व्यक्तित्व की गूढ व्यजना करते हुए पाए जाते हैं।

कृष्णकाव्य के अन्य पुरुष पात्रो में वसुदेव, अक्रूर, उद्धव, **और** सुदामा अनुकूल भाव से भक्ति करने वाले और कस आदि प्रतिकूल भाव से निरतर ध्यान करने वाले पात्र हैं। दोनो प्रकार के पात्र अपने-अपने भाव से कृष्ण-भक्त ही कहे गए हैं। **वसुदेव** देवकी के समान वात्सल्य भाव से प्रीति करते हैं, जिसमें कृष्ण के अलौकिक व्यक्तिव की स्पष्ट और असदिग्ध प्रतीति के कारण दैन्य भाव का निश्चित पुट रहता है। **अक्रूर** कस के कर्मचारी हैं, अत उन्हें उसकी आज्ञा से कृष्ण को मथुरा लाना पडता है। ब्रजवासियो के निकट अक्रूर का यह कार्य क्रूर है, अत वे किंचित व्यग्य और भर्त्सना के लक्ष्य बनाए गए हैं, तथापि अक्रूर हृदय से कृष्ण-भक्त हैं। सूरदास ने उनके प्रारभिक भाव-द्वन्द्व का सक्षिप्त, किन्तु मार्मिक चित्रण किया है। कृष्ण का सामीप्य और अत में आतिथ्य पाकर उन्हें जो सौभाग्य मिला, वह भक्तो के लिए स्पृहणीय है। **सुदामा** के चरित्र में सूरदास तथा कुछ थोडे से अन्य कवियो ने एक ग्रामीण दरिद्र ब्राह्मण की सरलता के सजीव चित्रण के द्वारा पर्याप्त व्यक्ति-वैचित्र्य ला दिया है। परतु कृष्ण की अप्रत्याशित कृपा से विस्मय-विमुग्ध सुदामा का चरित्र हृदय के उतना निकट नही है जितना उनके क्रीडा-सहचर श्रीदामा आदि का। इसी कारण सुदामा का चरित्र कृष्ण-भक्त कवियो में अधिक लोकप्रिय नही हो सका।

कृष्ण के मित्रो मे **उद्धव** का चरित्र महत्वपूर्ण है। 'भागवत' पर मूलत आधारित होते हुए भी कृष्ण-काव्य के उद्धव 'भागवत' से भिन्न हैं। सूरदास ने उनमें योग, ज्ञान और कर्म मार्गों के अनुयायी, निर्गुणोपासक, पाडित्याभिमानी, मर्यादावादी व्यक्तियो का सम्मिलित रूप अकित

किया है। वे हठयोगियो, अलखवादियो, मायावादी वेदान्तियो, नैयायिको और सांख्यवादियो का एक साथ प्रतिनिधित्व करते हैं। कृष्ण-भक्त कवियो को अनन्य भक्ति से भिन्न जहाँ कही किसी प्रतिस्पर्द्धी मार्ग का खण्डन अभीप्ट हुआ, वहाँ उन्होने उसे उद्धव के मत्थे मढ दिया। फिर भी, सूरदास से आरभ होकर कृष्णकाव्य के उद्धव में कुछ ऐसी व्यक्तिगत विशेपताओं की परंपरा चली जिनके कारण उनका विलक्षण व्यक्तित्व सरलता से पहचाना जा सकता है। भक्ति से भिन्न अनेक वादो और मार्गों का उनके ऊपर आरोप होते हुए भी वे भी वास्तव में कृष्ण-भक्त ही हैं। वे सरल-मति, अत किसी अश में मूर्ख चित्रित किए गए हैं। सूरदास ने उन्हें 'भुरग' और 'निपट जोगी जग' कहकर व्यग्य किया है। वे प्रारभ से नीरस और कठोर बताए गए हैं, किंतु गोपियो के प्रगाढ भक्ति-भाव का परिचय पाकर उनके हृदय की सरल स्निग्धता, कोमलता और आर्द्रता उभर आई और इस प्रकार वुद्धि और तर्क पर भाव की, मस्तिप्क पर हृदय की विजय प्रमाणित हुई।

कस कृष्णकाव्य का किसी अश में प्रतिनायक कहा जा सकता है। व्रज में उसका घोर आतक है, कृष्ण के द्वारा कस के भेजे हुए एक के बाद दूसरे छद्मवेशधारी असुरो का सहार देखकर भी व्रजवासी निरतर भयभीत रहते हैं। उसके स्वभाव की सबसे बडी विशेपता क्रूरता बताई गई है। पर वास्तव में उसकी क्रूरता के मूल में भय और आशका ही है। आत्मरक्षा की भावना के कारण ही वह इतना कठोर और दुर्मति है, यो प्रकृति से कृष्णकाव्य के अन्य पात्रो की भाँति वह भी सरल-मति और विचारहीन है। विशेप स्थिति में उसकी सरलता मूढता और अविचार बन जाती है।

कृष्ण-भक्त कवि स्वभाव से ही ग्राम्य सरलता के पोषक हैं तथा उन्हें नागर ऐश्वर्य एव राजसी वैभव से विरक्ति है। अत उन्होने न तो कृष्ण के शौर्य, वीर्य और पराक्रम का गौरवशाली रूप में चित्रण किया और न उनके प्रतिपक्षी कंस को वह आदर दिया, जिसका किसी महा-काव्य की रचना में उसे अधिकारी समझा जा सकता था। सूरदास तथा सपूर्ण कृष्णकाव्य का कस भय, आशका और चिंता की मानो सजीव मूर्ति है और इन्ही भावो के माध्यम से निरतर कृष्ण का ध्यान करते रहने के कारण वह उद्धार और निर्वाण का अधिकारी हो जाता है।

कस के सहार और उद्धार में कृष्ण की जिस कृपा का चित्रण हुआ है, वही कस के सहयोगी **पूतना, कागासुर, शकटासुर, तृणावर्त, वत्सासुर, बकासुर, अघासुर, धेनुकासुर, प्रलबासुर, केशी, भौमासुर** आदि के वध और उद्धार में प्रकट हुई है। **मुष्टिक, चाणूर** और **कुवलयापीड़** को भी यही सद्गति प्राप्त होती है तथा **जरासध, शिशुपाल, कालयवन** आदि भी वैर भाव से भजन करके भवसागर तर जाते हैं। कृष्ण-भक्त कवियो ने इन परिपथी भक्तो के सदर्भ अत्यत सक्षेप में, केवल कृष्ण-कृपा के दृष्टात देने के लिए ही दिए हैं, काव्य में उन्हें विशेष स्थान नहीं मिला।

पात्रो की प्रतीकात्मकता

इस प्रकार कृष्ण-भक्त कवियो ने कृष्ण-कथा के एक विशिष्ट अग को चुनकर, तत्सबधी पौराणिक और लोक-विख्यात पात्रो में न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति-वैचित्र्य रखते हुए, उनके द्वारा कुछ विशेष भावो का प्रतिनिधित्व कराया है। यह बात सभी पात्रो में समान है कि वे कृष्ण का

निरतर ध्यान करते रहते हैं, अत उनके चरित्र भक्ति-भाव के अतर्गत प्रतीकात्मक जैसे हो गए हैं। वे भाव-विशेष से आविष्ट तथा अन्य भावो से सर्वथा अछूते चित्रित किए गए हैं। स्वय श्रीकृष्ण मूलत वीतराग और भावातीत होते हुए भी भाव-मात्र के आलबन बताए गए हैं। वे भक्त के भावानुकूल होकर ही उसे प्राप्त होते हैं। उनकी सर्वभावानुगामिता के अतर्गत न केवल अनुकूल, वरन प्रतिकूल भाव भी आ जाते हैं, वे अपने वैरियो को भी तार देते हैं। भाव की गहनता और तल्लीनता की दृष्टि से माधुर्य भाव का कृष्णकाव्य में सबसे अधिक विस्तार है। 'राधा उसकी उच्चतम प्रतीक हैं और माधुर्य भाव की श्रेष्ठता इस बात से भी व्यजित है कि वे श्रीकृष्ण से 'अभिन्न, उन्ही के आनद रूप, परम पुरुष रूप की पूरक, उन्ही की ह्लादिनी शक्ति हैं। माधुर्य भाव से प्रेम करने वाली गोपियाँ भी, प्राय कृष्ण से अभिन्न, उन्ही के आनदरूप, अलौकिक व्यक्तित्व की अश कही गई है। सूरदास ने 'वामनपुराण' की साक्षी देकर गोपियो को श्रुति की ऋचाएँ कहा है। श्रीकृष्ण ने उन्हे अपने आनदमय, निर्गुणरहित, निज रूप का परिचय देने के लिए नित्य वृन्दावन का एक दृश्य दिखाया और भविष्य में गोपिका बनकर उस लीला में भाग लेने का वरदान दिया। किंतु वास्तव मे जिस प्रकार श्रुति की ऋचाएँ ब्रह्म से भिन्न नही, उसी प्रकार गोपियाँ भी 'कृष्ण से अभिन्न हैं। लीला के लिए ही श्रीकृष्ण उन्हें पृथक करते हैं। प्राय श्रीकृष्ण को परमात्मा और गोपियो को जीवात्मा भी कहा गया है। वे निरतर प्रेम भाव से प्रेरित होकर परमात्मा के परम आनदरूप में लीन होने के लिए व्याकुल रहती हैं।

वह नित्य वृन्दावन भी जहाँ सदैव वसन्त रहता है और जहाँ हर्ष और उल्लास की कोई सीमा नही, स्वय श्रीकृष्ण के आनद रूप व्यक्तित्व का ही मूर्त प्रकाशनमात्र है। इस प्रकार हिंदी कृष्ण-भक्ति काव्य में कृष्णाख्यान को एक अपूर्व सूक्ष्मता प्रदान कर दी गई है।

किंतु सपूर्ण कृष्ण-कथा और उसके पात्रो की आध्यात्मिक रूपक की भाँति व्याख्या कर सकना सभव नही है, क्योकि उसका आधार लोकविश्रुत, पौराणिक है तथा उसके उपकरण इन्द्रियग्राह्य हैं। यह स्पष्ट है कि माखन-चोरी, चीर-हरण, दानलीला, रासलीला आदि के समस्त पार्थिव उपकरणो की आध्यात्मिक प्रतीको के रूप में व्याख्या नही की जा सकती, परन्तु इन लीलाओ के वर्णन मे स्थान-स्थान पर प्रचुर सकेत मिलते हैं जो उन्हें पार्थिव धरातल से उठाकर आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देते हैं। मोटे तौर पर, इन लीलाओ के माध्यम से गोपियो के उस प्रेम का विकास दिखाया गया है जो प्रेम-भक्ति का सर्वोच्च आदर्श है। उसे लौकिक प्रेम का इतिहास मानने की भूल करके प्राय आलोचकगण उस पर लौकिक मर्यादा के मानदडो का आरोप करने लगते हैं। कृष्णकाव्य में ओतप्रोत ऐहिक और ऐंद्रिय वातावरण जो लौकिक दृष्टि से कही-कही नग्न और अश्लील तक जान पडता है, अपनी सूक्ष्म सकेतात्मकता और प्रतीकात्मकता में ही भक्ति-काव्य और धार्मिक काव्य कहा जा सकता है। भक्त कवियो को यही अभीष्ट है तथा इसी में उसकी सार्थकता है। इस प्रकार कृष्णकाव्य में एक प्रकार की रहस्यात्मकता है जो अत्यन्त सूक्ष्म और केवल मात्र व्यजना की वस्तु है। ✓

भाव और कला

कृष्ण-भक्ति में परम तत्व को ही जब सौन्दर्य, प्रेम और आनद—एक शब्द में रस का परम

रूप माना गया है, तब यह स्वाभाविक है कि उसकी अभिव्यक्ति में कवियों को भाव की वह स्थिति अभिप्रेत हो जिसकी परिणति काव्य के रस में होती है। काव्य का रस ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा गया है, परन्तु भक्ति-काव्य स्वत ब्रह्मानन्द को उपलब्ध करने की आकाक्षा करता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रस को अखण्ड, अविभाज्य कहा है, विविध भाव--स्थायी और सचारी—उसके उपाय मात्र है। लौकिक काव्य में रस की यह अखण्डता प्राय भुला दी जाती है और हम स्थायी भावों के आधार पर रस के भेद करने लगते है। भक्ति-काव्य इस भाव-भेद पर आधारित विभाजन को स्वीकार नही करता। उसका रस एक और अखण्ड है। यदि उसे कोई नाम देना चाहें तो भक्ति रस कह सकते है। यदि इस ढग से न सोच कर हम उसमे से शान्त, शृगार, वीर आदि के उदाहरण सकलित करने लगें तो पद-पद पर कहना पडेगा कि अमुक स्थल पर रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाया, क्योकि कवि ने भाव की अनुभूति पर अमुक शर्त लगाकर उसकी परिपूर्णता खण्डित कर दी। परिपूर्ण रस-निष्पत्ति के भी जो उदाहरण दिए जाएँगे उनमें भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर रसाभास ही अधिक मिलेगा। विभिन्न स्थायी भावो के आधार पर विभाजन करके रस के अलग-अलग उदाहरण देने के स्थान पर भक्ति-काव्य के विवेचन में, रस का अगागि सबध अधिक सहायक हो सकता है।

भक्ति रस सपूर्ण भक्ति-काव्य का अगी रस है। इसका स्थायी भाव भगवत-प्रेम है। काव्यशास्त्र की पद्धति पर इसकी व्याख्या केवल गौडीय सप्रदाय के ग्रन्थो, 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में हुई है जिसका उल्लेख हम कृष्ण-भक्ति के सबध में पीछे कर चुके हैं। परन्तु जब इसका निरूपण उपलब्ध काव्य के विश्लेपण-विवेचन के आधार पर किया जाय, तभी भक्ति-काव्य और विशेप रूप से कृष्ण-भक्ति काव्य के भाव-पक्ष की वास्तविक व्याख्या सभव है। यहाँ पर हम केवल उसकी स्थूल रूपरेखा देने का प्रयत्न कर सकते हैं।

कृष्णकाव्य का स्थायी भाव भगवत-रति, लौकिक काव्य के रति भाव से बहुत भिन्न, एक प्रकार से उसका प्रतिपक्षी है। ससार के प्रति घोर वैराग्य की भावना उसमें निरतर निहित रहती है। परन्तु काव्यशास्त्र में जिसे **निर्वेद** स्थायी पर आधारित **शान्त** रस कहा गया है उसमें भक्ति-काव्य के असीम भाव-लोक का एक अश भी नहीं समा सकता। यह सच है कि सभी भक्त कवि ससार को त्यागकर और कम से कम मानसिक सन्यास का सकल्प लेकर अपनी साधना में प्रवृत्त हुए थे। समय-समय पर उन्होने सासारिक जीवन के प्रति अपनी घोर उदासीनता ही नहीं, सक्रिय घृणा भी व्यक्त की है। उदाहरण के लिए सूरदास ने ही 'जा दिन मन पछी उडि जैहै' जैसे पदो में सासारिक जीवन की जैसी विगर्हणा की है, वह निर्वेद भाव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणो में गिनी जा सकती है। परन्तु वस्तुत· यह उनकी कृष्ण-भक्ति की पृष्ठभूमि मात्र है, सपूर्ण भक्ति-काव्य में उसके अन्तर्भाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कृष्ण-भक्ति के महान कवियों में सूर और मीरा ने यत्र-तत्र निर्वेद का प्रत्यक्ष चित्रण किया है, कुछ अन्य कवियो ने भी ससार, माया, भ्रम, अविद्या, अज्ञान, अधकार आदि नामो से अभिहित करते हुए मनुष्य की ऐन्द्रिय वृत्तियो की निन्दा की है। सासारिक जीवन के प्रति वैराग्य जगाना ही उनका लक्ष्य है। परन्तु अधिकाश कृष्ण-भक्ति काव्य में उसे प्रत्यक्ष रूप से महत्व नहीं दिया गया।

भगवत-रति में वैराग्य की भाँति **दैन्य** की भावना भी अनिवार्य रूप से निहित रहती है।

यद्यपि लौकिक प्रेम में भी तीव्र भावानुभूति की स्थिति मे, विशेष कर वियोग दशा में, दैन्य भाव अनिवार्यत व्यक्त होता है और इस दृष्टि से वह लौकिक काव्य की रति का भी एक महत्वपूर्ण सचारी है, परन्तु भक्ति-काव्य में उसकी महत्ता कही अधिक है। मोटे ढग से सोचने पर लौकिक रति और भगवत-रति में बडा अन्तर यही है कि इसमें प्रेम के आलबन और आश्रय में महान और लघु, पूर्ण और अपूर्ण, अशी और अश का वास्तविक अन्तर है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप में इस भाव का प्रकाशन कुछ ही कृष्ण-भक्त कवियो ने किया है। सूरदास के विनय और साधारण भक्ति-भाव सबधी पदो तथा मीरा के कुछ पदो में पुन इसके उत्तम उदाहरण देखे जा सकते हैं। इन पदो में दैन्य भाव इस तीव्रता और एकात्मकता के साथ व्यक्त हुआ है कि यदि हम उसे स्थायी भाव कहें तो अनुचित न होगा, क्योकि उसमें आलबन, उद्दीपन, सचारी तथा अनुभाव—रस-निष्पत्ति के सभी उपकरण अपेक्षित रूप में दिखाए जा सकते हैं।

परन्तु कृष्ण-भक्त कवि भगवत-रति के इस मूलभूत भाव मात्र से सन्तुष्ट नही होते। सच तो यह है कि यह उनका प्रकृत भाव है भी नही, क्योकि जहाँ श्रीकृष्ण या राधा-कृष्ण के प्रति उनकी भावना स्पदित और क्रियाशील होने लगती है, वहाँ तुरन्त उनका ध्यान प्रेम के ममत्व के नाते अपने इष्टदेव की महत्ता और गौरव से हटकर—हटकर ही नही, उसका प्रेमपूर्ण तिरस्कार करके—प्रेम के किसी ऐसे भाव में लीन होने लगता है जिसमें उन्हे कही अधिक आत्मीयता और निकटता मिलती है। इसीलिए गौडीय वैष्णवो ने भक्ति रस के विवेचन में निर्वेद और दैन्य स्थायी—शान्त और दास्य रति—को कृष्ण-भक्ति के अनुकूल नही माना है। हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य में भी दैन्य स्थायी की अपेक्षा सचारी के रूप में ही अधिक आया है, यद्यपि उसके संचारित्व में एक विशेष प्रकार की निरतरता है।

दैन्य भाव सकोचनशील है, उसमें हृदय को पूर्णरूप से खोलकर व्यक्त करने का अवसर नही मिल सकता, उसमें तीव्रता हो सकती है, जैसी कि सूर, तुलसी और मीरा में है, परन्तु भाव-विस्तार की उसमें अत्यन्त सीमित सभावनाएँ है। इसके अतिरिक्त सौन्दर्य और आनन्द की राशि, रसरूप श्रीकृष्ण के साथ उसकी पूर्ण सगति भी नही बैठती। अत कृष्ण-भक्ति काव्य रति के उन भावो को अपनाता है जो मन और इन्द्रियो की सहज वृत्ति पर आधारित हैं, वासनामूलक हैं और हमारे सपूर्ण भाव-लोक को स्पदित और आलोकित करने में समर्थ है।

चरित्र-चित्रण और पात्रो के विवेचन में इन भावो की यथेष्ट व्याख्या हो चुकी है। क्योकि कृष्ण-कथा के सभी पात्र **वात्सल्य, सख्य** अथवा **माधुर्य** के ही प्रतीक हैं, अत भाव-चित्रण की दृष्टि से यहाँ यही लक्ष्य करना आवश्यक है कि भक्ति-रति के इन तीनो भावो में पृथक पृथक परिपूर्णता और एकात्मकता है। काव्य के स्थायी भाव की उनमें सपूर्ण योग्यता है। यही नही, काव्य-शास्त्र की ही दृष्टि से देखें, तो भी कवियो ने इन भावो को रस-निष्पत्ति के लिए अभूतपूर्व और अनुपम प्रमाणित किया है। यहाँ यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि **वात्सल्य** के क्षेत्र में सूर का स्थान अद्वितीय है, वात्सल्य के चित्रण में जितने विविध प्रसगो और उनके सदर्भ में उठने वाले विविध सचारियो की उद्भावना सूर ने की है, उसे देखकर उनकी कोमल सवेदना तथा मौलिक कल्पना-शक्ति पर आश्चर्य होता है। वात्सल्य के चित्रण में ही नही, **सख्य** के चित्रण में भी सूर की मौलिकता अद्वितीय है। यो तो सख्य भाव निम्बार्क, चैतन्य और सखी भाव के रूप में राधा-

वल्लभी और सखी सम्प्रदायों में भी मान्य रहा है, परन्तु काव्य के स्तर पर सूरदास, परमानन्ददास तथा वल्लभ-मत के कुछ अन्य कवियों ने उसका जैसा मनोविज्ञानसम्मत चित्रण किया है, वह अप्रतिम है। उसे भी वात्सल्य की भाँति विभाव, अनुभाव और सचारी से सपुष्ट, रस-निष्पत्ति में समर्थ, स्थायी भाव माना जा सकता है। इस भाव के चित्रण में भी सूरदास ने ही सबसे अधिक प्रसगों की उद्भावना की है।

वात्सल्य और सख्य भावों का ऐसा गहन और विस्तृत चित्रण इन भक्त कवियों की काव्य को एक नई देन है, परन्तु उस क्षेत्र में भी, जिसे काव्य का सर्वाधिक लोकप्रिय क्षेत्र कहा जा सकता है और जिसमें कृष्णकाव्य ने सदैव अपनी विशेषता प्रदर्शित की है, हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य काव्य के सर्वोत्कृष्ट प्रतिमानों को निर्धारित करने में अपना अद्वितीय महत्व रखता है। कहना नही होगा कि वह क्षेत्र लौकिक काव्य की परिभाषा में **शृंगार** और भक्ति-काव्य के सन्दर्भ में **माधुर्य रति** का है। आलबन की अलौकिक विलक्षणता तथा अनुभूति की असामान्य तीव्रता एव लोकातीत उदात्तता की दृष्टि से माधुर्य रति लौकिक शृगार से नितात भिन्न है। यह बात केवल माधुर्य ही नहीं, भक्ति के सभी भावों के विषय में कही जा सकती है कि रूप, ग, रेखा आदि में सर्वांशतया लौकिक-जैसे होते हुए भी वे उनसे उसी प्रकार विपरीत है जिस प्रकार अधोमुख रूप-आकारों के प्रतिबिम्ब ऊर्ध्वमुख, अत विपरीत दिखाई देते है। परन्तु माधुर्य के सबध में यह बात स्मरण रखना अत्यत आवश्यक है, क्योंकि उसी के विषय में बराबर भ्रम और आशका उठती रहती है।

माधुर्य भाव अथवा काता रति का ऐसा कोई पक्ष नही है जो सूरदास की दृष्टि से बच गया हो। मुग्धा किशोरियों के मन में प्रेम की यह भावना जिसे वे नाम और आकार भी नही दे पाती जिस समय छिप-छिप कर झाकना और झाक-झाक कर छिपना प्रारभ करती है, सूरदास ने वहीं से अपनी अद्वितीय व्यजनापूर्ण भाषा में माधुर्य को रूपायित करने की सफल चेष्टा की है। उस सूक्ष्म सूत्र को कैसी सफलता के साथ वे नए-नए प्रसगों की अवतारणा करते हुए विकसित और पल्लवित करते गए है तथा उन्होंने कैसी भाव-शबलता के साथ उसे प्रगल्भ प्रेम की गभीर, सपूर्ण आत्मसमर्पणमयी, आत्मविस्मृतिपूर्ण स्थिति तक पहुँचाया है, उसे देखकर कहना पडता है कि यही कवि-कर्म की सीमा है। प्रेम-विकास की मनोविज्ञानसम्मत इतनी अधिक सूक्ष्म स्थितियाँ सूर के माधुर्य-चित्रण में मिलती है कि उनके वर्णन के लिए शब्द नही जुट सकते। निश्चय ही, सूरदास ने काव्य की प्राचीन परपरा तथा उसके शास्त्रीय विवेचन से भरपूर लाभ उठाया है। वे काव्यशास्त्र में पूर्णतया निष्णात और उसके उपजीव्य में आचूल मग्न रह चुके होगे। परन्तु उनके प्रयत्न में परपरा-पोषण और अनुकरण अत्यन्त उपेक्षणीय मात्रा में दिखाई देता है। मनुष्य के भावलोक का उन्हें इतना सूक्ष्म परिचय था कि उनके द्वारा चित्रित भावों को शास्त्रोक्त ३२ की सख्या में तो क्या, मनोविज्ञान में प्रयुक्त पारिभाषिक नामों के भीतर समेटना सभव नही जान पडता।

रति के विवेचन में सुविधा की दृष्टि से उसके सयोग और वियोग, दो पक्षों को प्राय पृथक्-पृथक् करके देखा जाता है। कृष्णकाव्य में भी ये दोनो पक्ष न केवल माधुर्य, अपितु वात्सल्य और सख्य के प्रसगों में भी प्राय स्पष्ट रूप में अलग-अलग देखे जा सकते है। परन्तु वियोग को

भावना इतनी सूक्ष्म और विविध है कि उसे सयोग से पूर्णतया अलग कर सकना असभव है। जब सूरदास नेत्रो की विकलता सबधी असख्य पदो में नई नई उठान के साथ कहते है कि श्रीकृष्ण को देखते हुए भी कोई देख नही सकता, क्योकि उनकी रूपराशि अपार है अथवा मिलन के क्षणो में भी उन्हें सयोग की पूर्ण प्रतीति नही होती, तब प्रेम की उस भावानुभूति का आभास मिलता है जिसमें सयोग और वियोग का अन्तर कर सकना कठिन है। हित हरिवश ने इस सूक्ष्मता को बडे कौशल से परखा था। जिस प्रकार सूरदास मिलन में भी वियोग का आभास देते गए है, उसी प्रकार मीरा ने वियोग मे सूक्ष्म मिलन के रहस्य-सकेत किए है। सब मिलाकर कृष्ण-भक्ति काव्य का वियोग पक्ष ही उत्कृष्टतर कहा जाएगा। काव्य की दृष्टि से भी वह उसकी महत्ता का एक प्रमाण है।

भक्ति-काव्य में **प्रकृति-चित्रण** के अभाव की प्राय आलोचना की जाती है। कृष्ण-काव्य में प्रकृति का प्रयोग पूर्णरूपेण भावाधीन है। चाहे उसे भाव की पृष्ठभूमि के रूप में प्रयुक्त किया गया हो, चाहे उद्दीपन के रूप में, उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है, उसकी प्रियता और अप्रियता सर्वांश में भावाश्रित है। अलकारो के अप्रस्तुत विधान में भी प्रकृति का प्रयोग इसी प्रकार का है, क्योकि अलकार स्वत भावाश्रित है। परन्तु यह नि सकोच कहा जा सकता है कि प्रकृति के समस्त मनोरम और अनुकूल तथा कुछ भयानक और प्रतिकूल दृश्यो के अकन में कृष्ण-भक्त कवियो ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण और कुशल चित्राकन की अपेक्षित प्रतिभा का प्रमाण दिया है। दृश्यमान जगत का कोई भी सौन्दर्य उनकी आँखो से छूट नही सका। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, अकाश, जलाशय, वन-प्रान्त, यमुना-कूल, तथा कुज-भवन की सपूर्ण शोभा इन कवियो ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में नि शेष कर दी है। मानव-हृदय के अमूर्त सौन्दर्य-चित्रण, अर्थात रस-निरूपण में भी कृष्ण-भक्त कवियो की भावना और कल्पना जिन मधुमती वीथियो में विचरण करती है उनमें से अनेक ऐसी हैं जिनका पूर्ववर्ती कवियो को परिचय भी नही था। भावना के मनोरम प्रदेश का यह पर्यवेक्षण-अन्वेषण भी प्रकृति के आश्रय और माध्यम से ही हुआ है। साथ ही, इसमें कवियो के गभीर और विस्तृत जीवन-अनुभव का भी भरपूर उपयोग हुआ है। इस क्षेत्र में पुन. सूरदास का ही स्मरण आता है जिनका काव्य उनके दीर्घकालीन जीवन के अत्यन्त व्यापक और गहन अनुभव तथा उनकी तीव्र और विवेकपूर्ण अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

यह भावप्रधान कृष्णकाव्य जिस **शैली** और **शिल्प-विधान** के माध्यम से व्यक्त हुआ है उसमें कलात्मक सौन्दर्य भी कम नही है। अकेले 'सूरसागर' में ही वर्ण्य विषय और भावानुभूति के आधार पर कई शैलियाँ मिलती है, जिनमें भाषा, अलकार, छन्द आदि की स्पष्ट विभिन्नता कवि की गहरी सवेदना के साथ कला-मर्मज्ञता का परिचय देती है। जहाँ एक ओर वर्णनात्मक प्रसगो में विषय के अनुरूप, सरल, ग्रामीण अथवा धार्मिक पदावली मे वाच्यार्थ ही प्रधान है, वहाँ दूसरी ओर गभीर भाव-चित्रण में, विशेष रूप से विरह के प्रसग में, लाक्षणिकता की भरमार है तथा अत्यन्त सरल और ठेठ शब्दो में भी ऐसी गूढ और मार्मिक व्यजनाएँ की गई हैं कि कवि की अनुभूति की गभीरता तथा उसके भाषाधिकार पर आश्चर्य होता है। एक ओर कवि रूप-चित्रण मे समासयुक्त तत्सम पदावली पर अद्भुत अधिकार प्रदर्शित करता है और साथ ही अपनी तीव्र कल्पना एव सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति से ससार का वस्तु, वर्ण और स्वर का समस्त

सौन्दर्य बटोर कर एकत्र कर देता है, दूसरी ओर, उदाहरणार्थ केवल नेत्रो की विकलता के ही चित्रण के लिए, उसके उपमानो का अक्षय भडार समाप्त होने लगता है और वह अति अल्प शब्दो में अपार भाव-सकलन का परिचय दे जाता है। रूप-सौन्दर्य के लिए तो उपमान भी है, पर स्वर-सौन्दर्य शब्द-बधन में ही नही आता। कभी-कभी स्पष्ट शब्दो में, किन्तु गूढ व्यजना के द्वारा, कवि बार-बार बताता है कि विषय वर्णनातीत है, उसे वाणी में व्यक्त करना सागर को सीपी में भरने के समान है। शब्द-शक्ति, अलकार, काव्य-गुण आदि से सूर का काव्य इतना सपन्न है कि जो रमणीय अर्थ—अलकार, वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति अथवा गुणो—को काव्य में प्रधानता देते है वे भी यहाँ से निराश नही लौट सकते।

किन्तु काव्य के ये समस्त प्रसाधन है सदैव ही भाव के अधीन और भाव से अभिन्न, वस्तुत उन्हें प्रसाधन कहा भी नही जा सकता, क्योकि सजाने की प्रवृत्ति उनमें प्राय नही है। इस सबध में सूरदास के दृष्टिकूट पद अपवादस्वरूप कहे जा सकते है, जिनमें सिद्धो की 'सधा भाषा' और कबीर की उलटबाँसियो की तरह कुतूहल उत्पन्न करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। परतु यहाँ भी, यदि हम ध्यान से देखें, तो विदित होगा कि विषय की गूढता और गोपनीयता के कारण ही कवि ने प्राय रूपकातिशयोक्ति अलकारमूलक दृष्टिकूट रचे है।

सूरदास के समकालीन और परवर्ती कवियो में सूर में निर्दिष्ट उपर्युक्त विशेषताओ में से कुछ न कुछ अवश्य पाई जाती हैं, यद्यपि उनका सम्मिलित रूप किसी में नही मिलता और न उनकी जैसी भाव और शैली की एकरूपता ही प्राप्त होती है। उनके समकालीन हित हरिवश और परमानददास में काव्य-कला और भाव-गरिमा सूर की कोटि की है, यद्यपि उनका काव्य उतना प्रचुर और व्यापक नही है। इन कवियो के कुछ पद 'सूरसागर' में भी सभवत मिल गए है और सूर-काव्य से एकाकार हो गए हैं। नन्ददास अपने शब्द-शिल्प और शैली-चमत्कार के ही कारण 'जडिया' कहे जाते हैं। अनुप्रास, यमक, ध्वन्यार्थ-व्यजना आदि के द्वारा उन्होने अपनी सरस, मधुर, कोमल-कात पदावली में अतीव आकर्षण भरा है। सूर के काव्य की पद-मैत्री का सफल अनुकरण करके उसे उन्होने चरम उत्कर्ष प्रदान किया है। हित हरिवश और हरिराम व्यास में भी भाषा-शैली का अद्भुत सौष्ठव और चमत्कार है। ये दोनो कवि सस्कृत भाषा के भी विद्वान थे, अत उनके शब्द-प्रयोग में तत्सम पदावली का अत्यन्त माधुर्यपूर्ण प्रयोग हुआ है। रचना का परिमाण अधिक न होते हुए भी हित हरिवश व्रजभाषा के सर्वोत्कृष्ट कवियो में गिने जाने योग्य है।

कृष्ण-भक्ति के अन्य कवियो की कलात्मक विशेषताओ की व्यक्तिगत समीक्षा सभव नही है, किंतु यह नि.सकोच कहा जा सकता है कि उनके द्वारा भाषा की मधुरता, अर्थ-व्यजना और काव्योपयुक्त चित्रण-शक्ति की अतीव वृद्धि हुई है। उन्होने भाव, भाषा, अलकार, उक्ति-वैचित्र्य, छद-योजना, सगीतात्मकता आदि की ऐसी अनूठी सपत्ति अपने बाद की पीढियो के लिए इकट्ठी की जिसके अशमात्र को लेकर कितने ही महान कवि बन गए। परवर्ती रीतिकाल का समस्त कवि-चातुर्य, नखशिख-वर्णन, अलकार-योजना, नायिका-भेद, ऋतु-वर्णन, उक्ति-सौष्ठव—सभी कुछ कृष्ण-भक्ति काव्य की देन है, अन्तर केवल यही है कि जहा भक्ति काव्य में ये विषय भावाश्रित है, वहाँ रीतिकाल में उन्ही की प्रधानता है। कृष्णकाव्य के

कला-पक्ष की विशेषताएँ ब्रजभाषा-कवियो की अविरल परपरा में आधुनिक काल तक चली आई है।

भाषा

इस काव्य के द्वारा ब्रजभाषा ने हिन्दी की बोलियो में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करके उस परपरागत उत्तरदायित्व का वहन किया जिसे मध्यदेश की भाषाएँ—सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश—प्राचीन काल से वहन करती आई थी। काव्य-भाषा के रूप में वह विस्तृत हिन्दी प्रदेश में, राजस्थान से विहार और हिमाचल प्रदेश से महाकोसल तक तो स्वीकृत हुई ही, उसके बाहर पश्चिम में गुजरात और पूर्व में बगाल तक उसका प्रचार हुआ। भक्त कवियो ने उसका साहित्यिक सस्कार करके उसे जनपदी बोली के पद से उठा कर वह व्यापकता प्रदान की कि उसमें अन्य जनपदी बोलियो के रूप भी सम्मिलत होने लगे। परन्तु इस सबध में यह स्वीकार करना पडेगा कि भाषा के परिमार्जन, रूप-निर्धारण, स्थिरीकरण और व्याकरण-व्यवस्था की ओर न तो कृष्ण-भक्त कवियो ने ध्यान दिया और न उनके परवर्ती रीतिकालीन कवियो ने। ब्रजभाषा के अच्छे से अच्छे कवियो में शब्दो की तोड-मोड, अर्थ-भेद, अप्रयुक्त प्रयोग, ग्राम्य प्रयोग आदि चिन्त्य प्रवृत्तियाँ पाई जाती है। इस सबध में कवियो ने अपने विशेषाधिकार का अतिशय प्रयोग किया है। समस्त मध्ययुग के साहित्य की यह भी बहुत वडी त्रुटि है कि उसमें गद्य नही लिखा गया। कृष्ण-भक्ति साहित्य में भक्तो की वार्ताओ और कुछ असमर्थ, शिथिल गद्य में लिखी टीकाओ को इसका अपवाद ही समझना चाहिए। पुष्टिमार्ग और राधावल्लभी सप्रदाय के वार्ता-साहित्य से अवश्य सूचित होता है कि ब्रजभाषा में गद्य के प्राजल, परिमार्जित और साहित्यिक रूप का विकास हो सकता था। परन्तु भावावेश के उस युग में गद्य लिखने की ओर किसी समर्थ कवि का ध्यान ही नही था।

कृष्ण-भक्ति काव्य को ही यह श्रेय दिया जा सकता है कि साहित्यिक, परिनिष्ठित रूप प्राप्त करके ब्रजभाषा व्यवहार में समूचे उत्तर भारत की साहत्यिक राष्ट्रभाषा बन गई। वैष्णव मन्दिरो में दैनिक व्यवहार की भाषा के रूप में उसका प्रचार गुजरात तक होने लगा तथा उसके प्रभाव से बगाल में वैष्णव पदो की एक नवीन शैली 'ब्रजबुलि' विकसित हो गई। फिर भी, भविष्य उसके हाथ में नही था, क्योकि उसका प्रयोग धार्मिक सन्दर्भ में सीमित था। भविष्य मे राजनीति को प्रमुखता मिलने वाली थी।

कृष्ण-भक्त कवि—जीवन और रचनाएँ

कृष्ण-भक्ति काव्य की समीक्षा भक्त-कवियो के जीवन की एक झाँकी दिए बिना अपूर्ण रहेगी, क्योकि यह काव्य वस्तुत उनके व्यक्तित्व को ही अभव्यक्ति है। किन्तु खेद है कि जिन कवियो ने प्रेम-भक्ति और रसानन्द की ऐसी दिव्य स्रोतस्विनी प्रवाहित की थी, उनके पार्थिव जीवन के विषय में बहुत कम प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध हो सकी है। भक्त-वार्ताओ, किंवदतियो और अनुश्रुतियो के रूप में जो कुछ इतिवृत्त एकत्र किया जा सकता है, आधुनिक ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से उसकी यथार्थता अत्यन्त अपुष्ट और सदिग्ध है। फिर भी, उससे इन कवियो के भाव-पक्ष को समझने में यथेष्ट सहायता मिलती है।

हिन्दी कृष्ण-भक्ति काव्य को सबसे अधिक प्रेरणा महाप्रभु वल्लभाचार्य, उनके उत्तराधिकारियो और उनके भक्ति-सम्प्रदाय, पुष्टिमार्ग-से मिली थी। इस काव्य-धारा के आदि कवि महात्मा सूरदास अष्टछाप के कवि तथा अन्य अनेक प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त कवि इस सम्प्रदाय से सबद्ध थे। अत भक्त कवियो के परिचय के पूर्व इस सम्प्रदाय तथा उसके प्रमुख व्यक्तियो का सामान्य परिचय अप्रासगिक न होगा, यद्यपि हिन्दी कृष्णकाव्य में प्रत्यक्षत उन्होने कोई योगदान नही किया।

वल्लभाचार्य एक दाक्षिणात्य तैलग ब्राह्मण लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे। उनका जन्म सन १४७८ ई० (वैशाख कृष्ण ११, स० १५३५ वि०) में आधुनिक मध्य प्रदेश के चपारण्य में हुआ था। उनके पिता शीघ्र ही दिवगत हो गए थे, परन्तु उनकी माता भी अत्यन्त विदुषी और बुद्धिमती थी। उन्हीके सरक्षण में वल्लभाचार्य ने अपने प्रारम्भिक जीवन मे असाधारण प्रगति की। १३ वर्ष की अवस्था तक काशी में रहकर उन्होने पुराण, शास्त्र आदि का अध्ययन कर लिया। उसके बाद वे समस्त देश की यात्रा करने को निकल पडे और शकराचार्य की भाँति उन्होने दिग्विजय किया तथा अपने शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। सन १५९२ ई० (स० १५४९ वि०) में वे सब से पहले ब्रज में आए। उसी समय श्रीनाथजी की मूर्ति का प्राकट्य हुआ था। वल्लभाचार्य ने उन्हें गोवर्धन के एक छोटे मन्दिर में स्थापित किया। अबाले के एक सेठ पूरनमल के अर्थदान से १४९९ ई० (स० १५५९ वि०) में बड़े मन्दिर की नींव डाली गई। आचार्यजी का स्थायी निवास प्रयाग के समीप अरैल नामक स्थान मे था। २८ वर्ष की अवस्था में काशी में जाकर उन्होने अपना विवाह किया। १५०९ ई० (स० १५६६ वि०) में श्रीनाथजी की मूर्ति नवीन मन्दिर में प्रतिष्ठित की गई। जगन्नाथ-यात्रा में वल्लभाचार्यजी की चैतन्यदेव से भी भेंट हुई थी। सन १५३० ई० (स० १५८७ वि०) में काशी में उनका गोलोकवास हुआ।

कहते हैं, वल्लभाचार्य जी ने ८४ ग्रन्थो की रचना की थी। परन्तु सम्प्रदाय में केवल ३० ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें ब्रह्मसूत्रो का 'अणुभाष्य' तथा 'श्रीमद्भागवत' की टीका 'श्रीसुबोधिनी' अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

आचार्य वल्लभ के बाद उनके उत्तराधिकारी, उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ ने प्रधानतया गुजरात में पुष्टिमार्ग का प्रचार किया। किन्तु उनका देहान्त शीघ्र ही हो गया, अत उनके छोटे भाई **विट्ठलनाथ** (जन्म सन १५१५ ई०=स० १५७२ वि०) सन १५३८ ई० (स० १५९५ वि०) में सम्प्रदाय के आचार्य पद पर आसीन हुए। उनकी बाल्यावस्था अरैल में ही व्यतीत हुई थी, किन्तु सन १५६६ ई० (स० १६२३ वि०) में वे ब्रज में आ बसे तथा सन १५७१ ई० (स० १६२८ वि०) से स्थायी रूप से गोकुल में ही रहने लगे। सन १५६६ ई० (स० १६२३ वि०) में उन्हें सम्राट अकबर की ओर से एक आज्ञापत्र (फरमान) प्राप्त हुआ जिसके अनुसार गोकुल की भूमि उन्हें माफी में मिल गई। इसके बाद भी गोकुल के गुसाइयों को निर्भयतापूर्वक बसने और गउएँ चराने तथा उनके इलाके में गाय, मोर आदि की हत्या के निषेधसूचक कई अधिकार-पत्र मिले। धर्म-प्रचार के लिए उन्होने भी दो बार गुजरात की यात्रा की। सन १५८५ ई० (स० १६४२ वि०) में उनका गोलोकवास हुआ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने पिता के कई ग्रन्थो पर टीकाएँ लिखी तथा कुछ स्वतन्त्र

ग्रन्थो का भी प्रणयन किया। उनकी 'अणुभाष्य' तथा 'श्रीसुबोधिनी' की टीकाएँ तथा 'विद्वन्मडन,' 'भक्तनिर्णय,' 'शृगाररसमडन' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। परन्तु साप्रदायिक सगठन और व्यवस्थित प्रचार करने में उनका कृतित्व कही अधिक महत्वपूर्ण है। श्रीनाथजी के मन्दिर मे 'सेवा' की निश्चित व्यवस्था तथा वार्षिक व्रतोत्सवो की परपरा स्थापित करके उन्होने सप्रदाय के प्रचार के साथ साहित्य, सगीत, प्रसाधन आदि कलाओ की उन्नति में अभूतपूर्व योग दिया। उन्होने ही अपने पिता के चार—कुभनदास, सूरदास, परमानददास और कृष्णदास तथा स्वय अपने चार—चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और नददास नामक शिष्यो को चुनकर **अष्टछाप** नाम से प्रतिष्ठित किया। भक्ति-भावना की उच्चता के कारण ये कवि-प्रतिभासपन्न आठ भक्त श्रीनाथजी के **अष्टसखा** नाम से भी प्रसिद्ध है।

गोस्वामी विट्ठलनाथ के सात पुत्र थे। सबसे वडे पुत्र **गिरिधरजी** मुख्य आचार्य हुए। परन्तु गोस्वामीजी ने सातो पुत्रो को श्रीकृष्ण के सात भिन्न-भिन्न स्वरूप (मूर्तियाँ) बाँटकर तथा अपनी सपत्ति का विभाजन करके पारिवारिक समस्या के साथ-साथ सप्रदाय के व्यापक प्रचार की अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवस्था कर ली थी।

गोस्वामी गोकुलनाथ (सन १५५१–१६४० ई०=स० १६०८–१६९७ वि०) विट्ठलनाथ के चौथे पुत्र थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के चौरासी तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ के दो सौ बावन शिष्यो की वार्ताएँ प्रसिद्ध है। सभवत भक्तो की वार्ताएँ जो मौखिक रूप में गोस्वामी गोकुलनाथ के द्वारा सुनाई गई थी, आगे चलकर परिवर्धित करके लिख ली गई और उन्हीके नाम से प्रसिद्ध कर दी गई।

वल्लभ-कुल में गोस्वामी गोकुलनाथ के बाद **गोस्वामी हरिराय** (सन १५९०–१७१५ ई०=स० १६४७–१७७२ वि०) अधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होने सस्कृत के अतिरिक्त व्रजभाषा तथा गुजराती में भी टीका तथा स्वतत्र ग्रन्थो का प्रणयन करके साप्रदायिक भक्ति के प्रचार में स्मरणीय योग दिया। 'चौरासी' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन' की वार्ताओ पर भी उन्होने 'भावप्रकाश' नाम से टीकाएं लिखी तथा वार्ता साहित्य में अपूर्व सवृद्धि की। जब औरगजेब के भय से श्रीनाथजी की मूर्ति गोवर्धन से उदयपुर राज्य ले जाई गई, तब गोस्वामी हरिराय भी उसके साथ थे।

इसी वल्लभ-कुल से **सूरदास** का सबध है जिनके जीवन-वृत्त के जो कुछ भी विवरण प्रमाण-कोटि में स्वीकृत हुए है, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता,' सभवत गोस्वामी हरिराय द्वारा उसके परिवर्धित रूप और 'भावप्रकाश' नामक भावना (टीका) तथा कुछ अन्य पुष्टिमार्गीय साहित्य, वार्ताओ और अनुश्रुतियो पर आधारित है।

सप्रदाय में प्रसिद्ध है कि सूरदास वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। इसे प्रमाण मानकर सूरदास की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ५, स० १५३५ वि० (सन १४७८ ई०) ठहरती है। प्रधान रूप से गोस्वामी हरिराय की साक्षी के आधार पर कहा जाता है कि वे सीही ग्राम में किसी निर्धन सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ पैदा हुए थे, छ वर्ष की अवस्था से ही सगुन बताने लगे थे और तभी से विरक्त होकर एक तालाब के किनारे रहने लगे थे। माया से घिर जाने के कारण वे वहाँ से भी हट गए और आगरा-मथुरा के बीच गऊघाट पर यमुना के तट पर कुटी बनाकर

रहने लगे थे। यहाँ उनके अनेक सेवक हो गए थे और वे 'स्वामी' नाम से विख्यात हो गए थे। यही पर सभवत तीसरी व्रज-यात्रा के समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उनसे भेंट की और उन्हें सप्रदाय में दीक्षित किया। यह घटना 'वल्लभदिग्विजय' नामक पुस्तक के आधार पर सन १५१० ई० (स० १५६७ वि०) की अनुमान की गई है।

सूरदास नाम के अनेक भक्त और गायक हो गए है और उन सबके जीवन की जनश्रुतियाँ मिलजुल कर एक हो गई है। किसी सुन्दरी पर मुग्ध होने और उसी से आँखें फुड़वाने तथा अध कूप में गिरने और स्वय श्रीकृष्ण द्वारा उद्धार पाने की घटनाएँ जो सूरदास के विषय में प्रसिद्ध है, अष्टछापी सूरदास से ही सबद्ध है, यह कम से कम वार्ता की साक्षी से प्रमाणित नही होता। परन्तु इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि श्रीकृष्ण ने ही उन्हें अध भवकूप से निकाल कर दिव्य दृष्टि प्रदान की थी।

सूरदास के नाम से अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध है, परन्तु उनमें से अधिकाश 'सूरसागर' के ही अश है, शेष अप्रामाणिक है। 'सूरसागर' के अतिरिक्त 'सूरसागरसारावली' तथा 'साहित्यलहरी' को भी उनके नाम से प्रसिद्धि मिली है। परन्तु उनके अद्भुत व्यक्तित्व का घनिष्ठ परिचय तो हमें उनकी अमर कृति 'सूरसागर' से ही मिलता है, जिसके नवीनतम संस्करण में ५००० के लगभग पद सकलित मिलते हैं। परन्तु 'सूरसागर' के वैज्ञानिक सपादन की समस्या अब भी ज्यो की त्यो शेष है।

दैन्य सूर की प्रकृति का एक स्थायी अग था, उनकी प्रारभिक भक्ति दैन्य प्रधान ही थी। महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुग्रह से जब उन्हें भगवान की लीला का ज्ञान हुआ तब उनकी सुप्त सौन्दर्य-वृत्ति जाग उठी और कृष्ण-लीला-गान के रूप में उनके हृदय से आनन्द का स्रोत उमड़ने लगा, इसके बाद उनका दैन्य भाव एक अनुपम वक्रता और ओजस्विता से समन्वित हो गया। वैराग्य भी सूर के स्वभाव का एक अग था और, यद्यपि उन्होंने अपने काव्य के दिव्य पात्रो में उत्कट आसक्ति के ऐसे वर्णन किए है जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा नही हो सकते जिसे लौकिक जीवन का घनिष्ठ परिचय न हो, फिर भी उनके जीवन की एक भी घटना ऐसी नही सुनाई देती, जिससे उनके विरक्त स्वभाव की पुष्टि न होती हो। 'वार्ता' के अनुसार अत्यन्त आदर और सम्मान पाने पर भी सूर ने सम्राट अकबर का यश गाने से इनकार कर दिया था और गोस्वामी हरिराय ने लिखा है कि अतुल धन-सपत्ति लुटा देने की अकाक्षा रखने वाले 'देशाधिपति' से उन्होंने यही माँगा था कि मुझसे फिर कभी मिलने की चेष्टा न करना।

सूर ने किसी लौकिक विषय पर पद नही गाए, यहाँ तक कि अपने गुरु के सबध में भी पद नही रचे। केवल भक्तो के अनुरोध से अपने अतिम समय में एक पद में उन्होंने अपनी दृढ़ गुरु-भक्ति प्रकट की और बताया कि गुरु और इष्टदेव में वे कोई अन्तर नही देखते। कृष्ण का यशोगान वल्लभ का ही यशोगान है। 'वार्ता' से सकेत मिलता है कि सभवत उनके गूढ, गभीर स्वभाव को समसामयिक भक्त उतना नही समझ सके थे जितना बाद में जाना जा सका; फिर भी महाप्रभु वल्लभ और गोस्वामी विट्ठलनाथ उनकी महत्ता जानते थे। सूर वास्तव में पुष्टि-मार्ग के 'जहाज' सिद्ध हुए। उनका काव्य भक्ति रस का अगाध सागर है। अन्त समय में उन्होंने बताया था कि गोपीभाव की भक्ति मे ही पुष्टिमार्ग के रस का अनुभव होता है तथा उसमें वेद-

विधि का नियम नही होता। स्वय उस समय सूरदास की चित्तवृत्ति राधा के ध्यान में रमी थी और उनके अधे नेत्र उस विकलता का अनुभव कर रहे थे जो स्वय राधा को रति-सुख की आनन्दानुभूति के बाद क्षणिक वियोग के समय अनुभव होती है। इसी भाव मे मग्न होकर सूर ने युगल-लीला में प्रवेश किया था।

सूरदास को पुष्टिमार्ग में दीक्षित करके आचार्य वल्लभ ने वस्तुत अपने सम्प्रदाय का सबसे अधिक उपकार किया। साम्प्रदायिक प्रचारको की यह बहुत बडी सूझ-बूझ थी कि उन्होने काव्य और सगीत की सहायता से कृष्ण-भक्ति को लोकप्रिय बनाने के लिए कवियो और गायको को वह सम्मान प्रदान किया जो अकबर जैसा कला-प्रेमी सम्राट भी नही दे सका था। 'वार्ता' से सिद्ध है कि सूरदास का गोलोकवास गोस्वामी विट्ठलनाथ के गोलोकवास (सन १५८५ ई० = स० १५४२ वि०) के पहले हो गया था। उनकी निधन-तिथि सन १५८० ई० (स० १६३७ वि०) के आसपास मानी जा सकती है।

जिस प्रकार सूरदास पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के पूर्व अनेक सेवको के स्वामी और सम्भ्रात साधु थे, उसी प्रकार कन्नौज के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न **परमानंद** (अनुमानत १४९३–१५८३ ई० = स० १५५०–१६४० वि०) दीक्षा के पूर्व ही एक उच्च कोटि के कवीश्वर, सगीतकार, और कीर्तनकार प्रसिद्ध हो चुके थे। उनके भी शिष्यो और सेवको का समाज बृहत था जो उन्हे 'स्वामी' कहते थे तथा उनका सारा समय हरि-कीर्तन में ही बीतता था। वैराग्य उनके स्वभाव का अभिन्न अग था। इसी कारण उन्होने विवाह करने और धन कमाने से इनकार करके माता-पिता तक के असतोष की चिता नही की थी। परमानद स्वामी के विरह भाव के कीर्तनो की ख्याति ने महाप्रभु वल्लभाचार्य तक को आकृष्ट कर लिया था। वल्लभाचार्य ने उन्हें सम्प्रदाय में दीक्षित करके 'स्वामी' से 'दास' बनाया और बाल-लीला का अनुभव कराया। कृष्ण-भक्त कवियो में सूरदास के बाद बाल-लीला का चित्रण परमानददास ने ही सफलता से किया है। किन्तु विरह रस ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय था। उनके विरह के एक पद को सुनकर स्वय आचार्य जी तीन दिन तक ध्यानावस्थित रहे थे। सूरदास की भाँति परमानददास ने भी कृष्ण की बाल, पौगड और किशोर, सभी लीलाओ का वर्णन किया है। उनके पदो में दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य, चारो भाव पाए जाते हैं। कृष्ण-लीला के अगणित पद रचने के कारण सूरदास की भाँति उनके पद भी 'सागर' नाम से प्रसिद्ध हैं। गोलोकवास के समय परमानददास का मन भी युगल-लीला में मग्न था और उन्होने गाया था—

> राधे बैठी तिलक सँभारति।
> मृगनैनी कुसुमायुध कर धरि नदसुवन को रूप विचारति। आदि

अष्टछाप के कवियो में महाप्रभु की दीक्षा सबसे पहले **कुंभनदास** (अनुमानत १४६८–१५८२ ई० = स० १५२५–१६३९ वि०) को मिली थी। ये गोवर्धन पर्वत के निकट ही एक गाँव के रहने वाले ठेठ व्रजवासी किसान थे। जाति के ये गोरवा क्षत्रिय थे और स्त्री, सात पुत्रो, सात पुत्र-वधुओ और एक विधवा भतीजी के लबे परिवार का भरण-पोषण केवल खेती करके करते थे। किन्तु जीवन भर अर्थ-सकट में रहते हुए भी कुभनदास के मन में अपार त्याग, परम

सतोष और पूर्ण स्वावलबन का भाव था। उन्होने राजा मानसिंह की सोने की आरसी, हजार मोहरो की थैली और जमुनावती गाँव की माफी को अस्वीकार कर दिया था। 'भक्तन को कहा सीकरी सो काम' वाला इतिहास-प्रसिद्ध पद इन्ही का है। कुभनदास को निकुज-लीला का इष्ट था और मरते समय उनका मन 'लाल' की उसी चितवन में अटका हुआ था जो गोपियो के चित्त चुराती है तथा उनके अन्त करण में 'कनकवेलि वृषभानुनदिनी स्याम तमाल चढी' की मूर्ति समाई हुई थी।

अष्टछाप के कवियो में **कृष्णदास अधिकारी** (अनुमानत १४९५–१५७५ ई० = स० १५५२–१६३२ वि०) का व्यक्तित्व और चरित्र अत्यन्त विलक्षण है। शूद्र जाति के होते हुए भी इनकी कार्य-कुशलता पर मुग्ध हो कर आचार्य वल्लभ ने इन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर का 'भेंटिया' बनाया था। श्रीनाथ जी के मन्दिर पर बगालियो का अत्यधिक प्रभुत्व देख कर कृष्णदास ने उन्हें बडी कूटनीतिज्ञता और कठोरता से बलपूर्वक निकाला था। कठोरता के साथ इनके स्वभाव में रसिकता भी बहुत थी। कृष्णदास अधिकारी ने अपने अधिकार का प्रयोग करके कुछ दिनो तक मन्दिर में गोस्वामीजी की सेवा तक बद कर दी थी। कृष्णदास के जीवन का अन्त भी इनकी भक्ति की महत्ता का सूचक नही है। किसी वैष्णव के कुआँ बनाने के निमित्त दिए दान में से सौ रुपये छिपाकर गाड देने के कारण ये उसी कुएँ में गिरकर प्रेत हो गए थे। प्रेत-योनि से उन्हें तभी छुटकारा मिला जब छिपा हुआ रुपया निकालकर अधूरा कुआँ पूरा किया गया। किन्तु इनके जीवन की ऐसी भी घटनाएँ प्रसिद्ध है जिनसे इनके अद्भुत त्याग और निष्ठा का परिचय मिलता है। बाल्य-काल में ही इन्होने अपने पिता की चोरी का अपराध खोलकर पिता के लिए दड और अपने लिए निष्कासन अर्जित किया था। मीराबाई की ग्यारह मोहरो की भेंट इन्होने इसलिये अस्वीकार कर दी थी कि वे अन्यमार्गीय थी। एक बार इन्होने भीषण ज्वर की अवस्था में अन्यमार्गीय वैष्णव ब्राह्मण का जल अस्वीकार करके पुष्टिमार्गीय भगी का जल ग्रहण किया था। व्यवहारकुशलता तथा सिद्धान्तप्रियता के साथ-साथ कृष्णदास में कवित्व-गुण और सैद्धान्तिक ज्ञान भी कम नही था। कविता में वे सूरदास से होड करते थे और पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तो के लिए बडे-बडे भक्त उनके उपदेश सुनने के इच्छुक रहते थे।

अष्टछाप के अन्य चार कवियो में, जो गुसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य थे, नददास (अनुमानत १५३३–१५८६ ई० = १५९०–१६४३ वि०) का नाम सर्वप्रमुख है। ये जाति के ब्राह्मण और सस्कृत के अच्छे पडित थे। नददास के सप्रदाय-प्रवेश की घटना से सूचित होता है कि किस प्रकार लौकिक प्रेम ही भक्ति में परिणत करके उदात्त बनाया जा सकता है। यदि इनमें सौन्दर्य पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति न होती तो कृष्ण की उत्कट भक्ति सभव नही थी। इनका किसी खत्रानी के रूप पर मुग्ध होना तथा रूपमजरी नामक अकबर की बादी से मैत्री-सबध रखना इनके रसिक स्वभाव का प्रमाण है तथा भक्त-हृदय की राग-वृत्ति का सूचक है। नददास की रचनाएँ उनके प्रखर पाडित्य, अनुपम भाषाधिकार और भावुक भक्ति की द्योतक हैं।

अपने पिता कुभनदास की भाँति चतुर्भुजदास (अनुमानत १५३०–१५८५ ई० = स० १५८८–१६४२ वि०) भी गृहस्थ-जीवन बिताते हुए श्रीनाथजी की सेवा में सलग्न रहते थे। भक्ति और कविता, दोनो उन्हें उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी तथा जन्म से समस्त

ही उन्हें सप्रदाय-प्रवेश का सौभाग्य मिल गया था। कहते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ ही इन्होने भी देह छोडकर नित्यलीला में प्रवेश किया था।

इन्ही की तरह दूसरे भक्त कवि **गोविन्दस्वामी** के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होने विट्ठलनाथजी की मृत्यु का समाचार सुनकर गोवर्धन की कन्दरा में प्रवेश करके देह छोड दी थी। गोविन्द स्वामी (अनुमानत १५०४–१५८५ ई० = स० १५६१–१६४२ वि०) सनाढ्य ब्राह्मण थे और सप्रदाय में दीक्षित होने के पहले से ही कवीश्वर थे तथा पद बना कर गाया करते थे। सभवत इसी कारण इनके बहुत से सेवक भी थे जो इन्हें स्वामी मानते थे। इनके सरस पदो को सुनकर विट्ठलनाथ भी बहुत प्रसन्न होते थे। इसी कारण एक बार गोविन्दस्वामी गोस्वामी जी से भेंट करने गए तो इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनसे दीक्षा लेकर अपना 'स्वामीपन' त्याग कर पक्के 'दास' बन गए। इनका स्वभाव अत्यन्त विनोदप्रिय था। श्रीनाथजी के साथ ये उद्धत, उच्छृखल, किन्तु प्रेमी सखा की भाँति क्रीडा-कौतुक करते रहते थे। परिवार के साथ रहते हुए भी ये विरक्त थे। इनका चित्त एकान्त भाव से श्रीनाथ जी में ही लगा हुआ था। इनकी सगीत-निपुणता इस बात से सिद्ध होती है कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इनसे सगीत सीखता था। कहते हैं, स्वय अकबर वेश बदल कर इनका गान सुनने आया था और जब इनके एक पद पर उसने वाह-वाह की तो वह पद उन्होने कभी नही गाया, क्योकि वह 'जूठा' हो गया था।

अन्तिम कवि **छीतस्वामी** (अनुमानत १५१०–१५८५ ई० = स० १५६७–१६४२ वि०) मथुरा के चौबे थे। प्रारभ में ये लपट तथा कुटिल स्वभाव के व्यक्ति थे, किंतु गोस्वामी विट्ठलनाथ के सत्सग और शिक्षाओ ने उन्हें परम भक्त बना दिया। वे सभवत निरन्तर गृहस्थ बने रहे तथा ससार के माया-मोह को छोड नही सके। फिर भी उन्हें श्रीनाथजी की अनन्य भक्ति प्राप्त हुई और उन्होने वल्लभ-सप्रदाय की सेवा-प्रणाली के निर्माण में अपने गुरु की बहुत सहायता की। कवित्व के अतिरिक्त छीतस्वामी सगीत में भी निपुण थे। उनके भी पद सुनने के लिए अकबर वेश बदल कर आता था। जनश्रुति के अनुसार चतुर्भजदास और गोविन्ददास की तरह छीतस्वामी ने भी अपने गुरु, गुसाई जी के निधन का शोक-समाचार सुनकर प्राण त्यागे थे। इससे इनकी भक्ति की गूढता प्रकट होती है।

अष्टछाप के कवियो के अतिरिक्त वल्लभ-कुल के **रसखान** कवि का नाम कृष्ण-भक्त कवियो में आदर के साथ लिया जाता है। जाति के मुसलमान और प्रारभ में अत्यन्त गर्हित प्रेम-वासना में लिप्त होते हुए भी इन्हें कृष्ण की अनन्य भक्ति का प्राप्त होना यह सूचित करता है कि किस प्रकार भगवान कृष्ण पतितो के उद्धारक और पापियो के तारक हैं।

पुष्टिमार्गीय भक्तो के चरित्रो से स्पष्ट है कि उनमें राधा-कृष्ण की युगल प्रेमलीला का महत्व कम नही था। किन्तु कृष्ण-भक्ति के अन्य समसामयिक सप्रदायो में यह प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण राधावल्लभी सप्रदाय है। इसके सस्थापक **गोस्वामी हित हरिवश** (सन १५०२–१५५२ ई० = स० १५५९–१६०९ वि०) स्वय एक रस सिद्ध कवि होने के साथ वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ और सूरदास की भाँति हिन्दी कृष्ण-भक्ति साहित्य के अन्यतम प्रेरणा-स्रोत थे। इनके पिता श्रीव्यास मिश्र देववन (वर्तमान सहारनपुर जिले के देवबन्द) के एक वैभवसपन्न सम्मानित गौड ब्राह्मण थे। जब वे अपनी पत्नी तारारानी के साथ

ब्रज-यात्रा कर रहे थे, तभी मथुरा के पास वादगाँव में हरिवंश का जन्म हुआ। हरिवंश के शैशव काल के अनेक चमत्कार जनश्रुतियों में प्रसिद्ध हैं।

बंगाली वैष्णवों की साक्षी के आधार पर प्रसिद्ध रहा है कि हरिवंश मध्वाचार्य के अनुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। परन्तु राधावल्लभी सम्प्रदाय के विद्वानों ने इस कथन की अप्रामाणिकता सिद्ध की है तथा इस जनश्रुति को प्रामाण्य ठहराया है कि श्रीराधा से ही इन्होंने स्वप्न में दीक्षा-मंत्र ग्रहण किया था, वे ही इनकी गुरु तथा इष्टदेवी थीं। उस समय इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी।

हरिवंश का पहला विवाह सोलह वर्ष की अवस्था में हुआ। ३२ वर्ष की अवस्था होने पर, जब इनके माता-पिता का निकुंज-गमन हो चुका था, इन्होंने राधाकृष्ण की लीला-भूमि के लिए प्रस्थान किया। परन्तु इनकी पत्नी रुक्मिणी देवी अपने तीन पुत्रों और एक पुत्री के साथ देववन्द में ही रह गईं। मार्ग में श्रीराधा की प्रेरणा से चिरथावल गाँव में हरिवंश ने एक ब्राह्मण की दो कन्याओं—कृष्णदासी और मनोहरदासी—से विवाह किया।

सन १५३३ ई० (सं० १५९० वि०) में वृन्दावन पहुँचकर हरिवंश ने सेवाकुंज नामक स्थान पर राधावल्लभ के विग्रह की स्थापना की। सन १५८५ ई० (सं० १६४१ वि०) में अब्दुर्रहीम खानखाना के आदेश से दिल्ली के सुन्दरदास भटनागर ने राधावल्लभजी का लाल पत्थर का नया मन्दिर बनवा दिया, जहाँ से उनका विग्रह औरंगजेब के अत्याचार के भय से सन १६७१ ई० (सं० १७२६ वि०) में कामवन ले जाया गया। सन १७८५ ई० (सं० १८४२ वि०) वह पुनः राधावल्लभजी की मूर्ति वृन्दावन लाई गई और एक नवीन मन्दिर में प्रतिष्ठित की गई।

वृन्दावन आकर हरिवंश ने जिस प्रेम-भक्ति का रस प्रवाहित किया उसमें भँगाँव निवासी नरवाहन जैसा अत्याचारी जमींदार निमग्न होकर परम भक्त बन गया। उसकी भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर हरिवंशजी ने स्वरचित दो पद उसी के नाम से प्रसिद्ध कर दिए। गोस्वामी हरिवंश का व्यक्तित्व रूप, वाणी, शील, विद्या, कवित्व और भक्ति-भावना, सभी दृष्टियों से अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली था। उनके ब्रजनिवास के बाद वहाँ के वातावरण में प्रेम-काव्य, संगीत और कलात्मक सौन्दर्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। रासलीला की परंपरा को पुनर्जीवित करने का श्रेय इन्हीं को है।

गोस्वामी हरिवंश के नाम के पहले 'हित' शब्द उनका उपनाम मात्र नहीं, उनके द्वारा उद्घाटित परम तत्व 'हित' (प्रेमतत्व) का सूचक है। राधावल्लभी भक्त उन्हें अवतार मानते हैं। प्रसिद्ध है कि वे श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार थे। हित हरिवंश ने यद्यपि हिन्दी में केवल ८४ पद (हितचौरासी) और २७ स्फुट पद रचे हैं, परन्तु इतनी अल्प रचना होते हुए भी वे उच्च कोटि के भक्त कवि माने जाते हैं। संस्कृत में भी 'राधासुधानिधि' तथा 'यमुनाष्टक' उनकी केवल दो रचनाएँ हैं। वास्तव में स्वयं सरस पद-रचना करके उत्तम आदर्श उपस्थित करने से भी अधिक हित हरिवंश का महत्व उस वातावरण के निर्माण में है जिससे प्रेरणा पाकर कितने ही भक्त और कवि बन गए।

संस्कृत के प्रसिद्ध शास्त्रार्थी विद्वान **हरिराम व्यास** (अनुमानतः सन १४९२-१५९३-९८ ई० = सं० १५४९-१६५०-५५ वि०) ओरछा के राजपुरोहित-परिवार के प्रतिष्ठित व्यक्ति

थे। गोस्वामी हित हरिवंश के प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व का उन पर ऐसा प्रभाव पडा कि वे सब कुछ छोडकर वृन्दावन में ही राधावल्लभ की उपासना में लीन हो गए। भक्तो में वे विशाखा सखी के अवतार कहे जाते हैं। अतिथि-सत्कार, साधु-सेवा तथा भगवान के प्रसाद के प्रति असाधारण पूजा-भावना उनके व्यक्तित्व के विशेष गुण थे। जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि के भेद-भाव से वे सर्वथा ऊपर उठे हुए थे और इस सबध में उनकी विचारधारा निर्गुणवादी सतो के समान थी। ७५८ पदो और १५८ दोहो की 'व्यासवाणी' सिद्धान्त और काव्य दोनो दृष्टियो से उच्च कोटि की रचना है। राधा-कृष्ण की निकुज-लीला का उन्हें इष्ट था, जिसे जनश्रुति के अनुसार, वे सदैव देखते रहते थे। व्यासजी ने उसका अत्यन्त सरस काव्यमय वर्णन किया है। वे सगीत-शास्त्र में भी निष्णात थे। 'रागमाला' नाम के उन्होने ६०४ दोहो में सगीत-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। 'नवरत्न' और 'स्वधर्मपद्धति' नामक उनकी दो सस्कृत रचनाएँ भी कही जाती हैं।

राधावल्लभी सप्रदाय में 'हितचौरासी' के बाद व्याख्या तथा विस्तार की दृष्टि से और उससे भी अधिक सैद्धान्तिक दृष्टि से **दामोदरदास सेवकजी** (अनुमानत सन १५२०–१५५३ ई०=स० १५७७–१६१० वि०) की 'सेवकवाणी' का विशेष महत्व है। ये गोडवाना प्रदेश (वर्तमान जबलपुर के निकट) में गढा नामक गाँव के एक ब्राह्मण वश में उत्पन्न हुए थे। बाल्यावस्था से रसिक स्वभाव के भक्त-हृदय होने के कारण वृन्दावन के कुछ राधावल्लभी भक्तो के सत्सग का इन पर ऐसा प्रभाव पडा कि इन्होने हित हरिवश गोस्वामी से दीक्षा लेने का सकल्प कर लिया। कहते हैं कि इनके वृन्दावन पहुँचने के पहले ही हितजी का निकुज-गमन हो गया, अत स्वय श्रीराधा ने इन्हें स्वप्न में दीक्षा दी थी। इनकी वाणी की इतनी ख्याति हुई कि जब ये वृन्दावन पहुँचे तो हितजी के बडे पुत्र और सप्रदाय के आचार्य गोस्वामी वनचन्द्र ने हर्ष-विभोर होकर श्रीजी के मन्दिर का समस्त वैभव लुटाने का निश्चय कर लिया। परन्तु सेवकजी की प्रार्थना पर केवल प्रसादी का वितरण करके इनका स्वागत किया गया। वृन्दावन की रासलीला-भूमि में ही इन्होने ध्यानावस्थित बैठे-बैठ निकुज-गमन किया।

सेवकजी के मित्र और कुटुम्बी **स्वामी चतुर्भुजदास** (अनुमानत सन १५२८–१६३३= स० १५८५–१६९० वि०) ने गढा से वृन्दावन आकर गोस्वामी वनचन्द्र से दीक्षा ली और अपने प्रदेश (वर्तमान मध्यप्रदेश) में राधावल्लभी सप्रदाय की कृष्ण-भक्ति का व्यापक प्रचार किया। एक चोर को परम साधु बना देने तथा पकी खेती के साधुओ द्वारा उजाड दिए जाने पर प्रसन्न होने की घटनाएँ इनके उच्च भगवदीय जीवन का सकेत देती हैं। इनका 'द्वादशयश' तथा इन्ही के द्वारा लिखी उसकी सस्कृत टीका से इनकी धर्म-निष्ठा, प्रतिभा और विद्वत्ता प्रमाणित होती है।

राधावल्लभी भक्त कवियो में **ध्रुवदास** विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। देववन के एक वैष्णव कायस्थ कुल म अनुमानत सन १५६५ या १५७३ ई० (स० १६२२ या १७३० वि०) में इनका जन्म हुआ था। इनके बाबा बीठलदास स्वय श्रीहिताचार्य के शिष्य थे। ध्रुवदास के विषय में प्रसिद्ध है कि इन्होने भी स्वय श्रीहिताचार्य से स्वप्न में मत्र लिया था। परन्तु मर्यादा-रक्षा के विचार से हितजी के पुत्र गोस्वामी गोपीनाथ को इन्होने दीक्षागुरु बनाया। युगलकिशोर के नित्य रस का गान करने की अनुमति लेने के लिए इन्होने गोविन्दघाट के रासमडल में तीन दिन-रात श्रीराधा का अनवरत जप किया था और जब स्वयं श्रीराधा ने प्रसन्न होकर इन्हें अनुमति दे दी

तभी ये 'व्यालीस लीला'—छोटे-बडे व्यालीस ग्रन्थो—के प्रणयन में प्रवृत्त हुए। अनुमानत इनका निकुज-गमन सन १६४३ ई० (स० १७०० वि०) के आसपास हुआ।

इस सप्रदाय के परवर्ती कवियो में **चाचा हित वृन्दावनदास** (अनुमानत सन १७००–१७८७ ई० = स० १७५७–१८४४ वि०) और **श्री हठीजी** (रचना-काल सन १७८० ई० = स० १७२३ वि०) अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। वृन्दावनदास के जीवन के सबध में बहुत कम विवरण ज्ञात हैं। इनकी जाति और निवास-स्थान के विषय में विभिन्न जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। गोस्वामी हितहरिलाल से दीक्षा लेकर वे वृन्दावन में निवास करते थे, यह तथ्य उनकी रचना से प्रकट होता है। 'चाचा' नाम से प्रसिद्ध होने का कारण यह है कि तत्कालीन गोस्वामी गुरु-भ्राता होने के कारण इन्हें चाचा कहते थे, अत अन्य लोग भी इन्हें इसी सबोधन से पुकारने लगे। परिमाण में इनकी रचना विपुल है। प्रसिद्ध है कि इन्होंने छोटे-बडे १५८ ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें अनेक 'अष्टयाम', 'समय-प्रबन्ध', वेलियाँ तथा दो सागर—'लाडसागर' और 'व्रजप्रेमानन्दसागर'—सम्मिलित हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन रचनाओ का मूल्य अधिक नही है, परन्तु जनसाधारण में राधा-कृष्ण-भक्ति के प्रचार में इनका महत्वपूर्ण योग रहा है। इसके विपरीत श्रीहठीजी की रचनाओं का साहित्यिक महत्व अपेक्षाकृत अधिक है। इनके 'राधासुधाशतक' की, जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त-सवैये हैं, यह विशेषता है कि उसमें काव्य-गुणो—भाषा-लालित्य और अलकरण—की ओर सचेष्ट ध्यान दिया गया है।

कृष्ण-भक्ति काव्य के कलेवर में राधावल्लभी सम्प्रदाय ने कदाचित सर्वाधिक योग दिया। सोलहवी शताब्दी के भावप्रवण वातावरण को निर्मित करने में हित हरिवश, हरिराम व्यास, सेवकजी और चतुर्भजदास के अतिरिक्त नेही नागरीदास और लालस्वामी भी उल्लेख-योग्य हैं। श्री हिताचार्य के द्वितीय पुत्र **कृष्णचन्द्र गोस्वामी** के भी व्रजभाषा के लगभग पचास पद मिले कहे जाते हैं। परवर्ती कवियो में ध्रुवदास आदि उपर्युक्त कवियो के अतिरिक्त **श्री दामोदरदास, सहचरिसुख, कल्याणपुजारी, रसिकदास, हितअनूप, अनन्यअलि, कृष्णदास भावक, हित रूपलाल, चद्रलाल गोस्वामी, प्रेमदास, लाड़िलीदास, आनदीबाई, प्रियादास** आदि अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं जिन्होंने मध्ययुगीन भक्ति का पावन सदेश आधुनिक युग तक पहुँचाया है।

राधावल्लभी साधना-पद्धति से मिलता-जुलता सखी या टट्टी सम्प्रदाय भी कृष्ण-भक्ति साहित्य के विकास में अन्यतम योग देता रहा है। इसके प्रवर्तक **गोस्वामी हरिदास** (रचना-काल सन १५४०–१५६० ई० = स० १६००–१६२० वि० के लगभग) स्वय एक अच्छे कवि और उससे भी अधिक अच्छे सगीतज्ञ थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इन्हीं के शिष्य थे। सम्राट अकबर के साधु वेश में आकर इनका गान सुनने की किंवदती प्रसिद्ध है। 'केलिमाल' नामक रचना में इन्होंने नित्य विहार और नखशिख, मान, दान आदि का वर्णन किया है तथा 'सिद्धान्त के पद' में सप्रदाय की भक्ति का निरूपण किया है। इनके शिष्य विट्ठलविपुल तथा प्रशिष्य **बिहारिनदेव** के भी कुछ फुटकर पद मिले हैं। बिहारिनदेव के शिष्य नागरीदास तथा **सरसदेव, नरहरिदेव, पीताबरदेव, रसिकदेव** तथा **भगवतरसिक** (जन्म सन १७३८ ई० = स० १७९५ वि० के लगभग) का नामोल्लेख किया जा सकता है।

बगाल के चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी भक्त कवियो में **गदाधर भट्ट** दक्षिणी ब्राह्मण और सस्कृत के अच्छे पडित होते हुए भी हिन्दी में पद-रचना करते थे तथा **सूरदास मदनमोहन** अथवा **सूरध्वज** राज्य-कर्मचारी होते हुए भी बडे मनमौजी और निस्पृह भक्त थे । किवदती है कि इन्होने राज्यकोष का तेरह लाख रुपया साधु-सेवा में उडा कर उसके स्थान पर ईंट पत्थर भरकर भेज दिए थे और सम्राट अकबर के क्षमादान को ठुकरा कर कहला दिया था कि राज्य की आमदनी से वृन्दावन की गलियाँ झाडना हजार गुना अच्छा है । इस सप्रदाय के अन्य कवियो में **वल्लभ रसिक** और **माधवदास** का भी नाम उल्लेखनीय है।

निम्बार्क मतानुयायी भक्तो में **श्रीभट्टजी** (रचना-काल सन १५६८ ई० = स० १६२५ वि०), उनके शिष्य **हरिव्यास** तथा उनके शिष्य **रूपरसिकदेव** तथा **तत्ववेत्तादेव** ने कृष्ण-भक्ति काव्य में योग दिया।

विशिष्ट सप्रदायो में दीक्षित भक्त कवियो के अतिरिक्त उन्मुक्त प्रेमभाव से कृष्ण-भक्ति में तल्लीन कवियो में **मीराबाई** (जन्म सन १४९८ ई० = स० १५५५ वि०) का नाम अग्रगण्य है। मीराबाई की भक्ति की दृढता और प्रेम की महत्ता की कहानियाँ पौराणिक सी हो गई है। भक्त-गण उन पर उसी प्रकार विश्वास करते है जिस प्रकार प्रह्लाद की कथा पर। कृष्ण-भक्त कवियो में मीराबाई का स्थान अनूठा है, उनका जीवन ही वस्तुत कृष्ण की माधुर्य भक्ति का जीवित उदाहरण है।

अब्दुर्रहीम खानखाना राज-दरबार में उच्च पदस्थ होते हुए भी बडे मस्त और मनमौजी जीव थे। उनके नीतिसबधी दोहे तो उनके विस्तृत अनुभव को प्रकट करते ही है, उनके प्रेमप्रवण व्यक्तित्व की सूचना 'मदनाष्टक' और 'रासपचाध्यायी' से मिलती है, यद्यपि ये रचनाएँ अल्पाश में ही प्राप्त है। **नरोत्तमदास** के 'सुदामाचरित' ने न केवल सुदामा के दैन्यपूर्ण व्यक्तित्व को अमर कर दिया, बल्कि उसके यशस्वी लेखक के भावुक हृदय से भी जनसाधारण को परिचित कराया है। रामकाव्य के अद्वितीय कवि **गोस्वामी तुलसीदास** ने भी 'कृष्णगीतावली' लिखकर कृष्णकाव्य की भावधारा का आदर किया है।

भारत के इतिहास में वह एक विलक्षण समय था जिसमें ऐसे सरल-विश्वासी, भावुकता की प्रतिमूर्ति और कल्पना के धनी व्यक्ति इतनी बडी सख्या में हुए कि उन्होने अपनी वाणी के माधुर्य, लालित्य और सगीत से जन-जन के हृदय को सरस बना दिया और अनिर्वचनीय ब्रह्म को सौन्दर्य और आनद की प्रतिमा में साकार करके लोक के अत्यन्त निकट ला दिया। किन्तु लोक-मन कल्पना की इस उच्चता और भव्यता को अधिक दिनों तक बनाए न रख सका। वासना का उदात्तीकरण और परिष्करण साधना का विषय है, कोरी कल्पना का नही। अत, यद्यपि उन्नीसवी शताब्दी तक कविता का विषय प्राय वही रहा जो सोलहवी शताब्दी में कृष्ण-भक्ति काव्य का था, पर उसकी आत्मा का रस सूख चुका था, बात की बात रह गई थी। फिर भी, कुछ ऐसे भावुक कवि हुए है जिन्होने अपने लौकिक प्रेम के आलबन को ही प्रेम-भक्ति के उन्मेष में परम आनन्दस्वरूप श्री-कृष्ण के रूप में देखा है। कविवर **घनानद** (सन १६८९-१७३९ ई० = १७४६-१७९६ वि०) ऐसे ही कवि थे जिनकी गभीर प्रेमानुभूति ने सुजान वेश्या और श्रीकृष्ण के अन्तर को मिटा दिया था। किन्तु परवर्ती काल में परपरागत भक्त कवि भी हुए है। कृष्णगढ के महाराज सावतसिंह

राजपाट छोडकर वृन्दावन में आ बसे थे और **नागरीदास** (कविता-काल १७२५-१७६५ई० =स० १७८२-८१२२ वि०) के नाम से रचना करते थे। किंतु इनके साथ इनकी उपपत्नी **बनीठनी** भी रहती थी जो स्वय कविता रचती थी और सभवत नागरीदास को काव्य-प्रेरणा देती थी। सखी भाव से कृष्ण-भक्ति करने वाले कवियो में अठारहवी शताब्दी के **अलबेली अलि** और बख्शी **हसराज प्रेमसखी** तथा उन्नीसवी शताब्दी के शाह कुदनलाल **ललितकिशोरी** और शाह फुदनलाल **ललितमाधुरी** के नाम उल्लेख योग्य हैं। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में **नारायणस्वामी** (देहात १९०० ई० =स० १९५७ वि०) नाम के एक भक्त कवि और हुए हैं जिन्होने अपनी वृत्ति छोड कर सन्यास लिया और कृष्ण-भक्ति काव्य की रचना में प्रवृत्त हुए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेमानुभूति भी घनानद जैसे कृष्ण-भक्तो की जैसी थी। वे वल्लभ-मतानुयायी थे।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति साहित्य की धारा क्षीण रूप में आधुनिक काल तक चली आई है। यह नही कहा जा सकता कि वह आधुनिक काल में समाप्त हो गई, किन्तु यह इस अध्याय का विषय नही है।

परिशिष्ट

१. कृष्ण-भक्ति साहित्य की सूची

१ अलबेली अलि—समयप्रबधपदावली।

२. कीर्तनसग्रह—प्र० ठाकुरदास सूरदास, बबई।

३. कीर्तनसग्रह—प्र० लल्लूभाई छगनभाई देसाई, अहमदाबाद।

४. कुभनदास, कृष्णदास अधिकारी, चतुर्भुजदास, गोविंद स्वामी, छीतस्वामी—स्फुट पद (रागकल्पद्रुम, रागरत्नाकर तथा कीर्तन सग्रहो में), कुभनदास—स० व्रजभूषण शर्मा आदि, राजस्थान विद्या विभाग, काकरौली। गोविंदस्वामी—वही

५. गदाधर भट्ट—स्फुट पद।

६ गोस्वामी तुलसीदास—कृष्णगीतावली (तुलसी-ग्रथावली—स० रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी)।

७ गोस्वामी हरिदास—केलिमाल, सिद्धान्त के पद।

८ घनानद—सुजानविनोद, सुजानहित, वियोगवेलि (घनानन्द ग्रन्थावली—स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणीवितान, वाराणसी)।

९ चतुर्भुजदास—द्वादशयश।

१० चाचा हित वृन्दावनदास—लाडसागर (प्र०), व्रजप्रेमानन्दसागर, वृन्दावन-जसप्रकास वेली, विवेकपत्रिका वेली (प्र०), कलिचरित्र वेली (प्र०), कृपाभिलाषा वेली (प्र०), रसिकपथचन्द्रिका (प्र०), जुगलसनेहपत्रिका (प्र०), हितहरि श सहस्रनाम (प्र०), छद्मलीला (रासछद्मविनोद में प्र०), आर्तपत्रिका, स्फुट पद (प्र०)।

११ चौरासी वैष्णवन की वार्ता—प्र० श्री लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बबई तथा स० द्वारिकादास परीख, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

१२ दामोदरदास सेवक जी—सेवकवाणी।

१३ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—प्र० श्री लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बबई, तथा स० ब्रजभूषण शर्मा, विद्या विभाग, काकरोली।

१४ ध्रुवदास—बयालीस लीला १ वृन्दावनसत, २ भजनसत, ३ भजनसिगार सत, ४ हितसिगार, ५ मनसिगार, ६ नेहमजरी, ७. रहस्यमजरी ८ सुखमजरी, ९ रतिमजरी, १० रसरत्नावली, ११ रसहीरावली, १२ प्रेमावली, १३ रसमुक्तावली, १४ प्रियाजीनामावली, १५ भक्तनामावली, १६ रसविहार, १७ रगविहार, १८ वनविहार, १९ नृत्यविलास, २० रगहुलास, २१ ख्यालहुलास, २२ आनददसाविनोद, २३. रगविनोद, २४ आनदलता, २५ अनुरागलता, २६. रहस्यलता, २७ प्रेमदसा, २८. रसानन्द, २९ ब्रजलीला, ३० दानलीला, ३१ मानरसलीला, ३२ सभामण्डल, ३३ युगलध्यान, ३४ भजनकुडलियाँ, ३५ भजनाष्टक, ३६ आनन्दाष्टक, ३७ प्रीतिचौवनी, ३८ सिद्धान्तविचार (गद्यवार्ता), ३९. जीवदशा, ४० वैद्यकज्ञान, ४१ मनशिक्षा, ४२. बृहद्वामनपुराणभाषा।

१५. नददास —स० उमाशकर शुक्ल, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

१६. नरोत्तमदास—सुदामाचरित, स० प्रेमनारायण टण्डन, विद्यामदिर, लखनऊ।

१७ नागरीदास—सिगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश, पदप्रसगमाला, ब्रजबैकुठतुला, ब्रजसागर, भोरलीला, प्रातरसमजरी, विहारचन्द्रिका, भोजनानदाष्टक, जुगलरसमाधुरी, फूलविलास, गोधनआगमनदोहन, आनन्दलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्मविहार, पावसपचीसी, गोपीबैनविलास, रासरसलता, नैनरूपरस, शीतसार, इश्कचलन, मजलिसमडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माझ, वर्षाॠतु की माझ, कृष्णजन्मोत्सवकवित्त, साझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धनधारन के कवित्त, हीरा के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमतदीपिका, तीर्थानन्द, फागविहार, बालविनोद, वनविनोद, सुजानानन्द, भक्तिसार, देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिकरत्नावली, कविवैराग्यवल्लरी, अरिल्लपचीसी, छूटकविधि, पारायणविधिप्रकाश, शिख-नख, छूटककवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथमजरी, रामचरित्रमाला, पदप्रबोधमाला, जुगलभक्तिविनोद, रसानुक्रम के दोहे, शरद की माझ, साझी फूलविननसवाद, वसतवर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फागखेलन, समेतानुक्रम के कवित्त, निकुजविलास, गोविंदपरचई, वन-जनप्रशसा, छूटकदोहा, उत्सवमाला और पदमुक्तावली (नागर समुच्चय, स० राधाकृष्णदास, ज्ञानसागर प्रेस)।

१८ नारायण स्वामी—ब्रजविहार।

१९ परमानन्ददास—स्फुट पद, रागरत्नाकर, रागकल्पद्रुम, तथा कीर्तन सग्रहो में और परमानन्दसागर, प्र० विद्याविभाग, काकरोली।

२० बख्शी हसराज प्रेमसखी—सनेहसागर, विरहविलास, रामचन्द्रिका, बारहमासा।

२१ व्रजवासीदास—व्रजविलास।

२२. भगवतरसिक—स्फुट रचना।

२३. मीरांबाई—पदावली (स० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग; मीरा वृहद् पदसंग्रह, स० पद्मावती 'शबनम', लोक-सेवक प्रकाशन, वाराणसी।

२४. रसखान—प्रेमवाटिका, सुजान रसखान (रसखान और घनानन्द—स० अमीरसिंह, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।)

२५. रागकल्पद्रुम—स० कृष्णानन्द व्यास, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता।

२६. ललितकिशोरी—स्फुट पद, वृहद्रसकलिका और लघुरसकलिका।

२७. विद्यापति पदावली—स० रामवृक्ष बेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना, विद्यापति—स० खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमान विहारी मजूमदार, यूनाइटेड प्रेस, पटना।

२८. श्री भट्ट जी—युगल शतक (प्र० विहारी शरण), आदि वानी।

२९. श्री हठी जी—राधासुधाशतक।

३०. संगीत रागरत्नाकर—प्र० श्री लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, तथा स० व्रजभूषण शर्मा, विद्याविभाग, काकरौली।

३१. साहित्य रत्नावली—प्र० किशोरीशरण अलि, वृन्दावन।

३२. सूरदास—सूरसागर (नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी), सूरसारावली (स० प्रभुदयाल मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा) साहित्यलहरी (खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर. पटना, पुस्तक भंडार, लेहरिया सराय, पटना)।

३३. सूरदास मदनमोहन—स्फुट पद (रागकल्पद्रुम तथा रागरत्नाकर में), जीवनी और पदावली, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

३४. हितहरिवंश—हितचौरासी, प्र० गो० मोहनलाल छोटी सरकार, प्र० गो० रूपलाल, हितामृतसिंधु—स० महंत द्वारकादास, रास मंडल वृन्दावन।

३५. हरिराम व्यास—व्यासवाणी, प्र० व्यासवंशीय गोस्वामी, प्र० राधावल्लभ वैष्णव सभा, महावाणी—प्र० ब्र० विहारीशरण, रागमाला।

२. सहायक-ग्रंथ सूची

१ अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—दीनदयालु गुप्त, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

३. उज्ज्वल नीलमणि—श्री रूपगोस्वामी।

४. गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य—जगदीश गुप्त, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।

५. भक्तमाल टीका—प्रियादास, श्री लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

६. भक्ति रसामृत सिंधु—श्री रूपगोस्वामी।

७. भारतीय साधना और सूरसाहित्य—मुंशीराम शर्मा, आचार्य शुक्ल साधनासदन, कानपुर।

८. राधावल्लभ सम्प्रदाय . सिद्धान्त और साहित्य—विजयेन्द्र स्नातक, हिंदी अनुसधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

९. श्री राधा का क्रमिक विकास—शशिभूषणदास गुप्त, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

१० श्री हितहरिवश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य—ललिताचरण गोस्वामी, वेणु प्रकाशन, वृन्दावन।

११ सूरदास—रामचद्र शक्ल, नदकिशोर ब्रदर्श, वाराणसी।

१२ सूरदास—ब्रजेश्वर वर्मा, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।

१३ सूर और उनका साहित्य—हरवशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मदिर, अलीगढ।

१४ सूर की काव्यकला—मनमोहनलाल गौतम, भारतीय साहित्य मदिर, दिल्ली।

१५ सूर की भाषा—प्रेम नारायण टण्डन, हिंदी साहित्य मदिर, लखनऊ।

१६ सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल और द्वारकादास परीख, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

१७ सूर साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी, मध्य भारत हिंदी समिति, इदौर।

१८ हिंदी और बगाली वैष्णव कवि—रत्नकुमारी, भारती साहित्य मदिर, दिल्ली।

१९ हिंदी नवरत्न—मिश्रबन्धु, गगा ग्रथागार, लखनऊ।

२० हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद।

२१. हिंदी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

२२. हिस्ट्री आव ब्रजबुलि लिटरेचर—सुकुमार सेन।

१०. रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र

क रीतिकाव्य

रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियां

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्ययुग में काव्य की धाराओ का बहुमुखी प्रवाह फूट पडा। पूर्ववर्ती काव्य-धाराओ में सभी का विकास हुआ। सन्तकाव्य का विविध सप्रदायो के प्रवर्तको और प्रचारको ने प्रचुर भडार भरा। प्रेमाख्यान-परपरा को लेकर भी अनेक ग्रथ लिखे गए। इनमें शुद्ध प्रेमाख्यान भी है और सूफी प्रेमाख्यान भी, जिनमें मुस्लिम सूफी कवियो ने रूपकोक्ति (एलीगरी) के माध्यम से अपने मत का प्रचार किया है। इन प्रेमाख्यानक काव्यो में काव्य की सरल माधुरी भी उतर आई है। इनके साथ ही साथ सगुण भक्ति-धाराओ का भी वेग उमडा और अनेक कवियो ने राम और कृष्ण की लीला, भक्ति और चरित-माधुरी को लेकर असख्य ग्रथो की रचना की। इन भक्ति काव्यो पर शृगार काव्य का प्रभाव बहुत गहरा पडा। राम-काव्य में भी कृष्ण काव्य की शृगारिकता देखने को मिलती है। वास्तव में यह युग ही शृगार का युग था। राजनीतिक और धार्मिक सघर्ष अब एक निश्चित स्थिति को प्राप्त कर चुके थे। मुगल बादशाहो के विभव-विलास एव शृगार-सजाव ने सभी को प्रभावित कर रखा था। कला और साहित्य को राजाओ और नवाबो के द्वारा व्यापक रूप से सरक्षण भी प्राप्त हुआ था। इसलिए शृगार से ओत-प्रोत रीतिकाव्य-धारा को इस युग में विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वैसे इस युग में वीरकाव्य भी बडी प्रचुरता से लिखा गया, साथ ही इस युग के वीरकाव्य में एक विशेष साहित्यिक उत्कर्ष भी प्राप्त हुआ और नीतिकाव्य के ग्रथो की भी रचना हुई, परन्तु प्राय इस प्रकार के काव्य लिखने वाले कवियो ने भी रीति-शृगार काव्य से सबधित ग्रथ ही अधिक लिखे। पद्माकर और चन्द्रशेखर ने जहाँ उत्कृष्ट वीरकाव्य की रचना की, वही पर उन्होंने अधिक मात्रा में रीति-काव्य के ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रीति या शृगार काव्य लिखना उस समय की एक व्यापक परिपाटी बन गई थी।

रीतिकाव्य के अन्तर्गत भक्तिकाल के अलौकिक आलबन को लौकिक धरातल पर उतार कर उसके रूप-सौन्दर्य एव भाव-व्यापार का वर्णन किया गया। राधा और कृष्ण रीतिकाव्य में सामान्य नायक और नायिका के रूप में चित्रित किए गए और इनके माध्यम से आलबन और आश्रयगत विविध चेष्टाओ, मनोभावो और अनुभूतियो की अभिव्यजना हुई। रीतिसबधी प्रवृत्ति का यहां तक प्रभाव पडा कि कृष्ण-भक्त कवियो की रचनाओ में भी रीतिकाव्य की प्रवृत्तियो का समावेश दिखलाई देता है। अष्टयाम, दिनचर्या, नख-शिख-सौन्दर्य, सयोग-वियोग की विविध स्थितियो का वर्णन, मान, ऋतु-सुलभ उद्दीपन तथा आलकारिकता इस प्रवाह के काव्यो में प्रचुर मात्रा मे मिलती है।

श्रृगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकाव्य में सर्वत्र प्रचुरता के साथ परिलक्षित होती है। इस श्रृगारिकता के मानसिक स्वरूप को भक्तिकाव्य की प्रेम-भावना से आधार और प्रेरणा प्राप्त हुई थी। निर्गुणोपासक सन्त कवि भी प्रेम को जीवन का सार कहते थे। सूफी कवि भी प्रेम की पीर के साधक थे। कृष्ण-भक्ति में तो प्रेम व्यापक भाव है ही, साथ ही राम-भक्ति में भी रसिक भाव प्रवाहित था। अत प्रेम को या रति भाव को प्रधान मान कर श्रृगार को रसराज रूप में प्रतिष्ठा रीतिकाव्य के लिए उस युग में बडी स्वाभाविक सी बात थी। इसको शास्त्रीय आधारभूमि सस्कृत काव्यशास्त्र के रस, नायिका-भेद एव अलकार-ग्रथो से प्राप्त हो गई। अत यह प्रवृत्ति एक विदग्ध कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए उस युग में एक आवश्यक उपकरण बन गई थी।

श्रृगारिकता के स्थूल स्वरूप को प्रेरणा देने के लिए उस युग का समस्त वातावरण ही था। इसके भीतर नख-शिख-सौन्दर्य-चित्रण, षड्ऋतु-वर्णन, हाव, विलास, मडन आदि का विवरण मिलता है। श्रृगार-वर्णन के प्रसग में कामशास्त्र का भी इस युग के ग्रथो में बडा व्यापक प्रभाव है। रीतिशास्त्र की अनेक बातो का इस काव्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आधार या सकेत इसे सर्व-साधारण एव किशोर बुद्धि के व्यक्तियो के लिए अनुपयुक्त बना देता है। नख-शिख-सौन्दर्य-चित्रण में अनेक सुन्दर पक्तियाँ मिलती हैं, परन्तु परिपाटी बन जाने के कारण अनेक अगो के वर्णनो में प्रचुर मात्रा में पुनरुक्ति भी दिखलाई पडती है। रूप-चित्रण इस युग के कवि की सूक्ष्म रूपानुभूति और सौन्दर्य-कल्पना को स्पष्ट करने वाला है, जैसा कि निम्नाकित उदाहरणो में द्रष्टव्य है—

मुखससि निरखि चकोर अरु, तन पानिप लखि मीन।
पद पकज देखत भ्रमर, होत नयन रसलीन।।

जनु तिय हिय ते राग बढि, अधरन रँग सरसाइ।
विद्रुम बिब बँधूक की, आर्भाहि रहेउ बढाइ।।

अरुन बरन बरनि न परै, अमल अधर दल माँझ।
कैधो फूली दुपहरी, कैधो फूली साँझ।।

फिरि फिरि चित उतरी रहत, टुटी लाज की लाव।
अग अग छवि झौंर में, भयो भौंर की नाव।।

हाव, भाव और चेष्टाओ के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। इन वर्णनो में व्यक्ति का स्वरूप आन्तरिक अनुभूति एव मानसिक स्थिति के अनुरूप पूर्ण सजीवता के साथ अकित हुआ है। इन चित्रणो के द्वारा कवि की सूक्ष्म दृष्टि एव जीवन और जगत का व्यापक अनुभव व्यक्त हुआ है। मानसिक जगत की झाँकी देनेवाले अग-विकारो, सज्जा एव प्रतिक्रियाओ का स्पष्टीकरण निम्न-लिखित छन्दो में प्राप्त है —

सटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखै झाँकि।।

मानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति।।

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
देव गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सकै नहिं नैननि लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी खिरकी खिरकी मैं फिरै फिरकी सी।।

फाग की भीर अभीरन में गहि गोबिन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तें सु बिदा दई मीडि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी।।

रीतिकाव्य की दूसरी प्रवृत्ति आलकारिकता है। विभिन्न अलकारो से अपने कथन को सजाना इस युग का फैशन था। बात को सरल स्वाभाविक रीति से कहना सम्माननीय न समझा जाता था। उक्ति-चमत्कार के द्वारा पाठक और श्रोता के मन को आकृष्ट कर लेना ही इस युग के कवियो का लक्ष्य तथा इनकी सफलता का मापदड था। इसका कारण यह था कि रीतिकाव्य का अधिकाश राज-दरबारो के लिए रचा गया। आलकारिकता का दूसरा कारण था अलकार-शास्त्र के अनुसार रचना करने की प्रवृत्ति। बहुत से कवियो ने अलकारो के लक्षण और उदाहरण दोनो ही रचे है, परन्तु जिन्होने केवल उदाहरण रचे, उनके मन मे भी अलकारो के लक्षण और स्वरूप विद्यमान थे। अलकारो का ज्ञान करके ही इस युग का सम्मानित कवि काव्य-रचना करने बैठता था, इसलिए आलकारिकता इस युग में खूब फली-फूली। कही कही तो अलकारो से बोझिल पक्तियाँ भी मिलती है, परन्तु कही कही अलकारो के रूप में सुन्दर और रमणीय अप्रस्तुत विधान की योजना की गई है। उदाहरणार्थ—

तेरी औरै भाँति की, दीपसिखा सी देह।
ज्यो ज्यो दीपति जगमगै, त्यो त्यो बढत सनेह।।

तिहि पुरान नव द्वै पढे, जिहि जानी यह बात।
जो पुरान सो नव सदा, नव पुरान ह्वै जात।।

मानहु विधि तन अच्छ छवि, स्वच्छ राखिवे काज।
दृग पग पोछन को कियो, भूषन पायदाज।।

स्याम घटा लपटी थिर बीजु कि सोहै अमावस अक उज्यारी।
धूम के पुज में ज्वाल की माल सी पै दृग सीतलतर सुखकारी।
कै छवि छायो सिंगार निहारि सुजान तिया तन दीपिति प्यारी।
कैसी फवी 'घनआनँद' चोपनि मो पहिरी चुनि साँवरी सारी।।

आलकारिकता का ही दूसरा रूप भाषा का सजाव-श्रृगार है। इसे हम रीतिकाव्य की अलग प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण कर सकते है। इस धारा का कवि भाषा के प्रयोग के सबध में अत्यधिक सजग है। वर्णमैत्री, अनुप्रासत्व, ध्वन्यात्मकता, शब्दगति, शब्दशोधन, अनेकार्थता, व्यग्य आदि की विशेषता इस काव्य में प्रचुर मात्रा में मिलती है। इस धारा का अधिकाश काव्य ब्रजभाषा में ही रचा गया। अत. इन कवियो के प्रयत्नो के परिणाम स्वरूप हम ब्रजभाषा में

एक विशेष निखार, प्राजलता एव माधुर्य समाविष्ट देखते हैं। दास ने तो व्रजभाषा की सीमा ही बढा दी थी। वे केवल व्रजमडल में बोली जानेवाली भाषा को व्रजभाषा कहने को तैयार नही, वरन व्रजभाषा तो अपने मधुर रूप में कवियो की रचनाओ मे ही मिलती है। व्रजभाषा के इस प्रकार के विकास का ही परिणाम था कि अनेक मुसलमान कवियो ने भी व्रजभाषा में रचना की तथा बगाल के कुछ वैष्णव कवियो ने भी इसका प्रयोग किया। आधुनिक काल में भी जब आवश्यकतावश खडीबोली के कविता में प्रयोग का प्रश्न उठा, तब काफी दिनो तक व्रजभाषा के प्रयोग के पक्ष में ही लोगो का मत बना रहा, क्योकि व्रजभाषा ने इस युग में एक विशिष्ट प्रौढता, माधुर्य और विदग्धता प्राप्त कर ली थी। अतएव रीतिकाव्य के कवियो में यदि व्रजभाषा के सुष्ठु प्रयोगो का चमत्कार मिलता है, तो आश्चर्य ही क्या है ? इन कवियो ने बडी तन्मयता से शब्द-साधना की थी। इससे सबधित कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

गगन अँगन घनाघन ते सघन तम, सेनापति नेक हू न नैन मटकत हैं।
दीप की दमक जीगनान की झमक छाँडि, चपला चमक और सो न अटकत हैं।
रवि गयो दबि मानो ससि सोई घसि गयो, तारे तोरि डारे ते कहूँ न फटकत हैं।
मानो महातिमिर ते भूलि परी बाट ताते, रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत हैं ।।

पियराई तन में परी, पानिप रह्यो न देह।
राख्यो नदकुँवार ने, करि कुँवार को नेह।।

श्रमजल कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल।।

लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लौं लफि जाय।
लगै लाँक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय।।

रस सिंगार मजन किए, कजन भजन दैन।
अजन रजन हू बिना, खजन गजन नैन।।

होरी हरे हरे आइ गई हरि आए न हेरि हिए हहरैगी।
बानि बनी बन बागन की कवि देवि बिलोकि बिलोकि बरैगी।
नाँउ न लेउ बसन्त को री सुनि हाय कहूँ पछिताय मरैगी।
कैसे कै जीहै किसोरी जो केसरि नीर सो बीर अबीर भरैगी।।

इस प्रकार के उदाहरणो से रीतिकाव्य भरपूर है। अत केवल नमूने के ही उपर्युक्त उदाहरण पर्याप्त है। शब्द और भाषा के इस प्रकार के आकर्षण ने ही इस काव्य को जीवित रखा है।

रीतिकाव्य में अधिकाशत कवित्त, सवैया और दोहा छन्दो के प्रयोग की ही प्रवृत्ति देखी जाती है। यद्यपि बीच बीच में किन्ही किन्ही ग्रन्थो में अन्य छन्द—जैसे छप्पय, बरवै, हरिपद आदि—भी मिलते है, परन्तु रीतिकाव्य में दोहा, सवैया और कवित्त (घनाक्षरी) छन्द ही अधिक जमे है। इसका कारण यही है कि ये छन्द व्रजभाषा की प्रकृति के विशेष अनुकूल पडते है और जिन भावो का वर्णन इनमें किया गया है उसके लिए भी बहुत उपयुक्त बैठते हैं। अवधी का

बरवै भी लालित्य में इन्ही छन्दो के समान है। इसलिए बेनी प्रवीन, जगतसिंह, यशोदानदन आदि ने बरवै छन्दो का भी प्रयोग किया है।

- रीतिकाव्य की सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है यथार्थ जीवन के प्रति गहरी अभिरुचि। अलौकिकता और आध्यात्मिकता का पुट तो थोडा-बहुत इस काव्य में परपरागत सस्कारवश है। मुख्य ध्येय इस धारा के कवियो का है जीवन और यौवन के वास्तविक और रमणीय स्वरूप का यथार्थ चित्रण। नायिका-भेद और रस-निरूपण के ग्रन्थो में प्रस्तुत जो चित्र है, उन्हें हम जीवन में व्याप्त देखते है, जीवन से अलग रोमासिक, काल्पनिक अथवा आदर्श अतीत के वे चित्र नही है। ऐसा लगता है कि रीतिकाव्य के रचयिता यौवन और वसन्त के कवि है। जीवन का फूलता हुआ सुघर रूप ही उन्हें प्रिय है। पतझड, सघर्ष और विनाश सभवत स्वत जीवन में इतने घोर रूप में विद्यमान था कि कविकाव्य में भी उसको उतारकर नैराश्य और निवृत्ति की भावना को जगाना नही चाहता है। वह तो फलते-फूलते जीवन का भ्रमर है। उसने जीवन का एक ही स्वरूप लिया, एक ही पक्ष लिया, यह इस धारा के कवि की सकीर्णता है, दुर्बलता है, एकागिता है। परन्तु जिस पक्ष को उसने लिया है उसके चित्रण में उसने कोई कोर-कसर उठा नही रखी। उसके समस्त वैभव और विलास के चित्रण में उसने कलम तोड दी है।

इस धारा के कवि ने जीवन के लिए एक अदम्य वासना जाग्रत कर दी है, सौन्दर्यानुभूति और सुरुचि की एक सुकुमार कसौटी प्रदान की है। रूप-विवेचन का विवेक और भावो के परख की दृष्टि हमें इस काव्य से प्राप्त होती है। यह काव्य रमणीय है। जो इसे निन्दनीय और उपेक्षणीय समझते है वे यौवन के भावो और वसन्त के विकास को भी गर्हित कहने की चेष्टा करते है। इस काव्य की प्रवृत्तियाँ विश्व के काव्यो में भी सर्वत्र प्रचुर मात्रा में मिलती है और हिन्दी साहित्य के भी प्राचीन और अर्वाचीन दोनो ही काव्यो में इन प्रवृत्तियो की सत्ता कम या अधिक मात्रा में खोजी जा सकती है। केवल एक चेतावनी इस काव्य के सबध में दी जा सकती है और वह यह कि इसे चुने हुए रूप में पढना अधिक श्रेयस्कर है।

रीतिकाव्य का स्वरूप और प्रवाह

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीतिकाव्य से तात्पर्य, रीतियुग में लिखा समस्त काव्य नही, वरन एक विशेप उद्देश्य और प्रवृत्ति के वशीभूत लिखा गया काव्य है। इसमें काव्य के सिद्धान्तो—अलकार, रस, ध्वनि, नायिकाभेद, नखशिख, गुण आदि—को ध्यान में रखकर लिखा गया काव्य लिया जाता है। इस प्रकार का काव्य रीतियुग में हम दो रूपो में देख सकते है—प्रथम तो लक्षण को देकर उसके स्पष्ट करनेवाले उदाहरणो के रूप में प्रस्तुत काव्य और दूसरे बिना लक्षण दिए केवल उनका ध्यान रखकर लिखा गया काव्य। इस प्रकार की परपरा संस्कृत में भी देखी जा सकती है। इसमें कोई सन्देह नही कि काव्य के क्षेत्र में इस कोटि के काव्य की देन महत्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्ययुग में इस प्रकार की परपरा की आवश्यकता थी, क्योकि आध्यात्मिक जिज्ञासा की तृप्ति और धार्मिक जीवन-क्रम को प्रस्तुत करते हुए भी, जैसा कि हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्य ने किया, कला और सौन्दर्य की पिपासा को शान्त करने का इस काव्य का न

तो उद्देश्य ही है और न प्रयत्न ही। इसी प्रकार हिन्दी के उदय काल मे चारण काव्य के अन्तर्गत किसी राजा या वीर की प्रशसा में अत्युक्तिपूर्ण काव्य की रचना की गई थी। इसमें प्रमुखतया वीरता का बढा-चढा वर्णन मिलता है जो चारण-वृत्ति का द्योतक है, जिसका उद्देश्य राजाश्रय और राजकृपा प्राप्ति है। इसमें झूठी प्रशसा भी आ जाती है। ये दोनो ही प्रकार के काव्य न तो जीवन का वास्तविक रूप स्पष्ट करते है और न हमारी सामान्य वृत्तियो का सस्पर्श करते है। साथ ही साथ इस प्रकार का काव्य न तो व्यापक रूप से कवि-प्रतिभा को ही प्रेरणा प्रदान करता है और न अत्यन्त जनप्रिय काव्य ही बन पाता है। सूक्ष्म कलात्मक विकास को भी इसमें प्रकट होने का अवसर नही मिलता। आल्हा इन काव्यो में सर्वाधिक जनप्रिय रहा, पर उसका प्रमुखकारण उसमे लोकगीत की विशेषता तथा प्रबल भाव-प्रवाह है।

भक्तिकाव्य की व्यापक अपील का कारण दूसरा है। इसमें आलबन में तन्मयता और सचाई के साथ-साथ कवित्व का भी प्रचुर मात्रा में समावेश है। भक्तिकालीन कवियो मे कबीर ही ऐसे है जिनका कवित्व की ओर कुछ भी ध्यान नही था, इसीलिए कबीर की बानी, नाथो और सिद्धो की बानी की परपरा मे ही कडी जोडनेवाली है। कबीर की बानी में कवित्व का समावेश उनकी गहरी भावानुभूति, विलक्षण प्रतिभा और चुभती उक्ति के कारण हो गया है। शायद कबीर ही ऐसे विलक्षण व्यक्ति है जिनका काव्य, कवित्व सबधी ज्ञान और ध्यान न होने पर भी, इतना प्रभावपूर्ण है। इसका कारण उनका व्यक्तित्व है। काव्य की ओर से इतना उदासीन रहकर ऐसा प्रभावशाली कवि मिलना कठिन है। फिर भी कबीर का काव्य आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले लोग ही सुनते है और ऐसा काव्य लिखने की प्रेरणा भी ऐसे ही लोगो को प्राप्त होती है। जायसी, आध्यात्मिक कवि होते हुए भी, काव्यशास्त्र के तथा लौकिक ज्ञान के भडार से परिचित थे। उनके नखशिख-सौन्दर्य-वर्णन, सयोग-वियोग आदि के चित्रण रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि बनाते है। सगुण भक्ति को लेकर चलनेवाले कवियो में तो काव्यशास्त्र का ज्ञान प्रत्यक्ष है। तुलसी के काव्य में अलकार, ध्वनि, रस, गुण आदि का पूर्ण परिपाक है और उसमें दोषहीन भाषा का औचित्यपूर्ण प्रयोग उनके व्यापक काव्य-ज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है। रस के मर्मज्ञ सूर तथा अष्टछाप के अन्य कवियो के लिए तो कहना ही क्या है, परन्तु काव्यशास्त्र का इतना ज्ञान होते हुए भी इनका काव्य रीतिकाव्य नही कहा जा सकता, क्योकि इनका प्रमुख उद्देश्य भक्ति-भावना का प्रकाशन है। इनमें से किसी का भी शुद्ध काव्य-रचना का उद्देश्य नही रहा। अतएव जो न तो किसी राजा की चारण की भाँति प्रशसा करना चाहता है और न उसमे इतनी आध्यात्मिकता ही है कि भक्तिकाव्य लिख सके उसके लिए शुद्ध काव्य-रचना का द्वार खोलनेवाली यही रीति-काव्य की परपरा है।

भक्तिकाल में भी रीति-परपरा पर लिखनेवाले कुछ महत्वपूर्ण कवि हुए है, जैसे, कृपाराम, ब्रह्म, बीरबल, गग, बलभद्र मिश्र, केशवदास, रहीम, मुबारक, तोष आदि, जिनकी कृतियो में प्रमुख ध्यान काव्य-रचना का है, यदि और कोई उद्देश्य है तो गौण। कृपाराम की 'हिततरगिणी' तो रीतिशास्त्र की पहली रचना है जिसकी चर्चा हम रीतिशास्त्र के प्रसग में करेंगे। बीर-बल के नाम से प्रसिद्ध ब्रह्म कवि की रचनाएँ अलकार और नायिका-भेद को प्रधानतया दृष्टि में रखकर की गई है। गग का भी प्रमुख ध्यान रस और आलकारिकता पर है। ब्रह्म का कुछ काव्य

भक्ति और नीति का है, कुछ समस्यापूर्तियाँ हैं, परन्तु अधिकाश काव्य सयोग-वियोग-वर्णन तथा आलकारिक उद्भावना से परिपूर्ण है। सयोग-वियोग सवधी चित्रो में नवीन उत्प्रेक्षाएँ लाना ब्रह्म के काव्य की विशेषता है। अनेक शृगारिक चित्र हमें उनमें देखने को मिलते हैं। दरवारी काव्य की सी समस्यापूर्तियाँ भी इनमें मिलती हैं। वास्तव में दरवारी हिन्दी रीतिकाव्य की दृढ परपरा अकवर के समय ही पडी और इसी का आगे विकास हुआ। गग की अधिकांश रचनाएँ रूप-सौन्दर्य, प्रेम, मान, नायिका तथा सयोग-वियोग के चित्रण से परिपूर्ण ह, तथापि युग के प्रभावानुसार भक्तिकाव्य भी इन्होने लिखा है और ीर रस की ओजपूर्ण रचना भी की है। गग की विशेपता इनके ओजमय प्रवाह और उच्च कल्पना में देखने को मिलती है। इनका अधिकाश रीतिकाव्य ही है।[१]

रहीम का 'वरवै नायिका-भेद' तो निश्चय ही रीतिकाव्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है। उसमें न केवल नायिका-भेद, वरन प्रेम और सौन्दर्य के मनोमोहक चित्र हैं। रहीम के काव्य मे उनके जीवन का व्यापक अनुभव प्रकट होता है। सरल होते हुए भी मार्मिक, भावपूर्ण कवित्व एव उक्ति-वैचित्र्य के उदाहरण इसमें देखने को मिलते हैं। इनके दोहे और वरवै दोनो ही वडे लोकप्रिय हैं। रहीम ने छोटे-छोटे कई ग्रथ लिखे। ये सस्कृत, फारसी, हिन्दी तीनो के ज्ञाता थे। इनकी विनोदप्रियता ,मर्मस्पर्शी उद्गार और जीवन की विविध अनुभूतियो के चित्रण काव्य को स्मरणीय वनाते है और इनकी सहज कवित्व प्रतिभा के द्योतक हैं। रीतिकाव्य के क्षेत्र में आने-

---

१. ब्रह्म और गंग की रचनाओ में रीतिकाव्य की विशेपताएँ है, इस वात के प्रमाण के लिए हम उनके कुछ छन्द यहाँ दे रहे है—

जा दिन ते माधो मधुवन को सिधारे सखि
ता दिन ते वृगनि दवागिन सी दै गयो।
कहै कवि गग अव सव व्रजवासिन की
सोभा औ सिंगार सो तो संग लाइ लै गयो।
आछे मनभावने जे विविध विछावने जे
सकल सुहावने डरावने से कै गयो।
फूले फूले फूलनि में सेज के दुकूलनि में,
कालिंदी के कूलनि विसासी विस्त वै गयो॥

—गग

मानवती वृषभानुसुता मुख माने न माने मनावै हरी।
ब्रह्म भनै मनमोहन को मनु मोहति यों मनी चित्त धरो॥
गलहाथ दिए सिर नाइ निरखति द्रिष्ट चकोर ज्यो कान्ह करो।
अरविन्द विछाइ विरुर्यहि निन्दत मानहुँ इदुहि निंद परी॥

—ब्रह्म

यहाँ पर वियोग मोर मान का वर्णन क्रमश ऊपर के छन्दो में द्रष्टव्य है।

वाला इनका ग्रन्थ 'बरवै नायिका-भेद' है जिसमें लोक-जीवन के प्रेम और श्रृंगारपूर्ण आशा-आकाक्षाओ से भरे विविध मधुर चित्र विद्यमान हैं, यथा—

लागेउ आइ नबेलियहि, मनसिज बान।
उकसन लाग उरोजवा, दृग तिरछान।।१।।
भोरहि होत कोइलिया, बढवति ताप।
घरी एक भरि अलिया, रहु चुपचाप।।२।।
वन घन फूलहि टेसुआ, बागन बेलि।
चले विदेस पियरवा, फगुआ खेलि।।३।।
बाहर लैके दियवा, बारन जाइ।
सासु ननद घर पहुँचत, देति बुझाय।।४।।
उमडि उमडि घन घुमडे, दिसि बिदिसान।
सावन दिन मनभावन, करत पयान।।५।।

उपर्युक्त चित्र कितने स्पष्ट और मनोमोहक है जो कवि की सौन्दर्य और भाव-पारखी दृष्टि को प्रकट करते हैं। रहीम को जीवन का बडा व्यापक ज्ञान और गहरा अनुभव था जिसके कारण काव्य की लोक-रुचि को जगाने की वे क्षमता रखते हैं।

वलभद्र मिश्र

बलभद्र मिश्र ओरछा के रहने वाले आचार्य केशवदास के बडे भाई थे। इनका प्रसिद्ध ग्रथ 'नखशिख' है जिसमें नायिका के अगो का वर्णन अलकारपूर्ण शैली में हुआ है। बहुधा प्रयुक्त अलकार उपमा, उत्प्रेक्षा, सदेह आदि हैं। इनके अन्य ग्रथो में 'रसविलास' महत्वपूर्ण है। 'नखशिख' और 'रसविलास' दोनो ही मे रीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण प्राप्त होते हैं।

केशव की गणना रीतिशास्त्र के आचार्यों में है, रीतिकवियो मे नही, यद्यपि इनका काव्य अपनी अलग विचित्र महत्ता रखता है। 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' के अनेक उदाहरण बडे ही मार्मिक हैं। भक्तिकाल की सीमा में ही रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि **मुबारक** का भी उल्लेख आवश्यक है। मुबारक का रचना-काल सन १६३३ ई० (स० १६९० वि०) तक माना जाता है। ये बिलग्राम के रहने वाले थे और इनका नाम सैयद मुबारक अली था। सस्कृत, फारसी, अरबी के पडित और हिन्दी के कवि मुबारक ने मार्मिक दोहो की रचना की। इनके दो प्रसिद्ध ग्रथ 'अलकशतक' और 'तिलशतक' इनकी कीर्ति के स्तम्भ है, जो नखशिख के होते हुए भी आलकारिक चमत्कार से युक्त हैं।

रीतियुग के प्रारभ होने से कुछ ही पहले प्रसिद्ध कवि तोष के 'सुधानिधि' ग्रन्थ की रचना हुई। तोष प्रयाग के निकट सिंगरौर या श्रृगवेरपुर के रहने वाले थे। य चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। सन १६३४ ई० (स० १६९१ वि०) में इन्होने 'सुधानिधि' ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें रीतिकाव्य के सुन्दर उदाहरण है। एक छन्द देखिए—

फूल गुलाब के फूलि रहे दृग,किंसुक से अधरा अधकारे।
झारि के लाज चतौवन को किसलै,सम जावक है अरुनारे।
तोष लखें मृग के मद की तन लीक अली अवली मतवारे।
मोद अनन्त भयो उर अन्तर आए वसन्त ह्वै कन्त हमारे ॥१५०॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रीतिकाव्य की प्रेरणा प्रमुखतया आचार्य केशवदास और अकवर के दरवारी कवियो से प्राप्त हुई थी, जिसके परिणाम स्वरूप विशुद्ध काव्यधारा का विकास हुआ और जिसके प्रवाह ने रीतिकाल में समस्त काव्य-रसिको को ओतप्रोत कर दिया। इस नवीन धारा का प्रभाव २० वी शताब्दी वि० के प्रारभ तक वना रहा। इस युग के रीतिकवियो में सवसे प्रथम सेनापति का नाम आता है।

सेनापति

कविवर सेनापति की जीवनी के सवध में वहुत कम वातें ज्ञात है। अव तक जो सामग्री प्राप्त है, वह अन्त साक्ष्य के द्वारा ही है। अपने ग्रन्थ 'कवित्तरत्नाकर' के प्रारभ में सेनापति ने अपना परिचय दिया है, जिसके अनुसार इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित और पिता का नाम गगाधर दीक्षित था। गगा के किनारे अनुपम वस्ती में उनका निवासस्थान था। विद्वानों में शिरोमणि, हीरामणि दीक्षित से उन्होने शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसे सेनापति सीतापति राम के उपासक थे और उनकी कविता का सभी आदर करते थे। सेनापति की कविता का प्रधान गुण श्लेष चमत्कार है और इस गुण में केशव को छोडकर अन्य हिन्दी के कवि सेनापति की समता नही कर सकते। सभग पद-श्लेप और अभग श्लेप दोनो का ही चमत्कार हमें इनकी रचना में देखने को मिलता है। 'कवित्तरत्नाकर' की पहली तरग श्लेप वर्णन में ही लगी है। श्लेप के आधार पर अनेक रोचक साम्य सेनापति ने स्थापित किए है। रामकथा गगाधर के समान, गगा में मज्जन अजन के समान, वचन ईख के समान तथा सीतापति साहु के समान इसमें देखने को मिलते है। अन्तिम श्लेप का रोचक चमत्कार देखिए—

जाके रोजनामें सेस सहसवदन पढे पावत न पार जऊ सागर सुमति को।
कोई महाजन ताकी सरि को न पूजें नभ जल थल व्यापि रहे अद्‌भुत गति को।
एक एक पुर पीछे अगनित कोठा तहाँ पहुँचत आप सग साथी न सुरति को।
वानियै वखानी जाकी हुण्डी न फिरति सोई नाहु सियरानीजू को साहु सेनापति को ॥

उपर्युक्त वर्णनो में केशव की रचना का प्रभाव दिखाई देता है।

'कवित्तरत्नाकर' की दूसरी तरग में शृगार-वर्णन है, जिसके भीतर नखशिख-सौन्दर्य, उद्दीपन, भाव, वयस्सन्धि आदि का वर्णन है। इसमें कही-कही सुन्दर चित्र है पर अधिकाश प्रयत्न शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन का है। रूप-चित्रण में भाव-साम्य या गुण-साम्य कम है, फिर भी सेनापति की रचना का अद्‌भुत प्रभाव है। एक चित्र देखिए—

नूपुर को झनकाइ मेदनी धरति पाइ, ठाढी आइ आँगन भई ही सांझी वार सी।
करता अनूप कीन्ही रानी मैन भूप की सी, राजे रासि रूप की विलास को अधार सी।

सेनापति जाके दृग दूत ह्वै मिलत दौरि, कहत अधीनता को होत है सिपारसी।
गेह को सिंगार सी सुरत सुख सार सी, सो प्यारी मानो आरसी चुभी है चित आरसी।।

सेनापति की ख्याति वास्तव में तीसरी तरग के साथ अब तक फैली है, जिसमें उन्होंने उत्कृष्ट ऋतुवर्णन प्रस्तुत किया है। शब्दार्थ-चमत्कार के साथ-साथ ऋतु के सहज और यथार्थ व्यापार वर्णित ऋतु का समा बाँधने में पूर्ण समर्थ है, साथ ही उस ऋतु में उठने वाले लोक-मानस के सहज भाव भी इन वर्णनो में तरगित हो उठते है। सेनापति के ये छद अत्यत प्रसिद्ध है, अत इनके अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नही। झमक और झूम के साथ आने वाली वर्षा ऋतु का चित्रण करने वाला एक छद है—

गगन अगन घनाघन तै सघन तम सेनापति नेक हूँ न नैन अटकत है।
दीप की दमक जीगनान की झमक छाँडि चपला चमक और सो न अटकत है।।
रवि गयो दबि मानो ससि सोऊ घसि गयो तारे तोरि डारे से न कहूँ फटकत है।
मानो महातिमिर तें भूलि परी बाट तातें रवि ससि तारे कहूँ भूले भटकत है।।

चौथी और पाँचवी तरगो में राम का चरित्र और राम-भक्ति-भावना का सुन्दर सक्षिप्त चित्रण है। इनमें शृगार, वीर, शान्त और भक्ति भाव प्रधान है। चौथी तरग रीतिकाव्य की विशेषता नही रखती। पाँचवी तरग भी ऐसी ही होती, यदि अन्त में आलकारिक चमत्कार की प्रखरता न आ जाती। यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रश्नोत्तर, द्व्याक्षर; अमात्रिक छद, शब्द चमत्कार की विशेषता से यह युक्त है।

सेनापति की कविता में उनकी प्रतिभा फूटी पडती है। एक निश्चित लय में सतुलित गति से चलती हुई पक्तियाँ नर्तकी के पद-सचार तथा वर्णों और शब्दो के ध्वनि-सौन्दर्य, नृत्य की ललित झमक और अवाध प्रवाह से युक्त है। सेनापति का शब्द-चयन उनके भाषा-सबधी असाधारण अधिकार का द्योतक है। उनकी विलक्षण सूझ छदो में उक्ति-वैचित्र्य का रूप धारण कर प्रकट हुई है जो छद को स्मरणीय वनाती है। वे अपनी उक्ति-चमत्कार से मन और बुद्धि को चमत्कृत कर देते हैं। सेनापति के छद मँजे हुए हैं। कुशल सेनापति के दक्ष सिपाहियो और ओजस्वी सैनिको की भाँति वे पुकार कर कहते हैं कि हम सेनापति के हैं।

'कवित्तरत्नाकर' की रचना स० १७०६ वि० (सन १६४९ ई०) में हुई। यह समय रीतिकाल का प्रारभ ही है। रीतिकाव्य की इस प्रथम महत्वपूर्ण रचना ने हिन्दी रीतिकाव्य को अतिशय प्रेरणा प्रदान की, इसमें सन्देह नही।

कविवर विहारी

विहारी रीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। उनकी ख्याति का आधार उनका अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' है। सस्कृत और हिन्दी के सतसई-साहित्य में 'विहारी सतसई' सर्वश्रेष्ठ है। इसकी रचना महाराज जयशाह के आदेश पर की गई, जैसा ग्रन्थ के अत में उन्होंने स्वय कहा है—

हुकुम पाय जयशाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी विहारी सतसई, भरी अनेक सवाद।।

विहारी की 'सतसई' वास्तव में भावो से भरपूर है। मुक्तक रचना होते हुए भी 'सतसई' में सतसई'कार का प्रमुख ध्यान अलकार, रस, भाव, नायिका-भेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि पर है और सभी के सुन्दर उदाहरण इसमें हैं। प्रमुखतया विहारी ध्वनिवादी जान पडते हैं। 'सतसई' का रचनाकाल सन १६६३ ई० (स० १७१९ वि०) है। 'सतसई'कार विहारी का जीवन-वृत्त भी पूर्ण ज्ञात नही है। उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। उनके पिता का नाम केशवराय था, पर वे प्रसिद्ध आचार्य केशवदास नही थे। कुछ विद्वान विहारी का जन्म सन १५९५ ई० (स० १६५२ वि०) में मानते हैं[1] जिसका आधार यह दोहा है—

सवत जुगसर रस सहित, भूमि रीति जिन लीन्ह।
कातिक सुदि वुध अष्टमी, जन्म हमहिं विधि दीन्ह।।

यह दोहा 'सतसई' की प्रामाणिक प्रतियो में नही मिलता और न यह विहारी का रचा हुआ ही जान पडता है। यह किसी टीकाकार की सूझ जान पडती है। ये अपने पिता के साथ ग्वालियर से ओडछे चले गए और वहाँ इन्होने आचार्य केशव के ग्रन्थो का अध्ययन किया। विहारी के पिता वही निधिवन की गद्दी के महत नरहरिदास के शिष्य हो गए। ओडछे के राजा इन्द्रजीत सिंह का रागरग समाप्त हो जाने पर जव केशवदास गगातट जाकर रहने लगे तो ये लोग वृन्दावन आकर रहे। विहारी का विवाह मथुरा में हुआ था। कहा जाता है कि शाहजहाँ ने मथुरा आने पर विहारी के सवध में सुना था और इन्हें आगरे वुलाया भी गया था और शाहजहाँ तथा अन्य राजाओ से विहारी को वृत्ति भी मिली थी। उसके वाद ये आमेर और जयपुर गए और वहाँ अपनी नव विवाहिता रानी के प्रेम में वशीभूत, मिर्जा राजा जयशाह से प्रसिद्ध दोहे द्वारा परिचय हुआ जिसने एक साथ महाराज जयसिंह की आँखें और विहारी का भाग्य खोल दिया। वह प्रसिद्ध दोहा इस प्रकार है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सो विध्यो, आगे कौन हवाल।।

इसके वाद 'सतसई' की रचना हुई और विहारी की ख्याति वढती गई। विहारी न केवल राजपरिवार में, वरन कवि-मडली में सम्मानित हुए। विहारी को लोक-जीवन के विविध अनुभव प्राप्त थे। उनकी रचनाओ में कही कच्चापन नही झलकता। प्रत्येक दोहा कलात्मक पूर्णता एव परिपक्वता का एक रूप है। हिन्दी के कला-प्रधान कवियो में विहारी सर्वश्रेष्ठ हैं।

विहारी की कृति सतसई-परपरा की एक उज्वल कड़ी है। 'गाथा सप्तशती' और 'आर्या सप्तशती' एव 'अमरुशतक' आदि मुक्तको से प्रेरणा लेकर विहारी ने यह एक विविध रत्नमणि-माल तैयार की है जिसकी आभा के सामने आज का भी मुक्तक साहित्य श्रीहीन लगता है। मुक्तक-साहित्य की परपरा में विहारी का स्थान शीर्ष पर है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी १८१९।

रीतिकाव्य के रूप में बिहारी की रचना आदर्श है। अलकार, रस, भाव, नायिका आदि का वर्णन इसमें है, परन्तु लक्षण नही हैं। अलकारो के कुछ सुन्दर उदाहरण नीचे लिखे दोहो में देखे जा सकते हैं—

सघन कुज छाया सुखद, सीतल मद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर।। **स्मरण**
अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट ज्योति।
हरे बाँस की बाँसुरी, इद्र धनुष रँग होति।। **तद्गुण**
केसरि कै सरि क्यो सकै, चपक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप।। **प्रतीप**
अग अग नग जगमगति, दीपशिखा सी देह।
दिया बढाए हूँ रहै, बडो उजेरो गेह।। **उपमा, अत्युक्ति**

कुछ दोहो को छोडकर समस्त 'बिहारी सतसई' में आलकारिक चमत्कार है, भाव-सौन्दर्य है, नायिका का वर्णन है, साथ ही ध्वनि-काव्य के उत्तमोत्तम उदाहरण हैं। इनको लेकर बिहारी की व्याख्या अनेक टीकाकारो ने की है। अत यह सिद्ध करने की बात नही कि बिहारी की रचना रीतिकाव्य है।

बिहारी के इस प्रकार के काव्य की निजी विशेषताएँ है। डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है कि यूरोपियन काव्य मे बिहारी के समकक्ष कोई काव्य नही मिला। बिहारी प्रेम और कला दोनो ही को महत्व देते थे। उन्होने लिखा है—

तत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रग।
अनबूडे बूडे तिरे, जे बूडे सब अग।।

बिहारी का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। यही कारण है कि उनका एक-एक दोहा हमारे अन्तस को स्पर्श करता है और आँखो के सामने एक सौन्दर्यपूर्ण प्रेमक्रीडा से भरा ससार प्रत्यक्ष कर देता है।

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार है। शब्द और वर्ण के स्वभाव की परख जितनी बिहारी को है, उतनी शायद ही किसी को हो। शब्द और वर्ण दोहो में नगो के समान जडे हैं और रत्नो के समान चमकते हैं। शब्द को माँजने, चमकाने, मोडने और सँवारने की कला में बिहारी अत्यत सिद्धहस्त हैं। इन शब्दो के द्वारा रूप प्रत्यक्ष हो जाता है।

बिहारी की रचना में व्रजभाषा इठलाती और अठखेलियाँ करती हुई चलती है। उसका अपना प्रौढ सौन्दर्य निखरा हुआ दिखाई देता है। कही-कही उसकी मस्त गति में सगीत की झलक एक विलक्षण मिठास भर देती है। कुछ उदाहरण यो हैं—

लहलहाति तन तरुनई, लचि लगि लो लपि जाय।
लगै लाँक लोयन भरी, लोयन लेति लगाय।।
अग अग नग जगमगत, दीपसिखा सी देह।
दिया बुझाए हू रहै, बडो उजेरो गेह।।

रस सिंगार मजन किए, कजन भजन देन।
अजन रजन हू विना, खजन गजन नैन॥
फिरि फिरि चित उतही रहत, टुटी लाज की लाव।
अग अग छवि झौंर में, भयो भौंर की नाव॥

विहारी की भाषा सरस, मधुर, प्राजल एव प्रौढ है।

विहारी के शब्द वस्तु, व्यक्ति या भाव का जगमगाता रूप निखार देते हैं। उनके एक-एक शब्द में रूप झाँकता है। उनके वाह्य रूप के वर्णन, वयस्सन्धि के चित्रण, आभूषण-हीन सौन्दर्य, मधुर मादकता, गदराए यौवन के मधुर रूप की झलकें जीवन के यथार्थ रूप हैं। ये चित्र कोरे काल्पनिक नही है।

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोवन अग।
दीपति देह दुहुन मिलि, दिपत ताफता रग॥
वाहि लगै लोयन लगै, कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छाँह ढिग, जोन्ह छाँह सी होति॥
भई जु तन छवि वसन मिलि, वरनि सकै सु न वैन।
अग ओप आँगी दुरी, आँगी अग दुरै न॥

विहारी की दृष्टि वडी पैनी है। विहारी के भाव-वर्णन अतीव मधुर और सजीव है और उनके सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण देते है। आन्तरिक भावनानुभूति से प्रभावित अग-चेष्टाएँ, विभिन्न व्यापार, सब का वडा ही सजीव चित्रण हुआ है जिससे ये चित्र मानस में उतर कर फिर अमिट हो जाते हैं। भाव और चेष्टाओ को चित्रित करनेवाले कुछ वर्णन देखिए—

लटपटाति सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि।
पावक झर सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि॥
मुख धोवत एँडी घँसति, हँसति अनगवति तीर।
धँसति न इन्दीवर नयनि, कालिन्दी के नीर॥
वतरस लालच लाल के, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय॥
कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु ही सव वात॥

इस प्रकार रूप और भाव के चित्रण में विहारी अद्वितीय है। प्रेम में सयोग के विविध चित्र 'सतसई' में है और वियोग की भी विलक्षण उक्तियाँ उनकी सूझ का परिचय देती है। अपने समय के प्रेम और रूप की धारणा का सफलता-पूर्वक चित्रण करते हुए भी विहारी की धारणा सौन्दर्य के चित्रण में नीचे लिखे दोहे में प्रकट हुई है—

लिखन वैठि जाकी सवी, गहि गहि गरव गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

बिहारी का काव्य हिन्दी साहित्य को अनुपम देन है। बिहारी का सौन्दर्य-चित्रण भावुक या भावुकतामय चित्रण नही, वरन जीवन का प्रौढ अनुभव रखनेवाले व्यक्ति द्वारा मानव की युवावस्था की चेष्टाओ, भावनाओ और रूपो का उद्‌घाटन है। वे अपने भावो और विचारो को सजीव कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की एक विलक्षण प्रतिभा लेकर जन्मे थे और उनके क्षेत्र में उनकी समता करने वाला कवि ढूंढने से भी मिलना सभव नही जान पडता। कवि के रूप मे वे हिन्दी साहित्य के गौरव हैं।

कविवर मतिराम

बिहारी ही के समान प्रवृत्तियो को लेकर लिखने वाले कविवर मतिराम में बिहारी की प्रौढता के स्थान पर किशोर-सुलभ सुकुमारता एव मृदुल लालित्य स्पष्ट होता है।

कोमल भावनाओ को व्यक्त करने में सुकुमार कल्पना का प्रयोग करने वाले मतिराम का काव्य भी रीतिकाव्य का प्रतिनिधित्व करता है। उनके 'ललित ललाम', 'रसराज', 'अलकार पचाशिका' आदि में यद्यपि लक्षण दिए हुए हैं, फिर भी प्रधानता उदाहरण काव्य की ही है। अत उनकी गणना रीतिशास्त्रियो से अधिक रीतिकाव्यकारो में ही होती है। ये ग्रन्थ न भी हो तब भी मतिराम की लिखी केवल 'सतसई' रीतिकाव्य का सुन्दर रूप उपस्थित करने में समर्थ है। इसमें अलकार, नायिकाभेद, रस, भाव आदि का सुन्दर वर्णन है। यो भी मतिराम एक आचार्य की अपेक्षा कवि के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी सतसई के कुछ उदाहरण यो हैं —

अटा ओर नदलाल उत, निरखो नेक निसक।
चपला चपलाई तजी, चदा तजो कलक।।
उमगी उर आनद की, लहरि छहरि दृग राह।
बूडी लाज जहाज लौ, नेह नीर निधि माह।।
तेरी औरै भाँति की, दीप शिखा सी देह।
ज्यो ज्यो दीपति जगमगति, त्यो त्यो बाढत नेह।।

ऐसे ही अनेक सुन्दर अलकारो की आभा से युक्त उदाहरण मतिराम के काव्य में पाए जाते हैं। कोमला वृत्ति एव माधुर्य ्गुण के साथ यमक का एक उदाहरण कितना सुन्दर है—

श्रम जल कन झलकन लगे, अलकनि कलित कपोल।
पलकनि रस छलकन लगे, ललकन लोचन लोल।।

ये समस्त उदाहरण काव्य के हैं जिनमें व्यग्यार्थ का चमत्कार है। नायिका की विभिन्न चेष्टाओ और दशाओ का सकेत मतिराम की विलक्षण मनोवैज्ञानिक सूझ को स्पष्ट करने वाला है। ये चित्र अत्यत मनोमोहक हैं और एक सहज अज्ञात सौन्दर्य को स्पष्ट करने वाले हैं, जैसे—

दिपै देह दीपति गयो, दीप बयारि बुझाय।
अचल ओट किए तऊ, चली नवेली जाय।।
कोपलि ते किसलय जबे, होइ कलिन ते कौल।
तब चलाइयत चलन की, चरचा नायक नौल।।

अत्युक्ति में मतिराम विहारी से कम नही है। विहारी का 'पत्रा ही तिथि पाइए' वाला दोहा अधिक प्रसिद्ध है, अब मतिराम की अत्युक्ति देखिए—

जब जब चढति अटानि दिन, चद्रमुखी यह वाम।
तब तब घर घर धरत हैं, दीप वारि सब गाम।।

विचित्र अत्युक्ति है। मै समझता हूँ, 'वर्षा ऋतु में ऐसा होता है', इतना और जोड देना चाहिए।

मतिराम में विहारी जैसी प्रौढता और पैनापन नही, पर भावुकता और कोमलता वडी मोहक है। मतिराम के अधिकाश चित्र एक युवक की दृष्टि से देखे हुए किशोरावस्था के चित्र हैं जिनमें अल्हड सुकुमारता और नवलता है। कवि को सुकुमार भावुकता ने इन्हें स्मरणीय बना दिया है। सौन्दर्य परखने की दृष्टि मतिराम की वडी ही वारीक है।

यौवन के सहज सुलभ चित्रणो से मतिराम की रचना सपन्न है। रूप और गुणो को एक साथ पाकर मनुष्य रीझ जाता है। रूप और गुणो पर रीझने वाली एक अल्हड मुग्धता का भाव नीचे लिखे छद में व्यक्त हुआ है—

मोरपखा मतिराम किरीट में, कठ बनी बनमाल सुहाई।
मोहन की मुसुकानि मनोहर, कुडल डोलनि में छवि छाई।
लोचन लोल विसाल विलोकनि, को न विलोकि भयो बस भाई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौ, मीठी लगै अँखियान लुनाई।।

सहज रूप और चढती युवा का प्रभाव सब पर पडता है। मतिराम की नायिका की धारणा में इन दोनो विशेषताओ का समावेश है। मन पर पडे मुग्ध करने वाले प्रभाव का विश्लेषण रूप की सहज झलको के साथ नीचे लिखे एक छद में कितनी सफलता के साथ हुआ है —

कुदन को रग फीको लगै झलकै असि अगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मजु विलासन की मधुराई।
को विन मोल विकात नही मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।।
ज्यो ज्यो निहारिए नीरे ह्वै नैननि त्यो त्यो खरी निकरै सी निकाई।।

रूप और प्रेम से भरे उपर्युक्त चित्र मतिराम की प्रमुख प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं। सौन्दर्य के पारखी और सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले मतिराम हिन्दी रीति काव्य के श्रेष्ठ कवियो में से है। मतिराम की कविता का हृदय पर एक सुष्ठु सुकुमार प्रभाव पडता है, जो उनके कोमल एव कला-प्रिय व्यक्तित्व का परिचायक है।

कविरत्न भूषण

यद्यपि भूषण मतिराम के भाई थे पर उनकी प्रवृत्ति इनसे विलकुल भिन्न है। रीति-परपरा का पालन भूषण ने ओजपूर्ण वीरकाव्य लिखकर किया है। उन्होने रीतिकाव्य की शृगारिक परपरा का निर्वाह न करके वीर-परपरा का मार्ग प्रशस्त किया है। यद्यपि वीर रस को

लेकर लिखने वाले रीतिकाल में और भी कवि हैं, पर रीति-परपरा को लेकर वीर काव्य के प्रणेता भूषण ही हैं और इस दृष्टि से इनका रीतिकाव्य के भीतर अद्वितीय स्थान है। इस भाव को लेकर लिखी गई भूषण की रचना में सौन्दर्य द्रष्टव्य है। 'शिवराजभूषण' में अलकारो के उदाहरण रूप ही काव्य-रचना है, पर उसमें भाव, रस, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। वीर भाव को लेकर नायिका-भेद सभव नही, अत प्रमुखतया इनका मार्ग अलकार का ही रहा। भूषण में प्रधान है ओजगुण और वीर रस। ीर रस से सबधित अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र भी 'शिवराजभूषण' में प्रस्फुटित हुए हैं। इस प्रकार भूषण ने अपने युग की परपरा का पालन विलक्षण ढग से किया है, इसीलिए वे इतने प्रसिद्ध हैं। भूषण की प्रतिभा प्रचड है, साथ ही उनकी सूझ बारीक। इन दोनो ही विशेषताओ ने मिलकर उनके काव्य को सहज प्रभावशील बना दिया है। एक उदाहरण देखिए—

> बाने फहराने घहराने घटा गजन के, नाँही ठहराने रावराने देस देस के।
> नग भहराने ग्राम नगर पराने सुनि, बाजत निसाने सिवराजजू नरेस के।
> हाथिन के हौदा उकसाने कुभ कुजर के, भौन को भजाने अलि छूटे लट केस के।
> दल के दरारे हुते कमठ करारे फूटे, केरा के से पात बिहराने फन सेस के॥

वीर के चार रूप—दान, धर्म, दया और युद्ध—माने जाते हैं। 'शिवराजभूषण' के एक छद में चारो भावो के उदाहरण एक साथ मिलते हैं, देखिए—

> दान समै द्विज देखि मेरहू कुबेरहू की, सपति लुटाइबो को हियो ललकत है।
> साहि के सपूत सिवसाहि के बदन पर, सिव की कथान में सनेह झलकत है।
> भूषन जहाँन हिंदुवान के उबारिबे को, तुरकान मारिबे को बीर बलकत है।
> साहिन सो लरिबे की चरचा चलति आन, सरजा के दृगन उछाह छलकत है॥

उत्साह स्थायी भाव के उपयुक्त चारो रूप इस छद की पक्तियो में एक साथ देखने को मिलते हैं।

भूषण को मतिराम की भाँति रीति-कवि ही मानना चाहिए, क्योकि इनका प्रमुख उद्देश्य शास्त्र-विवेचन नही, वरन् काव्य-रचना है। अत काव्य-प्रतिभा-प्रधान इस प्रकार के लेखक प्रधानतया कवि ही हैं, आचार्य नही। रीति-परिपाटी पर रचना करते हुए भी इनकी प्रमुख देन काव्य के क्षेत्र में ही है, शास्त्र में नही।

भूषण की विशेषता रीति-परपरा पर वीर रस से सबधित ओजपूर्ण कविता करने में है और इस दृष्टि से भूषण अद्वितीय हैं।

महाकवि देव

देवदत्त का जन्म सन १६७३ ई० (स० १७३० वि०) में हुआ था। 'भाव-विलास' की रचना देव ने १६ वर्ष की अवस्था में की, जैसा कि अन्त में दिए दोहो से प्रकट है —

> शुभ सत्रह से छियालिस, चढत सोरही वर्ष।
> कढी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष॥

दिल्लीपति अवरग के, आजमसाह सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्ट याम सपूत॥

'भावविलास' में भाव, नायिका-भेद, अलकार तीनो का वर्णन है। मिश्रबन्धुओ की खोज के अनुसार ये इटावा के रहनेवाले थे। अब भी मैनपुरी में उनके वशज रहते हैं। भवानीदत्त ैश्य के आश्रय में इन्होने 'भवानी-विलास' लिखा। कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल-विलास', उद्योतसिंह के लिए 'प्रेमचन्द्रिका' तथा भोगीलाल के लिए 'रस-विलास' ग्रन्थ बनाए। 'रस-विलास' की रचना सन १७२६ ई० (स० १७८३ वि०) में हुई। देव के कुल ७५ ग्रन्थ माने जाते हैं जिनमें २७ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। देव को आचार्य और कवि दोनो ही रूपो म सफलता प्राप्त हुई।

मौलिकता और कवित्व शक्ति दोनो ही देव की रचनाओ में देखने को मिलती हैं। भाव की विवृति, सूक्ष्म निरीक्षण, भाषा और शब्द की प्रकृति का ज्ञान, छद की मोहक गति, सरसता और उक्ति-चमत्कार सब मिलकर देव की रचना की विशेषता को बखानते हैं। मानव-मनोभावो की देव को अत्यन्त सूक्ष्म परख है। इनके भाव-वर्णन के प्रसगो में उनके साकार चित्रण देखे जा सकते हैं। शब्दो की विशेष गति से युक्त एक रूप का चित्रण और उसका प्रभाव नीचे लिखे छद में देखने को मिलता है—

आई बरसाने ते बोलाई ृपभानु सुता,
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गई।
चक तकवानि के चका पै चक चोटन सो।
चौकत चकोर चकचौधा सो चकै गई॥
नंदजू के नदजू के नैननि अनदमई।
नदजू के मदिरनि चदमई छै गई॥
कुजनि कलिनमई गुजनि अलिनमई।
गोकुल की गलिन नलिनमई कै गई॥

प्रेम स्थायी भाव का चित्रण मिलन की उत्कठा और व्याकुलता के साथ नीचे लिखे छद में कितनी सजीवता के साथ हुआ है—

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
'देव' गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियरात सुधा छिरकी सी।
नीके झरोखे ह्वै झांकि सकै नहिं नैननि लाज घटा घिरकी सी।
पूरन प्रीति हिए हिरकी खिरकी खिरकी में फिरै फिरकी सी॥

सयोग की विविध स्थितियो और वियोग की दशाओ का मर्मस्पर्शी चित्रण देव ने किया है। वियोग की 'व्याधि' दशा का चमत्कारी चित्रण यहाँ प्रस्तुत है—

लाल बिदेस बियोगनि बाल वियोग की आगि जई झुरि झूरी।
पान सो पानि सो प्रेमकहानी सो प्रान ज्यो प्राननि यो मत हूरी।

'देव' जू आजुहि ऐबे को औधि सु बीतत देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठाइबे उडाइबे को उडि काग गरे परी चारिक चूरी।।

रस और भाव की समृद्धि तो देव के काव्य में उमडी पडती है, पर देव की रसिकता केशव की ही भाँति है जिसमें वीर, भयानक आदि रस भी शृगार के ही सहायक रस से हैं। इनकी स्वतंत्र परिस्थिति का वर्णन न करके नायक-नायिका के प्रसग में ही इन रसो का वर्णन है जो मजाक सा लगता है। भयानक रस का एक उदाहरण देखिए—

कजन बेलि सी नील बधू जमुना जल केलि सहेलिन आनी।
रोमावली नवली कहि 'देव' सु गोरे से गात नहात सुहानी।
कान्ह अचानक बोलि उठे उर वाल के ब्याल बधू लपटानी।
धाइ के धाइ गही ससवाइ दुहूँ कर झारति अग अयानी।।

यह भयानक रस का वर्णन क्या है, उसकी हँसी है। इसका साधारणीकरण नही हो सकता, यद्यपि आश्रय के लिए विभावानुभाव सचारी सभी मौजूद है। वास्तव में रीतिकालीन कवियो की प्रमुख दक्षता शृगार-निरूपण में ही है। इसके अतिरिक्त देव इस मत के भी हैं कि शृगार ही रस है, अन्य रस उसके अग मात्र हैं।

सौन्दर्य-वर्णन में देव की कल्पना बडी सजग है और अनेक मनोमोहक चित्रो का सग्रह करने में वह सफल हुई है। एक गर्वस्वभावा स्वकीया के स्वरूप का चित्रण नीचे लिखे छद में दर्शनीय है—

गोरे मुख गोरहरे हँसत कपोल बडे,
लोयन विलोल बोल लोने लीन लाज पर।
लोभा लागे लाल लखि सोभा कवि देव छवि,
गोभा से उठत रूप सोभा समाज पर।
बादले की सारी दरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमक चहूँ ओरन,
ज्यो तोरन तरैयन की तानी दुजराज पर।।

उत्प्रेक्षा का यहाँ सुन्दर चमत्कार है। इसी प्रकार कल्पना-चमत्कार देव ने अधिकाश दिखलाया है। राधा और उनकी सखियाँ स्फटिक मदिर में किस प्रकार की शोभा पा रही हैं, देव की कल्पना में आई उस शोभा का एक दृश्य नीचे लिखे छद में अकित हुआ है—

फटिक सिलान सो सुधार्यो सुधामन्दिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखैए 'देव',
दूध कैसो फेन फैलो आँगन फरसबद।

तारा सी तरुनि तामैं ठाढी झिलमिल होत,
मोतिन की माल मिली मल्लिका को मकरन्द।
आरसी से अवर में आभा से उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका के मुखचद सो लगत चद।।

उपर्युक्त उदाहरणो से देव की प्रतिभा पर प्रकाश पडता है। वे एक उत्कृष्ट कोटि के कवि थे, पर उनका काव्य का माध्यम कवित्त, सवैया होने से अनेक शब्द केवल छन्दपूर्ति के हेतु ही आए हैं। सेनापति और बिहारी की सी चुस्ती देव के छदो में नही है, पर भाव की विवृति और रूप का विशद चित्रण देव की कविता में खुलकर हुआ है।

रीतिकाव्य के अतर्गत घनानद, मडन, दीवान पृथ्वीसिंह, रसनिधि, आलम, नागरीदास, दास, रसपीन, ठाकुर, पूरवी, कलानिधि, बोधा आदि की रचनाएँ हैं। मडन की रचनाएँ उपलब्ध नहीं। इनके रचे ग्रन्थ 'रसरत्नावली', 'रसविलास', 'जनकपचीसी', 'जानकी जू का विवाह', 'नैनपचासा', 'पुरन्दर माया' हैं। मिश्रबन्धुओ के अनुसार, इनका जन्म जैतपुर, बुन्देलखड मे स० १६९० वि० (सन १६३३ ई०) में हुआ था। इनकी कविता के नमूने सग्रहो में या मौखिक रूप में मिलते हैं। इनकी कविता सरस और मधुर है। इनका एक बडा प्रसिद्ध छन्द है जो वचन-विदग्धा नायिका का चित्र खीचता है —

अलि हौं तो गई जमुना जल को सु कहा कहौं बीच विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई इतने ही में गागरि सीस धरी।।
रपट्यो पग घाट चढ्यो न गयो कवि 'मडन' ह्वै कै विहाल गिरी।
चिरजीवहु नद को बारो अरी गहि बाँह गरीब ने ठाढी करी।।

कविवर घनानन्द

घनानद का जन्म सन १६५८ ई० (स० १७१५ वि०) के लगभग माना जाता है। ये दिल्ली के रहने वाले कायस्थ थे। ये फारसी के विद्वान और बादशाह के दफ्तर में साधारण नौकरी पर थे, पर पीछे अपनी योग्यता के बल पर ये दिल्लीश्वर मुहम्मदशाह के प्राइवेट सेक्रेटरी हो गए। बाल्यावस्था से ही इन्हें रासलीला देखने का चाव था जिसके फलस्वरूप इनके हृदय में कृष्ण की प्रेमाभक्ति जाग्रत हुई। कहते हैं कि इनका सुजान नामक वेश्या से प्रेम था और उसी के कारण ये अपनी नौकरी से निकाले गए। फलस्वरूप इनमें वैराग्य जाग्रत हुआ। वहाँ से ये वृन्दावन गए और निम्बार्क सप्रदाय में दीक्षित होकर कृष्ण-भक्ति की साधना करने लगे। १७३९ ई० (स० १७९६ वि०) में नादिर शाह के मथुरा आक्रमण के समय ये मारे गए थे। घनानद बडे प्रेमी जीव थे। इनका लौकिक प्रेम अन्ततगत्वा प्रेमा भक्ति में परिणत हो गया।

घनानद का ध्यान अलकार, रीति, वक्रोक्ति, नायिका-भेद, रसभाव आदि की ओर नहीं है, फिर भी इनकी रचना में आलकारिक चमत्कार तथा शृगार के सयोग और वियोग दोनो ही पक्षो का इतना विदग्ध वर्णन है कि रीति-परपरा का प्रभाव उसमें लक्षित होता है। सवैया और कवित्त पद्धति को ही इन्होने प्रमुखतया अपनाया है। भक्तो का प्रमुख माध्यम पद रहा है। पर

इन्होंने लिखे हैं और उनमें रीति काव्य का प्रभाव नहीं, पर कवित्त सवैयो मे उसका प्रभाव अवश्य है। घनानद मे रीति काव्य की दूसरी विशेषता है सजग अभिव्यजना। सरल मधुर ब्रजभाषा में घनानद के कवित्त का एक एक शब्द चुन चुन कर रखा जान पडता है और बडा ही मार्मिक प्रभाव डालता है। घनानद एक कुशल कवि थे, केवल भक्तिभाव-वश ही कविता इन्होंने नही की, वरन् प्रेम की विदग्धतापूर्ण विवृति हुई है। यह इनके 'सुजानसागर' के प्रारभ में लिखे एक सवैया से प्रकट होता है—

> नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ सुदरतानि के भेद को जानै।
> जोग वियोग की रीति में कोविद भावना भेद सरूप को ठानै।
> चाह के रग में भीज्यो हियो बिछुरै मिले प्रीतम साँति न मानै।
> भाषा वीन सुछद सदा रह सो घन जी के कवित्त बखानै॥

घनानद ने रूप और भाव का चित्रण बिलकुल रीति काव्य की पद्धति पर किया है जो बडा ही मार्मिक है और रीति-परपरा की काव्य-सबधी विशेषताओं से ओतप्रोत है। नायिका के रूप और भाव-सौन्दर्य के चित्रण के समान ही घनानन्द के छन्दों में चित्र आए हैं, यथा—

> लाजनि लपेटी चितवनि भेदभाय भरी,
> लसति ललित लोल चख तिरछानि में।
> छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल,
> रस निचुरत मीठी मृदु मुसुक्यानि मैं।
> दसन दमक फैलि हिए मोती माल होत,
> पिय सो लडकि प्रेम पगी बतरानि में।
> आनद की निधि जगमगति छबीली बाल,
> अगनि अनग रग ढुरि मुरजानि मैं॥

इसमें प्रेम का भाव, अनुभाव, सचारी आदि के साथ रूप का चित्रण है। इसी प्रकार वियोग का भाव छदो में अनुभूति-संकुल उक्ति-चमत्कार के साथ देखने को मिलता है। घनानन्द के काव्य में विशेषता इस बात की है कि अभिव्यक्ति अत्यन्त प्रौढ है, मार्मिक, सहज और प्रभावपूर्ण है। ऐसा जान पड़ता है कि उस भाव की इससे अच्छी अभिव्यक्ति हो ही नही सकती जैसी इन छदो में हुई है।

घनानन्द की रचना में भाव और कला दोनो का ही ऐसा सामजस्य है कि कोई पक्ष दूसरे से घटकर नही। इस प्रकार की विशेषता कवित्त-सवैयो में भरने में घनानन्द को लगभग वही सफलता प्राप्त हुई है जो विहारी को दोहो की रचना में मिली है।

घनानन्द रीति ग्रन्थ का उद्देश्य न रखते हुए भी रीति काव्य से अप्रभावित न थे और उनका काव्य सेनापति, देव आदि की भाँति काव्य की समस्त विशेषताएँ अपनाए हुए है।

भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास कवि रूप में भी अति प्रसिद्ध हैं। अपने ग्रन्थो में इन्होंने ध्वनि,

अलकार, रस, नायिका-भेद, छद आदि के लक्षण और विवेचन प्रस्तुत किए है, परन्तु इनके उदाहरणो में आई हुई कविता रीति-काव्य का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है। दास जी अरवर, प्रतापगढ जिले के ट्योगा ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम कृपालदास और पितामह का नाम वीरभानु था। इनके पुत्र अवधेश लाल और पौत्र गौरीशकर थे। इनके वाद इनका अश आगे नही चला। प्रतापगढ के राजा पृथ्वी सिह के भाई हिन्दूपति सिह के आश्रय में इन्होने अपनी रचनाएँ की। दासजी का रचना-काल स० १७८५ से १८०५ वि० (सन १७२८-५० ई०) तक माना जाता है।

दासजी का काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट और ललित है। एक दो छदो में खडी वोली का पुट भी मिलता है, पर इनकी अधिकाश रचना व्रजभापा में है। व्रजभापा पर इनका प्रशसनीय अधिकार है। शव्द-चमत्कार के साथ साथ अर्थ-गौरव भी इनकी रचना का प्रधान लक्षण है। दासजी की रचना में अनेक स्थलो पर इनकी सूझ और कल्पना की सराहना करनी पडती है। इनकी रचना में उक्ति-वैचित्र्य के साथ साथ भाव का सरल स्वाभाविक रूप में वर्णन भी हुआ है। विरह-वर्णन का एक छद देखिए—

नैननि को तरसैए कहाँ लौ कहाँ लौं हियो विरहागि में गइए,
एक घरी न कहूँ कलपैए कहाँ लगि प्रानन को कलपइए।
आवै यही अव जी में विचार सखी चलि सौतिन के गृह जइए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पइए॥

उपर्युक्त छद में विरह की असह्य व्याकुलता का चित्रण किया गया है।

दास जी के ध्वनि, रस और अलकारो के उदाहरण में आए छद रीति काव्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करते है। एक असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि का सुन्दर उदाहरण नीचे के छन्द में देखने को मिलेगा जिसमें शव्द-शक्ति से पूर्व सयोग शृगार व्यग्य है—

जाति हौं जौं गोकुल गोपाल हू पै जैयो नेकु आपनी जो चेरी मोहि जानती तू नही है।
पाय परिटापु ही सो वूझियो कुसल छेम मोपै निज ओर तें न जाति कछु कही है।
दासजू वसन्त हू के आगमन आयो जो न तिनसो सँदेसन की वात कहा रही है।
एतो सखी कोवी यह अन वौर दौवी अरु कहिवी वा अमरैया राम राम कही है॥

इसी प्रकार दासजी के अलकार के उदाहरण के रूप में आए छन्द भी वडे चित्ताकर्पक है। उन्होने विभिन्न अलकारो के भेद-प्रभेद विस्तार से दिए है। उनके उदाहरण कवित्व-पूर्ण और स्पप्ट है। आर्थी उपमा के प्रसग में इन्होने वहुधर्ममयी पूर्णोपमा का एक उदाहरण यह दिया है—

काढ़ि कै निसक पैठि जाति झुड झुडन में,
लोगनि को देखि दास आनद पगति है।
दौरि दौरि जाहि ताहि लाल करि डारति है,
अग लगि कठ लगिवे को उमगति है।

चमक झमकबारी उमक जमकबारी,
दमक तमकबारी जाहिर जगति है।
राय असि रावरे की रन में नरन में,
निलज्ज बनिता सी होरी खेलन लगति है।

इस प्रकार भिखारी दास जी के काव्य में प्रौढ प्रतिभा के दर्शन होते है। इनके अनेक छद रीति-काव्य का उत्कृष्ट रूप व्यक्त करते है।

आलम, पूरबी, रसनिधि, नागरीदास, बोधा आदि के काव्य में रीति-काव्य का प्रभाव परिलक्षित होता है और यो तो असख्य लेखको ने इस पद्धति पर अपने काव्य लिखे है जिनके नाम गिनाने की आवश्यकता नही। केवल प्रतिनिधि कवियो का विवेचन ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। आलम पर सूफी मत का प्रभाव है और बोधा प्रेममार्ग के स्वच्छद कवि है। रसनिधि, दीवान पृथ्वीसिह और नागरीदास प्रधानतया भक्ति-भावना से युक्त है। इनकी दृष्टि में कविता करते समय रीतिशास्त्र का ध्यान नही है और न इनकी रचनाएँ ही उस साँचे मे ढली है।

रसलीन

दास जी के समकालीन रीति-काव्य की रचना करने वाले कवियो में सैयद गुलाम नबी उपनाम 'रसलीन' को भुलाया नही जा सकता। ये जिला हरदोई के विलग्राम नगर के रहने वाले थे। ये अरबी-फारसी के विद्वान् और भाषा काव्य में निपुण थे। इनके लिखे दो ग्रन्थ मिले हैं—'अगदर्पण' और 'रसप्रबोध'। 'अगदर्पण' की रचना स० १७९४ वि० (सन १७३७ ई०) में हुई थी जिनमे १०० दोहो में नखशिख-वर्णन है तया 'रस-प्रबोध' में रस-भाव वर्णन विस्तार से हुआ है। उद्दीपन के अन्तर्गत 'बारहमासा' भी है। रसलीन का काव्य बडा ही चुटीला और उक्ति-चमत्कार तथा सूझ के कारण इनके दोहे अत्यन्त प्रसिद्ध है। अगो के चित्रण करने वाले कुछ दोहे निम्नाकित है—

कत देखाय कामिनि दई, दामिनि को यह बाँह।
थरथराति सो तन फि॰, फरफराति घन माँह॥
अमिय हलाहल मद भरे, सेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥
कुमति चद प्रति द्योस वढि, मास मास कढ़ि आय।
तव मुख मधुराई लखे, फीको परि घटि जाय॥
रमनी मन पावत नही, लाज प्रीति को अत।
दुहूँ ओर ऐंचो रहै, जिमि विवि तिय को कत॥

रसलीन के काव्य का चमत्कार नीचे लिखे एक श्लेषपूर्ण मुद्रालकार से युक्त सोरठे से व्यक्त हो जायगा—

पीतम चले कमान, मोका गोसा सौंपि के।
मन करिहौं कुरवान, एक तीर जव पाइहौं।।

वेनी प्रवीन

१९ वी विक्रमी के अन्त में लखनऊ निवासी वेनी प्रवीन की रचनाएँ रीति काव्य का सुन्दर उदाहरण हैं। इनका समय मिश्रवन्धुओं[1] ने स० १८५६ से १८७५ वि० (सन १७९९-१८१८ ई०) तक माना है। ये कान्यकुब्ज वाजपेयी थे और इन्होने लखनऊ के नवाव गाजी उद्दीन हैदर के दीवान दयाकृष्ण के पुत्र नवलकृष्ण के लिए 'नवरस तरग' की रचना स० १८७४ वि० में की। इनके अन्य ग्रन्थ 'श्रृंगार-भूषण', 'नाना राव प्रकाश' भी है, पर 'नवरस तरग' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अन्तिम अवस्था में ये अर्वुद गिरि (आवू) पर चले गए थे और वही इनका शरीरपात हुआ था। इन्हें इनके सम-कालीन प्रसिद्ध भँडौआ लेखक वेनी वदीजन ने 'वेनी प्रवीन' की उपाधि दी थी।

वेनी प्रवीन वडे ही सरस कवि है। इनकी रचना मतिराम और पद्माकर के समकक्ष ठहरती है। 'नवरस तरग', वास्तव में, शास्त्र ग्रन्थ न होकर काव्य ग्रन्थ ही है। इनकी भाषा चलती हुई व्रजभाषा है और ग्रन्थ में ललित और सुन्दर भावाभिव्यक्ति है। भावो की अभिव्यजना वडी सुन्दर है। इनका एक प्रसिद्ध छद है। इसमें अज्ञातयौवना का चित्र अकित किया गया है—

कालि ही गूथि ववा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति माला।
आई कहाँ ते इहाँ पुखराज की सग गई जमुना तट वाला।
न्हात उतारी हौं वेनी प्रवीन हँसे सुनि वैनन नैन रसाला।
जानति ना अग की वदली सव सो वदली वदली कहै माला।।

इसी प्रकार के यौवन के विकास एव श्रृगार के मोहक चित्रो से 'नवरस तरग' भरी है। भाव वर्णन के समान ही आलकारिक सौन्दर्य भी इनके काव्य में देखने को मिलता है, नीचे लिखा छद उसका साक्षी है—

मानव वनाए देव दानव वनाए यक्ष किन्नर वनाए पशु पक्षी नाग कारे हैं।
दुरद वनाये लघु दीरघ वनाए केते सागर उजागर वनाए नदी नारे हैं।
रचना सकल लोक लोकन वनाए ऐसी जुगति में वेनी परवीनन के प्यारे हैं।
राधे को वनाय विधि धोयो हाथ जाम्यो रग ताको भयो चद कर झारे भए तारे हैं।।

उपर्युक्त पद में हेतु की कल्पना कितनी चमत्कारपूर्ण है। वेनी के छद इसी प्रकार के चमत्कार और भावुकता से पूर्ण हैं।

पद्माकर

रीतिकाव्य के अन्तिम प्रतिभासम्पन्न कवियो में पद्माकर का नाम अग्रगण्य है। इनके ग्रन्थ 'जगद्विनोद' तथा फुटकल छदो में रीतिकाल की प्रवृत्तियो का सुन्दर परिचय मिलता है। पद्माकर

---

१. मिश्रवन्धुविनोद, भाग २, पृष्ठ ८३९।

में भावविवृत्ति की विलक्षण शक्ति है और उसके विविध चित्रों के दर्शन हमें उनके काव्य में मिलते हैं। वैसे इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में भाव का और 'गगालहरी' में भक्ति-भावना का चित्रण कर यह स्पष्ट कर दिया है कि इनकी प्रतिभा केवल श्रृंगार में ही सीमित नही है। 'जगद्विनोद' के रस-वर्णन के प्रसगो में भी इनके वीर, भयानक, हास्य, वीभत्स आदि के चित्रण प्रभावपूर्ण हैं। हास्य रस का एक प्रसिद्ध छन्द है —

हँसि हँसि भाजै देखि दूलह दिगवर को,
पाहुनी जे आवैं हिमाचल के उछाह में।
कहै पद्माकर सु काहू सो कहै को कहा,
जोई जहाँ देखै सो हँसेई तहाँ राह मे।
मगन भएऊ हँसे नगन महेस ठाढे,
औरे हँसे येहू हँसि हँसि के उमाह मे।
सीस पर गगा हँसै भुजनि भुजगा हँसै,
हास ही को दगा भयो नगा के विवाह में।।

यहाँ 'हास' शब्द वाचक होने से प्रभाव अधिक नही पडता, पर कवि ने हास्य की परिस्थिति का खुल कर वर्णन किया है। पद्माकर ने विविध ऋतुओ के अनुकूल दृश्यावली का वर्णन भी किया है जो भाव के उद्दीपन का कार्य करती है। सावन के हिंडोले का एक चित्र नीचे के छद मे इस प्रकार है—

भौंरन को गुंजन विहार वन कुजन मे, मजुल मलारन को गावनो लगत है।
कहै पद्माकर गुमान हूते प्रान हूते प्यारो मनभावनो सुहावनो लगत है।।
मोरन को सोर घनघोर चहुँ ओरन हिंडोरन को बृद छवि छावनो लगत है।
नेह सरसावन में मेंह वरसावन में सावन झूलिवो सुहावनो लगत है।।

पद्माकर के अधिकाश चित्र आनन्द उल्लास के है। उनके द्वारा चित्रित व्रजमडल के फाग के दृश्य वासती मस्ती का चित्रण करने वाले है। परन्तु इन चित्रणो में जहाँ ऋतु-सुलभ उद्दीपन है, वही पर भावरूप एव चेष्टा-सौन्दर्य भी अत्यन्त मार्मिक ढग से व्यक्त हुआ है। 'नैन नचाय कही मुसक्याइ लला फिरि आइयो खेलन होरी' वाली पक्ति तो इनकी अत्यन्त प्रसिद्ध है। नीचे लिखे छद में होली खेलने के उपरात का एक आकर्षक चित्र है—

आई खेलि होरी भरे नवल किसोरी कहूँ बोरी गई रग में सुगधिन झकोरै है।
कहै पद्माकर इकत चलि चौकी चढ़ि हारन के वारन ते फद वद छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सू अरुन दुवीचे दावि आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दतन अधर दावि दूनरि भई सी चापि चौवर पचौवर कै चूनरि निचोरै है।।

यह एकान्त का रूप भी पद्माकर की आँखो से न वच सका। भाव और चेष्टाओ के ऐसे लुभावने चित्रणो के पद्माकर धनी है। सचारी भावो में आवेग का चित्रण करते हुए उन्होने लिखा है—

आई मग ग्वालिन के ननद पठाई नीठि सोहति सोहाई सीस ईंगुरी सुपट की।
कहै पद्माकर गभीर जमुना के तीर लागी घट भरन नवेली नेह अँटकी।
ताही समै मोहन सु बाँसुरी बजाई तामें मधुर मलार गाई और बसीवट की।
तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की घाट की न औघट की बाट की न घट की।।

पद्माकर के इन चित्रो के प्रभाव के साथ साथ अनुप्रास-बाहुल्य भी उनके काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। एक ही वजन के एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले शब्द पद्माकर के काव्य में खूब मिलते है। कही कही तो इन्होने आनुप्रासादिक शब्द-विशेषता के पीछे अर्थ को ही छोड दिया है। इनके ऋतु-वर्णन में इस प्रकार का शब्द-चमत्कार विशेषतया दर्शनीय है। पद्माकर ने इस गुण में देव और सेनापति के मार्ग का अनुसरण किया है पर उनका सा अर्थ-गौरव पद्माकर के ऐसे काव्य में नही आ पाया। पद्माकर रीति-काव्य के सिद्धहस्त एव चमत्कारी कवि थे। इसी से उनका प्रभाव समवर्ती कवियो पर काफी है।

रीतिकाव्यकारो में बीसवी शताब्दी विक्रमीय के प्रारभ के समय में नवीन, चन्द्रशेखर और ग्वाल का नाम भी उल्लेखनीय है। नवीन ने शृगारपूर्ण, तथा चन्द्रशेखर ने वीर और शृगार दोनो ही पर काव्य-रचना की है। परन्तु इन सबसे अधिक प्रसिद्धि ग्वाल को मिली थी।

कविवर ग्वाल

ग्वाल भी पद्माकर की परिपाटी पर है। इनके रचे १३ ग्रन्थ खोज रिपोर्टो द्वारा ज्ञात हुए है जिनमें कुछ तो भक्ति-सबधी और शेष अलकार, रस, तथा नायिका-भेद पर है। इनका 'कृष्णजी का नखशिख' प्रसिद्ध है, पर उसमें बलभद्र मिश्र के 'नखशिख' की भाँति उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, सदेह आदि अलकारो की भरमार में स्वाभाविक अग-सौंदर्य प्रकट नही हो पाया। 'अलकार-भ्रम-भजन,' 'कवि दर्पण' आदि अलकार पर, 'रसरग,' 'रसिकानद' रस और नायिका-भेद पर लिखे ग्रन्थ है। कृष्ण के नखशिख वर्णन से एक दसन-सौन्दर्य-वर्णन का छन्द नीचे दिया जाता है—

कैधौ पके दाडिम के बीज परिपूरन है परम पवित्र प्रभा पुज लमकत है।
कैधौ भूमिसुत के अनेक तारे तेजवारे बाँधि के कतारे झलामल झमकत है।
ग्वाल कवि कैधौ पचवान जौहरी को जो ललित ललाई लिए मणि चमकत है।
कैधौ वृषभान की लडैती प्रान प्रीतम के पान पीक पागे ये दसन दमकत है।।

ग्वाल की रचना मे कल्पना का पुट विशेष है। इनकी भाषा अधिक प्राजल न होकर बाजारूपन लिए है, फिर भी इनके वर्णन सुन्दर है। शरद ऋतु की चन्द्रिका का एक वर्णन है—

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही घोर हू रही न घनघने या फरद की।
अबर अमल सर सरिता विमल भल पक को न अक औ न उड़न गरद की।
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए पथिन की दूरि भई दूषन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की।।

इसमें सदेह नही कि ग्वाल की रचना में रीतिकाव्य की समस्त विशेषताएँ देखने को मिलती है। भाषा-चमत्कार, शृगार, अलकार, नायिका-भेद—सबके उदाहरण इनके काव्य में है। इनका

रचना-काल स० १८७९ से १९१८ वि० (सन १८२२–६१ ई०) तक माना जाता है। अत ये रीतिकाल के अन्तिम कवियो में है।

इस प्रकार रीतिकाव्य के अन्तर्गत हिन्दी की सरस रचनाएं रची गई है। रीतिकाव्य की परपरा आधुनिक युग में भी चलती दिखाई देती है। परतु वर्तमान काल में इस प्रकार की रचनाओ को वह प्रेरणा और सम्मान न मिला जो उत्तर मध्य युग में इन्हें प्रदान किया गया। राजनीतिक परिस्थितियो के परिवर्तन के साथ काव्य के क्षेत्र में नूतन प्रवृत्तियो का विकास हुआ। प्रमुख परिवर्तन इसलिए उपस्थित हुआ कि आगे रीति-कवियो द्वारा परिमार्जित व्रजभाषा के स्थान पर खडीबोली का प्रयोग काव्य में स्वीकार हुआ। अत रूप और तथ्य दोनो ही दृष्टियो से आधुनिक काव्य रीतिकाव्य से भिन्न है।

ख. रीतिशास्त्र

हिन्दी रीतिशास्त्र का तात्पर्य सस्कृत काव्यशास्त्र के रीति-सिद्धान्त से नही है। रीति को काव्य की आत्मा के रूप में मान कर काव्य का विश्लेषण करना हिन्दी रीति-शास्त्र का उद्देश्य नही, वरन इसका अर्थ सस्कृत अलकारशास्त्र के समान व्यापक है। इस प्रकार से रीतिशास्त्र और रीतिकाव्य का जो वास्तविक अर्थ सस्कृत में है उससे कुछ भिन्न और विशिष्ट अर्थों में हिन्दी साहित्य के भीतर इन शब्दो का प्रयोग किया गया है। सस्कृत रीतिशास्त्र का अर्थ रीति-सिद्धान्त-सबधी चर्चा करने वाला शास्त्र है। विशेष प्रकार की चमत्कारपूर्ण पद-रचना रीति[1] मानी गई है। सस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य वामन के द्वारा रीति उसी प्रकार काव्य की आत्मा मानी गई[2] जिस प्रकार अन्य आचार्यों द्वारा रस और ध्वनि। इस दृष्टिकोण से रीतिशास्त्र के अन्तर्गत केवल वही ग्रन्थ आ सकते है जिनमें रीति को काव्य की आत्मा मानकर काव्य के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। परन्तु हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारो, विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ने हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल की सज्ञा प्रदान करते हुए रीति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होने रीति या मार्ग को सस्कृत की उपलब्ध धारणा से भिन्न काव्य-रीति या काव्य-लक्षण के रूप में ग्रहण कर उस काल को रीति-काल कहा है जिसमें इस प्रकार के काव्य-लक्षण देने वाले ग्रन्थो के लिखने की प्रमुख प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसी दशा में रीतिशास्त्र के अन्तर्गत केवल रीति-सिद्धान्त की चर्चा करने वाले ग्रन्थ ही नही आते, वरन उन समस्त ग्रन्थो का समावेश हो जाता है जिनमें काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया हो, चाहे वे अलकार के ग्रन्थ हो, चाहे रस, ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा रीति के ग्रन्थ हो। अतएव रीतिशास्त्र का तात्पर्य उन लक्षण देने वाले या सिद्धान्त-चर्चा करने वाले ग्रन्थो से है जिनमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के स्वरूप, भेद-प्रभेद, तत्व और अगो आदि पर विचार प्रकट किया गया है। इन्हें रीति-ग्रन्थ इसलिए कहा गया है कि इनमें इन विषयो के निरूपण की रीति सर्वसाधारण पर प्रकट की गई है। रीति वर्णन-परिपाटी के रूप में ग्रहण की गई।

---

१. विशिष्टा पद रचना रीतिः—काव्यालकार सूत्र १, २, ६।

२. रीतिरात्मा काव्यस्य— वही, १।२।७।

हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रीति-काल (स० १७०० से १९०० वि०) में ऐसे ग्रन्थ लिखे गए जिनमें काव्य-सिद्धान्तो में एक या अनेक सिद्धान्तो के या उनके किन्ही अगो या भेदो के लक्षण देकर फिर उनको स्पष्ट करनेवाले उदाहरण दिए गए है। ये समस्त ग्रन्थ रीतिशास्त्र के अन्तर्गत आते है, जिनमें लक्षण दिए गए है। परन्तु कुछ ऐसे भी ग्रन्थ है जिनकी रचना स्वच्छद रूप से अथवा किसी चरित्र के आश्रित प्रवन्ध रूप में नही है, साथ ही लक्षण ग्रन्थो की सी परिभाषाएँ भी उनमें नही दी गईं, वरन् किसी एक या अनेक सिद्धान्त या उसके अवयवो या भेदो के लक्षणो को दृष्टि में रखकर केवल उदाहरण प्रस्तुत किए गए है। ऐसे ग्रन्थ रीतिकाव्य के अन्तर्गत आते है। लक्षण-ग्रन्थो में केवल उदाहरण रूप लिखा गया काव्य तथा लक्षणो को ध्यान में रखकर विना लक्षण दिए लिखा गया काव्य रीतिकाव्य कहा जा सकता है।

१. पृष्ठभूमि और उद्देश्य

हिन्दी को उपर्युक्त प्रकार के रीतिशास्त्र लिखने की परम्परा सस्कृत साहित्य से प्राप्त हुई। सस्कृत साहित्य-शास्त्र के प्रमुख पाँच काव्य-सिद्धान्तो—अलकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, रस—में से प्राय सभी का कुछ न कुछ प्रभाव हिंदी रीतिशास्त्र पर पडा है। परन्तु जहाँ तक शास्त्रीय विवेचन का प्रश्न है वहाँ रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्तो के आधार पर वहुत कम लिखा गया। अलकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने की सामान्यतया प्रवृत्ति देखने को मिलती है। इन सिद्धान्तो का भी विवेचन गभीर शास्त्रीय गवेपणा के साथ नही हुआ, वरन् इनका परिचय ही मिलता है। रस के अन्तर्गत नायिकाभेद और शृगार रस को लेकर लिखने वाले ग्रन्थो की सख्या वहुत अधिक है। परन्तु समस्त रसो का सर्वांगीण विवेचन करनेवाले ग्रन्थ वहुत थोडे है। इस काल में अलकारो के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने का सव से अधिक प्रयत्न हुआ है, परन्तु इन ग्रन्थो में लक्षण भाग वहुत अधिक शुद्ध, पूर्ण और मौलिक नही है। अधिकाशत यह देखने में आता है कि अलकार का रूप उसके लक्षण से उतना स्पष्ट नही होता जितना उदाहरण से। इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी सामान्यत शब्द-शक्ति से प्रारभ करके रस और अलकारो पर समाप्त करने वाले ग्रन्थ ही अधिक लिखे गए है। ध्वनि-सिद्धान्त की पूरी व्याख्या प्रस्तुत करने वाले, तथा शका-समाधान कर उसे विस्तार के साथ निरूपण करने वाले ग्रन्थ अत्यल्प है। इस प्रकार हम कह सकते है कि हिन्दी के रीति-शास्त्रीय ग्रन्थो में काव्य-शास्त्र के अलकार, रस, ध्वनि, विपयो से अपना परिचय प्रकट करना और लक्षण की धारणा के आधार पर सुन्दर हिन्दी काव्य रचना द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना इन लेखको का प्रमुख उद्देश्य था। शास्त्रीय प्रणाली को सामने रखकर कविता लिखना ही इस युग के लेखको का प्रमुख ध्येय जान पड़ता है, साहित्य-शास्त्र के विविध अगो तथा रूपो का विद्वत्तापूर्ण शास्त्रीय ढग से विवेचन और निरूपण करना नही। आधुनिक युग के पूर्व हिन्दी में रीतिशास्त्र उतना प्रधान नही जितना रीतिकाव्य।

नवीनता और शास्त्रीय विवेचन के अभाव के कई कारण है। पहला कारण तो यह है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले कवियो के पूर्ववर्ती तथा समकालीन सस्कृत के ऐसे विद्वान आचार्य थे जिन्होने काव्यशास्त्र के एक या अनेक अगो को लेकर उनकी वड़ी ही विस्तृत और

स्पष्ट व्याख्या की थी। ऐसी दशा में हिन्दी कवियो के सामने कोई ऐसी नवीन सामग्री नही थी जिसके आधार पर वे सस्कृत विद्वानो की विवेचना को आगे बढाते। दूसरा कारण यह था कि हिन्दी में लिखने वाले सभी काव्यशास्त्री सस्कृत साहित्य के पूर्ण विद्वान भी नही थे, वे सस्कृत काव्यशास्त्र की परिपाटी को हिन्दी (भाषा) मे उतार कर हिन्दी काव्य का नया मार्ग विकसित करना चाहते थे। अतएव ऐसे लेखको ने जो थोडा वहुत पठित और श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था उसी के आधार पर लक्षण देकर काव्यशास्त्रीय प्रणाली पर लिखने का प्रयत्न किया गया। ऐसे लोगो का कार्य इन लक्षणो के सहारे प्राय अपनी कवित्व-प्रतिभा को ही प्रदर्शित करना था।

तीसरा कारण यह था कि जिन लोगो के लिए ये ग्रन्थ निर्मित किए जा रहे थे वे स्वय वहुत कम मात्रा में शास्त्रज्ञ थे। वे शास्त्रीय विवेचन से रुचि भी नही रखते थे। बहुधा रीति-शास्त्रीय ग्रन्थ राजाश्रयो में लिखे गए हैं और लेखको का उद्देश्य अपने आश्रयदाता को प्रसन्न कर उसकी कृपा का पात्र वनना था। अत अधूरे लक्षण देकर उनको स्पष्ट करने वाले उदाहरणो में अधिकतर आश्रयदाताओ की प्रशसा भरी रहती थी। इसके साथ ही साथ उनके वर्णन में कुछ इस प्रकार की रसिकता, चमत्कार और मनोरजन का पुट रहता था जिससे कवि की प्रतिभा का प्रभाव पड सके और दरबार में उसकी आवश्यकता भी बनी रहे। इसके परिणाम-स्वरूप उदाहरणो में कवित्व-चमत्कार खूब देखने को मिलता है, परन्तु लक्षणो में गभीर शास्त्रीय ज्ञान का आभास नही है। अधिकाशत इस युग की कविता सुनने पर प्रभाव डालने वाली है, मनन और चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत करने वाली नही।

चौथा कारण यह है कि इसके पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की जो धाराएँ थी उनमें से कोई शुद्ध काव्य की धारा नही कही जा सकती थी। इन पूर्ववर्ती काव्य-धाराओ के अन्तर्गत या तो कवि वीरो और राजाओ की गुण-गाथा का अत्युक्तिपूर्ण बखान करता था अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भक्ति, उपदेश आदि से सवधित रचनाएँ करता था। शुद्ध और स्वच्छद कवि इन दोनो धाराओ में अपनी रुचि का पूर्ण प्रकाशन न पा सकते थे। अत इस शुद्ध काव्यशास्त्रीय प्रणाली पर काव्य-रचना की पद्धति प्रशस्त की गई। उसमें प्रत्येक प्रकार की रुचि वाले कवि के लिए अपने मनोनुकूल काव्य-रचना का मार्ग खुल गया। इसीलिए रीति-काल में काव्य-रचना हेतु इस प्रणाली का स्वागत हुआ। परन्तु प्राय कवियो ने अपने कवित्व-प्रदर्शन के लिए ही इसको अपनाया है, मौलिक तथा गम्भीर शास्त्रीय विवेचन के हेतु नही। इसलिए हमें इन ग्रन्थो में गहरी शास्त्रचर्चा देखने को नही मिलती। चमत्कारपूर्ण रचना अवश्य इस धारा के ग्रन्थो में प्रचुरता से उपलब्ध है।

२. आधार

हिन्दी के रीतिशास्त्र का आधार पूर्ण रूप से सस्कृत काव्यशास्त्र है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि हिन्दी में रीति शास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने सस्कृत काव्यशास्त्र का पूरा अध्ययन किया था या किसी ग्रन्थ को पूर्णतया हिन्दी में उतारा था। प्राय अपनी योजना के अनुकूल हिन्दी रीतिशास्त्र के लेखक ने अपने आधारभूत ग्रन्थ का पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त किया था। अधिकाशतः यह ज्ञान गुरु-शिष्य-परपरा द्वारा अर्जित था। अपने ग्रन्थो की रचना

करने में लेखको ने जिन सस्कृत ग्रन्थो का अधिकाश आधार लिया है, वे ग्रन्थ है—भरत का 'नाट्य-शास्त्र,' भामह का 'काव्यालकार,' दडी का 'काव्यादर्श,' उद्भट का 'अलकार-सार-सग्रह,' केशव मिश्र का 'अलकार-शेखर,' अमरदेव का 'काव्यकल्पलतावृत्ति,' जयदेव का 'चन्द्रालोक,' अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द,' मम्मट का 'काव्यप्रकाश,' आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक,' भानुदत्त के 'रसमजरी' व 'रसत गिणी,' विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' आदि। इनमें से केशव तथा कतिपय अन्य परवर्ती कवियो ने प्राय प्रथम छ ग्रन्थो का आधार अधिक लिया है तथा अन्य कवियो ने अपने प्रत्येक विषय के अनुसार विभिन्न ग्रन्थो का। जिन हिन्दी के आचार्यों ने केवल अलकार पर लिखा है उन्होने प्राय 'चन्द्रोलोक' या 'कुवलयानन्द' का आधार प्रधान रूप से ग्रहण किया है। ध्वनि को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत करने वाले आचार्यो ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का विशेष रूप से आधार ग्रहण किया है। रस और नायिका-भेद पर लिखने वाले लेखको ने अधिकाशत. 'शृगार-तिलक,' 'रस-मजरी,' 'रसतरगिणी,' 'साहित्य-दर्पण,' 'दशरूपक,' 'नाट्यशास्त्र' आदि से अपनी सामग्री ली। परन्तु इनका आधार ऊपर लिखे गए काव्यशास्त्र के ग्रन्थ होने पर भी उनके लक्ष्य से इनका लक्ष्य प्राय भिन्न सा ही है। सस्कृत के अधिकतर ग्रन्थो का लक्ष्य विषय या सिद्धान्त को पूर्ण स्पष्ट करके उदाहरणो द्वारा अपने विषय की पुष्टि करना था जब कि हिन्दी के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थो में प्राय विषय-विवेचन और लक्षण को जैसे-तैसे चलता कर देना रहा, उनका मुख्य उद्देश्य तो ललित हिन्दी रचना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना था। अत दोनो के प्रयत्न में अन्तर होने से स्वभावत परिणाम में भी अन्तर देखने को मिलता है।

कुछ भी हो, रीतिशास्त्र पर लिखे गए हिन्दी ग्रन्थो की सख्या बहुत बडी है और प्रारभ से लेकर अब तक लिखे गए समस्त ग्रन्थो का लेखा उपस्थित करना बडा कठिन काम है। क्योकि प्रथम तो बहुत से ग्रन्थ ऐसे है जो प्रसिद्ध होने के कारण एकाध बार प्रकाशित तो हुए, परन्तु उसके पश्चात ऐसे लुप्त हुए कि अब अप्राप्य है। इसके अतिरिक्त बहुत से ग्रन्थ केवल हस्तलिखित रूप में रहे, वे कभी छपे नही और महत्वपूर्ण होने पर भी अब देखने को नही मिलते। वे ग्रन्थ कही पुस्तकालयो या राज-पुस्तकालयो के पुराने बस्तो की ही सम्पत्ति बन रहे है और मनुष्य की विवेकपूर्ण दृष्टि की अपेक्षा उसका सम्पर्क दीमक और चूहो से ही अधिक होता है। तीसरे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी है जिनका हल्दी मिर्च की पुडिया बनकर रूपान्तर हो गया है और हो रहा है। वे इस व्यापारिक युग में अपने आश्रयदाताओ की गुणग्राहकता और उदारता पर उन्हें धन्यवाद देते है। चौथे, कुछ ऐसे ग्रन्थ भी है जो है तो सुरक्षित, पलटे और पढे भी जाते है, पर कुछ ऐसी वस्तु समझे जाते है जिस पर ससार की, और विशेष कर समालोचको की, आंख पडते ही नजर लग जाने का भय हो। अतएव वे घर के कोनो, तहखानो या मन्दिरो में अचल, अडिग और स्थानमोही देवताओ की भाति पूजा पाते है। वे भाग्यशाली अवश्य है, पर ससार लाभ किस प्रकार उठावे, यह समस्या है। इस प्रकार प्रचुर सामग्री ऐसी है जिसका अभी तक या तो पता ही नही है और यदि पता भी है तो उसका उपयोग करना कठिन और किन्ही-किन्ही दशाओ में असभव है। फिर भी जो प्राप्य और देखे-सुने ग्रन्थ है, वे भी कम सख्या में नही है और उन्ही के आधार पर हिन्दी रीतिशास्त्र का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

३. पूर्ववर्ती परम्परा

हिन्दी के पूर्ववर्ती अपभ्रंश साहित्य में रीतिशास्त्र की परम्परा नही के बराबर है। दो-एक ग्रन्थ छन्द, व्याकरण आदि पर अवश्य है, तथा कुछ ऐसे भी ग्रन्थ है जिनमें गौण रूप से किसी ग्रन्थ के बीच में नायिका-भेद, शृगार आदि का विवेचन आ गया है।[1] परन्तु जिस प्रकार भक्ति और िर-गाथा-वर्णन की धाराएँ पहले से आई है, उस प्रकार रीतिशास्त्र की परपरा अपभ्रंश साहित्य में नही ढूँढी जा सकती, इसकी प्रेरणा देने वाला सस्कृत साहित्य ही है। रीति-शास्त्र की परपरा को हिन्दी में ढालनेवाले प्रमुख व्यक्ति आचार्य केशवदास ही है। केशव का महत्व इस दृष्टि से ही अधिक माना जाता है कि उन्होने रीतिशास्त्र या रीतिकाव्य-रचना का नवीन मार्ग खोलकर भाषा में शुद्ध काव्य लिखने की परम्परा डाल दी है। पूरे ग्रन्थ भर में आश्रयदाता या आराध्य का गुण-गान किए बिना इसके आदर्श को लेकर काव्य-रचना की जा सकती है और जिसे काव्य-रसिक रुचिपूर्वक पढ सकते है, इस बात को स्पष्ट करने का श्रेय केशव-दास को ही मिलना चाहिए। और यह बात स्पष्ट हो जाने पर ही रीति-पद्धति पर रीति-युग में रीतिशास्त्र और रीतिकाव्य ग्रन्थो का इतनी प्रचुरता के साथ प्रणयन हुआ है। प्राय अस्सी प्रतिशत कवियो ने इस युग में इसी पद्धति पर अपनी रचनाएँ की है।

रीति-शास्त्र पर केशव के पूर्व भी कुछ ग्रन्थ लिखे गए है जिन्हें हम इस साहित्य के अन्त-र्गत रख सकते है परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ ही है। ऐसे प्रयास के रूप में हम उन्हें ग्रहण नही कर सकते है, जिससे लोगो को इस प्रकार के साहित्य लिखने की प्रेरणा मिली है। 'शिवसिंह सरोज'[2] के आधार पर जिस ग्रन्थ का उल्लेख हमारे साहित्य के इतिहासकार करते है वह पुड या पुष्य कवि का है जिसने सवत् ७७० के लगभग हिन्दी भाषा में सस्कृत के किसी अलकार ग्रन्थ का अनुवाद किया था, परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक किसी के देखने में नही आया। यदि वास्तव में उस समय का कोई इस प्रकार का लिखा ग्रन्थ मिल जाता है तो वह न केवल रीति-शास्त्र का, वरन् हिन्दी का पहला ग्रन्थ ठहरता है। परन्तु अभी तक इस सबध की कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नही हो सकी।

रीति-शास्त्र पर प्राप्त सबसे पहला ग्रन्थ कृपाराम की 'हिततरगिणी' ही है। यह रस-रीति का सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। इसमें कवि ने दोहा छन्द में लक्षण और उदाहरणो की रचना की। इसकी रचना स० १५९८ वि० (१५४१ ई०) माघ शुक्ल ३ को हुई।[3] यह पाँच तरगो में विभक्त है और प्राय भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर है, कही-कही भानुदत्त की 'रसमजरी' का भी आधार कवि ने लिया है। विवेचन महत्त्व का नही, परन्तु उदाहरणो की रोचकता ही ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है। इसके पश्चात् सवत् १६१६ (१५५९ ई०) का लिखा मोहनलाल मिश्र का 'शृगारसागर,' रस और नायिका-भेद का विवरण प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास ने 'रसमजरी' ग्रन्थ भी इसी समय के आसपास लिखा जिसका आधार स्पष्टतया भानुदत्त की 'रसमजरी' पुस्तक है। मिश्रबन्धुओ

---

१. विस्तृत सूचना के लिए देखिए 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ४९।
२. शिवसिंह सरोज, भूमिका, पृष्ठ ९३।
३. हित त० २।

के अनुसार नरहरि के साथ अकबर के दरबार में जाने वाले करनेस वन्दीजन के 'करणाभरण,' 'श्रुतिभूषण' तथा 'भूपभूषण' नामक अलकार-ग्रंथ भी केशव के पूर्ववर्ती ग्रन्थो में ही रक्खे जा सकते है। परन्तु इन आचार्यों और ग्रन्थो में कोई भी विशेष महत्त्वपूर्ण नही जान पडता है। अत हम कह सक्ते है कि रीतिशास्त्रीय परम्परा डालने वाले सबसे पहले रीतिशास्त्र के आचार्य केशवदास ही हैं जिन्होंने भाषा-कवियो और आचार्यो के सामने हिन्दी काव्य-रचना का एक नवीन मार्ग उद्घाटित किया। अतएव रीतिशास्त्रीय हिन्दी साहित्य के भीतर केशव का ऐतिहासिक महत्व है। हाँ, केशवदास के बडे भाई बलभद्र मिश्र ने 'नखशिख' और 'रसविलास' नामक ग्रन्थ लिखे जो नायिका-भेद और भाव-वर्णन के ग्रन्थ है। 'रसविलास' में लक्षण दोहा छन्द में है, पर उदाहरण कवित्त-सवैया में है और बडे सुन्दर है।

४. रीतिशास्त्र के विभिन्न सप्रदाय

हिन्दी रीतिशास्त्र को विभिन्न काव्यशास्त्रीय सप्रदायो में विभाजित करना सरल नहीं है, क्योकि अधिकाश आचार्यों ने रस, अलकार दोनो पर लिखा है और निश्चयत किसी एक का प्रतिपादन नहीं किया। बहुत से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' के समन्वित मार्ग का अनुसरण करनेवाले है और उन्होने अलकार, रस, नायिका-भेद, छन्द, गुण, दोष आदि सभी का विवेचन अपने ग्रन्थो में किया है और यह कहना कठिन है कि उनकी मान्यता में कौन सा सिद्धान्त अधिक समीचीन है। उदाहरण के लिए चिन्तामणि, मतिराम, पद्माकर आदि को रसवादी अथवा अलंकारवादी कहना कठिन है, क्योकि इन्होंने दोनो ही पर अच्छा लिखा है। फिर भी उनकी प्रमुख प्रवृत्ति के अनुसार उनका समावेश जिसमें हो सकेगा, उसी में उनका विवेचन करना अधिक समीचीन होगा।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर रीति, वक्रोक्ति और औचित्य के सिद्धान्तो की चर्चा नहीं के बराबर है। प्रमुखतया रीतिशास्त्रीय ग्रन्थो के भीतर अलकार, रस और ध्वनि का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अत हम इन्ही तीन सप्रदायो के अन्तर्गत हिन्दी रीतिशास्त्र का विवेचन यहाँ प्रस्तुत कर रहे है। हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर गुण, रीति एव वृत्ति के वर्णन कही कही सक्षेप में आए है, पर वे व्यापक रीति से प्रतिष्ठित सिद्धान्त नही बन पाए। अलकारो अथवा रसागो के विवरण के साथ ही प्राय उनका उल्लेख हुआ है। केशव ने 'रसिकप्रिया' में वृत्ति या रस-वर्णन की शैली का उल्लेख किया है। चिन्तामणि ने 'कविकुल-कल्पतरु' में तथा कुलपति ने 'रस-रहस्य' में वृत्ति का वर्णन किया है। ऐसे ही श्रीपति, सोमनाथ-दास आदि ने अपने ग्रन्थो में गुणो का वर्णन किया है, पर वे रस के सहायक गुण है, रीति के पोषक गुण नही। यह वर्णन अधिकाश में 'साहित्यदर्पण' के आधार पर है और वामन के समान नहीं जिन्होंने गुण के आधार पर रीति की विवेचना की है। रीति का वर्णन जगत सिह लिखित 'साहित्य-सुधानिधि' नामक ग्रन्थ की नवी तरग में मिलता है। यह भी विस्तार से नहीं है। उसमें चार प्रकार की रीति का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

पच पष्ठ नग वसु करि जहाँ समास।
पाचाली लाटी क्रम गौडी भास॥

विन समास जहँ कीजै पद निर्वाह।
वैदर्भी सो जानो कविन सराहि॥[1]

यहाँ पर समास के अनुपात और स्थिति के आधार पर रीतियो का सकेत मात्र किया गया है, अत इनके विशेष विवरण के अभाव में हमें तीन सप्रदायो में ही अपने विवरण को सीमित करना पड रहा है।

क. अलकार सप्रदाय

काव्य में अलकार का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु काव्य के प्रसग में अलकार के सबध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ देखने को मिलती हैं। 'अलकरोति इति अलकार' अर्थात् जो शोभा को पूर्ण वना दे अथवा वस्तु को आभूषित करे वह अलकार है। इससे यह प्रकट होता है कि अलकार काव्य की अनिवार्य आन्तरिक विशेषता का द्योतक नही माना जाता है। भामह और दडी ने अलकार को अत्यन्त महत्व प्रदान किया है। भामह की काव्य में अलकार सबधी वही धारणा है जो भरत की नाटक में रस सबधी। ये काव्य की प्रमुख विशेषता और समस्त शोभा अलकारो में ही देखते हैं, यहाँ तक कि इन्होने रस, भाव आदि को भी रसवदादि अलकारो के भीतर समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। दडी की धारणा अलकार के सबध में और भी व्यापक है, उनकी दृष्टि से काव्य-शोभा बढाने वाले सभी धर्म अलकार हैं—'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते' ऐसा कह कर उन्होने केवल उक्ति चमत्कार को ही नही, वरन समस्त काव्य-सौन्दर्य को समेट लिया है। अत रसादि भी उसके अन्तर्गत हैं और स्वभावोक्ति भी। गुण और अलकार का भेद दडी ने स्पष्ट नही किया। वास्तव में इस भेद को स्पष्ट करने वाले आचार्य वामन हैं, जिन्होने अपने ग्रन्थ 'काव्यालकार' में लिखा है—'काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा। तदतिशयहेतव-स्त्वलकारा।'[2] इस प्रकार काव्य के अन्तर्गत सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने का कार्य अलकार करते हैं, यह स्पष्ट हो गया और वे बाह्य महत्व के हैं,यह भी सिद्ध हो गया।इस भेद के स्पष्ट होने पर काव्य की अन्तरात्मा ढूँढने का प्रयास हुआ जिसके परिणाम स्वरूप रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। अलकार और गुणो के इस स्पष्टीकरण में दडी की धारणा का विरोध भी देखा जाता है, क्योंकि दडी अलकार को काव्य की शोभा करने वाला धर्म मानते हैं और वामन गुण को। वामन की दृष्टि से अलकार शोभा का प्रकर्ष करने वाले हैं, शोभा के जनक नही। वास्तव में यहाँ विरोध उतना नही है जितना धारणा-भेद। दडी की अलकार-सबधी धारणा अधिक व्यापक है जिसे आगे के आचार्य रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति के काव्यात्मा रूप में प्रतिष्ठित होने पर स्वीकार न कर सके। इस प्रकार अलकार की धारणा का, काव्य की शोभा करने वाली विशेषता से लेकर अतिशयता, वक्रोक्ति, चमत्कार, वैचित्र्य और शब्दार्थ का उपकार करने वाली विशेषता के रूप में विकास हुआ।[3] विभिन्न सप्रदायो के विकसित होने के बाद काव्य में अलकार का स्थान

---

१ साहित्य-सुधानिधि, ९, ५४, ५५।

२ देखिए—वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः—भामह का० १-३७।

३. सौन्दर्यमलकार·—वामन।

गौण हो गया। मम्मट ने तो अपनी काव्य-परिभाषा में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलकृती पुन क्वापि' कह कर काव्य से अलकार की अनिवार्यता ही हटा दी। परन्तु मम्मट की इस परिभाषा का विरोध भी किया गया। विशेष रूप से जयदेव, अप्पय दीक्षित, विद्याधर आदि ने अलकार की फिर प्रतिष्ठा की।

जयदेव ने तो 'चन्द्रालोक' में स्पष्ट प्रतिष्ठित किया है कि—

अंगीकरोति य· काव्य शब्दार्थावनलकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलकृती॥

अलकार की इस प्रकार की धारणा आगे चलकर केशव की परपरा में आने वाली हिन्दी रीति-शास्त्र के आचार्यों की भी है। केशव की धारणा भी अलकार के सबध में व्यापक है जैसा कि उनकी 'कविप्रिया' में स्पष्ट है। केशव ने स्पष्ट कहा है—

यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूपन विना न सोहही, कविता वनिता मित्त॥

यह धारणा हिन्दी के अन्य आचार्यों ने स्वीकार नहीं की।

अलंकार सबधी धारणा के विकास के साथ साथ अलकारो के वर्गीकरण के सबध में भी विभिन्न आचार्यों की देन महत्वपूर्ण कही जा सकती है। सब से पहला प्रयत्न इस दिशा में आचार्य रुद्रट का है जिन्होंने न केवल रस की स्थिति काव्य के अन्तर्गत अलग स्वीकार करके उसे अलकारो से बाहर किया, वरन अलकारो का वर्गीकरण चार तत्त्वो के आधार पर प्रस्तुत किया है, जो है— वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेप। अलकारो और रस की सख्या में भी विकास करने का श्रेय रुद्रट को प्राप्त है। अलकारो का यह वर्गीकरण न तो पूर्ण ही है, और न वैज्ञानिक ही है, फिर भी उनके इस क्षेत्र के प्रयास को महत्वहीन नहीं कहा जा सकता। वर्गीकरण के क्षेत्र में दूसरा प्रयत्न राजानक रुय्यक का है जिन्होंने औपम्य या सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृंखलाबद्ध, न्यायुक्त, गूढार्थप्रतीतिमूल तथा सकर-ससृष्टि, इन छ आधारो पर वर्गीकरण किया है। रुय्यक के इस वर्गीकरण को अधिकाश आचार्यों ने आगे भी स्वीकार किया। अन्य आचार्यों ने भी परि-वर्तन और विकास किए। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में 'न्याय-मूल' के तीन रूप— तर्क न्यायमूल, वाक्यन्यायमूल और लोक-न्यायमूल—माने है। विद्याधर ने अपने ग्रन्थ 'एकावली' में रुय्यक के वर्गीकरण को और भी अधिक सूक्ष्म विकास प्रदान किया है।

रुय्यक के मत से 'सादृश्यगर्भ' के तीन भेद है —(१) भेदाभेदतुल्य प्रधान, (२) अभेद प्रधान और (३) गम्यमान औपम्य। 'अभेद प्रधान' के दो रूप है—(१) आरोप मूल, (२) अध्य-वसाय मूल। 'गम्यमान' के पाँच रूप है—(१) पदार्थगत, (२) वाक्यार्थगत, (३) भेद प्रधान, (४) विशेषण-वैचित्र्य युक्त और (५) विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्य युक्त। शेष वर्गों के भेद नहीं। उनके अन्तर्गत अलकारो का ही निरूपण है। विश्वनाथ ने रुद्रट की भाँति चार भेद माने है—(१) वस्तुप्रतीतियुक्त, (२) औपम्यप्रतीतियुक्त, (३) रसभावप्रतीतिमूल, (४) अस्फुटप्रतीतियुक्त। इसके साथ ही रुय्यक और विद्याधर की भाँति अलकारो का नो आधारो पर वर्गीकरण किया है— साधर्म्यमूल, अध्यवसाय मूल, विरोध मूल, वाक्य न्याय मूल, लोक व्यवहार मूल, तर्कन्यायमूल,

शृंखलावैचित्र्यमूल, अपह्नवमूल, विशेषण वैचित्र्य मूल। अलकारो के वर्गीकरण का यह प्रयत्न वैज्ञानिक है, यद्यपि इसमें और अधिक विकास की अपेक्षा है। इसमें मतभेद भी सूक्ष्म और साधारण ही हो सकता है और प्राय दृष्टिकोण समान ही है। हिन्दी रीति-शास्त्र के भीतर वर्गीकरण का प्रयत्न केशव और भिखारीदास ने किया है पर उसे हम न तो वैज्ञानिक ही कह सकते है और न मनोवैज्ञानिक ही। केशवदास ने सामान्य और विशेष दो वर्गों के भीतर अलकारो को रखा है। सामान्य में वर्ण और वर्ण्य का तथा विशेष में प्रचलित अलकारो का वर्णन किया है। भिखारीदास ने नाम के आधार पर वर्णन किया है—जैसे उपमादि, उत्प्रेक्षादि वर्ग।

आगे हम हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर अलकार के क्षेत्र में प्रमुख आचार्यों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का परिचय देंगे। सर्व प्रथम आचार्य केशवदास आते है।

केशवदास

यह ओडछा के राजा इन्द्रजीत सिह के आश्रित और उनके गुरु थे। राजपरिवार में केशव का बडा सम्मान था। वे राजसी ठाट-बाट से रहते थे। केशव हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य माने जाते है। ये कठिन काव्य के रचयिता भी है। केशवदास का महत्व अनेक दृष्टियो से है। इन्होने आचार्य के रूप में रीतिशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे और कवि के रूप में परपरागत सभी धाराओ में अपनी कवि-प्रतिभा को भी निमज्जित किया। इन्होने वीर-गाथा वर्णन की परपरा में 'वीरसिंह-देव-चरित्र' तथा 'जहागीरजसचन्द्रिका' लिखी। भक्ति और ज्ञान-काव्य की परपरा में 'विज्ञान-गीता' का प्रणयन किया, और प्रबन्ध-रचना की पद्धति पर 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य रचा। परन्तु 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना द्वारा इन्होने रीतिशास्त्र के आधार पर काव्य-रचना की नवीन पद्धति प्रचलित की। केशव ने अपनी उपर्युक्त दोनो पुस्तको द्वारा काव्यशास्त्र के लगभग सभी अगो पर प्रकाश डाला है। उन्होने भाषा का कार्य, कवि की योग्यता, कविता का स्वरूप और उद्देश्य, कवियो के प्रकार, काव्य-रचना के ढग, कविता के विषय, वर्णन के प्रकार, काव्यदोष, अलकार, रस, वृत्ति आदि विषयो को अपने ढग से स्पष्ट किया है। इस स्पष्टीकरण में विषय का गभीर और प्रामाणिक विवेचन नही हो पाया, केवल केशव का इन विषयो पर ज्ञान ही चमत्कारपूर्ण ढग पर प्रकट हुआ है।

आचार्य केशवदास काव्य को चमत्कार मानने वाले प्राचीन आलकारिको के सिद्धान्त पर श्रद्धा रखते थे। अत इन्होने प्राचीन सस्कृत के आलकारिको—भामह, दडी, उद्भट आदि—को ही अपने विवेचन का आधार बनाया, परवर्ती आचार्यों—आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि—के ग्रन्थो को नही। परन्तु केशव के उपरान्त चिन्तामणि के साथ जो काव्य की परपरा चली उसमें 'चन्द्रालोक,' 'कुवलयानन्द,' 'काव्यप्रकाश,' 'साहित्य-दर्पण' का आधार विशेष रूप से लिया गया। केशव से प्रेरणा प्राप्त करने पर भी केशव के आधार को आगे के आचार्यों ने अधिक ग्रहण नही किया। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि केशव का समकालीन अथवा परवर्ती कवियो पर प्रभाव नही पडा। केशव के द्वारा लिखित रीतिशास्त्र के दोनो ग्रन्थ बडे ही समादृत है, और परवर्ती आचार्यों और कवियो ने इन ग्रन्थो को पढकर ही कुछ लिखने का साहस किया। किसी भी आचार्य अथवा कवि की योग्यता प्रमाणित हो जाती थी यदि वह प्रकट कर देता था कि उसने

'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' ग्रन्थो का अध्ययन कर लिया है। अपने इस दोनो ही ग्रन्थो के अन्तर्गत केशव ने काव्यशास्त्र का गभीर विवेचन नही किया, इसका कारण यह नही कि केशव का सस्कृत का ज्ञान छिछला था वरन इसका प्रमुख कारण यह है कि वे हिन्दी के माध्यम मे काव्य-शास्त्र को सर्वसाधारण को सुलभ करना चाहते थे। वे काव्यशास्त्र का ज्ञान जन-साधारण को सुलभ करके साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत करना चाहते थे, विद्वानो के लिए सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखना नही चाहते थे। इसलिए उन्होने अपने इस प्रकार के प्रयत्न के लिए क्षमा-याचना भी की है—

समुझे बाला बालकहुँ, वर्णन पथ अगाध।
'कवि प्रिया' केशव करी, छमियो कवि अपराध ॥[1]

आधुनिक समालोचको के एक दल ने इन समस्त परिस्थितियो को हृदयगम किए बिना ही केशव के सबध में अपने कच्चे निष्कर्ष निकाले है जो प्राय हिन्दी साहित्य के अध्येताओ को कुछ भ्रम में डाल देते हैं। कवि और आचार्य दोनो ही रूपो में केशव का दृष्टिकोण और उद्देश्य स्पष्ट था और जब हम उन्हें समझ लेते हैं तब हम यही कह सकते है कि केशवदास अपने उद्देश्य में सफल हुए हैं। उनमें विलक्षण सूझ और प्रतिभा थी जिसका सम्मान हमें करते ही बनता है। 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' दोनो में ही रीतिशास्त्रीय प्रसगो पर विचार के साथ साथ उदाहरण हिन्दी काव्य के सामने आए। काव्य में इस प्रकार की सूझ स्पष्ट दीखती है। शब्दो पर उनका असाधारण अधिकार था और उनका शब्द-भडार भी बडा ही विस्तृत था। हॉ, यह अवश्य था कि वे तुलसीदास के समान सरल कवित्व[2] पर विश्वास नही करते थे। वे वस्तु के चमत्कारपूर्ण वर्णन को ही काव्य मानते थे और काव्य में अलकार को विशेप महत्व देते थे। उन्होने लिखा है—

भूपण बिना न सोहही कविता बनिता मित्त।

उनका विचार है कि वस्तु का जो स्वरूप कवि के चमत्कारपूर्ण वर्णन द्वारा स्पष्ट होता है, वह सुन्दर होता है। चन्द्रमा और कमल स्वय इतने सुन्दर नहीं, परन्तु कवि की कल्पना के बीच से आकर इतने सुन्दर हो गए हैं। 'देखे मुख भावै, अनदेखे ही कमल चद'—अत वस्तु का सामान्य नही, वरन विलक्षण वर्णन ही कवि का उद्देश्य होना चाहिए, यह केशवदास का विचार था। और उनकी अपनी निजी समस्त रचनाएँ इस बात का उदाहरण हैं।

कविप्रिया

'कविप्रिया' में केशव ने कवि-शिक्षा की बातें लिखी हैं। इसके १६ प्रभावों में कवि के लिए काव्य-रचना में उपयोगी अनेक बातो का विवरण दिया गया है, जिसमें प्रमुख प्रसग काव्य-

---

१. कविप्रिया, ३ प्रभाव।
२. सरल कवित कीरति बिमल, सुनि आदरहि सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जे सुनि करें बखान ॥१४॥
—रामचरितमानस, बालकांड।

दोष, कवि-भेद, वर्णन के प्रकार, सामान्यालकार, विशिष्टालकार, जिसमें वास्तव मे अलकारो का विविध भेदो सहित वर्णन है। नखशिख, चित्रालकार आदि के वर्णन भी इसमें आए हैं। दोष और अलकार दडी के 'काव्यादर्श' के आधार पर है तथा अन्य वर्णनो आदि के प्रसग सस्कृत के आचार्य केशव के 'अलकारशेखर' तथा अमरचन्द्र की 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर लिखे गए है। 'कविप्रिया' में विशेष प्रयत्न अलकारो के वर्गीकरण का है। यह वर्गीकरण उक्ति, उपमा, तुलना, शब्दावृत्ति, अनेकार्थता विरोध तथा कार्य-कारण-सबध आदि के आधार पर किया गया है। 'कविप्रिया' में केशव की इन विषयो की जानकारी स्पष्ट होती है परन्तु अपनी चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति के फेर में पडकर अपने विवेचन को वे गभीरता प्रदान नही कर पाए।

रसिकप्रिया

'रसिकप्रिया' में रसागो, वृत्तियो और रसदोषो का वर्णन है। 'रसिकप्रिया' का उद्देश्य 'कविप्रिया' से भिन्न है। 'कविप्रिया' में जहाँ पर साधारण लोगो और नौसिखुओ को काव्य-सबधी बातें बताने का उद्देश्य है वहाँ पर 'रसिकप्रिया' रसिको की तृप्ति के लिए लिखी गई। केशव ने स्पष्ट कहा है—

अति रति गति मति एक करि, बिबिध बिवेक विलास।
रसिकन को 'रसिकप्रिया', कीन्ही केशवदास।।

परन्तु इस सबध म हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इसमें कृष्ण और राधा के रस का वर्णन है, मनुष्य मात्र के भीतर होने वाली रसानुभूति का विश्लेषण नही। रसमग्न राधा और कृष्ण के रसानुभव को ही प्रकाशित करने का प्रयत्न केशव ने इसमें किया है और इस प्रकार रस-वर्णन परनिष्ठ है स्वनिष्ठ नही। फिर भी केशव की 'रसिकप्रिया' का महत्व कविप्रिया से अधिक माना गया है। आगे के विद्वानो ने 'कविप्रिया' का उतना उल्लेख नही किया जितना 'रसिकप्रिया' का।

'रसिकप्रिया' में केशव ने रस की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह विभाव, अनुभाव और सचारी भावो के द्वारा प्रकाशित स्थायी भाव है—

मिल विभाव अनुभाव पुनि, सचारी सु अनूप।
व्यग करै थिर भाव जो, सोई रस सुख रूप।।[1]

'रसिकप्रिया' के पहले प्रकाश में नव रसो के नाम तथा उन सब में प्रमुख शृगार का वर्णन है। दूसरे प्रकाश में नायक-नायिकाओ के लक्षण तथा भेद आदि हैं, जो पाँचवें प्रकाश तक चले गए हैं। छठवें प्रकाश में भावो और हावो का वर्णन है, उसके उपरान्त वियोग शृगार तथा उसकी विभिन्न अवस्थाओ का विवरण देकर बारहवें और तेरहवें प्रकाश में सखी और उसके कार्यों का विवरण दिया गया है। चौदहवें प्रकाश में शृगारेतर रसो का विवरण है। करुण और हास्य को छोडकर अन्य रसो का वर्णन अति सक्षेप में किया गया है। पन्द्रहवें प्रकाश में वृत्ति तथा सोलहवें प्रकाश में रस-दोषो का वर्णन है। 'रसिकप्रिया' के उदाहरण अवश्य बडे ही सरस हैं।

---

१. रसिकप्रिया, प्रकाश १, २।

भाषा और छन्द की गति बडी ही मनोहारी है, परन्तु विवेचन अधिक महत्व का नही है। केशव ने रस पर लिखा अवश्य है पर उन्हें अलकारवादी ही मानना चाहिए।

केशवदास के बाद अलकार पर प्रसिद्ध ग्रन्थ जसवन्त सिंह का 'भाषाभूषण', मतिराम-कृत 'ललितललाम', तथा भूषण का 'शिवराजभूषण' हैं। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर हैं। 'भाषाभूषण' में लक्षण और उदाहरण दोनो ही दोहो में हैं। यह ग्रन्थ अलकारो को कठस्थ करने के लिए बडा उपयोगी समझा जाता रहा है। इसका रचना-काल अठारहवी शताब्दी का प्रारभ है। 'भाषाभूषण' के दूसरे प्रकरण में भेदो सहित १०८ अलंकारो का वर्णन किया गया है। 'भाषाभूषण' की अनेक टीकाएँ हुई हैं और इसका प्रचार काव्यशास्त्र के ग्रन्थो में सबसे अधिक हुआ।

मतिराम

मतिराम चिन्तामणि त्रिपाठी के छोटे भाई थे और कानपुर जिले में जमुना के किनारे स्थित टिकमापुर ग्राम के निवासी थे। प्रसिद्ध कवि भूषण भी इनके भाई थे। इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। इनका काव्य सुकुमारता और लालित्य के लिए प्रसिद्ध है। कविवर मतिराम की प्रवृत्ति रस की ओर ही अधिक है और वे लक्षणकार की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। फिर भी उनके ग्रन्थ 'अलकारपचाशिका' और 'ललितललाम' अलकार पर लिखे गए हैं। 'अलकार-पचाशिका' कुमायू नरेश उद्योतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिए लिखी गई और इसका आधार 'चन्द्रालोक' है। 'ललित ललाम' ग्रन्थ बूदी नरेश भावसिंह की प्रशसा में लिखा गया। इसमें लक्षण दोहो में तथा उदाहरण कवित्त-सवैयो में है। इसमें चित्र को छोडकर समस्त अलकारो को अर्थालकार ही माना गया है। इसके अन्तर्गत सौ अलकारो और उनके भेदो का वर्णन है। इसमें सदेह नही कि उदाहरण अत्यन्त सुन्दर हैं। अलकारो के लक्षण भी मतिराम के स्पष्ट शुद्ध हैं। एकाध स्थलो पर यह अवश्य देखने को मिलता है कि उदाहरण लक्षण के मेल में नही हैं। अधिकाश उदाहरण बूदी नरेश छत्रसाल के पुत्र भावसिंह की प्रशसा में हैं। पर उनके साथ ही साथ सामान्यत नायिका के भाव, रूप, सौन्दर्य के वर्णन भी इनमें खूब हैं। अधिकाश लक्षण ठीक होने पर भी चलताऊ ही हैं। एकाध लक्षण मतिराम की सूक्ष्म ग्रहणशीलता प्रकट करते हैं। उपमा अलकार का लक्षण कुछ अधिक विस्तृत रूप मे देते हुए मतिराम ने लिखा है[1]—

> जाको वर्णन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
> जाकी समता दीजिए, ताहि कहत उपमान॥
> जहाँ वरनिए दुहुन की, सम छवि को उल्लास।
> पडित कवि मतिराम तहँ, उपमा कहत प्रकास॥

यहाँ पर 'सम छवि को उल्लास' पद से उपमालकार की आन्तरिक विशेषता प्रकट होती है। उपमेय और उपमान के बीच जो समान छवि या सादृश्य सबधी विशेषता है उसका सुन्दर प्रकाशन या अभिव्यक्ति उपमालकार में होती है। इनका उदाहरण भी ऐसा ही सुन्दर है।

---

१. ललित ललाम, ३९-४०।

मतिराम ने केवल अर्थालकारो का ही वर्णन किया है, शब्दालकारो को उन्होने नही लिया। मतिराम के क्रम और लक्षण को प्राय अक्षरश भूषण ने 'शिवराज भूषण' में ग्रहण किया है।

भूषण

मतिराम और चिन्तामणि के भाई टिकमापुर निवासी प्रसिद्ध कवि भूषण वीररस की कविता के लिए प्रख्यात हैं। ये अनेक राजाओ के यहाँ गए, परन्तु रीझने वाली विशेषताएँ शिवाजी और छत्रसाल में ही इन्हे प्राप्त हुईं। इनकी रचनाएँ ओजपूर्ण हैं। भूषण को आलकारिक ही कहना चाहिए। यद्यपि इनकी उक्तियाँ वीर रस-पूर्ण है फिर भी इनके प्रमुख ग्रन्थ 'शिवराज भूषण' में अलकारो के ही लक्षण-उदाहरण हैं। 'शिवराजभूषण ' की रचना स० १७३० वि० (सन १६५३ ई०) में हुई थी। इस ग्रन्थ पर मतिराम के 'ललित ललाम' का प्रभाव स्पष्ट है; अनेक लक्षण और उदाहरण वही हैं। लक्षण तो अधिकाश रूप में 'ललितललाम' के ही 'शिवराज-भूषण' में पाए जाते है। इस बात की पुष्टि के लिए मालोपमा, उल्लेख, छेकापह्नुति, दीपक निदर्शना आदि के लक्षण देखे जा सकते हैं, जिनमें न केवल भाव-साम्य है, वरन शब्दावली भी एक सी है। कही कही तो केवल कवि नाम का ही भेद है, जैसे मालोपमा का लक्षण लीजिए –

> जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
> तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान।। (ललित ललाम)
> जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान।
> ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान।। (शिवराजभूषण)

इसके साथ ही साथ अलकारो का क्रम भी दोनो कवियो का एक ही प्रकार का है। अर्थालकार 'ललित ललाम' में कुछ अधिक हैं पर 'शिवराज-भूषण' में शब्दालकार भी अर्थालकार के बाद दिए हुए है, यह विशेषता है। कुल मिलाकर भूषण ने भी सौ अलकारो का वर्णन किया है और बहुत से लक्षण भी गडबड है, जैसे परिणाम, भ्रम, निदर्शना, सम, परिकर, विभावना, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास आदि। कुछ लोगो का विचार है कि भूषण ने भाविक छवि आदि कुछ नवीन अलकार रखे हैं, पर उनमें कोई ऐसी नवीनता नही, केवल एक भेद मात्र ही यह भाविक अलकार का कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त सस्कृत के अलकार-ग्रन्थो में भाविक छवि इसी रूप में मिलता है।[1] मतिराम के लक्षण इनके लक्षणो से अधिक अच्छे है। हाँ, इनके उदाहरण अधिकाश वीर भाव के हैं, यह इनकी मौलिकता अवश्य है, जो भूषण को कवि-समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान और गौरव प्रदान करती है।

आचार्य कुलपति ध्वनि और सुखदेव तथा देव प्रमुखत रस सिद्धान्त पर आस्था रखने वाले आचार्य है। पर इन्होने अलकार का खण्डन नही किया है। देव के 'काव्य-रसायन' में अलकारो का वर्णन विस्तार के साथ है। इसमें अर्थालकार के दो भेद हैं। मुख्यालकार तथा गौण मिश्रालकार। प्रथम वर्ग में रसवत अलकारो का ही वर्णन है। कुल मिलाकर ८० अलकार और उनके भेदो का वर्णन है। इन्होने सन्देह अलकार के अतिरिक्त एक अलकार सशय अलग रक्खा

---

१. देखिए जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक', ५ मयूख, ११४।

है। सशय जहाँ उपमा देने में अनिश्चय रहता है, वहाँ माना गया है। भूषण के भाविक छवि की भाँति इसे भी एक मुख्य अलकार का एक भेद ही मानना अधिक उपयुक्त है। इसे सर्वथा एक अलग अलकार मानना उपयुक्त नही।

गोप

हिन्दी अलकार-शास्त्र के क्षेत्र में कतिपय कम प्रसिद्ध आचार्य कवियो के ग्रन्थ अधिक महत्वपूर्ण है और विशेष रूप से वे जिनमें केवल अलकारो का निरूपण हुआ है। सन १७१६ ई० (१७७३ वि०) तथा उसके आसपास ओरछा नरेश महाराज पृथ्वीसिह के आश्रय में गोप कवि ने तीन ग्रन्थो— रामालकार, रामचन्द्रभूषण और रामचन्द्राभरण—की रचना की। ये ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' की पद्धति पर है। प्रथम दोहार्द्ध में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिए गए है। सक्षेप में होने पर भी लक्षण और उदाहरण स्पष्ट है। गोप कवि द्वारा अपने ग्रन्थ 'रामचन्द्रभूषण' में दी गई अलकार की परिभाषा उसके यथार्थ स्वरूप और महत्व को स्पष्ट करने वाली है। उन्होने लिखा है—

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलकार सो जान।
भाव भेद गुन रूप तें, प्रगट होत है आन॥

यहाँ पर अलकार को शब्द और अर्थ की कलापूर्ण रुचिर रचना माना गया है जिसकी अभिव्यक्ति भावादि की स्थिति से होती है। इस लक्षण से भाव और गुण के साथ अलकार का सबध प्रकट हो जाता है। वे वाह्यरूप होते हुए भी रसभावादि से भिन्न नही है, वरन् उनका रूप अन्तस्थ भाव के अनुरूप एव उसी का सहचारी होता है। काव्य के सर्वांगीण विश्लेषण में अलकार का यह रूप अपना स्पष्ट स्थान रखता है। अलकारो का अधिकाश विवरण इन ग्रन्थो में परपरागत रूप में ही है, परन्तु स्वभावोक्ति के गोप कवि ने चार भेद—जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर किए है। इनका यह वर्णन केशव के द्वारा किए गए अलकारो के वर्गीकरण में किंचित विकास प्रस्तुत करता है। केशव ने सामान्य और विशिष्ट अलकार माने है। सामान्य में स्वाभाविक वर्णन का सौन्दर्य है और विशिष्ट में उक्ति-वैचित्र्य का। यहाँ पर काव्य के दो भेद—स्वभावोक्ति एव वक्रोक्ति—किए जा सकते है। वक्रोक्ति में उक्ति-वैचित्र्य पर आधारित समस्त अलकार है और स्वभावोक्ति में स्वभाविक यथातथ्य वर्णन आते है। दोनो ही अलकारो में शब्दार्थ की रुचिर रचना और रस भावादि का समावेश रहता है। अत अलकारो की यह धारणा अलकार के व्यापक महत्व को स्पष्ट करती है और अलकार की काव्य में अनिवार्यता सिद्ध करती है। मम्मट की परिभाषा—'सगुणावनलकृती पुन क्वापि'—इस दृष्टि से उचित नही ठहरती। वास्तव में अलकार-सम्प्रदाय का दृष्टिकोण यही है जिसे गोप ने अपने ग्रन्थो में प्रकट किया है।

अलकारो को लेकर एक दूसरे प्रकार के 'रस भूषण' ग्रन्थ लिखे गए जिनमें अलकार और रस दोनो के ही लक्षण और उदाहरण देने का चमत्कार पूर्ण प्रयत्न किया गया। इस दिशा में दो रस-भूषण प्रसिद्ध है—एक याकूब खाँ का 'रस भूषण' और दूसरा शिवप्रसाद का। याकूब खाँ का 'रस भूषण' सवत १७७५ वि० (सन १७१८ ई०) की रचना मानी जाती है और

शिवप्रसाद की रचना का निर्माण-काल सवत १८७९ वि० (सन १८२२ ई०) है, जो दतिया में राजा परीक्षित के आश्रय में लिखी गई। इन ग्रन्थो को कोई विशेष शास्त्रीय महत्व नही दिया जा सकता। हाँ, अलकार और रस का एक सबध इन ग्रन्थो के प्रयत्न द्वारा ढूँढा जा सकता है। किस अलकार के साथ कौन रस अधिक निष्पन्न होता है, इस समस्या पर भी ऐसे ग्रन्थो द्वारा प्रकाश पडता है। याकूब ने अपने ग्रन्थ 'रस-भूषण' में उपमालकार और नायिका-भेद को एक साथ प्रारभ किया है। वे लिखते है —

पूरण उपमा जानि, चारि पदारथ होंहि जिहि।
ताहि नायिका मानि, रूपवन्ति सुन्दर सुछवि॥
है कर कोमल कज से, ससि सी दुति सुख ऐन।
कुदन रँग पिक वचन से, मधुरे जाके बैन॥

इसमें तीन पूर्णोपमाओ में नायिका-वर्णन किया गया है। लक्षणो में कोई विशेषता नही है। इसी परिपाटी में इससे भी अधिक चमत्कार प्रदर्शित करने वाली 'व्यग्यार्थकौमुदी' है जिनमें शब्द-शक्ति, नायिका-भेद, और अलकार—तीनो का वर्णन एक साथ चलता है। निश्चय ही ये काव्य वुद्धि के व्यायाम है। न तो शास्त्रीय दृष्टि से इनमें कोई मौलिक चिन्तन ही हो पाया है और न हार्दिक काव्योद्गार ही इनमें प्रकट हुआ है। इस चमत्कारवादिता ने रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र दोनो को ही हानि पहुँचाई है।

श्रीधर

श्रीधर कवि प्रसिद्ध वीर काव्य 'जगनामा' के रचयिता थे। ये तीर्थराज प्रयाग के रहने वाले ओझा ब्राह्मण थे। वहाँ के नवाब मुशल्लेहखान के कहने पर इन्होने 'भाषा-भूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे १५० दोहरा या दोहा छन्द है। इसके आधार 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ है। जसवन्त सिह के 'भाषा-भूषण' के समान इसमें भी दोहे के अर्ध भाग मे लक्षण और आधे भाग में उदाहरण दिए गए है।

रसिक सुमति

'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखा गया रसिक सुमति का 'अलकार चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ है। ये मथुरिया टोला, आगरा के रहने वाले ईश्वरदास उपाध्याय के पुत्र थे। इन्हें अलकार पर ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा 'कुवलयानन्द' से प्राप्त हुई थी, यह ग्रन्थ के प्रारम्भिक दोहे से ही प्रकट है —

रसिक कुवलयानन्द लखि, असि मन हरप वढाय।
अलकार चन्द्रोदयहि, वरनतु हिय हुलसाय॥

'अलकार चन्द्रोदय' सवत १७८६ वि० (सन १७२९ ई०) का लिखा ग्रन्थ है और १८७ छदो मे समाप्त हुआ है। पुस्तक की समाप्ति पर रचना-काल इस प्रकार अकित है—

लिषि लषहु रस[६] वसु[८] रिषि[७] शशि[१] सवतई सावन मास।
कुज पुष्य तेरसि अमित को यह कियो ग्रन्थ प्रकास॥

'अलकार चन्द्रोदय' में १८७ दोहे है। १८० दोहो में अर्थालकार का और शेष में शब्दालकार-वर्णन है। यह 'भाषा-भूषण' की पद्धति पर है।

रसिक सुमति के विचार से शब्द और अर्थ की विचित्रता ही अलकार है।[१] उपमालकार से प्रारभ करके उसके अनेक भेद देते हुए ८० अर्थालकार और उनके भेदो तथा अनुप्रास का वर्णन किया गया है। बीच बीच में अलंकारो को स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक शब्दो को स्पष्ट किया गया है, जैसे, उपमेय-उपमान, विशेष्य-विशेषण, वाक्य-पद आदि। सामान्यत 'अलकार-चन्द्रोदय' अलकार का अच्छा ग्रन्थ है।

रघुनाथ

वाराणसी के राजा के आश्रित एव सभाकवि रघुनाथ वन्दीजन ने 'रसिकमोहन' नामक अलकार-ग्रन्थ की रचना स० १७९६ वि० (सन १७३९ ई०) में की थी। इस ग्रन्थ में केवल शृगार के ही नही, वरन अन्य रसो के भी उदाहरण देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'रसिक-मोहन' ग्रन्थ में कुल ४८२ छन्द है। इसमे लक्षण दोहो में और उदाहरण कवित्त-सवैया छन्दो में दिए गए है। 'रसिक मोहन' ग्रन्थ के अध्यायो का नाम रघुनाथ कवि ने मन रखा है। यह अलकार का अच्छा ग्रन्थ है।

गोविन्द

गोविन्द कवि का 'कर्णाभरण' नामक ग्रन्थ स० १७९७ वि० (सन १७४० ई०) की रचना है। रचना-तिथि का निर्देश ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार है—

नग[७] निधि[९] रिषि[७] विधु[१] वरष में, सावन सित तिथि सभु।
कीन्हौ सुकवि गुविन्द जू, कर्णाभरण अरभु॥३३८॥

इनके जीवन से सबद्ध अन्य विवरण प्राप्त नही है। मिश्रबन्धुओ ने केवल उनका रचना-काल और ग्रन्थ का नाम दिया है।[२] शुक्ल जी के इतिहास में कोई उल्लेख नही। 'शिवसिंह सरोज' में तीन छन्द और रचना-तिथि दी हुई है। उनका 'कर्णाभरण' ग्रन्थ भारत जीवन प्रेस से स० १८-९४ वि० में मुद्रित हुआ था। 'कर्णाभरण' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। अधिकाश दोहो के प्रथम भाग में लक्षण और द्वितीय में उदाहरण दिए हुए हैं। यह 'भाषाभूषण' की शैली पर है, किन्तु उससे अधिक स्पष्ट लक्षण देने वाली पुस्तक है। उदाहरण भी स्पष्ट और सुन्दर है। एकाध स्थान पर लेखक की मौलिकता भी देखने को मिलती है, जैसे गोविन्द कवि के अनुसार श्लेष के तीन भेद है—प्रकृतप्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृताप्रकृत। ये शब्दो से निकलने वाले प्रकृत अथवा अप्रकृत अर्थों के आधार पर दिए गए भेद हैं। इनका सापह्नवातिशयोक्ति का उदाहरण पर्यस्तापह्नुति का सा है। इसी प्रकार तुल्ययोगिता और दीपक के लक्षणो में भी भ्रम हो जाता

---

१. सब्द अरथ को चित्रता, विविध भांति की होइ।
अलकार तासो कहत, रसिक विबुध कवि लोइ॥

२. शिवसिंह सरोज, नवलकिशोर प्रेस, पृष्ठ ७८।

है, यदि उनका ठीक से अर्थ न किया जाय। पर ऐसे स्थल बहुत कम है। अधिकाश लक्षण स्पष्ट और उदाहरण सुन्दर है।

दूलह कवि

दूलह हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध आलकारिक है। ये हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य कवि कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ क ीन्द्र के पुत्र थे। मिश्रबन्धुओ के अनुसार ये कान्यकुब्ज थे और वनपुरा के रहने वाले थे। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका रचना-काल स० १८०७—१८३२ वि० (सन १७५०—१७७५ ई०) है। इनका ग्रन्थ 'कविकुल कठाभरण' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में अलकार की परिभाषाएँ और उदाहरण अत्यन्त सक्षेप में दिए हुए है। दूलह ने प्रारभ में ही कह दिया है कि —

> जो या कठाभरण को, कठ करे सुख पाय।
> सभा मध्य सोभा लहै, अलकृती ठहराय।।

इसके उदाहरण अलग से कोई काव्यगत महत्व नही रखते, क्योंकि वे लक्षण की लपेट में ही आए हैं, अलग नही। प्राय एक ही पक्ति का आधा भाग लक्षण और आधा भाग उदाहरण है। कुछ ही छन्द है जिनमें उदाहरण लक्षण से अलग है। यह ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द'के आधार पर है जिसका उल्लेख लेखक ने स्वय ही स्थान स्थान पर किया है। दूलह ने अपने ग्रन्थ में सात रसवदादि तथा आठ प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सभव, ऐतिह्य अलकारो का विवरण दिया है। अन्तिम आठ मीमासा, योग आदि दर्शन की शब्दावली पर आधारित है। इनका स्पष्टीकरण भेदो से और भी हो जाता है जैसे क्षीर-नीर न्याय पर सकर और तिल-तडुल न्याय पर ससृष्टि अलकार है। इसमें कुल ११७ अलकारो का वर्णन हुआ है और यह इनकी प्रौढ धारणा को व्यक्त करते हैं।

रसरूप

रसरूप ने सवत् १८११ वि० (सन १७५४ ई०) में 'तुलसी भूषण' नामक अलकार-ग्रन्थ की रचना की। इसमें लक्षण तो 'काव्यप्रकाश,' 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर लेखक द्वारा रचे गए है, परन्तु अलकारो के उदाहरण तुलसीदास की रचनाओ—'रामचरितमानस,' 'गीतावली' और कही कही 'बरवै रामायण'—से लिए गए है। कभी कभी एक ही लक्षण के उदाहरण में 'मानस' और 'गीतावली' दोनो से ही उदाहरण लिए गए हैं। इसमें अलकारो का वर्णन अकारादि क्रम से किया गया है।

रामसिह

नरवरगढ राज्य के राजा रामसिह, जो महाराज छत्रसिह के पुत्र थे, रस पर लिखने वाले प्रसिद्ध कवियो में से है। इन्होने 'अलकार-दर्पण' नामक अलकार ग्रन्थ सं० १८३५ वि० (१७७८ ई०) में लिखा। इसमें ४०० छन्दो में अलकारो के लक्षण और उदाहरण दिए गए है। 'अलकार-दर्पण' में विचित्रता यह है कि इसमें लक्षण तो सोरठा, चौपाई, गाथा, दोहा आदि छदो में दिए गए है, परन्तु उदाहरण दोहा छन्दो में है। अलकार सबधी धारणाएँ केशव के

समान है। फिर भी काव्य में अलकार को ये सहायक अग ही मानते है, अनिवार्य नही। 'अलकार-दर्पण' में ३८३ छदो में केवल अर्थालकारो का वर्णन है। इसका आधारभूत ग्रन्थ अधिकतर 'कुवलयानन्द' है।

सेवादास

प्रसिद्ध राम-भक्त अलबेले लाल के शिष्य सेवादास ने 'रघुनाथ अलकार' नामक ग्रन्थ राम-भक्ति के उदाहरण देते हुए लिखा है। लक्षण 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर है। इसका रचना-काल स० १८४० वि० (सन १७८३ ई०) है। लक्षण या अलकार शास्त्र की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नही है, पर उदाहरण भावपूर्ण है, इसमें सन्देह नही।

वैरीसाल

वैरीसाल असनी के निवासी ब्रह्मभट्ट थे। इनके वशज और हवेली अब तक विद्यमान है।[1] इनका रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भाषाभरण' अलकार का उत्तम ग्रन्थ है। लक्षण स्पष्ट और उदाहरण अत्यत सुन्दर है। 'भाषाभरण' में अधिकाश दोहे है और कुल ४७५ छद है। 'भाषाभरण' का रचना-काल स० १८२५ वि० (सन १७६८ ई०) है, जैसा कि नीचे लिखे दोहे से प्रकट होता है—

शर[5] कर[2] वसु[8] विधु[1] वर्ष में, निर्मल मधु को पाइ।
त्रिदशि और बुध मिलि कियो, भाषाभरण सुभाइ[2]॥

वैरीसाल के अनुसार शब्द और अर्थ में जिसकी प्रधानता है वही अलकार मानना चाहिए। प्रमुखतया यह कवि के अभिप्राय पर निर्भर करता है। इस तथ्य को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है—

ज्यो व्रज में व्रज-वधुन की, निरुमति सजी समाज।
मन की रुचि जापर भई, ताहि लखत व्रजराज॥

'भाषाभरण' में वर्णन का ढग 'भाषाभूषण' के समान है। इसका आधार 'कुवलयानन्द' है। लुप्तोपमा के प्रसग में इन्होने एक भेद पूर्ण लुप्तोपमा भी माना है जिसमें कि उपमा के चारो अग लुप्त हो और इसका उदाहरण इस प्रकार दिया है—

जहां न चार्यो है तहां, पूरण लुप्ता नाम।
ज्यहि लखि लाजत कोकिला, ताहि लीजिए स्याम॥

उपर्युक्त प्रकार के भेद की कल्पना की जा सकती है, पर ऐसा उदाहरण नही मिल सकता। प्रस्तुत उदाहरण प्रतीप की विशेषता रखता है और कोकिला के रूप में उपमान प्रकट ही है, लुप्त नही। अत यह पूर्ण लुप्तोपमा का उदाहरण नही हुआ। 'भाषाभरण' में रसवदादि अलकारो का भी वर्णन है। अधिकाश अलकारो के लक्षण और उदाहरण दोनो ही महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत ग्रथ 'कुवलयानन्द' की शैली पर लिखा गया है, इसका उल्लेख उन्होने अन्त में इस प्रकार किया है—

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, २, ७२९।
२. भाषाभरण, छन्द ८।

तेहि नारायण ईस की, करि मन माह सुमर्ण।
रीति कुवलयानन्द की, कीन्ही भाषाभर्ण।।

इस ग्रन्थ की अलकार के प्रामाणिक ग्रन्थो में गणना होनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अलकार पर लिखे जाने वाले ग्रन्थो की सख्या कम नही है। अलकार गगा (श्रीपति), कठाभूषण (भूपति), अलकार रत्नाकर (श्रीधर), अलकार दीपक (शम्भूनाथ), अलकार दर्पण (गुमान मिश्र, हरिनाथ, रतन, रामसिंह कवियो का), अलकार-मणि-मजरी (ऋषिनाथ), काव्याभरण (चन्दन), नरेन्द्र भूषण (भान), फतेहभूषण (रतन), अलकार-चिन्तामणि (प्रतापसिंह), अलकार आभा (चतुर्भुज), अलकार प्रकाश (जगदीश) तथा अन्य अनेक ग्रन्थ अलकारो पर लिखे गए जो आज दुर्लभ हैं। इनमें से अधिकाश के आधार 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' अथवा हिन्दी के ग्रन्थ हैं। पद्धति सब की अधिकाश वही है। जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अलकार की धारणा में कोई महत्वपूर्ण विकास या नवीन मौलिक व्याख्या इनमें प्रस्तुत नही की गई होगी।

रामसहाय

रामसहाय भवानीदास कायस्थ के पुत्र थे, और काशी के रहने वाले थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामसतसई,' 'वृत्ततरगिणी' तथा 'वाणीभूषण' हैं। 'वाणीभूषण' प्रमुखतया अलकार का ग्रन्थ है जिसे कवि ने 'काव्य प्रदीप', 'कुवलयानन्द' तथा कुछ अन्य ग्रन्थो के आधार पर लिखा था। लक्षणो तथा उदाहरणो को स्पष्ट करने के लिए व्रजभाषा में वर्णित अलकारशास्त्र पर यह वृहत् ग्रन्थ है। सब से पहले अर्थ, प्रयोग, शब्द शक्ति आदि का सकेतितार्थ के रूप में वर्णन है फिर उपमा भाव के अन्तर्गत उपमा तथा अन्य सादृश्यमूलक अलकारो का वर्णन है। इसके बाद अर्थालकारो का और फिर शब्दालकारो का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में अलकारो के लक्षणो का, विभिन्न भेदो का तथा उनको स्पष्ट करने वाले उदाहरणो का बहुत ही बारीक विश्लेषण और विवेचन किया गया है। गद्य वार्ता में इतना बारीक विवेचन करने वाले ग्रन्थ अत्यल्प हैं। इस अकेले ग्रन्थ से कवि रामसहाय की विद्वत्ता प्रमाणित होती है।

पद्माकर

पद्माकर को रीति-काल का अन्तिम आलकारिक कहना चाहिए। कवि तथा रीति-ग्रन्यकार दोनो के ही रूप में पद्माकर का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। इतना ही नही, आगे के कवियो पर भी पद्माकर की वाणी की ाक रही। इनके 'पद्माभरण' के आधार-ग्रन्थ 'चन्द्रालोक', 'भाषाभूषण', 'कविकुलकठाभरण' और 'भाषाभरण' हैं—बैरीसाल के 'भाषाभरण' का आदर्श इसमें अधिक ग्रहण किया गया है। कही कही तो ऐसा जान पडता है कि पद्माकर ने 'भाषाभरण' के ही छन्दो को थोडा बदल कर रख दिया है। तुलना के लिए देखिए—

कहुँ पद ते कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुन के जोइ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलकार त्यो होइ।।
अलकार यह ठौर में, जो अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कवि को जहाँ, सो प्रधान तिनि माँहि।। (भाषाभरण)

के 'पद्माभरण' को देखिए—

शब्दहुँ ते कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहूँ उर आनि।
अभिप्राय जिहिं भाँति जहँ, अलकार सो मानि।।
अलकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहाँ, वहै मुख्य गति एक।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'भापाभरण' का आधार पद्माकर ने ग्रहण किया है। 'चन्द्रालोक' का भी कही कही पूरा का पूरा भाव मिलता है, जैसे अपह्नुति का उदाहरण दोनो में एक है जो इस प्रकार है—

नाय सुधाशु किं तर्हि ? व्योमगगासरोरुहम्। (चन्द्रालोक)
यह न ससी तो है कहा ? नभगगा जलजात। (पद्माभरण)

इस प्रकार हम देखते है कि केशव के उपरान्त देव आदि आचार्यों को छोड कर हिन्दी के अधिकाश रीति ग्रन्थकारो के लिए अलकार-निरूपण के लिए आधारभूत ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' रहे। रीति युग के उपरान्त आधुनिक युग में जो ग्रन्थ अलकारो पर लिखे गए वे अधिकाश 'काव्य-प्रकाश' या 'साहित्य-दर्पण' के आधार पर है। वास्तव में जिन्होने रीतिकाल में केवल अलकार पर ही अलग ग्रन्थ लिखे, उन्होने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का आधार ग्रहण किया, परन्तु जिन्होने काव्यशास्त्र के अन्य विपयो के साथ अलकार को लिया है उनके आधार प्राय 'काव्य प्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि ग्रन्थ रहे है।

ख. रस-सम्प्रदाय

सस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने रस को नाटक से सबधित प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप में देखा और काव्य के अन्तर्गत रस की स्थिति की चर्चा सब से पहले नाटक के प्रसग में हुई। भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' काव्यशास्त्र का सब से प्राचीन ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ में रस का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार नाटक में आठ रस है—शृगार, वीर, करुण, अद्‌भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स और रौद्र। रस-निप्पत्ति नाटक का प्रमुख ध्येय है, यह बात 'नाट्यशास्त्र' से स्पष्ट हो जाती है। इसका सबध नाटक से स्वीकृत होने पर प्राचीन आचार्यो ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में कविता से अलकार का सबध ही विशेषत माना। बहुत समय तक तो रस नाटक का ही विषय माना जाता रहा। इसीलिए काव्यशास्त्र का अलकार शास्त्र नाम प्रसिद्ध हुआ। काव्यालकारशास्त्र के प्रारभिक आचार्यों—भामह, दडी, वामन, उद्‌भट आदि—ने अलकारो के भीतर रस की साधारण स्थिति रसवदादि अलकारो के रूप में स्वीकार की। काव्य के भीतर रस की, अलंकारो से भिन्न स्वतत्र स्थिति सब से पहले आचार्य रुद्रट के द्वारा प्रतिपादित की गई और यह प्रकट किया गया कि रस नाटक तक ही सीमित नही, वरन वह काव्य के लिए भी आवश्यक है। रुद्रट के विचार से रसहीन काव्य शास्त्र की कोटि में आना चाहिए।[1] उन्होने

---

१. काव्यालंकार, १२२।

रसो की सख्या दस मानी। शान्त और प्रेयस ये दो रस आठ नाट्य रसो के अतिरिक्त उन्होंने प्रतिष्ठित किए। इतना ही नही, रुद्रट की दृष्टि में अन्य सचारी भाव भी रस में परिणत हो सकते हैं।[1] रस को अलकार के भीतर रखने के वे विरोधी थे।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, परन्तु उन्होने काव्य के क्षेत्र में रस का महत्व स्वीकार किया है। ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत तो रस स र्वोत्तम ध्वनि है। राजशेखर ने भी अपनी 'काव्यमीमासा' नामक पुस्तक में रस को काव्य-पुरुष की आत्मा के रूप में सबोधित किया है--

'शब्दार्थों ते शरीर, सस्कृत मुख, प्राकृत बाहु उक्ति चरण च ते वच, रस आत्मा,रोमाणि छन्दासि।'[2] दसवी शताब्दी वि० के प्रारभ तक काव्य में रस की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध करने वाले आचार्यों--जैसे प्रतिहारेन्द्रराज, भट्टनायक, धनजय, धनिक आदि--ने भी रस के महत्व को स्वीकार करते हुए उसे काव्य की आत्मा माना। भट्टनायक ने तो रसानुभूति का बडा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया और साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा रसानुभूति की प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आचार्य अभिनव गुप्त ने यद्यपि ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतो का खण्डन किया, पर उन्होने रस को काव्य में महत्वपूर्ण स्थान दिया। रस ध्वनि-काव्य का श्रेष्ठ और सब से अधिक प्रभावका ी रूप है। इसमें सन्देह नही कि ध्वनि का एक रूप हो कर रस का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है, अत रसवादियो को इस रूप में रस की स्थिति मान्य नही हुई।

काव्य रस को अत्यन्त गभीर महत्व तथा व्यापक मान्यता प्रदान करने वाले आचार्य भोजराज (स० १०७५--१११ वि० = १०१८-१०५४ ई०) हैं। उनकी दृष्टि से रस-काव्य सर्वोपरि है, यथा--

वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणी तासु रसोक्ति प्रतिजानते।[3]

रस को सर्वोपरि प्रतिष्ठित कर के भोज ने अपने ग्रन्थ 'शृगार प्रकाश' में रस का गभीर दार्शनिक विवेचन किया है। भोज के विचार से रस एक है--शृगार। काव्य में गुण के समान रस का अवियोग भी नित्य है। रस की पहली अवस्था अहकार है। दूस ी अवस्था इससे उत्पन्न विभिन्न भावो की व्यवहार-अवस्था है जिसमें रस अनेक हैं। तीसरी स्थिति उत्तरा अवस्था है जिसमें अहकार प्रेम में परिणत हो जाता है। द्वितीय अवस्था भावो की तथा तृतीय अवस्था भावना की अवस्था है। शृगार के सबध में भोज की धारणा अत्यन्त उच्च है। शृगार उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला है--येन शृग रीयते। भोज ने शृगार को पूर्ण रस के रूप में स्वीकार किया।

---

१. शृगारवीरकरुणबीभत्सभयानकाद्भुतहास्यरौद्रशान्तप्रेयानितिमन्तव्यरस। रसनाद्रसत्वमेषा मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैर्निर्वेदादिष्वपितन्निकाममस्त्येवेतितेपिऽ रसाः।
२ काव्यमीमासा, पृष्ठ ६।
३. सरस्वती कठाभरण, ५-८।

इसके बाद आचार्य विश्वनाथ ने रस की महत्वपूर्ण स्थापना की। उनकी काव्य की परिभाषा—'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्'—बडी प्रचलित हुई। उनके मतानुसार रसानुभूति के लिए सत्वोद्रेक और आत्मप्रकाश आवश्यक है। यह रसानन्द ब्रह्मास्वाद-सहोदर है। भवभूति की चित्तविद्रुति के समान विश्वनाथ ने चमत्कार या चित्तविस्तार को महत्वपूर्ण माना। विश्वनाथ के विचार से अद्भुत रस प्रधान और अन्य रस उसी के विविध रूप माने जाने चाहिए। पडितराज जगन्नाथ ने अपनी धारणा वेदान्त-सम्मत प्रकट की। उनके विचार से रस निजस्वरूपानन्द है जो चित्त के भग्नावरण रूप होने पर प्रस्फुटित होता है। यह भग्नावरणता विभावादिको द्वारा सपादित होती है। इस प्रकार सस्कृत काव्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के भीतर रस का महत्व धीरे धीरे सर्वमान्य होता गया। रसात्मक काव्य की सर्वोत्कृष्ट काव्य के रूप में प्रतिष्ठा हुई और इस धारणा का हिन्दी के रस-ग्रन्थ के रचयिताओ पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडा है।

हिन्दी के आचार्य

रस-विवेचन के प्रसग में भी सब से प्रसिद्ध स प्रथम आचार्य केशवदास ही माने जाते हैं। केशव के पूर्व रस, नायिका-भेद पर कुछ ग्रन्थ लिखे गए। कृपाराम की 'हिततरगिणी', नन्ददास की 'रसमजरी', रहीम का 'बरवै नायिका-भेद', बलभद्र कृत 'रस-विलास' आदि ग्रन्थ विशेष शास्त्रीय महत्व के नही हैं। बलभद्र मिश्र केशवदास के बडे भाई थे। इनका 'शिखनख' ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'रस-विलास' ग्रन्थ भी काव्य की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसमें रस के अग-रूप भावो का नए ढग से वर्णन है जैसा कि आगे के आचार्यों का वर्णन नही। यह कहा जा सकता है रस के सबध में विचार प्रकट करने वाले ग्रन्थो में केशवदास की 'रसिकप्रिया' महत्वपूर्ण है। रस-वर्णन में राधा और कृष्ण के भावो का वर्णन है। केशव ने ब्रजराज कृष्ण को नव रसमय माना है, अत समस्त रसो का वर्णन कृष्ण राधा के प्रसग से ही हुआ है। विभाव, अनुभाव और सचारी भाव मिल कर के जो स्थायी भाव व्यजित करते हैं वही आनददायी रस होता है।[1] केशव यह मानते है कि रुचि और शत्रुता का ध्यान रख कर जो सरस कविता की जाती है वही सज्जनो के चित्त को वश में करती है। शृगार सब रसो का नायक है। इसमें प्रेम-सबधी दक्षता और चतुराई तथा कामशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। सयोग और वियोग शृगार को प्रच्छन्न और प्रकाश इन दो भेदो में केशवदास ने प्रकट किया है। प्रच्छन्न तथा प्रकाश भेदो में वर्णन केशव की नवीनता कही जा सकती है। भोजराज ने 'शृगारप्रकाश' में अनुराग के दो भेद प्रच्छन्न और प्रकाश किए हैं। उसी के आधार पर ही केशव का यह भेद जान पडता है। 'रसिकप्रिया' में भाव की परिभापा बडी व्यापक है। मुख, नेत्र, वचन के मार्ग से मन की बात प्रकट होना भाव है जिसके केशव ने पाँच भेद माने हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायी, सात्विक और व्यभिचारी।[2] केशव के अनुसार विभाव वे हैं जिनसे जगत में अनेक रस अनायास ही प्रकट हो। यहाँ केशव का जगत

---

१. मिलि विभाव अनुभाव पुनि, सचारी सु अनूप।
व्यग करे थिर भाव जो, सोई रस सुखरूप॥ —रसिकप्रिया प्रकाश।

२. रसिकप्रिया, ६–२

से तात्पर्य सहृदय समाज और आश्रय है। केशव ने रस को अतन माना है। इस प्रकार उनका विचार है कि अशरीरी रस जिसका सहारा लेकर प्रकट होता है, वह आलम्बन और जिससे प्रकर्ष को प्राप्त होता हो, वह उद्दीपन विभाव है। आलम्बन और उद्दीपन के अनुकरण अर्थात बाद में प्रकट होने वाले भाव अनुभाव हैं और जो सभी रसो में बिना नियम के उत्पन्न होते हैं, वे व्यभिचारी भाव है। केशव ने सात्विक को अनुभाव से अलग माना है, पर इसकी व्याख्या नही की। 'रसिकप्रिया' के प्रसिद्ध टीकाकार सरदार कवि ने दोनो का भेद स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है—'अरु सात्विक को अनुभाव को इतनो भेद है सात्विक रस को ज्ञापक नही जैसे कप स्तभ स्वेद भयो तो यह यह नही जानी जात कि भय ते या क्रोध ते है या ते न्यारी है अरु अनुभाव से जान परत या ते भयो है या ते रस के सब पाँच अग कहे।"[1] वियोग शृगार के पाँच भेद—पूर्वानुराग, करुणा, मान, प्रवास—केशव ने बताए है। उन्होने करुण और करुण विरह का अन्तर समझाते हुए लिखा है कि जहाँ पर प्रेम के कारण दु खानुभूति होती है वहाँ करुण विरह और जहाँ विपत्तियो, मरण के कारण दु खानुभूति हो वहाँ करुण रस होता है। हास्य रस के केशवदास ने मदहास, कलहास, अतिहास और परिहास ये चार भेद माने हैं, परन्तु इनके उदाहरण हास्य के नही है, क्योकि हास कथित है, व्यग्य नही। अन्य रसो का चलताऊ वर्णन है। रस-वर्णन की पद्धतियो के रूप में वृत्तियो का वर्णन 'रसिकप्रिया' में हुआ है। रस-दोषो के वर्णन के साथ यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

सुन्दर कवि

सुन्दर शाहजहाँ के दरबारी कवि थे। इन पर प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने इन्हें महाकवि की उपाधि प्रदान की थी। इन्होने अपने 'सुन्दर शृगार' ग्रन्थ में शृगार रस तथा नायिका-भेद का वर्णन किया है। भाव की परिभाषा इनकी केशव के समान ही है। 'सुन्दर शृगार' ग्रन्थ सन १६३१ ई० (स० १६८८ वि०) में रचा गया। इस ग्रन्थ में लक्षण दोहा और हरिपद छन्दो में तथा उदाहरण कवित्त, सवैया छन्दो में दिए गए है। सचारी भावो को छोड़कर शृगार रस का पूरा वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। रस पर प्रारभिक ग्रन्थ होने से इसका काफ़ी प्रचार रहा।

चिन्तामणि त्रिपाठी

चिन्तामणि त्रिपाठी हिन्दी के प्रसिद्ध रीतिकालीन शृगार और वीर रस के कवि मतिराम और भूषण के बडे भाई थे। इनकी गणना रीतिकालीन प्रसिद्ध आचार्यों में है। इनका रचना-काल विक्रमीय १८ वी शताब्दी का प्रारभ है। चिन्तामणि ने अनेक ग्रन्थ लिखे, परन्तु इनके सब ग्रन्थ उपलब्ध नही है। उपलब्ध ग्रन्थो में रस-सबधी इनके विचार 'कविकुलकल्पतरु' और 'शृगारमजरी' में मिलते हैं। 'कविकुल कल्पतरु' में तो इन्होने काव्य की परिभाषा ही रस के आधार पर दी है—

वतकहाउ रस में जु है, कवित कहावै सोय।

---

१. रसिकप्रिया, ६-१४ पर सरदार कवि की टीका।

इस ग्रन्थ के छठें अध्याय में नायिका-भेद, हाव-भाव तथा सातवें-आठवें अध्यायो में क्रमश शृगार तथा अन्य रसो का वर्णन किया गया है। उनका उपनाम 'मनि' तथा 'श्रीमनि' भी मिलता है।

चिन्तामणि की 'शृगारमंजरी' शृगार रस और नायिका-भेद पर लिखी गई अत्यन्त प्रौढ पुस्तक है। परन्तु यह मौलिक ग्रन्थ नही। यह हैदरावाद के प्रसिद्ध साहित्य-रसिक वडे साहिव अकवर साहि के आश्रय में किया गया सस्कृत (मूल तेलुगु) की 'शृगारमजरी' नामक पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। इसमें लक्षण और व्याख्या भाग तो अनुवादित हैं, किन्तु उदाहरण भाग चिन्तामणि द्वारा स्वय विरचित हैं।

'शृगारमजरी' प्रमुखतया भानुदत्त की 'रसमजरी' पर आधारित है। यद्यपि इसकी रचना 'रसमजरी' के अतिरिक्त 'आमोद-परिमल', 'शृगारतिलक', 'रसिकप्रिया', 'रसार्णव', 'प्रतापरुद्री', 'सुन्दर शृगार', 'सरस काव्य', 'विलास रत्नाकर', 'काव्य परीक्षा', 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रन्थो के अध्ययन के वाद हुई है, पर प्रमुख ढाँचा 'रसमजरी' का सा ही है और उसी के अनुसार लक्षण दिए हैं। 'शृगारमजरी' में महत्वपूर्ण अश वह है जिसमें इन्होने लक्षणो की मौलिक और सरल व्याख्या की है। यह ग्रन्थ सरल और प्रामाणिक है, पर नवीन भेद-प्रभेदो के अतिरिक्त धारणा को स्पष्ट करनेवाला नही। इसमें शृगार का वर्णन है। शृगार का लौकिक-अलौकिक दो भेदो में विश्लेषण किया गया है, जो इस ग्रन्थ की विशेषता है।

तोष

तोष कवि शृगवेरपुर (सिंगरौर) के रहने वाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इनका सवत १६९४ वि० (सन १६३७ ई०) का लिखा हुआ ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। यह १८३ पृष्ठो का वडा ग्रन्थ है और ५६० छन्दो में इसमें रस-निरूपण हुआ है। 'सुधानिधि' ग्रन्थ की सरसता उदाहरणो में है, लक्षणो में कोई विवेचन सवधी नवीनता नही। इसमें नव रसो, भावो, भावोदय, भावशान्ति, भावशवलता, रसाभास, रसदोष, ृत्ति और नायिका-भेद का वर्णन है। रस-वर्णन में इन्होने रस-सवधी सभी वातो का वर्णन किया है, पर इनके लक्षणो में कोई मौलिक विशेषता नही है। 'सुधानिधि' तोष कवि का प्रसिद्ध ग्रन्थ है, इसके उदाहरण इनकी कवित्व प्रतिभा के द्योतक हैं।

मतिराम

कवि मतिराम की प्रसिद्धि प्रधानतया उनके ग्रन्थ 'रसराज' के कारण है। कोमल शव्दावली में सुकुमार भावो को प्रकट करने वाले रीति-काल के प्रसिद्ध कवि चिन्तामणि की 'शृगारमजरी' के समान मतिराम का 'रसराज' है। इसमें शृगार का नायक-नायिका-भेद रूप में वर्णन है। मतिराम के लक्षण अधिक महत्वपूर्ण नही, हाँ, उदाहरण अवश्य वडे ही सरस, कोमल, कल्पना-युक्त और ललित हैं। नायिका की परिभाषा देते हुए मतिराम ने लिखा है—

उपजत जाहि विलोकि कै चित्त वीच रस भाव ।

जिसे देखकर रस के भाव उत्पन्न हो वह नायिका है, यह लक्षण किया गया है जो ठीक नही। शत्रु को देख कर क्रोध का भाव उत्पन्न होता है, उसे नायिका कौन कहेगा ? यहाँ रस का तात्पर्य मधुर,

सरस, कोमल ही लेना पडेगा। अन्य लक्षण भी ऐसे ही हैं। भाव की परिभाषा 'रसराज' में केशव और सुन्दर की परिभाषा से भी व्यापक है —

लोचन वचन प्रसाद मृदु, हास, वास, घृत मोद।
इनते परगट जानिए, बरनत सुकवि विनोद।।

यह लक्षण भी ठीक नही। 'रसराज' को प्रमुखत काव्य-ग्रन्थ ही कहा जा सकता है, शास्त्र-ग्रन्थ नही। शृगार और नायिका-भेद पर लिखे ग्रन्थ अधिकाशत इसी प्रकार के हैं। सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव' भी विस्तार से नायिका-भेद का ही विवरण प्रस्तुत करता है। शृगारेतर रसों का वर्णन अत्यन्त साधारण है। 'रसार्णव' के अतिरिक्त सुखदेव कृत 'रसरत्नाकर' ग्रन्थ भी रस का वर्णन प्रस्तुत करता है। इसके प्रारभ में 'रसमजरी' के आधार पर नायिका-भेद दिया गया है। कुछ प्रभेद इन्होने अवश्य नए दिए हैं। रस-वर्णन मे शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त का क्रम से उल्लेख है। सभी विवरण दोहा छन्दो में हैं। सात्विक भावो का अत में केवल नामोल्लेख ही हुआ है।

रामजी का 'नायिका-भेद', गोपालराम का 'रस-सागर', बलिराम का 'रस-विवेक', कल्यानदास का 'रसचद,' आदि ग्रन्थ भी ऐसे ही हैं। १७ वी शताब्दी ईसवी के अत और अ ारहवी शदाब्दी के प्रारभ में रस के क्षेत्र मे सबसे महत्वपूर्ण कार्य आचार्य देव का है।

देव

महाकवि देव ने अनेक आश्रयदाताओ के आश्रय में अनेक ग्रन्थ लिखे। ये प्रधानतया रसवादी आचार्य कवि थे। देव ने रस पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें अधिकतर शृगार और नायिका-भेद की ही चर्चा है और एक ही प्रकार के भाव अन्य ग्रन्थो में भी आए हैं। रस-सबधी इनकी धारणा प्रमुखतया 'भाव-विलास', 'भवानी-विलास' और 'काव्य-रसायन' में प्रकट हुई है। देव ने रस के दो भेद माने हैं[1]—लौकिक और अलौकिक। नेत्रादि इन्द्रियो के सयोग से आस्वाद्यमान रस लौकिक तथा आत्मा और मन के द्वारा आस्वाद्यमान रस अलौकिक होता है, यह देव का विचार है। अलौकिक रस तीन प्रकार का है—स्वापनिक, मनोरथ, औपनायक तथा लौकिक रस के शृगारादि नौ भेद हैं। देव का यह वर्णन भानुदत्त की 'रसतरगिणी' के आधार पर है। देव ने धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से सुख की उत्पत्ति मानी है और सुख का रस शृगार स्वीकार किया है। देव के विचार से रस नौ नही, वरन शृगार ही अकेला रस है। वही सब का मूल है। शृगार के प्रति उत्साह से वीरादि और निर्वेद या विरक्ति से शान्तादि उत्पन्न होते हैं—

भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल शृगार।
तेहि उछाह निरवेद लै, वीर शान्त सचार।।[2]

---

१. भावविलास, पृष्ठ ६५।
२. भवानीविलास, १-१०।

देव के ये विचार बहुत कुछ भोज की रस-सबधी धारणा से मेल खाते हैं। देव ससार को नवरसमय तथा शृगार को उसका सार रूप मानते हैं। 'काव्य रसायन' में नौ रसो का वर्गीकरण 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है, पर शृगार के वर्णन में इनकी मौलिकता स्पष्ट है। देव कहते हैं कि शृगार आकाश के समान है जिसमें अन्य रस पक्षियो के समान उड़कर भी उसका अन्त नही पाते।[1] प्रकृति पुरुष के शृगार में नवरस का सचार होता है और वे उसी के भीतर प्रकट और विलीन होते रहते हैं। देव ने शृगार की गभीर महत्ता प्रकट की है। उन्होने जीवन, काव्य और रस का सबध स्थापित करते हुए लिखा है कि कवित्वपूर्ण शब्दार्थ के वशीभूत सज्जनो का चित्र होता है और काव्य के द्वारा समाज को द्रवित किया जा सकता है। इस प्रकार सहृदयो के हृदय को द्रवित करने वाले काव्य का सार रस है। इसी भाव को प्रकट करते हुए 'काव्य रसायन' में देव ने लिखा है—

> भावनि के वस रस वसत, विलसत सरस कवित्त।
> कविता शब्द अर्थ पद, तिहि वस सज्जन चित्त।।
> काव्यसार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यै सार।
> सो रस वरसत भाव वस, अलकार अविकार।।[2]

इस प्रकार देव की रस-सबधी धारणा अपना निजी महत्व रखती है। देव के पश्चात कालिदास, कृष्णभट्ट, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, उदयनाथ, कवीन्द्र, दास आदि अनेक आचार्यों ने नायिका-भेद और रस पर लिखा है। परन्तु रस के सबध में कोई इनमें महत्त्वपूर्ण नही लगते हैं।

कृष्णभट्ट देवऋषि

कृष्णभट्ट देवऋषि विदवती के राजा वुद्धसिह देव के आश्रय में थे। ये वडे विद्वान् एव प्रतिभा-सपन्न कवि थे। इनको 'कविकोविद चूडामणि सकल कलानिधि' की उपाधि दी गई थी। महाराज वुद्धसिह की आज्ञा से स० १७६९ वि० (सन १७१२ ई०) में इन्होने 'शृगाररसमाधुरी' की रचना की। इस ग्रन्थ में शृगार के भेद (सयोग, वियोग), नायक-भेद, अनेक आधारो पर नायिका-भेद, दर्शन, दूती आदि का वर्णन है। शृगार के सयोग पक्ष के वाद विप्रलभ का वर्णन वडा ही सुन्दर है। इसके वाद अन्य रसो, वृत्तियो और रस-दोपो का वर्णन है। ग्रन्थ सोलह स्वादो में समाप्त हुआ है। इनके उदाहरण वडे कवित्वपूर्ण हैं।

उजियारे

वृन्दावन निवासी उजियारे कवि ने सवत १९३७ वि० (सन १७८० ई०) में 'जुगलरसप्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें रस का विवेचन भरत के 'नाट्यशास्त्र' के आधार पर है। इसकी विशेपता यह है कि रस-सवधी वातो को स्पप्ट करने के लिए लेखक ने प्रश्न

---

१. काव्यरसायन, पृष्ठ ३।
२. वही, पृष्ठ ३।

करके शकाओ को उठाया है और फिर उनके उत्तर दिए हैं यह प्रश्नोत्तर प्रणाली हमारी स्पष्ट धारणा बनाती है।[1]

यशवन्त सिंह

यशवन्त सिंह का ग्रन्थ 'शृगारशिरोमणि' सवत १८५७ वि० (सन १८०० ई०) के लगभग लिखा ग्रन्थ है। इसमें शृगार रस का विस्तारपूर्ण विवेचन है। शृगार को शिरोमणि मानकर उसका विवरण इसमें अच्छी तरह दिया गया है। स्थायी भाव की परिभाषा उनकी यह है—

प्रगटत रस के प्रथम ही, उपजत जौन विकार।
सो थाई तासो कहत, नवधा नाम प्रकार।।[2]

उत्पन्न होते हुए रस के प्रथम जो विकार प्रकट हो वह स्थायी भाव है। वास्तव में 'स्थायी भाव प्रकट हुआ', यह कहना कठिन है, वह तो सचारी भावो, अनुभावो के रूप में ही प्रकट होता है, और प्रकट होना ही रस की स्थिति है, अत उसके पहले 'प्रकट हुआ' नही कहा जा सकता, उसकी आन्तरिक अनुभूति हो सकती है। रति के दो भेद—श्रवण और दर्शन—इन्होने माने है। इसमें उद्दीपन का वर्णन भी विस्तारपूर्वक हुआ है। नायक के सहायक नर्म, सचिव, आदि के अनेक भेद जैसे व्याकरणी, नैयायिक, पूर्वमीमासक, उत्तरमीमासक, वेदान्ती, योगशास्त्री, ज्योतिषी, सामुद्रिकी, वैष्णव, शैव, आरण्य, तीर्थाश्रयी, पौराणिक आदि माने गए हैं जो अपने अपने सिद्धान्तो के अनुकूल प्रेम की बातें वताते है।

रामसिंह

हिन्दी काव्यशास्त्र के भीतर रस-सप्रदाय में देव के बाद हमें महत्वपूर्ण विचार रामसिह के 'रसनिवास' ग्रन्थ में मिलते हैं। इसका रचना-काल स०१८३९ (१७८२ ई०) है। इसमें रसानुकूल मनोविकारो को ही भाव की सज्ञा दी गई है। हास्य रस के निरूपण मे रामसिंह ने महत्वपूर्ण योग दिया है। हास्य के स्थायी सहता के दो भेद स्वनिष्ठ और परनिष्ठ इन्होंने माने हैं और इनमें से प्रत्येक के छ भेद—मुसुकानि, हँसनि, विहसनि, उपहसनि, अपहसनि और अतिहसनि—कहे है। इनमें प्रथम दो उत्तम, द्वितीय दो मध्यम तया अन्तिम दो अधम हैं। रामसिंह ने भानुदत्त की 'रसतरगिणी' के अनुसार मायारस का भी निरूपण किया है जिसका स्थायी भाव मिथ्या ज्ञान है। वास्तव में शान्त को छोडकर सभी रस माया रस ही माने जाने चाहिए, क्योकि इनका सवध प्रवृत्ति से है। ऐसी दशा में माया रस की अलग स्थापना करना उचित नही ठहरता।

रामसिंह ने रस के आधार पर काव्य-कोटि-निर्णय भी किया है। यह निर्णय ध्वनि-सिद्धात में निरूपित काव्य-कोटि के समान महत्वपूर्ण है। इसके आधार पर इन्होंने काव्य की तीन कोटियाँ निर्धारित की है—अभिमुख, विमुख और परमुख। जिसमें रस की निष्पत्ति हो, वह काव्य

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिए—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ १५५।
२. शृगार शिरोमणि, १-८।

रसाभिमुख है, इसमें प्रमुखत रस-निरूपण होता है। जिसमें रस का पूर्ण अभाव हो, वह काव्य रसविमुख, परन्तु जिसमें रस नही, वरन भाव, अलकार, रीति आदि की प्रधानता हो, वह परमुख है। परमुख के दो प्रधान भेद हैं—(१) अलकारमुख, (२) भावमुख। इस प्रकार यह कोटि-निर्णय 'काव्यप्रकाश' की ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य और अव्यग्य के समान है।

देव की भाँति रामसिह ने भी लौकिक और अलौकिक दो भेद रस के किए हैं और शृगारादि को लौकिक रसो में परिगणित किया है। रामसिह का स्थान रस-सप्रदाय में महत्वपूर्ण है। इनका अधिकाश विवेचन भानुदत्त की 'रसतरगिणी' के आधार पर हुआ है।[1]

पद्माकर

महाकवि पद्माकर का रस पर लिखा गया प्रसिद्ध ग्रन्थ 'जगतविनोद' है जो जयपुर सूर्यवशी कछवाहे राजा प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह की आज्ञा से रचा गया था। रचना-काल सन १८१० ई० (स० १८६७ वि०) के लगभग है। 'जगतविनोद' रसराज के समान ग्रन्थ है जिसमें शास्त्रीय विवेचन नही, वरन अत्यन्त सुन्दर उदाहरणो का महत्व है। पद्माकर ने युग की परिपाटी के अनुसार रीति पद्धति पर लिखा है, पर वास्तव में है वे कवि ही और प्रमुखतया उनकी देन रीतिकाव्य के क्षेत्र में समझनी चाहिए।

वेनी प्रवीन

इसी परपरा का ग्रन्थ वेनी प्रवीन कृत 'नवरसतरग' है जो १८७४ वि० (सन १८१७ ई०) में आश्रयदाता नवलकृष्ण के लिए रचा गया। इसका उल्लेख 'नवरसतरग' के इन दोहो में

> ...वि दिग दीप युत, सिद्धि चन्द्र वल पाइ।
> मास श्रीपचमी, श्रीगोपाल सहाइ।।
> ...में ब्रजराज नित, कहत सुकवि प्राचीन।
> रस सुनि रीझिहैं, नवलकृश्न परवीन।।

... दोहा, वरवै छन्दो में तथा उदाहरण सवैया और मनहरण छन्दो में है। इसमें शृगार और नायिका-भेद का वर्णन अधिक विस्तार से है। अन्य रसो का वर्णन अत्यन्त सक्षिप्त है। लक्षण स्पष्ट और उदाहरण वडे सरस और मनोमोहक हैं। 'नवरसतरग' अपने काव्य-सौन्दर्य के कारण ही अधिक प्रसिद्ध है।

रसिक गोविन्द

रसिक गोविन्द वृन्दावन वासी महात्मा हरिदास के गद्दी शिष्य थे। इनका कविता-काल सन १७९३ से १८३३ ई० तक (स० १८५०–१८९० वि०) माना जाता है। इनके वनाए नौ ग्रन्थो का पता चलता है जिनमें अधिकाश कृष्ण-भक्ति सवधी हैं। एक ग्रन्थ 'रसिक गोविन्दानन्दघन' में काव्यशास्त्र विषयक सामग्री है। 'रसिकगोविन्दानन्दघन' की रचना स० १८५८ वि०

---

१. देखिए भानुदत्त कृत रसतरंगिणी की छठवीं और सातवीं तरगें।

(सन १८०१ ई०) में हुई थी। इसके अन्तर्गत अलकार, गुण, दोष, रस तथा नायक-नायिकाओ का बडा विशद वर्णन है। इनमे लक्षण व्रजभाषा में तथा उदाहरण सरस व्रजभाषा पद्य में है। प्रश्नोत्तरो द्वारा काव्यशास्त्र सबधी अनेक शकाओ का समाधान किया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनो में ही सस्कृत के ग्रन्थो से किए लक्षण-उदाहरणो के अनुवाद से है, और बीच-बीच में ग्रन्थकर्ता का मत देकर अपने निजी विचार रसिक गोविन्द ने दिए है। प्रमुखतया इस ग्रन्थ के आधारभूत 'नाट्यशास्त्र', 'अभिनवभारती', 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्य दर्पण' आदि है। प्रधानतया ये रसवादी लेखक है और 'रसिकगोविन्दानन्द घन' १९ वी शताब्दी के प्रारभ मे लिखे हुए महत्वपूर्ण ग्रन्थो में है।

नवीन कवि

नवीन कवि ने स० १८९९ वि० (सन १८४२ ई०) में नाभानरेश मालवेन्द्रदेव सिंह की आज्ञा से 'रगतरग' नामक रस-ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें नायिका-भेद, विभाव, अनुभाव, सचारी भाव, तथा रस का वर्णन है। सभी रसो का वर्णन है, परन्तु प्रधानतया शृंगार और वीर रसो का अधिक सुन्दर है। इस ग्रन्थ के उदाहरण अत्यन्त कवित्वपूर्ण है।

इस प्रकार २० वी शताब्दी के प्रारभ तक नायिका-भेद और प्रमुखतया शृगार-वर्णन की प्र त्ति रही। इसके बाद भी, ग्वाल, चन्द्रशेखर विहारीसरन आदि के ग्रन्थ रस पर लिखे गए जो कि बीसवी शताब्दी में आई रीतिशास्त्रीय परपरा के उदाहरण है।

ग. ध्वनि-सम्प्रदाय

सस्कृत के काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि की सबसे अधिक शास्त्रीय व्याख्या हुई। ध्वनि-सिद्धान्त काव्य-शास्त्र सबधी समस्याओ की प्रौढ चिन्तना का परिणाम है और अनेक दृष्टियो से यह बडा व्यापक और पूर्ण सिद्धान्त है जिसने अपने अन्तर्गत काव्य की लगभग सभी विशेषताओ को स्वीकार कर लिया। ध्वनि की काव्यात्मा के रूप में चर्चा सबसे पहले किसने की, यह निश्चित रूप से ज्ञात नही है। परन्तु सबसे पहले व्यवस्थित रूप में ध्वनि सबधी विचारो को व्यक्त करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। आनन्दवर्धन के अनुसार यह पूर्व प्रतिष्ठित सिद्धान्त था जो समय के बीतने पर लुप्त हो गया था, और जिसे उन्होंने सहृदयो के लिए फिर से प्रतिपादित किया था। 'ध्वन्यालोक' में स्पष्ट कहा गया है —

> काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व-
> स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
> केचिद्वाचा स्थितिमविषये तत्वमूचुस्तदीय॥
> तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्॥१॥

काव्य मे ध्वनि की प्रेरणा व्याकरण के स्फोटवाद से प्राप्त हुई। स्फोट पूर्ववर्ती वर्णों के अनुभव से युक्त सस्कार के आधार पर अन्तिम वर्ण के अनुभव द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति है—पूर्वपूर्व-वर्णानुभवाहितसस्कारसचिवेन अन्त्यवर्णानुभवेन अभिव्यज्यते स्फोट। क्रम क्रम से उच्चरित होते हुए वर्णो के अर्थ का वाचक पहला है या दूसरा या तीसरा, यह कहना कठिन है। अन्तिम

वर्ण के उच्चरित होने पर अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, पर अकेले नहीं। जब पूर्वगामी वर्णों का क्रम विद्यमान होता है तभी अर्थ प्रकट होता है,[1] क्योंकि क्रम से उच्चारित होते हुए वर्ण उच्चारणोपरान्त नष्ट होते रहते हैं। समुच्चय का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता। अत वर्णों के साथ पूर्वोच्चारित वर्णों के सस्कार से अर्थ का प्रस्फुटन होता है। यही स्फोट कहलाता है। इस प्रकार स्फोट को प्रकट करनेवाला वर्णों का उच्चारण ध्वनि है। जिस प्रकार वर्णों के अलग अलग उच्चारण से अर्थ प्रकट नही होता उसी प्रकार काव्य में सामान्य वाच्यार्थ से उसका मर्मस्पर्शी अर्थ प्रकट नही होता। यह अर्थ व्यजना द्वारा प्राप्त होता है। इस अर्थ को वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ के बाद प्रकट करने वाली शक्ति व्यजना है। व्यग्यार्थ की विशेषता की स्थिति ध्वनि द्वारा ही प्राप्त होती है। यह ध्वनि एक प्रकार का अनुरणन है। घटे पर चोट करने से जैसे टकार के बाद मधुर झकार क्रमश निकलती है वैसे ही सहृदय के मन में किसी उक्ति के उपरान्त एक से एक मधुर अर्थ उद्भासित होता है। वह झकार की ध्वनि के समान है—एव घटानाद स्थानीय अनुरणनात्मोपलक्षित व्यग्योप्यर्य ध्वनिरिति व्यवहृत (ध्वन्यालोक लोचन, पृ० ४७)। ध्वनि शब्द प्रमुखतया ऐसे काव्य के लिए व्यवहृत हुआ है जिसमें व्यग्यार्थ की प्रधानता है। आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—

> यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
> व्यङ्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥—ध्वन्यालोक, १–१३।

इसी प्रकार आचार्य मम्मट का भी कहना है—वाच्यातिशयिनि व्यग्ये ध्वनि तत्काव्य-मुत्तमम्।[2] ध्वनि-सिद्धान्त के द्वारा रसानुभव की प्रक्रिया सबधी एक समस्या हल हुई है। हम शोक, हँसी, प्रेम आदि शब्द कहकर किसी को शोकित, हास्ययुक्त या प्रेम से ओतप्रोत नही बना सकते है, पर जब वर्णित परिस्थितियो द्वारा रस की व्यजना होती है, तब उसकी स्थिति भी स्पष्ट और महत्वपूर्ण हो जाती है। काव्य की आत्मा ध्वनि है, इसे माननेवाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए भी आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने वस्तुत रस को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।[3]

---

१. क्रमेणोच्चार्यमाणेषु वर्णेष्वर्थस्य वाचक.।
आदिमः कि द्वितीय. कि तृतीयः कि तयान्तिमः॥
प्रत्यायकत्वशक्तिस्तु कस्मिन्नेतेषु दृश्यते।
स वर्णव्यजनद्वारा तमर्थव्यजयेत्स्फुटम्॥
स ध्वनि. स्फोट इत्यत्र शाब्दिके परिभाष्यते॥—भाव प्रकाशन, ६, पृष्ठ १७८।

२. काव्य प्रकाश।

३. काव्यस्यात्मा स एवार्य तया चादिकवे पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थ. शोक. श्लोकत्वमागतः॥—ध्वन्यालोक, १–५।
स एवेति प्रतयमानमात्रेपि प्रकान्ते तदीय एव रस ध्वनिरिति मन्तव्यम्। इतिहासबलात् प्रकान्त वृत्तिग्रन्यबलाच्च। तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वया रस प्रतिप्रर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनि।

ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत रस-ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वस्तु, अलकार, ध्वनियाँ रस के सहायक के रूप में ही महत्वपूर्ण हैं। शब्द-शक्तियो—अभिधा, लक्षणा और व्यजना में व्यजना का व्यापार पूर्ववर्ती दो शक्तियो पर आश्रित रहता है। अत ध्वनि के दो भेदो—अभिधामूला और लक्षणामूला—के भी दो भेद हैं—१ सलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि और २ असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि। असलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि के भीतर रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसधि, भावशान्ति और भावशबलता हैं। सलक्ष्यक्रमव्यग्य ध्वनि में अलकार और वस्तु ध्वनियाँ हैं। उपर्युक्त ध्वनि अथवा व्यग्यार्थ-प्रधान काव्य को उत्तम कोटि का माना गया है, दूसरा गुणीभूत व्यग्य है जिसमे व्यग्यार्थ प्रधान न होकर गौण रहता है और तीसरा चित्र-काव्य है जिसे 'अवर काव्य' कहा गया है। इसमें व्यजना नही, वरन अन्य प्रकार का चमत्कार रहता है। सक्षेप में यही ध्वनि-सिद्धान्त की रूपरेखा है।

ध्वनिकार के सिद्धान्त का खूब खण्डन-मण्डन हुआ। पहले तो प्रतिहारेन्दुराज भट्ट-नायक, धनजय और धनिक ने इसका खण्डन किया। परन्तु अभिनवगुप्त ने इनके द्वारा ध्वनि-सिद्धान्त के ऊपर एकत्र किए हुए कुहरे को अपनी प्रतिभा के सूर्य और तर्क के प्रभजन से दूर कर, इसकी सुदृढ प्रतिष्ठा की। उनका 'ध्वन्यालोक-लोचन' काव्यशास्त्र के अन्तर्गत अत्यन्त महत्व-पूर्ण ग्रन्थ है जिसमें 'ध्वन्यालोक' की टीका के साथ-साथ समस्त शकाओ का समाहार किया गया है। ध्वनि-सिद्धान्त का पुन खण्डन करके कुतक ने वक्रोक्ति और महिम भट्ट ने अनुमिति सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा की। कुतक ने 'वक्रोक्तिजीवितम्' मे ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है और महिम भट्ट ने अपने 'व्यक्ति-विवेक' में व्यजना को अनुमान ही माना है और सिद्ध किया है कि ध्वनि नही, वरन काव्यानुमिति ही रसानुभूति मे सहायक होती है। इस काव्यानुमिति या अनुमान-सिद्धान्त का जोरदार खण्डन मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में किया और रस एव ध्वनि की सर्वोत्कृष्ट महत्ता स्थापित कर दी। 'काव्यप्रकाश' में बडी योग्यता और गभीरता के साथ ध्वनिसिद्धान्त का स्वरूप प्रकट हुआ और हम आगे देखेंगे कि हिन्दी के ध्वन्याचार्यों ने प्रमुखतया 'काव्यप्रकाश' का आधार ग्रहण किया है। 'साहित्य दर्पण' और 'रसगगाधर' दोनो ही ग्रन्थो में रस और ध्वनि की महत्ता स्थापित रही, यद्यपि इनमें समस्त काव्यागो का विवेचन है। 'रसगगा-धर' में पडितराज ने ध्वनिकार के द्वारा प्रस्तुत तीन भेद—उत्तम, मध्यम और अवर को, जिनमें गुणीभूत काव्य को मध्यम कोटि का माना गया है, स्वीकार नही किया तथा एक और श्रेणी, उत्तमोत्तम, की स्थापना की। इनके अनुसार गुणीभूतव्यग्य भी उत्तम काव्य के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना बडे खण्डन-मण्डन के उपरान्त हुई और हिन्दी के प्रमुख रीतिशास्त्रियो ने भी इसका निरूपण किया।

हिन्दी के ध्वन्याचार्य

हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनि का निरूपण करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। केशव, चिन्तामणि, भूषण, मतिराम, तोष आदि ने रस और अलकारो की चर्चा करते हुए भी ध्वनि का वर्णन नही किया।

कुलपति मिश्र कृत 'रस-रहस्य'

कुलपति आगरे के रहने वाले माथुर चौबे तथा भूषण के समकालीन थे। इनके पिता

का नाम परशुराम था और कूर्मवशी राजा जयसिह के पुत्र रामसिह के लिए इन्होने 'रस-रहस्य' की रचना की। 'रस-रहस्य' का रचना-काल स० १७२७ वि० (सन १६०० ई०) है। अपने आश्रय-दाता से यह आदेश पाकर कि देववाणी में कविता-सबधी जो विचार है, उन्हें भाषा में लिखो जिससे उसका मर्म समझा जा सके, कुलपति ने मम्मट के मत का सार अपने ग्रन्थ 'रस-रहस्य' में प्रकट किया।[1] 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' के आधार पर काव्य की परिभाषाएँ देकर उनकी विवेचना करने के साथ कुलपति ने काव्य का निजी लक्षण भी इस प्रकार दिया—

जग ते अद्भुत सुख सदन, सब्दरु अर्थ कवित्त।
यह लच्छन मैने कियो, समझि ग्रन्थ बहु चित्त ॥[2]

उसके बाद प्रथम वृत्तान्त मे ध्वनि के आधार पर काव्य-पुरुष का रूप स्पष्ट करते हुए कुलपति ने लिखा है कि शब्दार्थ उसका शरीर और व्यग्य उसका प्राण है। गुण और अलकार आभूषण है तथा दोष दूषणो के समान है। इस प्रकार व्यग्य प्रधान उत्तम काव्य, व्यग्यवाच्य-समान मध्यम काव्य तथा व्यग्यहीन शब्द अर्थ की विचित्रता से युक्त अवर काव्य होता है।

'रस-रहस्य' के दूसरे वृत्तान्त में शब्दार्थ-निर्णय है। जो सुना जाय वह शब्द और जो समझ में आवे वह अर्थ है। वाचक, लक्षक, व्यजक शब्दो का वर्णन तथा तात्पर्य वृत्ति का भी सकेत इस ग्रन्थ में किया गया है। ध्वनि के विचित्र भेदो के अन्तर्गत भावो का वर्णन है। स्थायी भाव जिनके द्वारा प्रकट हो वे विभाव है और जो दूसरो पर स्थायी भाव प्रकट करें वे अनुभाव है तथा सब रसो में सचरण करने वाले सचारी भाव हैं। कुलपति की परिभाषाएँ प्रामाणिक हैं और इन्होने एक-एक करके समस्त रसो का वर्णन किया है। इनका रौद्र रस का वर्णन युद्ध वीर का सा है। कुलपति ने रौद्र और युद्धवीर का भेद बताते हुए कहा है—

समता की सुधि है जहाँ सु है जुद्ध उत्साह।
जहँ भूले सुधि सम असम, सु है क्रोध निर्वाह।[3]

यहाँ पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बात सत्य है कि समान के साथ उत्साह का भाव होता है जो वीरता से सबधित है और असमानता में क्रोध का। रसध्वनि के बाद भावध्वनि तथा अन्य रूपो का विस्तार से वर्णन हुआ है। तीसरे वृत्तान्त में उत्तम और चतुर्थ वृत्तान्त में मध्यम काव्य का वर्णन है। पाँचवें में काव्य-दोष, छठें में गुण तथा सातवें और आठवें में अलकारो का वर्णन किया गया है। लक्षण अधिकाशत दोहो और उदाहरण कवित्त-सवैयो में हैं। कुलपति के विचार प्रौढ और प्रामाणिक है। पर कोई नवीनता देखने को नही मिलती।

देव कृत 'काव्यरसायन'

कुलपति के बाद रीतिकाव्य के प्रसिद्ध कवि और रसाचार्य देव ने ध्वनि पर 'काव्यरसायन'

---

१. रस-रहस्य, १, ११-१२।
२. वही, १, १६।
३. वही, २, १४५।

ग्रन्थ लिखा है। यह ध्वनि-सिद्धान्त का ही निरूपण करने वाला ग्रन्थ है, यद्यपि उसमें प्रधानतया रस का महत्व ही स्पष्ट है। 'काव्यरसायन' में ध्वनि के साथ रस, गुण, अलकार और छद का भी विवेचन है। देव के 'काव्यरसायन' का आधार 'काव्यप्रकाश' नही, वरन 'ध्वन्यालोक' जान पडता है। इन्होंने तात्पर्य वृत्ति का भी अभिधा, लक्षणा और व्यजना के साथ वर्णन किया है। देव के विचार से शब्दार्थमय काव्य कामधेनु है जिसका दूध रस है और आनन्द माखन है।[1] अधिकाश आचार्यों ने काव्यपुरुष का रूपक बाँधा है, पर देव ने कामधेनु का रूपक बाँधकर अपनी मौलिकता प्रकट की है। लक्षण के विवेचन के प्रसग में देव ने प्रयोजनवती के दो भेद शुद्ध और मिश्रित किए है। गौणी को इन्होंने मीलित नाम दिया है, जो नया है। शुद्धा के साथ मीलित शब्द अधिक उपयुक्त जान पडता है,शेष भेद परपरागत रूप में हैं। देव ने वृत्तियो के शुद्ध भेदो के अतिरिक्त सकीर्ण या सूक्ष्म भेद भी किए है, जिनमें अभिधा में अभिधा, लक्षणा, व्यजना, लक्षणा मे अभिधा, लक्षणा, व्यजना और व्यजना में अभिधा, लक्षणा, व्यजना तथा तात्पर्य में तीनो की स्थिति का विवेचन करके बारह भेदो का वर्णन किया है। देव का यह वर्णन निजी विशेषता के रूप मे है। इसके साथ ही साथ इन वृत्तियो के मूल भेदान्तर भी बताए हैं। अभिधा के जाति, क्रिया, गुण, यदृच्छा, लक्षणा के कार्य-कारण, सदृशता, वैपरीत्य, आक्षेप तथा व्यजना के वचन, क्रिया तथा स्वर-चेष्टा मूल भेदान्तर है। तृतीय प्रकाश में रस का निरूपण है जो महत्वपूर्ण है।

देव के विचार से रस-युक्त शब्द घने काले बादलो के समान है जो अमोघ अर्थ रूपी जल की वर्षा करते है। रस का आनन्द बिना यत्न के नही रहता। जैसे बहुमूल्य रत्न को यत्न से रक्खा जाता है और ुण से पिरोकर निपुण के हृदय को अलकृत करता है, वैसे ही रस भी है। रस भावो के वश में है और कविता शब्दार्थ के। शब्दार्थ का सार काव्य है और काव्य का सार रस है।[2] देव के विचार से प्राचीन विद्वान रस को नव भेदो में और नवीन उसे तीन भेदो मे वर्णन करते है। देव कहते है कि ससार नव रसो से युक्त है, उनमें मुख्य शृगार है जिसमें नायक-नायिका प्रधान है—

नवरस सब ससार में, नव रस मे ससार।
नवरस सार सिगार रस, जुगुल सार सिगार॥
है विभाव अनुभाव वढि, सात्विक सचारी जु।
सो सिगार सुरतरु जमै, प्रेमाकुर रति बीजु॥[3]

शृगार को देव ने निर्मल, शुद्ध और अनन्त प्रकाश के समान माना है जिसके अन्तर्गत अन्य रस पक्षियो के सदृश उड उड कर भी उसका अन्त नही पाते।[4] यह विचार भोज की धारणा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। रस के अलग-अलग वर्णन के बाद देव ने रस-दोषो का भी वर्णन किया

---

१. काव्यरसायन, १-३।
२. वही, ३-२८।
३. वही, ३-३०।
४. वही, ३, ३२

है तथा नवरस की विविध वृत्तियो का विवेचन भी। शृगार का अलग से विस्तृत वर्णन देव ने किया है और उसी के साथ नायिका-भेद का भी वर्णन हुआ है।

देव ने अभिधा और व्यजना दोनो का ही महत्व प्रदर्शित किया है और प्राचीन एव नवीन आचार्यों के मतो को देते हुए लिखा है—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यजना रस कुटिल, उलटी वहत नवीन ॥[1]

अपनी भावना उनकी अभिधा के पक्ष में ही प्रकट होती है जिसमें रस का स्वाभाविक, सहज, स्वच्छद, निर्बाध वर्णन हो। व्यजना से रस कुछ कुटिल रूप में आता है। पर देव का यह मत ध्वनि-सिद्धान्त के पूर्ण विकास को ध्यान में रखते हुए कुछ समीचीन नही कहा जा सकता।

सातवें, आठवें और नवें प्रकाशो में गुण और अलकारो का तथा दशम और एकादश प्रकाश में छन्दो का वर्णन है। गुण का वर्णन देव ने रीति कहकर किया है। इस प्रकार 'काव्य-रसायन' में देव के रस और ध्वनि पर प्रौढ एव महत्वपूर्ण विचार देखने को मिलते हैं।

सूरति मिश्र

सूरति मिश्र आगरे के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। काव्यशास्त्र पर इन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे, जैसे 'अलकारमाला', 'रसरत्नमाला', 'काव्यसिद्धान्त', 'रसरत्नाकर', 'सरसरस', 'जोरावर प्रकाश' आदि हैं। इसके अतिरिक्त 'रसग्राहकचन्द्रिका' 'रसिकप्रिया' की टीका है जिसे इन्होने जहानावाद के नवाव नसीरुल्ला के कहने पर स० १७९१ वि० में लिखी। 'जोरावर प्रकाश', 'रसिक-प्रिया' की दूसरी टीका है जो १८०० वि० (१७४३ई०) में जोधपुर नरेश जोरावर सिंह के लिए लिखी गई। 'अमरचन्द्रिका' सूरति मिश्र द्वारा लिखी गई 'सतसई' की टीका है। इनकी 'वैताल पचीसी' १८ वी शताब्दी के हिन्दी गद्य का नमूना है जिसे पहला उपन्यास माना जा सकता है। 'रसरत्नाकर' स० १७६८वि० (१७११ ई०) का लिखा शृगार व नायिका-भेद का ग्रन्थ है। ध्वनि का वर्णन करने वाला इनका ग्रन्थ 'काव्य-सिद्धान्त' है जिसमें 'काव्य प्रकाश' के आधार पर काव्य का विवेचन और ध्वनि का निरूपण है। काव्य की इन्होने अपनी निजी परिभाषा प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है—

वरनन मनरजन जहाँ, रीति अलौकिक होइ।
निपुन कर्म कवि को जु तिहि, काव्य कहत सव कोइ ॥

कवि का वह निपुण कर्म जिसमें अलौकिक रीति से मनोरजक वर्णन हो, काव्य है। यह वडी व्यापक परिभाषा है जो किसी भी सिद्धान्त विशेष से सबध नही रखती। ग्रन्थ में काव्य-प्रकरण-प्रयोजन, शब्दार्थ तथा शब्द-शक्तियो, दोष, गुण, अलकार आदि का वर्णन प्रमुखतया 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। अन्त में छन्दो का भी वर्णन है। काव्यशास्त्र के सभी अगो पर प्रकाश डालने वाला यह एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

---

१. काव्यरसायन, ६, ७२

कुमारमणि भट्ट

कुमारमणि भट्ट वत्सगोत्री तैलग ब्राह्मण हरिवल्लभ जी के पुत्र थे जो कि प्रसिद्ध सप्त-शतीकार गोवर्धनाचार्य के छोटे भाई वल्लभ जी की छठवी पीढी में उत्पन्न हुए थे। कुमारमणि सस्कृत के अच्छे विद्वान और कवि थे। इनका लिखा ग्रन्थ 'रसिक-रसाल' काकरौली से छपा है। यह काव्यशास्त्र का अच्छा ग्रन्थ है और 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा है। रचना-काल स० १७७६ वि० (१७१६ ई०) है। 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही इसमें काव्यप्रयोजन, कारण, भेद, शब्दशक्ति, रस, नायिका-भेद आदि का वर्णन है। बीच-बीच में कही-कही गद्य में व्याख्या भी दी है जो इनके लक्षण और उदाहरण को स्पष्ट करती है।

श्रीपति

श्रीपति मिश्र कालपी नगर के रहने वाले ब्राह्मण थे। इनके द्वारा रचित 'काव्य-सरोज' काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थो में है। इसके अतिरिक्त श्रीपति ने 'कविकुल कल्पद्रुम,' 'रस-सागर,' 'अनुप्रास-विनोद,' 'विक्रम विलास', 'सरोज लतिका,' 'अलकार गगा' आदि ग्रन्थ लिखे हैं। 'काव्यसरोज' की रचना सवत १७७७ वि० (सन १७२० ई०) में हुई थी। 'काव्य सरोज' 'काव्य प्रकाश' के आधार पर है। काव्य की परिभाषा श्रीपति ने यह दी है —

शब्द अर्थ बिनु दोष गुन, अलकार रसवान।
ताको काव्य बखानिए, श्रीपति परम सुजान।।

काव्य का प्रस्फुटन प्रतिभा, निपुणता, लोकशास्त्रज्ञान और अभ्यास से होता है। निपुणता श्रीपति के विचार से वह कुशलता है जिसके द्वारा उसे शब्द और शब्दार्थ का तुरत भान हो जाय। तर्क की नई सूझ प्रतिभा है। शक्ति, निपुणता और प्रतिभा—ये तीन रूप श्रीपति ने सामान्यतया कही जाने वाली प्रतिभा के कर दिए है और इस प्रकार श्रीपति के विचार से काव्य के छ कारण हो जाते हैं। श्रीपति ने उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन काव्य-भेदो में ध्वनि, गुणीभूत व्यग्य और अवर या चित्र काव्य का विवेचन किया है, जिसमें कोई नवीनता नही।

'काव्य सरोज' के चतुर्थ और पचम दल दोष-वर्णन में लगे है। इसकी विशेषता इस बात में है कि इसमें श्रीपति ने हिन्दी के प्रसिद्ध कवियो—जैसे केशव, ब्रह्म, सेनापति आदि—की रचनाओ में दोष दिखाए है। आठवें, नवें दलो में काव्य-गुणो तथा दसवें, ग्यारहवें और बारहवें दलो में अलकारो के वर्णन हैं। तेरहवें दल में रसो का वर्णन है जिसमें नाट्यशास्त्र का भी आधार लिया गया है।

सोमनाथ

जयपुर नरेश महराज रामसिंह के मन्त्र-गुरु छिरौरा वश के माथुर ब्राह्मण तथा नरोत्तम मिश्र के वशधरो में से सोमनाथ थे। ये नीलकठ मिश्र के पुत्र गगाधर के छोटे भाई थे। इन्होने भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रताप सिंह के लिए 'रसपीयूषनिधि' नामक ग्रन्थ बनाया जिसकी रचना सवत १७९४ वि० (सन १७३७ ई०) में हुई। इस विस्तृत ग्रन्थ में काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, भाव रसरीति, गुण, दोष तथा छन्द

का वर्णन है। 'रसपीयूषनिधि' काव्यशास्त्र पर एक पूर्ण ग्रन्थ है। प्रथम पाँच तरंगों में छन्दों का वर्णन है। छठवीं तरंग में सोमनाथ ने कविता की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सगुन पदारथ दोष बिन, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध।।

काव्य की यह धारणा मम्मट के आधार पर है। काव्य-प्रयोजन भी ऐसे ही हैं। ये ध्वनिवादी हैं और काव्य का प्राण व्यंग्य ही मानते हैं। सोमनाथ ने लिखा है—

व्यंग प्राण अरु अंग सब, शब्द अरथ पहिचान।
दोष और गुण अलंकृत, दूषणादि उर आनि।।

इस प्रकार शब्द-शक्ति और भेदों का वर्णन इसमें विस्तार के साथ किया गया है। रस और भावध्वनि के भीतर रसों एवं भावों का विशद वर्णन है। उन्नीसवीं तरंग में गुणीभूत व्यंग्य के आठ रूपों का तथा बीसवीं तरंग में दोषों का वर्णन है। लक्षण और उदाहरण पूर्ण स्पष्ट हैं। इक्कीसवीं तरंग में गुणों और बाईसवीं में अलंकारों का वर्णन करते हुए यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। काव्यशास्त्र पर यह एक वृहत् ग्रन्थ है।

भिखारीदास

रीतिकाल के प्रसिद्ध आचार्य कवि दासजी प्रतापगढ़ के ट्योंगा गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम कृपालदास था। दासजी ने 'रससारांश', 'छंदार्णव पिंगल', 'काव्यनिर्णय', 'शृंगारनिर्णय' नामक ग्रन्थ काव्यशास्त्र पर लिखे। काव्यशास्त्र की दृष्टि से सब से प्रौढ़ और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' है जिसमें ध्वनि का विवेचन और रस, अलंकार, गुण, दोष आदि का वर्णन है। यद्यपि इन्होंने समस्त विषयों पर लिखा है, पर ये मम्मट के द्वारा 'काव्यप्रकाश' में प्रतिपादित ध्वनि-सिद्धान्त के अनुयायी हैं। 'काव्यनिर्णय' में दास ने सबसे पहले काव्य-प्रयोजन पर विचार किया है। काव्य-कारण में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि व्युत्पत्ति और अभ्यास रथ के दोनों पहियों के समान हैं जिनके बिना रथ नहीं चल सकता, प्रतिभा सारथी चाहे कितना बली क्यों न हो। दासजी के विचार से रस कविता का अंग, अलंकार आभूषण, गुण रूप-रंग तथा दोष कुरूपता है।[1] यद्यपि दासजी ने स्पष्ट नहीं कहा, पर वे काव्य की आत्मा ध्वनि मानते हैं, ऐसा जान पड़ता है। दूसरे उल्लास में पदार्थ-निर्णय है। अभिधा शक्ति और वाच्यार्थ का भी दास ने विस्तार से वर्णन किया है और लक्षणा, व्यंजना का भी विस्तृत विवेचन है। इनके लक्षण संकेतपूर्ण हैं, पर हैं स्पष्ट। इनके उदाहरण सुन्दर हैं।

दास ने लिखा है कि व्यंजना या तो अभिधा पर आश्रित रहती है या लक्षणा पर। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ पात्र के समान हैं जिन पर व्यंग्यार्थ रूपी जल टिकता है। इस प्रकार अभिधामूला और लक्षणामूला ये दो व्यंजना के भेद हैं। इसके बाद अलंकार मूल और रसांगों का वर्णन दास जी ने किया है। इसके भीतर रस, भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावसंधि, भावोदय आदि

---

१. काव्य-निर्णय, प्रथम उल्लास, १६ वां छन्द।

के साथ-साथ अपराग, रसवदादि का वर्णन भी उन्होंने किया है, जिन्हे कि बहुत से आलकारिको ने अलकार मे रखा है। ध्वनि-भेदो का दासजी ने विस्तार से वर्णन छठे उल्लास मे किया है। कुल मिलाकर ४३ प्रकार की ध्वनि का निरूपण है। सातवें उल्लास में गुणीभूत व्यग्य का वर्णन है, जो 'काव्यप्रकाश' के समान है। अष्टम उल्लास में अलकारो का वर्णन दास ने किया है। इनका वर्गीकरण इन्होने प्रथम अलकार के नाम पर किया है, जैसे उपमादि, उत्प्रेक्षादि। अनेक उल्लास अलकार-वर्णन में लगे है। उन्नीसवें उल्लास में गुणो का वर्णन है। दासजी ने गुणो को रस का सहायक और उपकारी माना है। उनका विचार है कि गुणो के द्वारा ही रस प्रकट होता है। २० वे उल्लास में चित्र को छोडकर कुछ शब्दालकारो का वर्णन है। इक्कीसवें में चित्रालकार एव बाईसवें में तुक-निरूपण है। तुक दास जी की निजी विवेचना है और इनके पहले किसी ने भी इसका विवेचन नही किया। तेईसवें उल्लास में दोष-वर्णन, चौबीसवे में दोषोद्धार के उपाय तथा पच्चीसवें में रसदोष का वर्णन है। दासजी के विचारो में मौलिकता चाहे न हो, पर है वे बडे स्पष्ट। साथ ही इनके उदाहरण बडे चुटीले है और इनकी कवित्व-प्रतिभा को स्पष्ट करते है।

दास के बाद **जगतसिंह** का 'साहित्यसुधानिधि' और **रणवीरसिंह** का 'कविरत्नाकर' ऐसे ग्रन्थ है जिनमे ध्वनि का विवेचन हुआ है। 'साहित्यसुधानिधि' मे भरत, भोज, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ, गोविन्दभट्ट, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि का आधार लिया गया है। इसका उल्लेख स्वय लेखक ने कर दिया है। ग्रन्थ की रचना स० १८५८ वि० (सन १८०१ ई०) में हुई थी। इसमें ध्वनि का वर्णन 'काव्यप्रकाश' के आधार पर ही है। लक्षणा का नाम इन्होंने कुटिला वृत्ति और अभिधा का सरला वृत्ति रखा है। इस ग्रन्थ मे विवेचन साधारण है, अधिकाश लक्षण स्पष्ट है और अनुवाद से लगते है। रणवीरसिंह का 'काव्यरत्नाकर,' 'काव्यप्रकाश' और 'चन्द्रालोक' के आधार पर है। इस ग्रन्थ को लिखने में कुलपति के 'रसरहस्य' ग्रन्थ का आदर्श सामने रखा गया है। लक्षणो को स्पष्ट करने के लिए इन्होने वार्ता लिखी है।

प्रतापसाहि

ध्वनि-सिद्धान्त के परिणामस्वरूप कुछ व्यग्यार्थ प्रकाशक ग्रन्थ लिखे गए—जैसे, 'व्यग्यार्थकौमुदी', 'व्यग्यार्थचन्द्रिका' आदि। इस सबध में प्रतापसाहि की 'व्यग्यार्थकौमुदी' प्रसिद्ध है। प्रतापसाहि का एक ग्रन्थ 'काव्यविलास' मम्मट के आधार पर काव्य का विवेचन करता है, परन्तु 'व्यग्यार्थकौमुदी' में एक साथ नायिका-भेद, व्यग्यार्थ और अलकार चलते है। इसमें ध्वनि-काव्य की महत्ता स्पष्ट होती है। उत्तम काव्य इसमें ध्वनि ही मानी गई है, जैसा कि उनका विचार है—

> विग जीव है कवित्त मे, सब्द अर्थ गति अग।
> सोई उत्तम काव्य है, वरनै विग प्रसग॥

प्रतापसाहि ने इस ग्रन्थ में अलकार की विचित्र धारणा प्रकट की है। उनका कथन है कि व्यग्यार्थ और इनसे पृथक जो कोई चमत्कार दिखलाई दे, वह अलकार है।

> रस अरु विग दुहुन तें, जुदो परै पहिचानि।
> अर्थ चमत्कृत सब्द में, अलकार सो जानि॥

इस प्रकार यह एक काव्य का चमत्कार प्रकट करने वाला ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना १९वी शताब्दी ईसवी के मध्य में हुई। इनके ग्रन्थ 'काव्यविलास' का रचना-काल स० १८८६ वि० (सन १८२९ ई०) है।

'काव्यविलास' ग्रन्थ ११३६ छन्दो में समाप्त हुआ है। इसके अन्तर्गत प्रमुखतया 'काव्य-प्रकाश' के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। प्रताप सुकवि ने इसे चरखारी-नरेश विक्रमाजीत के आश्रय में लिखा था। 'काव्यप्रकाश' के अतिरिक्त अन्य आधारभूत ग्रन्थ 'काव्यप्रदीप,' 'साहित्यदर्पण,' 'रसगगाधर,' 'चन्द्रालोक,' 'कुवलयानन्द,' 'रसमजरी,' 'रसतरगिणी' आदि हैं। काव्य-लक्षण, काव्य-कारण, शक्ति, काव्य-भेद आदि का वर्णन करके उत्तम काव्य के लक्षणो का वर्णन किया गया है। 'काव्यविलास' मे शब्दशक्ति का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। सक्षिप्त व्याख्याओ में प्रतापसाहि ने लक्षणो और उदाहरणो को स्पष्ट किया है। हिन्दी के आचार्यों में रस-निष्पत्ति का वर्णन इन्होने ही पहली बार किया है। रस-भेद 'रसतरगिणी' के आधार पर किए गए हैं। विषय-निरूपण और स्पष्ट लक्षणो के साथ-साथ 'काव्यविलास' में उदाहरण भी अत्यन्त सुन्दर और कवित्वपूर्ण हैं। इन्होने रस का भी वर्गीकरण अभिमुख, विमुख और परमुख के रूप में किया है। 'काव्यविलास' सात प्रकाशो में समाप्त हुआ है और यह हिन्दी काव्यशास्त्र के प्रौढ-ग्रन्थो में से है।

रामदास

रामदास का असली नाम राजकुमार था। ये काशी और प्रयाग के बीच स्थित हरिपुर के निवासी थे। इनके गुरु का नाम नन्दकुमार था। इन्होने 'कविकल्पद्रुम' या 'साहित्यसार' ग्रन्थ की रचना स० १९०१ वि० (सन १८४४ ई०) में आगरे में की। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो पर प्रकाश डालता है। ध्वनि-सिद्धान्त को मुख्य आधार मान कर इसमें अनेक गुणो का विवेचन किया गया है। लेखक ने हिन्दी और सस्कृत के अनेक ग्रन्थो का अध्ययन करने के उपरान्त इसे लिखा है। इस ग्रन्थ में गोस्वामी तुलसीदास जी की चौपाई—आखर अरथ अलकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना। भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष गुन विविध प्रकारा।।—का आधार मान कर क्रम से काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, फल, भाषाभेद (सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश तथा लोकभाषाएं), काव्य-भेद, शब्दार्थ-भेद, भाव, रस, अलकार आदि का वर्णन है। विषयो के विवेचन में रामदास की शैली बडी ही सरल और सुस्पष्ट है और प्रत्येक स्थल पर लेखक की विद्वत्ता झलकती है। दोहो मे भी इनके लक्षण गद्य की भाँति स्पष्ट है और उदाहरण समुचित कवित्व-पूर्ण हैं। रीतिकाल के अन्तिम ग्रन्थो में 'कविकल्पद्रुम' का महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक युग के पूर्व हिन्दी रीतिशास्त्र के अन्तर्गत अलकार, रस और ध्वनि पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए, जिनमे कुछ में तो सस्कृत के ग्रन्थो के भाव ही पूर्ण या अपूर्ण रूप में प्रकट करते हैं और कुछ में महत्वपूर्ण विचारो का प्रकाशन हुआ है। हिन्दी रीतिशास्त्र के भीतर सस्कृत काव्यशास्त्र की इन्ही उपर्युक्त तीन धाराओ का स्पष्ट प्रवाह दिखलाई देता है।

११. नीति तथा जीवनी साहित्य

क. नीतिकाव्य

हिन्दी में वीर, सत, सूफी तथा शृगार आदि की धाराओ की भाँति ही नीतिकाव्य की भी एक धारा आदिकाल से चली आ रही है। इस धारा में समाज को स्वस्थ एव सतुलित पथ पर अग्रसर करने तथा व्यक्ति को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति कराने के लिए देश, काल और पात्र के सदर्भ में समाज, व्यवहार, धर्म-आचार एव राजनीति आदि विषयक विधि या निषेधमूलक नियमो का विधान किया गया है।

नीतिकाव्य के प्राचीनतम सूत्र भारतीय साहित्य के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इसकी कई ऋचाओ में दान की महत्ता गाई गई है। ८ वें मडल के ३३ वे सूक्त में इद्र का एक कथन है जिसका अर्थ है, 'स्त्री के मन का शासन करना असभव है उसकी बुद्धि छोटी होती है।' इसी प्रकार बहुत से अन्य विषयो पर भी इसमें नीतिपूर्ण सूक्तियाँ बिखरी पडी हैं। सूक्तियो के अतिरक्त ऋग्वेद की बहुत सी आख्यायिकाएँ भी नीति और उपदेशपरक हैं। द्याद्विवेद ने अपनी 'नीतिमजरी' में विधि-निषेधमूलक नियमो को उदाहृत करने के लिए सारी कथाएँ ऋग्वेद से ही ली हैं। इस प्रकार नीति-कथन की दोनो ही प्रधान शैलियो—सूक्ति रूप में नीति-कथन तथा किसी कहानी द्वारा उपदेश-कथन—के बीज उस आदि ग्रन्थ में वर्तमान हैं।

यह परपरा अन्य वैदिक सहिताओ, विशेषत अथर्ववेद सहिता, से होती हुई ब्राह्मण और उपनिषदो में आई है। ब्राह्मण और उपनिषद, दोनो ही नीतिपूर्ण वाक्यो, श्लोको तथा आख्यायिकाओ से बहुत सपन्न हैं। इनके प्रधान नीति-विषय उद्योग, नियम, मिताहार, सत्य, स्त्री, अभिमान, राजा, धर्म, दान, दया, दम, शम, विवेक, लोभ, गुरु तथा अतिथि-सत्कार आदि हैं। वेदाग के अन्तर्गत आने वाले स्मार्त सूत्र तया उपवेद के अतर्गत आने वाले आयुर्वेद और अथर्ववेद में नीतियो का और भी अधिक विकास हुआ है। सच पूछा जाय तो ये तीनो नीतिकाव्य की तीन शाखाओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। गृह्य तथा धर्म आदि स्मार्त सूत्रो में सामाजिक, व्यावहारिक तया आचारिक नीति है, तो आयुर्वेद में स्वास्थ्य सबधी एव अथर्ववेद में राजा नीति। यह अवश्य है कि इनमें नीति की बाते साहित्य की अपेक्षा शास्त्र के अधिक निकट हैं।

सस्कृत (लौकिक) साहित्य नीति की सूक्तियो और कथाओ की दृष्टि से बहुत सपन्न है। यो तो पुराणो, स्मृतियो, प्रबधकाव्यो, मुक्तको तथा कथा-साहित्य आदि सभी में इनका प्राचुर्य है, पर विशेष रूप से नीति की सूक्तियो के लिए 'महाभारत' की धौम्य-नीति, विदुर-नीति, भीष्म-नीति तथा विदुरोपाख्यान तथा इनके अतिरिक्त मनुस्मृति, बृहस्पति-नीति, शौनकीय नीतिसार,

शुक्र-नीति, चाणक्य-नीति, भर्तृहरि का 'नीतिशतक', कामंदक का 'नीतिसार', गुमान का 'उपदेश शतक' तथा घनश्याम, गनपति तथा वीरेश्वर के 'अन्योक्तिशतक' आदि प्रधान हैं और औपदेशिक कथाओ के लिए 'पंचतत्र' तथा 'हितोपदेश' प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत साहित्य की यह परपरा पालि में भी अक्षुण्ण रूप से मिलती है। यों तो पालि साहित्य धर्मप्रधान है, पर वौद्ध धर्म में आचार और व्यवहार का वहुत महत्व था, अत इस साहित्य में वर्णित नीति भी जीवन के प्राप्य सभी अगो का स्पर्श करती है। नीति की दृष्टि से पालि साहित्य के दो ग्रन्थ विशेष उल्लेख्य हैं। औपदेशिक कथाओ के लिए 'जातक' तथा नीतिपूर्ण गाथाओ के लिए 'धम्मपद'।

नीति-कथन की यह उर्वर परपरा सस्कृत और पालि से होती हुई प्राकृत तथा अपभ्रश में आती है। किंतु इन दोनो ही भाषाओ के साहित्यो में उसे पूर्व प्राप्त सम्मान्य स्थान नही मिल सका है, यद्यपि इनके साहित्य भी नीति की दृष्टि से सर्वथा शून्य नही कहे जा सकते। पूर्ववर्ती साहित्यो की भाँति प्राकृत तथा अपभ्रश में भी कथात्मक तथा सूक्त्यात्मक (या उपदेशपरक) दोनो ही प्रकार की शैलियो में नीति की वातें कही गई हैं। इस प्रसग में प्राकृत की उल्लेख्य पुस्तकें 'कथा-कोश प्रकरण' 'पद्मचरित्र', 'गाथासप्तशती', तथा 'वज्जालग्ग' एव अपभ्रश की 'पाहुडदोहा', 'सावय-धम्म दोहा' तथा 'उपदेशरसायन' आदि हैं। प्राकृत तथा अपभ्रश साहित्य के नीति-अश का धर्म और आचार नीति से अपेक्षाकृत अधिक सवध है और व्यवहार तथा समाज नीति से कम। सभ-वत जैन धर्म के निकट सपर्क के कारण ऐसा हुआ है।

प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्यभाषा के साहित्य से रिक्य रूप में मिली नीति-कथन की यह परपरा आधुनिक आर्यभाषाओ में केवल हिंदी में ही उचित रूप से विकसित हो सकी है। हिंदी ने इस धारा का जीवन-रस अपने पूर्ववर्ती साहित्यो से ग्रहण किया है, पर उसे वह समग्ररूपेण नही ले सकी है। औपदेशिक कथाएँ, जिनका इस धारा मे विशिष्ट स्थान रहा है और जो अनेक रूपो में विश्व के अनेक सपन्न साहित्यो में अपने चरण-चिह्न छोड चुकी है, हिंदी में प्राय नही के वरावर है। इसका कारण कदाचित हिंदी के आदि तथा मध्य युगो में गद्य का अभाव है। आधुनिक काल में, आरभ में, इस दिशा में कुछ प्रयास अवश्य हुए, पर साहित्य के प्रति उपयोगितावाद का दृष्टिकोण युगोचित न होने के कारण उन्हें प्रोत्साहन न मिला। छदवद्ध नीति-वचनो की प परा को हिंदी ने अवश्य पूरी तरह अपनाया और यह अपनाना इस सीमा तक पहुँच गया कि यह कहना तनिक भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि हिंदी में ऐसे कवि वहुत ही कम होगे जिनके काव्य में नीति के अश विल्कुल न हो।

हिंदी का नीतिकाव्य तीन रूपो में मिलता है—पहला प्रवध काव्य के अश रूप में, दूसरा अन्य विषयक मुक्तको के साथ और तीसरा स्वतत्र नीति-मुक्तक रूप में। 'पृथ्वीराजरासो', 'पदमावत', 'रामचरितमानस' तथा 'रामचद्रिका' आदि में यत्र तत्र विखरे नीति-छद पहले प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार के नीति-छद कवीर, नानक, व्यास, तुलसी, अग्रदास, रत्नावली, गग दादू, विहारी के है और रसनिधि तथा चरनदास आदि के भक्ति या शृगार विषयक मुक्तक सग्रहो के साथ मिलते हैं और तीसरे प्रकार के, जो हिंदी के प्रतिनिधि नीतिकाव्य हैं, देवीदास, रहीम, वृंद, जान, वैताल, घाघ, गिरिधर, सम्मन तथा दीनदयाल गिरि आदि की रचनाओ में पाए जाते हैं।

आदिकालीन नीतिकाव्य प्रथम दो रूपो में उपलब्ध है। इतिहास के विद्यार्थी से यह बात छिपी नही है कि हिंदी का आदिकाल राजनीति और धर्म की दृष्टि से उथल-पुथल का काल था। राजनीति में युद्धो का बोलबाला था, धर्म में नाथो तथा जैनो का प्राधान्य था। इस प्रकार उस युग में जीवन की सार्थकता प्रधानत तलवार या भक्ति के धनी होने में थी—

'जननी ऐसा बेटा जनिए कै सूरा कै भक्त कहाय'—आल्हखड

तत्कालीन नीति-साहित्य भी इन्ही भावनाओ से ओतप्रोत है। उस काल के सिद्धो के जीवन में सयम का अभाव था तथा उनमें तरह-तरह के अनाचार फैल रहे थे, अत उसे रोकने के लिए गोरखनाथ (लगभग १० सदी ई०) को चित्त की शुद्धि तथा उसे दृढ रखने, मन के विकारो को जीतने, ब्रह्मचर्य-पालन करने एव नशा-सेवन न करने के सबध में उपदेशात्मक छद लिखने पडे। जैनो में भी आचार और सयम की परपरा टूट रही थी, अत जैन कवियो को सीधे या अपने महापुरुषो की जीवन-गाथा वर्णित करने के बहाने अपने धर्म के अनुकूल उपदेश की बातें लिखनी पडी। यह धर्म के क्षेत्र की बात रही। राजनीति में युद्धो और वैयक्तिक वीरता का प्राधान्य था। यही कारण है कि 'पृथ्वीराजरासो' (१२ वी सदी ई०) एव 'आल्हखड' (१३ वी सदी ई०) जैसे प्रबध काव्यो मे स्थान-स्थान पर वीरत्व का पाठ पढाया गया है। 'आल्हखड' की प्रसिद्ध पक्ति—'बरिस अठारह क्षत्रिय जीवै आगे जीवन को धिक्कार।'—तत्कालीन वीरता और युद्ध में मर मिटने में ही जीवन की सफलता मानने की भावना की चरम परिणति प्रदर्शित करती है।

किंतु आदिकालीन हिंदी साहित्य में प्राप्त नीतिकाव्य प्राय आनुषगिक सा है। इस धारा का यथार्थ रूप हमें भक्तिकाल (या पूर्व मध्यकाल) में मिलता है। यह उपर्युक्त तीनो ही रूपो में प्राप्त है। इस समय तक आते आते देश में कुछ शाति स्थापित हो चुकी थी। वीरता एव युद्ध के आदिकालीन रूप तिरोहित हो चुके थे, अतएव स्वभावत आदिकालीन हिंदी साहित्य में जहाँ इनसे सबद्ध नीति एव उपदेश का अपेक्षाकृत आधिक्य है, वहाँ भक्तिकाल मे भक्ति की भूमिका में समाज एव व्यवहार नीति का प्राधान्य है। भक्ति-आन्दोलन इस काल में पहले की तुलना में अधिक व्यापक तथा शक्तिशाली हो गया था। इसकी जडें समाज में गहराई तक प्रवेश कर चुकी थी। इसी कारण तत्कालीन भक्तिकाव्य के नीति अश में समाज के विभिन्न स्तर के लोगो की आवश्यकता ही मुखरित हो उठी। कबीर (१५ वी सदी ई०) के उपदेश एव नीति के छदो में प्राय विद्रोह के स्वर का प्राधान्य दृष्टिगत होता है। उस विद्रोह में समाज की आत्मा बोल रही है। रैदास (१५ वी सदी ई०), नानक (जन्म १४६९ ई०=स० १५२६ वि०), व्यास जी (१५१० ई०—१६१२ ई०=स० १५६७-१६६९ वि०) तथा दादू (१५४४—१६०३ ई० =स० १६०८-१६६० वि०) के नीति-उपदेश के छदो में कबीर का विद्रोही स्वर तो नही है, पर उनके सामान्य नीति-उपदेशो की भाँति ये भी तत्कालीन भक्तो तथा सामान्य लोगो की सासारिकता में लिप्तता एव यथार्थ भक्ति से पराङमुखता को देखकर ही प्रधानतया लिखे गए हैं। तुलसी (१५३२ ई०—१६२३ ई०=स० १५८९-१६८० वि०) के नीति छद भारतीय सस्कृति-सम्पन्न आदर्श समाज के निर्माण का पथ प्रशस्त करते है। एक नए धर्म के प्रवेश से तत्कालीन

समाज में इस दृष्टि से अनेकानेक स्खलन आ गए थे और उसका विकास विपरीत दिशा में हो रहा था। इसी स्थिति ने तुलसी को इस प्रकार के छद लिखने को वाध्य किया।

उसमान (रचना-काल १६ वी सदी ई० का प्रथम चरण) तथा जायसी (१४९४ — १५४२ ई० = स० १५४१-१५९९ वि०) आदि सूफी कवियो के भी कुछ नीति-उपदेश के छद है, पर वे प्राय कथा-प्रवाह में या तो आनुषगिक रूप से आ गए है या उनके सूफीमत के सिद्धान्तो से सवद्ध है। इनमें ऐसे स्थल प्राय नही के वरावर है जिनकी नीति पूर्णतया समाज-सापेक्ष हो।

भक्ति-काल के उपर्युक्त कवियो में धर्म-भावना का प्राधान्य है, अत इनके नीति-उपदेश के छदो की आत्मा भी प्राय धर्म और आचार तथा कही-कही धर्म-सापेक्ष समाज-नीति से सयुक्त है। इस काल के नीति-कवियो की एक दूसरी धारा भी है जो प्रमुखत समाज और व्यवहार नीति की है। इनमे देवीदास (रचना-काल १६ वी सदी ई० पूर्वार्द्ध), नरहरि (१५०५-१६१० ई०=स० १५६३-१६६७ वि०), वीरवल (१५२८-१५८५ ई०=स० १५८५-१६४२ वि०), गग (१५३९ ई०-१६२५ ई०=स० १५९६-१६८२ वि०) तथा रहीम (१५५६ ई०-१६२६ ई०=स० १६१३-१६८३ वि०) उल्लेख्य है। इन सभी ने नीति के फुटकर छद लिखे है। रहीम के सवध में प्रसिद्ध है कि उन्होने नीति की पूरी सतसई लिखी थी, जिसमें से अव केवल २८७ के लगभग दोहे और सोरठे उपलब्ध है। इनमें सभी ऐसे है जिनका राज-दरवारो से सवध था। अत इनके लिए तत्कालीन शिष्ट समाज की व्यवहार तथा राजनीति के सवध में रचना करना स्वाभाविक था। इन सभी में तथ्य की वातो को मात्रा और तुक के साँचे में कस दिया गया है। किसी में काव्यानुभूति की गहराई नहीं है। रहीम ही एकमात्र ऐसे कवि है जिनमें यह दोप नही है और जिनका नीतिकाव्य सच्चे अर्थ मे नीतिकाव्य कहलाने का अधिकारी है। शुक्ल जी की शब्दावली का प्रयोग करे तो अन्य सभी को नीति कवि न कह कर नीति के पद्यकार कवि कहना पडेगा। ऊपर के भक्त कवियो की भी स्थिति इससे वहुत भिन्न नही है। कवीर, तुलसी तथा दादू के कुछ थोडे से ही छद रहीम की कोटि के है। इनके अन्य नीति-छदो में इनका उपदेशक रूप ही प्रधान है। रैदास, नानक तथा व्यासजी तो कुछ अपवादो को छोडकर पूर्णत उपदेशक कवि है।

भक्तिकाल की एक और रचना 'दोहावली' मिली है, जिसे डॉ० दीनदयालु गुप्त तथा कुछ अन्य लोगो ने तुलसी की स्त्री, रत्नावली की रचना माना है। इस रचना का प्रधान विषय स्त्री विषयक नीति है। इसकी नीति भी तत्कालीन स्त्री विषयक सामान्य भावना का, जिसे वहुत अशो में पौराणिक युग की भावना कह सकते है और जो नई सामाजिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया स्वरूप कडाई के साथ पुन प्रतिष्ठित की गई थी, प्रतिचित्र मात्र है।

रीतिकाल या उत्तर मध्ययुग में देश में लगभग पूर्ण शाति थी और सामतवर्ग भोग-विलास में डूवा हुआ था। कला के क्षेत्र में वारीकी अपनी चरम सीमा पर पहुँच रही थी, यद्यपि उसमें मौलिकता तथा जीवतता का अभाव था। इस काल में आदि तथा भक्ति काल की हिंदी की वीर, निर्गुण, सूफी, कृष्ण, राम, जैन, शृगार तथा नीति आदि सभी धाराएँ प्रवाहित हो रही थी, किंतु उनमें अक्रम पुरानी वातो का शब्द एव शैली भेद से अधानुकरण हो रहा था। यदि कही कुछ मौलिकता थी, तो केवल कलात्मक वारीकी के क्षेत्र में। शृगारधारा में कला के अतिरिक्त भावपक्ष

में भी कुछ मौलिकता विकसित हुई जो युग के अनुरूप थी। उसका न विकसित होना ही अस्वाभाविक होता। इस काल का नीतिकाव्य भी इसका अपवाद नही है। इसकी अधिकाश बातें सस्कृत तथा प्राकृत या फारसी –'गुलिस्ता' तथा 'करीमा' आदि– के नीतिकाव्य की जूठन है जिन्हें भाषा, छद और अलकार आदि के नवीन आवरण में प्रस्तुत कर दिया गया है।

रीतिकालीन नीतिकाव्य प्रबध के अश, अन्य विषयो – भक्ति तथा शृगार आदि फुटकर काव्य-सग्रहो—के अश तथा नीति मुक्तको के स्वतत्र सग्रहो, इन तीनो ही रूपो में मिलता है। इनमे नीति के प्रधान कवियो की रचनाएँ तीसरे वर्ग में आती हैं। इस दृष्टि से उल्लेख्य ग्रथ वृन्द (१६४३-१७२३ ई०=स० १७००-१७८० वि०) की 'वृन्दसतसई', छत्रसाल (जन्म १६४९ ई०=स० १७०६ वि०) की 'नीतिमजरी', जान (१७ वी सदी ई०) के 'सिषसागर छदनामा' तथा 'चेतननामा', बैताल (जन्म १६००ई०=स० १७२४ वि०) के छप्पय, घाघ[1] (जन्म १६९६ ई०=स० १७५३ वि०) की कहावतें, गिरिधर (जन्म १७१३ ई०=स० १७-७० वि०) की कुडलियाँ, परमानद (रचना-काल १८०० ई०=स० १८५७ के आसपास) के 'नीतिसारावली', 'नीतिमुक्तावली' तथा 'राजनीति-मजरी', सम्मन (रचना-काल १९ वी सदी ई० प्रथम चरण) के दोहे, बाँकीदास (१७८१ ई०-१८३३ ई०=स० १७३८-१३९० वि०) के 'नीतिमजरी', 'कृपणदर्पण' तथा 'सन्तोषछावनी', विश्वनाथसिंह (जन्म १७८९ ई०=स० १७४६ वि०) के 'ध्रुवाष्टक', 'अवाधनीति' तथा 'उत्तम नीतिचद्रिका', निहाल (रचना-काल १९ वी सदी ई० पूर्वार्द्ध) का 'सुनीति-रत्नाकर', दीनदयाल गिरि (१८०२-१८५८ ई०=स० १८५९-१९१५ वि०) के 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' तथा 'दृष्टाततरगिणी,' भड्डरी के खेती तथा शकुन के फुटकर छद और लक्ष्मणसिंह (जन्म १८०७ई०=स० १८६४ वि०) के 'नृपनीतिशतक' तथा 'समयनीतिशतक' आदि हैं। प्रथम तथा द्वितीय वर्ग की रचनाएँ वीर, शृगार तथा भक्ति धारा के कवियो की रचनाओ के अश रूप मे मिलती हैं। इनमें प्रमुख कवि रज्जब जी (१५६७-१६८९ ई०=स० १६२४-७४६ वि०), बनारसीदास जैन (जन्म १५८६ ई०=स० १६४३ वि०), सुदरदास (१५९६-६८९ ई०=स० १६५३-१७४६ वि०), बिहारी (१६०३-१६६३ ई०=स० १६६०-१७२० वि०), रसनिधि (रचना-काल १६६० ई०=स० १७१७ वि० के लगभग) तथा भगवतीदास (रचना-काल १७ वी सदी ई० उत्तरार्द्ध) हैं।

इस काल के नीति-कवियो के आचार एव धर्म विषयक छद प्राय भक्तिकालीन कबीर तथा तुलसी आदि की उद्धरणी मात्र हैं। कही कुछ नवीनता है भी, तो उसके पीछे भक्ति की वह गहरी अनुभूति नही है जो कबीर जैसे नीतिकारो का मूल आधार है। सामाजिक एव व्यावहारिक नीतियो में, जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, प्राचीन साहित्यो का अत्यधिक प्रभाव है, यो वृन्द, बिहारी, दीनदयाल, घाघ एव विशेषत गिरिधर जैसे कुछ कवियो में मौलिकता भी है।

---

१ आसाम तथा उड़ीसा में 'डाक' नाम के लोककवि प्रसिद्ध हैं। दोनो ही भाषाओं में इनके नीति-वचनो के सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन सग्रहो के नीति-छदो एव हिंदी में प्रचलित घाघ के नीति-छदो में केवल भाषा-भेद है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि मूलतः 'घाघ' या 'डाक' किस भाषा के कवि है।

इन वातो के साथ ही रीतिकालीन नीतिकाव्य में एक ऊपरीपन है। रहीम और वृन्द की तुलना करने पर यह वात स्पष्ट हुए विना नही रहती कि जहाँ रहीम के नीति-छदो में चितन और स्वानुभूति की छाप है, वहाँ वृन्द में ऊपरी व्यावहारिकता अधिक है और गहराई कम।

परिगणन की प्रवृत्ति भी इस काल की एक विशेपता है। वीर रस के कवियो ने भाँति-भाँति के घोडो एव अस्त्रो की सूचियाँ प्राय वनाई है। नीति के कवियो मे विशेपत राजनीति या राजा के कर्तव्यो के गिनाने मे इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है।

इन न्यूनताओ के वावजूद भी रीतिकालीन नीति-साहित्य वहुत उपयोगी है। स्वास्थ्य तथा कृपि विपयक सामान्य ज्ञान तथा सामान्य मनुष्य के दैनिक जीवन की व्यावहारिक वातो का समावेश करने के कारण घाघ और गिरिघर कविराय हिंदी प्रदेश के चिर साथी वन गए है। यदि धर्म के क्षेत्र मे कवीर और विशेपत तुलसी उसकी समस्याओ का समाधान उपस्थित करते है तो अन्य क्षेत्रो मे गिरिघर और घाघ।

हिंदी नीतिकाव्य का सक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय पा लेने के पश्चात विपय और कला की दृष्टि से उसपर विहगम दृष्टि डाल लेना अप्रासगिक न होगा।

हिंदी नीतिकाव्य के प्रधान विपय धर्म-आचार, समाज-व्यवहार, राजनीति, सामान्य ज्ञान (स्वास्थ्य, कृपि तथा ऋतु विपयक) एव शकुन, इन पाँच शीर्पको के अतर्गत रक्खे जा सकते है।

धर्म और आचार मे भक्ति, मन और शरीर की शुद्धि तथा खान-पान-विचार सवधी विपय आते है। इन विपयो के सवध मे नीति-निर्देश करने मे नीतिकारो का दृष्टिकोण तात्कालिक और सार्वकालिक, दोनो ही रहा है। भक्तिकालीन कवीर तथा तुलसी आदि की इस वर्ग की रचनाऐं अपेक्षाकृत अधिक सशक्त है, यो रैदास, नानक, व्यास, दादू, आदि भक्तिकालीन तथा सुदरदास, चरनदास आदि वहुत से रीतिकालीन कवियो ने भी इस प्रकार के नीति और उपदेश के छद लिखे है।

समाज और व्यवहार विपयक नीति-छदो की रचना हिंदी मे अन्यो की अपेक्षा अधिक हुई है। इस क्षेत्र मे भक्तिकाल में विशेप स्थान देवीदास, नरहरि तथा रहीम का है, यो कवीर, तुलसी, टोडरमल, वीरवल तथा गग आदि ने भी इस प्रकार के छद लिखे है। रीतिकाल में इस विपय पर लिखने वालो मे प्रमुख नाम वृन्द, दीनदयाल, घाघ तथा गिरिधर के लिये जा सकते है। कुछ अच्छे छद विहारी, वाँकीदास तथा भगवतीदास आदि ने भी लिखे है। समाज और व्यवहार विपयक नीति में तात्कालिक दृष्टिकोण अपेक्षाकृत कम और शाश्वत अधिक है।

राजनीति मे वाते राजनीति विज्ञान जैसी न होकर सामान्य है, जिनमें प्रमुख राजा के व्यक्तित्व, गुणावगुण, दड, न्याय, शासन, व्यय, कर, प्रजापालन, शत्रु तथा मंत्री आदि से सवद्ध है। इस वर्ग की रचनाएँ भक्तिकाल में तुलसी तथा देवीदास एव रीतिकाल में घाघ, छत्रसाल तथा विश्वनाथसिह आदि द्वारा लिखी गई है। इनमे तुलसी द्वारा वर्णित राजनीति की वातो की पृष्ठभूमि में धर्म है और अन्यो मे शुद्ध व्यवहार तथा सासारिकता है। इस वर्ग की नीति का अधिकाश तात्कालिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है, किंतु कुछ वातें सार्वकालिक भी है।

स्वास्थ्य, कृषि तथा ऋतु आदि विषयक सामान्य ज्ञान की बातें हिंदी नीति-साहित्य मे प्रमुखत केवल घाघ और भड्डरी द्वारा लिखी गई है। ये बातें प्राय सार्वकालिक है।

शकुन सबधी नीति भक्ति और रीति दोनो ही कालो के साहित्य मे लिखी गई है। इस दृष्टि से प्रमुख नाम भड्डरी तथा चरनदास का लिया जा सकता है, यो जायसी, तुलसी आदि ने भी इस प्रकार की बातें यत्र-तत्र दी है। कहना न होगा कि इनका सबध फलित ज्योतिष से है और ये परपरागत लोक-प्रचलित अधविश्वास पर आधारित है। सभ्यता के विकास के साथ इन पर से लोगो की आस्था उठती जा रही है।

नीतिकाव्य के सबध मे एक प्रश्न यह भी उठता है कि नीति के छद काव्य के अतर्गत आ भी सकते है या नही। इस विषय को लेकर कभी कभी सदेह भी प्रकट किया गया है।[1]

इस सबध मे इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि नीति एक विषय है और किसी भी विषय पर काव्य की रचना की जा सकती है, यदि रचयिता मे वास्तविक काव्य-प्रतिभा हो। यह बात दूसरी है कि नीतिकाव्य के क्षेत्र मे वास्तविक काव्य-प्रतिभा के लोग अधिक नही आए और इसीलिए हिंदी नीतिकाव्य का अधिकाश पद्य मात्र है। कही तो तथ्य की बातें सीधे रख दी गई है और कही उन्हें उपदेश का रूप दे दिया गया है। कबीर, तुलसी, देवीदास, घाघ, गिरिधर कविराय तथा विश्वनाथसिह आदि का नीतिकाव्य इसी श्रेणी का है। किन्तु साथ ही इनमे काव्यत्व या काव्य-कला का पूर्णत अभाव भी नही कहा जा सकता। रहीम, वृन्द, बिहारी, जान तथा दीनदयाल गिरि के बहुत से छद शुद्ध काव्य है।

कहना न होगा कि काव्य की कई कोटियाँ होती है जिनमे रस-काव्य श्रेष्ठतम है। नीति-काव्य उस कोटि का नही है, क्योंकि उसमे प्राय रसानुभूति नही होती। निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि नीतिकाव्य उत्तम काव्य या रस-काव्य न होता हुआ भी काव्य ही है।

हिंदी नीतिकाव्य मे प्रधान रूप से दो प्रकार की शैलियो के प्रयोग मिलते है। पहली शैली सीधी-सादी या पद्यात्मक है, जिसमे बिना किसी काव्य-विधान की सहायता के निरीक्षित बात सीधे या उपदेश के रूप में पद्य-बद्ध रहती है। हिंदी नीतिकाव्य मे इसी शैली का प्राधान्य है। कबीर, तुलसी, देवीदास, घाघ, गिरिधर तथा विश्वनाथसिह आदि ने प्राय इसी का प्रयोग किया है। इसीलिए पडित रामचद्र शुक्ल अधिकाश नीतिकारो को पद्यकार कहने के पक्ष में है। दूसरी शैली में किसी काव्य-विधान के सहारे नीति के विषय को अधिक आकर्षक और प्रभावशाली बनाकर रक्खा जाता है। वृन्द और रहीम ने प्रधान रूप से इसी शैली का प्रयोग किया है।

उदाहरणो से इन दोनो का अतर स्पष्ट हो जायगा। गिरिधर की एक कुडलिया है—

बिना बिचारे जो करै, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो, जग मे होत हँसाय।
जग में होत हँसाय, चित्त मे चैन न पावै।
खान पान सम्मान, राग रँग मनहिं न भावै।

---

१. दे० हिंदी सर्वे कमिटी की रिपोर्ट—लाला सीताराम, पृ० ६४, १९३०, प्रयाग।

कह गिरिधर कविराय, दुख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो विना विचारे।

इसमें वात तो वडी सुदर एव अनुभूतिपूर्ण है, किन्तु सीधे पद्यात्मक ढग से कही जाने के कारण चुभने की शक्ति नही रखती। वृन्द ने भी अपने दो दोहो मे कार्य करने के पूर्व उसके परिणाम एव कार्यसिद्धि में अपनी क्षमता पर विचार करके प्रारभ करने का उपदेश दिया है—

फल विचारि कारज करौ, काहु न व्यर्थ अमेल।
तिल ज्यो वारू पेरिए, नाही निकसै तेल॥
पीछे कारज कीजिए, पहिले पहुँच विचार।
कैसे पावत उच्च पद, वावन वाँह पसार॥

इन दोनो दोहो में उदाहरण देने के कारण शैली में आकर्षण एव प्रभविष्णुता आ गई है। मानना पडेगा कि पहली की अपेक्षा जिसे पद्यात्मक शैली कह सकते है, दूसरी, जिसे सूक्त्यात्मक शैली कह सकते हैं अधिक अच्छी और काव्योपयोगी है। उपदेशात्मक छद भी पहली शैली के ही अतर्गत आते हैं।

साहित्य में अलकार-प्रयोग की दो प्रवृत्तियाँ दिखलाई पडती है। एक तो अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए साधन रूप में और दूसरी चमत्कार के लिए साध्य रूप मे। पहली प्रवृत्ति ही काव्योचित है। हिंदी नीतिकाव्य मे प्रधान रूप से यही प्रवृत्ति मिलती है।

हिंदी नीतिकाव्य का सवसे प्रिय और प्रचलित अलकार अन्योक्ति है। इसका कारण भी है। नीति मे उपदेश की वातें रहती हैं। उन्हें सीधे शब्दो में कहने की अपेक्षा अन्योक्ति के सहारे कहना अधिक शोभन लगता है। इस प्रकार इस अलकार द्वारा कही गई वातें 'शुगर कोटेड पिल्स' की भाँति वुरी भी नही लगती और प्रभाव भी डालती हैं। इस अलकार का प्रयोग तुलसी, रहीम, विहारी तथा वृन्द आदि वहुत से नीति के कवियो ने किया है किन्तु इस क्षेत्र में सम्राट कहलाने के अधिकारी दीनदयाल गिरि हैं।

हिंदी नीतिसाहित्य में अन्योक्ति के लिए अप्रस्तुत पुराण, व्यवसाय, पशु, ऋतु, वाद्य, नदी, पुष्प तथा कीट आदि अनेकानेक क्षेत्रो से लिए गए हैं।

अर्थान्तरन्यास, उदाहरण तथा दृष्टात भी नीति-साहित्य में वहुप्रयुक्त अलकार हैं। अन्य अलकारो मे लोकोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, विशेषोक्ति, काव्यलिंग, विकल्प तथा विनोक्ति आदि के भी प्रयोग मिल जाते हैं।

हिंदी नीतिकाव्य के प्रधान छद दोहा तथा कुडलिया हैं। कवीर, तुलसी, रहीम तथा वृन्द आदि ने दोहा छद का प्रयोग किया है और दीनदयाल तथा गिरिधर आदि ने कुडलिया का। यथार्थत दोहा ही नीति के लिए सवसे उपयुक्त छद है। यह न तो इतना छोटा है कि इसमें उचित रीति से भाव व्यक्त ही न किया जा सके और न कवित्त तथा कुडलिया आदि की भाँति इतना वडा है कि विस्तृत रूप देने से भावो की चुभन-शक्ति समाप्त हो जाय। कुडलिया छद नीति साहित्य के लिए वही अच्छा लगता है जहाँ अन्योक्ति अलकार का प्रयोग किया जाय। अन्योक्ति के प्रयोग में वात फैलाकर कहने की भी काफी गुजाइश रहती है। गिरिधर ने विना अन्योक्ति अलकार का

प्रयोग किए भी कुडलिया छद का प्रयोग किया है और छद अच्छे तथा नीति साहित्य म महत्व रखने वाले भी हैं। किंतु यथार्थत उनमें फैलाव के कारण ही प्रभविष्णुता की वह मात्रा नहीं है जो नीति के दोहो एव अन्योक्ति की कुडलियो मे है। हिंदी नीतिकाव्य मे इन छदो के अतिरिक्त छप्पय, सोरठा, कवित्त तथा सवैया आदि का भी प्रयोग हुआ है। अपवादस्वरूप चौपाई तथा चौपई छद भी मिल जाते हैं।

हिंदी नीतिकाव्य का अधिकाश ब्रजभाषा मे लिखा गया है। रहीम, सम्मन, [illegible], रत्नावली, वृन्द, विहारी, सुदरदास तथा दीनदयाल गिरि के नीति-छदो की भाषा ब्रज ही है। तुलसी, नरहरि तथा गिरिधर आदि कुछ अन्य कवियो की भाषा अवधी है। नीतिकाव्य के लिए डिगल का प्रयोग करने वाले प्रमुख कवि बाकीदास है। सब कवियो मे सुन्दरदास को छोडकर प्राय सभी के नीति-छदो की भाषा मे कई बोलियो का मिश्रण है। शब्द-समूह की दृष्टि से इस काव्यधारा की भाषा अत्यत सरल तथा सुबोध है। इसके जनता मे बहुप्रचलित होने का एक रहस्य यह भी है। नीतिकाव्य की भाषा मे लोकोक्तियो का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके कारण वह अधिक आकर्षक, सशक्त तथा व्यावहारिक हो गई है।

समवेत रूप से हिंदी का नीतिकाव्य भाव की दृष्टि से जीवन के प्राय सभी पक्षो का स्पर्श करने वाला है तथा कला की दृष्टि से वह अपनी आवश्यकता के सर्वथा अनुरूप है।

ख. जीवनी-साहित्य

उपन्यास, नाटक तथा कहानी की भांति जीवनी-साहित्य आज के युग मे साहित्य का एक महत्वपूर्ण तथा रोचक अग स्वीकृत किया गया है। जीवनी-साहित्य का सबसे बडा आकर्षण यह है कि साहित्य के अन्य रूपो में कल्पना के आधार पर लेखक यथातथ्यता एव स्वाभाविकता लाने का प्रयास करता है, किंतु जीवनी-साहित्य मे, यदि ईमानदारी से काम लें तो उसे प्रयत्नशील होने की आवश्यकता नही रहती। जीवनी मे किसी जीते-जागते, हाड-मास के आदमी के यथार्थ जीवन का चित्र प्रस्तुत किया जाता है।

आज का जीवनी-साहित्य प्रमुखत जीवनचरित्र, आत्मकथा, ससमरण, डायरी, यात्रा-विवरण तथा पत्र, इन अनेक रूपो मे मिलता है।

भारतीय साहित्य मे सस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रश मे तो 'जीवन-चरित्र' विषयक सामग्री का पूर्णत अभाव नही है किंतु जो सामग्री उपलब्ध है, उसे आज के अर्थ मे जीवनी-साहित्य नही माना जा सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि जीवनी-साहित्य के अतर्गत आने वाली रचनाओ में यथातथ्य चित्रण का होना अत्यन्त आवश्यक है, किंतु इनमे उसका अभाव है। उदाहरण के लिए राम के जीवन को लें। इन्हें लेकर 'वाल्मीकिरामायण' से लेकर 'अगस्त्यरामायण', 'अद्भुतरामायण' और 'घटरामायण' आदि कितने ही ग्रथ लिखे गए और सभी मे राम के चरित्र का ही चित्रण है, किंतु सभी एक दूसरे से प्राय दूर और कही-कही तो विरोधी भी है, साथ ही उनमे कवि की कल्पना और काव्यत्व का यथातथ्यता मे कही अधिक महत्व है। पुराणो के पाँच लक्षणो में 'वशानुचरित' भी एक है, इसीलिए उनमें सूर्य और चद्रवशो के अनेकानेक राजाओ के चित्रण हैं, किंतु वहाँ भी यथार्थता की कमी और अतिशयोक्ति का बाहुल्य है। सस्कृत से लेकर

अपभ्रंश तक और भी बहुत से महाकाव्य और खंडकाव्य, जिनमें अश्वघोष का 'बुद्धचरित', बाण का 'हर्षचरित', स्वयंभू का 'पउमचरिउ' तथा पुष्पदंत का 'जसहरचरिउ' एवं 'णयकुमारचरिउ' आदि चरित्र-काव्य भी हैं। ये विभिन्न व्यक्तियों की जीवनियों के आधार पर लिखित हैं, किन्तु सभी में उपर्युक्त कमी दिखाई देती है।

हिंदी में आदि, भक्ति तथा रीति कालों में एक ओर तो 'रामचरितमानस' जैसे पौराणिक व्यक्तियों के जीवन विषयक ग्रंथ मिलते हैं, जिनमें पिछले साहित्यों की भाँति ही कल्पना और अतिशयोक्ति का ही प्राधान्य है और दूसरी ओर पृथ्वीराज, खुमान तथा हम्मीर आदि रासो-ग्रंथ तथा 'सुजानचरित', 'छिताईचरित', 'वीरदेवसिंहचरित' आदि चरित-ग्रंथ या वीरकाव्य की धारा में आने वाले भूषण के 'शिवराजभूषण' की भाँति के ग्रंथ हैं जिनके आधार तो ऐतिहासिक हैं और रचयिता भी प्रायः उन ऐतिहासिक पुरुषों के समकालीन रहे हैं, किंतु किसी में भी तटस्थता के साथ यथार्थ चित्र देने का प्रयास नहीं है। वीर-पूजा की भावना, आश्रय पाने की इच्छा या आश्रयदाता से अपने संबंध को और स्थायी एवं घनिष्ठ बनाने के प्रयास के कारण रचयिताओं ने एक ओर तो नायक की इच्छाओं को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने का प्रयत्न किया है और दूसरी ओर उनकी त्रुटियों का उल्लेख तक नहीं किया है। साथ ही काव्यत्व के कारण भी इन रचनाओं में यथार्थता को ओझल होना पड़ा है।

ऊपर वर्तमान काल में प्रचलित जीवनी-साहित्य के छः रूपों का उल्लेख किया जा चुका है। इनमें दो रूपों, जीवनचरित तथा आत्मचरित, की ही झलक हमें हिंदी आलोच्य काल में मिलती है।

'जीवनचरित' में कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है। १८५० ई० के पूर्व के प्रमुख जीवनचरित्रों को निम्नांकित वर्गों में रक्खा जा सकता है—

वार्ता

वार्ताओं में अधिक प्रसिद्ध 'चौरासी वैष्णवन की' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की' वार्ताएँ हैं। इनमें भक्तों या सामान्य लोगों के लिए प्रसिद्ध वैष्णव भक्तों की वार्ताएँ या जीवन घटनाएँ वर्णित हैं, कहीं-कहीं चमत्कारपूर्ण अस्वाभाविकता भी है। वार्ताओं के लेखन में लेखक का ध्येय प्रचार है, इसीलिए ये वर्णन निष्पक्ष नहीं हैं और न उनमें किसी ऐसी घटना का वर्णन है जिसमें नायक के अवगुण पर भी प्रकाश पड़े। अन्य वार्ताओं में 'गोवर्धननाथ की प्राकट्य वार्ता' तथा 'गुसाईं जी की चार सेवकन की वार्ता' आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

परचई

परचइयों में भी भक्तों का परिचय है। परचई-साहित्य की विशेषता यह है कि प्रायः ये बातचीत के ढंग पर लिखी गई हैं। इनका उद्देश्य भी वैष्णव धर्म का प्रचार है। इनमें भी वार्ताओं के दोष वर्तमान हैं। कुछ प्रसिद्ध परचइयाँ 'अष्टसखान' (सूर तथा परमानंद आदि) की परचई, अनंतदास द्वारा लिखित कबीर, धना, त्रिलोचन, नामदेव, पीपा, रैदास तथा राँका बाँका की परचइयाँ तथा रघुनाथदास लिखित हरिदास निरंजनी की परचई है। पेम द्वारा लिखी

हुई 'सत सिंगा जी की परचुरी' भी वस्तुत 'परचई' ही है और इस प्रसग म उल्लेखनीय है।

अन्य भक्तचरित

भक्तो के चरित सबधी अन्य ग्रथो में प्रमुख नाम 'भक्तमाल' का आता है, जिसमें लगभग २०० भक्तो की जीवन-घटनाएँ (पूरी जीवनी नही) चित्रित है। धर्म-प्रचार ही इसका भी उद्देश्य है, अत चमत्कारपूर्णता एव गुणो को बढा कर दिखाने की प्रवृत्ति इसमें भी है। 'भक्तमाल' की टीकाओं—प्रियादास की 'भक्तिरसबोधिनी' या रघुराजसिंह, सियसिंह एव ध्रुवदास की टीकाओ—में भी वही रूप है, केवल कुछ कथानक या घटनाएँ बदल दी गई है। इस प्रसग मे वेणीमाधवदास का 'गोसाईंचरित', तुलसी साहब का 'तुलसीचरित', रूपदास के 'मेवादासचरित्रबोध', 'कबीरचरित्रबोध' तथा ध्रुवदास की 'भक्तनामावली' आदि भी उल्लेख्य है। कहना न होगा कि इन सभी मे वे ही त्रुटियाँ है। इनमे कुछ तो अधिकाशत कल्पित है।

ख्यात तथा वात

ख्यातो और वातो के बहुत से सग्रह राजस्थान तथा कुछ अन्य स्थानो में मिले है जिनके विवरण सभा तथा हिंदी विद्यापीठ, उदयपुर की खोज-रिपोर्टो में दिए गए है। ये गद्य और पद्य दोनो मे है। इनमें राजस्थान के विभिन्न राजाओ के सक्षिप्त परिचय है, जिनमे कुछ तो ऐतिहासिक आधार पर लिखे जाने के कारण अपेक्षाकृत अधिक यथार्थ है और कुछ पूर्णतया कल्पित है। उदाहरणार्थ 'उदयपुर की ख्यात' मे मेवाड के राजाओ का परिचय है। इसमें आरभ के बहुत से नाम पूर्णतया कल्पित है। कुछ अन्य ग्रथ भी, जिनके नाम के साथ 'ख्यात' या 'वात' नही है, इसी श्रेणी में आते है। 'विडपसागर' इसी प्रकार का ग्रथ है जिसमें जोधपुर के राजा अभयसिंह का जीवन-चरित्र है।

बीतक

जीवनी के लिए ख्यात, वात, वार्ता, परचई या स्वय जीवनी के अतिरिक्त एक शब्द 'बीतक' भी है। 'बीतक' शब्द स० 'वृत्त' से बना ज्ञात होता है और सत साहित्य में जीवन-वृत्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका इस अर्थ में प्रयोग प्रणामी साहित्य में किया गया है। प्रणामी सप्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ के तथा उनके गुरु देवचद के जीवन को लेकर प्रणामी साहित्य में लालदास, ब्रजभूषण, हसराज, मुकुद या नोरगस्वामी तथा लल्लूमहराज द्वारा पाँच बीतकें लिखी गई है। इनमें अतिम बीतक तो गुजराती में है, शेष हिंदी में है। जीवनी की दृष्टि से लालदास की बीतक ही सबसे सुदर है जिसमें पूरा वर्णन है। धर्म तथा प्रचार की दृष्टि से लिखे होने के कारण बीतको में भी निरपेक्षता नही है, इसी कारण केवल गुणो का, वह भी प्राय बढाचढाकर, वर्णन है।

आत्मकथा

अपने द्वारा लिखी हुई अपनी जीवनी आत्मकथा है। आत्मख्याति से दूर रहने की भावना के कारण आत्मकथा-लेखन की परपरा भारतवर्ष में बिलकुल नही मिलती। यो

कालिदास, वाण, कवीर, सूर, तुलसी, जायसी तथा विहारी आदि वहुत से लेखकों मे उनके जीवन से सवधित यत्र-तत्र कुछ पक्तियाँ मिलती हैं जिनके आधार पर उनके जीवन की कुछ वाते स्पष्ट हो जाती हैं, किंतु उन सकेतो को आत्मकथा नही माना जा सकता। भारत में लिखे गए प्राचीन जीवनचरितो में 'तुजुकेवावरी' तथा 'तुजुकेजहाँगीरी' के नाम लिए जा सकते हैं। हिंदी में लिखित प्राचीनतम आत्मकथा कविवर वनारसीदास जैन का 'अर्द्ध कथानक' (सन १६४१ ई० = स० १६९८ वि०) है। भारत की किसी भी भाषा में इससे पुराना आत्म-चरित नही मिलता।

'अर्द्ध कथानक' हिंदी के जीवनी-साहित्य का अमूल्य ग्रथ है। इसकी सवसे वडी विशेषता यह है कि रचयिता ने विना किसी दुराव-छिपाव के अपने जीवन को पाठक के समक्ष रखा है, यहाँ तक कि अपने दुश्चरित्र तथा उसके कारण भयकर वीमारी मे फँस जाने को भी उसने स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है।

पत्र का भी जीवनी-साहित्य में स्थान है और हमारे आलोच्य काल मे भी अपने घनिष्ठों को अपने जीवन से सवद्ध पत्र अवश्य ही लोगो द्वारा लिखे गए होगे, किंतु इस तरह के उदाहरण अभी तक नही मिल सके हैं, या कम से कम प्रकाश में नही आए हैं। यदि मीरा और तुलसी के पत्र-व्यवहार की वात प्रामाणिक हो तो उसे इसका अच्छा उदाहरण माना जा सकता है।

१२. जैन साहित्य

हिन्दी जैन साहित्य का प्रारम्भ सही रूप में १५वी शताब्दी से होता है। इसके पहले की रचनाएँ या तो अपभ्रंश में है या अपभ्रंश से प्रभावित भाषा मे है, जिसे पुरानी हिन्दी या पुरानी राजस्थानी भाषा भी कहा जा सकता है। यो तो पद्रहवी शताब्दी की रचनाओ मे भी अपभ्रश का प्रभाव है, किंतु सवत १४११ वि० (सन १३५४ ई०) की भादौं वदी पचमी को एलिचपुर में रचित कवि सधारू या साधारू के 'प्रद्युम्नचरित्र' की भाषा हिन्दी-प्रधान है। अभी तक प्राप्त हिन्दी जैन रचनाओ में यह सबसे पहली और उल्लेखनीय बडी कृति है। इसका रचना-स्थान मध्यप्रदेश का एलिचपुर ही प्रतीत होता है। वास्तव में हिन्दी भाषा का मूल उद्गम स्थान दिल्ली के आसपास उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश ही है और इन प्रदेशो में रची गई कृतियो की भाषा ही हिन्दी या हिन्दी के अधिक निकट की होना स्वाभाविक है। राजस्थान में अपने प्रदेश की भाषा मारवाडी या डिंगल राजस्थानी थी, अत वहाँ की अधिकाश रचनाएँ राजस्थानी में है एव वहाँ की हिन्दी रचनाओ मे राजस्थानी का प्रभाव पाया जाना स्वाभाविक है। अपभ्रश भाषा जैन विद्वानो द्वारा प्राचीन काल से एक साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाई गई थी और दिगम्बर विद्वानो ने उसे स० १७०० वि० (१६४३ ई०) तक जारी रखा। श्वेताम्बर कवियो ने १३वी शताब्दी से जब अपभ्रश या बोलचाल की भाषा में ज्यादा अन्तर हो गया तो जन-साधारण की सुविधा के लिए तत्कालीन गुजरात और राजस्थान की बोलचाल की भाषा को अपना लिया, क्योकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात में ही अधिक था। दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रधान केन्द्र उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे थे।

कवि साधारू

सवत १४११ वि० (१३५४ ई०) में रचित 'प्रद्युम्नचरित्र' की जिन सात प्रतियो का अभी तक पता लगा है, उनमें से दो में तो परवर्ती परिवर्तन पाया जाता है, शेष पाँच मे कुछ पाठ-भेद होते हुए भी समानता ही अधिक है। कवि ने अपना नाम, रचना-काल, रचना-स्थान, वश और पिता, माता आदि का परिचय इस प्रकार दिया है—

अठदल कमल सरोवर वासु, कासमीरपुर लियो निवासु।
हसा चढि कर पुस्तक लेइ, कवि साधारू सारद प्रणमेइ॥
सवत चवदस दुइ गए, ऊपरि अधिक अग्यारह भए।
भादव वदि पचमी तिथि सारू, स्वाति नक्षत्र सनिश्चर वारू॥
अगरवाल की मेरी जाति, पुरि आगरोह मोहि उत्पत्ति।
सुधनु जाणि गुणवइ उर धरयउ, साह महराज घरइ अवतरियउ॥
एरच्छ नगर वसते जाण, सुणउ चरित मइ रचिउ पुराण।

इस चरितकाव्य की पद्य-सख्या लगभग ७०० है।

इसके वाद सोलहवी शताब्दी की रचनाओ में हिन्दी का विकसित रूप दिखाई दे है। अभी तक इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध की कुछ ही रचनाएँ प्राप्त हुई है, जिनमें कवि ठाकुर छीहल, धर्मदास और गोरखदास के नाम उल्लेखनीय है।

छीहल

छीहल राजस्थान के कवि थे। उनकी रचित 'पचसहेली की वात' एक सुन्दर रच है। उसमें चन्देरी नगर की मालिन, तँमोलिन, छीपिन, कलालिन और सुनारिन, इन पाँच जाति की स्त्रियो का पारस्परिक सवाद दिया गया है। इसका रचना-काल सम्वत १५७४ या ७५ वि (सन १५१७ या १८ ई०) है। इसमें ६५ से ६८ पद्य है।[1] प्रस्तुत लेखक के सग्रह की प्रतियो इसमें काफी पाठ-भेद पाया जाता है और २-४ पद्यो में कमी-वेशी भी है। निम्नलिखि उद्धरण से इसकी भाषा का नमूना देखा जा सकता है—

देख्या नगर सुहावना, अधिक सुचगा थान।
नाम चदेरी परगडी, सुर नर लोक समान॥
ठामि ठामि मन्दिर शत खडा, सोने लखिया जेह।
छीलह ताकी उपमा, कहत न आवै छेह॥
मालण अरु तम्वोलिनी, तीजी छीपन नारि।
चौथी जात कलालिनी, मिली पचमी सोनारि॥
मिठ्या मन को भावता, कीया सहज वखाण।
अनजाना मूरख हँसै, रीझै चतुर सुजाण॥
सवत पद्ररह चहुतरेइ (पचोहतरइ), पुन्यु फागुण मास।
पचसहेली वर्णनी, छीहल किया प्रकास॥

कवि ने अपना परिचय 'वावनी में' इस प्रकार दिया है—

चउरासी अगलइ सइ, जु पन्द्रह सवच्छर।
सुकल पक्ष अष्टमी, माम कातिक गुरु वासर॥
हृदय ऊपनी वुद्धि, नाम श्रीगुरु को लीन्हउ।
नाल्हिग वसिनायू सुतनु, अगरवाल कुल प्रगट रवि।
वावनी सुवा रचि विस्तरी, कवि ककण छीहल कवि॥५३॥

अन्य रचनाओ में से 'पथी गीत' मे मृघु विन्दु वाला दृष्टान्त नौ छप्पयो में दिया गय है। तीन और छोटी रचनाएँ 'रे मन गीत', 'उदर गीत' और 'जग सपना गीत' प्राप्त है। इनव भापा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है। इनमें से 'पचसहेली की वात' वहुत लोकप्रिय हुई। इनव

---

१. भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक ४ में प्रकाशित।

अनेक प्रतियाँ श्वेताम्बर भडारो मे हैं। 'वावनी' की प्रति प्रस्तुत लेखक के सग्रह में है। शेप रचनाएँ जयपुर के दिगम्बर भडार में प्राप्त हुई है।[1]

कवि ठाकुरसी

ठाकुरसी कवि दिगम्बर जैन खण्डेलवाल पहाड्या गोत्र के जगल्ह कवि के पुत्र थे। इनका 'कृपण चरित्र' प्रसिद्ध है। स० १५८० वि० (१५२३ ई०) में ३५ छप्पयो में एक कृपण पति और यात्रोत्सुक पत्नी की कथा वर्णित है। दूसरी रचना 'पचेन्द्रिय वेलि' स० १५८५ वि० (१५५८ ई०), कार्तिक सुदि १३ की है, जिसमें पाँचो इन्द्रियो के विपयो से होने वाली हानि का वर्णन किया गया है। तीसरी रचना 'नेमीश्वर बेलि' मे नेमिनाथ और राजुल का जीवन वर्णित है। चौथी रचना 'मेघमाला वृत्तकथा' अपभ्रश मे है। उसकी रचना स० १५८० वि० (१५२३ ई०), प्रथम श्रावण सुदि ६ को ११ कडवको मे हुई है। इसकी प्रशस्ति के अनुसार ढूँढार देश की चम्पावती (चाटसू नगरी) के मल्लिदास की प्रेरणा से और भट्टारक प्रभाचन्द के उपदेश से यह कथा रची गई।[2] कवि की भाषा के नमूने के लिए 'पचेन्द्रिय बेलि' का एक पद्य दिया जा रहा है—

दोहरा—वन तरुवर फल खातु फिर, पय पीवतो सुछद।
परसण इन्द्री प्रेरियो, वहु दुख सहइ गयन्द ॥१॥

चालि—वहु दुख सहे गयन्दो। तसु होइ गई मति मन्दो ॥
कागद के कुजर काजैं। पडि खाडै सक्यो न भाजैं ॥
तिहि सही घणी तिसि भूखो। कवि कौन कहै तसु दुखो ॥
रखवाला वलम्यो जाण्यो। वेसासि राय घरि आण्यो ॥
वध्यो पगि सकुल घालै। सो किया स सकै चालै ॥

लेखक के सग्रह की प्रति में इसका रचना-काल स० १५८५ की जगह 'पन्द्रह सौ पचासे' लिखा मिलता है, पर पिचासी वाला पाठ ही अधिक ठीक जान पडता है। स० १५०८ वि० (१४५१ ई०) में रचित 'पार्श्वनाथ राजुल सतावीसी' जयपुर भडार में सुरक्षित है।

धर्मदास

धर्मदास कवि ने स० १५७८ वि० (१५२१ ई०) में 'धर्मोपदेश श्रावकाचार'[3] ग्रन्थ बनाया, जिसमें छीहल और ठाकुरसी से हिन्दी का अधिक विकसित रूप मिलता है। धर्मदास नारसैनी जाति का था। पिता का नाम राम और माता का नाम शिवी था। उपर्युक्त ग्रथ में जैन धर्म के श्रावको के आचार का वर्णन है। इस कवि की दूसरी रचना 'मदनयुद्ध' लेखक के सग्रह में है जिसके प्रारम्भिक दो पद्य नीचे दिए जा रहे है—

---

१ वीरवाणी, वर्ष ८, अक २४।
२ दे० कवि ठाकुरसी और उनकी रचनाएँ।
३ 'धर्मोपदेश श्रावकाचार' का आदि अत प्रबन्धकारिणी कमेटी श्री महावीरजी तथा जयपुर से प्रकाशित प्रशस्ति सग्रह के पृ० २२० में प्रकाशित है।

मुनिवर मकरध्वज दुहुन माडी रारि, रतिकत वली अत, उतहि नवल ब्रह्मचार।
दोउ सुभट दल साजि चले सग्राम, तप तेज सहसय तउ तहि महा भद्र काम ॥१॥
प्रथम जपु परमेष्ठी पच पचम गति पाउँ, चतुर्विश जिन नाम चित घरि वरण मनाउँ।
सारद गनि मनिगुन गभीर गवरी सुत मचो, सिद्धि सुमति दातार वचन अमृत गुन पचो ॥
गरु गावत मुनि जन सकल जिनको होइ सहाइ, मदन जुझ धर्मदास को वरणतु महि पसार।

ग्वालियर के **चतुरूमल** द्वारा रचित 'नेमीश्वर गीत'[1] का रचना-काल स० १५७१ वि० (१५१४ ई०) वतलाया गया है, पर वह सदिग्ध है। उसमें महाराजा मानसिंह के राज्यकाल का उल्लेख है।

फफोद के **गौरवदास** रचित 'यशोघरचरित' के स० १५८१ वि० (१५२४ ई०) में रचे जाने का उल्लेख कामताप्रसाद जैन ने किया है।[2] यह ग्रन्थ लेखक के देखने में नही आया, पर हिन्दी का ही होना चाहिए। अन्य वहुत सी रचनाएँ इस सोलहवी शताव्दी की मिलती है, पर उनकी भाषा अपभ्रश-प्रधान या राजस्थानी है। वहुत सी रोचक वृत्तकथा इसी शताव्दी में अपभ्रश में लिखी गई, यद्यपि पूर्ववर्ती अपभ्रश से इनकी भाषा में काफी सरलताएँ दिखाई देती हैं।

१७वी शताव्दी में हिन्दी जैन साहित्य वहुत अच्छे परिमाण में रचा गया। यद्यपि इस शताव्दी की पूर्वार्घ की रचनाएँ अधिक नही मिलती, पर उत्तरार्घ में कवि वनारसीदास जैसे प्रौढ और उच्चकोटि के कवि उल्लेख योग्य हुए हैं।

मालदेव

श्वेताम्वर हिन्दी रचनाओ का प्रारम्भ तो कवि मालदेव से माना जा सकता है। इनकी भापा राजस्थानी-प्रधान है। ये कवि भटनेर के वडगच्छीय शाखा के आचार्य भावदेव सूरि के शिप्य थे। स० १६१२ वि० (१५५५ ई०) के आसपास इन्होने प्राकृत, सस्कृत और राजस्थानी में करीव २० रचनाएँ लिखी। ये वहुत अच्छे कवि थे। अपनी रचनाओ मे इन्होने सुभापित भी वहुत से दिए है जिनमें से कुछ इनके स्वरचित भी है। उदाहरणार्थ कुछ पक्तियाँ नीचे उद्धृत की जा रही है—

मीठा भोजन शुभ वचन, मीठा वोली नारि।
सज्जन सगति माल कहै, किस ही न प्यारे चारि॥
मुओ सुत्त खिण इक दहै, विन जायो पुनि तेउ।
देह जनम लगु मूढ सुत, सो दुख सहीयइ केउ॥
आगति थोडी खर्च वहु, जिसि घरि दीसै एम।
तिस कुटुम्व का माल कहि, महिमा रहसी केम॥
माल न पहीलइ कछु किय, पीछेइ आवइ गालि।
पाणी जइ किरि वहि गयउ, तऊ क्या वघइ पालि॥

---

१. आदि अत, वही पृ० २३१।
२. हिंदी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास, पृ० ६८।

मालदेव रचित राजस्थानी हिन्दी की रचनाएँ इस प्रकार है—१ पुरन्दर चौपाई, जो सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई, २ सुरसुन्दरी चौपाई, ३ वीरागद चौपाई (स० १६१२ वि० =१५५५ ई०), ४ भोजप्रवन्ध (२००० श्लोक पचपुरी), ५ विक्रमपचदड चौपाई (१७३७ या १७२५ गाथा), ६ देवदत्त चौपाई, ७ धनदेव पद्मरथ चौपाई, ८ सत्य की चौपाई, ९ अजना सुन्दरी चौपाई, १० मृगाकपदमावती रास, ११ पद्मावतीपद्मश्री रास, १२ अमरसेन वयर-सेन चौपाई, १३ स्थूलिभद्र धमाल चौपाई, १४ राजुलनेमिनाथ धमाल, १५ वालशिक्षा चौपाई, १६ शीलवावनी, १७ वृहद्गच्छीयगुर्वावली, १८ महावीरपारणा आदि।[1]

रायमल

इसी प्रकार रायमल नाम के दिगम्वर कवि की रचनाएँ भी राजस्थानी-हिन्दी मिश्रित भाषा में है, जिनका रचना-काल स० १६१५ से १६३३ वि० (१५५८ से १५७६ ई०) है। 'प्रद्युम्न-रासो' (स० १६६८ वि०=१६११ ई०) हरसोर गढ़ में, 'श्रीपाल रासो' (स० १६३० वि०= १५७३ ई०) रणथभोर में और 'भविसयत्त कथा' (स० १६३३ वि०=१५७६ ई०) सागानेर में रची गई। अत निश्चित है कि वे राजस्थान के निवासी थे। वे मुनि अनन्तकीर्ति के शिष्य थे। इनकी अन्य रचनाओ में 'नेमीश्वर रास' (स० १६१५ वि०=१५५८ ई०), 'हनुमत कथा' (स० १६१६ वि०=१५५९ ई०), 'सुदर्शन रासो' (स० १६२८ वि०=१५७१ ई०), 'निर्दोष सप्तमी कथा' (स० १६स्वप्न) आदि जयपुर के भण्डारो में प्राप्त है।[2]

पांडे राजमल

स० १६२० वि० (१५६३ ई०) के आसपास पाण्डे राजमल एक अच्छे विद्वान हो गए है, जिनके रचे हुए सस्कृत ग्रथ 'लाटीसहिता', 'जम्वूस्वामी चरित्र', 'आध्यात्मकमलमार्तण्ड' और 'पचाध्यायी' प्रसिद्ध है, पर हिन्दी साहित्य को भी इन्होने एक वहुमूल्य देन दी है। श्वेता-म्वर विद्वानो ने तो अपने लोकोपयोगी ग्रन्थो की भाषाटीकाएँ १५वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही लिखनी शुरू कर दी थी और वे पुरानी राजस्थानी के गद्य में है। दिगम्वर विद्वानो में हिन्दी मे भाषा टीका वनाने का सबसे पहला श्रेय पाडे राजमल को ही प्राप्त है। इन्होने कुन्दकुन्दाचार्य के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ 'समयसार' की भाषा टीका वनाई। कविवर वनारसीदास को सबसे पहले आध्यात्माभिमुख करने वाली यही टीका थी। उन्होने 'आत्मकथा' में और 'समयसार' के अपने पद्यानुवाद में इसका उल्लेख किया है। उनके साथ कुँअरपाल के कहने से स० १७०९ वि० (१६५२ ई०) में जो 'प्रबन्धसार' की वचनिका हेमराज ने बनाई उसमें भी इससे पहले की एकमात्र भाषा टीका के रूप में इसका उल्लेख है। हिन्दी जैन गद्य की प्राप्त रचनाओ में यह प्राचीनतम रचना है। इस दृष्टि से राजमल की देन उल्लेखनीय है। इस बालबोधिनी भाषा टीका का गद्य इस प्रकार है—

"यथा कोई जीव मदिरा पीवाइ करि अविकल कीजै छै, सर्वस्व छिनाइ लीजै छै।

---

१ दे० शोधपत्रिका में प्रकाशित लेखक का 'वाचक मालदेव और उनके ग्रन्थ' शीर्षक लेख।

२ दे० वीरवाणी, वर्ष २, पृ० २३१।

पद तें भ्रष्ट कीजै छै तथा अनादि ताई लेई करि सर्व जीव राशि राग द्वेष मोह अशुद्ध परिणाम करि मतवालो हुओ छै, तिहि तैं ज्ञानावरणादि कर्म को वध होइ छै।"

आपकी दूसरी उल्लेखनीय रचना 'छन्दोविद्या' है जो छन्द-शास्त्र की अनुपम रचना है। कवि ने इसे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और हिन्दी, चार भाषाओ में ग्रन्थित किया है। अनेक भाषाओ में ऐसी रचना शायद ही कोई अन्य हो। कवि और उसकी अन्य रचना के सम्बन्ध मे 'आध्यात्मकमलमार्तण्ड' की भूमिका देखनी चाहिए। राजमल नागौर, वैराट आदि में रहे थे, इसलिए उनकी 'समयसार' की भाषा टीका मे ढूढारी के "छै' आदि शब्दो का प्रयोग देखने को मिलता है। इस टीका की स० १६५३ वि० (१५९६ ई०) की लिखी प्रति अजमेर भडार में है।

पाडे जिनदास

स० १६४२ वि० (१५८५ ई०) मे पाण्डे जिनदास ने 'जम्बूस्वामीचरित्र' बनाया। ये ब्रह्मचारी शान्तिदास के शिष्य थे। मथुरा में इस ग्रन्थ की रचना हुई। अत इसकी भाषा शुद्ध हिन्दी है। इसकी पद्य सख्या ५०३ है। इनकी दूसरी रचना 'जोगी रासा' भी बहुत सुन्दर है। 'मालीरासा', 'पदसग्रह' आदि इनकी अन्य रचनाएँ भी प्राप्त है। 'जोगीरासा' के दो पद्य इस प्रकार है—

चेतन पडियो अचेतन की फदि, जित खँचै तिह जाई।
मोहफद गले लगै रे भाई, में मे में विललाई॥
तत्त ग्रथ महि वसू निरतर, चेतन दीपग जोऊ।
मिथ्या तम वल दूरि करे पिउ, परम समाधिन्ह सोऊ॥

कवि कृष्णदास

स० १६५१ वि० (१५९४ ई०) में लाहौर में भोजग कृष्णदास ने 'दुर्जन सप्त बावनी' बनाई। इन्ही की सवत १६६९ वि० (१६१२ ई०) की एक अन्य रचना 'दानादि रास' भी है। इस रचना में कविवर समयसुन्दर के 'दानादि सवादशतक' का अनुकरण किया गया प्रतीत होता है। दान, शील, तप और भाव, इन चार धर्मों का पारस्परिक सवाद इस रचना मे कराया गया है, यथा—

दान शील तप भाव का, रासा सुणे जि कोई।
तिसके घर में सदाही, अक्षय नवनिधि होई॥

कृष्णदास की 'दुर्जनसाल बावनी'[1] मे, ओसवाल जडिया गोत्र के दुर्जनसाल की प्रशसा और उसके वश तथा उसकी सुकृतियो का वर्णन है। इसी कवि की स० १६६८ वि० (१६११ ई०) मे लाहौर में लिखी हुई 'आध्यात्म बावनी'[2] भी, जो हीरानन्द सघपति के नाम से रची गई है, प्राप्त है।

---

१. आदि अंत के लिए दे० जैन गुर्जर कवियो, भाग १, पृ० ३००।
२. वही, भाग १, पृ० ४०७।

कवि दामो

स० १६६५ वि० (१६०८ ई०) में अचलगच्छ के भीमरत्न के शिष्य उदयसमुद्र के शिष्य दामो कवि ने जिनका दीक्षा नाम दयासागर था, 'सुरपतिकुमार चौपाई' पद्मावतीपुर मे और 'मदनकुमार रास' लाहौर मे रचा। 'मदनकुमार रास' की प्रशस्ति मे जिस 'मदनशतक' वार्ता के १०१ दोहे इससे पहले रचे जाने का उल्लेख है, वह हिन्दी की रचना है। उसमें कथा-प्रसग को जोडने के लिए गद्य का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण इस प्रकार है—

"अमरपुर नगर तिहा रत्नसिह राजा गुनमजरी नाम रानी ताको सुत मदनकुमार यौवनवत भयो। तब श्री कामदेव सुपने में आइकै कह्यौ। मदनकुमार तू अपनो राज्य देश छोडि कै परदेश जाहु तोकू नफा है अरु वहाँ रह्यॉ तोकू केइक दिन सुख नाही कष्ट है। एतो कहि कामदेव अदृस भयो। अरु मदनकुमार प्रात समै मातपिता सु विना मिल्या एक सुक साथि लेकै चल्यौ। आगे चलता श्रीपुर नगर के विषै जनानन्द वन ताकै बीचि श्री कामदेव को प्रसाद तहाँ मदनकुमार सूआ कु दरवाजे बैठाय कै आप देवल भीतर सोया तिन समै नगरराय की बेटी रतिसुन्दरी नाम पूजा करन कु आई।"[1]

जैसा कि पहले कहा गया है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार राजस्थान और गुजरात में अधिक होने से श्वेताम्बर रचनाओ की भाषा राजस्थानी गुजराती ही अधिक रही है, पर मालदेव कवि भटनेर मे रहता था और उसके गुरु भावदेव सूरि मुसलमान कामरा के यहॉ पहुँचे थे। भटनेर, सरसा का पजाव से निकट सम्पर्क था। अत मालदेव की रचना में हिन्दी भी दिखाई देती है। इस समय के आसपास हिन्दी के गेय पद खूब लोकप्रिय वन चुके थे। इसलिए कई श्वेताम्बर कवियो ने भी हिन्दी में गेय पदो की रचना की है। स० १६६८ वि० (१६११ ई०) में जैनाचार्य हरिविजय सूरि सम्राट अकबर से मिले थे। इसके वाद जैन मुनियो से उनका निरन्तर सम्वन्ध बना रहा। स० १६४८-४९ वि० (१५९१-९२ ई०) में खरतरगच्छ के जिनचन्द्र सूरि ने भी अकबर से भेंट की थी। उनके साथ कविवर समयसुन्दर आदि भी थे। यह भेंट लाहौर में हुई थी। सम्राट अकवर और उनके सभासद हिन्दी भाषी थे। उधर पजाव में हिन्दी प्रचलित थी। श्वेताम्बर जैन कवियो को इसी कारण हिन्दी में पत्र लिखने की अधिक प्रेरणा मिली।

समयसुन्दर

कविवर समयसुन्दर के जिनचन्द सूरि और अकबर के मिलन के गीत और अष्टक आदि हिन्दी में है। स० १६५६ वि० (१५९९ ई०) में अहमदाबाद में रचित २४ तीर्थंकरो के गेय पद भी हिन्दी में ही है। समयसुन्दर के 'ध्रुवपद छत्तीसी' के पद और अन्य फुटकर रचनाएँ भी प्राप्त हैं। आपके पदो की भापा व्रज है, पर कुछ खडीबोली की भी रचनाएँ प्राप्त हुई है, उदाहरणार्थ—

---

१. दे० कल्पना वर्ष ६, अक ४, में लेखक का 'मदनशतक का गुप्त प्रेम-पत्र' शीर्षक लेख।

वे मेवरे काहेरी सेवरे, अरे कहाँ जात हो उतरवरे, टुक रहो नइ खरे।
हम जाते वीकानेर साहि जहागीर के भेजे, हुकम हुया फुरमाण जाइ मानसिंघ कु देजे।
सिद्धसावक हउ तुम्ह चार मिलगे की हमकु, वेगि आयउ हम पास लाभ देऊँगा तुमकु ॥१॥
वे साहुकार काहे खूनकार, अरे हमको वतावइ नइ कहा जिन सघसूरि का दरवार ॥२॥

समयसुन्दर १७वी शताब्दी के वहुत वडे कवि और विद्वान थे। इनकी स० १६४१ से स० १७०० वि० (१५८४ से १६४३ ई०) तक की सैकडो छोटी-मोटी रचनाएँ, जिनका परिमाण लाखो श्लोको के वरावर है, प्राप्त हुई है।[1]

कुशललाभ

समयसुन्दर से पूर्ववर्ती कवि कुशललाभ की 'ढोलामारू चौपाई', 'माववानल चौपाई' आदि रचनाएँ राजस्थानी में है। पर इनकी एक हिन्दी रचना भी 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' नाम की प्राप्त हुई है, जिसका विवरण प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थो की खोज' (भाग ४, पृ० १०५) में प्रकाशित है।

कविवर वनारसीदास

सर्वोत्तम जैन कवि वनारसीदास श्वेताम्वर श्रीमाल कुल में माघ सुदी ११ को जौनपुर में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम खरगसेन और गुरु का नाम खरतरगच्छीय भानुचन्द्र था। कवि-प्रतिभा इनमें वहुत छोटी उम्र में ही प्रकट हो चुकी थी। चौदह वर्ष की उम्र मे नवरसमय १००० दोहा चौपाई वना लेना इनकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है। पाँच वर्ष वाद आत्म-ज्ञान होते ही इन्होने इस शृगारिक प्रथम रचना को गोमती की धारा मे प्रवाहित कर दिया। आपकी प्राप्त रचनाओ में 'नाममाला' ही सर्वप्रथम है, जो मित्र नरोत्तम दास खोवरा और थानमल दालिया के कहने से स० १६७० वि० (१६१३ ई०) की विजयदशमी को रचकर समाप्त की गई थी। यह धनजय की 'नाममाला' और 'अनेकार्थनाममाला' के आधार पर रचित १७६ दोहो का एक छोटा सा शव्दकोश है। उपलव्ध हिन्दी जैन कोश ग्रन्थो मे यह सवसे पहला है। वीर सेवा मन्दिर से यह प्रकाशित हो चुका है।

इनकी फुटकर रचनाओ का सग्रह 'वनारसीविलास' में हुआ है। स० १६८० वि० (१६२३ ई०) में ये अपनी ससुराल खैरावाद मे गए तो वहाँ के अध्यात्म-प्रेमी अर्थमल ढोर ने इन्हे 'समयसार' की राजमल्ली भापा टीका की प्रति दी और तभी से इनमे शुद्ध आध्यात्म के प्रति आकर्षण वढ़ा, यहाँ तक कि धार्मिक नित्यनियम, प्रतिक्रमण, पूजा-पाठ छोड ये निश्चयनया-वलम्वी अध्यात्म मे सरावोर हो गए। उस समय की विचित्र सी परिस्थिति के कारण लोग इन्हें खोसरा मति कहने लगे थे। स० १६९२ वि० (१६३५ ई०) मे पडित रूपचद आगरा आए। उनके सम्पर्क में आने से ये अपने एकान्त निश्चय को अयुक्त समझ निश्चय और व्यवहार के समन्वय मार्ग के पथिक वन गए। स० १६९३ वि० (१६३६ ई०) मे अपने आध्यात्मिक साथी

---

१. दे० लेखक द्वारा सपादित समयसुन्दर कृत 'कुसुमाजलि' जिसमें ५६३ रचनाएँ संगृहीत है।

रूपचद, चतुर्भुजदास, भागवतीदास, कुवरपाल और धर्मदास, इन पाँच व्यक्तियो की प्रेरणा से इन्होने अपना सर्वोत्कृष्ट और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'नाटक समयसार' रचा। यह विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। मूल ग्रन्थ के हार्द को पूर्णतया आत्मसात करके एक स्वतत्र शैली मे इसकी रचना की गई है। इसमे दोहा, सोरठा, छप्पय, अडिल्ल, कुडलिया, चौपाई, सवैया और कवित्त छदो में लिखे गए १७६० पद्य है। काव्य-कला की दृष्टि से यह सर्वांगसुन्दर रचना है। इसमें स्वानुभव को ही आत्मसिद्धि का द्वार बतलाया गया है। सकवि और कुकवि के सम्बन्ध मे कवि ने अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किए है —

प्रथमहि सुकवि कहावै सोई, परमारथ रस वरणै जोई।
कलपित भाव हिए नहिं आनै, गुरु परम्परा रीति वखानै।
सत्यारथ शैली नहिं छाडै, मृषा वाद सो प्रीति न माडै॥
छद सबद अच्छर अरथ, कहै सिद्धान्त प्रमान।
जो यह विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान॥
अव सुनु कुकवि कहौ है जैसा, अपराधी हिय अध अनैसा।
मृषा भाव रस वरनै हित सो, नई उकति उपजावै चितसो।
ख्याति लाभ पूजा मन आनै, परमारथ पद भेद न जानै।
वानी जीव एक करि वूझै, जाको चित जण ग्रथ न सूझै॥

इससे जैन कवियो की रचना के आदर्श का स्पष्ट चित्र खिच जाता है। रस-रीति, नायिका-भेद आदि शृगारिक विषयो को न अपनाकर शान्त रस और चरितकाव्यो की ओर ही उनका अधिक झुकाव क्यो रहा, इसका कारण भी स्पष्ट हो जाता है। भैया भगवतीदास ने तो केशवदास के शृगारिक वर्णन की आलोचना करते हुए यहाँ तक कह दिया है—

वडी नीति लघु नीति करत है, वाय सरत वदवोय भरी।
फोडा आदि फुनगुनी मडित, सकल देह मनु रोग दरी॥
शोभित हाड मास मय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नारि निरख कर केशव, 'रसिकप्रिया' तुम कहा करी?

जिस साहित्य से मनुष्य की तामसिक वृत्तियो को प्रोत्साहन मिले वह शब्द, अलकार आदि से कितना भी सुन्दर और सरस हो, सच्चे साहित्य की परिभाषा में नही आ सकता। जिसके निर्माण में मानव के कल्याण की भावना हो, वही साहित्य है। इसी कारण कविवर बनारसीदास ने अपने विलासी जीवन की शृगारिक कविताओ को गोमती में बहा दिया था।

हिन्दी साहित्य को बनारसीदास की एक महत्वपर्ण देन उनका 'अर्ध कथानक' नामक आत्मचरित है। ६७५ पद्यो की यह रचना स० १६९८ वि० (१६४१ ई०) में हुई थी। इसमें ५५ वर्ष के जीवन की सभी अच्छी-बुरी उल्लेखनीय घटनाओ को खुले दिल से प्रकट किया गया है। हिन्दी साहित्य में ही नही, भारतीय साहित्य में भी इतना पुराना और इस ढग का कोई आत्म-चरित नही मिलता। इस ग्रन्थ के अन्त में इन्होने तीन तरह के मनुष्य बतलाते हुए अपने को मध्यम श्रेणी का माना है। वे कहते है—

जे पर दोप छिपाइकै, परगुन कहे विशेप।
गुन तजि निज दूपन गहै, ते नर उत्तम भेप॥६६७॥
जे भाखहि पर दोप-गुन, अरु गुन-दोप सुकीउ।
कहहि सहज ते जगत में, हमसे मव्यम जीउ॥६६८॥
जे परदोष कहैं सदा, गुन गोपहि उर वीच।
दोस लोपि निज गुन कहै, ते जग मे नर नीच॥६६९॥

इस ग्रन्थ का नाम 'अर्व कयानक' क्यो रखा गया, इसके विपय में कवि ने स्वय कहा है कि शास्त्र के अनुसार वर्तमान समय में मनुष्य की अविक से अविक आयु ११० वर्प है। इस ग्रन्थ में अपनी आवी आयु अर्थात ५५ वर्प का वृत्तान्त दिया गया है, इस कारण इसका नाम 'अर्वकयानक' रखा गया है। स्पष्ट है कि कवि इसके वाद अविक नही जिए। उनकी अन्तिम रचना स० १७०० वि० (१६४३ ई०) की है और उनकी फुटकर रचनाओ का सग्रह जगजीवन अग्रवाल ने स० १७०१ वि० (१६४४ ई०) की चैत सुदी २ को 'वनारसीविलास' नाम से तैयार किया। अत वि० स० १७०० और १७०१ (सन १६४३ और ४४ ई०) के वीच में ही इनका स्वर्गवास हो गया जान पडता है। 'वनारसीविलास' में ५७ रचनाओ का सग्रह है, जिनमे से 'सूक्तिरत्नावली' का अनुवाद इन्होने अपने आव्यात्मिक मित्र कुँवरपाल के साथ मिल कर किया था। 'ज्ञानवावनी' की रचना कदाचित पीताम्वर कवि ने इनके आशय को लेकर स० १६८६ वि० (१६२९ ई०) में की थी।

'वनारसीविलास' में दो रचनाएँ—'परमार्यवचनिका' और 'निमित्तउपादान शुद्धाशुद्ध-विचारउपनिका' गद्य में हैं। तत्कालीन गद्य शैली को जानने के लिए इनका विशेप महत्व है। उसके कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

"मिथ्या दृष्टि जीव अपनो सरूप नाही जानतो ताते पर स्वरूप विपै मगन होय करि कार्य मानतु है। ता कार्य करतो थको अशुद्ध व्यवहारिक कहिए। सम्यक दृष्टि अपनो स्वरूप परोक्ष प्रमाण करि अनुभवतु है। आगम वस्तु कौ जो स्वभाव सो आगम कहिए। आतमा को जो अविकार सो अध्यातम कहिए।

अनन्तता को स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है, जैसे वट वृक्ष को वीज एक हाथ विपै लीजै, ताको विचार दीर्घ दृष्टि सौं कीजे। तौ वा वट वृक्ष के वीज वीपै एक वट को वृक्ष है। सो वृक्ष जैसो कुछ भावी काल होनहार है तैसो विस्तार लिए विद्यमान वामें वास्तव रूप छतो है। अनेक शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल सयुक्त है। फल फल विपै अनेक वीज होई।"

वनारसीदास एक आध्यात्मिक पुरुप होने से कवीर आदि सन्तो की भाँति समन्वयवादी थे। उन्होने कहा है—

एक रूप हिन्दू-तुरुक दूजी दशा न कोय, मन की द्विविधा मानकर भए एक मो दोय। ७।
दोऊ भूले भरम को करें वचन की टेक, राम राम हिंदू कहै, तुर्क सालामालेक। ८।
इनके पुस्तक वाँचिए, वोहू पडैं कितेव, एक वस्तु के नाम द्वय जैसे शोभा जेव। ९।
तिनको द्विविधा जे लखैं, रग-विरगी चाम, मेरे नैनन देखिए, घट घट अन्तर राम। १०।

बनारसीदास की फुटकर रचनाएँ अनेक नाम, रूप और शलियो की हैं। साहित्य रचना के प्रकारो का अध्ययन करने के लिए इनका विशेष महत्व है।[1]

कवि रूपचद

बनारसीदास ने 'समयसार'[2] की रचना में जिन पाँच व्यक्तियो की प्रेरणा का उल्लेख किया है उनमें से पहले रूपचद स्वय एक अच्छे कवि थे। 'समोसरण' नामक सस्कृत पूजापाठ की प्रशस्ति के अनुसार इनका जन्म कुहा नामक देश के सलेमपुर में हुआ था। अग्रवाल वशीय गर्ग गोत्रीय मामट के पुत्र भगवानदास की दूसरी पत्नी चाचो इनकी माता थी। ज्ञान-प्राप्ति के लिए ये बनारस गए और विद्वान बनकर दरियापुर लौटे। स० १६९२ वि० (१६३५ ई०) में आगरा आने पर ये तिहुना साहु के मन्दिर मे ठहरे और जिज्ञासुओ के अनुरोध से इन्होने 'गोमहसार' ग्रन्थ पर प्रवचन किया। उसी समय वनारसीदास इनके सम्पर्क में आए और इनकी स्यादवादी वस्तुतत्व-विवचन शैली से प्रभावित हुए। स० १६९४ वि० (१६३७ ई०) में इनका स्वर्गवास हो गया। इनका 'रूपचन्दशतक' एक सौ दोहो का एक सुन्दर ग्रन्थ है। 'पचमगल पाठ' एक दूसरी प्रसिद्ध रचना है। तीसरी रचना 'नेमिनाथ रास', चौथी 'वणजारा रासा' तथा पाँचवी 'पदसग्रह' है। 'पदसग्रह' में लगभग १०० गेय पद है। फुटकर रूप में इनकी जकडी, खटोलना गीत आदि सुन्दर आध्यात्मिक रचनाएँ प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए नीचे 'शतक' के दो दोहे दिए जा रहे हैं—

> सेवत विषय अनादि तें, तिसना कभी न बुझाय।
> ज्यो जलतें सरितापती, इंधन सिखि अधिकाय ॥२९॥
> पर की सगति तुम गए, खोए अपनी जाति।
> आपा पर न पिछानहू, रहे प्रमादनि माति ॥४२॥

कुँवरपाल

बनारसीदास के दूसरे आध्यात्मिक मित्र कुँवरपाल आगरे के निवासी ओसवाल चोरडिया अमरसिह के पुत्र थे। ये भी बनारसीदास की भाँति मूलत श्वेताम्बर थे। आध्यात्मिक प्रवृत्ति और रूपचद तथा बनारसीदास के सम्पर्क के कारण इनका आकर्षण दिगम्बर आध्यात्मिक ग्रन्थो के प्रति हो गया। 'मेघविजय' के कथनानुसार बनारसीदास के बाद उनके मत-सचालक कुँवरपाल ही हुए, अत बनारसी-मतानुयायियो में वे गुरु के समान मान्य हुए। बनारसीदास का मत पहले आध्यात्मी मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ, फिर १३ बातो को लेकर इसका नाम 'तेरह पथ' पड गया। यह मत इतना अधिक फैला कि थोडे ही समय में मुलतान आदि दूर दूर तक इसके अनुयायी अनेक श्वेताम्वर दिगम्बर वन गए। आध्यात्मिक भाषा ग्रन्थो और तात्विक ग्रन्थो की भाषा टीकाओ की रचना इस मत के अनुयायियो ने ही सब से अधिक की। दिगम्बर सम्प्रदाय में भट्टारकीय परम्परा 'बीस पथ' की तरह इन अध्यात्म वादियो की परम्परा 'तेरह' पथ नाम से प्रसिद्ध है और इसके लाखो अनुयायी हैं।

---

१. इनका 'मोहविवेक' ग्रन्थ वीरवाणी में छप चुका है।
२ प्रेमी जी के अनुसार यह रचना इनकी नहीं है।

कुँवरपाल स्वय भी कवि थे। स० १६८५ वि० (१६२८ ई०) में रचित इनका एक गुटका लेखक के सग्रह में है, जिसमें इनकी एक रचना 'सम्यक वत्तीसी' और दो गेय पद मिले है। 'सम्यक वत्तीसी' की रचना स० १६८१ वि० (१६२४ ई०) की फाल्गुन सुदी २ को हुई। इसमें इन्होने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

खिति मधि ओसवाल अति उत्तम, चोरोडिया विरुद वहु दिज्जइ।
गोडीदास अस गरवातन, अमरसिंह तस नन्द कहिज्जइ॥
पुरि पुरि कुँवरपाल जस प्रकटौ, वहु विधि तास वश वरणीजै।
धरमदास जस कँवर सदा धनि, वरस आखा जिन कीजइ॥

कुँवरपाल के भाई **धर्मदास** थे और उनका उल्लेख भी वनारसीदास ने अपने पाँच मित्रो में कुँवरपाल के वाद ही किया है। 'अर्धकथानक' के अनुसार आगरे में वनारसीदास ने कुछ समय तक इन धर्मदास के साझे मे जवाहरात का व्यापार किया था। पाँच पुरुषो में उल्लिखित **चतुर्भुज** और **भगवतीदास**, दो और थे। इनमें चतुर्भुज की तो कोई रचना नही मिलती किंतु भगवतीदास नाम के दो-तीन कवि हो गए है, जिनमें से एक इनके सम-सामयिक अच्छे कवि थे। यद्यपि उनकी रचनाओ मे आध्यात्मिक प्रभाव नही दिखाई देता, इसलिए वे वनारसीदास के उल्लिखित भगवतीदास से भिन्न भी हो सकते है, पर समकालीन होने के नाते उनका परिचय भी यहाँ दिया जाता है।

भगवतीदास

भगवतीदास अग्रवाल वसल गोत्रीय किशनदास के पुत्र थे। मूलत वे महेन्द्र वूढिया जिला अम्वाला के निवासी थे, किंतु वाद में दिल्ली आ वसे थे। वहाँ के भट्टारक सेन का उल्लेख उन्होने अपने गुरु के रूप में किया है। जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल में निर्मित उनकी २३ रचनाएँ मिली है। इनमें से अन्तिम 'मृगाकलेखाचरिउ' अपभ्रश की रचना है जो १७०० वि० (१६४३ ई०) में लिखी गई थी। शेष रचनाएँ हिन्दी की हैं। अधिक रचनाएँ रास सज्ञक है। रचनाओ के नाम इस प्रकार है—१ टदाणा रास, २ आदित्यव्रत रास, ३. पखवाडा रास, ४ दस लक्षण रास, ५ खिचडी रास, ६ समाधि रास, ७. जोगी रास, ८. मनकरहा रास, ९ रोहिणीव्रत रास, १० चतुर वणजारा, ११ द्वादस अनुपेक्षा, १२. सुगन्ध दसवी कथा, १३ आदित्यवार रास, १४ अनथमी कथा, १५. चूनडी (स० १६८० वि०=१६३३ ई०), १६ राजिमति नेमिसर धमाल, १७ सज्ञानी धमाल, १८ आदिनाय स्तवन, १९ शान्तिनाय स्तवन, २० लघु सीतासतु (सं० १६८७ वि०=१६३० ई०), २१. वृहद सीतासतु (स० १६८४ वि०=१६२७ ई०), २२. अनेकार्थ नाममाला (स० १६८७, वि०=१६३० ई०, पद्य २५६)। 'सीतासतु' में सीता के सतीत्व का वर्णन वहुत सरस और सजीव है और 'अनेकार्थ नाममाला' तीन अध्यायो का सुन्दर कोश ग्रन्य है।[1]

इन्ही भगवतीदास के हाथ का लिखा ग्रन्य, एक गुटका मैनपुरी के शास्त्र-भडार में

---

१. दे० अनेकान्त, वर्ष ११, पृ० २०५।

है, जो स० १६८० वि० (१६२३ ई०) की जेठ सुदि नवमी को सकिसा में लिखा गया था। इसमें इनकी १९ रचनाएँ तथा उनके अतिरिक्त 'अनन्तचतुर्दशी चौपाई' और 'वीरजिनेन्द्र गीत' सकलित है।

कुँवरपाल के कहने से पाडे रूपचद के शिष्य, पाडे हेमराज ने 'चौरासी वोल' और 'प्रवचनसारटीका' (स० १७०९ वि० = १६५२ ई०) की रचना की। 'भापा भक्तामर पचास्तिकाय टीका' तथा 'सन्देहसार नयचक्र वचनिका' नामक इनकी दो रचनाएँ और मिलती है। इसी प्रकार 'वनारसीविलास' के सग्रहकर्ता **जगजीवन** की प्रेरणा मे **हीरानन्द** ने 'पचास्तिकाय' की भापा टीका स० १७११ वि० (१६५४ ई०) में आगरे में लिखी। जगजीवन जाफरखाँ के दीवान थे।

नाहर जटमल

पजाब मे श्वेताम्बर ओसवाल नाहर जटमल हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि हो गए है, जिनकी 'गोरावादल की बात' (स० १६८० वि० = १६२३ ई०, सिम्बुल ग्राम) अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रकाशित रचना है। ये मूलत लाहौर के निवासी थे, पीछे जलालपुर में रहने लगे थे। लाहौर नगर का वर्णन इन्होने 'लाहौर गजल' में वहुत ही सुन्दर रूप में किया है। उपलव्व नगर-वर्णनात्मक हिन्दी गजलो में यह सबसे पहली रचना है। वाद मे इसके अनुकरण में इसी छद, शैली और भाषा में विविध नगरो से सवधित ५० से भी अधिक नगर वर्णनो की गजलें अनेक जैन कवियो ने लिखी। इस साहित्य रूप की परम्परा के जनक होने के नाते भी जटमल का वहुत महत्व है। 'गोरावादल की वात' एक अर्द्ध-ऐतिहासिक चरित-काव्य है। जटमल का दूसरा प्रेम-काव्य 'प्रेमविलास चौपाई' (स० १६९४ वि० के भाद्र शुक्ल पचमी रविवार को जलालपुर में रचित) लेखक के सग्रह में है। अन्य रचनाओ में 'वावनी' पजावी मिश्रित हिन्दी में है। इनके अतिरिक्त 'भिगोर गजल', 'सुन्दरी गजल' और फुटकर सवैया आदि भी प्राप्त हुए है। जटमल के हाथ का लिखा एक गुटका भी मिला है।[1]

भद्रसेन

स० १६७५ वि० (१६१८ ई०) के आसपास खरतरगच्छीय श्वेताम्बर कवि भद्रसेन ने 'चन्दन मलयागिरि' नामक लोककथा-काव्य बीकानेर में लिखा, जो 'आणन्द शकर ध्रुव स्मारक ग्रन्थ' में चित्रो सहित प्रकाशित हो चुका है। यह कथा भी वहुत लोकप्रिय हुई। इसकी कई सचित्र प्रतियाँ भी मिलती है।

उदयराज

स० १६७० वि० (१६१३ ई०) के लगभग खरतरगच्छीय मथेन महात्मा भद्रसार के शिष्य और पुत्र उदयराज भी एक अच्छे कवि हो गए है। इनकी राजस्थानी रचना 'भजन छत्तीसी' (स० १६६७ वि० = १६१० ई०) के अनुसार इनके पिता भद्रसार, माता हरखा, भ्राता सूरचन्द, मित्र रत्नाकर, पत्नी पूखणी, पुत्र सुधन तथा आश्रयदाता जोधपुर-नरेश उदयसिह थे। स०

---

१ इनकी रचनाओ के परिचय के लिए देखिए हिन्दुस्तानी, वर्ष ८ अक २ में प्रस्तुत लेखक का निवध।

१६३१ वि० (१५७४ ई०) मे इनका जन्म हुआ था। इनकी दूसरी राजस्थानी रचना 'गुणवावनी' (स० १७७६ वि०=१६१९ ई०) लेखक के सग्रह मे है। उदयराज की हिन्दी रचनाओ मे 'वैद्य-विरहिणी प्रवन्ध' और लगभग ४०० फुटकर दोहे मिलते है। 'चौवीस जिन सवैया' आदि का भी एक सग्रह मिला है, पर उनके रचयिता उदय यही उदयराज थे या अन्य, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

मार्नासह 'मान'

स० १६७५ वि० (१६१८ ई०) के लगभग खरतरगच्छीय शिवनिधान के शिष्य, मार्नासह 'मान कवि' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी अनेक सस्कृत और राजस्थानी की रचनाएँ उपलब्ध है। हिन्दी में इनका 'भापा कविरसमजरी' नामक नायक-नायिका-भेद विपयक ग्रन्थ जैन कवियो की इस विपय की सवसे पहली हिन्दी रचना है।

इस समय के लगभग **जिनराज सूरि** आदि कई श्वेताम्वर सुकवियो द्वारा रचित पद और वत्तीसी, वावनी आदि फुटकर रचनाएँ प्राप्त है। दिगम्वर कवियो मे **ब्रह्मगुलाल, परिमल, वनवारीलाल, हरिकृष्ण, शालिवाहन, नन्द, भानुकीर्ति, हर्पकीर्ति** आदि कई कवियो की रचनाएँ मिली है। विस्तार भय से उन सव का विशेप परिचय न देकर केवल उनकी रचनाओ का नामोल्लेख किया जा रहा है—

ब्रह्मगुलाल

ये मध्यदेश के टापू के निवासी थे। वेप वदल कर विविध रूप धारण करने में ये सिद्धहस्त थे। अन्त में उसी से विराग हुआ। इनका जीवन-चरित्र छत्रपति कवि ने लिखा है। इनकी रचनाओ के नाम है—१ कृपण जगावल कथा (स० १६७१ वि०=१६१४ ई०), २ तेपन क्रिया (स० १६६५ वि०=१६०८ ई०), ३ गोपाचल जलगालन विधि आदि।

परिमल

ये वढैया गोत्र के थे। अकवरकालीन मार्नासह ग्वालियरी के समय मे रचित इनका 'श्रीपालचरित्र' वहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो प्रकाशित हो चुका है। प्रेमी जी की सूची मे इनके 'श्रेणिक चरित्र' का भी उल्लेख हुआ है।

नन्द कवि

ये अग्रवाल गोयल गोत्रीय भैरूँ की पत्नी चन्दा के पुत्र थे तथा आगरे में रहते थे। इन्होने स० १६७० वि० (१६१३ ई०) मे 'यशोधरचरित्र' की रचना की।

छीतर ठोलिया

ये मौजावाद के निवासी थे। इन्होने स० १६६० वि० (१६०३ ई०) मे १०१ पद्यो की 'होलिका कथा' लिखी।

हर्पकीर्ति

स० १६८३ वि० (१६२६ ई०) में रचित इनकी 'पंचमगीत वेलि' तथा अन्य कई रचनाएँ प्राप्त है।

शालिवाहन

ये भदावर गांव के पचमपुर के रावतसेन के पुत्र थे। इन्होने स० १६९५ वि० (१६३८ ई०) में 'हरिवश पुराण' की रचना आगरे में की।

वनवारीलाल

ये माखनपुर निवासी थे। इन्होने खतोली मे स० १६६६ वि० (१६०९ ई०) में 'भविष्यदत्त-चरित्र' की रचना की।

वालचन्द और हसराज

इनके द्वारा रचित 'वावनियाँ' और पद आदि भी मिलते है।

विनयसागर, हेमसागर और केशव

१७वी शताब्दी में जैन कवियो की रचनाओ का जो प्रवाह वेगवान हुआ उसकी प्रवलता और अधिक वढ गई। जैसा कि पहले कहा गया है, गेय पद और छद, कोश, अलकार, वैद्यक आदि सार्वजनिक विषयो के लिए हिन्दी भाषा रूढ सी हो गई थी। हिन्दी के व्यापक प्रसार के कारण जिन कवियो ने अन्य रचनाएँ गुजराती-राजस्थानी मे की है, उन्होने भी इन विषयो के ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे, भले ही उनकी रचना गुजरात आदि अहिन्दी-भाषी प्रदेशो में हुई हो। उदाहरणार्थ १८वी शताब्दी की सव से पहली जैन रचना स० १७०२ वि० (१६४५ ई०) में रचित अचल गच्छ के विनयसागर की 'अनेकार्थ नाममाला' है। यह तीन अधिकारो में विभक्त है और इसकी पद्य-सख्या १६९ है। इसी प्रकार अचल गच्छ के सुकवि हेमसागर हुए है, जिन्होने अपनी रचना में सक्षिप्त नाम सुकवि हेम दिया है। इन्होने स० १७०६ वि० (१६४९ ई०) में सूरत वन्दर के पास हसपुर मे छदमालिका नामक एक छन्द-ग्रन्थ लिखा। इसमें ८७ छन्दो का विवरण है। लेखक के सग्रह की प्रतिलिपि में १९४ पद्य है, पर हरिसागर सूरि भडार, लोहावट की स० १७०७ वि० (१६५० ई०) की लिखित प्रतियो में ८५ छन्द और २०७ पद्य हैं। हेमकवि रचित 'मदन युद्ध' प्रकाशित हो चुका है। स० १७०४ वि० (१६४७ ई०) में खरतरगच्छीय कवि केशव द्वारा रचित 'चतुरप्रिया' नायक-नायिका-भेद सवधी एक ग्रन्थ मिलता है।

मनोहरलाल और हेमराज

प्रेमी जी और कामताप्रसाद के लेखानुसार स० १७०५ वि० (१६४८ ई०) में कवि मनोहरलाल ने 'धर्मपरीक्षा' नामक सस्कृत का हिन्दी पद्यानुवाद किया। ये खडेलवाल सोनी जाति के थे और सागानेर में रहते थे। कुँअरपाल के अनुरोध से रूपचन्द के शिष्य हेमराज ने स० १७०९ वि० (१६५२ ई०) में 'प्रवचनसार भाषाटीका' और 'चौरासी वोल' की रचना की। इनकी अन्य रचनाओ में 'भाषा भक्तामर', 'पचास्तिकाय टीका' (स० १७२१ वि०=१६६८ ई०), 'गोमट्टसार वचनिका '(स० १७०६ वि०=१६४९ई०), 'दोहाशतक' (स० १७२५ वि०= १६६८ ई०) और 'चक्रवचनिका' नामक गद्य-पद्य ग्रन्थ है। अन्तिम वचनिका की रचना स० १७२६ वि० (१६६९ ई०), फाल्गुन सुदी १० को खरतरगच्छ के उपाध्याय लब्धिरग के शिष्य नारायणदास के कहने से की गई थी।

हीरानद और खड्गसेन

स० १७११ वि० (१६५४ ई०) में जगजीवन की प्रेरणा से हीरानन्द ने 'पचास्तिकाय' का अनुवाद आगरे मे किया। लाहौर निवासी खड्गसेन ने स० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में 'तिलोकदर्पण' लाहौर में रचा। उन दिनो आगरा, लाहौर, दिल्ली और जयपुर आदि के जैन मन्दिरो में शास्त्र-स्वाध्याय होता था। इससे नवीन साहित्य-निर्माण को यथेष्ट प्रेरणा मिलती थी। परिणामत गद्य और पद्य के सैकडो ग्रन्थ तैयार हो गए। उन ग्रन्थो की प्रशस्तियो में प्रेरक व्यक्तियो की वश-परम्परा के साथ कवि अपने निवासस्थान, वश आदि की जानकारी भी देते थे। इस प्रकार इन ग्रन्थो की प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से भी वडे महत्व की है। 'तिलोकदर्पण' के रचयिता खड्गसेन ने एक विस्तृत प्रशस्ति दी है। उसका कुछ अश उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है —

यही लाभपुर नगर में, श्रावक परम सुजान।
सव मिलि के चर्चा करैं, जाको जो अनुमान॥
जिनवर चैत्य लाभपुर माँहि, महा मनोहर उत्तम ठाँहि।
तहाँ आय वैठे सव लोग, गुन गावै पढिए वहु थोक॥
तहाँ वैठि यह कियो विनोद, तीन लोक का है यह मोद।
पडित राय नरेन्द्र समान, मिसर गिरधर जगत प्रमाण। इत्यादि

कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि वागड देश के नारनौल में पापडीवाल के मानूशाह के दो पुत्र लूणराज और ठाकुरसीदास हुए। ठाकुरसीदास के तीन और लूणराज के दो पुत्र हुए। खड्गसेन लूणराज के पुत्र थे। आगरे के चतुर्भुज वैरागी से सं० १६८५ वि० (१६२८ ई०) में इनका वहुत उपकार हुआ। ये प्राय लाहौर आते जाते थे। सभव है, वनारसीदास द्वारा उल्लिखित चतुर्भुज यही हो।

टीकम और रायचद

स० १७०८ वि० (१६५१ ई०) मे साँभर के पास काल गाँव के निवासी टीकम ने प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान चन्द्रहास की कथा को 'चन्द्रहस की कथा' के नाम से लिखा। इनकी दूसरी रचना स० १७१२ वि० (१६५५ ई०) में रचित 'चतुर्दशी चौपाई' है। इनकी भापा में राजस्थानी का प्रभाव है। स० १७१३ वि० (१६५६ ई०) मे रायचन्द द्वारा रचित 'सीताचरित्र' भी प्राप्त हुआ है।

जोधराय गोदी

सागानेर के जोधराज गोदी ने 'प्रीतकरचरित्र' स० १७२१ वि० (१६६४ ई०) में 'कयाकोश', स० १७२२ वि० (१६६५ ई०) में 'धर्मसरोवर', 'सम्यक्तकौमुदी भापा' स० १७२४ वि० (१६६७ ई०) मे और 'प्रवचनसार की भावदीपिका' एव 'ज्ञानसमुद्र' की रचना की।

जगतराय, अभयकुशल और काशीराम

आगरे में जगतराय नामक राजमान्य साहित्य प्रेमी हुए, जिन्होंने विद्वानो ने अनुरोध करके कुछ ग्रन्थ अपने नाम से वनवाए। ये अग्रवाल सिंघल गोत्र के श्रावक माईदास के पुत्र रामचन्द्र

के पुत्र थे। मूलत ये मुहाणा के निवासी थे, वाद में पानीपत में आकर रहे। आगरे में इनका अच्छा प्रभाव दिखाई देता है। स० १७२२ वि० (१६६५ ई०) में इन्होंने काशीदास से 'सम्यक्त-कौमुदी कथा' बनवाई जिसका परिणाम ४३३६ श्लोको का है। इसी तरह स० १७२२ वि० (१६६५ ई०) की फागुन सुदी १० को खरतरगच्छ के उपाध्याय पुण्यहर्ष या उनके शिष्य अभयकुशल ने इन्ही जगतराय के लिए 'पद्मनन्दीय पर्चविंशिका भाषा' नामक ग्रन्थ वनाया। जगतराय के पुत्र का नाम टेकचद था। स० १७३० वि० (१६७३ ई०) के कार्तिक शुक्ल पक्ष में आगरे में हिम्मतखान के कहने से जुगतराय ने 'छन्दरत्नावली' नामक महत्वपूर्ण छन्द-ग्रन्थ बनाया। ये जुगतराय पूर्वोक्त जगतराय ही जान पडते है। 'छन्द रत्नावली' में सात अध्याय है जिनमें छठा अध्याय फारसी छन्दो से सम्वन्धित है तथा सातवाँ तुक-भेद विपयक है। सभवत हिन्दी में कोई अन्य छन्द ग्रन्थ नही है जिसमें फारसी छन्दो का इतना विस्तृत विवरण हो। इस ग्रन्थ की गुटकाकार प्रति (९९ पत्रो की) दिल्ली के जैन भडार में मिली है। आदि, अन्त के कुछ महत्वपूर्ण पद्य इस प्रकार है —

आदि

जुगतराइ सौं यो कह्यो, हिम्मतखाँन वुलाय।
पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि वनाय।।
छदोग्रन्थ जिते कहे, करि इक ठौरे आनि।
समुझि सवन को सार ले, रत्नावली वखानि।

अत

सवत सत सहस सात तीस, कातिक मास सुकल पछ दीस।
भयो ग्रन्थ पूरन सुभथान, नगर आगरो महा प्रधान।।
दान मान गुणवान सुजान, दिन दिन वाढौ हिम्मतखाँन।
जुगतराइ कवि यह जस गायौ, पडत सुनत सव ही मन भायौ।।

कामताप्रसाद जैन ने पहली दोनो रचनाएँ जगतराय द्वारा रचित मानी है। परन्तु उनकी प्रशस्तियों से स्पष्ट है कि वे इनके लिए रची हुई काशीराम और अभयकुशल की रचनाएँ है। जगतराय की तीसरी रचना 'आगमविलास' वतलाई गई है, किन्तु वास्तव मे वह दयानत-राय की कृतियो का 'धर्मविलास' के बाद का दूसरा सग्रह है। जगतराय उसके सग्रहकर्ता थे। स० १७८५ वि० (१७२७ ई०) मे मैनपुरी में यह ग्रन्थ तैयार हुआ था।

जिनहर्ष

इसी समय के आसपास दो-तीन श्वेताम्वर विद्वान भी अच्छे कवि हो गए है, जिनमें से **जिनहर्ष** जिनका नाम जसराज भी था, राजस्थानी और गुजराती के वहुत वडे कवि हुए हैं। इनके रचे हुए पचासो चरित काव्य और लक्षाधिक श्लोक परिमाण की सैकडो फुटकर रचनाएँ प्राप्त है। उन्होने कुछ रचनाएँ हिन्दी में भी की है, जिनमें से स० १७१४ वि० (१६५७ ई०) में रचित 'नन्दवहोत्तरि', स० १७३८ वि० (१६८१ ई०) में रचित 'जसराज वावनी', 'चौवीसी', स० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में रचित 'उपदेशवत्तीसी' तथा स० १७३० वि० (१६७३ ई०) में रचित 'मातृका वावनी', 'नेमराजमति वारहमासा' आदि उल्लेखनीय है।

माहिमसमुद्र

इसी प्रकार माहिमसमुद्र भी, जिनका आचार्य पदानन्तर जिन समुद्रसूरि नाम हुआ, राजस्थानी के वहुत वडे कवि हुए हैं। इनका जन्म स० १६७० वि० (१६१३ ई०) मे आगरे में, दीक्षा स० १६९२ वि० (१६३५ ई०) मे, आचार्य-पद म० १७१३ वि० (१६५६ ई०) में और स्वर्गवास स० १७४१ वि० (१६८४ ई०) में हुआ। इनकी हिन्दी रचनाओ में १८१ पद्यो का 'तत्वप्रवोध नाटक' म० १७३० वि० (१६७३ ई०) में जैसलमेर मे रचा गया। दूसरी रचना 'वैद्यचिन्तामणि चौपाई' या 'समुद्रप्रकाश सिद्धान्त' नामक है जिसकी एक अपूर्ण प्रति मिली है। तीसरी रचना 'वैराग्यशतक' की 'सर्वार्थसिद्धि मणिमाला' टीका है जो सस्कृत एव हिन्दी दोनो में है। स० १७४० वि० (१६८३ ई०) मे इसकी रचना हुई थी। चौथी कृति ४२ पद्यो की 'नारी गजल' है। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद्यादि भी मिलते है। इनकी राजस्थानी रचनाओ का परिमाण लक्षाधिक श्लोक का है।

लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय

खरतरगच्छ के एक अन्य विद्वान लक्ष्मीवल्लभ उपाध्याय भी इसी शताब्दी के अच्छे विद्वानो में से है। इनकी 'कल्पसूत्र' और 'उत्तराध्यापन' की टीकाएँ वहुत सरल और विशिष्ट होने से खूब प्रसिद्ध है। स० १७१४ से १७४७ वि० (१६५७ से १६९० ई०) तक की इनकी रचनाएँ मिलती है। इनका जन्म-नाम हेमराज था। कविताओ मे उपनाम राजकवि भी मिलता है। राजस्थानी मे इनके कई रास आदि प्राप्त है। इनकी हिन्दी रचनाएँ निम्नलिखित है—

१ भावनाविलास, ५२ सवैया (स० १७२७ वि० – १६७० ई०), २ राजवावनी (म० १७६८ वि०=१७११ ई०), ३ दोहावावनी, ४ कालज्ञान पद्यानुवाद (स० १७४१ वि०=१६८४ ई०), ५ नवतत्वभाषा, ८२ पद्य (स० १७४७, वि०, १६९० ई०, हिसार), ६ चौवीसी, २५ पद, ७ जिनस्तवन, २४ सवैया, ८ वारहमासा, ९ उपदेस वत्तीसी तया कुछ फुटकर पद्य प्राप्त है।

उपाध्याय धर्मवर्द्धन

इसी गच्छ के उपाध्याय धर्मवर्द्धन, जिनका जन्म-नाम धरमसी था, वहुत अच्छे विद्वान कवि थे। स० १७०० वि० (१६४३ ई०) में इनका जन्म हुआ। स० १७१९ से १७७३ वि० (१६६२ से १७१६ ई०) तक इन्होने सस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी, तीनो भाषाओ मे काव्य-रचना की। हिन्दी में इन्होने 'जीवराज परमात्मप्रकाश' म० १७६२ वि० (१७०५ ई०) में जीवराज के लिए लिखा जो अजमेर के दिगम्वर जैन भण्डार में मिला है।[1] फुटकर रचनाओ मे म० १७२५ वि० (१६६८ ई०) में रचित 'धर्मवावनी', 'वैद्यकविद्या', 'वारहमासा', तथा पद, प्रासगिक समस्यापूर्तियाँ एव सवैया आदि प्रस्तुत लेखक के सग्रह में है।

---

१. प्रेमीजी ने इसे जीवराज द्वारा रचित लिखा है, पर प्रशस्ति में उनके लिए धर्मवर्द्धन द्वारा रचे जाने का उल्लेख भी है।

आनन्दघन

अठारहवी शताब्दी मे एक वहुत वडे आध्यात्मिक जैन योगी आनन्दघन अपर नाम लाभानन्द हो गए है। 'वहोत्तरी' के पदो में इनके आत्मानुभव की गहरी अभिव्यक्ति हुई है। 'चौवीसी' मे इन्होने २२ तीर्थंकरो का स्तवन राजस्थानी मे किया है। यद्यपि इनकी ये दो ही रचनाएँ मिली है, परन्तु उनकी भावाभिव्यक्ति उच्च स्तर की है। मारवाड प्रदेश में ये अधिक रहे थे और वही पर १७३० वि० (१६७३ ई०) मे स्वर्गवासी हुए। सुप्रसिद्ध यशोविजय उपाध्याय इनमे मिलकर इतने आत्मविभोर हो गए थे कि इन्होंने उनकी स्तुति मे अष्टपदी की रचना कर डाली। इनका आध्यात्मिक चिन्तन वहुत ऊँचा था। वे कहते है—

राम कहो रहमान कहो, कोउ कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्मा स्वयमेव री।
भाजन-भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसें खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री॥
निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री।
कर से करम कान से कहिए, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चीन्हे सो ब्रह्म री॥
इस विध साधो आप आनंदघन चेतनमय नि कर्म री॥

विनयविजय

सत-साहित्य के अध्येता आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इन्हे जैन मर्मी कवि कहा है। तपागच्छ के उपाध्याय विनयविजय जैन तत्वज्ञान के वहुत वडे मर्मज्ञ विद्वान थे। इनके पिता का नाम तेजपाल और माता का नाम राजश्री था। स० १६८९ या ९६ से स० १७३८ वि० (१६३२ या ३९ से १६८१ ई०) तक इन्होने सस्कृत और गुजराती में वहुत से ग्रन्थो की रचना की। इनके सस्कृत ग्रन्थो में 'लोकप्रकाश' और 'कल्पसूत्र' की 'सुखबोधिनी टीका' वहुत प्रसिद्ध हैं। हिन्दी मे भी इनके कुछ गेय पद मिले है जो 'विनयविलास' के नाम से प्रकाशित हुए है।

उपाध्याय यशोविजय

इसी गच्छ के दूसरे प्रसिद्ध विद्वान न्यायाचार्य उपाध्याय यशोविजय दर्शन शास्त्र के प्रकाण्ड पडित थे। स० १७०० से १७४५ वि०(सन १६४३ से १६८८ ई०) तक आपके रचे हुए शताधिक ग्रन्थ सस्कृत और गुर्जराती में मिलते है। इनकी हिन्दी रचनाओ मे 'समाधिशतक', 'समताशतक', 'दिग्पट्टखण्टन' 'आनन्दघन अष्टपदी' और फुटकर गेय पद प्राप्त हुए है जो 'जस-विलास' के नाम से प्रकाशित है। पदो मे भक्ति और अध्यात्म का स्रोत वडे अच्छे रूप में प्रवाहित हुआ है। इनका एक पद है—

परम प्रभु सव जन सवदैं ध्यावैं।
जव लग अन्तर भरम न भाजैं, तव लग कोउ न पावै।
सकल अस देखै जग जोगी, जो खिनु समता आवै।
ममता अध न देखै याको, चित चहुँ ओरैं ध्यावै।

पढत पुराण वेद अरु गीता, मूरख अर्थ न पावै।
इत उत फिरत गहत रस नाही, ज्यो पसु चरवित चावै॥
पुद्गल से न्यारो प्रभु मेरो, पुद्गल आपु छिपावै।
उनसे अन्तर नाहिं हमारे, अब कहाँ भागो जावै॥

रामचन्द्र

खरतरगच्छ के यतियो का विहार राजस्थान के अतिरिक्त पजाब-सिंध में भी था और वहाँ वैद्यक विषय के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में रचे गए। इनमें से रामचन्द्र का 'रामविनोद' काफी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। वह प्रकाशित भी हो चुका है। स० १७२० वि० (१६६३ ई०) मे इसकी रचना हुई थी। इनका दूसरा वैद्यक ग्रन्थ 'वैद्यविनोद' स० १७२६ वि० (१६६९ ई०) में मेरठ में रचा गया। तीसरी हिन्दी रचना २११ पद्यो की 'सामुद्रिक भाषा' स० १७२२ वि० (१६६५ ई०) में रची गई।

मान कवि

खरतरगच्छीय विनयमेरु के शिष्य मान कवि ने स० १७४५ वि० (१६८८ ई०) में लाहौर में 'कविविनोद' और १७४६ वि० (१६८९ ई०) मे 'कविप्रमोद' नामक महत्वपूर्ण वैद्यक ग्रन्थ रचे। इनकी ७३ पद्यो की एक अन्य उपलब्ध रचना 'सयोग द्वात्रिंशिका' नायक-नायिका-भेद सबधी है, जो स० १७३१ वि० (१६७४ ई०) में अमरचन्द मुनि के आग्रह से लिखी गई थी।

भैया भगवतीदास, भूधरदास और ध्यानतराय

अठारहवी शताब्दी के दिगम्बर कवियो मे ये तीनो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भैया भगवतीदास आगरे के ओसवाल कटारिया गोत्रीय दसरथ साहु के पुत्र थे। 'भैया' इनका उपनाम था। इनकी रचनाएँ भावपक्ष और कलापक्ष, दोनो दृष्टियो से उच्च कोटि की है। उनमें सिद्धान्त, अध्यात्म, नीति और वैराग्य की काफी ऊँची अभिव्यजना हुई है। इनकी छोटी-बडी ६७ रचनाओ का सग्रह 'ब्रह्मविलास' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

कविवर ध्यानतराय भी आगरे के निवासी थे। ये अग्रवाल गोयल गोत्रीय वीरदास के पौत्र और श्यामदास के पुत्र थे। स० १७३३ वि० (१६७६ ई०) मे इनका जन्म हुआ और स० १७४२ वि० (१६८५ ई०) में इनके पिता का स्वर्गवास हो गया। परन्तु सौभाग्य से १३ वर्ष की उम्र में ही जैन धर्म के ज्ञाता पडित बिहारीलाल और शाह मानसिंह से इनका परिचय हो गया। कविवर बनारसीदास के समय से जो अध्यात्म शैली आगरे मे तथा अन्यत्र विकसित हुई थी उनके प्रभाव से जो अनेक प्रतिभाशाली व्यक्ति सैद्धान्तिक और आध्यात्मिक रचनाएँ करने में प्रवृत्त हुए, उन्ही मे ध्यानतराय भी है। १५ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह हो गया, परन्तु अध्यात्म शैली और सत्सग के प्रभाव ने इन्हें शृगारिक विषयो से हटाकर आत्माभिमुख बना दिया। स० १७५२ से १७८० वि० (१७२३ ई०) तक की इनकी ४५ रचनाओ का सग्रह 'धर्मविलास' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। इसके बाद की रचनाओ का सग्रह 'आगमविलास' नाम से पडित जगतराय ने स० १७८४ वि० (१७२७ ई०) मे इनकी मृत्यु के पश्चात किया। 'चर्चा

शतक' भी इनकी एक सुन्दर कृति है। इनके ३२३ आध्यात्मिक और भक्तिपूर्ण गेय पदो के सग्रह तथा १२-१३ 'पूजाओं' का प्रकाशन हो चुका है। 'आगमविलास' अभी तक अप्रकाशित है। वि० स० १७८३ (१७२६ ई०) कार्तिक सुदी १३ को ये स्वर्गवासी हुए। 'धर्मविलास' की प्रशस्ति के निम्नोक्त पदों से इनकी निरभिमानिता का परिचय मिलता है —

अच्छर सेती तुक भई, तुक सौ हूए छन्द।
छन्दनि सौं आगम भयौ, आगम अरथ सुछन्द॥
आगम अरथ सुछन्द, हमौ ने यह नहिं कीना।
गगा का जल लेइ, अरघ गगा कौ दीना॥
सबद अनादि अनन्त, ग्यान कारन बिन मच्छर।
मैं सब सेती भिन्न, ग्यानमय चेतन अच्छर॥

इनके सम-सामयिक आगरे के खण्डेलवाल कवि भूधरदास बहुत उच्च कोटि के कवि थे। स० १७८१ वि० (१७२४ ई०) में शाह हरिसिंह के धर्मानुरागी वशज और हाकिम गुलाबचद की प्रेरणा से इन्होने 'जिनशतक' की रचना की थी। इनका दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ 'पार्श्व-पुराण' स० १७८९ वि० (१७३२ ई०) में रचा गया जो कवित्व की दृष्टि से उच्च कोटि का है। इनके अतिरिक्त कुछ गेय पदो का सग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। इनकी भावना कितनी ऊँची थी, यह निम्नोक्त सवैयो से सूचित होता है—

कब गृहवास सौं उदास होय बन सेऊँ,
वेऊँ निज रूप गति रोकूँ मन-करि की।
रहिहौं अडोल इक आसन अचल अग,
सहिहौ परीसा शीत-घाम-मेघ-झरि की॥
सारग समाज खाज कब धौं खुजैहे आनि,
ध्यान-दल जोर जीतूँ सेना मोह अरि की।
एकल विहारी जथा जात लिगधारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरि की॥

यो इस शताब्दी में और भी बहुत से कवि हो गए है। उन सबकी रचनाओ का परिचय देना यहाँ सम्भव नही है, अत कुछ अन्य प्रमुख कवियो का ही उल्लेख किया जा रहा है।

विनोदीलाल अग्रवाल

शाहिजादपुर के निवासी कविवर विनोदीलाल अग्रवाल गर्ग गोत्रीय मण्डण के प्रपौत्र, पार्श्व के पौत्र और दुर्गमल के पुत्र थे। इन्होने 'श्रीपालविनोदकथा' स० १७५० वि० (१६९३ ई०) में लिखी, उस समय इनकी आयु ७०-७२ वर्ष की बताई गई है। अत इनका जन्म स० १६७८ वि० (१६२१ ई०) में हुआ होगा। इन्होने स्वय लिखा है कि मेरी पूर्वावस्था प्राय भोग-विलास और विनोद में व्यतीत हुई थी, अब पिछली वय में सुमति प्राप्त हुई है। स० १७४४ से स० १७५० वि० (१६८७-१६९३ ई०) तक के ६ वर्षों में ही आपने कुछ रचनाएँ बनाई।

ये है—'नेमिनाथमगल' (४२ पद्य, स० १७४४ वि० = १६८७ ई०) 'विष्णुकुमारकथा' (२ पद्य), 'भक्तामरचरित्र' (५५०० श्लोक परिमित, स० १७४७ वि० = १६९० ई०), श्रीपाल विनोद कथा (१३५४ पद्य, स० १७५० वि० = १६९३ ई०), 'राजुलपचीसी', 'नेमिनाथ जी के रेखते', 'नेमराजुमति बारहमासा' तथा 'सम्यक्त कौमुदी' (स० १७४९ वि० = १६९२ ई०)

गोदी

सांगानेर के खण्डेलवाल भावशा गोत्रीय गोदी द्वारा स० १७२४ वि० (१६६७ ई०) में रचित ७२५ पद्यो का 'प्रवचनसार' पद्यानुवाद प्राप्त है, जो पाडे हेमराज की 'प्रवचनसार' की टीका के आधार पर रचा गया है। सागानेर से ये भरतपुर राज्य चले गए थे। वहाँ अध्यात्म शैली या मडली चल रही थी जिसके ये भी सदस्य हो गए। इन्होने लिखा है—

अध्यातम शैली सहित, बनी सभा सह धर्म।
चरचा प्रवचन सार की, करै सबै लहि मर्म॥
अरचा अरहत देव की, सेवागुरु निरग्रन्थ।
दया धर्म उर आचरै, पचमगति को पथ॥
ऐसी सभा जुरै दिन-राती, अध्यातम चरचा रस पाती।
जब उपदेस सबनिको लियो, प्रवचन कवित बध तब कियो॥

कवि लक्ष्मीचंद

खरतर गच्छ के कवि लक्ष्मीचन्द ने जिनका दीक्षा नाम **लब्धिविमल** था, फतेहपुर के दीवान श्रीमाल बदलिया गोत्रीय ताराचन्द की अभ्यर्थना से शुभचद्र कृत 'ज्ञानार्णव' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ का पद्यानुवाद किया। यह लगभग ३००० श्लोकों के परिमाण का है। स० १७२८ वि० (१६७१ ई०) की विजयादशमी को इसकी समाप्ति हुई थी।

श्रीदेवचद

इसी गच्छ के अध्यातम तत्ववेत्ता श्रीदेवचन्द ने बीकानेर में स० १७६७ वि० (१७१० ई०) में 'द्रव्यप्रकाश' नामक तात्विक ग्रन्थ बनाया। ये बहुत बड़े विद्वान थे। इनकी प्राकृत, संस्कृत, राजस्थानी और गुजराती की रचनाएँ भी दो-तीन भागों में उक्त 'द्रव्यप्रकाश' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं।

पडित खुशालचन्द काला

ये मूलत टोडा के निवासी थे, बाद मे साँगानेर में आ बसे थे। ये खण्डेलवाल काला गोत्रीय सुन्दरदास के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुजान दे था। पहले इन्होंने 'श्रेणिकचरित्र' के लेखक लिखमीदास चाँदवाड के पास सांगानेर में विद्याभ्यास किया, फिर दिल्ली (जिहानाबाद) के जयसिंघपुर में रह कर सुखानन्द के पास शास्त्र का अध्ययन किया। खुशालचन्द के रचे हुए 'हरिवश पुराण' (९००० श्लोक, स० १७८० वि० = १७२३ ई०), 'यशोधरचरित्र' (स० १७८१ वि० = १७२४ ई०), 'पद्मपुराण' (स० १७८३ वि० = १७२६ ई०), 'व्रतकथा कोश' (चौबीस कथा, २६०० श्लोक, स० १८७७ वि० - १७३० ई०), 'जम्बूस्वामीचरित्र

'धन्यकुमारचरित्र' (१७८० श्लोक, स० १७९२ वि० = १७३५ ई० के बाद), 'चौवीस महाराज-पूजा', 'सद्भाषितावली' (स० १७९४ वि० = १७३७ ई०) और 'उत्तरपुराण' (१३०० श्लोक, स० १७९९ वि० = १७४२ ई०) उपलब्ध हैं।[1]

किशनसिंह

रामपुर के खण्डेलवाल पाटनी सगही कल्याण के पौत्र और आणुसिंह के पुत्र किशनसिंह द्वारा रचित ५३ 'क्रियाकोश' (स० १७८४ वि० = १७२७ ई०), 'भद्रवाहुचरित्र' (स० १७८० वि० = १७२३ ई०) तथा 'रातिभोजनकथा' प्राप्त है।

दिलाराम, लोहट और दौलतराम पाटनी

पाटनी गोत्र के दिलाराम बूंदी नगर में रहते थे। इनकी 'दिलारामविलास' (स० १७६८ वि० = १७११ ई०) और 'आत्मद्वादशी', ये दो रचनाएं प्राप्त है। प्रथम ग्रन्थ की प्रशस्ति में बूदी नगर और वहाँ के राजवश का भी वर्णन मिलता है। बूदी में और भी कुछ कवि हुए है, जिनमें ववेरवाल-वशी लोहट द्वारा रचित 'यशोधरचरित्र' (स० १७२१ वि० = १६६४ ई०) और दौलतराम पाटनी द्वारा रचित 'व्रतविधान रासो' (स० १७६३ वि० = १७०६ ई०) नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

जिनरग सूरि, मथेन उदयचद और जोगीदास मथेन

श्वेताम्बर कवियो में जिनरग सूरि की 'प्रवोधवावनी' (स० १७३१ वि० = १७७४ ई०) और 'रगवहोत्तरी' हिन्दी मे प्राप्त है। बीकानेर के महाराज अनूपसिह के आश्रित खरतर-गच्छीय मथेन उदयचन्द ने स० १७२८ वि० (१६७१ ई०) में 'अनूपरसाल' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमे नायक-नायिका और अलंकार का वर्णन है। महाराज सुजानसिंह के समय मे स० १७६५ वि० (१७०८ ई०) मे इन्होने 'बीकानेर गजल' वनाई। महाराजा सुजानसिंह के आश्रित जोगीदास मथेन का स० १७६२ वि० (१७०५ ई०) में रचा हुआ 'वैद्यकसार' और 'सुजानसिंह रासा' अनूप सस्कृत लायब्रेरी में हैं।

नैनसिह

बीकानेर राजवश के महाराज आनन्दसिह के लिए खरतरगच्छीय यति नैनसिंह ने स० १७८६ वि० (१७२९ ई०) में भर्तृहरिशतकत्रय-भाषा 'आनन्दभूपण' के नाम से वनाई। इसकी भी एक प्रति अनूप सस्कृत लायब्रेरी में है। इसके गद्य का कुछ अश उदाहरणार्थ दिया जाता है—

"फल की महिमा कही जो यह खाय। सो अजर अमर होई। तव राजा ये स्वकीया राणी पिंगला कु भेज्यो। तव राणी अत्यन्त कामातुर अन्य पर पुरुष तें रक्त है, ताहि पुरुष को फल दे भेजो अरु महिमा कही। वह जन वेश्या तें आसक्त है, तिन वाको फल दीनो तिहि समै वेश्या ते फल लेके अद्भुत गुण सुनि के विचारयो जो यह फल खायोहु वहुत जीवी तो कहा ताते प्रजा

---

१ दे० वीरवाणी, वर्ष १, अक ४।

पालक, दुष्टग्राहक, शिष्ट-सत्कारकारक, षटदर्शनरक्षक, ऐसो भतृहरजी राज बहुत करै अजर अमर ह्वै तो भलै।"

विनयलाभ, दामोदर कवि, रत्नशेखर, जयधर्म और लालचद

इनसे पूर्ववर्ती इसी गच्छ के कवि विनयलाभ द्वारा रचित 'शतकत्रय' का पद्यानुवाद और 'सवैयावावनी' लेखक के सग्रह में है। रीति ग्रन्थो में अचल गच्छ के दामोदर कवि द्वारा स० १७५६ वि० (१६९९ ई०) मे रचित 'रसमोह शृगार' की अपूर्ण प्रति भी सगह मे है। इसी गच्छ के कवि रत्नशेखर ने शकरदास के लिए 'रत्नपरीक्षा' स० १७६१ वि० (१७०४ ई०) मे सूरत नगर मे बनाई। इसकी पद्य सख्या ५७० है। पानीपत के गोवर्द्धनदास के लिए लक्ष्मीचद के शिष्य जयधर्म ने 'शकुनप्रदीप' स० १७६२ वि० (१७०५ ई०) मे बनाया। कवि लालचद ने अक्षयराज के लिए 'स्वरोदय भाषा टीका' बनाई और बीकानेर के कोठारी जेतसी के लिए 'लीलावती' नामक गणित ग्रन्थ की रचना की। 'अकपास' नामक एक और गणित ग्रन्थ इनका मिला है। इनका दीक्षा-नाम लाभवर्द्धन था।

गद्यकार अक्षयराज श्रीमाल और दीपचद साह

इस शताब्दी मे कुछ गद्य-लेखक भी हो गए है जिनमे अक्षयराज श्रीमाल और दीपचन्द शाह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दीपचन्द शाह खण्डेलवाल जाति के कासलीवाल गोत्रीय थे। पहले सांगानेर में रहते थे फिर आमेर मे बस गए। इनके द्वारा रचित 'अनुभवप्रकाश' (स० १७८१ वि० = १७२४ ई०), 'चिद्विलास' (स० १७७९ वि० = १७२२ ई०), 'आत्मावलोकन' (स० १७७७ वि० = १७२० ई०), 'परमातमप्रमग', 'ज्ञानदर्पण', 'उपदेशरत्नमाला' और 'स्वरूपानन्द' नामक ग्रंथ है। इनमे से कुछ गद्य ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके है। इनके गद्य का उदाहरण इस प्रकार है—

"जैसे वानर एक काकरा के पडै रोवै तैसे याके देह का एक अग भी छीजै तो बहुतेरा रोवै। ये मेरे और मै इनका झूठ ही ऐसे जडन के सेवन तै सुख मानै। अपनी शिवनगरी का राज्य भूल्या, जो श्री गुरु के कहे शिवपुरी कौं सभालै, तो वहाँ का आप चेतन राजा अविनाशी राज्य करै।"

अखयराज श्रीमाल का समय निश्चित ज्ञात नही है, पर उनके 'विषापहार स्तोत्र' की गद्य-टीका स० १७३१ वि० (१६७४ ई०) की लिखी हुई मिली है। इन्होने 'कल्याणमन्दिर भाषा टीका', 'एकीभावस्तोत्र भाषाटीका', 'भूपालचौबीसी', 'बालबोध भक्तामर भाषाटीका' की रचना की। इन टीकाओ के अतिरिक्त एक स्वतत्र रचना 'चतुर्दश गुणस्थान चर्चा' भी गद्य में है जिसके छोटे और बडे दो सस्करण मिलते हैं। इनके गद्य का उदाहरण इस प्रकार है—

"आगे मुनि की मुद्रा का वर्णन करै है। सो कहे है। जिन चिन्हनि मुनि पदवी जानी जाइ ऐसा बाह्य दोइ प्रकार के लिंग कहिए चिन्ह सो बताए है। प्रथम ही बाह्य लिंग कैसा है जिहा परमाणु मात्र भी परिग्रह नाही ऐसा जथा जात रूप दिगम्बर मुद्रा धारी।'

गद्य टीकाकार—मानसिंह और रूपचंद

हिन्दी गद्य मे टीका लिखने वालो मे दो और लेखक—विजयगच्छीय मानसिंह और खरतर गच्छीय रूपचन्द—भी उल्लेखनीय है। मानसिंह सुकवि और सफल टीकाकार थे। इनका वनाया हुआ ऐतिहासिक काव्य 'राजविलास' (रचनाकाल स० १७४६ वि० = १६८९ ई०) उदयपुर सरस्वती भण्डार से प्राप्त होकर नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुका है। इन्होने 'विहारी सतसई' की भाषा टीका भी वडी सुन्दर लिखी है जो करीव ४५०० श्लोक परिमित है। इसकी एक प्रति बीकानेर मे मोतीचन्द खजाची के सग्रह मे भी है।

रूपचन्द खरतरगच्छीय कविवर जिनहर्ष की परम्परा मे दयासिंह के शिष्य थे। ये ओसवाल आँचकिया गोत्र के थे जिस गोत्र का एक मोहल्ला बीकानेर के देशनोक नामक गाँव मे आज भी है। इनका जन्म स० १७४४ वि० (१६८७ ई०) और दीक्षा स० १७५५ वि० (१६९८ ई०) मे विल्हावास मे हुई। दीक्षा नाम रामविजय रखा गया। ये सस्कृत तथा राजस्थानी के बहुत अच्छे कवि और टीकाकार थे। स० १७६७ से १८२६ वि० (१७१०—१७६९ ई०) तक की आपकी रचनाएँ मिलती है, जिनमे 'जिनसुखसूरि' (स० १७७२ वि० = १७१५ ई०), 'समयसार वालावबोध' (स० १८९२ वि० = १७३५ ई०), 'लघुस्तव टव्वा' (स० १७९८ वि० = १७४१ ई०) आदि हिन्दी रचनाएँ उल्लेखनीय है। इनमे से कविवर वनारसीदास के 'समयसार' की भाषा टीका वहुत प्रसिद्ध है और प्रकाशित हो चुकी है। 'जिनसुखसूरि मजलस' जिसका दूसरा नाम 'द्वावैत' भी है, बडी मनोरजक रचना है। थोडी सी वानगी देखिए—

"अहो आवो ये यार, वैठो दरवार, स चादणी रात, कहो मजलस की वात। कहो कौण कौण मुलक, कौण कौण राज देखे। कौण कौण पातिस्याह देखे, कौण कौण दईवान देखे, कौण कौण महिवान देखे।"

दीपचद

वैसे तो और भी वहुत से गद्य ग्रन्थ मिलते है, पर यहाँ खरतरगच्छ के वाचक दीपचन्द द्वारा रचित 'वालतत्र भाषा वचनिका' (स० १७९२ वि० १७३५ ई०) जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है, करीव २००० श्लोक परिमित है और लेखक के सग्रह में है।

अन्य स्फुट कवि—

बुलाकीदास—गोयल गोत्रीय थे। इनके पूर्वज वयाने में रहते थे। ये नन्दलाल के पुत्र थे, जिन्हें प० हेमराज ने अपनी जेनल नामक कन्या व्याही थी। इनकी माता बहुत व्युत्पन्न और धर्मप्रेमी थी, उसी के आदेश से स० १७५४ वि० (१६९७ ई०) में इन्होने 'पाडवपुराण' की रचना की। स० १७४७ वि० (१६९० ई०) मे रचित इनका 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' भी प्राप्त है।

सिरोमणिदास—सिहरोन नगर में भट्टारक सागर कीर्ति के उपदेश से इन्होने 'धर्मसार' नामक मौलिक ग्रन्थ स० १७३२ वि० (१६७५ ई०) में वनाया जिसमें ७६३ दोहा चौपाई हैं।

पर्वत धर्मार्थी—वहुत अच्छे टीकाकार थे। इनकी 'समाधितत्र वचनिका', 'द्रव्यसग्रह वचनिका', 'सामयिक वचनिका' नामक भाषाटीकाएँ प्राप्त हैं।

समरथ—ये खरतरगच्छीय मतिरत्न के शिष्य थे। इनका दीक्षा नाम सुन्दर माणिक्य

था। ये सिंध प्रान्त में अधिक रहे। इनकी पंजाबी-सिन्धी भाषा की 'बावनी' प्रस्तुत लेखक ने प्रकाशित की है। सुप्रसिद्ध हिन्दी ग्रन्थ 'रसिकप्रिया' की संस्कृत टीका इन्होंने सं० १७६५ वि० (१७०८ ई०) में शाजीपुर में बनाई। हिन्दी में 'रसमंजरी चौपाई' नामक वैद्यक ग्रन्थ सं० १७६४-६५ वि० (१७०७-८ ई०) में इन्होंने दीरों में बनाया।

अजयराज—इनके 'चारमित्र कथा' (सं० १७२१ वि० १६६४ ई०), 'यशोधर चरित्र', 'चर्खा चौपाई' आदि हिन्दी ग्रन्थ प्राप्त हैं।

इनके अतिरिक्त **विनयचन्द, लक्ष्मीचन्द, गुणविलास, केशरीचन्द, बालक, कनककीर्ति, लक्ष्मीदास, नेमिचन्द** आदि की रचनाएँ भी प्राप्त हैं।

दौलतराम कासलीवाल

इस शताब्दी के अन्त में दो-तीन ऐसे टीकाकार और कवि हो गए हैं जिनकी अधिक रचनाएं तो १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक हुईं, पर उनकी रचना का प्रारम्भ १८वीं के अन्त में ही हो चुका था। इनमें से पहले दिगम्बर कवि दौलतराम कासलीवाल हैं। ये जयपुर राज्य के बसवा ग्राम-निवासी कासलीवाल आनन्दराम के पुत्र थे। प्रारम्भ में तो इनकी प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं थी, पर किसी कार्यवश आगरा जाने पर ऋषभदासजी के उपदेश से दौलतराम को जैनधर्म की विशेष प्रतीति हुई। वहाँ उन्होंने 'पुन्याश्रव कथाकोश' सुना, जिसकी भाषाटीका इन्होंने सं० १७७७ वि० (१७२० ई०) में बनाई। उसके पश्चात् जयपुर नगर को बसाने वाले महाराजा सवाई जयसिंह द्वारा जयपुर राज्य के वकील होकर ये उदयपुर गए। वहाँ महाराजा के पुत्र माधवसिंह की देखरेख का काम भी इन्हें करना पड़ा। उस समय की रचना में इन्होंने अपने को नृप-मंत्री लिखा है। उदयपुर में ये तीस वर्ष रहे। वहाँ साधर्मी पुरुषों की ही नहीं, महिलाओं की शैली (शास्त्र-श्रवण-मण्डली) भी इन्होंने खड़ी कर दी। वहाँ रहते हुए सं० १७९५ वि० (१७३८ ई०) में 'क्रियाकोश', सं० १७९८ वि० (१७४१ ई०) में 'आध्यात्म बारहखड़ी', सं० १८१८ वि० (१७६१ ई०) में 'वसुनन्दी श्रावकाचार भाषाटीका' बनाई। फिर जयपुर आकर भाई रायमल आदि की प्रेरणा से इन्होंने कई बड़े बड़े ग्रन्थों की टीकाएं बनाईं, जिनमें 'पद्मपुराण' की टीका बाईस हजार श्लोकों की (सं० १८२३ वि० = १७६६ ई०), 'आदिपुराण' की टीका चौबीस हजार श्लोकों की (सं० १८२४ वि०=१७६७ ई०), 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय अवशिष्टांश' (सं० १८२७ वि०=१७७० ई०), 'हरिवंश पुराण' की टीका १९ हजार श्लोकों की (सं० १८२९ वि०=१७७२ ई०) और 'परमात्मप्रकाश' की टीका सात हजार श्लोकों की विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार बावन वर्षों की लम्बी साहित्य-सेवा के फलस्वरूप इन्होंने लगभग एक लाख श्लोक के ग्रन्थ रचे।[1] 'आध्यात्म बारहखड़ी' वर्णानुक्रम से प्रारम्भ होने वाली वृहद् रचना है। इनकी भाषा इस प्रकार की है'—

"हे देव, हे विज्ञानभूषण, अत्यन्त वृद्ध अवस्था करि हीनशक्ति जो मैं सो मेरा कहा अपराध? मोपर आप कोप करो सो मैं कोप का पात्र नाहीं। प्रथम अवस्था विषै मेरे भुज हाथी के सुंड समान

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए वीरवाणी, वर्ष २, अंक २ तथा अनेकांत, वर्ष १०, अंक १।

हुतें, उरस्थल प्रबल था, अर जाँघ गजबन्धन तुल्य हुती, अर शरीर दृढ़ हुआ, अव कर्मनि के उदय करि शरीर अत्यन्त शिथिल होय गया।"

कनककुशल और कुँवरकुशल

हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार के लिए जैन विद्वानो ने जो विशिष्ट प्रयत्न किए हे उनमें कच्छ में ब्रजभाषा का प्रचार-कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भुज के महाराव लखपत कुमारावस्था से ही साहित्य और कला के प्रेमी थे। एक वार तपागच्छीय विद्वान कवि कनक-कुशल अपने विद्वान शिष्य कुँवरकुशल के साथ भुज पधारे तो कुँवर लखपत ने उनसे ब्रजभाषा एव छन्द-शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त किया और उन्हें गाँव और सम्मान देकर अपना गुरु माना। कनककुशल की प्रेरणा से लखपत ने अपने यहाँ ब्रजभाषा की शिक्षा के लिए एक विद्यालय चालू किया जिसके विद्यार्थियो के खाने-पीने आदि का प्रवन्ध राज्य की ओर से होता था। भट्टारक कुशल उस विद्यालय के प्रधान शिक्षक थे। राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र के चारणादि विद्यार्थी वहाँ की शिक्षा से लाभ उठाने के लिए पहुँचते थे। यह विद्यालय वहुत लवे अर्से तक चला और इसके द्वारा अनेक विद्यार्थियो ने ब्रजभाषा छन्द एव काव्यशास्त्रादि का अभ्यास किया। कुमार लखपत के लिए भट्टारक कनककुशल ने 'लखपतमजरी नाममाला' २०५ पद्यो की स० १७९४ वि० (१७३७ ई०) में बनाई और शाहजहाँ के सम्मानित कवि सुन्दर द्वारा रचित 'सुन्दर-शृगार' की भाषाटीका कुँवर लखपत के नाम से की। मूल ग्रन्थ ३६५ पद्यो का है। उसकी विस्तृत भाषा टीका २८७५ श्लोक-परिमित है। स० १७९८ वि० (१७४१ ई०) से पूर्व इसकी रचना हो चुकी थी। इसकी दो प्रतियाँ पाटण के हेमचन्द्र सूरि ज्ञानभण्डार मे सुरक्षित हे।

कनककुशल के शिष्य कुँवरकुशल ने अपने गुरु के कार्य को और अधिक योग्यता से आगे वढाया। इनकी पृथक रचना अपने गुरु की 'लखपतमजरी नाममाला' का वडा सस्करण है। इसमें १२१ पद्यो में आश्रयदाता लखपत के वश का ऐतिहासिक वृत्तान्त है और वाद के २८ पद्यो में कवि ने अपनी परम्परा का वर्णन किया है। मूल 'नाममाला' इसके बाद प्रारम्भ होनी चाहिए, पर वह अश अभी तक प्राप्त नही हुआ, केवल प्रारम्भ के १३९ पद्यो की प्रति ही प्राप्त हुई है। अपने गुरु की 'नाममाला' के करीव छ महीने वाद ही उसी नाम की यह रचना कुँवर लखपत के कहने से इन्होने वनाई। इनका दूसरा कोश ग्रन्थ 'पारसात नाममाला' है जो इसी नाम वाले फारसी शब्दकोश का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद है। तीसरे छन्द ग्रन्थ 'लखपति पिंगल' की रचना स० १८०७ वि० (१७५० ई०) में हुई। चौथा अलकार सबधी ग्रन्थ 'लखपति जससिंधु' नाम का है जो तेरह तरगो में समाप्त होता है। पाँचवी विशिष्ट रचना महाराव लखपत के ही सवध में 'महाराउ लखपत द्वावैत' है जो खडी बोली हिन्दी गद्य में लिखी गई है। 'द्वावैत' सज्ञक प्राप्त रचनाओ मे यह सवसे वडी है। कवि रूपचन्द रचित 'जिनसुख सूरि मजलस द्वावैत' का परिचय पहले दिया गया है। इस पर उसका प्रभाव स्पष्ट दीख पडता है। इसकी दो-एक पक्तियाँ नमूने के तौर पर यहाँ दी जा रही हैं—

आदि "अहो आवो वे यार, वैठो दरवार। ये चाँदनी राति, कहो मजलसि की वात। कहो कौन कौन मुलक कौन कौन राजा देखे। कौन कौन पात्स्या देखे।"

अत "जिनकी नीकी करनी, काहू तें वजाय वरनी। अतुल तेज उछहतै च्यारो जुग अमर, यह सदा सफल असीस देत कवि कुँअर।"

इनकी छठी रचना महाराउ लखपति का मरसिया अथवा मृत्युकाव्य है जो ९० पद्यो में है। स० १८१७ वि० (१७६० ई०) की जेठ सुदी ५ को लखपत की मृत्यु हुई और उसी के आसपास की यह रचना है। सातवी रचना लखपत के पुत्र रावल गौड के नाम से रचित छन्द ग्रन्थ 'गौड पिंगल' है। इसकी समाप्ति स० १८२१ वि० (१७६४ ई०) की अक्षय तृतीया को हुई। अपने विषय का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आठवी रचना डिंगल भाषा में 'माता नो छन्द' या 'ईश्वरी छन्द' है जिसमे कच्छ के राजाओ की कुलदेवी आसापुरा की स्तुति है। प्राप्त रचनाओ से कवि कुँवरकुशल अनेक भाषाओं और विषयो के विद्वान सिद्ध होते है। कोश, छन्द, अलकार और काव्य आदि के ज्ञान के साथ व्रज, खडीबोली, डिंगल और फारसी पर भी इनका अधिकार जान पडता है।

विनयभक्त

१८वी शताब्दी के अन्त और १९वी के प्रारम्भ मे मुनि वास्तावस्तफल ने, जिनका दीक्षा नाम विनयभक्त था, 'जिनलाभ सूरि द्वावैत 'और 'अन्योक्ति बावनी' नामक सुन्दर हिन्दी कृतियाँ प्रस्तुत की। ये खरतर गच्छ के मतिभद्र के शिष्य थे। इनके 'द्वावैत' का कुछ अश इस प्रकार है—

"ऐसे जिनकु सब जस अवदात। किनसे कह्यो न जात। सब दरियाव कै जल की स्याही करिवावै। आसमान का कागद बनवावै। सुरगुरु से आपु लिखवै की हिम्मत करै। सो थकि जात है। इक उपमान कै करे।"

इस शताब्दी मे कई विशिष्ट कवि और भाषा टीकाओ के निर्माता जैन विद्वान हुए, जिनमे से टोडरमल, जयचन्द, दौलतराम तथा ज्ञानसार आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका परिचय क्रमश नीचे दिया जा रहा है—

टोडरमल

इनका जन्म स० १७९७ वि० (१७४० ई०) मे जयपुर के खण्डेलवाल भासा या वडजात्या गोत्र के धालाका वश मे हुआ। इनके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रम्भाबाई था। टोडरमल की प्रतिभा असाधारण थी। दस वर्ष की अवस्था में ही ये बडे-बडे सिद्धान्त ग्रन्थो का रहस्य समझने लगे। छ महीने मे इन्होने 'जैनेन्द्र व्याकरण' पढ डाला। अर्थोपार्जन के लिए टोडरमल को सिघाणा जाना पडा था, जहाँ सयोगवश अत्यन्त प्रेरणादायक भाई रायमल्ल से भेंट हो गई। पडित जी की प्रतिभा से मुग्ध होकर इन्होने पडितजी को 'गोमट्टसार', 'लब्धिसार,' 'क्षणसार' और 'त्रिलोकसार' आदि कठिन सिद्धान्त ग्रन्थो की टीकाएँ लिखने को बाध्य कर दिया। तीन वर्षो में उस छोटे से गाँव में लगभग ६५ हजार श्लोक-परिमित इन चार ग्रन्थो की भाषाटीका पडित जी ने समाप्त कर दी। 'गोमट्टसार टीका' (स० १८१८ वि० — १७६१ ई०) अडतीस हजार श्लोको की, 'लब्धिसार', 'क्षपणसार' की तेरह हजार की और 'त्रिलोकसार' की टीका चौदह हजार श्लोको की है। पडित टोडरमल की जैसी प्रतिभा और रायमल्ल की सी प्रेरणा वास्तव में दुर्लभ है। आपकी अन्य रचनाओ में 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी

स० १८११ वि० (१७५४ ई०) में मुल्तान के अध्यात्म प्रेमी भाइयो के प्रश्नो के उत्तर में लिखी गई थी। यह चिट्ठी अध्यात्म रस के अनुभव से ओतप्रोत है। अन्य टीकाओ मे 'आत्मानुशासन' टीका में रचना-काल नही मिलता। 'पुरुषार्थसिद्धि उपाय' की टीका (स० १८२७ वि०=१७७० ई०) अपूर्ण रह गई थी जिसकी पूर्ति रत्नचन्द्र दिवान की प्रेरणा से प० दौलतराम ने की। इनका मौलिक ग्रन्थ 'मोक्षमार्गप्रकाशक' उत्कृष्ट कोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ भी अपूर्ण रह गया। टोडरमल की असाधारण प्रतिभा के कारण ब्राह्मण लोग उनमे ईर्ष्या करने लगे और उन सबो ने उनके विरुद्ध प्रचार कर जयपुर के महाराज के द्वारा प्राण-दण्ड की आज्ञा करवा दी। प्रवाद के अनुसार हाथी से कुचलवा कर ऐसे अद्वितीय विद्वान का असमय मे ही अन्त किया गया। केवल २६ वर्ष की उम्र पाने पर भी ऐसा आसाधारण कार्य उन्होने किया। यदि वे और अधिक लबे काल तक जीवित रहते तो न मालूम क्या कर जाते।

ऋषि ज्ञानसार

मस्त योगी सुकवि एव प्रखर समालोचक श्रीमत ज्ञानसार का जन्म वीकानेर राज्य के जागलू के निकटवर्ती जैगलेवास नामक गाँव में हुआ था। ओसवाल साँड गोत्रीय उदयचन्द इनके पिता और जीवनदेवी इनकी माता थी। इनका जन्म का नाम नारायण था। स० १८१२ वि० (१७५५ ई०) में विषम दुष्काल पडा। उसी समय से ये खरतरगच्छीय आचार्य जिनलाभसूरि की सेवा में रहकर विद्याध्ययन करने लगे। वि० स० १८२१ (१७६४ ई०), माघ सुदी ८ को पादरू गाँव में इन्होने यति-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा-नाम ज्ञानसार रखा गया। स० १८३४ वि० (१७७७ ई०) तक तो ये अपने गुरु रायचद के साथ रहे, किंतु इसी बीच इनके गुरु का स्वर्गवास हो गया और १८३४ वि० (१७७७ ई०) में जिनलाभसूरि भी स्वर्गवासी हो गए। फिर ये अपने गुरु के ज्येष्ठ गुरुभ्राता राजधर्म के साथ रहने लगे। पाली में चौमासा विता कर राजधर्म नागोर आए और ज्ञानसार किशनगढ गए। वहाँ से फिर नागोर में दोनो मिले और स० १८४५ वि० (१७८८ ई०) तक प्राय साथ ही रहे। इसके पश्चात ज्ञानसार जयपुर में रहने लगे। किन्तु स० १८४८ वि० (१७९१ ई०) मे जब ये जयपुर मे थे, तत्कालीन आचार्य जिनचन्द्र सूरि ने इन्हें पूर्व देश के महाजनटोली जाने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप स० १८४९ वि० (१७९२ ई०) का चतुर्मास महाजनटोली में विताया तथा सघ के साथ सम्मेतशिखर की यात्रा की। स० १८५०-५१ वि० (१७९३-४ ई०) का चतुर्मास अजीमगज आदि में विता कर, वसतपचमी को तीर्थाधिराज की यात्रा कर पश्चिम की ओर विहार करते हुए स० १९५२ वि० (१७९५ ई०) का चतुर्मास इन्होने सम्भवत दिल्ली मे किया। पूर्व देश के नाना अनुभवो का सजीव वर्णन इनके 'पूर्वदेश वर्णन' ग्रन्थ में पाया जाता है। स० १८५३ वि० (१७९६ ई०) में ये पुन जयपुर पधारे जहाँ इनकी प्रतिभा की कीर्ति महाराज के कानो तक पहुँची। स० १८५३ वि० (१७९६ ई०) की माघ वदी ८ को पूर्ण होने वाला 'समुद्रवध' चित्र काव्य इन्होने महाराजा प्रतापसिह के गुण-वर्णन में लिखा और उसकी 'स्त्रोपज्ञवचनिका' भी लिखी। महाराज के आग्रह से स० १८५३ से ६२ वि० (१७९६-१८०५ ई०) तक दस चतुर्मास इन्होने जयपुर में ही विताए। इसी बीच 'सबोध अष्टोत्तरि' आदि नौ कृतियाँ रची गईं, फिर किशनगढ जाना हुआ। स० १८६३ से ६८ वि०

(१८०६-११ ई०) तक छ चतुर्मास किशनगढ में बिताए। ये कई वर्षों से श्रीमत आनन्दघन के स्तवन और पदो पर मनन कर रहे थे। किशनगढ मे रहकर ६५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'आनन्दघन चौबीसी' पर विस्तृत 'बालावबोध भाषाटीका' स० १८६६ वि० (१७०९ ई०) में बनाई। स० १८६९ वि० (१८१२ ई०) मे वहाँ से विहार कर शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा की, फिर बीकानेर आकर शेष जीवन वही बिताया। आध्यात्मिक झुकाव प्रारम्भ मे था ही, अत श्मशानों में ध्यानाभ्यास करने लगे। कहते है, इससे इन्हे पार्श्वपक्ष देव का साक्षात्कार हुआ। बीकानेर के महाराज सूरतसिंह तो इन्हें ईश्वर का अवतार मानते थे। अपने गच्छ मे भी इनका बडा प्रभाव था। राजस्थानी और हिन्दी, दोनो भाषाओं के गद्य और पद्य मे इनकी प्रचुर रचनाएं मिलती है। सौभाग्यवश इन्हें दीर्घायु भी मिली। स० १८९८ वि० (१८४१ ई०) मे ९८ वर्ष की अवस्था मे बीकानेर मे ही ये स्वर्गवासी हुए। इनके अग्नि-संस्कार स्थान पर एक शाला मे इनकी चरणपादुकाएं प्रतिष्ठित है।

इनकी हिन्दी रचनाओ मे 'मालापिंगल' नामक छन्द-ग्रन्थ है। 'कामोद्दीपन' एक अलकारखचित काव्य है। 'पूर्वदेशवर्णन' तो अपने ढग की एक ही रचना है। १३३ पद्यों मे वहा के रीति-रिवाज, वेश-भूषा, लोक-व्यवहार तथा प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन बहुत ही सजीव लगते है। 'प्रस्ताविक अष्टोत्तरी' की प्रथम पक्ति मे प्रस्ताविक सुभाषित और दूसरी पक्ति मे उसका दृष्टान्त है। इस तरह इसमें ११२ दोहे हैं। 'निहालबावनी', जिसका अपर नाम 'गूढाबावनी' भी है, पहेलियों के रूप में है। 'भावछत्तीसी', 'चरित्रछत्तीसी', 'आतमप्रबोधछत्तीसी' और 'मतिछत्तीसी' मे जैन सिद्धान्तो एव आध्यात्मिक रहस्यो का वर्णन है। 'बहोत्तरी' मे ७३ आध्यात्मिक गेय पद है। 'चन्दचोपाई' की समालोचना के ४१६ दोहे इनके छन्द-ज्ञान, काव्यशास्त्र और समालोचनात्मक वृत्ति के उत्तम उदाहरण है। सुप्रसिद्ध 'मोहनविजय' के 'चन्दराजा रास' की समालोचना इस ग्रन्थ में बहुत ही उच्च कोटि की की गई है। हिन्दी साहित्य मे अपने ढग का यह एक ही ग्रन्थ है जो समालोचना का उत्तम आदर्श उपस्थित करता है। इन्होने 'चन्दरास' के केवल दोषो का ही उद्घाटन नही किया है, प्रसगानुसार बडे सरस दोहे बना कर उस ग्रन्थ की शोभा मे चौगुनी वृद्धि भी की है। दोहे बहुत ही सरस है। उदाहरणार्थ आदि अन्त के कुछ दोहे यहा दिए जा रहे है—

आदि ए निश्चै निश्चै करो, लखि रचना को साज।
छंद अलंकारै निपुण, नहिं मोहन कविराज ॥१॥
दोहा छन्दे विषम पद, कही तीन दस मात।
सम में ग्यारै ह भरी, छन्द सिरचै ख्यात ॥२॥
अन्त ना कवि की निन्दा करी, ना कछु राखी कान।
नवि कुन कविता सार की, सम्मति लिखी सुजान ॥२॥
दोहा भित दस च्यार सौ, प्रस्ताविक नवीन।
खरतर भट्टारक गच्छै, ज्ञानसार किय दीन ॥३॥

इनके आत्मानुभव की प्रसादी 'बहोत्तरी' आदि के गेय पदो में मिलती है। नमूने के रूप मे एक पद दिया जा रहा है—

अवधू आतम रूप प्रकासा, भरम रह्या नही मासा।
नही हम इन्द्री मन वच तन बल, नही हम साँस उसासा ॥१॥
क्रोध मान माया नही लोभा, नही हम जग की आसा।
नही हम रूपी नही भवरूपी, नही हम हरख उदासा ॥२॥
वध मोक्ष नही हमरै कबही, नही उपपात विनासा।
शुद्ध सरूपी हम सब काले, ज्ञानसार पद वासा ॥३॥

ज्ञानसार एक उच्च कोटि के आध्यात्मिक कवि, टीकाकार, समालोचक, आत्मानुभवी एव मान्य महापुरुष थे।

इस शताब्दी के अन्य कवियो में कविवर दौलतराम, बुधजन आदि प्रमुख है। नीचे इनका परिचय दिया जा रहा है—

कविवर दौलतराम

इनका जन्म हाथरस जिले के सासनी गाँव में स० १८५०-५५ वि० (१७९३-८ ई०) के लगभग हुआ। पालीवाल जाति के गंगिरीवाल गोत्र के, जिसे इन्होने फतेहपुरिया भी लिखा है, टोडरमल के ये पुत्र थे। जैन अध्यात्म और सिद्धान्त ग्रन्थो के ये मर्मज्ञ विद्वान थे। इनकी रचनाएँ यद्यपि बहुत ही थोडी है, पर है उच्च कोटि की। 'छ ढाला' आपकी महत्वपूर्ण रचना है, जिसमें जैन धर्म और अध्यात्म का निचोड गागर में सागर की तरह समाविष्ट है। अन्य रचनाओ में गेय पद भाव और भाषा की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर और प्रबोधक है। इनका बहुत प्रचार है। हजारो जैन अध्यात्म-प्रेमियो के ये कण्ठहार बने हुए है। नमूने के लिए एक पद दिया जा रहा है—

हम तो कबहू न निज घर आए।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराए ॥१॥ टेक
पर पद निज पद मानि मगन ह्वै, पर परनति लपटाए।
शुद्ध बुद्ध सुखकन्द मनोहर, चेतन भाव न भाए ॥२॥
नर पशु देव नरक जिन जान्यौ, परजय बुद्धि लहाए।
अमल अखण्ड अतुल अविनासी, आतम गुन नहिं गाए ॥३॥
यह बहु भूल भई हमरी फिर, कहा काज पछताए।
'दौल' तजौ अजहूँ विषयन को, सतगुरु वचन सुहाए ॥४॥

स० १८८२-८३ वि० (१८२५-२६ ई०) में मथुरा के सेठ मनीराम हाथरस आए। यहाँ कविवर को 'गोमट्टसार' का स्वाध्याय करते देख वे बहुत प्रसन्न हुए और इन्हें मथुरा ले गए। पर ये भक्ति और वैराग्य के कारण आडम्बर से दूर रहना चाहते थे, इसलिए वे वहाँ से लश्कर और फिर सासनी आ गए। अलीगढ मे छीटे छापने का काम करते हुए भी ये शास्त्र-स्वाध्याय और श्लोक कण्ठस्थ करते रहते थे। फिर ये दिल्ली गए जहाँ अध्यात्म-चिन्तन निर्बाध रूप से चलता रहा। 'छ ढाला' की रचना स० १८९१ वि० के आसपास हुई।

स० १९१० वि० (१८५३ ई०) मे इन्होने सम्मेतशिखर तीर्थ की यात्रा की और सं० १९२३ या २४ वि० (१८६६-६७ ई०) में ये स्वर्गवासी हुए।[1]

कवि बुधजन

कवि बुधजन का नाम बुधीचन्द था। ये खण्डेलवाल बजगोत्रीय सेठ निहालचन्द के तृतीय पुत्र थे। धर्मनिष्ठ, दयालु और अध्यात्म-प्रेमी होने के साथ ही ये आशुकवि भी थे। 'बुधजन सतसई', 'तत्वार्थबोध' (स० १८७४ वि०=१८१७ ई०), 'बुधजनविलास' और 'पचास्तिकाय पद्यानुवाद' (स० १८८२ वि०=१८२५ ई०), ये चार रचनाएँ इनकी प्राप्त हैं। इनमे 'बुधजन सतसई' मे चार प्रकरण हैं— देवानुराग शतक, सुभाषित नीति, उपदेशाधिकार और विराग-भावना। इनके सुभाषित के नीति-दोहे बहुत ही सुन्दर हैं। 'सतसई' की रचना स० १८७० वि० (१८२२ ई०) मे और 'तत्वार्थबोधिनी' की १८८९ वि० (१८३२ ई०) मे हुई।

'बुधजनविलास' इनकी फुटकर रचनाओ का सग्रह है। उनमे से 'छ ढाला' स० १८५९ वि० (१८०२ ई०) की अक्षय तृतीया को बनाया गया। 'पचास्तिकाय पद्यानुवाद' स० १८९१ वि० (१८३४ ई०) मे रचा गया। 'बुधजनविलास' का सकलन स० १८९२ वि० (१८३५ ई०) मे किए जाने का उल्लेख 'आध्यात्म पदावली' के आमुख मे किया गया है। इनका एक आध्यात्मिक पद और सतसई के दो दोहे नीचे दिए जा रहे हैं—

मै देखे आतमरामा।
रूप परस रस गध ते न्यारा, दरस ज्ञान गुन धामा॥१॥
नित्य निरजन जाके नाही, क्रोध लोभ मद कामा।
नहिं साहिब नहिं चाकर भाई, नही तात नहिं मामा॥२॥
भूल अनादि थकी जग भटकत, ले पुद्गल का जामा।
'बुधजन' सगति गुरु की कीजै, मै पाया मुझ ठामा॥३॥

पर उपदेश करन निपुन, ते तो लखे अनेक।
करै समिक बोले समिक, ते हजार मे एक॥
धधा करता फिरत है, करत न अपना काज।
घर की झुपडी जरत है, पर घर करत इलाज॥

कवि वृन्दावन

ये शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम में स० १८२७ वि० (१७७० ई०) मे पैदा हुए थे। पिता का नाम धर्मचन्द था। १२ वर्ष की अवस्था मे ये अपने पिता के साथ काशी आए और वहीं रहने लगे। ये एक प्रतिभाशाली कवि थे। इनकी सर्वोत्तम रचना 'प्रवचन-सार' का हिन्दी पद्यानुवाद स० १९०५ वि० (१८४८ ई०) में हुआ। इन्होने उसको सुन्दर बनाने के लिए तीन बार परिश्रम किया, तब इन्हें कुछ सन्तोष हुआ।

---

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए अनेकान्त, वर्ष ११, अक ३।

तत्व,' 'नाथपंथियों की महिमा' आदि नाथ-सम्प्रदाय से सम्बंधित हैं। 'रतना हमीर की वात' प्रकाशित हो चुकी है और 'नीति की वात' का भी उल्लेख मिलता है।

इनके छोटे भाई उदयचंद की छोटी-बड़ी ३७ रचनाएँ प्राप्त हुई हैं जिनका रचना-काल सं० १८६४ से १९०० वि० (१८०७ से १८४३ ई०) तक माना जाता है। 'छन्दप्रबन्ध' और 'छन्दविभूषण' छन्द-शास्त्र के उत्तम ग्रन्थ हैं। 'दूषणदर्पण', 'रसनिवास', 'शब्दार्थचन्द्रिका' भी साहित्यिक ग्रन्थ हैं। कुछ अन्य ग्रन्थ नाथ-संप्रदाय संबंधी हैं और कुछ जैन धर्म सम्बन्धी। वेदान्त के भी ये अच्छे विद्वान थे। अन्य रचनाओं में 'ज्ञानप्रदीपिका', 'जलन्धरनाथ-भक्तिप्रबोध', 'शनिश्चर की कथा', आनुपूर्वी प्रस्तारबन्ध भाषा', 'ज्ञान सत्तावनी', 'ब्रह्मविनोद', 'ब्रह्मविलास', 'विज्ञविनोद', 'विज्ञविलास', 'वीतरागवन्दना', 'करुणा बत्तीसी', 'साधुवन्दना', 'कुलप्रकाश', 'वीनती', 'प्रश्नोत्तर वार्ता', 'विकल्पचौसी', 'विचारचन्द्रोदय', 'आत्मरत्नमाला', 'ज्ञानप्रभाकरछत्तीसी', 'आत्मज्ञानपंचाशिका', 'विचारसार', 'षट्मतसारसिद्धान्त', 'आत्मप्रबोध भाषा', 'आत्मसारमनोपदेश भाषा', 'बृहच्चाणक्य भाषा', 'लघुचाणक्य भाषा', 'सभासार', 'सिखनख', 'कोकपद्य', 'नरदेव,' 'शृंगार कवित्त' तथा 'भोनाग्यलक्ष्मी स्तोत्र' प्राप्त हुए हैं। इनसे ये अनेक विषयों के ज्ञाता और सुकवि सिद्ध होते हैं।

अन्य स्फुट कवि

भण्डारी परिवार में **पीरचंद**, **किशोरदास** आदि और भी कुछ काव्य-मर्मज्ञ और कवि हुए हैं जिनकी विस्तृत जानकारी के लिए 'संयुक्त राजस्थान' (दिसम्बर, १९५३) में प्रकाशित लेखक का निबन्ध देखना चाहिए।

राजस्थान के अन्य श्वेताम्बर कवियों में से **रघुपति** की 'जैनसारबावनी' (सं० १८०२ वि० = १७४५ ई०) और **देवहर्ष**, **गुलाबविजय**, **भक्तिविजय**, **दीपविजय**, **सत्यविजय** आदि की बनाई हुई नगर वर्णनात्मक गजलें और **मूलचंद** श्रावक का 'वैद्यहुलास' नामक वैद्यक ग्रन्थ आदि प्राप्त हैं।

पंजाब के कवि

पंजाब में भी कुछ श्वेताम्बर जैन हिन्दी कवि हो गए हैं जिनमें **मेघकवि** और **हरजसराय** उल्लेखनीय हैं। मेघ कवि उत्तराध गच्छ के यति थे और फगवाडे में रहते थे। सं १८१७ वि० (१७६० ई०) में वहीं रहकर इन्होंने 'मेघमाला' नामक वर्षा-विज्ञान संबंधी ग्रन्थ बनाया। दान, शील, तप, भाव सम्बन्धी रचनाएँ भी सं० १८१७ वि० (१७६० ई०) की हैं। सं० १८२० वि० (१७६३ ई०) में रचित 'गोपीचन्द कथा' नामक रचना की एक प्रति साधु आश्रम, होशियारपुर के संग्रह में मुझे मिली है। इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना 'मेघविनोद' नामक वैद्यक ग्रन्थ है जो सं० १८३५ वि० (१७७८ ई०) में रचा गया। अपने विषय का यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ माना जाता है। पंजाब के वैद्यों में इसका काफी प्रचार है। यह गुरुमुखी लिपि में कई वर्षों पहले छपा था। अब इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

हरजसराय कसूर के निवासी ओसवाल श्रावक थे। ये छन्द और काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ ज्ञात होते हैं। इन्होंने सं० १८६४ वि० (१८०७ ई०) में 'साधुगुणमाला',

स० १८६५ वि० (१८०८ ई०) में 'देवर्चना' और 'देवाधिदेव' की रचना की। इनमें 'देवर्चना' ९१२ सरस पद्यो में समाप्त हुई है। इस ग्रन्थ मे विविध छन्दों के साथ अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, प्रहेलिका आदि का सकलन प्रशसनीय हुआ है। नव रसो का वर्णन भी मनोहर है।

बगाल के कवि

बगाल मे १९वी शताब्दी मे जब जगत सेठ का प्रभाव मुर्शिदाबाद मे भलीभाँति जम गया और अन्य भी बहुत से ओसवाल वहाँ जाकर रहने लगे, तो उनके धर्मोपदेश के लिए जैन यति भी वहाँ पहुँचने लगे। इनमें सर्वप्रथम पार्श्वचन्दगच्छीय **निहाल कवि** उल्लेखनीय है, जिनकी रचनाओ में 'बगाल की गजल', 'ब्रह्मबावनी' (स० १८०१ वि० = १७४४ ई०), 'मानकदेवी-रास,' 'जीवविचार भाषा,' और 'नवतत्व भाषा' (स० १८०६-७ वि० = १७४९-५० ई०) अधिक प्रसिद्ध है। इनमे से अधिकाश प्रकाशित है।

राजस्थान से खरतर गच्छ के **क्षमाकल्याण** और **ज्ञानसार** भी मकसुदाबाद गए और वही से इनकी हिन्दी रचनाओ का प्रारम्भ हुआ। इनमे से ज्ञानसार का परिचय ऊपर दिया जा चुका है। क्षमाकल्याण के नाम से 'जपभाषा', 'हितशिक्षा', 'द्वात्रिंशिका' और कुछ स्तवन आदि पद्य में और 'अम्बडचरित्र' हिन्दी गद्य मे मिलते है। राजस्थानी और सस्कृत में तो इनकी अनेक रचनाएँ मिलती है। इस शताब्दी के ये उल्लेखनीय ग्रन्थकारो मे से है।

तपागच्छ के कवि चेतनविजय का तो जन्म ही बगाल मे हुआ था। स० १८३० से १८५३ वि० (१७७३ से १७९७ ई०) तक की इनकी अनेक रचनाएँ मिलती है, जिनमे से 'लघुपिगल' छन्दशास्त्र का और 'आत्मप्रबोधनाममाला' कोश का ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त 'सीताचरित्र', 'जम्बूचरित्र' तथा 'पालरास' चरित्र-काव्य है।[1]

बगाल के राजगज में ओसवाल चडालिया आसकरण के लिए खरतरगच्छीय कवि तत्वकुमार ने 'रत्नपरीक्षा' नामक ग्रन्थ स० १८६५ वि० (१८०८ ई०) में बनाया। 'श्रीपाल-चरित्र' नाम का इनका एक अन्य ग्रन्थ भी छप चुका है।

रायचद

श्वेताम्बर जैन कवि रायचद भी हिन्दी के अच्छे कवि थे। 'कल्पसूत्र' का हिन्दी पद्यानुवाद स० १८३८ वि० (१७८१ ई०) में बनारस में और 'अवयवीशकुनावली' १८१७ वि० (१७६० ई०) मे नागपुर में रचा हुआ मिलता है। 'कल्पसूत्र' का पद्यानुवाद राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के पूर्वजो के लिए बनाया गया था और राजा साहब ने ही उसे 'कल्पभाषा' के नाम से प्रकाशित किया था।

दिगम्बर शाखा के हिन्दी कवि

१९वी शताब्दी में दिगम्बर कवि बहुत से हुए है जिनमें से कुछ कवियो का यहाँ सक्षेप मे उल्लेख कर दिया जाता है—

---

१ वितृत जानकारी के लिए देखिए—अजंता, जून १९५६ में दिगम्बर शाखा के हिन्दी कवि शीर्षक प्रस्तुत लेखक का निबध।

बुन्देलखण्ड के कवि **देवीदास** और **नवलसाह** उल्लेखनीय हैं। कवि देवीदास ओरछा स्टेट के दुगीडा गाँव के निवासी थे। इनके पूर्वज भदावर देश के केलगवाँ के निवासी थे। इनकी २३ लघु रचनाओ का सग्रह 'परमानन्द (यादव) विलास' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

कवि **नवलसाह** का 'वर्द्धमानकाव्य' (स० १८२५ वि० = १७६८ ई०) एक सुन्दर महाकाव्य है जो प्रकाशित भी हो चुका है। नवलसाह खटोला ग्राम के निवासी थे और गोलापूर्व जाति के देवराय के पुत्र थे। इस श्रेष्ठ कवि का कुछ परिचय 'हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन' में मिलता है।

राजस्थान के कवियो में **बखतराम** चाटसू के निवासी थे। इनके दो ग्रन्थ 'बुद्धिविलास' (स० १८२७ वि० = १७७० ई०) और 'मिथ्यात्वखण्डन' (स० १८२१ वि० = १७६४ ई०) प्राप्त हैं। 'बुद्धिविलास' में जयपुर के राजाओ का विवरण तथा जैन धर्म का इतिहास मिलता है। इस शताब्दी में जयपुर में लगभग २५ कवि और टीकाकार हुए हैं जिनमें से टोडरमल और जयचद का परिचय ऊपर दिया गया है। **ऋषभदास निगोतिया, मन्नालाल पाटनी, देवीदास गोधा, गुमानीराम भावसा, भाई रायमल्ल** और **टेकचद** आदि का परिचय 'वीरवाणी' के प्रथम वर्ष मे प्रकाशित हो चुका है। इसी पत्रिका के प्रथम अक में १७वी शताब्दी के प्रारम्भ से २०वी के उत्तरार्द्ध तक के ५० से अधिक जयपुरी कवियो की एक सूची उनके रचना-काल आदि के निर्देश सहित प्रकाशित हुई है।

अन्य प्रान्तो के दिगम्बर जैन कवियो मे से सभी का उल्लेख यहाँ विस्तार-भय से नही किया जा सकता, उनमें से केवल कुछ महत्वपूर्ण कवियो के नाम यहाँ दिए जा रहे हैं, जो निम्नलिखित हैं[2]—

भूधर मिश्र आगरे के निकटस्थ शाहगज निवासी ब्राह्मण थे। इन्होने 'पुरुषार्थसिद्धि' नामक जैन धर्म की पुस्तक की टीका स० १८७१ वि० (१८१४ ई०) में बनाई। 'चर्चासमाधान' नामक एक और ग्रन्थ भी इनके नाम से मिलता है।

भारमल फर्रुखाबाद निवासी खरोवा जाति के सिंघवी परसराम के पुत्र थे। इन्होने स० १८१३ वि० में भिण्ड नगर में 'चारुदत्तचरित्र' की रचना की। इनकी अन्य रचनाओ मे 'सप्तव्यसनचरित्र', 'दानकथा', 'शीलकथा' तथा 'रात्रिभोजनकथा' प्रसिद्ध हैं, जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हैं।

नथमल विलाला मूलत आगरे के निवासी थे, बाद में भरतपुर और हीरापुर में भी रहे, पिता का नाम शोभाचद था। इनकी रचनाओ में 'नागकुमार चरित्र' (स० १८१० वि० = १७५३ ई०), 'जीवनधर' (स० १८३५ वि० = १७७८ ई०), 'सिद्धानुसारदीपक' (भरतपुर में सुखराम की सहायता से रचित), 'भक्तामर भाषा' (हीरापुर में प० लालचद की सहायता से रचित, स० १८२४ वि० = १७६७ ई०), 'जम्बूचरित्र,' 'जिनगुणविलास' आदि ही प्राप्त हैं।

डालूराम माधवराजपुर निवासी अग्रवाल थे। इन्होने स० १८६३ वि० (१८०६ ई०)

---

१. विस्तार के लिए दे० अनेकात, वर्ष १, अक ७-८ में दिगम्बर जैन कवि।

२. अधिक जानकारी के लिए दे० कामताप्रसाद जैन का हिन्दी जैन साहित्य।

में 'गुरूपदेश श्रावकाचार', स० १८७१ वि० (१८१४ ई०) में 'सम्यक्तप्रकाश' और अनेक पूजा-ग्रन्थो की रचना की। इनका छद-कौशल विशेष रूप से उल्लेखनीय हे।

हीरालाल का 'चन्द्रप्रभचरित्र' सत्रह सन्धियो का काव्य है। इसकी वर्णन-शैली में प्रवाह है, अनुप्रासो की योजना भी उल्लेखनीय है। प्रेमीजी की सूची के अनुसार ये वडौत निवासी अग्रवाल थे। 'तत्वार्थसूत्र' और 'चौबीसी पूजापाठ' इनकी अन्य रचनाएँ है।

मनरगलाल का 'नेमिचन्द्रिका' नामक काव्य वहुत सुन्दर है। इसमे शान्त, वात्सल्य और करुण रस एव विप्रलम्भ शृगार का अच्छा परिपाक हुआ है। मानो की राग-भावनाओ का सुन्दर चित्रण है। इनके द्वारा रचित 'सप्तव्यसनचरित्र' तथा 'चौबीसी पूजापाठ' भी मिले है।

इनके अतिरिक्त **विनयाभक्त, शिवचन्द, हरकचन्द्र, दलपतराय** आदि अन्य अनेक कवि हुए है।

सदासुख

इस काल के विशिष्ट भाषाटीकाकार पडित सदासुख जयपुर निवासी कासलीवाल दूलीचद के पुत्र थे। डेढराज नामक किसी पूर्वज के नाम से इनका वश डेढा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका जन्म स० १८५२ वि० (१७९५ ई०) के लगभग हुआ, क्योकि स० १९२० वि० (१८६३ ई०) में रचित 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की टीका में इन्होने उस समय अपनी आयु ६८ वर्ष की वतलाई है। जिनवाणी और अध्यात्म के प्रति इनका बहुत अनुराग था। इनके कुटुम्बी जन बीसपथी और ये स्वय तेरहपथी थे। गुरु मन्नालाल और प्रगुरु जयचद छावडा के सद्विचारो का इन पर अच्छा प्रभाव पडा। इनकी प्रेरणा से पडित पन्नालाल सिघवी, नाथूलाल दोशी और पारसलाल निगोतिया सुयोग्य विद्वान वन गए। इनकी सहनशीलता और सन्तोष वृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजकीय सस्था से इन्हे ८-१० रुपया महीना वेतन मिलता था। इन्होने उतने में ही सतोष कर कभी वेतन-वृद्धि की इच्छा नही प्रकट की। ज्ञान-गोष्ठी और तत्व-चर्चा मे ही इनका समय वीतता। स० १९०६ से १९२१ वि० (१८४९ से १९६४ ई०) तक इन्होने सात महत्वपूर्ण ग्रन्थो की भाषाटीकाएँ वनाई। उनके नाम है—'भगवती आराधना' (स० १९०० वि०=१८४३ ई०), 'तत्वार्थसूत्र' (लघु सस्करण, स० १९१० वि०=१८५३ ई०, बृहत सस्करण, स० १०१४ वि० १८५७ ई०), 'नाटक समयसार', 'अकलक स्तोत्र', 'मृत्युमहोत्सव', 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' (स० १९२० वि०=१८६३ ई०) और 'नित्य नियम पूजा' (सस्कृत में)।

इनकी विद्वत्ता और सद्‌गणो की कीर्ति दूर-दूर तक पहुँची थी। आरा के **परमेष्ठी शाह अग्रवाल** ने 'अर्थप्रकाशिका' नामक तत्वार्थसूत्र की पाँच हजार श्लोको की भाषा टीका वनाई थी। उसे उन्होने सदासुखजी के पास सशोधनार्थ भेजा था। इन्होने योग्यतापूर्वक उसका सशोधन कर उसका आकार ११ हजार श्लोक परिमाण का बनाकर वापस कर दिया था।

वृद्धावस्था में इनके इकलौते पुत्र गणेशीलाल का २० वर्ष की आयु में अचानक स्वर्गवास हो गया। पुत्र-वियोग को भुलाने के लिए इनके शिष्य सेठ मूलचन्द सोनी इन्हें अजमेर ले गए और वहाँ जब इन्हें अपनी आयु के अवसान का भान होने लगा तो प्रधान शिष्य **पन्नालाल सिंघी**

को इन्होंने अन्तिम सदेश दिया कि पडित टोडरमल जयचद और मैंने जनता के सुबोध के लिए जो भापाटीकाएँ बनाई हैं उनका देश-देशान्तर में प्रचार करना, ताकि लोग जैन धर्म के बारे में कुछ समझ सकें। योग्य शिष्य ने गुरु की अन्तिम इच्छा पूरी की और स्वय भी 'राजवार्तिक' और 'उत्तरपुराण' आदि आठ ग्रन्थो की भापाटीकाएँ बनाईं और २७ हजार श्लोको का 'विद्वज्जनबोधक' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचा। ६४ वर्ष की परिपक्व आयु में पडित सुखदास ने भापाटीकाओ का निर्माण प्रारम्भ किया था। स० १९२३-२४ वि० (१८६६-६७ ई०) में अजमेर में इनका स्वर्गवास हुआ।

कविवर भागचद

ये ईसागढ (ग्वालियर) के निवासी थे और ओसवाल जाति के दिगम्बर जैन थे। 'ज्ञानसूर्योदय', 'उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला', 'अमित गति श्रावकाचार', 'प्रमाणपरीक्षा' और 'नेमिनाथ पुराण' की भाषाटीकाएँ तथा 'शिवविलास' नामक ग्रन्थ स० १९०६ से १९१३ वि० (१८४९-५६ ई०) के बीच इन्होंने लश्कर के जैन-मन्दिर मे बैठ कर रचे। अन्तिम जीवन में इन्हें आर्थिक कष्ट सहना पडा, अत प्रतापगढ के किसी उदार सज्जन ने दुकान करवाकर सहायता की। सम्भव है, वहीं इनका स्वर्गवास हुआ हो। इनके पद बहुत ही भावपूर्ण होते थे। उदाहरण के लिए एक पद नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

जब निज आतम अनुभव आवै, और कछू न सुहावै।
सब रस नीरस हो जाय ततच्छिन, अक्ष विपय नहिं भावै॥
गोष्ठीकथा कौतूहल विघटै, पुद्गल प्रीति नसावै।
राग द्वेप द्वय चपल पक्षयुत, मन पक्षी मर जावै॥
ज्ञानानन्द सुधारस उमगै, घट अन्तर न समावै।
भागचन्द ऐसे अनुभव के, हाथ जोरि सिर नावै॥१॥

ज्ञानानंद और चिदानद

ये दोनो बनारस के खरतरगच्छीय यति थे। इनके गुरु का नाम चारित्रनन्दी था। ज्ञानानन्द (रचना-काल स० १९०५-१९१० वि० - १८४८-१८५३ ई०) के दो पद-सग्रह 'ज्ञानविलास' और 'सजम तरग' नाम से मिलते हैं। 'ज्ञानविलास' मे ८८ पद हैं। इसका दूसरा नाम 'ज्ञानविनोद' भी मिलता है। 'सजमतरग' में ३७ पदो का सग्रह है। एक पद नीचे दिया जा रहा है—

अवधू, सूता क्या इस मठ में ॥ टेक ॥
इस मठ का है कवन भरोसा, पड जावै चटपट मे॥
छिन में ताता, छिन में शीतल, रोग शोक बहु घट में॥
पानी किनारे मठ का वासा, कवन विश्वास ये तट में॥
सूता सूता काल गमायो, अजहूँ न जाग्यो तू घट में॥
घरटी फेरी आटो खायो, खरची न बाँधी वट में॥
इतनी सुनि निधि चरित मिलकर, ज्ञानानन्द आए घट मे॥

ज्ञानानन्द के गुरुभाई कपूरचन्द, जिन्होंने अपनी रचनाओं में अनुभव-प्रधान नाम **चिदानन्द** दिया है, बहुत उच्च कोटि के योगी थे। गिरनार आदि की गुफाओं में ये ध्यान और योग की साधना करते थे और कई सिद्धियाँ भी इन्हें प्राप्त थी। इनकी रचनाएँ भी १९०५ से १९१० वि० (१८४८-५३ ई०) के बीच की मिलती हैं। इन्हें स्वरोदय का अच्छा अभ्यास था, जिसका परिचय स० १९०६ वि० (१८४९ ई०) में रचित ४५३ पद्यों के इनके 'स्वरोदय' ग्रन्थ से मिलता है। दूसरी रचना 'पुद्गलगीता' १०८ पद्यों की है जिसमे पुद्गल के खेल का सुन्दर और वास्तविक वर्णन हुआ है। 'बावनी' नामक कृति में अध्यात्म विषयक बावन सवैये हैं। 'दयाछत्तीसी' स० १९०६ वि० (१८४९ ई०) में भावनगर में बनाई गई, जिसमे दया का स्वरूप बतलाया गया है। पाँचवी पुस्तक 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' की रचना भी उसी वर्ष वही पर हुई। इस छोटी सी रचना मे ११४ प्रश्न उपस्थित कर उनका बहुत ही सारगर्भित उत्तर दिया गया है। 'अध्यात्मबावनी' और फुटकर दोहों के अतिरिक्त इनके ७२ पदो का सग्रह 'बहोत्तरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने गम्भीर आध्यात्मिक विषयो को बहुत ही सरलता से दृष्टान्तो के साथ व्यक्त किया है। नमूने के लिए एक पद यहाँ दिया जा रहा है—

आतम परमातम पद पावै, जो परमातम सू लय लावै॥ टेक ॥
सुणके शब्द कीट भृगी को, निज तन मन की सुधि विसरावै।
देखहु प्रगट ध्यान की महिमा, सोई कीट भृगी हो जावै॥१॥
कुसुम सग तिल तेल देख पुनि, होय सुगध फुलेल कहावै।
सुक्ति गर्भगत स्वाति उदक होय, मुकताफल अति दाम धरावै॥२॥
पुन पिचुमद पलाशादिक में, चदनता ज्यु सुगध थी आवै।
गगा में जल आण आण के, गगोदक की महिमा भावै॥३॥
पारस को परसग पाय पुनि, लोहा कनक स्वरूप लिखावै।
ध्याता ध्यान धरत चित्त में इमि, ध्येय रूप में जाय समावै॥४॥
भज समता ममता कू तज जन, शुद्ध स्वरूप थी प्रेम लगावै।
चिदानन्द चित प्रेम मगन भया, दुविधा भाव सकल मिट जावै॥५॥

आनन्दघन के पश्चात श्वेताम्बर जैन योगियो में इन्ही का नाम लिया जाता है। आनन्दघन के पद गूढ व मार्मिक होने से सहज सुबोध नही है, चिदानन्द के पद सरल और दृष्टान्तयुक्त होने से सुबोध हैं।

अन्य कवि

स्थानकवासी समाज में भी इस समय पजाब में **ऋषि नन्दलाल** और राजस्थान मे **विनयचद कुम्भट** हो गए है। इनमे विनयचद कुम्भट के २४ तीर्थंकरो के 'स्तवनों' का स्थानकवासी समाज मे बहुत प्रचार हैं। ऋषि नन्दलाल ने कपूरथला में स० १९०३ वि० (१८४६ ई०) में 'लब्धिप्रकाश चौपाई' और १९०६ वि० (१८४९ ई०) में वही 'ज्ञानप्रकाश' की रचना की। **कवि छत्रपति** के भी कुछ ग्रन्थ मिलते है, जिनमें 'द्वादशानुपेक्षा' का रचना काल स० १८०७ वि० (१७५० ई०) है। इनके अन्य ग्रन्थो में 'ब्रह्मगुलालचरित्र' स० १९०९ वि० (१८५२ ई०) में,

'नयोदकपचाशिका' स० १९१३ वि० (१८५६ ई०) मे और 'उद्यमप्रकाश' स० १९२२ वि० (१८६५ ई०) में रचा गया।

आरा के प० **परमेष्ठीसहाय** ने 'अर्थप्रकाश' की टीका प० जगमोहनदास के लिए वनाई जिसका सशोधन पडित सदासुख द्वारा किए जाने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प० **जगमोहन दास** भी एक अच्छे कवि थे जिनकी कविताओ का सग्रह 'धर्मरतनउद्योत' प्रकाशित हो चुका है। प्रेमीजी ने **नन्दराम** रचित 'योगसारवचनिका' (स० १९०४ वि०=१८४७ ई०), 'यशोवरचरित्र' और 'त्रैलोक्यसार पूजा' का उल्लेख किया है। कई अन्य कवि तथा टीकाकार और लेखक इस समय के आसपास हुए हैं जिनकी रचनाएँ कुछ वाद की मिलती है।

उपसहार

अन्त में हिन्दी जैन साहित्य की कुछ विशेपताएँ वतलाते हुए इस अध्याय को समाप्त किया जाता है। प्रथमत हिन्दी भाषा की जननी अपभ्रश में जैन साहित्य आठवी शताव्दी से निरतर और प्रचुर परिमाण मे रचा हुआ मिलता है और इसके वाद जव से हिन्दी का पृथक विकास होकर स्वतत्र भाषा के रूप में उसे प्रतिष्ठा मिली तव से जैन विद्वानो ने हिन्दी मे भी वरावर रचनाएँ की है। इसलिए हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के अध्ययन मे हिन्दी जैन साहित्य की उपयोगिता महत्वपूर्ण है। छन्द, रचना-शैली, काव्य-शिल्प तथा अन्य साहित्यिक मान्यताएँ जो हिन्दी को प्राप्त हुईं उनकी परम्परा को स्पष्ट करने वाले अनेक सूत्र जैन भाषा-साहित्य में मिल सकते है।

हिन्दी जैन साहित्य की दूसरी विशेपता यह है कि उसमे चरित-काव्यो की अधिकता है। ये चरित-काव्य धर्म, नीति और आध्यात्मिक प्रेरणा से ओतप्रोत है, अत जनता के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने में इनका वहुत वडा हाथ रहा है। वहुत सी लोक-कथाओ और पौराणिक कथाओ को भी जैन विद्वानो ने अपने ढाँचे मे ढाल लिया, अत वे सुरक्षित रह गईं। इन कथाओ द्वारा जनसाधारण को वहुत वडी प्रेरणा मिली।

हिन्दी जैन साहित्य में गद्य साहित्य की प्रचुरता भी उल्लेखनीय है। टीकाओ और अनुवादो के रूप में तो वहुत वडे वडे ग्रन्थ गद्य में लिखे गए, साथ ही गद्य के कुछ मौलिक ग्रन्थ भी सत्रहवी शताव्दी से लिखे जाते रहे है। उनसे हिन्दी के प्राचीन गद्य की वहुत कुछ कमी की पूर्ति होती है। ये गद्य ग्रन्थ अनेक स्थानो मे लिखे गए है और जन-साधारण के लिए सरल भाषा में लिखे होने से स्थानीय गद्य की विशेपताओ का भी इनसे अच्छा परिचय मिलता है, विशेपत ढूंढारी राजस्थानी के अनेक शव्दो का प्रयोग उल्लेखनीय है।

शात रस की अखण्ड धारा जैन साहित्य मे जिस प्रकार वही है, अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। आध्यात्मिक भक्ति एव वैराग्य की प्रेरणा का स्रोत वहुत ही उत्तम रीति से प्रवाहित हुआ है, जिससे जनता का वहुत वडा कल्याण हुआ। विलास की ओर से उसे हटा कर धर्माभिमुख किया गया। कई साहित्य-रूपो को अधिक अपनाने एव प्रचारित करने का श्रेय हिन्दी जैन कवियो को है। नगर वर्णनात्मक गजलसज्ञक रचनाएँ सत्रहवी शताव्दी मे उन्नीसवी शताव्दी तक पचासो हिन्दी जैन कवियो की मिलती है। इनमे भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सामग्री भरी पडी

है। वर्णन बहुत सजीव हैं। इसी प्रकार 'द्वावैत' सज्ञक रचनाएँ भी वर्णनात्मक तुकान्त गद्य की महत्वपूर्ण कृतियाँ है। १८-१९वी शताब्दी की ऐसी छ-सात रचनाएँ मिली है जिनका परिचय प्रस्तुत लेखक ने 'भारतीय साहित्य', अक ३ मे दिया है।

कुछ विद्वानो की धारणा थी कि हिन्दी जैन कवियो ने केवल जैन धर्म सबधी रचनाएँ की है, पर उपलब्ध रचनाओ से यह धारणा गलत सिद्ध हुई है। जैन विद्वानो के अनेक छन्द-ग्रन्थ तथा कोप, अलकार और शृगार सबधी ग्रन्थ भी है। यही नही, वैद्यक, ज्योतिप, गणित, शकुन, सामुद्रिक, स्वरोदय, वर्षा विज्ञान, नीति, ऐतिहासिक काव्य, वावनी आदि औप-देशिक और सुभाषित साहित्य, प्रहेलिकाएँ, वारहमासे, लोक-कथाएँ आदि सभी विपयो का सर्वजनोपयोगी साहित्य जैनियो ने रचा। कई कवियो ने तो जैन धर्म सबधी कोई रचना ही नही की। जटमल नाहर, उत्तमचद भडारी, उदयचद भडारी, मानकविजय आदि ऐसे ही कवि है।

कविवर बनारसीदास की 'आत्मकथा' और ज्ञानसार रचित 'चद चौपाई समालोचना' आदि ग्रन्थ तो सारे हिन्दी साहित्य में अपने ढग के एक ही है। हिन्दी जैन साहित्य का परिमाण भी बहुत विशाल है और साथ ही विविधता भी उल्लेखनीय है। सैकडो कवियो की छोटी-मोटी हजारो हिन्दी जैन रचनाएँ गद्य और पद्य मे प्रत्येक विषय और शैली की मिलती है।

साहित्य-निर्माण करने के साथ-साथ जैन विद्वानो ने प्रसिद्ध हिन्दी ग्रन्थो की सस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी भाषाओ में टीकाएँ रच कर उन जैनेतर ग्रन्थो के प्रचार मे भी योग दिया है। हजारो जैनेतर हिन्दी ग्रन्थो की प्राचीन, शुद्ध एव सुन्दर प्रतियाँ जैन विद्वानो ने लिख कर अपने भडारो मे सग्रह की। इसी तरह अन्य लेखको के हिन्दी जैन साहित्य का सग्रह एव सरक्षण करके उन्होने बडी सेवा की है।

अहिन्दी प्रदेशो में हिन्दी का प्रचार करने में भी जैन विद्वानो की सेवा उल्लेखनीय है। कच्छ मे व्रजभाषा की शिक्षा के लिए जैन यति भट्टारक कनककुशल, और कुँवरकुशल ने राव लखपत से विद्यालय चालू करवाया। इसके द्वारा राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के सैकडो विद्यार्थियो ने हिन्दी भाषा तथा छन्द, अलकार आदि की शिक्षा प्राप्त की। यह प्रयत्न अहिन्दी प्रदेशो मे हिन्दी प्रचार के लिए वरदानरूप सिद्ध हुआ।

सैकडो हिन्दी जैन कवियो में सभी उच्च कोटि के नही हो सकते और उनकी ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य विद्वत्ता का प्रदर्शन नही था। पर जिस प्रकार जन-हितकारी होने के नाते सत साहित्य को महत्व दिया जाता है उसी प्रकार जैन सतो एव कवियो को भी समुचित स्थान मिलना चाहिए। उनकी रचनाओ का समान भाव से अध्ययन कर मूल्याकन किया जाना चाहिए। हिन्दी का इससे हित ही होगा।

सहायक ग्रन्थ

१ दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली, प्र० वाबू ज्ञानचद जैन, लाहौर, सन १९०१ ई०
२ दिगम्बर जैन कर्ता व उनके ग्रन्थ, प्र० नाथूराम प्रेमी, बबई, सन १९११ ई०
३ हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, नाथूराम प्रेमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए, १९२७ ई०।

४ जैन गुर्जर कविओ (३ भाग), मोहनलाल वलीचद देसाई ।
५ हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास, कामताप्रसाद जैन, प्र० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९४६ ई०।
६ हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन (२ भाग), नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र० वही।
७ कविवर भूधरदास और जैन शतक, शिखरचद जैन, इदौर, १९३७ ई०।
८ जैन कवियो का इतिहास, मूलचद वत्सल, जैन साहित्य सम्मेलन, दमोह, स० १९४४ वि०।
९ अध्यात्म पदावली, प्रो० राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५४ ई०।

पत्र-पत्रिकाएँ

१ अनेकात ।
२ वीरवाणी, ।
३ जैन सिद्धान्त भास्कर ।
४. ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।
५ सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
६ हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

(विशेपतया पडित परमानन्द जैन, कस्तूरचद कासलीवाल, नाथूराम प्रेमी तथा प्रस्तुत लेखक द्वारा लिखे हुए निवन्ध)

१३. राजस्थानी साहित्य

विक्रम की प्रारभिक शताब्दियो से देश की राज्य-व्यवस्था मे परिवर्तन होने लगा, जो आठवी और नवी शताब्दियो के बीच अत्यधिक भयकर होकर लोक-जीवन को सकटपूर्ण वना देता है। सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो में भी यह परिवर्तन एक नई स्थिति उत्पन्न कर देता ह। दसवी और वारहवी शताब्दियाँ तो इस दृष्टि से और भी विपम रही है। राजनीतिक सत्ताओ की उलट-पलट, ध्वस और नाश से लोक-जीवन की अरक्षा, प्राण और परिवार की रक्षा के लिए भाग-दौड, अवलाओ का सतीत्व-हरण और धर्म-सकट आदि इस युग की वे रोमाचकारी परिस्थितियाँ है, जिन्होने राजस्थान मे एक ऐसे नए साहित्यक युग का सूत्रपात किया, जो रक्तमय तलवारो के बीच विकसित हुआ।

अन्तिम अपभ्रश से एक नव-विकसित भाषा में रचित युद्ध और प्रेम के गीत कही साहित्य की निधि वन रहे थे, तो कही धर्म और नीति के उपदेश जीवन में सामाजिक परम्पराएँ स्थापित कर रहे थे। उत्तर-पश्चिम से आक्रान्ता के रूप में आए हुए यवनो के प्रभुत्व की वृद्धि और देशी राजाओ का गृहयुद्ध में अपनी छोटी-वडी शक्तियो का नाश एक इतिहासिक स्थापना हो चुकी थी। इन युद्धो का क्षेत्र प्रधान रूप से दिल्ली-कन्नौज से लेकर मालवा, गुजरात और राजस्थान की वीर-भूमियो तक विस्तृत था। इसी क्षेत्र में पश्चिमी अपभ्रश और उसके साहित्य का विकास हुआ, जिसकी महानता का महत्व प्रदर्शित करते हुए राजशेखर ने 'पश्चिमेनापभ्रशिनकबय' कहा है, इसी अपभ्रश के अन्तिम युग की परिवर्तित भाषा और उसके साहित्य में राजस्थानी भाषा और उसके अकुर पैदा हुए।

पश्चिम अपभ्रश के लोक-व्यवहार से दूर पड जाने के पश्चात उससे जिस भाषा का विकास हुआ वह विक्रम की चौदहवी-पद्रहवी शताब्दी तक इस पूरे क्षेत्र की भाषा रही है। इतना ही नही, इस भाषा का प्रयोग कवि राजशेखर द्वारा उल्लिखित मध्यदेश के पूर्वी विन्दु काशी तक पारस्परिक व्यवहार तथा साहित्य के लिए होता था, इसी भाषा का प्रयोग कवीर ने अपनी साखियो में दूहा परम्परा को लेकर किया। इसी भाषा को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सघुक्कडी' नाम दिया है। राजस्थानी, पुरानी हिन्दी[1] आदि नाम उसी एक देश-भाषा के अन्तर्गत सीमित स्थानीय रूपो के नाम है। राजस्थानी, गुजराती, मालवी, मध्यदेशी आदि बोलियो की ये स्थानगत विशे-

---

१. दे० पुरानी हिन्दी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अक १।

पताएँ विक्रम की नवी शताब्दी के आरभ में ही प्रकट होने लग गई थी[1] परन्तु उनमें उस समय तक इतनी शक्ति नही आई थी कि उनमें कोई स्वतत्र रूप से साहित्य-रचना हो। इन स्वतत्र रूपो के विकास के लिए ५०० वर्षों की आवश्यकता थी। इसी बीच परवर्ती अपभ्रश का साहित्य में प्रयोग होता रहा। उसके साथ ही नव-विकसित भाषा में भी रचनाएँ होती रही, कही स्वतत्र रूप में, तो कही मिश्रित रूप में।[2] यही कारण है कि इस परवर्ती काल में भाषा के रूपो में विविधता देख पडती है। इसी विविधता ने आगे चलकर स्वतत्र रूप में विकास कर विविध प्रान्तीय भाषाओ को जन्म दिया। विक्रम की आठवी, नवी और दसवी शताब्दियो में अपभ्रश अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर लेती है, उसमें भाषा के जिन नए रूपो का विकास होता है वे धीरे धीरे प्रवल होकर अपनी पूर्ववर्ती भाषा से सर्वथा भिन्न हो जाते है और एक नई देश-भाषा को जन्म देते है। यह नई देशभाषा अन्तर्वेद, दक्षिणी पजाव, टक्क, मादानक, मरु, राजस्थान, त्रवण, अवन्ति, पारियात्र, दशपुर, सुराष्ट्र आदि के विस्तृत क्षेत्रो में विकसित होकर साहित्य में प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार इस देशभाषा का रूप गोरख के समय (नवी शताब्दी वि०) से लेकर मुज और भोज के समय तक (ग्यारहवी शताब्दी वि०) के प्राप्त लोक-साहित्य

---

१ अ. णय-णीति-सधि-विग्गहपडुए वहुजपिरे य पयतीए।
तेरे मेरे आउत्ति जपिरे मज्झदेसे य॥
इ. कविरे पिगलणयणे भोजणकहमेतद्दिवणणवावारे।
कित्तो किम्मो जिअ जपिरे य अह अतवेते य॥
उ दक्खिण दाण पोरुस विण्णा ण दयाविवज्जियसरीरे।
एहं तेहं चवते टक्के उण पेच्छय कुमारो॥
ए सललित-मिदु-मदपए गधव्वपिए सदेसगयचित्ते।
चउडयमे भणिरे सुहए अह सेन्धवे दिट्ठे॥
क वके जडे य जड्डे वहुभोइ कठिण-पीण-थूणगे।
अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मरुए तत्तो॥
ख. घय लालियपुट्ठगे धम्मपरे सधि-विग्गह निउणे।
णउ रे भल्लउ भणिरे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे॥
ग ण्हाउलित्त-विलित्ते कयसीमते सुसोहियसुगत्ते।
आहम्ह काइं तुम्ह मित्तु भणिरे अह पेच्छए लाडे॥
घ तणु-साम-मडहदेहे कोवणए माण-जीविणो रोद्दे।
भाउअ भइणी तुम्हे भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥

२. वेट्टा वेट्टी परिणाविज्जर्जाहि, तेवि समाणधम्म घरि दिज्जर्हि।
विसमधम्म-घरि जइ विवाइह, तो सम्मत्तु सु निच्छइ वाहइ॥६३॥
पोडइ घणि ससारियकज्जइ, साइज्जइ सव्वइ सावजज्जइ।
विहिधम्मत्थि अत्यु विविज्जइ, जेण सु मप्पु निव्वुइ निज्जइ॥६४॥
—जिनदत्त सूरिकृत 'उपदेशरसायनसार'।

मे दूहा छन्दो में देख पडता है जिसका सकलन वि० स० १३६१ (सन १३०४ ई०) में मेरुतुग की 'प्रवन्वचिन्तामणि' तथा अन्य रचनाओ मे मिलता है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य के बीज इसी दूहा साहित्य में प्राप्त होते हैं। राजस्थानी भाषा का व्यवस्थित रूप और राजस्थानी साहित्य की व्यवस्थित परम्परा का सूत्रपात इसी दूहा छद में देख पडता है। दूहा छद की इसी नई प्रणाली में युद्ध की परिस्थितियो से जागरि, वीर रस की भावनाओ का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। वीर-पूजा की भावनाओ ने इस साहित्य को गेय रूप भी प्रदान किया जिससे वीर गीतो की परपरा आरभ हुई। इस प्रकार नई भाषा और नए विषय को लेकर जिस नए साहित्य का इस युद्धकालीन युग में निर्माण हुआ, वही हिन्दी साहित्य में 'आदिकाल' अथवा 'वीरगाथा काल' के नाम से प्रसिद्ध है। वीरगाथा काल की युद्ध-जनित परिस्थितियो में परिवर्तन होकर जब धर्म और भक्ति की भावनाएँ सामाजिक परिस्थितियो को प्रभावित करने लगी और उससे प्रेरित भक्ति-साहित्य का निर्माण होने लगा तो साहित्य का केन्द्र राजस्थान से हटकर ब्रज प्रदेश हुआ और वही की भाषा व्रजभाषा सारे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई। राजस्थान भी इस प्रभाव से न वचा। उसकी भाषा पर भी व्रजभाषा का प्रभाव पडा जिससे आगे चलकर डिगल और पिंगल शैलियो का विकास हुआ। भक्ति-साहित्य के निर्माण में भी राजस्थान ने अपना अपूर्व योग दिया। भक्ति-साहित्य की चरम सीमा आने पर जब उसी साहित्य से रीति साहित्य का विकास हुआ तो राजस्थान भी पुन रीतिग्रन्थो के निर्माण में लग गया। यहाँ तक कि रीति काल की कई महत्वपूर्ण रचनाएँ राजस्थान में ही सम्पन्न हुईं।

नए नए विषयो को लेकर साहित्य के जिन नए रूपो का विकास हुआ उनका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है —

गद्य

राजस्थानी साहित्य की विशेषता यह है कि जहाँ हिन्दी साहित्य में गद्य का प्राचीन रूप नही के वरावर है, वहाँ राजस्थानी में गद्य साहित्य मध्यकाल से ही पूर्ण विकसित रूप में मिलता है। इस गद्य का कब आरभ हुआ होगा, यह निश्चित रूप से कहने को अभी कोई प्रमाण हमारे पास नही है, पर यह तो स्पष्ट है कि राजस्थानी साहित्यकारो में 'वात', 'व्रार्ता', या 'कहानी' तथा 'ख्यात' लिखने की प्रवृत्ति वहुत प्राचीन है। उपलब्ध साहित्य इस बात का द्योतक है कि वात गद्य और पद्य दोनो में साथ साथ लिखी जाने लगी थी। राजस्थानी का व्यवस्थित रूप में विकसित गद्य-साहित्य वि० स० १५०० (सन १५५७ ई०) से पूर्व का नही मिलता। प्राप्त गद्य ख्यात, वात, ख्याल आदि के रूप में मिलता है। इसमें ख्याल तो वहुत पीछे का है, जो नाटक का पूर्वरूप कहा जा सकता है। ख्यात-साहित्य विशेष कर इतिहासिक सूचनाओ से सम्वन्ध रखता है। केवल वात-साहित्य ऐसा है जो साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है। यह साहित्य विपय की दृष्टि से मोटे रूप में निम्नलिखित भागो में बाँटा जा सकता है —

१ इतिहासिक तथा अर्धइतिहासिक घटनाएँ,

२ इतिहासिक, अर्धइतिहासिक, धार्मिक, काल्पनिक तथा अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियो की दिनचर्या से सवधित वातें,

३ पौराणिक तथा प्राचीन उपदेशात्मक शिक्षात्मक तथा हितोपदेश, और राजनीति से सम्वन्वित कहानियाँ,

४ शृगार, प्रेम तथा अन्य प्रकार के मनोरजक और आदर्शस्थापक आख्यान तथा प्रमग,

५ धार्मिक पर्व, यात्रा, उत्सव और त्यौहार आदि की कथाएँ,

६ विविध प्रकार की काल्पनिक कथावस्तु,

७ प्रचलित लोकोक्तियो, ओखाणो आदि से सवद्ध छोटे वडे कथानक ।

इनमें इतिहासिक वातो में 'हमीर हठीले री वात', महत्वपूर्ण व्यक्तियो की दिनचर्या आदि मे 'अचलदासखीची उमादे साव्तीपरणीयो तेरी वात', 'राजा सालवाहणा री वात', 'पोपावाई री वात', पौराणिक वातो में 'अपछरानू इद्र सराप दीन्हौं तेरी वात', शृगार और प्रेम सवधी वातो में 'ढोलामारू री वात', 'सतवती री वात', 'चद्रकँवर री वात,' धार्मिक पर्व, उत्सव आदि में 'दीवाली री वात', काल्पनिक कथावस्तु में 'मारेडी हार गिलियो तेरी वात', 'काणे रजपूत री वात', प्रचलित लोकोक्तियो तथा ओखाणो से सवद्ध 'ओखाणे री वात', 'तात वाजी अर वात यूझी तेरी वात' आदि उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है।[1]

वात के समान ही इस प्रकार के साहित्य का दूसरा रूप वचनिका है। इसका उदाहरण षिडियो जग्गो कृत 'महाराज रत्नसिंह जी री वचनिका' (वि० स०१०१५=९५८ ई०) है।[2]

शुद्ध पद्य साहित्य में प्रेमकाव्य, वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य, कथाकाव्य, चरितकाव्य, प्रकृति या ऋतुवर्णन, नाममाला या कोशग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

पद्य

प्रेमकाव्य प्रेम के छोटे वडे प्रसगो को लेकर प्रवन्ध के रूप में ऐसे काव्यो की रचनाएँ इसमे सम्मिलित की जा सकती है जिसमें सयोग और वियोग की उच्च कोटि की भावनाओ की व्यजना की गई है। ऐसे काव्यो में 'ढोलामारू' काव्य तो इतना लोकप्रिय हुआ है कि इस कथा को लेकर कई कवियो ने रचनाएँ कर डाली। दूसरा लोकप्रिय काव्य पृथ्वीराज राठौड कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' है। उच्च कोटि की शृगारप्रधान रचनाओ मे चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती री चउपई' के कई सस्करण मिलते है।

वीरकाव्य इन रचनाओ में राजा-महाराजाओ के वीर चरित तथा अन्य प्रकार की दिनचर्याए आती है जिनमें विशेपकर युद्ध और प्रेम-विलास का वर्णन रहता है। ये रचनाएँ गीतो और दूहो में, फुटकर रूप में तथा रास, रासो और रूपक आदि प्रवन्ध रूप मे मिलती है। भाषा-शैली, प्रवन्ध-शैली और छन्द-रचना में राजस्थानी साहित्य की मौलिकता इन ग्रन्थो में स्पष्ट लक्षित होती है। इन रचनाओ का विकास प्राकृत के रास, रासक, रूपक आदि गेय तथा अभिनय-

---

१ वातो के अन्य विषयो के लिए देखिए प्रस्तुत लेखक का राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, भाग ३, पृ० २०३, २०६।

२ देखिए वही, पृष्ठ १०४।

पूर्ण दृश्य काव्यो से श्रव्य काव्य के रूप मे हुआ।[1] इन रचनाओ के उदाहरण के लिए 'भरतेश्वर वाहुवलि रास', 'खुमाणरासो', 'पृथ्वीराजरासो' आदि प्रस्तुत किए जा सकते हैं। छोटी वीर-रसात्मक रचनाएँ छद के नाम से भी मिलती है, जैसे 'छन्द राउ जइतसी रउ'। अन्य छोटी रचनाएं जिस छद में लिखी गई हैं उसी के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे 'नीसाणी' छद में रचित 'नीसाणी आगम री', 'नीसाणी वरभाण री' आदि।

भक्तिकाव्य निर्गुण और सगुण भावनाओ की उत्तम कोटि की अभिव्यक्ति भक्तिकाव्य में दिखाई देती है। राजस्थान का सन्त साहित्य राजस्थान में होने वाले सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनो का द्योतक है। साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से यह साहित्य वहुत ही महत्वपूर्ण है। राम-भक्ति की अपेक्षा कृष्ण-भक्ति का साहित्य राजस्थान में विशेष मिलता है। निर्गुण उपासना को लेकर भी यहाँ कई पथो का विकास हो गया था, जिनके साहित्य में धर्म और दर्शन के साथ साथ ही काव्य-लालित्य तथा कला का भी समावेश है। इन पथो मे दादू पथ, चरणदासी पथ, रामसनेही पथ, लालदासी पथ अत्यधिक प्रसिद्ध है। भक्तिकाव्यो में ऐसे काव्यो का भी समावेश है जो पुराणो और महाभारत की कथाओ को लेकर लिखे गए हैं। इनमे भाषा-सौन्दर्य, प्रवन्ध-पटुता, वर्णन-चमत्कार, भाव-लालित्य आदि काव्योचित गुणो का सुन्दर योग देख पडता है। नरहरिदास कृत 'अवतारचरित' इस दृष्टि से वहुत लोकप्रिय है।

नीतिकाव्य 'हितोपदेश', 'नीतिशतक', 'उपदेशरसायनसार' आदि अनेक रचनाओ की परम्परा पर समय और परिस्थिति के अनुकूल जीवन-व्यवहार के लिए प्रणीत रचनाएँ इस कोटि में आती हैं। उदाहरण के लिए वृन्द कृत 'दृष्टान्तसतसई' अथवा 'वृन्दसतसई' वहुत ही लोकप्रिय रचना है।

कथाकाव्य इतिहास तथा काल्पनिक कथाओ को लेकर छोटे वडे प्रवन्ध काव्य इस कोटि में सम्मिलित किए जा सकते है। इनमें विशेष कर नायक अथवा नायिकाओ के किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आने वाले सघर्ष का मार्मिक चित्रण मिलता है। जान कवि की अनेक रचनाएँ इस कोटि मे सम्मिलित की जा सकती हैं।

चरितकाव्य जैन साहित्य की अनेक रचनाएँ इस कोटि में आ जाती हैं, जो जैन महात्माओ तथा अन्य पौराणिक अथवा काल्पनिक चरितो को लेकर रची गई हैं। ये धार्मिक सिद्धान्तो से सर्वथा मुक्त हैं और शुद्ध सामाजिक चरित्रो और परिस्थितियो का चित्रण करती हैं। भाषा और साहित्य की दृष्टि से ये जैन जीवन-चरित राजस्थानी साहित्य में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

प्रकृति-वर्णन या ऋतु-वर्णन शृगार तथा प्रेम काव्यो में ऋतु-वर्णन की प्रधानता देखी जाती है, पर राजस्थानी साहित्य में ऐसी रचनाओ का 'वारहमासा', 'फागु', 'चर्चरि' आदि के रूप मे विकास हुआ है, फागु रचनाएँ जैन साहित्य की अपनी विशेषता हैं। जैन फागुओ

---

१ देखिए हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८, अक ४, पृ० १६८-१७४, प्रस्तुत लेखक का रासो की परम्परा शीर्षक लेख।

का विकास वि० स० १३०० (सन १२४३ ई०) से ही देख पडता है। इन फागुओ मे विक्रम की सत्रहवी शताव्दी में रचित मालदेव का 'स्थूलिभद्रफागु' उल्लेखनीय है।[1]

स्थान वर्णन विविध नगरो की विशेषता का वर्णन इस प्रकार के साहित्य मे मिलता है। यह साहित्य 'गजल' कहलाता है। गजल साहित्य का विकास विक्रम की सत्रहवी शताव्दी मे देख पडता है। इस साहित्य में 'चित्तौड गजल', 'उदयपुर गजल', 'जोधपुर गजल' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

कोश तथा नाममाला हेमचन्द्र द्वारा रचित 'देशीनाममाला' के अनुकरण पर रचित ग्रन्थ इस कोटि के साहित्य में सम्मिलित किए जा सकते हैं। यह परम्परा भी सत्रहवी शताव्दी से ही विकसित हुई मालूम होती है, उदाहरणार्थ महासिंह द्वारा रचित 'अनेकार्थ नाममाला' (वि० स० १७६० = सन १७०३ ई०), विनयसागर द्वारा रचित 'अनेकार्थ नाममाला' (वि० स० ७१०२ = सन १६४५ ई०), कविराज मुरारीदान कृत 'डिंगलकोश' उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार राजस्थानी साहित्य के वि० स० ७०० से लेकर १९०० (सन ६४३ से १९४३ ई०) के इतिहास को प्राप्त सामग्री के आधार पर मोटे रूप मे पाँच भागो मे विभाजित किया जा सकता है —

१ प्रथम उत्थान या सूत्रपात युग वि० स० ७००-१००० (सन ६४३-९४३ ई०),
२ द्वितीय उत्थान या नव विकास युग वि० स० १००० से १२०० (सन ९४३-११४३ ई०),
३ तृतीय उत्थान या वीरगाथा युग वि० स० १२०० से १५०० (मन ११४३-१४४३ ई०),
४ चतुर्थ उत्थान या भक्ति युग वि० स० १५०० से १७०० (सन १४४३-१६४३ ई०),
५. पचम उत्थान या रीति युग वि० स० १७०० से १९०० (सन १६४३-१८४३ ई०)।

प्रथम उत्थान या सूत्रपात युग (वि० सं० ७०० से १००० = सन ६४३-९४३ ई०)

यह समय राजस्थानी साहित्य के लिए सूत्रपात का युग कहा जा सकता है। इस काल मे नवीन भापा और उसके साहित्य की नवीन प्रवृत्तियो का सूत्रपात होकर उनसे एक नवीन रूप निखर आया। फिर भी भापा और साहित्य की दृष्टि से यह रूप ऐसा था जो किसी सीमा तक अपभ्रशमिश्रित ही था और उसको एकदेशीय नही कहा जा सकता, अर्थात इस नवविकसित रूप को न तो केवल गुजराती ही कहा जा सकता है और न केवल राजस्थानी ही। इसी प्रकार उसको न केवल मालवी ही कहा जा सकता है और न केवल मध्यदेशी ही। अत उसको पश्चिमी हिन्दी ही कहना उपयुक्त होगा। इसी पश्चिमी रूप की प्रान्तीय विशेपताओ के विकसित होने पर इन भिन्न-भिन्न भापाओ का विकास हुआ। इस काल ये यह भापा गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्यदेश आदि के सम्पूर्ण भू-भागो में वोली जाती थी। दिल्ली, मथुरा, आगरा (रायमा), अजमेर, मारवाड, जैसलमेर (वल्ल), चित्तौड, अन्हिलवाड, पाटन, वार, उज्जैन, कन्नौज आदि स्थान इसके

---

१. अन्य रचनाओ के लिए देखिए प्राचीन फागुसग्रह, डा० भोगीलाल साडेसरा।
२ अन्य रचनाओ के लिए देखिए राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज भाग २, अगरचन्द नाहटा।

साहित्यिक और राजनीतिक केन्द्र थे। इन्ही केन्द्रो के राजाओ, मन्त्रियो, सामन्तो, सेठ-साहूकारो, धार्मिक मतावलवियो और आचार्यों के आश्रय मे यह भाषा पनप कर अपनी पूर्ववर्ती भाषा अपभ्रश के समक्ष खडी हुई। अत इस युग की प्रधान विशेषता यही है कि यह देशभाषा अपनी विकासोन्मुखी शक्तियो को प्राप्त कर साहित्य-रचना के उपयुक्त बन गई। अपनी पूर्ववर्ती भाषा से इसमे सबसे बडा अन्तर यह था कि उच्चारण मे सरलता आ गई थी। प्राकृत के सयुक्त वर्ण वाले शब्दो को इसने उच्चारण के लिए या तो सरल बना लिया था या उनके स्थान पर तत्सम या अर्धतत्सम शब्दो का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। इस प्रकार प्राकृत के 'कम्म' से 'काम' और 'धम्म' का पुन 'धर्म' और फिर 'धरम' हो गया था। पर इसी युग के अन्तिम काल में युद्ध की परिस्थितियाँ इतनी प्रबल हो गईं कि वीरो को प्रोत्साहन देने के लिए तथा सेनाओ को आदेश देने के लिए भाषा में इस कोमलता के स्थान पर अपभ्रश की कठोरता को बनाए रखना आवश्यक ही न था, बल्कि उसके आधार पर नए शब्दो को भी कठोर बनाना पडा और इसी कारण 'कडक्कि, 'चमक्कि', 'हक्कि' जैसे शब्दो का काव्य मे भी प्रयोग होने लगा। व्याकरण की दृष्टि से इस भाषा में विभक्तियो का लोप हो गया, एक ही विभक्ति 'हँ' का सर्वत्र प्रयोग होने लगा। क्रियापदो में भी सरलता आ गई। इसके अतिरिक्त अपभ्रश और इस भाषा में उस समय भेद करना अथवा दोनो में विच्छेद की सीमारेखा बाँधना कठिन है। इस काल में अपभ्रश में भी साहित्य-रचना की प्रवृत्ति बराबर बनी रही, जो इस युग के बाद भी लगभग दो सौ वर्षों तक चलती रही। पर उसका रूप इतना बदलता गया कि उसमें देशी भाषा की प्रवृत्तियो की प्रधानता होती गई और वह प्राचीन अपभ्रश से बहुत भिन्न हो गई। इस युग की प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति दूहा रचना ही थी। दूहा छन्द अपनी छोटी सी सीमा मे एक भाव या विचार को सूत्र रूप में व्यक्त करने के लिए इस नई भाषा के लिए बहुत ही उपयुक्त था। कवियो के लिए नई भाषा को अपनी पूर्ववर्ती भाषा के छन्दो में ढालना कठिन था। नई भाषा के छोटे शब्द-भण्डार को लेकर साहित्य रचना करने के लिए यह दोहा छन्द वास्तव में बहुत ही उपयुक्त था। जब लबी कविताओ की स्थिति आ गई, तो दो पदो के स्थान पर 'चउपई' के चार पदो और फिर 'छप्पय' के छ पदो का भी प्रयोग होने लगा। इस युग में बडी रचनाओ का अभाव स्वाभाविक है। वैसे तो इस युग को इस दृष्टि से अन्धकार का युग ही कहना चाहिए, क्योकि दोहो की रचना मौलिक ही अधिक हुई और सग्रह की भी उस समय कोई प्रवृत्ति या व्यवस्था रही या नही, यह कहना कठिन है। यदि सग्रह किए गए होगे, तो भी वे युद्धो की ज्वाला मे भस्म हो गए होगे। हेमचन्द्र तथा मेरुतुग के सग्रहो मे भी उस काल के कुछ दोहे अवश्य होने चाहिए। 'शिवसिंह सरोज' ने किसी पूषी कवि[1] द्वारा इस भाषा में तथा दोहा छन्दो में रचित एक अलकार ग्रन्थ की सूचना दी है, पर यह ग्रन्थ अप्राप्य है। इसी प्रकार उसमें चित्तौड के राजा खुमानसिंह (वि० स० ८१२ सन ७५५ ई०) का भाषा-काव्य-मर्मज्ञ होना तथा उसके द्वारा वि० स० ९०० (सन ८४३ ई०) में 'खुमानरासा' की रचना होना लिखा है।[2] 'खुमानरासो'

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में किस आधार पर इस कवि का नाम 'पुष्यमित्र' दिया है, यह ठीक नहीं जान पडता।

२ शिवसिंहसरोज, सातवाँ सस्करण, सन १९२६, पृ० ९।

को लेकर हिन्दी साहित्य और इतिहास के क्षेत्र मे जो विवाद चला, वह निराधार मालूम होता है। 'शिवसिंहसरोज' ने कभी भी दलपतविजय या दौलतविजय कृत 'खुमानरासो' की चर्चा नही की, फिर इन दोनो को एक मान लेना और उस पर इतना बडा विवाद करना हास्यास्पद नही, तो क्या हो सकता है? खुमान कृत 'खुमानरासा' अप्राप्य है और उसके स्थान पर १८वीं शताब्दी में दलपतविजय (या दौलतविजय) द्वारा रचित 'खुमाणरासो' को रख कर विवाद का पहाड खडा करने का उद्देश्य 'रासो' नामक प्रवन्ध रूपको को जाली ठहराना ही मालूम होता है।

इस काल की प्राप्त रचनाओ मे राजस्थानी के विकसित रूप दिखलाई पडने लगते हैं। नाथपथ का भी राजस्थान पर किसी समय प्रभाव रहा है। इसी कारण गोरख (वि० स० ९०० =८४३ ई० के लगभग?) की रचनाओ में राजस्थानीपन वर्तमान है—

घरवारी सो घर की जाणै। वाहरि जाता भीतरि आणै।
सरव निरतर काटै माया। सो घरवारी कहिए निरजन की काया॥[1]

इसी समय में जैन कवि देवसेन ने प्राकृत और अपभ्रश से मुक्त होकर अपने उपदेश को सर्वसाधारण में पहुँचाने के लिए इसी भाषा मे रचना की। उनकी रचनाओ में 'सावयधम्मदोहा' और 'दर्शनसार' प्राप्त हैं जिनसे कुछ पक्तियाँ उदाहरणस्वरूप नीचे उद्धृत की जा रही हैं —

१ 'सावयधम्मदोहा' से

भोगह करिय पमाणु जिय, इदिय म करिसि दप्प।
हुति न भल्ला पोसिया, दुद्धें काला सप्प॥
लोह लक्खु विसु सणु मयणु, दुट्ठ मरणु पसु भार।
कडि अणत्थइपिडि पडिइ,
एहु धम्म जो आयरइ, वभण सुद्द वि कोइ।
सो भावहु कि मावयह, अण्णु कि सिरिमणि होइ॥

२ 'दर्शनसार' से

जो जिण सासउ भासियउ, सो मइ कहियतु सारु।
जो पालेसइ भाउ करि, तो तरि पावइ पारु॥
एहु धम्म जो आयरइ, चउ वण्णह भइ कोइ।
सो णरु णारि भय्ययणु, सुरपय पावइ सोइ॥

वि० स० १००० (सन ९४३ ई०) के लगभग पुप्पदन्त का समय भी आ जाता है। इम जैन कवि की 'महापुराण', 'जसहरिचरिउ' और 'णायकुमारचरिउ' नामक रचनाएँ प्राप्त है। ये रचनाए अपभ्रश में होने पर भी इनमें उस समय की वोलचाल की भाषा के रूप मिलते है, उदाहरणार्थ

---

१ दे० काशीप्रसाद जायसवाल. पुरानी हिन्दी का जन्म काल, नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ८, सवत १७९४।

धूलिधूसरेण वरमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा।
कीला रसवसेण गोवालय गेवी हियय हारिणा॥

रगतेण रमत रमते। मथउ घरिउ भमतु अणते॥
मदीरउ तोडिवि आवट्टिउ। अद्ध विरोलिउ दहिउ पलोट्टिउ।
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी। एण महारी मथरि भग्गी॥
एयहि मोल्लु देहु आलिंगणु। ण तो मा मेल्लहु मे प्रगणु॥
—महापुराण

विणु धवलेण सयड किं हल्लइ। विणु जीवेण देइ किं चल्लइ॥
विणु जीवेण मोक्खु को पावइ। तुम्हारिसु किं अप्पउ आवइ॥
माणुस सरीर दुह मोट्टलउ। धोयउ धोयउ अइ विट्टलउ॥
वारिउ वारिउ विपाउ करइ। पेरिउ पेरिउ विनु धम्म चरइ॥
चम्मे वद्धु वि कालि सडइ। रक्खिउ रक्खि जम मुह पडइ॥
—जसहरिचरिउ

इसी काल मे जोइन्दु, रामसिंह और धनपाल कवि हुए हैं जिनका क्षेत्र राजस्थान था। जोइन्दु की रचनाएँ दोहा छन्द में मिलती हैं। 'परमप्पयासदोहा' और 'दोहापाहुड'[1] में भी इस समय की भाषा के रूप मिलते हैं, जैसे—

अप्पा केवल णाणमउ हियडइ णिवसइ जासु।
तिहुयणि अत्थइ कोवकलउ पाउ ण लग्गइ तासु॥
वहुयइ पढियइ मूढ पर तालू सुक्खइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु त पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥
—परमप्पपायास दोहा

रामसिंह की रचना 'पाहुडदोहा' से कुछ उदाहरण नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं—

हउ सगुणी पिउ णिग्गुणइ, णिल्लक्खणु णीसगु।
एकहिं अगि वसतयह, मिलिउ ण अगहिं अगु॥
मूलु छडि जो डाल चडि, कह तह जोयभासि।
चीरुणवुणणह जाइ वढ, विणु उहियइ कपासि॥

धनपाल की प्रसिद्ध रचना 'भविसयत्तकहा' के कुछ उदाहरण देखिए—

तुडिहिं चडिवि जइ त किर किज्जइ।
वयणुवि नउ करालु जपिज्जइ॥
वोल्लहि पुत्त जेम अण्णाणिउ।
किं वणिउत्तह मग्गु नण वाणिउ॥

---

१ देखिए अपभ्रंश पाठावली, १३२ पृ०—मधुसूदन चिमनलाल मोदी।

२. द्वितीय उत्थान . नव विकास युग (वि० सं० १००० से १२०० सन ९४३–११४३ ई०)

प्रथम उत्थान में हमने देखा कि किम प्रकार अपभ्रश के साथ साथ देशभापा का व्यवहार साहित्य में आरम्भ हुआ। द्वितीय उत्थान राजस्थानी साहित्य के उदय का द्योतक है। इन दो हजार वर्षों के समय में राजनीतिक परिस्थितियाँ और भी भयकर हो जाती हे। युद्धो का सघट्ट और प्रसार वडी तीव्र गति से होता है। चारण, भाट तथा अन्य राजकवियो का योद्धाओ को रण के लिए प्रेरणा देना एक कर्त्तव्य-सा हो जाता है। उनकी काव्य-शक्ति एक विशेप प्रकार की भावना से प्रेरित होकर वीर रस की एक निश्चित धारा मे प्रवाहित होने लगती है। वीरो की कर्तव्य-परायणता और आत्मत्याग से पूर्ण चरित का चित्रण काव्य के प्रधान विपय हो जाते हे। शौर्य-वर्णन, सगर-पटुता का चित्रण और रणवाद्यो का अनुरणन इस काव्य की भापा मे एक विशेपता उत्पन्न करते हैं, जो आगे चलकर वीर रस की रचनाओ के लिए एक परम्परा स्थापित कर देती है। यह परम्परा अपभ्रशप्रधान भाषा को लेकर आरम्भ हुई। वीर रस तथा युद्ध-वर्णन की परम्परा भी अपभ्रश में रचित ग्रन्थो, जैसे पुष्पदन्त के 'महापुराण' के आदिपुराण भाग मे वर्णित युद्ध वर्णन, से[1] प्राप्त हो गई। इस नवोदित काव्य-प्रणाली ने रास, रासो तथा रूपक का तो विकास किया ही, पर साथ ही साथ धार्मिक तथा अन्य उत्सवो और पर्वों पर गाए जाने वाले लोकगीतो में भी एक नवीन विपय की स्थापना की। रणभूमि में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओ और चिताओ पर जीवित जल मरने वाली सतियो की त्यागमयी भावनाओ का समावेश इन लोकगीतो में हो गया जो आगे चलकर वडी रचनाओ या पवाडा[2] के रूप में विकसित हुए। जैन कवियो ने राम को गेय तथा नृत्य-नाट्यमय शैली मे वना कर चरितकाव्य के रूप में विकसित किया। इनका प्रदर्शन और गान परम्परा के अनुसार जैनमन्दिरो में होने लगा। शृगार रस की रचनाओ का भी इस युग में विकास हुआ, पर ऐसी वडी रचना कोई नही मिलती जिसके आधार पर इसकी पुष्टि की जा सके। मुलतान के किसी अब्दुलरहमान कवि की 'सदेशरासक' अवश्य ही इस प्रकार की रचना है। प्रथम उत्थान में विकसित दूहा प्रणाली मे अवश्य ही शृगार की भावनाएँ मिलने लगती हे। दूहा रचना की यह प्रणाली जिस प्रकार स्वतत्र रूप में दिखाई देती है उमी प्रकार वडी रचनाओं में भी। प्रथम उत्थान में जहाँ पूरी पूरी रचनाएँ दूहा में हुई हे, वहाँ यह दूहा-चउपई के अन्त में ठीक उसी प्रकार मिलने लगता है, जिम प्रकार 'अपभ्रश में घत्ता रखा जाता है। दूहो मे समस्यापूर्ति की प्रथा इस वात की द्योतक है कि उस समय इम भापा में दूहा रचना कितनी लोक-

---

१. छुडु गज्जिय गुरु सगाम भारि। णं भुक्खिय तिहु यण गिलिवि मारि॥
छुडु णिग्गउ मुय वलि साहिमाणि। छुडु एत्तहि पत्तउ चक्कपाणि॥
छुडु काले णीणिय दीह जीह। पसरिय माणुस मंसासणीह॥
थिय लोयवाल जीविय णिरीह। ओल्लिय गिरि रूजिय गहणि सीह॥

२ आगे चलकर इन रचनाओ में 'पावू जी रो पवाड़ो' तथा 'नागजी रो पवाडो' वहुत प्रसिद्ध हुए।

प्रिय हो गई थी।[1] यह दोहा छन्द इतना प्रिय हुआ कि इसका सम्बन्ध सस्कृत प्रेमियो ने दोधक से लगा लिया[2] और प्राकृत दोधक दोहा छन्द मे आ गया।[3] राजस्थानी के अनेक लोकगीत अव प्राप्त होने लगे हैं जिनमें से कई इस युग के हैं और उसकी विशेषताओ के द्योतक हैं। 'प्रवन्धचिन्तामणि' मे अनेक दूहे इसी युग की रचनाएँ हैं। ये दूहे वीर, शृगार (सयोग-वियोग), हास्य, शान्त, अद्भुत आदि रसो में तो हैं ही, साथ ही नीतिपूर्ण और मनोरजक भी हैं। मुज (वि० स० १०२९-५४ = सन ९७२-९९७ ई०) और भोज (वि० स० १०५४=सन ९९७ ई०) की रचनाएँ इसी में सग्रहीत हैं। सपादलक्ष (वर्तमान अजमेर-साभर) के दोहाकारो और समस्यापूर्तियो का उल्लेख इसी में मिलता है।[4] स० १०३६ वि० (सन ९७९ ई०) में कपालकोटि के किले के वाहर लाखा राजा का वोधवाक्य उसकी कई फुटकर दूहा रचनाओ की सूचना देता है—

ऊग्या ताविउ जहि न किउ, लक्खउ भणइ तिघट्ट।
गणिया लब्भइ दीहडा के दह अहवा अट्ट॥
—प्रवन्धचिन्तामणि

कनकामर मुनि (स० १०६० वि० - सन १००३ ई०) का 'करकडचरिउ' (जीवनचरित) इसी युग की रचना है। इस काल में देशी शव्दो का भी प्रचुर मात्रा मे विकास हो गया था, जिसका सग्रह हेमचन्द्र ने '**देशीनाममाला**' में कर नाममाला (शव्दकोष) की परम्परा स्थापित की। हेमचन्द्र की दूहा रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं। स० ११०० वि० (सन १०४३ ई०) में जिनदत्त सूरि ने '**चर्चरि**', 'उवएसरसायण' और 'कालस्वरूप कुलक' की रचनाएँ प्रस्तुत की। स० ११५९ वि० (सन ११०२ ई०) में हरिभद्र सूरि ने 'नेमिनाथचरिउ' की रचना की। स० ११५३-६४ वि० (सन १०९६-११०७ ई०) के[5] लगभग वीसलदेव का समय माना जाता है। 'वीसलदेव रास' नामक रचना एक गेय रूपक है जो स० १२१२ वि० (सन ११५५ ई०) की रची हुई मानी जाती है, पर आधुनिक खोज में प्राप्त रचना वहुत पीछे की है। इसी समय में किसी अज्ञात कवि ने 'उपदेशतरगिणी' की रचना की, जिसने नीति के दोहो की उस परम्परा को क्रमवद्ध रूप मे प्रसारित किया जो हेमचन्द्र तथा उनके पूर्ववर्ती कवियो में फुटकर रूप मे देखी जाती है। स० ११५० वि० (सन १०९३ ई०) के लगभग आम भट्ट की स्फुट रचनाएँ 'पृथ्वीराज रासो' के प्राचीन छन्दो के[6] वहुत निकट हैं, उदाहरणार्थ—

डरि गइद डगमगिअ चद करमिलिय दिवायर।
डुल्लिय महि हल्लियहि मेरु जलझपइ सायर।

---

१. देखिए मुनिजिनविजय द्वारा सपादित 'प्रबन्धचिन्तामणि' में 'भोजभीम प्रबन्ध', पृ० २८, ३०।
२ चद्रधर शर्मा गुलेरी पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग २, अक ४, पृ० १३।
३ देखिए प्रवन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६४।
४. वही।
५ रासो परम्परा ३, सि० भ० हिन्दी अनुवाद।
६ प्रवन्ध चिन्तामणि में उद्धृत।

सुहडकोडि थरहरिअ कूर कूरम कडविकअ।
अतल वितल धसमसिय पुहवि सहु प्रलय पलट्टिय।
गज्जति गयण कवि आम भणि, सुर मणि फिणि मणि इक्क हूअ।
मागहि हिमगहि मम गहि मगहि, मुच मुछ जयसीह तूअ॥

यह छप्पय आम भट्ट ने सिद्धराज जयसिंह के विषय में लिखा है। सिद्धराज जयसिंह कई कवियों का आश्रयदाता था और स्वय भी कवि था। उसकी महानता का परिचय इस दोहे से प्राप्त होता है—

राणा सव्वे वाणिया, जेसलु वड्डउ सेठि।
काहू वणिजउ माण्डीयउ, अम्माणा गढ हेठि॥

उसने नवधणरा खगार को मार कर उसकी पत्नी के साथ कैसा निर्दयतापूर्ण वलात्कार किया, इसका परिचय भी निम्न सोरठे से मिलता है—

जेसल मोडि म वाह, वलि वलि विरुए भावियइ।
नइ जिम नवा प्रवाह, नवघण विणु आवह नही।

इस युग का अन्तिम कवि महेश्वर सूरि है जिसकी रचना 'सजममजरी' मिलती है।

३. तृतीय उत्थान . वीरगाथा युग (वि० सं० १२०० से १५०० -- सन ११४३ से १४४३ ई०)

यह युग राजस्थानी भाषा, साहित्य, सस्कृति, सगीत, नृत्य-नाट्य, शिल्प, स्थापत्य, तक्षण, मूर्ति आदि कलाओ के विकास का द्योतक है। इस युग में राजस्थानी भाषा और साहित्य की सामूहिक रूपरेखा अधिक स्पष्ट होकर विकसित हो जाती है। भाषा की प्रवृत्ति में राजस्थानी रूप विकसित होकर साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। राजस्थानी गद्य के परिमार्जित रूप का सर्वप्रथम दर्शन इसी युग मे होत है।[1] वोलचाल की भाषा अधिक प्रवल होकर लोकगीतो के रूप में निखर जाती है। जैन रचनाएँ एक विशेष परिपाटी को लेकर इसी वोलचाल की राजस्थानी मे प्रकट होती हैं। पर वीर रसात्मक रचनाऐं अपभ्रंश प्रधान रूपो को लेकर चलती हैं। इस प्रकार रास जैसे गीतिरूपक तथा अन्य विविध प्रकार के गीत वोलचाल की भाषा मे, जैन जीवन-चरित तथा अन्य जैन रचनाऐं (जैन लेखको द्वारा रचित) जैन शैली मे और वीर रसात्मक गीत और रासो जैसे प्रवन्ध रूपक अपभ्रंश प्रधान भाषा-शैली में लिखने की परम्परा इस युग के साहित्य में विकसित हुई। वोलचाल की भाषा मे जो रचनाएँ लिखी गई, वे आगे चलकर व्रज-भाषा से प्रभावित होकर 'पिंगल' के नाम मे प्रसिद्ध हुईं। जैन-शैली की रचनाओं की भाषा का अध्ययन कर प्रसिद्ध इतालवी विद्वान तिस्सेतोरी ने डा० ग्रियर्सन के सुझाव पर इसको पुरानी पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया। वीर रसात्मक साहित्य की भाषा डिंगल कहलाई[2]। वैसे इन तीनो में शैली का ही प्रधान भेद है।

---

१ देखिए देववर्धन कृत 'दवदती नी कथा'--राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, भाग ३, पृ० १७१-१७३ पर दिए गए गद्य के उदाहरण।

२ 'डिंगल' शब्द सस्कृत 'डिङ्क' (गाने वजाने वाला) से सम्वन्धित है। विशेष के लिए देखिए हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८, अक ३, पृ० ९० पर प्रस्तुत लेखक का 'डिंगल भाषा' शीर्षक निवन्ध।

यह युग मुस्लिम आक्रमण, सघर्ष, आत्मत्याग, जौहर, सत्ता का ध्वस और नाश का युग भी है। इस प्रकार इस युग के साहित्य में नाश और निर्माण के वीच आत्मगौरव और आत्माभिमान की भावनाओ की प्रधानता होना स्वाभाविक है। भारतीय भाषाओ के इतिहास में यह एक विशेषता देखी जाती है कि जिस स्थान पर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि क्रान्तियो का प्राबल्य रहा है, वहाँ की भाषा और उसके साहित्य ने देश के अन्य भू-भाग पर मोटे रूप से प्रभाव डाला है। यह युग राजनीतिक उथल-पुथल की भीषणता का युग रहा है। इसके प्रधान केन्द्र दिल्ली, कन्नौज, रणथभौर, अजमेर, जालोर, चित्तौड, सोमनाथ, अन्हिलवाड, पाटन आदि थे, जहाँ मुसलमानो के भीषण सहार के वीच अनेक भारतीय वीरो तथा वीरागनाओ ने अपने उच्च-कोटि के शौर्य का प्रदर्शन और आत्मत्याग का महान परिचय दिया। इसी कर्त्तव्य-निष्ठा, प्रतिज्ञा-पालन, स्वामिभक्ति आदि के सजीव दृश्यो से प्रेरित होकर राज्याश्रित तथा स्वतत्र कवियो ने वीर-चरित को अकित करने वाली वीर रस की अमर कृतियाँ प्रस्तुत की। इस युग की भाषा और उसके साहित्य का प्रभाव देश के अन्य भागो की भाषाओ और उनके साहित्य में आज भी देखा जाता है। यह प्रभाव दो प्रकार से पडा। पहला प्रभाव तो साहित्य के द्वारा ही देखा जाता है। इस युग की वीर रसात्मक रचनाओ में भाषा-शैली, छन्द और रूप की जो परम्पराएँ आरम्भ हुई, अन्य भाषाओ के साहित्य में भी वीररसात्मक रचनाओ के लिए वे परम्पराएँ मान्य हो गई यहाँ तक कि राजस्थानी पवाडा मराठी साहित्य में भी प्रवेश प्राप्त कर गया। राजकीय सस्कृति और शिष्टाचार ने भी इस प्रभाव में सहायता प्रदान की। दूसरा प्रभाव स्वय भाषा के मूल रूप द्वारा गया। मुसलमानो के आक्रमण से प्राण वचा कर जो लोग यहाँ से भागे वे उत्तर में नेपाल की तराई तक और दक्षिण में महाराष्ट्र से लेकर कोकण और वहाँ से पुन सिन्ध तक जा पहुँचे। इसके परिणामस्वरूप इन लोगो की भाषा का प्रभाव पहाडी, मराठी, कोकणी और सिन्धी भाषाओ में आज तक दिखाई देता है।

वोलचाल की भाषा में रचित आसाइत कृत 'हसाउलि'[१] (वि० स० १४१७=सन १३६० ई०) एक उत्तम कोटि की रचना है। जैन शैली की रचनाओ में शालिभद्र कृत 'भरतेश्वरवाहुवलिरास'[२] (वि० स० १२४१=सन ११८४ ई०) तथा जिनपद्म सूरि कृत 'थूलिभद्दफागु' (वि० स० १२००=सन ११४३ ई०), प्रवन्ध रूपको में पद्मनाभ द्वारा जालोर में रचित 'कान्हड दे प्रवन्ध'[३] तथा अन्य प्रवन्ध रूपको में चदकृत 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्ध है। वीर रस की अन्य रचनाओ मे श्रीधर द्वारा रचित 'रणमलछन्द' (वि० स० १५४१=सन १४८४ ई०), अज्ञात कवि कृत 'राउ जइत सी रउ छन्द' (पिंगल में, वि० स० १५९०=सन १४३३ ई०) तथा सूजा कृत 'राउ जइतसी रउ छन्द' (डिंगल में, वि० स० १५९०-९८=सन १४३३-४१ ई०), दूहा में रचित दुरसा कृत 'विरुद छिहत्तरी' (वि० स० १५८२-१७१२=सन १५२५-१६५५ ई०),

---

१ गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदावाद द्वारा प्रकाशित तथा केशवराम शास्त्री द्वारा सपादित।

२. भारतीय विद्याभवन, ववई द्वारा प्रकाशित तथा मुनि जिनविजय द्वारा सपादित।

३. राजस्थान पुरातत्व मदिर द्वारा प्रकाशित।

हेमरतन कृत 'पद्मिनी चउपई' (वि० स० १६४५=सन १५८८ ई०) आदि अनेक रचनाएँ तो प्रसिद्ध हैं ही, पर इनके अतिरिक्त भी अनेक कवियो की रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिन सव का उल्लेख करना यहाँ असभव है। नीति और उपदेश सवधी रचनाओ मे किसी अज्ञात कवि द्वारा रचित 'प्रवोधचिन्तामणि' प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त विनयचद सूरि कृत 'नेमिनाथचतुष्पदी' (स० १२०० वि० =सन ११४३ ई०), अजयपाल कृत स्फुट रचनाएँ, अटेसूरि कृत 'समररास', हरसेवक कृत 'मयणरेहा', (स० १४१३ = सन १३५६ ई०), सिवदासचारण कृत 'अचलदास खीची री वचनिका' (स० १४७० = सन १४१३ ई०), चारण चौहय (स० १४९५वि० सन १४३८ई०) कृत गीत भी उल्लेखनीय हैं।

४. चतुर्थ उत्थान . भक्तियुग (वि० स० १५००-१७०० वि० १४४३-१६४३ ई०)

वीरगाथा युग के अन्तिम चरण में भक्ति काव्य की रचनाओ का विकास भी आरम्भ हो जाता है। धन्ना, पीपा और रैदास इस युग के महान भक्त हुए हैं, जिन्होने अपनी भक्ति, व्यवहार और रचनाओ द्वारा एक सामाजिक क्रान्ति उपस्थित की, जिससे आगे चलकर मीराँ जैसी महान भक्त कवयित्री का प्रादुर्भाव हुआ। अन्य प्रसिद्ध भक्त कवियो मे तत्ववेत्ता ईसरदास, गोविन्द-दास, नरहरिदास आदि की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इसी युग मे निरजन (निर्गुण) साधना को लेकर अनेक पथो का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके मुख्य केन्द्र जोधपुर, जयपुर तथा मेवाड राज्य रहे। इन पथो में दादू द्वारा स्थापित दादूपथ वहुत प्रसिद्ध हुआ, जिसमे गरीवदास (स०१६३२-८३ वि०=सन १५७५-१६२६ ई०), वखना (स० १६४०-७० वि०-सन १५८३-१६१३ ई०), जगजीवन (स० १६४० वि० = सन १५५३ ई०), जनगोपाल (स १६५० = सन १५५३ ई०), रज्जव, जगन्नाथदास (स० १६५० =सन १५५३ ई०), सतदास (स० १६९६ सन १६३९ ई०) तथा सुन्दरदास आदि वहुत प्रसिद्ध हैं, जिन्होने अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा जनता को प्रभावित किया तथा उत्तम कोटि की साहित्यिक रचनाएँ भी प्रस्तुत की। इसी प्रकार चरणदास ने चरणदासीपथ की स्थापना की, जिसमे निष्काम प्रेम, सदाचरण तथा निर्गुण-सगुण के समन्वय पर जोर दिया गया। चरणदास स्वय एक अच्छे कवि थे। इनकी दस से अधिक रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनमे 'व्रजचरित्र' और 'भक्तिसागर' में सुन्दर भावनाओ की अभिव्यक्ति हुई है। रामसनेही-पथ के प्रवर्तक रामचरण भी उत्तम कोटि के कवि थे और इनके शिष्यो में भी अनेक कवि हो गए हैं। हरिदास (जोधपुरी) ने निरजनी पथ और लालदास ने लालदासी पथ की स्थापना इसी युग में की थी।[1]

प्रेमाख्यान काव्यो में कुशललाभ (स० १५९०-१६१७ वि० =सन १४८२-१५६० ई०) कृत 'ढोला मारू रा दूहा' तथा 'माधवानल कामकन्दला चउपई' और पृथ्वीराज राठौड कृत 'वेलि किसन रुक्मिणी री' अत्यधिक लोकप्रिय रचनाएँ हैं। कुशललाभ ने 'पिंगलशिरोमणि' ग्रन्थ की रचना कर इसी युग में छन्द शास्त्र सम्वन्धी ग्रन्थो की परम्परा स्थापित की।

इस युग की एक वडी विशेषता यह थी कि इन लोगो में सग्रह की प्रवृत्ति की भावना जाग्रत

---

१. इन ग्रन्थो के रचयिताओ और उनकी रचनाओ के लिए देखिए डा० मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थान का पिंगल साहित्य, चतुर्थ अध्याय।

हुई। इससे अनेक ग्रन्थो के निर्माण के साथ साथ प्राचीन ग्रन्थो की कई प्रतियाँ भी तैयार हो गई और कई अप्राप्य तथा नष्टप्राय ग्रन्थो का जीर्णोद्धार भी हो गया। इन ग्रन्थो में 'पृथ्वीराजरासो' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका जीर्णोद्धार हरि (नरहरि), गग, हरिनाथ, सोमनाथ, गुणचद आदि कवियो ने किया।[1]

५ पचम उत्थान . रीति युग (वि० स० १७००-१९००=सन १६४३-१८४३ ई०)

राजस्थानी के उत्थान का यह अन्तिम युग है। इस युग मे राजस्थानी की प्राचीन परम्पराएँ बहुमुखी होकर समाप्त हो जाती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे यह युग रीतिकाल के नाम से प्रसिद्ध है। साहित्य की दृष्टि से राजस्थान और उत्तरप्रदेश, दोनो में इस युग मे एकता स्थापित हो जाती है और गुजराती से राजस्थानी का सम्बन्ध टूट जाता है। राजस्थान और उत्तरप्रदेश दोनो मे साहित्य के लिए व्रजभाषा पूर्णरूपेण मान्यता प्राप्त कर लेती है और दोनो प्रदेशो मे रीति ग्रन्थो का निर्माण एक ही आधार और एक ही शैली मे होने लगता है। हम ऊपर कह आए है कि रीति काल के वहुत से ग्रन्थो का निर्माण राजस्थान मे ही हुआ। इसका कारण यह है कि कि उन महत्वपूर्ण ग्रन्थो के रचयिता राजस्थानी थे अथवा राजस्थान में ही राज्याश्रय प्राप्त कर पनपे थे, यहाँ तक कि रीति ग्रन्थो का प्रथम सूत्रपात भी राजस्थान मे ही हुआ मालूम होता है। स० १५०० वि० (सन १४४३ ई०) में किसी अज्ञात कवि द्वारा राजस्थानी मे रचित एक नायिका-भेद सबधी ग्रन्थ 'सामुद्रकइ स्त्री-पुरुष-शुभाशुभ' हमें खोज में प्राप्त हो चुका है।[2] इसी प्रकार कुशललाभ (स० १५००-१६१७सन= १४४३-१५६० ई०) का 'पिंगल शिरोमणि' ग्रन्थ भी प्राप्त हो चुका है। हिन्दी में रीतिकाल का सूत्रपात कृपाराम ने वि० स० १५७८ (१५२१ ई०) मे किया। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियो मे जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह (स० १६०३-१७३५ वि० =सन १६२६-१६७८ई०) अपने 'भाषाभूषण' नामक ग्रन्थ के कारण हिन्दी के आचार्यों मे प्रख्यात है। प्रसिद्ध कवि विहारी ने जयपुर के राज्याश्रय में रह कर अपनी महान 'विहारी-सतसई' की रचना की। मतिराम ने बूँदी के राज्याश्रय में 'ललितललाम' (स० १७१६-१७४५ = सन १६५९-१६८८ ई०) नामक अलकार ग्रन्थ की रचना की। कुलपति मिश्र ने जयपुर के राज्या-श्रय मे 'रस-रहस्य' (स० १७२७ वि० = सन १६७० ई०) की रचना की। इस प्रकार हम देखते है कि इन प्रसिद्ध आचार्यों का राजस्थानी भाषा और साहित्य पर इस युग मे वहुत जबरदस्त प्रभाव

---

१ पृथ्वीराजरासो की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में इन कवियो के नाम निम्नलिखित स्थानो पर आते है—

क. इति त्रोटक छद सुमत गुर। दिन आठ पठ्यो हरि गग कुर॥
३०।१२१।६४।

ख तापर तुररा सुभत्त अत्ति, कहत सोमकविनाथ।
मनु सूरज के सीस पर, धिनुष धर्‌यो धनु हाथ।
—७५२।३८६।

ग . . . . . ।गुण कवि कत्थ॥७।३५५।११३।७८।

२ देखिए राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, भाग ३, पृ० २१३।

पडा। राजस्थानी में डिंगल और पिंगल की जो भाषा-शैलियाँ[1] चलती थी उनमें पिंगल बहुत अधिक विकसित और लोकप्रिय हो गई। डिंगल केवल चारण, भाटो आदि राज्याश्रित लोगों की साहित्यिक भाषा रह गई और वह भी केवल वीर रसवर्णन के लिए। रीति ग्रन्थो में तो ये लोग भी पिंगल का ही प्रयोग करते थे। यह पिंगल इतनी लोकप्रिय हुई कि डिंगल मे भी इसका मिश्रण होने लगा। ऐसा डिंगल-पिंगल-मिश्रित ग्रन्थ माधोदास दधिवाडिया कृत 'रामरासो' है। रासो नामक प्रबन्ध रूपक की जो परम्परा पहले से चली आ रही थी उसमें एक व्यक्ति, आश्रयदाता के स्थान पर अब पूरे वश-वर्णन का समावेश होने लगा। इस प्रकार के काव्य का पूर्ण विकास कविराजा सूर्यमल्ल (वि० स० १८७२-१९२० = सन १८१५-१८६३ ई०) कृत 'वशभास्कर मे देख पडता है, जिसमें सभी प्रकार की विविधता और विषमता के दर्शन होते है।[2] इस युग में राजस्थान मे वीर रस और शृगार रस दोनो प्रकार की रचनाओ का निर्माण हो रहा था। डिंगल के ग्रन्थो में झूठी प्रशसा के कारण कृत्रिमता भी आने लगी थी। पिंगल में रीति ग्रन्थो का प्रवाह प्रबल हो उठा था। इनके साथ साथ नीति और उपदेशात्मक काव्यो की रचना भी हो रही थी डिंगल की प्रसिद्ध रचनाओ में हरिदास भाट कृत अजीतसिंह चरित्र' (स० १७०० वि० = सन १६४३ ई०) रामकवि कृत जयसिंह चरित्र' (स० १७०१ वि० = सन १६४४ ई०), खिडिया जगा कृत 'रतनरासौ वचनिका (स० १७१५ वि० =सन १६५८ ई०), किशोरदास कृत 'राज-प्रकाश' (स० १७१९ वि० = सन १६६२ ई०), गिरधर आस्या कृत 'सगतरासौ' (स० १७२० वि० = सन १६६३ ई०), दौलतविजय कृत 'खुमाणरासौ' (स० १७२५ वि० - सन १६६८ ई०), दयालदास कृत 'राणारासौ' (स० १७३७ वि० १६८० ई०), माधोदास कृत 'शक्तिभक्तिप्रकाश' (स० १७८० वि० = सन १६८३ ई०), बादरदाढी कृत 'नीसाणी वीरभाण री' (स० १७४० वि० सन १६८३ ई०), हरिनाम कृत 'केसरीसिंह समर' (स० १७४० सन १६८३ ई०), वीरभाण कृत 'राजरूपक' (स० १७९२ वि० = सन १७३५ ई०), करणीदान कृत 'सूरजप्रकाश' (स० १७८७=सन १६७० ई०), दीनजी कृत 'रतनरासौ' (स० १८६३ वि० =सन १८०६ ई०), कमजी दधिवाडिया कृत 'दीपगकुलप्रकाश' (स० १९२९ वि० = सन १८७२ ई०) आदि अनेको ग्रन्थ उल्लेखनीय है। इसी प्रकार पिंगल या रीति ग्रन्थो में वृन्द कवि (स० १७००-६४ = सन् १६४३-१७०७ ई०) कृत 'दृष्टान्त सतसई', 'यमक सतसई', 'शृगारशिक्षा', 'भावपचासिक', दानदास कृत 'छन्दप्रकाश' (स० १७०० वि० = सन १६४३ ई०), जोगीदान चारण कृत 'हरिपिंगल प्रबन्ध (स० १७२१ वि० = सन १६६४ ई०), हरिचरण दान (स० १७६६-१८३५ = सन १७०९-७८ ई०) कृत 'सभाप्रकाश' और कवि वल्लभ नान्हराम कविनागर कृत 'कविता कल्पतरु' (स० १७८९ वि०), वल्लभ कवि कृत 'वल्लभविलास (स० १७८० वि०), सोमनाथ (स० १७३०-१८१० वि० = सन १७३३-१८५३ ई०) कृत 'रसपीयूषनिधि और 'रसविलास', दलपतराय वशीधर कृत 'अलकाररत्नाकर' (स० १७९८ सन १७४१ ई०), मछकवि (स० १८३०-१८९२ वि० = सन १७७३-१८३५ ई०) कृत 'रघुनाथरूपक', (राजस्थानी छन्दशास्त्र),

१. डिंगल और पिंगल रचनाओ के लिए देखिए हिन्दी अनुशीलन वर्ष ८, अक ३ में प्रस्तुत लेखक का डिंगल भाषा शीर्षक लेख।

२ ऐसे प्रबन्ध रूपक के लक्षणो के लिए देखिए उपर्युक्त निबन्ध।

गणेश चतुर्वेदी कृत 'रस चन्द्रोदय' (स० १०४० = सन ९८३ ई०), उदैचद (स० १८६०-९० १८०३-३३ ई०) कृत 'छन्द प्रवन्ध पिंगल भाषा', मनराखन श्रीवास्तव कृत 'छदोनिधि पिंगल' (स० १८६१ वि० सन १८०४ ई०) आदि प्रसिद्ध है। अन्य रचनाओ मे साईदास चारण कृत समतसार (वर्षा-ऋतु वर्णन, स० १७०९ वि० = सन १६५२ ई०), श्रीधर कृत 'भवानीछद', (स० १७१० सन १६५३ ई०), सूरविजय कृत 'रत्नपाल रत्नावती रास' (स० १७३२ वि० - सन १६७५ ई०), हस कवि कृत 'चन्द्रकँवर की वार्ता (स० १७८० = सन १७२३ ई०), शिवराम कृत 'दसकुमार प्रवन्ध' (स० १७५४ = सन १६९७ ई०), हित वृन्दावनदास (स० १७६५-१८४४ = सन १७०८-१७८७ ई०) कृत भक्ति सवधी ४२ रचनाएँ,[1] हरिचरण दास कृत 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'भाषाभूषण' की टीकाएँ, कविराज बाँकीदास (स० १८२८-९० वि० = सन १७७१-१८३३ ई०) कृत २७ ग्रन्थ,[2] हरि कवि कृत 'कवाटरार वहिया री वात' (स० १८५४ - सन १७९७ ई०) आदि रचनाएँ प्रसिद्ध है। राजस्थान के अन्तिम महाकवि कविराज सूर्यमल (स० १८९७ सन १८४० ई०) है जिन्होने 'वशभास्कर' तथा 'वीरसतसई' नामक दो महान कृतियाँ प्रस्तुत की। 'वशभास्कर' एक पाडित्यपूर्ण ऐतिहासिक काव्य है और 'वीर सतसई' वीर रस की एक उच्च कोटि की रचना है।*

सहायक ग्रन्थ

१ राजस्थानमे हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, भाग १, मोतीलाल मेनारिया
२ ,, ,, ,, भाग २, ४, अगरचद नाहटा
३ ,, ,, ,, भाग ३, उदयसिंह भटनागर
४ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी, भाग ३
५ हिन्दी अनुशीलन, हिंदी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय
६ जैन गुर्जर कविओ (चार भागो में), मोहनलाल दलीपचद देसाई
७ प्राचीन फागु सग्रह, डा० भोगीलाल साडेसरा
८ राजस्थानी भाषा और साहित्य, डा० मोतीलाल मेनारिया
९ राजस्थान का पिंगल साहित्य, ,, ,,
१० राजपूताने का इतिहास, डा० गौरीशकर हीराचद ओझा
११ शिवसिंह सरोज, शिवसिंह सेंगर
१२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल
१३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा
१४ राजरचनामृत मुशी देवीप्रसाद

---

१ इन रचनाओ के नामो के लिए देखिए डा० मोतीलाल मेनारिया कृत राजस्थानी भाषा और साहित्य, प० १००।

२ देखिए वही, पृ० २००।

*राजस्थानी साहित्य की विस्तृत सूची पुस्तक के परिशिष्ट में देखिए।

१४. मैथिली साहित्य

'वृहद विष्णुपुराण' मे मिथिला प्रदेश की सीमा पूर्व में कौशिकी, पश्चिम मे गण्डकी, दक्षिण में गगानदी तथा उत्तर मे हिमालय निर्दिष्ट है। वर्तमान समय में यह समस्त क्षेत्र मुजफ्फरपुर, दरभगा, उत्तरी चपारन, मुगेर, भागलपुर तथा पूर्निया जिले के कुछ भाग एव नेपाल-स्थित कुछ भाग के अन्तर्गत आ जाता है। मैथिली इसी मिथिला प्रदेश की मातृभाषा है। यह प्रदेश विहार प्रान्त का एक भाग है जिसकी स्थिति गगा के उत्तर तथा भोजपुरी भाषा-क्षेत्र के पूर्व मे है। प्राचीन काल से ही मिथिला सस्कृत के पडितो एव दार्शनिको का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है। उत्तरी भारत के सस्कृत के विद्वानो की अपेक्षा मिथिला के पडित अपनी मातृभाषा के प्रति अधिक उदार रहे है। यही कारण है कि सस्कृत के साथ ही साथ यहाँ के विद्वानो ने मैथिली मे भी साहित्य-रचना की। मैथिली की अपनी अलग लिपि है, जो वगला और असमिया से वहुत मिलती-जुलती है।

वहुत प्राचीन काल के साहित्य से मिथिला प्रदेश की स्थिति का पता चलता है। इस प्रदेश का एक प्राचीन नाम विदेह भी है जो यहाँ के तत्कालीन राजवश के नाम से जुडा हुआ है। वैदिक साहित्य मे इसके उल्लेख से इसकी प्राचीनता स्वत सिद्ध है। विदेह या विदेघ राजाओ के नाम से विदेह जनपद की ख्याति हुई थी। यह जनपद तत्कालीन कोसल जनपद से आगे वढकर उसके पूर्व में स्थित गण्डक नदी से भी आगे वसा था। प्राचीन उपाख्यानो से पता चलता है कि यहा आर्य क्रमश वाद में आकर वसे। 'शतपथ ब्राह्मण' में उल्लेख है कि यहाँ विदेघ माथव नामक राजा सरस्वती के तट से सदानीरा को पार करते हुए पहुँचे थे।

इसी प्रतापी विदेह राजवश मे मिथि नामक एक राजा हुए, जिन्होने यहाँ पर एक वहुत वडा अश्वमेघ यज्ञ किया और जिसके फलस्वरूप इस भूमि की पावनता में अभिवृद्धि हुई। लोक मे यह प्रचलित विश्वास है कि जिस भू-भाग में यह यज्ञ सम्पन्न हुआ था उसकी सीमा उत्तर मे हिमालय, दक्षिण में गगा, पूर्व में कोशी तथा पश्चिम में गण्डक थी। आगे चलकर इसी पावन प्रदेश का नाम उक्त राजन्य के नाम पर मिथिला हुआ। इस मिथिला नाम का उल्लेख आदिकाव्य 'रामायण' और याज्ञवल्क्य-स्मृति' मे हुआ है। 'रामायण' की कथा के नायक कोसल के राजकुमार रामचन्द्र का परिणय विदेह वश की राजकुमारी सीता से हुआ था। याज्ञवल्क्य उस जनपद के आदिवासी थे और उपनिषद की विचारधारा के प्रतिपादन में विदेहराज जनक के साहचर्य मे उन्होने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी।

मैथिली साहित्य के विद्वानो ने उणादि सूत्र 'मिथिलादयश्च' के आधार पर मिथिला शब्द की व्युत्पत्ति 'मन्थ' धातु से सिद्ध की है। सस्कृत के वैयाकरणो ने भी मिथिला को रिपुओ का मन्थन करने वाली नगरी माना है। 'मत्स्यपुराण' में मिथिला नामक एक महा तेजस्वी ऋषि का उपाख्यान भी मिलता है, जिससे यह अनुमान किया जाता है कि सभवत इन्ही के नाम पर

मिथिला प्रदेश का नामकरण हुआ होगा। डा० सुभद्र झा के अनुसार 'मिथिला' शब्द का सम्बन्ध मिथि युग से है। उनके अनुसार आज के मिथिला प्रदेश में प्राचीन काल के वैशाली, विदेह तथा अग सम्मिलित है।

बौद्धकाल में भी इस प्रदेश की स्थिति वहुत अच्छी थी। अत वौद्ध साहित्य मे इस प्रदेश की चर्चा हुई है। 'दीघ निकाय' और अन्यत्र कुछ स्थलो पर सात प्रमुख जनपदो और उनके मुख्य नगरो का उल्लेख मिलता है, उनमें विदेह जनपद का सम्बन्ध मिथिला से वतलाया गया है।

मिथिला प्रदेश का एक नाम 'तिरहुत' भी है। इस शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत 'तीरभुक्ति से समझी जाती है। 'तिरहुत' शब्द इसी का विकृत रूप है। 'तीरभुक्ति' शब्द की उपलब्धि प्राचीन वैदिक साहित्य में नही होती। इसका उल्लेख प्राय वाद के पुराणो और तान्त्रिक ग्रथो मे ही मिलता है। 'तीरभुक्ति' शब्द से तीन नदियो का साहचर्य प्रतिध्वनित होता है। मिथिला के जन-जीवन में इनकी उपयोगिता लक्षित करने से इस शब्द को पर्याप्त प्रसिद्धि हुई होगी। 'तिरहुत' नाम का प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्णरत्नाकर' नामक प्रसिद्ध ग्रथ में हुआ है।[1] यह नाम समस्त मिथिला प्रदेश के लिए ख्यात हो गया है।

भाषा या वोली के लिए मैथिली नाम का प्रयोग प्राचीन नही है। ज्यातिरीश्वर, विद्यापति, लोचन आदि मिथिला के प्रारम्भिक प्रसिद्ध कवियो ने इस नाम से अपनी भाषा की चर्चा नही की है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में उसी भाषा के लिए 'देसिल वयना' अथवा 'अवहट्ठ' नाम का प्रयोग किया है। आधुनिक कवियो और मैथिली प्रदेश के शिष्ट जनो ने ही मिथिला की भाषा के लिए 'मैथिली' नाम प्रचलित किया है। कोलब्रुक के १८०१ ई० (स० १८५८ वि०) के 'एशियाटिक रिसचेर्ज' में प्रकाशित सस्कृत तथा प्राकृत सम्बन्धी निबन्धो मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] आगे चलकर फैलेन, हार्नले, केलॉग और ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीय भाषाओ के अध्ययन के प्रसग में इस नाम को सामान्यता प्रदान की है। इसका प्रयोग सिरीरामपुर के मिशनरी लागो ने भी आर्यभाषाओ के तुलनात्मक विवेचन के प्रसग में किया है। मैथिली शब्द का इस अर्थ मे प्राचीनतर प्रयोग अवुलफज्ल के 'आइनेअकवरी' में मिलता है और उन्होंने इसे अलग और स्वतत्र भाषा भी माना है।

आधुनिक आर्यभाषाओ में मैथिली, मगही, भोजपुरी, वँगला, उडिया तथा असमिया की उत्पत्ति मागधी प्राकृत तथा मागधी अपभ्रश से मानी जाती है। डा० ग्रियर्सन ने मैथिली, मगही और भोजपुरी को विहारी के अतर्गत रक्खा है और इसका आधार भाषा का वैज्ञानिक और व्याकरण सम्मत अध्ययन वताया है। डा० जयकान्त मिश्र मिथिला की भाषा को एक स्वतत्र भाषा मानते है और भोजपुरी पर पश्चिम के प्रभाव के कारण उसकी व्याकरणसम्मत एकता को भी मैथिली से कम प्रभावशाली सिद्ध करते है। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, उसमें अनुपातगत वैभिन्य हो सकता है, लेकिन उत्पत्ति की दृष्टि से इस प्रसग में कोई वडी अर्थ-सिद्धि नही होती। इसके

---

१ वर्णरत्नाकर, पृष्ठ १३।

२ एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ७, पृष्ठ १८९, १८०१ ई०।

अतिरिक्त सास्कृतिक सामान्यता और व्यावहारिक सुविधा के कारण विहार की भाषाओ मे जो मेल हुआ है उसमें कोई स्पष्ट सीमा-रेखा खीच देना कठिन है। साहित्यिक स्तर पर एक समय शौरसेनी का प्रभाव वगाल तक प्रसरित था, इसका अर्थ यह नही कि वँगला की उत्पत्ति शौरसेनी से हुई। इसी तरह भोजपुरी शौरसेनी प्राकृत या अपभ्रश की आधुनिक आर्यभाषाओ से प्रभावित होते हुए भी जन्म से मागधी अपभ्रश से सम्बद्ध है। भाषाएँ आपस में कई कारणो मे एक दूसरे का प्रभाव ग्रहण करती रहती है। भोजपुरी की भी यह गतिविधि हो सकती है और ऐसा ही विहार की अन्य भाषाओ के विषय में भी कहा जा सकता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नही हो सकता कि ये उत्पत्ति या प्रकृति की दृष्टि से विभिन्न है।

मैथिली भाषा मिथिला प्रदेश के हिन्दू और मुसलमान, सभी के द्वारा वोली जाती है। मध्यकाल की मैथिली भाषा साहित्यिक दृष्टि से अपनी अन्य प्रादेशिक विहारी भाषाओ से असदिग्ध रूप से समृद्ध है। मिथिला के अधिवासी ब्राह्मणो और कायस्थो ने इस साहित्य की श्रीवृद्धि मे हाथ वँटाया। नरपतियो ने राज्याश्रय देने के अतिरिक्त प्रचुर साहित्य-रचना भी की। मुसलमानो के मर्सिया गीत भी मैथिली में मिलते है। मैथिली साहित्य के सम्भारो से इसके सास्कृतिक पक्ष पर प्रकाश पडता है। यहाँ के लोग सगीत और कला के प्रेमी प्रतीत होते है। सगीत के शास्त्रीय विवेचन को यहाँ के कलाकारो द्वारा परिपक्वता प्राप्त हुई। सास्कृतिक दृष्टि से वहुत पुराने समय से मिथिला शिव और शक्ति का उपासक रहा है। मिथिला प्रदेश में तीर्थस्थानो और देवी-देवताओ की भी भरमार है। वहाँ की जनरुचि में अद्भुत धर्मनिष्ठता, सस्कृतपरायणता और भावमयता मिलती है। मध्यकाल में और क्रमश आधुनिक काल में कुछ रूढिग्रस्तता और सामाजिक कमजोरियाँ भी देखने में आती है। यह केवल मिथिला की अपनी कमी नही है, यह तो देश, काल और पात्र के भेद के आधार पर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से १८५० ई० (स० १९०७ वि०) तक का मैथिली साहित्य दो कालो में विभक्त किया जा सकता है—

(१) प्रारम्भिक काल ९०० ई० से १३०० ई० (स० ९५७ से १३५७ वि०),
(२) मध्यकाल १३०० ई० से १८५० ई० (स०१३५७ से १९०७ वि०)।

इस अवधि में मैथिली साहित्य में गीतिकाव्य, प्रवन्धकाव्य, नाटक और अन्य प्रकार के गद्य की रचना हुई।

अन्य आधुनिक आर्य भाषाओ की भाँति मैथिली का प्रादुर्भाव भी ९०० ई० के लगभग हुआ होगा, किन्तु प्रारभिक काल की कोई भी सम्पूर्ण, स्वतत्र रचना आज उपलब्ध नही है। मैथिली का प्रारम्भिक रूप कान्ह, भूसुक इत्यादि वज्रयान सम्प्रदाय के वौद्ध सिद्धाचार्यो की रचनाओ में यत्र तत्र देखने को मिलता है। सिद्धो का सवध मगध से था, लेकिन चर्यापदो की भाषा में अधिक विविधता है और उसमें वगला, उडिया, मैथिली, भोजपुरी, मगही और असमिया शब्दो का प्रयोग हुआ है। इन विविधता का कारण यह है कि मेलो और तीर्थो के कारण शब्दो का आदान-प्रदान स्वाभाविक रूप से होता रहा होगा। 'वौद्धगान' और 'दोहाकोश' का सम्बन्ध वँगला, उडिया और असमिया के प्रारम्भिक रूप से जोडा जाता है और अब इनमें हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की भी स्थिति का अनुमान किया जाता है। इनमें उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रारम्भिक

मैथिली के स्वरूप का भी अनुमान होता है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र की 'भामती टीका' और सर्वदानन्द की 'अमरकोश टीका' में सस्कृत के पर्यायवाची मैथिली शब्द मिलते है। मैथिली गद्य का प्राचीनतर रूप हमें **ज्योतिरीश्वर** कृत 'वर्णरत्नाकर' में उपलब्ध होता है, जिनका समय सन १३२४ ई० (स० १३८१ वि०) के लगभग है। ज्योतिरीश्वर की शैली सस्कृतगर्भित और प्रौढ है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके पूर्व भी मैथिली मे अनेक ग्रथ लिखे गए होंगे जो आज अप्राप्य है। उपलब्ध सामग्री के अभाव में ज्योतिरीश्वर ठाकुर का 'वर्णरत्नाकर' मैथिली साहित्य की सर्वप्रथम रचना है। इस गद्य पुस्तक मे काव्य-रचना और सगीत के उपादानो का महत्वपूर्ण सकलन हुआ है। जहाँ तक इसकी प्रौढ रचना-शैली का प्रश्न है डा० अमरनाथ झा ने लिखा है, "तेरहवी शताब्दी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने मैथिली मे 'वर्णरत्नाकर' नामक सुन्दर ग्रथ की रचना की। इसकी लेखन शैली 'कादम्बरी' से समता रखती है।"[1] 'वर्णरत्नाकर' में 'कादम्बरी' के टक्कर की आलकारिता और वर्णन-पद्धति का दर्शन होता है। उगते हुए चन्द्रमा की शोभा का आलकारिक वर्णन कवि ने किया है जिससे उसकी वर्णनपटुता और अलकारप्रियता का अनुमान होता है—"निशा क नाइका क शखवलय अइसन, आकाश दीक्षित क कमडल अइसन, चन्द्रकान्त क प्रभा अइसन, तारका क सार्थवाह अइसन, पश्चिमाचल क तिलक अइसन, अधार क मुक्तिक्षेत्र अइसन, कन्दर्प नरेन्द्र क जश अइसन, लोकलोचन रसायन अइसन, एवम्विध चन्द्र उदित भ उअह।" इसके अतिरिक्त 'वर्णरत्नाकर' के वर्णनो से तत्कालीन सामाजिक जीवन का बहुत ही स्पष्ट ऐतिहासिक चित्र भी हमे उपलब्ध होता है। इसमें कान्ह, भूसुक इत्यादि सिद्धाचार्यों का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार ज्योतिरीश्वर से मैथिली साहित्य का प्रारम्भकाल मान लेने पर भी मैथिली का साहित्य लगभग छ सौ वर्ष पुराना सिद्ध होता है।

मध्ययुग के मैथिली के सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि **विद्यापति ठाकुर** है। उनके जन्म-सवत के सबध में बहुत विवाद है। किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर अनुमानत उनका जन्म १३६० ई० (स० १४१७ वि०) में हुआ होगा। उन्होने महाराज कीर्तिसिह के नाम पर 'कीर्तिलता' की रचना की थी। 'कीर्तिलता' की रचना सन १४०४ से १४०५ ई० (स० १४६१ से १४६२ वि०) के बीच हुई थी। किन्तु विद्यापति का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध महाराज कीर्तिसिह के पौत्र महाराज शिवसिह तथा उनकी प्रसिद्ध महारानी लखिमादेवी से था। विद्यापति ने शिवसिह की प्रशसा में 'कीर्तिपताका' की रचना की थी, जिसकी भाषा अवहट्ट है। इसी समय उन्होने अपने 'पुरुष परीक्षा' नामक सस्कृत ग्रथ को भी पूरा किया था जो वास्तव में छोटी कहानियो का सग्रह है। उनके सस्कृत ग्रथो में 'शैवसर्वस्वसार', 'गगावाक्यावली' तथा 'दुर्गाभक्तितरगिणी', क्रमश शिव, गगा, एव दुर्गा में उनकी प्रगाढ आस्था के परिचायक है। अनेक तीर्थों के परिचयस्वरूप उन्होने 'भूपरिक्रमा' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी, 'दानवाक्यावली' में विविध प्रकार के दानो का वर्णन है। इसी प्रकार 'गयापत्तलक' में गयाश्राद्ध के समय की जाने वाली श्राद्ध विधि, तथा 'वर्षकृत्य' मे गृहस्थ द्वारा वर्ष भर में किए जाने वाले अनुष्ठानो एव कृत्यो का विवेचन है। उन्होने

---

१ दे० मैथिली लोकगीत की भूमिका, पृष्ठ ८।

लेखन-कला के सम्बन्ध में 'लिखनावली' तथा एक और ग्रन्थ 'विभागसार' की रचना की थी। अवहट्ठ में उनका प्रथम काव्य 'कीर्तिलता' भाट की भणिति में है। यह चार पल्लवों में विभक्त है। अवहट्ठ के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए विद्यापति कहते हैं—

सक्कय बाणी बहुअ न भावइ, पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा॥

विद्यापति की मृत्यु सम्भवतः १४४८ ई० (सं० १५०५ वि०) में हुई थी।

विद्यापति की प्रशंसा एवं प्रतिष्ठा के आधार उनके मैथिली के पद हैं। इन पदों में ही हमें उनकी प्रतिभा का प्रकाश मिलता है। विद्यापति के ये पद मुख्यतः से प्रेम सम्बन्धी हैं यद्यपि उन्होंने भक्ति सम्बन्धी भी कतिपय पद रचे हैं। उनके प्रेम सम्बन्धी पद तिरहुति, बटगमनी, मान आदि रागों में मिलते हैं। भक्ति विषयक पदों का सम्बन्ध शक्ति, शिव तथा गंगा से है। विद्यापति के ये पद इतने संवेदनात्मक और भावपूर्ण हैं कि उन्होंने लोक हृदय में सहज ही अपना स्थान बना लिया है। विद्यापति के प्रेम सम्बन्धी पदों में कृष्ण और राधा की प्रेमलीला वर्णन का माध्यम बन गई है। कृष्ण-कथा के संक्षिप्त संदर्भ में कवि ने अपनी भावुकता से मानवीय हृदय की संवेदनात्मक सचाई को काव्य रूप दिया है। इन पदों में मानवीयता का इतना प्रत्यक्ष और मोहक रूप प्रगट हुआ है कि लगता है कि कवि ने मानवीय प्रेमलीला को ही अपने काव्य का अभिप्रेत विषय बना लिया है। कवि ने अपने कुछ पदों में मधुरिमा और भावाभिव्यंजना के द्वारा राधा-कृष्ण के प्रेम को अधिक सशक्त बनाया है। डा० ग्रियर्सन ने इन्हीं को दृष्टि में रखकर कहा है—

'हिन्दूधर्म का सूर्यास्त भले ही हो जाय, वह काल भी आ जाय जब कृष्ण में श्रद्धा और विश्वास की कमी हो जाय, कृष्ण प्रेम विषयक स्तुतियों के प्रति जो सांसारिक रोगों की औषधि है भरोसा खो जाय, फिर भी विद्यापति के राधा और कृष्ण विषयक प्रेम गीतों का विनाश नहीं हो सकता।'

विद्यापति के काव्य में वर्ण्य विषय को लेकर आलोचकों में बहुत विवाद है। कुछ लोग उन्हें नितान्त शृंगारी और काम प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करनेवाले कवि मानते हैं तथा कुछ उन्हें भक्त कवि। उनकी काव्य विषयक मनःस्थिति और परिस्थिति को देखने से प्रतीत होता है कि वे मूलतः रूप से अपनी रचना के आधार पर गुण और मात्रा, दोनों के अनुसार शृंगारी कवि हैं, यद्यपि मानसिक अवस्था-भेद और परिस्थिति से प्रेरित उनके भक्तिपूर्ण उद्गार भी प्रस्फुटित हुए हैं। जहाँ तक उनकी काव्य विषयक प्रेरक-शक्तियों का प्रश्न है दरबारी प्रभाव के कारण शृंगारिक मनोवृत्ति का होना स्वाभाविक है। सम्भवतः जयदेव की शृंगारिक परम्परा से अनुप्राणित होकर भी कवि ने राधा-कृष्ण प्रेमलीला को मानवीय भाव का रूप दिया होगा। इस क्षेत्र में जयदेव के 'गीतगोविन्द' का शैली तथा वर्ण्य विषय दोनों दृष्टियों से उन पर प्रभूत प्रभाव है। यह बात दूसरी है कि अपनी प्रतिभा से उन्होंने काव्य में अधिक दीप्ति उत्पन्न कर दी है और 'अभिनव जयदेव' की उपाधि प्राप्त कर ली। इस क्षेत्र में संस्कृत साहित्य के रूढ़ काव्य-उपादानों को भी नई अभिव्यंजना के सहित प्रकट करना उनकी प्रतिभा का परिचायक है। शृंगार और भक्ति का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर लगता है कि शृंगार से तृप्ति एक कवि का अनुभवसिद्ध

मन ऊँची अवस्था में भक्ति की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ होगा। विद्यापति के अनेक पद धार्मिक विश्वासो से ओतप्रोत हैं। जहाँ तक विद्यापति के सप्रदाय का प्रश्न है, लोग क्रमश उन्हें वैष्णव भक्त, सहजिया-साप्रदायिक, पचदेवोपासक, स्मार्त, शाक्त और शैव सिद्ध करते हैं। लेकिन सत्य यह है कि उक्त देवो के सम्बन्ध में विद्यापति के उद्‌गार किसी सम्प्रदाय में वँधकर नही लिखे गए। इन धार्मिक प्रसगो से सम्बद्ध पदो में कवि का अन्तर्मन भक्ति और शाति की ओर आकृष्ट है।

विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक पद लौकिक शृगार से ओतप्रोत है। इस प्रसग में 'परम पद', 'परमानन्द' का जहाँ तक प्रयोग हुआ है, वह कई आलोचको द्वारा आलकारिक रूप मे गृहीत है, आध्यात्मिक रूप में नही, और वस्तुत ऐमे ही पदो के आधार पर विद्यापति को रहस्यवादी सिद्ध करना समुचित न होगा। कुछ आलोचको ने राधा और कृष्ण को प्रतीक रूप में ग्रहण कर विद्यापति के पदो की रहस्यात्मक व्याख्या की है। इस क्षेत्र मे कहना यह है कि विद्यापति ने कृष्ण-कथा का अति सक्षिप्त सदर्भ अपनाया है और उसमे इन प्रतीको के परम्परागत निर्वाह का कोई सकेत नही दिया है। इन पदो में अधिकाश रूप से राधा और कृष्ण का प्रणय लौकिक भित्ति पर ही चित्रित है। राधा और कृष्ण का स्पष्ट नामोल्लेख भी वहुत कम पदो मे मिलता है। इसके अतिरिक्त नायक-नायिका के हाव-भावो, प्रणयचित्रो, मान, अभिसार, वय सन्धि, मिलन इत्यादि के चित्रण में कवि का मानवीय पक्ष ही स्पष्ट रूप से प्राधान्य पा सका है। नायक की अपेक्षा कवि का ध्यान नायिका की ओर अधिक है और नायिका के नखशिख के वर्णन मे कवि ने कही कही विलास की सीमा पार कर दी है, जिसमें उसके घोर शृगारी रूप का दर्शन होता है। विद्यापति के पदो में वर्णित प्रेम के इस मानवीय रूप को स्पष्ट करते हुए विनयकुमार सरकार का अभिमत है कि लौकिक भावना का मानव सम्बन्धो के मध्यस्थ इतना भव्य सम्मिश्रण और इस के तुल्य उच्च कोटि का चित्रण भारतवर्ष के साहित्य में विद्यापति के अतिरिक्त और किसी अन्य ने हमारे समक्ष नही रक्खा।[1] इस प्रकार यह कवि के प्रेम विषयक मानवीय स्तर का पोषक पक्ष है। यह भी सत्य है कि कवि के राधा-कृष्ण विषयक ही कुछ पद भक्ति के निकट हैं और उच्चकोटि के है, जिन्हें कई उत्कृष्ट वैष्णव भक्तो और जनसाधारण द्वारा मान्यता प्राप्त हुई है। परतु इनके स्वरूप का अन्तिम निर्णय विवादग्रस्त है।

राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसगो का चारु चित्र विद्यापति ने गेय शैली में उतारा है। इसके लिए प्रेम के विविध पक्षो और मनस्थितियो को उन्होने अपनाया तथा समाज की समवेदना को अपने हृदय मे प्रतिष्ठित कर एव उसे परिष्कृत कर कवि ने अपनी भावना की गहरी अभिव्यक्ति की है। गीतिकाव्य की समस्त तात्विक मान्यताओ की प्राप्ति कवि की भावनागत अभिव्यक्ति में हो जाती है। आतमनिष्ठता, ध्वन्यात्मकता, भावैक्य, सक्षिप्तता और प्रेम का शाश्वत मनोभाव जो गीति का प्राण है, विद्यापति के गीतो मे प्राधान्य पा सका है। कवि का हृदय इन प्रेम के शाश्वत प्रसगो को समष्टि से वाहर निकालकर अपने व्यष्टि मे वैठाता है और उसकी गहरी अनुभूति से प्रेरित हो उसकी सहज और लोकव्यापी अभिव्यक्ति करता है। चितन और दार्शनिक प्रतिपादन से रहित विद्यापति का काव्य अवश्यमेव 'मनोवेगो का शब्दो द्वारा सगीतात्मक प्रदर्शन' है।

---

१. लव इन हिंदू लिटरेचर, पृष्ठ २०-२१।

मानव-प्रेम के सयोग और वियोग के उभयपक्ष हृदयहारी है और इनके माध्यम से कवि अपनी अभिव्यक्ति में सवेदना की सृष्टि करता है। इस सवेदना में जितनी सहजता, सरलता, सम्पूर्णता और उल्लासमयता होती है, उतना ही अधिक उसके साथ लोकमानस का लगाव रहता है। वस्तुत इन्ही गुणो के कारण आज भी विद्यापति के पद मिथिला, वगाल और भोजपुर के लोकमानस से अहरह अभिव्यक्ति पाते है। कृष्ण और राधा की प्रणय-लीला आज भी उनके मन को झकझोरती ह और उसकी सवेदना मे वे वैयक्तिकता की अनुभूति प्राप्त करते हैं—

"नन्द के नन्दन कदम्व के तरु तरे
धीरे धीरे मुरली वजाव।
समय सँकेत निकेतन वसइल
वेरि वेरि वोल पठाव
सामरि तोरा लागे अनुखने विकल मुरारि॥"

कवि विद्यापति का सौंदर्यवोध इतना प्रगाढ था कि उसकी रागात्मक अभिव्यक्ति मे गेयता स्वत समाविष्ट हो गई है। मनोभाव जव हृदय के मर्म को स्पर्श करते है तो कवि का भाववोध नई दीप्ति से साकार हो उठता है। विद्यापति की सारी पदावली प्रेम के नैसर्गिक चित्रो से भरी हुई है। राधा के माध्यम से कवि ने अति शोभनीय और भारतीय परम्परा के अनुकूल प्रेम की रूपरेखा हमारे समक्ष रक्खी है, उदाहरणार्थ—

सखि कि पूछसि अनुभव मोय
से है पिरीत अनुराग वखानिए
तिले तिले नूतन होय॥

इस प्रकार कवि ने एक से एक सुन्दर पदो की सृष्टि की है। पुनरावृत्ति का लेश भी उनकी पदावली में प्रतीत नही होता और भावैक्य की घनीभूत अवस्था में कवि ने विविध प्रकार के गीत गाए है।

विद्यापति के विरह-पदो की सुषमा निराली है। प्रेम के क्षेत्र में विरह का वर्णन हृदय-द्रावक है। कवि ने सयोग और प्रणयलीला के सुन्दर चित्र तो चित्रित किए ही हैं, पर विरह की विषम और हृदयद्रावक परिस्थिति की भी मर्मस्पर्शी अभिव्यजना उसके पदो में हुई है। विरह-वर्णन के उपादान परम्परागत और कवि-प्रसिद्धियो से सवलित हैं, फिर भी लोकगीति-परम्परा का कवि का विरह-वर्णन वडा ही प्रभावशाली है। कवि-परम्परा में रूढ काव्य-उपादानो के साथ भी कवि ने लोक शैली से प्रेरणा ग्रहण कर विरह की कसकती अनुभूति से साक्षात्कार किया है—

चानन भेल विपम सर रे,
भूषन भेल भारी।
सपनहु हरि नहि आयल रे,
गोकुल गिरधारी।

एकसरि ठाढि कदम तर रे,
पथ हेरति मुरारी।
हरि विनु हृदय दगध भेल रे,
झामर भेल सारी॥

इसी प्रकार 'सखि रे हमर दुख क नहिं ओर' मे सामान्य लोकगीत शैली मे विरहणी की विकलता चित्रित है। दुःख के क्षणो मे मनुष्य अपनी पीडा से विवश अपनी भावना का प्रक्षेप प्रकृति के उपादानो में करता है जो उसका जीवन सहचर है। इसी को दृष्टिगत कर सभी कवियो में विरह की सवेदनात्मक अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से पाई जाती है। ऐसी अवस्था मे 'मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छतिया' जैसे कई पदो में प्रकृति मानवीय मनोभावो से सम्वन्ध स्थापित करती हुई चित्रित की गई है। प्रकृति का यह मानवीय सम्वन्ध विरह को उद्दीप्त करता है। वर्णन में उसकी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियो को अवस्थानुसार अपनाया जाता है।

कवि विद्यापति की गेय पदावली का एक दूसरा रूप है जो भक्ति की ओर अभिमुख है। सामन्ती समाज से अनुप्राणित कवि का जीवन प्रेम की कसक का अनुभव करते हुए वुढापे के समय भक्ति की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ होगा। जीवन के पर्यवसान काल मे उसमें अपने यौवन की आकाक्षाओ और विलासो के प्रति अवश्य स्वाभाविक उपेक्षा-भावना जागी होगी। 'निधुवने रमनी रस रँग मातल तोहि भजब कोन वेला' जैसे पदो में कवि को इसी मनस्थिति की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे पदो मे हम देखते हैं कि कवि का हृदय सचमुच भक्ति और शान्ति की ओर अभिमुख हुआ है और परिताप से आक्रान्त हो उसमें आत्मसमर्पण की भावना फूट पडी है। इसी प्रकार के एक पद की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

माधव हम परिनाम निरासा।
तुहु जगतारन दीन दयामय
अतए तोर विशोयासा॥

विद्यापति मैथिली के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि है। प्रारभ में उन्हे आलोचको ने बंगला का कवि घोषित किया था। इसका मुख्य कारण था विद्यापति की पदावली मे बँगला शब्दो का पाया जाना। अनुसधान के साथ साथ जितने पद विद्यापति के मिले उनसे मिथिला प्रदेश की भाषा ही उनकी अपनी भाषा सिद्ध हुई। 'देसिल वयना' तो उनके अन्त साक्ष्य पर ही उनके काव्य की भाषा है। यह वात भी है कि उनके द्वारा रचित कहे जाने वाले पदो मे कही कही बँगला और उडिया के मुहावरे और लोकोक्तियाँ पाई जाती हैं। सम्भव है, यह स्थिति भी उनके पदो की लोकप्रियता के कारण हुई हो। सस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्दो का प्रयोग विद्यापति की पदावली में मिलता है। इस विषय में सतीशचन्द्र राय का अनुभवसिद्ध अभिमत है कि "विद्यापति की पदावली की भाषा उनके द्वारा वनाई नही गई थी, वह मिथिला की तत्कालीन प्रचलित भाषा है, उसमें सस्कृत के तत्सम शब्दो से अधिक तद्भव मैथिली शब्द और मिथिला के रीति-सिद्ध प्रयोग वहुत देखे जाते है।"[1]

---

१ देखिए विद्यापति, पृष्ठ ८७, खगेन्द्रनाथ मित्र, विमानविहारी मजूमदार।

विद्यापति ने मैथिली साहित्य में अपनी काव्य-प्रतिभा से एक गीति-परम्परा का निर्माण किया। हिन्दी के प्रसिद्ध गायक कवि सूरदास पर विद्यापति की काव्यधारा का प्रभाव बताया जाता है। बगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त और रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी विद्यापति के काव्य से प्रेरणा ग्रहण की है। जहाँ तक लोक-चेतना में कवि की व्याप्ति का प्रश्न है, भोजपुरी-मगही क्षेत्र में जनसाधारण में भी उनके पद गाए जाते हैं। मिथिला के तो वे प्राण ही हैं। बगाल और उडीसा के जन-मानस में भी उनका कम महत्वपूर्ण स्थान नही है।

मैथिली साहित्य के मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में विद्यापति के समकालीन अनेक कवियो ने उनकी गीति-परम्परा में रचना की। यो तो इस काल में श्रेष्ठ नाटक रचनाएँ भी हुई है, किन्तु उनका उल्लेख बाद मे किया जायगा। डा० जयकात मिश्र ने इस मध्ययुग के पूर्वार्द्ध को अध्ययन की सुविधा के लिए दो कालो में विभक्त किया है। उन्होने विद्यापति के समकालीन कवियो की अवधि १४०० ई० से १५२७ ई० (स० १४५७ से १५८४ वि०) तक मानी है और इसके उपरान्त १५२७ से १७०० ई० (स० १५८४ से १७५७ वि०) तक के काल को विद्यापति के उत्तराधिकारी कवियो का समय माना है। विद्यापति की पुत्रवधू **चद्रकला** महाराज महेश ठाकुर की समकालीन थीं। उनकी भी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती है। लोचन कवि ने उन्हे सादर 'इति विद्यापति पुत्र-वध्वा.' कह कर उल्लिखित किया है। मैथिली की इस कवयित्री ने अपनी कविता मे सस्कृत-प्रियता का परिचय दिया है। विद्यापति के समकालीन दूसरे प्रसिद्ध कवि **अमृतकर** है। ये कायस्थ परिवार के थे। इनके पदो के अत साक्ष्य से सूचित होता है कि वे विद्यापति के समकालीन थे। स्वत कवि विद्यापति ने इनके गुणो की चर्चा अपने एक पद में की है। इस कवि की रचनाओ से दरबारी मनोवृत्ति की अधिक तुष्टि हुई। इनके प्रेम विषयक गीत सुन्दर हैं और सम्भवत इनकी रचना विद्यापति की पदावली के अनुकरण मे हुई है। विद्यापति की पुत्र-वधू चद्रकला के अतिरिक्त सम्भवत उनके पुत्र **हरपति** की भी रचनाएँ उपलब्ध होती है। इनके द्वारा रचित 'शास्त्रव्यवहार प्रदीपिका' नामक ज्योतिप ग्रथ की भी चर्चा मिलती है। इसी समय के एक प्रसिद्ध कवि **चतुर चतुर्भुज** है, जिन्होंने नैपध की अनुकृति पर 'हरिचरित' काव्य लिखा है। विद्यापति के समकालीन **भानुकवि, गर्जसिह, भिखारी मिश्र, मधुसूदन, जीवनाथ** आदि बीसो कवियो की स्फुट रचनाएँ उपलब्ध होती है। इन सभी कवियो ने ओइनी वश के अधिपतियो के राजाश्रय से लाभ उठाया और अपने विद्या-विनोद से काव्य साहित्य को सम्पन्न किया। इस काल में राजा शिवसिंह के उपरान्त मैथिल गीति-साहित्य को सर्वाधिक प्रश्रय कवि और काव्य प्रेमी राजा कसनारायणसिंह से मिला। इनके नाम से प्रचलित एक पदसग्रह भी मिला है।[1] इनका नाम मैथिली गीति-साहित्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता है। इनके राजाश्रय मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मैथिल कवि **गोविन्ददास, काशीनाथ, रामनाथ, श्रीधर** आदि को प्रश्रय मिला, जिनमें सर्वाधिक लोकप्रिय गोविन्ददास थे।

विद्यापति ने मैथिली गीतिकाव्य की जो परम्परा चलाई उसमें अनेक श्रेष्ठ कवियो ने योगदान किया। लोचन कवि ने अपने काव्य 'राजतरगिणी' मे मिथिला के ३८ गीतिकार

---

१ मैथिली साहित्य का इतिहास (अग्रेजी सस्करण) भाग १, डॉ० जयकांत मिश्र, पृष्ठ २२०।

कवियो की सुन्दर और श्रेष्ठ रचनाओ का सकलन किया है। प्रारम्भ में विद्यापति के समान इन्हें भी बँगला का कवि समझा जाता था। लेकिन बाद में डा० समुद्र झा के अध्यवसाय से उनकी मैथिली रचनाओ पर प्रकाश पडा और वे मिथिला के प्रसिद्ध कवि सिद्ध हुए। लोचन ने स्वत अपने को विद्यापति की परम्परा में स्वीकार किया है और इन्होने भी राधा-कृष्ण की प्रेमकेलि के वर्णन से अपने काव्य को मण्डित किया है। शक्ति के उपासक कवि लोचन ने अपनी इष्टदेवी की उपासना मे भक्ति विह्वल गीत गाए हैं। प्रेम के विविध हाव-भाव, विलास तथा अभिसार का सुन्दर चित्रण इस कवि ने भी किया है। अभिसारिका का सुन्दर चित्रण इनकी शब्द-योजना और काव्यपटुता का परिचायक है—

आनन्दकन्दा पुनिमेक चन्दा, सुमुखि वदन तह मन्दा।
अधरे मधुरी सामरि सुन्दरी, विहुसि चितए सित कुसुम सिरी।
पथ मेलती घनी दामिनी, सन व्रजराज जनी।
चिकुर चामरा मुदिर सामरा, नलिन नयन सुखकारा।
काम रमनी जहिनीव तहिनी, दसन चमक जन हीरक।

इस काल के दूसरे प्रसिद्ध गीतिकार **गोविन्ददास** है जो विद्यापति के बाद के सर्वोत्तम कवियो में से एक है। इनकी पदावली का सम्पादन डा० अमरनाथ झा ने किया है। कुछ आलोचक इनके काव्य-सौंदर्य पर इतने आकृष्ट है कि वे इनकी तुलना विद्यापति के साथ गौरव से करते है। इनकी पदावली बडी मधुर और अर्थ-गौरव से परिपूर्ण है। प्रारम्भ में गोविन्ददास को भी बँगला का कवि समझा जाता था, लेकिन इस भ्रात धारणा का निराकरण भी नगेन्द्रनाथ गुप्त ने किया और उन्हें मैथिली का कवि प्रमाणित किया। गोविन्ददास विद्यापति की गीति-परम्परा की एक महत्वपूर्ण कडी है। उन्होने राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को अपनी सरस पदावली में वर्णित किया है और उसकी समलकृति के लिए काव्य के परम्परागत उपादानो को अपनाया है। राधा के अभिसार वर्णन में कवि ने ललित शब्दो के माध्यम से एक अद्‌भुत चित्रमयता की सृष्टि की है, जिसके लिए उनका काव्य ख्यात है—

कटक गाडि कुसुम सम पदतल मजिल चोरहिं झापि।
गागरि वारि वारि कर पिच्छल चलतँह अगुलि चाँपि॥
माधव तुम अभिसारक लागि॥

गोविन्ददास रससिद्ध कवि थे। वे विद्यापति की रसमयता से अनुप्राणित हो अपनी काव्य-रचना को अधिक सरसता और अर्थमयता प्रदान कर सके है। विद्यापति के उत्तराधिकारी अन्य कई छोटे कवियो का नाम मैथिली साहित्य मे मिलता है, जिनमें महाराज **महेशठाकुर** का नाम अविस्मरणीय है। नरपति मिथिला के एक नवीन राजवश के सस्थापक थे। वे दर्शन के प्रगाढ अध्येता और सुकवि भी थे। जीवन के अवसान-काल की इनकी रचनाएँ भक्तिपूर्ण उद्‌गारो से परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मध्ययुग में इसी समय में नैपाल के राजवश से सम्बद्ध कवियो की भी एक तालिका मिलती है जिन्होने मैथिली साहित्य को अपनी रचनाओ से समृद्ध किया।

मैथिली साहित्य के मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में भी गीतिकार कवियो की पुरानी परम्परा विकसित होती हुई दिखाई देती है। लोचन और गोविन्ददास की गीति-परम्परा इस काल मे अग्रसर हुई। इस काल में सन १७४४–१८३८ ई० (स० १८०१-१८९५ वि०) के मध्य के मिथिला-नृपतियो में क्रमश महाराज नरेन्द्रसिंह, माधवसिंह, छत्रसिंह, रुद्रसिंह के शासन-काल मे मैथिली गीति-परम्परा को प्रोत्साहन मिला और कई गीतिकारो ने अपनी रचनाओ से साहित्य को समृद्ध किया। आस-पास के मुसलमान नवावो की हुकूमत से इस साहित्य की गतिशीलता में कुछ अवरोध भी आया था। इस काल में मैथिली साहित्य के लोक-साहित्य की विधाओ ने भी शिष्ट साहित्य को महत्वपूर्ण प्रेरणा दी। तत्कालीन **कविशेखर भजन, रमापति उपाध्याय, माधव, श्रीपति, महिनाथ, चक्रपाणि, रत्नपाणि** आदि अन्य अनेक कवियो ने सोहर, वटगमनी, गोलारी ओर नचारी की लोक शैली में वहुत से सुन्दर गीतो की रचना की। इन गीतो की परम्परा विद्यापति की पदावली से आद्योपान्त प्रभावित रही। १८वी शताब्दी के मध्य में इन गीतिकारो की एक शाखा भक्ति और दार्शनिकता की ओर अधिक झुक गई है। इस प्रकार की रचनाओ में **साहेव रामदास, लक्ष्मीनाथ गोसाईं, हरिकिंकरदास** की रचनाएँ भक्ति और दर्शन से अधिक अनुप्राणित हैं।

मध्यकाल में इस गीतिकाव्य के अतिरिक्त कुछ **प्रवन्ध काव्यो** की भी रचना हुई। मैथिली प्रवन्धकाव्य का सर्वप्रथम प्रणयन **मतबोध झा** से शुरू हुआ जिनका समय १८वी शताब्दी के मध्य में पडता है। इनके समकालीन कई कवियो ने खण्डकाव्य जैसी लम्बी कविताओ का सर्जन किया है जिनके आलोचनात्मक और गवेषणात्मक विवेचन की अपेक्षा है। यह सम्भव है कि इन कवियो की रचनाओ और कुछ कवियो की सस्कृत से अनुवादित रचनाओ ने मनवोध को प्रवन्ध काव्य की रचना की प्रेरणा दी हो। इनके प्रवन्ध काव्य का नाम 'कृष्णजन्म' है, जिसे मैथिली का आदिकाव्य कहा जाता है। कृष्ण-चरित्र का सुन्दर और विस्तृत चित्रण इस काव्य में हुआ है। प्रवन्ध काव्य के अतिरिक्त मनवोध झा की तिरहुती और सोहर गीत वहुत लोकप्रिय है। मनवोध झा ने मैथिली प्रवन्ध काव्य की जो परम्परा चलाई उसका अधिक विकास उनके समय में न होकर आगे चलकर मैथिली साहित्य के आधुनिक काल में हुआ और चन्दा झा ने इस परम्परा को अधिक वलशाली वनाया। मनवोध झा के आसपास के कवियो ने स्फुट रचनाओ पर ही वल दिया। कुछ कवियो ने सस्कृत के काव्यो का मैथिली मे अनुवाद किया। **रतिपति भगत** ने 'गीतगोविन्द' का मैथिली में अनुवाद किया। इसमें कवि का उद्देश्य अनुवाद के साथ मौलिकता प्रदर्शन भी है। इसीसे इस कवि ने कई स्थानो पर कुछ नई स्थापनाएँ भी की हैं। मनवोध झा ने भी अपनी काव्य-रचना में 'हरिवश' और 'भागवत' का आधार ग्रहण किया है। लम्वी और प्रवन्धतुल्य रचनाओ में **चक्रपाणि** की 'रुक्मिणीहरण' और 'पारिजातहरण' तथा **शिवदत्त** की 'सीतारामविवाह' आदि रचनाएँ इस काल में उपलब्ध होती हैं। इनके अतिरिक्त अलकार, छद और प्रशस्ति विषयक लम्बे और प्रवन्धात्मक काव्यो की रचना भी इस काल मे हुई।

मध्यकाल में मैथिली साहित्य की सर्वाधिक समृद्ध विधा **नाटक साहित्य** की है। मध्यकालीन मैथिली नाटक साहित्य प्रचुर प्रामाणिक सामग्री से समाविष्ट है। मध्यकाल मे इन नाटको का प्रणयन नैपाल, मिथिला और आसाम प्रदेश में हुआ। इस प्रकार इन प्रदेशो में रचित नाटको की

एक लम्बी परम्परा और सरणि उपलब्ध होती है। इस काल मे ही मिथिला का शासक वर्ग जब मुसलमानी आक्रमण से आक्रात होने लगा, तो मिथिला राजवश के एक राजन्य हरिसिंह देव नैपाल में जाकर बस गए थे। बाद में चलकर इस वश के नृपतियो ने ही मिथिला के अपने पूर्व पुरुषो के वश से रक्त-सबध स्थापित किया। मैथिली के अनेक विद्वान समय समय पर अपना सबध इस राजवश से स्थापित करते रहे और उन्ही के साहचर्य से यहाँ मैथिली के नाटको का प्रणयन प्रारभ हुआ। मुसलमानी राज्य में सघर्ष और उथल-पुथल के कारण अभिनय का अवसर कम मिला और उनकी हुकूमती और धार्मिक व्यवस्था ने भी रगमच और नाट्य साहित्य के लिए कोई प्रोत्साहन नही दिया। इस तरह मिथिला में एक लम्बी अवधि तक नाट्य-रचनाओ का अभाव पाया जाता है। सस्कृत नाटको में देशी भाषा का प्रयोग विद्यापति के समय से ही होने लगा था। लेकिन इस परम्परा का भी मिथिला में बहुत काल तक कोई परिपोषण नही हुआ। नैपाल के नृपतियो ने अपने राजवश में मैथिली नाट्य साहित्य को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। सस्कृत के प्रकाण्ड अध्येता दरबारी कवियो ने सस्कृत नाटको का अनुवाद किया और उसी परपरा में देशी नाटको की रचना की। *डा० जयकान्त मिश्र के अनुसार १७वी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १८वी शताब्दी* के अर्द्ध चतुर्थ भाग तक मैथिली नाटको का नैपाल में ही सर्वाधिक अभ्युदय हुआ। इस अवधि मे नाटक साहित्य में मैथिली की प्रतिष्ठा हुई और सस्कृत के प्रयोग को कम करने की ओर सदा ध्यान रखा गया। नाटको की शिल्पगत रूपरेखा सस्कृत नाट्य-परपरा का परिवहन करती हुई प्रतीत होती है। स्वतत्र नाट्य-परम्परा की दृष्टि से अभी कोई सुस्थिर परपरा निर्मित नही हो पाई थी। गद्य का प्रोज्ज्वल और निखरा हुआ रूप भी इन नाटको में नही मिलता। नाटकीय सघर्षो और चरित्रो की वैज्ञानिक प्रतिष्ठापना में इन नाटको में आधुनिकता का अभाव है और गीतो का बाहुल्य है। इन नाटको के कथानक प्राय पौराणिक आख्यानो अथवा प्राचीन, प्रसिद्ध ऐतिहासिक वृत्तो पर आधारित है। मध्यकाल में प्रचलित कथाओ को भी उपजीव्य विषय बनाया गया है।

मैथिली नाटको से सबधित प्रभूत सामग्री नैपाल दरबार की लाइब्रेरी में उपलब्ध हुई है। इन उपलब्ध नाटको का एक सुन्दर प्रकाशन 'नैपाले बाँगला नाटक' शीर्षक से बगीय साहित्य परिषद से हुआ है। नैपाल के राजघराने कालातर में भटगाव से कई शाखाओ में फूट पडे। लगभग अन्य सभी राजवशो के अधिपतियो और शासको ने नाटको की रचना को प्रोत्साहित किया। फलत भटगाँव, काठमाण्डू, ललितपुर और वनिकपूर केन्द्रो से अनेक सुदर नाट्य-रचनाएँ प्रस्तुत की गई, जिनमें 'विद्यापतिविलाप', 'हरगौरीविवाह', 'पारिजातहरन', 'नवलचरित', 'महातुलादान', 'अभिनव प्रबन्धचन्द्रोदय', 'हरिश्चन्द्रनृत्यम', 'ललित कुवलयाश्व', 'उषाहरन', 'कृष्णचरित' और 'पाण्डवविजय' उत्कृष्ट है। नाटको की रचना की इस गतिविधि को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि नैपाल के नृपतियो ने मैथिली नाटको की रचना में जो योग दिया वह अमूल्य है।

मिथिला प्रदेश के अतर्गत विद्यापति के आसपास से ही नाटक-रचना प्रारभ हो गई थी। यहाँ के नाट्य साहित्य को प्रोत्साहन महाराज **शुभकर ठाकुर** (१५३८–१६१९ ई०=स० १५९५-१६७६ वि०) के पुर्व पुरुषो से मिलना प्रारभ हो गया था। ये महाराज महेशठाकुर के पुत्र थे और अपनी विद्याभिरुचि से साहित्य-सेवा में भी सक्रिय थे। मिथिला के कीर्तनिया नाटको का प्रादु-

र्भाव इसी खाण्डवाल कुल के अधिपतियो के प्रोत्साहन से हुआ। ये मूल मिथिला प्रदेश के नाट्य साहित्य के प्रेरणा स्रोत थे। मिथिला के कीर्तनिया नाटको में एक ओर सस्कृत परपरा का पोषण मिलता है और दूसरी ओर लोक के प्रति आकर्षण। देशज शैली के गीतो की प्राप्ति इन नाटको मे वहुलता से होती है। मैथिली नाटककारो में **उमापति उपाध्याय** का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इनकी प्रसिद्ध नाट्य कृति 'पारिजातहरन' उपलब्ध है। इनको महाकवि की सज्ञा भी दी गई है। इनकी नाट्य-कृतियो में गीति शैली का सुन्दर रूप मिलता है। उमापति के काल-निर्धारण में मत-वैभिन्य है परन्तु उनके रचना-सौष्ठव और गीति-सौंदर्य को देख कर यह अनुमान किया जाता है कि उनका काल विद्यापति के वाद ही रहा होगा। यो तो इस काल में वीसियो कवियो की रचनाएँ उपलब्ध होती है, लेकिन प्रमुख रूप से **रामदास झा** की नाट्य-रचना 'आनन्दविजय', **रमापति उपाध्याय** की 'रुक्मिणीपरिणय', **लाल झा** की 'गौरीपरिणय', **नन्दीपति** की 'कृष्णकेलिमाला', **देवानन्द** की 'उषाहरण' तथा **कर्णकायस्थ** की 'रुक्मागद' सुन्दर नाटक रचनाएँ है। इन सभी नाटककारो ने कथानक के लिए प्रसिद्ध पौराणिक उपाख्यानो का आश्रय लिया है। गीत सभी ने विद्यापति से अनुप्राणित हो लोक शैली में ही लिखे है। इन नाटककारो के गद्य में सस्कृतनिष्ठता है। इस परपरा में छोटी वडी कई नाट्य-कृतियाँ उपलब्ध है। मिथिला के साहित्य में इसका परिष्कार भी हुआ है और आगे चलकर इसमें हर्षनाथ झा जैसे सुप्रसिद्ध और सिद्धहस्त नाटक लेखक हुए है।

मैथिली नाटकों की एक रचना-परपरा आसाम प्रदेश मे भी मिलती है। आसाम प्रदेश में पाए जाने वाले मैथिली नाटको को 'अकियानट' कहा जाता है। आसाम के वैष्णव भक्तो ने जनसाधारण में अपनी विचारधारा के प्रसार के लिए इन नाट्य-रचनाओ को सर्वाधिक सशक्त वनाया है। आसाम के वैष्णव भक्तो ने १६वी शताब्दी से ही नाटक-रचना प्रारम्भ कर दी थी। अपनी नाट्य-कृतियो मे उन्होने मैथिली को ही क्यो प्रश्रय दिया, इसके कई कारण वताए जाते है। तीर्यवासियो के मध्यस्थ अपनी विचारधारा के प्रचारार्थ उन्होने विद्यापति की भाषा को अपनाना ही सुकर समझा, यह एक वर्ग के विद्वानो का मत है। इन वैष्णव भक्तो ने रामायण, महाभारत और श्रीमद्‌भागवत पुराण की कथाओ को अपनाकर, उनको अभिनय का रूप देकर जनता का रजन किया। आसाम के मैथिली नाटककारो में **शकरदेव** की नाट्य-रचना 'कालियदमन', 'रामविजय' एव 'रुक्मिणीहरण', **माधवदेव** की 'अर्जुनभजन', 'भोजनव्यवहार' और गोपालदेव की 'जन्मयात्रा' उत्कृष्ट और प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त भी कई अन्य छोटे वडे नाटक यहाँ उपलब्ध हुए है।[1] आसाम में उपलब्ध इन सभी नाटको का नाम 'अकियानट' है। श्री वरुआ ने 'अकिया' की उत्पत्ति 'अगिका अभिनय' से मानी है। यहाँ के नाटककारो में नाटकीयता कम और काव्यत्व अधिक मिलता है। प्राचीन पौराणिक और ऐतिहासिक उपाख्यानो की पृष्ठभूमि में तत्कालीन रीति-रिवाजो और व्यवहारो का भी यत्किंचित उल्लेख किया गया है। ये सभी नाटक धार्मिक उद्देश्य लेकर लिखे गए हैं और इनमें प्रभावोत्पादन की शक्तिशाली क्षमता है।

मध्यकालीन मैथिली **गद्य साहित्य** का स्वरूप कई स्रोतो में विभक्त है। मैथिली में गद्य

---

१. मैथिली साहित्य का इतिहास, भाग १, डॉ० जयकान्त मिश्र, पृष्ठ ३६३-६५।

का एक स्वरूप नाट्य-कृतियो मे देखने को मिलता है और उसका दूसरा रूप दरबारी कागजात तथा शासकीय लेखा जोखा और पत्रो में मिलता है। राजदरबारो से सम्बद्ध कागजात में मैथिली के व्यावहारिक गद्य का रूप मिलता है। इस गद्य की व्यावहारिक शैली की प्राप्ति 'गौरीवचा वाटिका', 'वहीखाथा', 'अजात पत्र', 'एकरार पत्र', 'जनौधि', 'निस्तार पत्र' शीर्षक मिथिला के मध्ययुग के कागजात मे मिलता है।[1] कुल मिला कर इन कागजात मे मैथिल के व्यावहारिक गद्य की उपलब्धि होती है। इसमे साहित्यिक दृष्टि से परिमार्जित गद्य शैली का अभाव है। यह सम्भव है कि भविष्य में इस गद्य-परपरा ने उसके प्रादुर्भाव और विकास मे सहायता पहुचाई हो। गद्य की ऐतिहासिक श्रृखला स्थापित करने में इस गद्य का महत्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि इसमें साहित्यिक गद्य के प्रोज्ज्वल रूप की प्राप्ति नही होती। इस गद्य का दूसरा स्वरूप मैथिली की नाटक-रचनाओ में मिलता है। मिथिला प्रदेश के कीर्तनिया नाटको की अपेक्षा आसाम प्रदेश के आँकिया नाटक गद्य की दृष्टि से श्रेष्ठ है। मिथिला के नाटको के गद्य में सस्कृत के गद्य के प्रति मोह है। नेपाल के नाटको में थोडा वहुत प्रश्रय मैथिली गद्य को मिला है लेकिन आसाम के मैथिली नाटक अधिकाश गद्य मे ही है। कही कही भावात्मक स्थलो पर वैष्णवो की अभिव्यक्ति ने सुष्ठु और आलकारिक रूप ले लिया है। इस प्रकार 'वर्णरत्नाकर' से प्रारम्भ होने वाली गद्य-परपरा की मध्यकाल तक कोई प्रौढ साहित्यिक रूपरेखा नही मिलती। सच वात तो यह है कि अन्य प्रादेशिक आर्यभाषाओ की भाँति मैथिली गद्य का उत्थान भी आधुनिक काल में ही हुआ जब हम विश्व-साहित्य के गद्य के साहचर्य मे अग्रेजी के माध्यम से आए। इसी कारण गद्य-साहित्य की अन्य विधाओ का मध्यकालीन मैथिली साहित्य में अभाव है।

मैथिली साहित्य के मध्यकाल तक की साहित्यिक गति विधि की उपर्युक्त सक्षिप्त रूप-रेखा है। इसमें कई कवियो का नामोल्लेख और लेखको की रचनाओ का आकलन विस्तार भय से निबन्ध के कलेवर को ध्यान मे रखते हुए नही हो पाया। मिथिला प्रदेश के विद्वानो की यह विशेषता वडी ही अनूठी रही कि उन्होने अपनी मातृभाषा को साहित्यिक माध्यम बनाया। इस दृष्टि से उसकी पडोसी भाषाओ—मगही और भोजपुरी— में इसका अभाव है। भोजपुरी भाषा-भाषी अपनी वोली को गौरव प्रदान करते है, किन्तु सस्कृत के व्यापक प्रभाव और राज्याश्रय के अभाव में वहाँ पहले से ही इस भाषा में साहित्यिक रचना का अभाव है। मैथिली का अपना अव तक का लगभग ७०० वर्षो का गौरवपूर्ण इतिहास है। इस काल मे कतिपय उत्कृष्ट कवि और नाटककार हुए है। विश्व-विश्रुत अभिनव जयदेव विद्यापति मैथिली साहित्य के प्राण है जिन्होने वँगला, व्रजभाषा जैसे धनी साहित्य के निर्माताओ को प्रेरणा दी है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक उत्कृष्ट कवि और लेखक है जिनकी तुलना शिष्ट साहित्य के किसी भी देश के लेखक के साथ की जा सकती है। इसके वावजूद इसका एक समृद्ध भाग लोक साहित्य का है जिसकी चेतना से मिथिला के जन-जीवन में प्राण स्पदन होता है। लोककवियो द्वारा रचित लोरिक, सहलेस, विहुला, सोठी प्रबधकाव्य की समता मे रक्खे जाने वाले लोकगाथात्मक काव्य है जो हमारे जीवन के साथ गतिशील है। लोरिक लोक काव्य की चर्चा 'वर्णरत्नाकर' के प्रथम अध्याय में है और वह आज भी

---

१ वही, पृ० २८०-२९०।

एक बहुत बडे भूमिभाग का लोक-काव्य है। विविध सस्कारो पर गाए जाने वाले गीतो और लोक-गायात्मक काव्यो मे मैथिली प्रदेश के जीवन की सास्कृतिक और सामाजिक अभिव्यजना हुई है। अन्तत मिथिला का सारा लोक-साहित्य यथार्थ और आदर्श के परिवेश में एक सवेदनात्मक भाव-धारा का वहन करता है जिसमें साहित्यिक सौदर्य है, भावमयता है और प्रभावोत्पादन की क्षमता है। लोक में प्रचलित नचारी, झूमर, सोहर, चाचर, चैतावार, वारहमासा, समदाउनि, श्याम-चकेवा से मिथिला के शिष्ट साहित्य ने समय समय पर प्रेरणा ली है और उसमें रसमयता का जीवन्त आभास हुआ है। मिथिला के साहित्यिक गौरव के लिए उसका यह सम्भार अक्षय निधि है। इस प्रकार मिथिला की सुरम्य धरती पर सर्वदा से कला और साहित्य को प्रश्रय मिलता रहा, जिसकी चरितार्थता एक कवि के इस गीत से होती है—

कवि क कथन अछि कलित कलामय,
छथि कमनीय वसत।
सुखद सरस ऋतुराज विराजथि,
साजथि देश दिगन्त।
माधव मधुप मुदित मधु लोचन,
छथि मोहन वलवन्त।
वेद पुराण समेत गवै छथि,
हुमि गुन गान अनन्त॥[1]

इस प्रकार मध्यकाल के मैथिल साहित्य से प्रेरणा लेकर और सामयिक प्रभावो के फल-स्वरूप मिथिला प्रदेश के अधिक कवि और लेखक अपनी मातृभाषा के मण्डन में लगे है जो उसके साहित्यिक गौरवशाली भविष्य का प्रतीक है।

प्रकाशित मैथिली साहित्य तथा मुख्य सहायक ग्रन्थो की सूची

१ ऐशियाटिक रिसर्चेज, कोलब्रुक।
२ कीर्तिलता, स० डा० वाबूराम सक्सेना, इडियन प्रेस, इलाहावाद।
३ गोविन्द गीतावली, सं० मथुराप्रसाद दीक्षित, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।
४ महाकवि विद्यापति, स० शिवनन्दन ठाकुर, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।
५ मैथिली क्रिस्टोमैथी (अग्रेजी), जार्ज ए० ग्रियर्सन।
६ मैथिली गद्य मजूषा, मित्र मण्डल, लहेरिया सराय, पटना।
७ मैथिली साहित्य का इतिहास भाग १-२, डा० जयकान्त मिश्र।
८ वर्णरत्नाकर, ज्योतीश्वर ठाकुरकृत, स० सुनीतिकुमार चाटुर्जा तथा वबुआ मिश्र।
९ विद्यापति, खगेन्द्रनाथ मित्र तथा विमानविहारी मजूमदार।
१० विद्यापति ठाकुर, डा० उमेश मिश्र, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहावाद।
११ विद्यापति गीत सग्रह, डा० सुभद्र झा, मोतीलाल वनारसीदास, वनारस।
१२ विद्यापति पदावली, स० रामवृक्ष वेनीपुरी, पुस्तक भण्डार, लहेरिया सराय, पटना।

१. देखिए 'मैथिल बन्धु' होलिकाक, मार्च, १९३९।

१५. हिन्दवी साहित्य

भाषा और उसके विभिन्न नाम

सत्रहवी शती ई० के अत तक हिन्दी,[1] हिन्दवी, हिन्दुई और हिन्दुस्तानी शब्द समानार्थक थे। इनके द्वारा सामान्य रूप से मध्यदेशी अर्थात मध्यकालीन मध्यदेश की भाषा का और विशिष्ट रूप से दिल्ली-मेरठ-विजनौर की खडीबोली के साहित्यिक और अन्त प्रान्तीय रूप का बोध होता था। १८वी शती ई० के अतिम चरण मे हिन्दुस्तानी शब्द विशिष्ट रूप से आधुनिक उर्दू का और १८२३ ई० (१८८० वि०) के लगभग हिन्दी शब्द आधुनिक हिन्दी का बोध कराने लगा। अतएव मध्यकालीन साहित्यिक खडीबोली के लिए हिन्दवी शब्द ही सब प्रकार से उपयुक्त है।

ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि समसामयिक बहनो के जन्मकाल के साथ-साथ खडीबोली का भी उद्भव आधुनिक उत्तर प्रदेश के उत्तर-पश्चिमी भाग के दिल्ली-मेरठ-विजनौर क्षेत्र मे हुआ था। इसमे साहित्य-सर्जना का आरभ भी उपर्युक्त भाषाओ के साथ-साथ या उनके कुछ पूर्व ही नाथ योगियो और मुसलमान फकीरो द्वारा हो चला था, किन्तु कुछ विशेष ऐतिहासिक घटनाओ के कारण हिन्दवी (खडीबोली) की एक धारा विन्ध्याटवी को पार कर तुगभद्रा और कृष्णा नदियो के आन्तर प्रदेश मे प्रवाहित हुई। इस प्रदेश को मध्यकाल मे मुसलमानो ने दक्खिन नाम से अभिहित किया है। अतएव भारतीय भाषा तथा साहित्य के सन्दर्भ मे दक्खिनी उत्तर भारत की मध्यकालीन हिन्दवी (खडीबोली) का वह दक्खिनी रूप है जिसका प्रयोग साहित्य मे दक्खिन के बहमनी, बीजापुर, गोलकुडा तथा अहमदनगर, औरगाबाद आदि मुसलमानी राज्यो में सूफी फकीरो, कवियो और लेखको ने १५वी शती ई० से १८वी शती के प्रथम चरण तक किया था तथा जिसका प्रयोग आज भी आशिक रूप से उपर्युक्त क्षेत्र (गुजरात, बबई, बरार, हैदराबाद) के वे मुल्की[2] मुसलमान अपने सामान्य व्यवहार में करते है जिन्हें उर्दू भाषा और साहित्य की शिक्षा नही मिली है। इस प्रकार दक्खिनी साहित्य में हिंदवी या खडीबोली साहित्य का आरभिक रूप सुरक्षित है। इस कारण दक्खिनी साहित्य को हम असदिग्ध रूप में शुद्ध हिन्दी साहित्य का ही अग समझ सकते हैं।[3]

---

१ हिन्दी, दक्खिनी, हिन्दुस्तानी, खडीबोली नामो के इतिहास के लिए दे० हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमडल, वाराणसी।

२ मध्यकाल में ही उत्तर भारत से आकर दक्खिनी भारत में स्थायी निवास बना लेने वाले मुसलमान मुल्की मुसलमान कहलाते है, जब कि उत्तरी भारत से हाल में आए हुए मुसलमान गैरमुल्की या नवागन्तुक कहलाते हैं। दक्खिनी अब केवल मुल्की लोगो के घरो की टूटी-फूटी भाषा रह गई है।

३ श्रीराम शर्मा दक्खिनी का पद्य और गद्य में सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा लिखित अवतरणिका, पृष्ठ ६।

दक्खिनी साहित्य के रचयिता स्वयं अपनी भाषा को हिन्दी,[1] हिन्दवी[2], दक्खिनी[3], गूजरी[4], देहलवी[5], जबान हिन्दुस्तान आदि कई नामों से पुकारते हैं। आज इस भाषा को दक्खिनी हिन्दी कहा जाय या दक्खिनी उर्दू अथवा केवल हिन्दवी या दक्खिनी, इस सबंध में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। ग्रियर्सन[6] के अनुसार दक्खिनी भाषा भ्रष्ट हिन्दुस्तानी (उर्दू) नहीं, बल्कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी ही भ्रष्ट दक्खिनी का रूप है। आधुनिक युग में हैदराबाद राज्य में दक्खिनी साहित्य के प्रकाश में आने पर मुहीउद्दीन कादिरी[7], शेरानी[8], नासिरुद्दीन हाशिमी[9] तथा शम्शुल्ला साहब कादिरी[10] आदि उर्दू विद्वान दक्खिनी को कदीम उर्दू या दखनी उर्दू कहते हैं। रामबाबू सक्सेना[11]

---

१ (क) यह सब बोलू हिन्दी बोल। पुन तुं एहो सेती घोल॥
(ख) ऐब न राखे हिन्दी बोल। मानी तो चख दीखें खोल॥
(ग) हिन्दी बोलो किया बखान। जेकर परसाद था मूँझ ग्यान॥
—शाह बुरहानुद्दीन जानम
(घ) मैं इसको दर हिन्दी जर्बा इस वास्ते कहने लगा—इरशादनामा, १५८२ ई०।
जो फारसी समझे नहीं समझे इसे खुश दिल होकर॥
—जन्नी, मोजगह, १६९० ई०।

२ (क) वाजा केता हिन्दवी में किस्सए मकतल शाहहुसे।
(ख) नज्म लिखी सब मौजू आन। यो मैं हिन्दवी कर आसान।
(ग) यक यक बोलय मोजू आन। तकरीद हिन्दवी सब बखान।
—शेख अशरफ, नौसर हार, १५०३ ई०।

३ (क) दखिन में जो दखिनी मीठी बात का
अदा में किया कोई इस घात का।
—वजही, कुतुब मुशतरी, १६३८।
(ख) इसे हम कस के तई समझा को तू बोल।
दखिनी के बाता सारयां को खोल॥
—इबन निशाती, फूलबन, १६४९ ई०।

४. (क) जे होए ग्यान बिचारी न देखे भाखा गूजरी।
(ख) यह सब गूजरी किया जबान —शाह बुरहानुद्दीन जानम, हजरत उल्वका।

५ कर यह आईना कियानमा —वही, इरशादनामा।

६ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया, जिल्द ९, भाग १।

७. कादिरी : उर्दू शहपारे।

८. शेरानी : पंजाब में उर्दू।

९ हाशिमी : दकन में उर्दू।

१० कादिरी : कदीम उर्दू।

११. रामबाबू सक्सेना : उर्दू साहित्य का इतिहास।

इसी मत का समर्थन करते हुए दकनी को हिन्दुस्तानी की एक शाखा समझ कर उसको उर्दू की एक भाषा समझने की बात कहते है। धीरेन्द्र वर्मा[1] भी पहले इसे उर्दू का एक रूप मानते थे। ऐसा मान लेने में कुछ विशेष कारण भी है। एक तो यह समस्त साहित्य फारसी लिपि में है, दूसरे इसके समस्त लेखक मुसलमान है, तीसरे दक्खिन के मुसलमानी राज्य में ही यह पोषित हुआ। अतएव इसे कदीम उर्दू कह देना सहज सभाव्य है। किन्तु भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक, दोनो दृष्टियो से निष्पक्ष विवेचन के पश्चात यही कहना पडता है कि यह भाषा न तो फारसीनिष्ठ उर्दू-ए-मुअल्ला ही है और न सस्कृतनिष्ठ आधुनिक हिन्दी। बाबूराम सक्सेना[2] दक्खिनी भाषा और साहित्य के विवेचन के पश्चात इसे दक्खिनी हिन्दी कहना ही न्याय-सगत समझते है। यद्यपि हिन्दी नाम उर्दू नाम की अपेक्षा व्यापकता, प्राचीनता और दीर्घकालीन परपरा से सयुक्त है, किन्तु जैसे ब्रज, अवधी आदि के बाद हिन्दी नाम का अध्याहार मान लिया जाता है, उसी प्रकार दक्खिनी के बाद भी हिन्दी नाम जोडना अपेक्षित नही है। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, यदि इसे बिलकुल हिन्दुस्थानी नही, तो सहोदरा भाषा तो अवश्य ही मानते है।[3] दक्खिनी को दक्षिणी कहना भी उपयुक्त नही, क्योकि इससे भारत की दक्षिणी भाषाओ—मराठी, तेलुगु, कन्नड आदि—का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार आज गूजरी नाम भी नही दिया जा सकता, क्योकि इससे गुजराती की ओर सकेत होता है। दक्खिनी के किसी भी कवि ने अपनी भाषा को उर्दू नही कहा। इसलिए दक्खिनी के लिए यह नाम देना अत्यत अनुपयुक्त होगा। कुछ कवियो ने इसमें कुछ रेख्ते लिखे है। किन्तु उस समय रेख्ता शब्द का प्रयोग भाषा के लिए न हो कर एक विशिष्ट प्रकार की काव्य-शैली के लिए होता था। इन सब बातो पर विचार करके इसे दक्खनी या हिन्दवी नाम देना ही उचित है।

हिंदवी साहित्य का उदय—नाथ साहित्य

८वी शताब्दी से लगभग १००० ई० तक वर्तमान हिन्दी प्रदेश के पूर्व में ८४ सिद्धो ने अपने चर्या पदो में जन-समुदाय की भाषा का प्रयोग किया। इस भाषा को विद्वान प्राचीन बगाली, प्राचीन मैथिली और कुछ पुरानी हिंदी या प्राचीन कोसली कहते है। सिद्धो के पश्चात उत्तरी भारत की धर्मध्वजा नाथ-सप्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ के हाथ मे आ जाती है। इस सप्रदाय के प्रचारक उस क्षेत्र के थे जहाँ हिन्दवी (खडी बोली) और पूर्वी पजाब की बोलियाँ प्रचलित थी। नाथपथी सत एक मिली-जुली भाषा का प्रयोग करते थे जिसके मुख्य तत्व हिन्दवी (खडीबोली) और पूर्वी पजाबी के थे। इस प्रकार हिन्दवी में साहित्यिक रचना का प्रथम श्रेय गोरखनाथ को दिया जाना चाहिए। स्वर्गीय बडथ्वाल ने 'गोरखबानी' में गोरखनाथ की और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाथसिद्धो की बानियाँ' नामक पुस्तक में अन्य नाथो की बानियो का प्रकाशन किया है। इन बानियो की मूल भाषा हिन्दवी (खडीबोली) ही है, किन्तु अभाग्यवश इन बानियो की कोई भी प्रति १७वी शती ईसवी के पूर्व की नही मिली। अतएव इन बानियो के आधार पर निश्चित

---

१ धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास।

२ बाबूराम सक्सेना दक्खिनी हिन्दी।

३ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृष्ठ १९९।

रूप से ११वी–१२वी शती की हिन्दवी (खडीबोली) के स्वरूप का सुनिश्चित ज्ञान नही हो पाता है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नाथ सतो द्वारा पारस्परिक विचार-विनिमय और वाद-विवाद के लिए हिन्दवी (खडीबोली) का ही प्रयोग किया जाता रहा होगा। ज्यो-ज्यो नाथ सिद्धो के अखाडे खडीबोली के समीपवर्ती क्षेत्रो में से भारत के अन्य भागो मे फैलते गए हिन्दवी का प्रचार-क्षेत्र भी वढता गया और साथ ही उसका रूप भी कुछ परिवर्तित होता गया, यद्यपि खडीवोली के तत्वो की मुख्यता वनी रही।

मुसलमानो का योगदान

१०वी शती से ही उत्तरी भारत में मुसलमानो के आक्रमण लगातार होने लगे और १३वी शती ई० के प्रथम चरण (१२०६ ई०=१२६३ वि०) में कुतुवुद्दीन ऐवक ने सर्वप्रथम दिल्ली में मुसलमानी राज्य की नीव जमाई। इसके पूर्व आक्रमणकारी मुसलमानो का केन्द्र पजाव था, किन्तु दिल्ली राजधानी वन जाने से पजाव का महत्व कम हो गया। पजाव में वसे हुए तुर्कों और ईरानी विजेताओ के साथ-साथ पजाव की भाषा भी दिल्ली में प्रविष्ट हुई होगी। यह भाषा दिल्ली के उत्तर तथा उत्तर-पच्छिम जनपदो की वोली से अनेक वातो में मिलती-जुलती थी, अतएव दिल्ली की प्रान्तर भाग की वोली को मूलाधार मानकर पूर्वी पजावी के मिश्रण से नूतन मेल-मिलाप, आदान-प्रदान के लिए उस भाषा का रूप और निखरा और व्यापक हुआ जिसे अपने धर्म-प्रचार के लिए उसी क्षेत्र के नाथ-सिद्धो ने सर्वप्रथम अपनाया था। विजेता तुर्कों का उच्च अधिकारी वर्ग घर में तो तुर्की या चगताई वोलता था, किन्तु उनके राजकाज तथा सस्कृति की भाषा कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियो के कारण फारसी वन गई थी। इन तुर्की विजेताओ के साथ वे विदेशी सैनिक, सरदार और प्रजाजन भी आए थे, जो फारसी-भाषी थे। इनकी भाषा का भारतीयकरण दूसरी पीढी से आरभ हो गया था—सामान्य-व्यवहार के लिए इन सब नवागन्तुक मुसलमानो के लिए एक भारतीय भाषा स्वीकार करना अनिवार्य हो गया था। इस देश की सस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश ऐसी प्राचीन भाषाएँ इन विदेशियो के लिए क्लिप्ट तथा सामान्य व्यवहार के लिए अनुपयोगी थी। फारसी और तुर्की के अलावा साधारण जनता की वोलचाल की भाषा से ही उन्हें विशेष प्रयोजन था। मुसलमानी साहित्य और सस्कृति का प्रचार इसी वोलचाल की भाषा के माध्यम से हो सकता था। अतएव मुसलमानो ने अपने लिए दिल्ली-मेरठ के प्रान्तर भाग की हिन्दवी को अपनाया जिसे आज खडीबोली की सज्ञा दी जाती है।

जिस हिन्दवी को मुसलमानो ने भारतीयो के साथ सामान्य व्यवहार तथा अपने धर्म, साहित्य, सस्कृति के प्रचार का साधन बनाया, उसमें सभवत उस समय भी प्रचुर कथा-साहित्य और गीतिकाव्य रहा होगा। किन्तु नाथो की सदिग्ध वानियो के अतिरिक्त कोई साहित्य उपलब्ध नही है। यही कारण है कि प्राय समझा जाता है कि उत्तर भारत की इस वोलचाल की भाषा में साहित्य-सृजन सर्वप्रथम विदेशियो ने ही किया।

मसऊद इब्नसाद

हिन्दवी में रचना करने वाले मुसलमाना में सर्वप्रथम नामोल्लेख मसऊद इब्न साद का मिलता है। ये महमूद गज़नवी के पौत्र इब्राहीम सुलतान [illegible]

वि०)से ११३० ई०(११८७ वि०)के बीच इनकी मृत्यु हुई। फारसी कवि औफी अपने तजकिरह (१२२८ ई०=१२८५ वि०) मे स्वर्गीय मसऊद की काव्य-कृतियो का उल्लेख करते हुए उनके हिन्दवी दीवान का भी उल्लेख करते है—'यके ब ताज़ी व यके ब पारसी व यके व हिन्दवी'। अमीर खुसरो (१२५३–१३२५ ई०=१३१०–१३८२ वि०) भी मसऊद को फारसी के साथ-साथ हिन्दवी का भी कवि मानते है—'सैयद दीवान दर इबारत हिन्दवी व पारसी'। किन्तु हिन्दवी का 'मसऊद दीवान' उपलब्ध न होने के कारण यह निश्चित रूप से नही ज्ञात होता कि उस हिन्दवी का भाषा-स्वरूप कैसा था। हेमचन्द्र राय से सहमति प्रकट करते हुए सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या कहते है कि 'बहुत सभव है कि वह ब्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्तानी के सदृश न होकर १२वी शती में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रश ही रही हो।'[1] यद्यपि अपभ्रश की साहित्यिक परपरा १६वी शती ई० तक चलती है, किन्तु बारहवी शती ई० से ही अपभ्रश सर्व-साधारण से दूर केवल साहित्यिको की वस्तु रह गई थी। सर्वसाधारण में तो नव्य भारतीय आर्य-भाषाओ का प्राचीन रूप ही प्रचलित रहा होगा। अतएव फारसी के विद्वान मसऊद ने यदि हिन्दवी में रचना की, तो वह पजाबी मिश्रित प्राचीन हिन्दवी ही रही होगी। फिर भी अनुमान के अतिरिक्त निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता है।

बाबा फरीद (शेख फरीद) शकरगंज

मुसलमान सूफी सत जिनके नाम से देशी भाषा की कुछ रचनाएँ हमें प्राप्त है, बाबा फरीद शकरगज या शेख फरीदुद्दीन शकरगज (११७३–१२६५ ई०=१२३०–१३२२ वि०) है। प्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता (१७वी शती) के अनुसार तैमूरलग के आक्रमण (१३१८ ई०=१३७५ वि०) के समय पजाब के अजोधन वा पाकपत्तन की गद्दी पर प्रसिद्ध फकीर बाबा फरीद का पोता शादुद्दीन गद्दी पर वर्तमान था। इस गद्दी के सस्थापक बाबा फरीद ही थे। इनका जन्म (११७३ ई०=२१३० वि०)मे कोठीवाल गाँव(पाकिस्तानी पजाब)मे हुआ था। ये प्रसिद्ध शेख मुहीनुद्दीन चिश्ती के शिष्य कहे जाते है। कहा जाता है कि अजोधन गाँव, जिला माटगोमरी (पाकिस्तानी पजाब) में इन्होने १२ वर्ष तक तप किया। इस कारण उस गाँव का नाम पाकपतन पड गया। बाबा फरीद ने देहली, मुलतान आदि नगरो की यात्रा करके सूफी सप्रदाय का प्रचार किया और पजाबी मिश्रित हिन्दी में अनेक कविताएँ रची। कभी-कभी उन्हें लहदी-पजाबी-हिन्दी काव्य का जनक तक कह दिया जाता है। अब्दुलहक[2] के अनुसार इनके कलाम का कुछ नमूना निम्नलिखित है—

> तन धोने से जो दिल होता पूक।
> पेशरू असफिया के होते गूक॥

---

१ हेमचन्द्र राय : द्वितीय ओरियंटल कान्फ्रेंस की कार्यविवरणी, भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरभ, १९२५ ई०।

२ अब्दुलहक उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा में सूफियाई कराम का काम, पृ० ७,८।

रीश सवलत से गर वडे लेते।
वोकडवाँ से न कोई वडे होते॥
खाक लाने से गर खुदा पाएँ।
गाय वैलाँ भी वासलाँ हो जाएँ॥
गोशगीरी मे गर खुदा मिलता।
गोश चोया कोई न वासिल था॥
इश्क का रम्ज न्यारा है।
जुज़ मदद पीर के न चारा है॥

× × ×

जलो याद की करना हर घडी, यक तिल हुजूर सो टलना नईं।
उठ वैठ मे याद से शाद रहना, गवाहदार को छोड के चलना नईं॥

सिक्खो के उपास्य ग्रथ 'गुरुग्रथसाहव'[1] में शेख फरीद के नाम से ४ पद (राग आसा और राग सूही मे) और १३० सलोक दिए गए है। नानक की जनमसाखियो में उन्हे शेख इब्राहीम नाम से भी सवोधित किया गया है। 'आदिग्रथ' में सगृहीत पदो और सलोको में से कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते है—

वेडा वाँधि न सकियो वधन की वेला।
भरि सरवरु जव उछलै तव तरणु दुहेला॥१॥
हथु न लाइ कुसम डॅ जलि जासी ढोला॥१॥
इक आपीने पतली सहकेरे वेला॥
दुधा थणी नआवई फिरि हो न मेला॥२॥
कहै फरीदु सहेली हो सहु अलाएसी॥
हसु चलसी डुमण अहि तनु ढेरी थी सी॥३॥

सलोक

फरीदा जो ते मारनि मुकीआ तिता न मारे घुमि॥
आपन डे घरि जाईऐ पैर तिना दे चुमि॥७॥
फरीदा जिन लो ण जगु मोहिआ से लो ण मैं डिठु॥
कजल रेख न सह दिआ से पखी सुइ वहिठु॥१४॥
फरीदा थीउ पवाही दमु॥ जो साई लोडहि समु॥
इकु छोजहि दिआ लताडीअहि॥ ता साई दैदरि वाडीअहि॥१६॥
फरीदा रोटी मेरी काठ की लावणु मेरी मुख॥
जिना खाधी चोपडी घणो सहनिगो दुख॥२८॥

---

१ गुरुग्रंथसाहव, हिन्दी, द्वितीय सचय, १९५१ ई०, पृ० ७९४ तया पृ० १३७७–१३८४।

सिक्ख धर्म के प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मैकालिफ[1] 'आदिग्रथ' में सगृहीत उक्त पदो और सलोको को जिन शेख फरीद की रचना मानते है उनका वास्तविक नाम शेख इब्राहीम था और उपाधि नाम शेख फरीद था और जो प्रसिद्ध बाबा फरीद गजशकर के वशज थे। फरीद सानी, सलीस फरीद, शेख फरीद, ब्रह्ममल, बलराज, शाहब्रह्म आदि इन्ही की पदवियाँ कही जाती है। ये शेख फरीद गुरु नानक के समसामयिक कहे जाते है। इनका जन्म भी दीपालपुर के निकट कोठीवाल नामक गाँव मे माना जाता है। इनकी समाधि अभी तक सरहिंद मे वर्तमान है। बाबा फरीद शकरगज, शेख फरीद और शेख इब्राहीम—इन तीनो नामो का सबध अब भी विवादास्पद है। कुछ लोग इन्हें एक ही व्यक्ति के और कुछ दो व्यक्तियो के नाम बताते है। प्रामाणिक तथा सुसपादित रचना के अभाव के कारण भाषा के आधार पर भी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँचा जा सकता। अब्दुलहक ने बाबा फरीद की जो बानी उद्धृत की है उसमें पजाबीमिश्रित हिन्दवीपन अधिक है। कुछ फारसी शब्दो का भी मिश्रण है। 'गुरु ग्रथसाहब' मे सग्रहीत पदो तथा सलोको की भाषा लहदी-पजाबीमिश्रित हिंदवी है। कुछ भी हो, बाबा फरीद[2] और (अथवा) शेख फरीद की बानियाँ आदिकालीन हिन्दवी भाषा-साहित्य की आवश्यक कडी है।

अमीर खुसरो

हिन्दवी में रचना करने वालो में सबसे प्रमुख नाम अमीर खुसरो (१२५३–१३२५ ई० = १३१०–१३८२ वि०) का है। खुसरो अपने समय के भारत मे जन्म लेने वाले महान फारसी कवि थे। इनका जन्म जिला एटा, ग्राम पटियाली में हुआ था। इन्होने निजामुद्दीन औलिया से धार्मिक दीक्षा ली थी। इन्होंने दिल्ली के तीन राजवश—गुलाम, खिलजी तथा तुगलक—तथा ग्यारह राजाओ का उत्थान-पतन देखा था। राजाओ के राजमहल, फकीरो की झोपडियो तथा सेना के समरागण का इन्होने प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। धर्म तथा राजनीति से इन्हें जीवन की गभीरता और सगीत से जीवन की सरसता मिली होगी। इनके काव्य में ये दोनो विशेषताएँ मिलती है। इनके फारसी काव्य[3] में जीवन का विशाल अनुभव उतर आया है। उसमें तत्कालीन

---

१ मेकालिफ · दि सिख रेलिजन, भा० ६, पृ० ३५६–३५७।

२ बाबा फरीद के विशेष विवरण के लिए दे०—

(क) मोहनसिंह (१) दि हिस्ट्री आव पजाबी लिटरेचर, पृ० १२;
(२) बाबा फरीद गजशकर, शेख इब्राहीम और फरीद सानी शीर्षक लेख, ओरिएटल कालेज मैगजीन (उर्दू), भाग १४, पृ० ७५।

(ख) बलदेवसिह गिआनी बाबा फरीद शकरगज शीर्षक लेख ओरिएटल कालिज मैगजीन, (हिन्दी), भाग ७ (पृ० १२–१६, ८९–९४), १०, ११ (पृ० १–१४), १९३८ ई० तथा
शेख फरीदजी, वही, भाग १७, १९४० ई० (पजाबी में), (पृ० ६५–६९)।

(ग) परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सत-परपरा, पृ० ३७३–३७८।

३ अमीर खुसरो रचित निम्नलिखित फारसी ग्रथ प्रसिद्ध है—

भारत की सास्कृतिक झाँकी मिल जाती है, साथ ही उसमें खुसरो का हिन्दुस्तान के प्रति प्रेम भी फूटा पडता है। इनकी मसनवियो में भारत की वोलियो, त्योहारो, ऋतुओ, फूलो, फलो आदि की प्रशसा की गई है और अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ की जलवायु तथा यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को सराहा गया है। अरवी-फारसी के साथ-साथ अपने हिन्दवी ज्ञान पर भी इन्हे गर्व था। वे स्वय कहते है—

> तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम जवाव
> चु मन तूतिए हिन्दम, अर रास्त पुर्सी
> ज़े मन हिन्दवी पुर्स, ता नग्ज़ गोयम।

अर्थात् 'मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ। अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मै तुम्हे अनुपम वातें वता सकूँगा।'

अमीर खुसरो अरवी-फारसी के समान उत्तर भारत की प्रधान भाषा हिंदी वा हिन्दवी का स्तवन ओजपूर्ण शव्दो में करते हैं, जिसका सार निम्नलिखित है—

"मै भूल पर था। अच्छी तरह सोचने पर हिंदी (हिन्दवी) भाषा फारसी से कम नही ज्ञात हुई। सिवाय अरवी के जो प्रत्येक भाषा की मीर और सवो में मुख्य है, रई और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्द से कम मालूम हुई। अरवी अपनी वोली मे दूसरी भाषा को नही मिलने देती, पर फारसी मे यह कमी हे कि वह विना मेल के काम मे आने योग्य नही है। इस कारण कि वह शुद्ध है उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हे। हिन्दी भाषा भी अरवी के समान है, क्योकि उसमें भी मिलावट को स्थान नही है यदि अरवी व्याकरण नियमवद्ध है तो हिन्दी भी उससे एक अक्षर कम नही हे। जो इन तीनो भाषाओ का ज्ञान रखता है वह जानता है कि मैं न भूल कर रहा हूँ और न वढा कर लिख रहा हूँ। और यदि पूछो कि उसमे अधिक न होगा तो समझ लो उसमे दूसरो से कम नही है।"[1]

अमीर खुसरो द्वारा भारतीय भाषा का यह स्तवन हमे विलियम जोन्स[2] की उस ऐतिहासिक घोषणा की याद दिलाता हे जिसमे किसी यूरोपियन ने प्रथम वार सस्कृत को ग्रीक-लैटिन के समकक्ष या दोनो से अधिक समृद्ध घोषित किया था। खुसरो ने स्पष्ट रूप से हिंदी शव्द लिखा है। कुछ लोग खुसरो द्वारा प्रयुक्त हिंदी शव्द से सस्कृत का अर्थ लेते हैं। किसी भाषा के स्तवन के लिए उस भाषा का ज्ञान आवश्यक है। खोजने पर भी यह कहना कठिन है कि खुसरो फारसी-अरवी

---

(१) मसनवी किरानुस्सादेन
(२) मसनवीमललउल अनवार
(३) मसनवी शीरो व खुसरो
(४) मसनवी लैलीमजनूं
(५) मसनवी आइनेइस्कन्दरी
(६) मसनवी हश्त विहिश्त
(७) मसनवी खिज्रनामह या देवलखिज्रखां
(८) मसनवी नुहसिपहर
(९) मसनवी तुगलकनामा, आदि।

१. अमीर खुसरो : मसनवी देवल खिज्रखा (सन १९१७ में प्रकाशित), पृ० ४१-४२।
२. दे० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या भारतीय आर्यभाषा और हिंदी, पृ० ७।

के साथ साथ सस्कृत भी जानते थे। अतएव ब्रजरत्नदास[1], रामकुमार वर्मा[2] आदि विद्वान खुसरो की उपर्युक्त हिन्दी से दिल्ली-मेरठ प्रदेश में प्रचलित समकालीन खडीबोली या हिंदी का ही अर्थ लेते है। जो हो, यह तो स्पष्ट है कि खुसरो ने हिन्दवी में रचना अवश्य की है, जिसकी स्वीकारोक्ति वे स्वय इन शब्दो में करते है—

जुज़वे चद नज़मे हिन्दी नज़रे दोस्तां करदा शुदा अस्त

अमीर खुसरो के नाम से हिन्दी साहित्य में एक अरबी-फारसी-हिन्दवी (हिन्दी) कोश ग्रथ 'खालिकबारी'[3] तथा अनेक पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोसुखने तथा कुछ गज़लें प्रसिद्ध है। खालिकबारी से कुछ पक्तियाँ उद्धृत है—

खालिकबारी सिरजनहार। वाहिद एक बदा करतार॥
× × ×
रसूल पैगबर जान बसीठ। यारो दोस्त बोलो जो ईठ॥
× × ×
मुश्क काफूरस्त कस्तूरी कपूर। हिन्दवी आनद शादीवो सुरूर॥
× × ×
अरज़ धरती फारसी बाशद ज़मी। कोह दर हिदवी पहाड आमद दरी॥
× × ×
मग पाथर जानिए बरकन उठाव। अस्प मीरा हिन्दवी घोडा चलाव॥
× × ×
मूश चूहा गुरबा बिल्ली मार नाग। सोज़नो रिश्ता बहिंदी सुई ताग॥
× × ×
मोलवी साहब शरन पनाह। गदा भिखारी खुसरो शाह॥
× × ×

खालिकबारी की कोई भी प्रति १६वी शती ई० के पूर्व की अभी तक नही प्राप्त हुई है। प्राप्त प्रतियो की भाषा के आधार पर भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इसमें १३वी शती ई० की भाषा पूर्ण रूप से सुरक्षित है। किन्तु हिन्दवी में रचना करने की खुसरो की स्वीकारोक्ति

---

१ ब्रजरत्नदास . खुसरो की हिन्दी कविता, ना० प्र० प०, भाग २, पृ० २६९।

२. रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृतीय सस्करण, पृ० १२६-७२।

३ शेरानी (पजाब में उर्दू, पृ० १७४) का मत है कि खालिकबारी प्रसिद्ध अमीर खुसरो की रचना नहीं हो सकती। हिफज़ुलनिसा या खालिकबारी के नाम से इन्होने इस पुस्तक का सपादन किया है जिसके सपादकीय में वे इस कोश ग्रथ को जहाँगीरकालीन (१६वी-१७वीं शती ई०) किसी अन्य खुसरो की रचना मानते है, क्योंकि १६वीं शती ई० के पूर्व खालिकबारी की कोई प्रति नहीं मिलती, जब कि १६वी-१७वीं शती ई० के बाद की सैकडो प्रतियाँ मिलती है। १६वीं-१७वीं शती ई० के बाद खालिकबारी के समान फारसी-हिन्दवी कोश ग्रथ लिखने की एक परपरा ही चल पड़ी थी।

तथा प्रवल जनश्रुति की पृष्ठभूमि में हम यह कह सकते हैं कि खुसरो ने इस प्रकार की रचना हिन्दवी में अवश्य की होगी, भले ही उसका यथावत रूप सुरक्षित न रह सका हो। खुसरो गयासुद्दीन वलवन के लडके के शिक्षक थे। सभव है उसी के तत्कालीन भाषा-ज्ञान के लिए उन्हें फारसी-हिन्दवी कोश की रचना करनी पडी हो।

मोहनसिंह निम्नलिखित पद को खुसरो द्वारा रचित मानते हैं—

नकदे इलम अनदीदई सदूक सीना फोड कर।
पकरो कयामत को तुझै आखे खुदा सो छोड कर।
गर राम सो वर हुसन खुद दो चार दिन को मरना है।
महवूव यूसुफ से गए वहु हुसन खूवी छोड कर॥
खिसरो कहे वाता अजव दिल मन मिलाओ से गुजल
कुदरत खुदा से यह न कर मैं छोडिया गम खाइ कर॥[1]

इसी प्रकार एक पद की निम्नलिखित पक्तियाँ भी खुसरो की ही कही जाती हैं—

भाई रे मुल्ला हो हमकूँ पार उतार।
हाथ का देऊँगी मुदरा गल का देऊँगी हार।
देख मैं अपने हाल को रोऊँ जारो जार॥[2]

निम्नलिखित गजलें तो खुसरो के नाम से अति प्रसिद्ध हैं ही—

जव यार देखा नैन भर, दिल की गई चिन्ता उतर।
ऐसा नही कोई अजव, राखे उसे समझाए कर॥
तूँ तो हमारा यार है, तुझपर हमारा प्यार है।
तुझ दोस्ती विसयार है, इक शव मिलो तुम आय कर॥
खुसरो कहे वाते गजव, दिल में लावै कुछ अजव।
कुदरत खुदा की है अजव, जव जिव दिया गिल लाय कर॥

× × ×

जे हाले मिस्की मकुन तगाफुल, दुराए नैना वनाए वतिया,
कि तावे हिजरा न दारम ऐ जा, न लीहो काहे लगाए छतिया॥
शवाने हिजरा दराज चू जुल्फ, व-रोजे-वस्लत चू उम्र कोताह॥
सखी पिया को जो मैं न देखूँ, तो कैसे काटूँ अँधेरी रतिया॥
चु शमअ सोजा, चु जर्रा हैरा, जे मेहरे आ मह वेगशतम आखिर॥
न नीद नैना न अग चैना, न आप आवें न भेजें पतिया॥

महाकवि तया सगीतज्ञ होने के साथ साथ अमीर खुसरो एक मनोविनोदी सामाजिक व्यक्ति थे। उनके नाम से पहेलियाँ, मुकरियाँ, दोसुखने आदि मिलते हैं, यथा, पहेली—

---

१ मोहनसिंहः हिस्ट्री आव पजाबी लिटरेचर, पृ० ११३।

२. मुलतानी और उर्दू के ताल्लुकात, (उर्दू,) लाहोर यूनीवर्सिटी, पृ० ३५७।

वाला था जब मन को भाया
वडा हुआ कुछ काम न आया
खुसरो कर दिया उसका नाव
बूझे नही तो छोडे गाव। (दीप)

सभव है खुसरो के नाम से प्रचलित समस्त रचनाएँ खुसरो द्वारा रचित न हो और जो रचित भी हो उनका प्राचीन यथावत रूप सुरक्षित न रहा हो, किन्तु इससे यह स्पष्ट सकेत मिलता है कि जन-जीवन में प्रचलित लोक-साहित्य को साहित्य में स्थान दिलाने का प्रथम श्रेय हिन्दवी के कवि खुसरो को ही है। खुसरो ने हिन्दवी मे गभीर साहित्य की रचना नही की। सभवत फारसी के समान हिन्दवी में वे पटु नही थे। उस समय तक हिन्दवी उच्च-गभीर साहित्य के लिए मँज भी नही पाई थी, केवल सामान्य जन की वोलचाल की भाषा थी। किंतु इतना निश्चित है कि सामान्य जन-समुदाय मे प्रचलित लोक-साहित्य की श्रीवृद्धि में खुसरो ने महत्वपूर्ण योग दिया। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के इतिहास में अमीर खुसरो का नाम अमिट है।

हिन्दवी उत्तरी भारत की स्फुट रचनाओ के इस सक्षिप्त परिचय से प्रमाणित होता है कि हिन्दवी में साहित्य-रचना के प्रयोग ब्रज और अवधी की अपेक्षा लगभग दो शताब्दी पहले आरभ हो गए थे। साहित्य में अवधी और ब्रज का प्रयोग १५वी शती से पूर्व नही हुआ।

कब और किन परिस्थितियो में उत्तरी भारत की समकालीन मध्यदेशी या हिन्दवी दक्खिन भारत में पहुँची, यह विवादास्पद है। 'दक्खिनी का पद्य और गद्य' के सपादक श्रीराम शर्मा तथा 'दक्खिनी के सूफी लेखक' की लेखिका विमल वाघ्रे इससे सहमत नही है कि दक्खिनी विशुद्ध रूप से उन मुसलमानो की पैदा की हुई भाषा है जो सेना तथा शासन कार्य से दक्खिन गए थे। उनका विचार है कि राष्ट्रकूटो (७वी शती) और यादवो (९वी शती) के साथ आने वाले सहस्रो उत्तरी भारतीय लोगो के साथ उत्तर भारत की तत्कालीन भाषा दक्खिन पहुँची जिससे दक्खिनी की नीव पडी। मुसलमानो के आगमन से पहले वहाँ एक मिली-जुली भाषा थी। उस समय तक उसका रूप वहुत परिष्कृत नही था। मुसलमानो के आगमन के वाद उसने साहित्यिक और सास्कृतिक रूप ग्रहण किया।[1] उपर्युक्त मत के मान लेने पर दक्खिन में दक्खिनी के प्रादुर्भाव की तिथि ४ या ५ सौ वर्ष पूर्व चली जाती है। किन्तु इस मत को स्वीकार करने में कोई ठोस प्रमाण नही मिलते है।

वास्तव में दक्खिनी का मूल ढाँचा उत्तरी भारत की हिन्दवी में अन्तर्निहित है। यह पहले ही वताया जा चुका कि है कि हिन्दवी के प्रथम प्रयोग और प्रसार-प्रचार का श्रेय नाथपथी योगियो को और फिर विदेशी मुसलमानो को दिया जा सकता है। सभवत नाथपथी योगियो द्वारा ही हिन्दवी दक्खिन लाई गई और उसका फल यह हुआ कि हिन्दवी को समझने के लिए दक्खिन मे एक पृष्ठभूमि तैयार हो गई। नाथो से सवधित तथा उत्तरी भारत के उत्तरी-पच्छिमी भाग से गमनागमन वनाए रखने वाले कुछ महाराष्ट्र सत सभवत हिन्दवी का प्रयोग कभी कभी वोलचाल

---

१ श्रीराम शर्मा. दक्खिनी का पद्य और गद्य, निवेदन, पृ० २५-२६ तथा विमल वाघ्रे. दक्खिनी के सूफी लेखक (अप्रकाशित प्रवध), पृ० ५।

अथवा कविता में करते रहे होंगे जिसके फलस्वरूप नामदेव, गोदा, ज्ञानेश्वर तथा अन्य समसामयिक महाराष्ट्र संतो की हिन्दवी रचनाएँ मिलती है, भले ही उनकी भाषा का मूल रूप आज सुरक्षित न रहा हो। किन्तु इतना होने पर भी १३वी शती ई० तक उत्तरी भारत से इतने बहुसख्यक लोग दक्खिन में जाकर नहीं बस गए थे कि सामूहिक रूप में अपने दिन-प्रतिदिन के व्यवहार मे हिन्दवी का प्रयोग करते, जिससे सतत प्रयोग के कारण और दक्खिन की मूल भाषाओ (मराठी, कन्नड, तेलुगु) के सतत संसर्ग के कारण अत्यधिक नवीनता ग्रहण कर वह दक्खिनी के रूप में विकसित हो जाती और जिससे साहित्य-निर्माण की एक अविरल धारा प्रवाहित होने लगती।

दक्खिनी (हिंदवी) साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

१४वी शती ई० से १८वी शती ई० पूर्वार्ध तक दक्खिन में हिन्दवी साहित्य की रचना कुछ विशेष राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा अन्य सास्कृतिक परिस्थितियो के परिणाम-स्वरूप हुई थी। इन परिस्थितियो के कारण ही उत्तर की हिन्दवी ने 'दक्खिनी' रूप ग्रहण किया और वह इतनी अधिक निखर गई कि उसमे लगभग ३०० वर्षों तक साहित्यिक रचना होती रही।

१४वी शती ई० के प्रथम चरण में मुहम्मद तुगलक की आज्ञा से दिल्ली के राज दरबारी प्रशासक, सैनिक, कर्मचारी, व्यवसायी, व्यापारी, सूफी संत-फकीर सबको देवगिरि या दौलताबाद में सपरिवार बसना पडा था। राजनीतिक दृष्टि से यह घटना चाहे बादशाह की अदूरदर्शिता या दूर-दर्शिता सिद्ध करती हो, किन्तु सामाजिक, धार्मिक तथा भाषा के दृष्टिकोण से यह घटना भारतीय इतिहास मे अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस घटना के परिणामस्वरूप उत्तरी भारत—विशेष रूप से दिल्ली, पंजाब, आगरा—के मुसलमान तथा हिन्दू भी स्थायी रूप से दक्खिन मे बस गए, जिससे उत्तर भारतीय समाज की एक पूर्ण इकाई ने दक्खिन में अपनी नीव जमा ली। इसी समय उत्तरी भारत की हिन्दवी—हरियानी, पूर्वी पंजाबी, मेवाती मिश्रित खडी बोली—को विकसित होने का यथेष्ट अवसर मिला, क्योकि उत्तर से दक्खिन आने वाले अधिकाश लोग देशी भाषा—हिन्दवी—का ज्ञान लेकर ही आए थे। फारसी अरबी तथा अन्य प्राचीन भाषाओ के ज्ञाता उच्चा-धिकारी, विद्वान, कवि तथा धर्मप्रचारक केवल उँगलियो पर गिने जा सकते थे। सूफी संतो ने भी देशी भाषा हिन्दवी को अपने धर्म-प्रचार का साधन बनाया, क्योकि यही सबको बोधगम्य थी। नितात अपरिचित होने के कारण दक्खिन की मराठी, तेलुगु तथा कन्नड भाषाओ को नवागन्तुक मुसलमान अपना नही सकते थे। यह अवश्य हुआ कि इन भाषाओ के बोलने वालो के संसर्ग मे आने से हिन्दवी पर मराठी, तेलुगु, कन्नड का कुछ प्रभाव अवश्य पडा, जिससे हिन्दवी दक्खिनी बन गई। अधि-काश सामाजिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक कार्यों में प्रयुक्त होने से दक्खिनी पर्याप्त रूप से मँज गई। हिन्दवी अपने मूल स्वरूप को बनाए रखते हुए भी फारसी, अरबी, मराठी, तेलुगु, कन्नड से कुछ संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय लेकर साहित्य-रचना के लिए उपयुक्त बनती जा रही थी। मध्यकाल में किसी भाषा-शक्ति की प्रगति के लिए धर्म और राजनीति का सहारा आवश्यक था। धर्म का सहारा तो दक्खिनी को मिल रहा था, क्योकि सूफी साधको ने इसे ही अपने धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया था, आवश्यकता थी केवल राजनीतिक आश्रय की।

१४वी शती में दक्खिन में बहमनी वंश तथा उसके टूट जाने पर १५वी-१६वी शती ई०

में गोलकुडा, बीजापुर, अहमदनगर, बीदर, बरार मे पाँच मुसलमानी राज्य स्थापित हुए। दक्खिन के ये बादशाह उत्तरी भारत के मुस्लिम सुलतानो की अपेक्षा भारतीय रग मे विशेष रँगे थे। दिल्ली का सबध ईरान और अरब से बराबर बना रहता था और इससे दिल्ली के सुलतान ईरानी सभ्यता, सस्कृति, ऐश्वर्य, भाषा और साहित्य से विशेष प्रभावित रहते थे। किन्तु दक्खिन से दिल्ली दूर थी और उससे अधिक दूर थे ईरान और अरब। इसके अतिरिक्त भारतीय रग में रँग जाने का एक अन्य विशेष कारण था इन शासको का हिन्दुओ से अति निकट का सबध। कहा जाता है कि बहमनी वश का सस्थापक हसन एक गगू नामक ब्राह्मण का शिष्य था। जब वह राजा हुआ तब उसने अपने नाम के साथ गगू उपाधि धारण की और साथ ही उसे अपना राजस्व सचिव भी बना लिया। यह घटना चाहे सत्य हो या असत्य, किन्तु बहमनी काल से ही दक्खिन में यह प्रथा चल पडी कि राजस्व सचिव का पद ब्राह्मणो को ही दिया जाने लगा। 'तारीख फरिश्ता' के अनुसार राजस्व विभाग मे हिन्दुओ की नियुक्ति का यह परिणाम हुआ कि हिन्दवी भाषा ने शीघ्र ही उन्नति करना आरभ किया और दो बडे समहो, अर्थात हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच मेल-मिलाप बढ गया। इब्राहीम आदिलशाह ने दूसरे प्रदेशो के लोगो के स्थान पर दक्खिनियो को राजकीय पदो पर रक्खा और उसकी आज्ञा से आय-व्यय का हिसाब जो अब तक फारसी में रक्खा जाता था, ब्राह्मणो के निरीक्षण में हिन्दवी मे लिखा जाने लगा।[1] इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्त होने पर हिन्दवी या दक्खिनी को उन्नति करने का उपयुक्त अवसर मिल गया।

हिन्दुओ और मुसलमानो मे विशेष रूप से राजाओ और अमीरो में सामाजिक-वैवाहिक सबध भी स्थापित होने लगा। इसके फलस्वरूप हिन्दू मुसलमानो मे एक अद्वितीय मेल-मिलाप तथा सबध-सपर्क स्थापित हुआ। दक्खिन के एक इतिहास-लेखक का मत है कि 'इसमे कोई सन्देह नही कि इन ३००वर्षों, अर्थात जब तक बीजापुर और गोलकुडा स्वतत्र राज्य रहे, इन दोनो जातियो, अर्थात हिन्दू और मुसलमानो में इतना मेल-जोल था कि हिन्दुस्तान मे अन्यत्र नही पाया जाता था। हिन्दू और मुसलमानो के बीच केवल साधारण व्यवहार और मेल-मिलाप ही न था, वरन हिन्दू प्रजा मुसलमान बादशाहो से प्रेम करती थी और यह दशा बराबर बनी रही।'[2] यद्यपि पास-पडोस के हिन्दू राजाओ से इन बादशाहो के युद्ध भी हुआ करते थे, फिर भी दक्खिन के सुलतानो को हिन्दुओ से सौहार्द बनाए रख कर सुख-शाति से शासन करने के साधन दिल्ली के सुलतानो की अपेक्षा अधिक प्राप्त थे। यही कारण है कि दक्खिन के सुलतानो—विशेष रूप से बहमनी, बीजापुर, गोलकुडा राज्यो—ने दक्खिनी को राजभाषा घोषित किया और वही शिक्षा का माध्यम भी बनाई गई। इन परिस्थितियो के फलस्वरूप भी दक्खिनी को विकास के लिए अवसर मिला।

गत पृष्ठो में सकेत किया जा चुका है कि गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथ-सप्रदाय के प्रचार करने के लिए नाथ-योगी भारत के चारो कोनो में पहुँच रहे थे। दक्खिन में उनका प्रवेश १०वी-११वीं शती मे ही हो गया था। प्रसिद्ध मराठी सत ज्ञानेश्वर के बडे भाई निवृत्तिनाथ इसी सप्रदाय मे दीक्षित थे। नाथ योगियो के द्वारा धर्म-प्रचार के साथ साथ दक्खिन में हिन्दवी का

---

१ तारीखे फरिश्ता, ब्रिग्स का अनुवाद, जिल्द ३, पृ० ८०।
२. ग्रिबिल्स, हिस्ट्री आव दि दकन, जिल्द १, पृ० २९४, पाद टिप्पणी।

प्रवेश हुआ। इसके पश्चात कबीर तथा अनेक समसामयिक निर्गुण सतो के अनुयायी भी दक्खिन में धर्म का प्रचार करते हुए अपने साथ अवधी, राजस्थानी, तथा व्रजमिश्रित हिन्दवी को ले गए। एकनाथ, तुकाराम, केशवस्वामी आदि महाराष्ट्र सतो ने इसी सत-परपरा से प्रभावित होकर हिन्दवी में भी कुछ रचनाएँ की है, यद्यपि प्रधानत वे सब मराठी के कवि है।

इनके अतिरिक्त कहा जाता है कि ६वी-७वी शती में अरब-ईरान के कुछ व्यापारी तथा इस्लाम के प्रचारक समुद्री मार्ग से दक्खिन मे आए थे। किन्तु इनके व्यापार तथा धर्म-प्रचार का साधन ईरानी और अरबी ही रही होगी और वे भारतीय जनता से विशेष मिले न होगे। मलिक काफूर की दक्षिण-विजय के पूर्व भी सूफी साधक हाजी रूमी ५५५ हिजरी (११४३ ई० = १२०० वि०) में ही बीजापुर के हिन्दू राजा को अपने चमत्कारो से प्रभावित करके उसके सम्मानभाजन बन चुके थे। रूमी के पश्चात लगभग बीस सूफी साधक दक्खिन-विजय के पूर्व यहाँ पहुँच चुके थे जिनमें शाह मोलिन, बाबा सैयद मजहर, तबले शाह, अलाउद्दीन बादशाह, अली पहलवान, शाह हिसामुद्दीन, बाबा शरफुद्दीन, बाबा शाहउद्दीन तथा बाबा फखरुद्दीन आदि प्रसिद्ध है।[1] मुहम्मद तुगलक ने जब दौलताबाद को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय करके दिल्ली के निवासियो को वहाँ बसने का आदेश दिया, तब से उत्तरी भारत के सूफियो का ध्यान दक्खिन की ओर विशेष गया। १४वी शती ई० मे उत्तर से दक्खिन मे सूफी धर्म का प्रचार करने वालो में शाह मुतजबउद्दीन जरबख्श, सैयद यसुफ, शाह राजू, बुरहानुद्दीन गरीब, शेख सिराजउद्दीन जुनेदी तथा ख्वाजा बदेनवाज गेसूदराज आदि अति प्रसिद्ध हैं। ये साधक दक्षिण में बीजापुर, गुलबर्गा आदि में रहने लगे और वही इनकी मृत्यु हुई। उत्तरी भारत से दक्खिन आने वाले अधिकाश सूफी ख्वाजा मुइनुद्दीन अजमेरी की परपरा के थे और उनका सम्बन्ध सूफियो की चिश्तिया शाखा से था। अत अधिकाश दक्खिनी सूफी साहित्य सूफियो की चिश्तिया शाखा से ही सम्बन्धित है। सूफियो की सुहरावर्दी, कादिरी तथा नक्शबन्दा शाखा का प्रभाव दक्खिनी साहित्य पर बहुत कम पडा। प्राय अधिकाश सूफी सत अरबी-फारसी का ज्ञान रखते थे, किन्तु सर्वसाधारण में सप्रदाय का प्रचार करने के लिए उन्होने जनता की भाषा हिन्दवी या दक्खिनी को ही अपनाया। अब्दुल हक इन सूफियो के सम्बन्ध मे लिखते हैं—

"इन बुजुर्गों के घरो में भी हिन्दी (हिन्दवी) बोलचाल का रिवाज था और चूँकि यह इनके मुफीदे मतलब था इसलिए वे अपनी तालीम व तल्कीन में भी इसी से काम लेते थे।"[2]

राजभाषा और धर्मभाषा बन कर राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक साधनो का सहारा लेकर दक्खिनी में साहित्य-रचना १५वी शती ई० से प्रारम्भ हुई और अविरल रूप से लगभग तीन सौ वर्षों तक होती रही। इस प्रकार उत्तर भारत से आए हुए पजाबी और पछाँही मुसलमान उत्तर भारत से जो लोक-साहित्य लाए थे, उसी के आधार पर इस्लामी सूफी दर्शन और रहस्यवाद का रग चढा कर एक अभिनव साहित्य-शैली का प्रवर्तन किया गया।

---

१. विमल वाघ्रे · दक्खिनी के सूफी लेखक (अप्रकाशित प्रबध), पृ० ६१।

२ अब्दुल हक, उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा में सूफियाई कराम का काम, पृ० ८।

दक्खिनी साहित्य

दक्खिनी साहित्य के विकास को भलीभाँति समझने के लिए उसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) वहमनी युग (१३४७ ई० – १५२४ ई० – १४०४–१५८१ वि०)—इसे धार्मिक युग भी कह सकते हैं, क्योकि इस युग मे प्रधानत धार्मिक साहित्य की ही सर्जना हुई। कालक्रम से इसे आदियुग कह सकते हैं।

(२) आदिलशाही कुतुवशाही युग (१४९० ई० – १६८७ ई० = १५४७–१७३७ वि०)—वहमनी वश के समाप्त होने पर वह राज्य पाँच मुसलिम राज्यो में विभाजित हो गया। दक्खिनी साहित्य की दृष्टि से गोलकुडा के कुतुबशाही और बीजापुर के आदिलवशी सुलतानो का सहयोग महत्वपूर्ण है। इस युग का साहित्य अनेक धाराओ में प्रवाहित हुआ। कालक्रम से इसे हम मध्ययुग की सज्ञा दे सकते हैं।

(३) मुगल युग (१६८७ ई० – १७२२ ई० = १७४४–१७७९ वि०)—इस समय दक्खिनी साहित्य और साहित्यकारो का केन्द्र मुगल राज्य के प्रशासन-केन्द्र औरगावाद में था। इस युग की समाप्ति के पश्चात दक्खिनी साहित्य की पृथुल धारा अति क्षीण हो कर उत्तर के उर्दू साहित्य की धारा में विलुप्त सी हो गई। केवल लोक साहित्य के रूप में ही वह यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाती है।

(१) वहमनी युग

वहमनी वश के १७ सुलतानो ने लगभग १७९ वर्ष तक दक्खिन मे राज्य किया। ये सभी सुलतान मध्यकालीन निरकुश सामतशाही के प्रतीक थे। शत्रुओ के प्रति अति निर्मम और निर्दय होने पर भी वे अपनी प्रजा को सुखी और समृद्धिशाली रखने के इच्छुक रहते थे। राजभक्ति तथा समस्त धनी-निर्धन जनता की समृद्धि को ही जीवन की चरम उपासना मानने वाला, मध्यकालीन इतिहास का महानतम राजनीतिज्ञ, प्रधान मत्री महमूद गवाँ इसी वहमनी वश में हुआ। वीदर मे उसने एक वहुत वडा कालेज खोला था जिसमे ३००० पुस्तको का सग्रह था। सूफी सतो को धर्म-प्रचार के लिए पूर्ण स्वतत्रता थी। वहमनी युग मे इन्ही सूफी सतो ने धर्म प्रचार के लिए दक्खिनी में रचनाएँ की।

ख्वाजा वंदेनेवाज गेसूदराज (१३४६–१४२३ ई० = १४०३–१४८० वि०)

वदेनेवाज का पूरा नाम हजरत सैयद मोहम्मद हुसेनी था। लबे-लबे बाल होने के कारण इनके नाम के साथ गेसूदराज की उपाधि जुड गई थी। इनके पिता सैयद युसुफ शाह राजू खत्ताल दिल्ली के निवासी थे। दिल्ली के हजरत वुरहानुद्दीन गरीव के साथ चार सौ बुजुर्गों की टोली में अपनी पत्नी और ४–५ वर्ष की आयु वाले एक मात्र पुत्र सैयद मुहम्मद हुसेनी (वदेनेवाज) को लेकर ये भी दक्खिन आए थे और दौलतावाद में रहने लगे थे। वदेनेवाज की प्रारभिक शिक्षा-दीक्षा दौलतावाद में ही हुई। १५ वर्ष की आयु में ही इनके पिता का देहान्त होगया। तव माता के साथ ये दिल्ली लौट गए। दिल्ली के सूफी सत ख्वाजा नसीरउद्दीन चिराग से इन्होने सूफी दीक्षा ली। १३६१ ई० (१४१८ वि०) में गुरु की मृत्यु के पश्चात ये अपना सारा समय धर्मो-

पदेश तथा ज्ञान-लाभ मे ही व्यतीत करते थे। ये अरबी-फारसी तथा रेखागणित और ज्यामिति के पडित थे। इनकी पत्नी का नाम रजा खातून था जो मौलाना जमालुद्दीन की पुत्री थी।

दिल्ली में तैमूरलग के अत्याचारो से ऊब कर १४१३ ई० (१४७० वि०) में ये वृद्धावस्था में सपरिवार वहमनी वादशाह फिरोजशाह के राज्यकाल मे गुलवर्गा पधारे। वादशाह ने सम्मान के साथ इनका स्वागत किया। उसके छोटे भाई अहमदशाह ने वदेनेवाज को एक जागीर दी और एक वडी पाठशाला खुलवा दी। वही १४२३ ई० (१४८० वि०) में इनका देहान्त हो गया। अहमदशाह ने इनकी मजार पर एक मकवरा वनवा दिया।

एक सिद्ध साधक के रूप में ये हिन्दू और मुसलमान, दोनो के द्वारा समादृत थे। आज भी गुलवर्गा मे इनकी दरगाह हिन्दू-मुसलिम, दोनो में वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे कि अजमेर मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह।

उत्तरी भारत में रहते हुए वदेनेवाज ने लगभग १५ ग्रथ फारसी-अरवी मे लिखे। दक्खिन आकर ये दक्खिनी में उपदेश देने लगे। दक्खिनी में लिखे इनके तीन ग्रथ—(१) मीराजुलआशकीन, (२) हिदायतनामा, (३) रिसाला सेहवारा या वारहमासा—प्रसिद्ध हैं।

'मीराजुल-आशकीन'[१] दक्खिनी की प्रथम रचना होने के नाते महत्वपूर्ण हैं। लगभग १९ पृष्ठो का यह एक छोटा सा ग्रथ अत्यन्त मूल्यवान है। इस 'मीराज (सोपान) उल (का) आशकीन' (भक्तो), अर्थात भक्तो के सोपान मे ख्वाजा वदेनेवाज के धर्मोपदेश सग्रहीत हैं।

साहित्य की दृष्टि से यह कोई प्रौढ रचना नही है। सरल से सरल प्रचलित दक्खिनी मे सूफी सिद्धातो की व्याख्या ही ग्रथ का एकमात्र उद्देश्य है। विपय सूफी धर्म से सवधित होने के कारण इसमें कही-कही फारसी-अरवी के वाक्याश भी आ गए हैं। वदेनेवाज का दक्खिनी (हिन्दवी) में उपदेश देने का कदाचित यह प्रथम प्रयास था। अत इसकी भापा व्याकरण की दृष्टि से असयत तथा अनियमित है, फिर भी भापा के अध्ययन की दृष्टि से इसका महत्व है। 'मीराजुल-आशकीन' की भापा का उदाहरण देखिए —

> कौल नवी अले उल सलाम, कहे इसान के वूझने को (कू) पाँच तन, हर एक तन को पाँच दरवाजे हैं हौर पाँच दरवान हैं। पैला तन वाजिवुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफ्श उसका अम्मार याने वाजिव के आक सो (सू) गैर न देखना सों, हिरस के कान (सो) गैर न सुना सो। हसद नक सो वदवूई न लेना सो नव्ज पिछान कों दवा देना—
>
> × × ×
>
> पीर मना किए सो परहेज करना, मुराकवे की गोली मुशाहदे के कासे मे मेकाइल के मदद के पानी सो, जली का काडा कर को पीलाना—

१ अब्दुल हक ने १९२५ ई० में ताज प्रेस, हैदरावाद से इसे प्रकाशित कराया था। जिस हस्तलिखित प्रति को प्रतिलिपि कराकर पुस्तक प्रकाशित की गई है, उसका प्रतिलिपि-काल ९०६ हिजरी या १५०० ई० है। अतएव १५०० ई० के गद्य के रूप में यह महत्त्वपूर्ण लेख है।

दक्खिनी साहित्य

दक्खिनी साहित्य के विकास को भलीभाँति समझने के लिए उसे निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) वहमनी युग (१३४७ ई० – १५२४ ई० – १४०४–१५८१ वि०)—इसे धार्मिक युग भी कह सकते हैं, क्योकि इस युग मे प्रधानत धार्मिक साहित्य की ही सर्जना हुई। कालक्रम से इसे आदियुग कह सकते हैं।

(२) आदिलशाही कुतुवशाही युग (१४९० ई० – १६८७ ई० = १५४७–१७३७ वि०)—वहमनी वश के समाप्त होने पर वह राज्य पाँच मुसलिम राज्यो मे विभाजित हो गया। दक्खिनी साहित्य की दृष्टि मे गोलकुडा के कुतुवशाही और बीजापुर के आदिलवशी सुलतानो का सहयोग महत्वपूर्ण है। इस युग का साहित्य अनेक धाराओ में प्रवाहित हुआ। कालक्रम से इसे हम मध्ययुग की सज्ञा दे सकते हैं।

(३) मुगल युग (१६८७ ई० – १७२२ ई० = १७४४–१७७९ वि०)—इस समय दक्खिनी साहित्य और साहित्यकारो का केन्द्र मुगल राज्य के प्रशासन-केन्द्र औरगावाद मे था। इस युग की समाप्ति के पश्चात दक्खिनी साहित्य की पृथुल धारा अति क्षीण हो कर उत्तर के उर्दू साहित्य की धारा में विलुप्त सी हो गई। केवल लोक साहित्य के रूप मे ही वह यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाती है।

(१) बहमनी युग

वहमनी वश के १७ सुलतानो ने लगभग १७९ वर्ष तक दक्खिन मे राज्य किया। ये सभी सुलतान मध्यकालीन निरकुश सामतशाही के प्रतीक थे। शत्रुओ के प्रति अति निर्मम और निर्दय होने पर भी वे अपनी प्रजा को सुखी और समृद्धिशाली रखने के इच्छुक रहते थे। राजभक्ति तथा समस्त धनी-निर्धन जनता की समृद्धि को ही जीवन की चरम उपासना मानने वाला, मध्यकालीन इतिहास का महानतम राजनीतिज्ञ, प्रधान मत्री महमूद गवाँ इसी वहमनी वश में हुआ। बीदर मे उसने एक वहुत वडा कालेज खोला था जिसमें ३००० पुस्तको का सग्रह था। सूफी सतो को धर्म-प्रचार के लिए पूर्ण स्वतत्रता थी। वहमनी युग में इन्ही सूफी सतो ने धर्म प्रचार के लिए दक्खिनी में रचनाएँ की।

ख्वाजा बदेनेवाज गेसूदराज (१३४६–१४२३ ई० = १४०३–१४८० वि०)

वदेनेवाज का पूरा नाम हजरत सैयद मोहम्मद हुसेनी था। लबे-लबे वाल होने के कारण इनके नाम के साथ गेसूदराज की उपाधि जुड गई थी। इनके पिता सैयद युसुफ शाह राजू खत्ताल दिल्ली के निवासी थे। दिल्ली के हजरत वुरहानुद्दीन गरीव के साथ चार सौ बुजुर्गों की टोली में अपनी पत्नी और ४–५ वर्ष की आयु वाले एक मात्र पुत्र सैयद मुहम्मद हुसेनी (वदेनेवाज) को लेकर ये भी दक्खिन आए थे और दौलतावाद में रहने लगे थे। वदेनेवाज की प्रारभिक शिक्षा-दीक्षा दौलतावाद मे ही हुई। १५ वर्ष की आयु मे ही इनके पिता का देहान्त होगया। तव माता के साथ ये दिल्ली लौट गए। दिल्ली के सूफी सत ख्वाजा नसीरउद्दीन चिराग से इन्होने सूफी दीक्षा ली। १३६१ ई० (१४१८ वि०) में गुरु की मृत्यु के पश्चात ये अपना सारा समय धर्मो-

पदेश तथा ज्ञान-लाभ मे ही व्यतीत करते थे। ये अरबी-फारसी तथा रेखागणित और ज्यामिति के पडित थे। इनकी पत्नी का नाम रजा खातून था जो मौलाना जमालुद्दीन की पुत्री थी।

दिल्ली में तैमूरलग के अत्याचारो से ऊब कर १४१३ ई० (१४७० वि०) में ये वृद्धावस्था में सपरिवार वहमनी वादशाह फिरोजशाह के राज्यकाल मे गुलवर्गा पधारे। वादशाह ने सम्मान के साथ इनका स्वागत किया। उसके छोटे भाई अहमदशाह ने वदेनेवाज को एक जागीर दी और एक वडी पाठशाला खुलवा दी। वही १४२३ ई० (१४८० वि०) में इनका देहान्त हो गया। अहमदशाह ने इनकी मजार पर एक मकवरा वनवा दिया।

एक सिद्ध साधक के रूप में ये हिन्दू और मुसलमान, दोनो के द्वारा समादृत थे। आज भी गुलवर्गा में इनकी दरगाह हिन्दू-मुसलिम, दोनो में वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे कि अजमेर मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह।

उत्तरी भारत में रहते हुए वदेनेवाज ने लगभग १५ ग्रथ फारसी-अरवी में लिखे। दक्खिन आकर ये दक्खिनी में उपदेश देने लगे। दक्खिनी मे लिखे इनके तीन ग्रथ—(१) मीराजुलआशकीन, (२) हिदायतनामा, (३) रिसाला सेहवारा या वारहमासा—प्रसिद्ध है।

'मीराजुल-आशकीन'[1] दक्खिनी की प्रथम रचना होने के नाते महत्वपूर्ण है। लगभग १९ पृष्ठो का यह एक छोटा सा ग्रथ अत्यन्त मूल्यवान है। इस 'मीराज (सोपान) उल (का) आशकीन' (भक्तो), अर्थात भक्तो के सोपान में ख्वाजा वदेनेवाज के धर्मोपदेश सग्रहीत है।

साहित्य की दृष्टि से यह कोई प्रौढ रचना नही है। सरल से सरल प्रचलित दक्खिनी मे सूफी सिद्धातो की व्याख्या ही ग्रथ का एकमात्र उद्देश्य है। विपय सूफी धर्म से सवधित होने के कारण इसमें कही-कही फारसी-अरवी के वाक्याश भी आ गए है। वदेनेवाज का दक्खिनी (हिन्दवी) में उपदेश देने का कदाचित यह प्रथम प्रयास था। अत इसकी भापा व्याकरण की दृष्टि से असयत तथा अनियमित है, फिर भी भापा के अध्ययन की दृष्टि से इसका महत्व है। 'मीराजुल-आशकीन' की भापा का उदाहरण देखिए—

> कौल नवी अले उल सलाम, कहे इसान के वूझने को (कू) पाँच तन, हर एक तन को पाँच दरवाजे है हौर पाँच दरवान है। पैला तन वाजिवुल वजूद मोकाम उसका शैतानी, नफ्श उसका अम्मार याने वाजिव के आक सो (सू) गैर न देखना सो, हिरस के कान (सो)गैर न सुना सो। हसद नक सो वदवूई न लेना सो नब्ज पिछान को दवा देना—
>
> × × ×
>
> पीर मना किए सो परहेज करना, मुराकवे की गोली मुशाहदे के कासे में मेकाइल के मदद के पानी सो, जली का काडा कर को पीलाना— . .

---

१ अब्दुल हक ने १९२५ ई० में ताज प्रेस, हैदराबाद से इसे प्रकाशित कराया था। जिस हस्तलिखित प्रति की प्रतिलिपि कराकर पुस्तक प्रकाशित की गई है, उसका प्रतिलिपि-काल ९०६ हिजरी या १५०० ई० है। अतएव १५०० ई० के गद्य के रूप में यह महत्वपूर्ण लेख है।

यू खाली में माटी—खाली में पानी—खाली मे आग—खाली में वारा—खाली में खाली यू पाँच अनासिरन का वाजिवुल वजूद वूजिया तो तौहीद तमाम का रूह इसे कहते हैं—खुदाय ताला ने हदीस कुदसी मे फरमाए है।

कहा जाता है कि वदेनेवाज अच्छे कवि भी थे और शाहवाज नाम से कविताएँ लिखते थे।[१] खेद है कि उनकी कुछ स्फुट कविताएँ ही मिलती है। उन्ही से उदाहरण नीचे दिए जाते है —

में आशिक उस पीव का जिनने मुझे जीव दिया है।
ओ पीव मेरे जीव का जो कुर्का लिया है॥
ऐसी मीठी माशूक कूँ कोई क्यो न देखने पावे।
जिनने देखे उसे उसी कूँ और न कोई भावे॥

× × ×

यो खोई खुदी अपनी खुदा साथ मोहम्मद।
जब घुल गई खुदी तो खुदा विन न कोई दिखे॥

इन कविताओ मे दक्खिनी का स्वरूप कुछ निखरा प्रतीत होता है। इनमे सूफी साधनानुसार प्रेम-पद्धति का चित्रण किया गया है।

सैयद मुहम्मद अकबर हुसेनी ख्वाजा वदेनेवाज के पुत्र थे। दिल्ली मे इनका जन्म हुआ था और वही अपने पिता से धर्म की दीक्षा लेकर ये उनके अनुयायी वन गए थे। इनका विवाह खिलजी परिवार में हुआ था। पिता के सामने ही इनकी मृत्यु हो गई थी। कहा जाता है कि अल्पायु में ही इन्होने अनेक ग्रथो की रचना की थी, किन्तु अभी तक इनकी कोई रचना उपलब्ध नही हुई है।

अब्दुल्ला हुसेनी ख्वाजा वदे नेवाज के पोते थे और अहमद शाह सानी वहमनी (१४३५–१४५८ ई० = १४९२–१५१५ वि०) के राज्यकाल मे वर्तमान थे। ये अपने समय के प्रसिद्ध सूफी सत और कवि थे। इन्होने अपने शिष्यो के लिए हजरत शेख अब्दुल कादर जिलानी की फारसी रचना का दक्खिनी मे 'निशातुल इश्क' नाम से अनुवाद किया था।

निजामी वहमनी युग के सबसे प्रसिद्ध कवि थे। ये सुलतान अहमद शाह तृतीय (१४६०–१४६२ ई० = १५१७–१५१९ वि०) के दरबारी कवि थे। मसनवी शैली मे रचित इनकी एक रचना 'कदमराव व पदम' प्रसिद्ध है। इस मसनवी मे शुद्ध हिन्दवी, अर्थात तद्भव-शब्दबहुल हिन्दवी का प्रयोग अधिक हुआ है। अतएव केवल उर्दू का ज्ञान रखने वालो के लिए इसका समझना कठिन है। निजामी को कुछ लोग वहमनी युग का प्रथम प्रसिद्ध कवि मानते है। एक प्रकार से 'कदमराव व पदम' हिन्दवी का आदि चरितकाव्य है।[२] एक उदाहरण देखिए—

---

१ नासिरुद्दीन हाशिमी ने मराकाले हाशिमी नामक निबधो में ख्वाजा बदेनेवाज की भी कविता सकलित की है।

२ दक्खिन में उर्दू के लेखक नासिरुद्दीन हाशिमी का कथन है 'इसमें अरबी-फारसी के बजाय हिन्दी अल्फाज ज्यादा है। इसकी जबान इस कदर मुश्किल है कि इसका समझना वक्ततलव है'। पृ० ४०।

अकास ऊँच पताल धरती थी—जहाँ कुछ न कोई था है तही
विठाया अमोलक रतन नूर धर—. . . ..
अमोलक कलत सेस ससार का—करे काम निरधार करतार का॥

(२) कुतुवशाही-आदिलशाही युग

सन १४८१ ई० (१५३८ वि०) में वहमनी राज्य-प्रासाद को सुदृढ स्तभ की भाँति सँभालने वाल प्रजापालक, अनन्य राजभक्त, महामत्री महमूद गवाँ की निर्मम हत्या स्वय वादशाह की कुप्रेरणा से हो गई। भूल के रहस्योद्‌घाटन होने पर महमूद भी दूसरे वर्ष प्रायश्चित्त की आग में जल कर चल वसा। इसके वाद वहमनी वश का पतन आरभ हो गया और प्रान्तीय शासक स्वतत्र होने लगे। कहने को वहमनी सुलतानो का नाम १५२४ ई० (१५८१ वि०) तक चलता रहा, किन्तु १४८९ ई० (१५४६ वि०) के पश्चात वहमनी वश का शासन व्यावहारिक दृष्टि से समाप्त सा हो गया था। १४८९ ई० (१५४६ वि०) मे वीजापुर यूसुफ आदिलशाही वश की और १५१० ई० (१५६७ वि०) मे गोलकुडा में कुतुव-उल-मुल्क ने कुतुवशाही वश की नीव डाली। अत १४८९ ई० (१५४६ वि०) से दक्खिनी साहित्य मे आदिलशाही-कुतुवशाही युग आरभ हो जाता है। १६८७ ई० (१७४४ वि०) तक ये दोनो राज्य मुगल राज्य मे मिला लिए गए थे, जिससे दक्खिनी साहित्य का यह मध्यकाल समाप्त हो गया।

इस काल में दक्खिनी को विकास करने का अभूतपूर्व अवसर प्राप्त हुआ और उसमे प्रौढ साहित्य की रचना हुई। इस काल के काव्य में भक्ति और शृगार का एक सरस समन्वय मिलता है। उत्तरी भारत में जिस काल मे तुलसी का 'मानस' और सूर का 'सागर' हिन्दी साहित्य मे तरगित हो रहा था, उसी समय दक्खिनी साहित्य का स्वर्ण भवन भी निर्मित हो रहा था। सुविधा की दृष्टि से हम इस युग के साहित्य को दो धाराओ मे वाँट सकते है (क) आदिलशाही साहित्य धारा और (ख) कुतुवशाही साहित्य धारा।

(क) आदिलशाही साहित्यधारा (१४९०–१६८७ ई०=१५४७–१७४४ वि०)

वीजापुर के आदिलशाही[1] वश मे आठ वादशाह हुए। इस वश के अधिकाश सुलतान धर्मसहिष्णु, उदारतावादी, सुसस्कृत, विद्याव्यसनी और कलाप्रिय थे, अतएव इस युग में दक्खिनी साहित्य की धारा प्रौढ रूप से विविध दिशाओ में प्रवाहित हुई। वहमनी युग समाप्त होने पर भी

---

१ वीजापुर के आदिलशाही वश के आठ सुलतान है—१. यूसुफ आदिलशाह (१४९०–१५१० ई०=१५४७–१५६७ वि०), २. इस्माइल आदिलशाह (१५१०–१५३४ ई०=१५६७–१५९१ वि०), ३ इब्राहीम आदिलशाह (१५३४–१५५८ ई०=१५९१–१६१५ वि०), ४ अली आदिलशाह (१५५८–१५८० ई०=१६१५–१६३७ वि०), ५ इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२७ ई०=१६३७–१६८४ वि०), ६ मुहम्मद आदिलशाह (१६२७–५७ ई०=१६८४–१७१४ वि०), ७ अली आदिलशाह द्वितीय (१६५७–१६७२ ई०=१७१४–१७२९ वि०) और ८ सिकदर आदिलशाह (१६७२–१६८६ ई०=१७२९–१७४३ वि०)।

दक्खिन में सूफी सत साहित्य की धारा प्रवाहित होती रही। आदिलशाही साहित्यधारा में सर्व-प्रथम सूफी सत कवि ही आते है। इनमें शाह मीराजी शमसुल-उश्शाक, बुरहानुद्दीन जानम और अमीनुद्दीन आला अधिक प्रसिद्ध हैं।

आदिलशाही युग में पद्य रचनाओ के अतिरिक्त गद्य की भी रचनाएँ हुई। वास्तव मे दक्खिनी साहित्य का आरम्भ ही गद्य से होता है। वहमनी युग में गद्य का विकास हुआ, किन्तु आदिलशाही युग में जैसा प्रौढ गद्य साहित्य लिखा गया, वैसा इतर मध्यकालीन साहित्य में अलभ्य है।

शाह मीराजी शम्शुलउश्शाक

शाह मीराजी का जन्म मक्का मे हुआ था। धर्म-प्रचार करने की इच्छा से ये भारत आए और दक्खिन आकर बीजापुर में वस गए। ख्वाजा कमालउद्दीन वियावानी के शिष्यत्व में रह कर इन्होंने कठिन साधना की और सिद्ध सूफी सत, विद्वान तथा कवि के रूप मे प्रसिद्ध हुए। उच्च साधना के कारण ये शमशुल-उश्शाक (भक्तो के सूर्य) कहे जाने लगे। इन्होंने अधिकाश जीवन बीजापुर तथा अतिम काल बीजापुर के पास शाहपुर मे विताया। यही १४९७ ई० (१५५४ वि०) मे इनकी मृत्यु हुई।

फारसी-अरबी के विद्वान होने पर भी ये हिन्दवी में ही उपदेश देते थे। गद्य और पद्य दोनो रूपो में इनकी हिन्दवी रचनाएँ मिलवी हैं। 'खुशनामा', 'खुशनगज' तथा 'शहादतुलहकीकत' इनकी पद्य रचनाएँ हैं तथा 'शरहमरगूबउलकलूब' गद्य मे लिखी गई है।

'खुशनामा' एक खडकाव्य है जो मसनवी शैली में लिखा गया है। इसकी नायिका का नाम खुश है जो कवि की पुत्री अथवा अन्य कोई प्रिय सवधी है। बाल्यावस्था से ही ससार से विरक्त होकर खुश ईश्वरीय प्रेम में तल्लीन रहा करती है। १७ वर्ष की अल्पायु में ही शाहपुर में इस महान प्रेमी भक्त का ईश्वर से महामिलन हो जाता है। खुश की इस महान साधना से ही कवि को इस ग्रथ-रचना की प्रेरणा मिली होगी। खुश के उदात्त चरित, स्वभाव, साधना और ईश्वर से महा-मिलन का वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। परोक्ष रूप से सूफी सिद्धान्तो की व्याख्या भी की गई है।

कवि ने स्वय इस मसनवी का विस्तार इस प्रकार लिखा है—

इस खुशनामा धरिया नाम, दोहा एक सौ सत्तर।
दस ज्यादा हैं पर हैं सुने, लहे खुशी का छत्तर॥

सभवत १७० छदो के अतिरिक्त रचना मे दस दोहे है। पुत्री और पिता के सवाद के रूप में इसकी रचना हुई है।

नीचे रचना से कुछ उद्धरण दिए ज.ते हैं। खुश के स्वभाव का वर्णन है—

वाली भोली जीव झवाली मुहवत केरा नूर।
परम पियारी साधु सँघाती तुलना होवे दूर॥
जव वह आई इत ससार खुशी से हुई तमाम।
पगो तव गुरू की लागी लह्या खुश कर नाम॥

हसा वदनी सोमा नैनी गौर वदन की देखी।
वहुत सत्यापन यह सत्त कलजुग माही सोवे॥
शाह वोली गुनो की सव पिरत लगावे यह मन मोहे।
कौन वखाने लक्खन इसके न पाया जाने सोहे॥
करत लाड चह चाव सव गोदो की प्यारी।
सत्त सभाले ऐ झवाले मुहव्वत की हमारी॥

'खुशनगज' भी एक खडकाव्य है, जिसमे खुश का जीवन-चरित तथा सूफी सिद्धातो का वर्णन है। यह रचना भी पुत्री-पिता के सवाद के रूप में लिखी गई है। इसमे कुल ७२ या ७३ छद है जो नौ अध्यायो में विभाजित हैं।

प्रथम अध्याय मे खुश का ईश्वर सवधी प्रश्न है तथा पीर द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। आठवें अध्याय में अकल (ज्ञान) और इश्क (भक्ति) के सवाद के रूप मे साधना के क्षेत्र में दोनो का विवेचन किया गया है। अन्त मे दोनो के समन्वय को ही साधना का आदर्श वताया गया है। कवि के अनुसार वह जीवन महान है जो अकल के साथ इश्क को समझ सके और वह जीव महात्मा है जो इश्क की लौ ईश्वर से लगाए। ग्रथ मे जीवन, जगत, जन्म, मृत्यु तथा ईश्वर से महामिलन की साधना का काव्यमय विवेचन सरल से सरल रूप मे किया गया है। एक उदाहरण—

खुश पुछे कै कहो मीराजी आलिम अछे केते।
मीरा कहे सुन जेते तन अच्छे आलिम तेते॥
खुश कहे मुज कहो मीराजी इश्क वडा या वूझ।
पीर कहें मै आखो वयान इसमें धरना सूव॥

'शहादतुलहकीकत'[1] 'खुशनामा' से भी वडी रचना है। इसमें लगभग ६५ पृष्ठ और ५६३ छद हैं और इसमे भी प्रधानत तसव्वुफ अथवा सूफी साधना का विवेचन है, साथ ही कवि ने इसमें अपनी वश-परपरा आदि पर भी कुछ प्रकाश डाला है।

फारसी-अरवी छोडकर हिन्दवी में रचना करने का कारण लेखक इस प्रकार वतलाता है—

है अरवी वोल केर और फारसी भोतेरे॥
यह हिन्दवी वोलो सव, इस अर्थो भावे सव॥
यह भाका भल सो वोले, पुन इसका भावत खोले॥
× × ×
जो कोई अच्छे खासे, इस वयान केरे प्यासे॥
वे अरवी वोल न जाने, ना फारसी पिछाने॥
यह उसको वचन हेत सत वूझे रेत॥
× × ×
वड भाका छोड दीजे, चुन मानिक मोती लीजे॥

---

१. इसकी एक प्रति हिन्दुस्तानी एकडेमी, इलाहावाद में है। प्रति में इसका नाम 'शहादुलहकीक' दिया गया है।

इस नाम है तहकीक, सुन शहादतुल हकीक ॥
इसका मगज दरिया, जी देख नित रहे मरया ॥
मव ही को केरी खान, ना मोतियो केरी वान ॥
जो होवेगा मुछारा, कुछ जानेगा विचारा ॥

शाह मीराँजी ने पद्य के साथ-माथ गद्य भी लिखा है। 'शरह मरगूवउलमलूव' इनकी एक छोटी सी प्रसिद्ध गद्य रचना है। आरभ मे हदीस के कुछ सक्षिप्त अनुवाद देकर सपूर्ण रचना को दस अध्यायो मे विभाजित किया गया है। हिंदवी अनुवाद के पहले कुरान की मूल आयतें भी दी गई है। साहित्यिक दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्व नही है, किन्तु भाषा के ऐतिहासिक विकास के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका गद्य ख्वाजा वदेनेवाज की अपेक्षा अधिक हिन्दवी या दक्खिनीपन लिए हुए है। भाषा अपेक्षाकृत अधिक निखरी हुई है। फारसी-अरबी के वे ही शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो जनता की जिह्वा पर चढ कर घिस घिस कर दक्खिनी या हिन्दवी वन चुके थे। कुछ उदाहरण देखिए—

होर खुदा का सिफत भोत करना भोत सराहना, भोत नवाजना जिसने पैदा किया सव आलम कू होर हमना कू अकल होर दीन दिया।

× × ×

इश्क सरदार है, इश्क खुलासे मौजूदात है, इश्क साहबे कामलात है, जान भी इश्क है, तन भी इश्क की वात है, शेर पद्य भी इश्क की वात है, बेपरवाई इश्क का घर है, राग इश्क का राज है, रज इश्क का राहत, कैफियत इश्क की जौहर, खुशवो इश्क की वास, हुस्न इश्क का जलवागाह, इस सात गज से जो कोई मार्का न हुआ वह आशिक नही बल्कि आदम भी नही।

शाहअली मुहम्मद गाँवधनी

इनके पिता शाह इब्राहीम जानुल्ला भी अपने समय के प्रसिद्ध सूफी सत थे। शाह अली मुहम्मद का जन्म अहमदाबाद में हुआ था। इनकी जन्म-तिथि अज्ञात है। अपने पिता से ही इन्होने दीक्षा ली और धर्म का प्रचार किया। इन्होने एक पाठशाला भी खोली थी, जिसमें सामान्य शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। इनकी मृत्यु १५६६ ई० (१६२३ वि०) में हुई।

इनके पदो का सकलन सर्वप्रथम इनके शिष्य अबुलहसन ने किया था। वाद में इनके पोते शाह इब्राहीम विन शाह मुस्तफा ने सशोधन करके उन्हे पुन सकलित किया जो 'जवाहरउल असरार'[1] के नाम से प्रसिद्ध हुए।

लगभग १३० पृष्ठो की इस रचना में सूफी सिद्धातो का ही विवेचन किया गया है। भूमिका

---

१ ग्रथ की दो प्रतियाँ आसफिया लाइब्रेरी, हैदराबाद में और एक प्रति डा० हफीज सैयद, भूतपूर्व सहायक प्रोफेसर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के पास है। तीनों में यह निश्चय करना कठिन है कि कौन शिष्य द्वारा सकलित है और कौन पोते द्वारा सशोधित है।

भाग में पहले अरबी मे ईश्वर की प्रार्थना की गई है। इसके बाद अली मुहम्मद के पोते ने फारसी मे कवि का और रचना का परिचय दिया है। बाद में शाह मुहम्मद गाँवधनी के फुटकर पदो का सग्रह दिया गया है। भूमिका में लिखा है कि यह रचना कही खुदा की जबान और कही इन्सान की जबान मे लिखी गई है। इन्सान की जबान से सभवत जन-सामान्य में प्रचलित हिन्दवी या दक्खिनी जबान से ही तात्पर्य है।

'जवाहरउलअसरार' के कुछ पद दिए जाते हैं—

आप ही खेलू आप खिलाऊ
आपे ईस तवक्कुल लाऊ।

× × ×

मेरा नाव मुझे अति भावे, मेरा जीव मुजी पै जावे।
मेरी नेह मुझी कू माने, रह रह आपन रूप लुभावे॥
कभी सो मजनू हो बरलावे, कभी सो लैला होय दिखावे।
कभी सो खुसरो शाह कहावे, कभी सो शीरी होकर आवे॥

× × ×

कही सो साथी कही अली आवे,
अपी मुहम्मद कही कहावे।
कही सो शाह हुसेनी राजा,
आवे तिल तिल मेरु भरावे॥

शाह बुरहानुद्दीन जानम

ये शाह मीराजी के सुपुत्र और उत्तराधिकारी थे। इनका जन्म बीजापुर मे सन १४५८ ई० (स० १५११ वि०) मे हुआ था। इन्होंने पिता से ही शिक्षा-दीक्षा ली और पिता की मृत्यु के बाद उनका पद प्राप्त किया। ये अरबी-फारसी और दक्खिनी या हिन्दवी के विद्वान थे तथा सूफी साधना के अनुसार भगवद्भक्ति करते थे। लोगो को धर्मोपदेश के साथ-साथ विद्यार्थियो को पढाया भी करते थे। सूफी सत के रूप मे दूर-दूर तक इनकी ख्याति फैल चुकी थी, अतएव लोग इनके उपदेश सुनने आते थे। इनका देहान्त शाहपुर में सन १५८३ ई० (स० १६४० वि०) में हुआ। आज भी इनकी दरगाह पर मुसलमान श्रद्धा-भक्ति के साथ आते हैं।

अपने पिता की भाँति इन्होंने भी गद्य पद्य तथा दोनो की मिश्रित शैली मे रचनाएँ लिखी हैं। इनके नाम से निम्नलिखित ग्रथ प्रसिद्ध हैं—

'सुखसुहेला', 'इरशादनामा', 'वसीयतुलहादी', 'मनफतुलईमान' तथा 'कलिम्मतुल-असरार' पद्य की रचनाएँ हैं तथा 'इरशादनामा', 'मारफतुलकुलुब', 'हश्तमसाइल' और 'कलमतुलहकायक' गद्य की।

'सुखसुहेला'[1] आठ पृष्ठो की एक छोटी सी रचना है, जिसमें आत्मा और परमात्मा के

---

१ सुहेला ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमें किसी की प्रशंसा की गई हो।

आध्यात्मिक प्रेम की प्रशसा की गई है। कवि ने सरल भापा मे सूफी भक्ति का विवेचन किया है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

अल्ला वाहिद सिरजनहार
दो जग रचना रचिया प्यार।
सकल आलम किया जहूर
अपने वातिन केरे जहूर।

× × ×

'इरशादनामा' में पद्यात्मक दो सौ पचास पद है। अपने पिता की भाँति ही कवि ने इसमे प्रश्नोत्तर की शैली अपनाई है। शिष्य प्रश्न करता है और गुरु उसका उतर देता है। सरल हिन्दवी या दक्खिनी में कवि ने सूफी साधना की अभिव्यक्ति की है।

फारसी-अरवी छोड, हिन्दवी मे रचना करने के कारण कट्टर मुसलमान इनके प्रति रोष प्रकट करते थे। सभवत ऐसे ही लोगो को सबोधित कर प्रस्तुत काव्य मे निम्नलिखित पक्तियाँ लिखी गई है—

ऐव न राखे हिन्दी बोल, माने तू चल देख टटोल।
क्यो ना लेवे इसे कोय, सुहावना चितवर जो होय।

कवि ने इसका रचना-काल स्वय इस प्रकार लिखा है—

हिजरत नौसद नव्वद मान
इरशदनापा लिखिया जान।

इस प्रकार इसका रचना-काल ९९० हिजरी के आसपास पडता है।

'वसीयतुलहादी' नामक लगभग १४ पृष्ठो के प्रसिद्ध ग्रथ में कवि ने धार्मिक जीवन की महत्ता पर वल दिया है। इसमें ईश्वर की महत्ता, ईश्वर-जीव का भेद तथा आत्मा की साधना और पवित्रता का वर्णन किया गया है। एक उदाहरण इस प्रकार है—

यह रूप प्रगट आप छिपाया, कोई न पाया अत।
माया मोह में सव जग वधिया, क्यूकर सूझे पथ।
× × ×
चलने का पी नेम न होवे, यह तो शाह फोकट खाया।
इस घात उमर खर्च कीता, आखिर फिर पछताया।

'मनफलतुलईमान' १२० पदो की रचना है जिसमें ईश्वर, नवी और पैगवर की महत्ता वता कर भगवद्भक्ति की महिमा का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

गुन आदम का न हात चढे
रे क्यो कहना इसान॥

सूरत पर ऐतबार न राखे
जैसे है हैवान।
लोका यह मत कुछ हो अवीन
जिस वूझ वकत हो लावे दीन।

चार गद्य ग्रथो—'इरशादनामा', 'मारफतुलकलूव', 'हश्तमसायल' और 'कलम हकायक' का नामोल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पहली तीन रचनाओ मे सूफी सिद्धातो विवेचन हुआ है, चौथी रचना में भी लगभग १५० पृष्ठो मे प्रश्नोत्तर के रूप मे सूफी धर्म का विवेचन है। इनका गद्य अपने पिता से भी अधिक निखरा और साफ-सुथरा है और गद्य के विक की कडी को आगे बढाता है। 'कलमवुहकायक' का एक उदाहरण है—

प्रश्न—यह तन अलहदा दिसता व लेकिन जेता विकार सो टूटने नही वल्कि स्व विकार रूप दिसता है यक तिल करार नही ज्यो मुक्त रूप ।

उत्तर—इसका नाव सो मुमकिन उल वजूद दूसरा तन ओ भी कि इस इन्द्रिय का विव व चेष्टा करनहारा सोई तन नही तो यू खाक व सुख दुख मागनहारा ज विकार रूप वही दूसरा तन तू नज़र को देख यह तन फ़हम सू गुज़र्‍या तो उसके क्या रहे .।

अमीनुद्दीन आला

ये शाह बुरहान के सुपुत्र और शिष्य थे। धर्म-साधना और साहित्य-साधना अपने पूर्व से इन्हे उत्तराधिकार के रूप में मिली थीं। ये जन्म से ही वली थे और इनकी साधना से सत्र अनेक चमत्कारिक कहानियाँ कही जाती है। अपने पिता और पितामह की भाति इन्होने भी और पद्य दोनो मे रचनाएँ की है। १६७५ ई० (१७३२ वि०) में बीजापुर मे इनकी मृत्यु हु 'मुहव्वतनामा' तथा 'रम्जुस्सालिकीन', इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध है। इन्होने अपने पिता त पितामह पर कुछ कसीदे भी लिखे है। अपने पूर्वजो की अपेक्षा ये अधिक उच्च श्रेणी के कवि इनकी कविता में सरसता और प्रवाह दोनो मिलते है। इनकी वर्णन-शैली भी साहित्यिक इनके स्फुट पद 'हकीकत' के नाम से प्रसिद्ध है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते है—

आशिक अदना ज्यू पतग, आला मोमवत्ती का रग।
ज्यू पतगा देख पडता ना, आप जल कर हुए फना।
हक की राह मे पकड यकीन, क्यू ना इसको होवे ऐन।

× × ×

ऐ सुभान दे तू मुझे ग्यान, मै देखो तुझकू पहचान !

× × ×

तन मन मेरा है तुझ पर फिदा।
हरदम मिल रहूँ तुझसो सदा।
नार कि मुझ को तुझसो जुदा।

अपने पिता और पितामह की भाँति अमीनुद्दीन आला ने भी पद्य और गद्य दोनो में रच-नाएँ की हैं। इनकी तीन गद्य रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'रिसाला गुफ्तारशाह अमीन', 'गगमरवफी', और 'रिसाला मजबुलसालकीन'। इनके ग्रथो मे सूफी साधना का विवेचन किया गया है। जिस प्रकार ये कविता में अपने पिता और पितामह से आगे बढ जाते हैं, उसी प्रकार इनकी गद्य-रचना मे भी अधिक निखार, एकरूपता और प्रवाह मिलता है।

'रिसाला मजबुलसालकीन' कई दृष्टियो से एक महत्वपूर्ण गद्य रचना है। इसमें लेखक ने सस्कृत के वेदान्त, पुराण और फारसी-अरबी के धार्मिक ग्रथो के उदाहरण देकर एकेश्वरवाद के दार्शनिक विचार का समर्थन किया है। विद्वान लेखक ने ऋग्वेद और यजुर्वेद की तुलना कुरान और इजील से की है। ग्रथ के महत्व पर लेखक स्वय प्रकाश डालता हुआ कहता है—

हर एक के काम आवे, इसका जल्द हक ताले के फज़ल से अपने मतलब को पावे।

× × ×

मज़हब हमारा सूफिया होर मशरफ हमारा दीद है तो दिल में आया कि बयान करूँ हर दो कौम के सूफिया का दखिनी ज़बान सू।

× × ×

लेखक सब धर्मों की समानता का समर्थन इस प्रकार करता है—

ऐ आरिफ सुन मैंने बहुत सूफियाने दानिशमन्द, पडित ज्ञानी इन सबो से हम मजलिस होके गुफनगू किया तो सिवाय लफ्जो के कुछ तफावत नही देखिया। जैसा के कोई पानी कू मेंह कहते, कोई आब कहते, होर कोई नीर कहते। कोई सीतल कहते होर कोई जल कहते। इन सबो को जमा करके देखे तो मतलब मुराद पानी है। यू हर एक कौम अपनी अपनी ज़बान में अलहदा अलहदा नाम रखे

पुस्तक के अन्त मे लेखक ने कई हिन्दी शब्दो के अर्थ सरल भाषा मे इस प्रकार बताए हैं—

ऋग्वेद	—	किताबे तौरेत
ब्रह्मादवेद	—	मूसा पैगबर की किताब
ब्रह्माड	—	वजूद
अवस्था	—	हाल
यजुर्वेद	—	किताब इजील
श्याम वेद	—	किताब जबूर
अथर्ववेद	—	दाऊद पैगबर
अतरगवेद	—	कुरान
अशुरदेव	—	मोहम्मद साहब आदि

आदिलशाही सुलतान और हिन्दवी

बीजापुर के आदिलशाही सुलतान उदारतावादी, विद्याव्यसनी और कलाप्रिय थे। वे विद्वानो और कवियो को सरक्षण देते थे, साथ ही कई आदिलशाही नरेश स्वय उच्च कोटि के कवि और कलाकार भी थे। बहमनी सुलतानो की राजभाषा दक्खिनी ही थी, किन्तु यूसुफ आदिलशाह

और उसके पुत्र इस्माइल आदिलशाह (१५१०–१५३४ ई० = १५६७–१५९१ वि०) ने फारसी को राजभाषा बनाया। इस प्रकार लगभग ५० वर्ष तक फारसी को राज्याश्रय मिला। किन्तु इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५३४–१५५८ ई० = १५९१–१६१५ वि०) ने दक्खिनी हिन्दवी को राजभाषा घोषित किया। आदिलशाह प्रथम (१५५८–१५८० ई० = १६१५–१६३७ वि०) ने पुन फारसी को अपनाया, किन्तु इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५५०–१६२६ ई० = १६३७–१६८३ वि०) ने फिर हिन्दवी को प्रचलित किया और तब से आदिलशाही राजवश के अतिम दिनो तक यही राजभाषा बनी रही। दक्खिनी साहित्य के विकास की दृष्टि से इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय और अली आदिलशाह द्वितीय (१६५६–१६७६ ई० = १७२३–१७३३ वि०) का काल विशेष महत्वपूर्ण है।

इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय (१५८०–१६२६ ई० = १६३७–१६८३ वि०) आदिलशाही वश में सर्वाधिक विद्याव्यसनी, काव्यकला-प्रेमी तथा अत्यधिक लोकप्रिय शासक थे। काव्यकला का सरक्षक होने के साथ-साथ वे स्वय उच्च कोटि के सगीतज्ञ और कवि थे। भारतीय सगीत उन्हें बहुत प्रिय था। प्रसिद्ध है कि लगभग तीन सहस्र सगीतज्ञ उनके दरबार से सबधित थे। फारसी का प्रसिद्ध कवि जहूरी जो १५८० ई० (१६३७ वि०) में भारत आया था, अपने जीवन के अतिम दिनो तक (१६१६ ई० = १६७३ वि०) इन्ही के दरबार में रहा। सगीत में लोग उन्हें जगद्गुरु कहते थे। भारतीय रागो पर 'नवरस' नाम से इन्होने एक काव्य सन १०२२ हिजरी में लिखा। इसमें भारतीय रागो का विवेचन सस्कृतनिष्ठ हिन्दवी में किया गया है और भारतीय सगीत शास्त्र के शब्दो को ज्यो का त्यो रखा गया है। यह वह युग था जब उत्तरी भारत में काव्यभाषा के रूप में ब्रजभाषा का प्रभुत्व था, अत 'नवरस' की हिन्दवी ब्रजभाषामिश्रित है। कहा जाता है कि 'नवरस' का नाम इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि नौरसपुर नाम से एक बडा नगर बस गया, शाही महल नौरसमहल कहा जाने लगा, शाही मुहर नौरसी सिक्का हो गई, तथा कलाकार नौरसी उपाधि धारण करने लगे। फारसी कवि जहूरी ने 'सेहनस्र' नाम से इसकी भूमिका फारसी गद्य में लिखी। इसका एक उदाहरण देखिए—

> कल्यानी रमनी पीवर कुचा तन्वावरी
> मृगनयनी बाहा तन्वी स्यामकेस बदनी हिमकरा ॥१२३॥
> कान्ता कम बसन्ती वाली लज्जा उर
> दुरघा पशती रोमावली नीत कचुकी चित्र वस्तर ॥१२४॥

बादशाह मुहम्मद आदिलशाह और उनकी धर्मपत्नी दोनो कलाप्रिय थे। इनके पश्चात अली आदिलशाह द्वितीय गद्दी पर बैठे। इन्होने भी दक्खिनी को ही राजभाषा बनाए रखा और दक्खिनी कवियो को राजाश्रय प्रदान किया। आदिलशाही काल मे नुसरती, रुस्तमी दौलत, शाह मलिक, अमीन, मोमिन, सनाती, मुल्कशुगनूदा, मिर्जा, शेख, आदि प्रसिद्ध कवि हुए।

रुस्तमी

ये फारसी और दक्खिनी दोनो मे कविता लिखते थे। मुहम्मद आदिलशाह की धर्मपत्नी के अनुरोध पर इन्होने १६४९ ई० (१७०६ वि०) मे '**खावरनामा**' नाम का एक प्रबन्ध

काव्य लिखा। कवि ने चौबीस सहस्र छंदो का एक विशाल प्रबन्ध काव्य केवल डेढ वर्ष मे पूरा किया। वास्तव में यह एक फारसी ग्रथ का अनुवाद है, किन्तु कवि ने ऐसी कुशलता और सुन्दरता से इसका अनुवाद किया है कि इसमें मौलिक काव्य-सौन्दर्य अपने आप आ गया है। इसकी भाषा सरल और शैली मनोहर है।

नुसरती

ये इस युग के सर्वोच्च कवि है। कहा जाता है इनकी जन्मभूमि बीजापुर मे थी। कर्नाटक में बहुत दिन तक रह कर ये मुहम्मद आदिलशाह के राज्यकाल में दरबार मे आए और अली आदिलशाह द्वितीय के समय मे राजा द्वारा मलिकुश्शोअरा (कविराय) की उपाधि से विभूषित हुए। यह प्रसिद्ध है कि कर्नाटक के ये किसी ब्राह्मण-परिवार से सबधित थे। इन्होने अपनी कविता में गेसुएदराज की अनेक बार चर्चा की है, जिससे कुछ लोगो का अनुमान है कि सभवत ये उन्ही के परिवार मे सबधित हो सकते है। सभव है इनकी मूल वश-परम्परा किसी ब्राह्मण-परिवार से मिल जाती हो।

नुसरती ने मसनवी शैली में तीन काव्य ग्रथो की रचना की—'अलीनामा', 'गुलशनेइश्क' और 'तारीखेसिकन्दरी'।

'अलीनामा' १६५६ ई० (१७१३ वि०) में लिखी गई लबी मसनवी है, जिसमें अली आदिल शाह द्वितीय का जीवन-चरित विस्तार से वर्णित है। इसमे हमे आदिलशाह की विजय तथा उसके राग-रग के अतिरिक्त पश्चिमी भारत का एक जीता-जागता काव्यात्मक चित्र मिल जाता है। अत साहित्यिक महत्व के अतिरिक्त इसका ऐतिहासिक महत्व भी कम नही है। 'अलीनामा' की भाषा-शैली भी महान है। सग्राम-चित्रण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। खेद है कि ऐसा मूल्यवान ग्रथ अभी भी अप्रकाशित है। वास्तव में यह हिन्दवी की एक महान रचना है। 'पृथ्वीराजरासो' की भाँति इसमें भी सरक्षक राजा के जीवन सबधी सभी अगो का चित्रण हुआ है।

'गुलशनेइश्क' एक प्रेमाख्यानक काव्य है, जिसमें मनोहर और मधुमालती के प्रेम की कहानी कही गई है। यह प्रेम-कथा उस समय दक्खिनी भारत में लोकप्रिय थी। कई फारसी कवि भी इसे लिख चुके थे। नुसरती ने १६५७ ई० (१७१४ वि०) में इसी को अपनाकर कुछ नवीनता के साथ दक्खिनी में 'गुलशनेइश्क' के नाम से लिखा। इसकी भाषा ललित उपमाओं और रूपको से अलकृत है। कही-कही फारसी-अरबी का भी मिश्रण मिलता है। कुछ अश अति सरल और कुछ अति गभीर तथा उच्च स्तर के है।

'तारीखेसिकन्दरी' नुसरती की तीसरी रचना है, जिसकी खोज अभी कुछ ही दिन पूर्व हुई है। यह अपूर्ण है और सभव है कि १६८७ ई० (१७४४ वि०) में बीजापुर के विनाश अथवा नुसरती की मृत्यु के कारण यह पूर्ण न हो सकी हो। दूसरे कवियो की भाँति नुसरती भी अपनी काव्यभाषा को हिन्दवी या हिन्दी कहते है। फारसी-अरबी शब्दो का प्रयोग होने पर भी वास्तव मे उनकी भाषा का स्वरूप हिन्दवी ही है। नुसरती ने कुछ फुटकर कसीदे भी लिखे है। इनकी कविता का एक उदाहरण 'गुलशनेइश्क' से दिया जाता है—

उधर साथ थी माँ के मधुमालती, उधर माँ के संगात चंपावती।
बहुत दिन को जिस बात बिछुड़े-मिले, यकम एक लगाए चंगुल कर गले॥

हाशिमी

इनकी गणना बीजापुर के प्रसिद्ध कवियों में की जाती है। इनका वास्तविक नाम सैयद मीरा और उपनाम हाशिमी था। कहा जाता है कि ये जन्मांध थे, किन्तु फिर भी महान प्रतिभावान थे। अपने गुरु की आज्ञा से इन्होंने 'युसुफजुलेखा' नामक मसनवी की रचना की। इनकी मृत्यु १६९७ ई० (१७५४ वि०) में हुई। 'यूसुफ जुलेखा' इनकी प्रसिद्ध मसनवी है, जिसमें लगभग १२ हजार पंक्तियाँ हैं। यह मसनवी एक फारसी मसनवी पर आधारित है। हाशिमी की काव्य शैली अति मधुर तथा मनोरम है। भारतीय प्रेम-परंपरा के अनुसार इनके नारी पात्रों का प्रेम-निवेदन, विरह-वर्णन आदि अत्यन्त मार्मिक हुआ है। इनकी भाषा शैली सरल तथा आकर्षक है। कहा जाता है कि इनके कुल्लियात में स्वरचित गज़लें, कसीदे, मर्सिये, रुबाइयाँ आदि संकलित थीं, किन्तु यह दीवान अब अप्राप्य है। कुछ लोगों का विचार है कि हाशिमी रेख्ती के जन्मदाता हैं, किन्तु यह भ्रम है। इनका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

सुना हम्द इसको सजावार है,
सगल इश्क का जिसको विस्तार है।

कुतुबशाही साहित्यधारा (१५१०-१६८६ ई० - १५६७-१७४३ वि०)

बीजापुर की आदिलशाही की भाँति गोलकुंडा की कुतुबशाही की स्थापना बहमनी राज्य के टूटने पर १५१० ई० (१५६७ वि०) में कुली कुतुबउलमुल्क द्वारा हुई। इस वंश में कुल आठ सुलतान हुए। ये सुलतान भी उदार, धर्म-सहिष्णु तथा काव्य-कला प्रेमी थे। हिन्दुओं के साथ उनका घनिष्ठता का संबंध था। कई सुलतानों ने हिन्दू रानियों मे विवाह किया था। इनके राज्य में भी हिन्दवी या दक्खिनी ही राजभाषा थी।

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह (१५८०–१६११ ई०=१६३७–१६६८ वि०)

महासैनिक होने के साथ-साथ महाकवि की विभूति से विभूषित कुली कुतुबशाह १२ वर्ष की आयु में ही सिंहासनारूढ हुए। वे सम्राट अकबर के समकालीन थे। १५८७ ई० (१६३७ वि०) में उन्होंने बीजापुर के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह के साथ अपनी बहन का विवाह करके मैत्री संबंध स्थापित किया। कुली कुतुब के पिता इब्राहीम कुली को साहित्य और स्थापत्य दोनों से विशेष रुचि थी। इब्राहीम के राज्य-काल में अनेक सूफी संत, फकीर, धर्म-प्रचारक, विद्वान और कवि-कलाकार आश्रय पाते थे। साहित्य और स्थापत्य का प्रेम कुली कुतुब को अपने पिता से संस्कार के रूप में मिला था। युद्ध की अपेक्षा कुली कुतुब को ललित कलाओं से विशेष प्रेम था। अपनी प्रेयसी भागमती के नाम पर ही इन्होंने भागनगर नामक नगर बसाया था। कालांतर में उसे ही हैदरमहल के नाम से नवोदित कर हैदराबाद नाम प्रसिद्ध

किया गया। अरब और भारत के राज-दरबारो से आकर अनेक कवियो और विद्वानो ने इनके यहाँ आश्रय लिया था।

सुलतान स्वय कवि-कलाकार थे और कवि-कलाकारो का सम्मान करते थे। विद्वानो में वाद-विवाद, कवियो में काव्य-चर्चा अर्थात मुशायरे आदि के लिए सुलतान ने एक विशेष समय निश्चित कर दिया था। इस काव्य-शास्त्र-विनोद के अतिरिक्त सुलतान धार्मिक वाद-विवाद भी कराया करते थे। सुलतान स्वय शिया धर्म के अनुयायी थे, अतएव उनके शासन-काल में शिया धर्म को विशेष प्रोत्साहन मिलता था। जिस प्रकार ईद, मुहर्रम, शबरात आदि मुसलमानी त्योहारो में सुलतान प्रेम के साथ सम्मिलित होते थे, उसी प्रकार हिन्दुओ के होली-दीवाली तथा वसन्तोत्सव आदि त्यौहारो मे भी प्रेमपूर्वक सम्मिलित होते थे। इस प्रकार दक्खिनी साहित्य के ये पहले कवि है जिन्होने भारतीय जीवन में डूब कर अपनी कविताएँ लिखी है। इन्होने कविता की प्रेरणा राजमहलो की अपेक्षा व्यापक जन-जीवन से अधिक पाई थी।

मुहम्मद कुली फारसी, अरबी, दक्खिनी अर्थात हिन्दवी, मराठी, कन्नड, तेलगु आदि अनेक भाषाओ के ज्ञाता थे। फारसी, दक्खिनी और तेलुगु, तीनो भाषाओ में ये कविता करते थे। इनकी कविताएँ फारसी में कुतुबशाह, दक्खिनी में मआनी और तेलुगु में तुर्कमान के उपनाम से मिलती है। इनकी कविताओ का लगभग १८०० पृष्ठो का एक बृहत सग्रह हैदराबाद से 'कुल्लियातकुली कुतुबशाह'[1] के नाम से प्रकाशित हुआ है। कहा जाता है कि कुली कुतुब ने लगभग एक लाख शेर या पद कहे थे। कुल्लियात में फारसी और दक्खिनी, इन दो भाषाओ की कविताएँ सग्रहीत है। इनकी तेलुगु कविता के सबध में अभी तक विशेष जानकारी नही मिल पाई है, किंतु यह निश्चय है कि तेलुगु मे इन्होने कविताएँ अवश्य लिखी है, क्योकि इनकी माँ तेलुगु-भाषी थी और इस कारण तेलुगु का इन्हे पूर्ण ज्ञान था। कुली कुतुबशाह ने गजल, कसीदा, मसनवी, मर्सिया, रुबाइयाँ, सभी प्रकार की कविताएँ लिखी है।

कुली कुतुब के वर्ण्य विषय मे व्यापकता और विविधता मिलती है। भारतीय जीवन की गहराई में डूब कर इन्होने कविता की रत्न-राशि का सकलन किया था। अतएव इनके काव्य में जीवन का एक व्यापक, सर्वांगीण, सतरगी चित्र अकित हुआ है। इनकी कविताएँ स्थानीय रग में रँगी है। इनके काव्य में तत्कालीन युग से सबधित आचार-विचार, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, फल-फूल, व्रत-त्योहार, रीति-रिवाज तथा जीवन की अन्य समस्याएँ परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से चित्रित हुई है। इस प्रकार हिन्दू-मुसलिम सस्कृति का एक आकर्षक सगम कुली कुतुब के काव्य में उतर आया है।

कुली के काव्य मे भावो की भी विविधता और व्यापकता है। यदि एक ओर सूफी सतो के रहस्यात्मक पारलौकिक प्रेम के चित्रण है, तो दूसरी ओर इहलौकिक प्रेम का सतरगी रग इनकी

---

१ कुली कुतुबशाह की कविताओं का सकलन पहले राजकीय पुस्तकालय में विद्यमान था। यह प्रति सुलतान के समय में ही तैयार की गई थी। अभाग्यवश राजकीय पुस्तकालय की प्रति खो गई। अत सालारजग पुस्तकालय में जो हस्तलिखित दीवान था, उसी के आधार पर डा० मोहीउद्दीन कादिरी ने यह सकलन प्रकाशित किया है।

भाव-भूमि में चित्रित हुआ है। कुली कुतुब प्रेमी जीव थे। कहा जाता है इनके १२ रानियाँ थी। उन सबके विषय में इन्होंने कविताएँ लिखी हैं।

भाषा-शैली में स्थानीय रग गाढा है। लौकिक प्रेमानुभूति से कवि पारमार्थिक प्रेमाभिव्यक्ति की ओर झुकने लगता है, तब मानो प्रेम के हिंडोले मे वह कभी इस लोक की ओर झूलता है और कभी परलोक की ओर। काव्य मे सूफी भक्ति-भावना तथा लौकिक शृगार-भावना, दोनो की भावानुभूति को अभिव्यक्ति मिली है।

सुन्दरियो का नख-शिख-वर्णन हिन्दी और सस्कृत कवियो की शैली मे ही किया गया है। हिन्दी कवियो की प्रेमाभिव्यक्ति की प्रणाली इनकी कविताओ मे विशेष रूप मे मिलती है। पता नही, कवि ने सूर, तुलसी, मीरा आदि की हिन्दी कविताओ का अध्ययन किया था या नही, किन्तु हिन्दी शब्द-प्रयोग, हिंदी रूपक-उपमाएँ, फारसी शब्दो को देशी रूप देना, जनभाषा मे ईश्वर की प्रशसा, हिन्दू शूर-वीरो और हिंदी कवियो की भाँति हिन्दू कथाओ का वर्णन स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम-प्रदर्शन आदि, सब बाते इनकी रचनाओ मे मिलती है। फारसी साहित्य के भी विषय, भाव, शब्द, मुहावरे, प्रयोग, रूपक, उपमाएँ तथा छद अपनाए गए है, किन्तु वे सब देशी रग में रँग दिए गए हे, कही भी पाडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नही है। सरल से सरल और मधुर से मधुर भाव सरल से सरल भाषा में पिरो कर अभिव्यक्त करने मे कुली कुतुब की कला-कुशलता प्रकट हुई है।

जिस प्रकार कुली के भावो मे भारतीयता है, उसी प्रकार उनकी भाषा में भी पूर्ण रूप से भारतीयता मिलती है। वह आज की हिन्दी-उर्दू नही है, वरन निश्चयत वह शुद्ध मध्यकालीन हिन्दवी या दक्खिनी है, जिसमे तद्भव रूपो का प्राधान्य है, फारसी, अरबी ओर सस्कृत के शब्द उसी तद्भव रूप में प्रयुक्त हुए है, जिस रूप मे उस समय की जनता बोलती थी। मराठी ओर तेलुगु के शब्दो का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु उनकी सख्या बहुत न्यून हे।

भाषा मे भावाभिव्यजन की पूर्ण शक्ति है। माधुर्य और प्रसाद गुण ही उसका आभूषण है। अलकारो के बोझ से बोझिल बनाकर कृत्रिम प्रभावन का सहारा कवि ने बहुत ही कम लिया है। भाषा स्वाभाविक और सरल है।

विषय, भाव, भाषा सब प्रकार से कुली कुतुब दक्खिनी के अमर कवि है। दक्खिनी साहित्य उनसे गौरवान्वित हुआ है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते है—

ईश्वर की प्रशसा

चद्र सूर तेरे नूर थे, निस दिन को नूरानी किया।
तेरी सिफत किन कर सके, तू आपी मेरा है जिया।
तुज नाम मुंज आराम है, मुंज जीव नो तुज नाम है।
सब जग को तुज सो काम है, तुज नाम जप माला हुवा।

× × ×

जीता हूँ तेरी आस थे, आया है रहम आकास थे।
जे कुच मागूँ तुज पास थे, नोहै नो मुंज को तू दिया।

—कुल्लियात, भाग १, ५-३।

वसत

वसत आया सकी जू लाल गाला।
कुसुम चोला।
पपीहा गावत है मीठे वैना।
मधुर रस दे अधर फुलका पियाला।
× × ×
गरज वादल थे दादुर गीत गावे।
कोयल कूके सुफल वन के रुयाला।
सदा सेवा करे ऐमी गुसाई।
दलिद्दर दूर कर करता निहाला।

—वही, पृष्ठ १३६।

नख-शिख

चदमुख तुज लाल लव है दसन जू तो तारे हैं।
कहो यह चाद का का हैं किस असमा ये उतारे हैं।

—वही, पृ० २७४—२७५।

मुहम्मद क़ुतुवशाह (१६११-१६२४ ई० = १६६८-१६८१ वि०)

कुली कुतुवशाह के भतीजे मुहम्मद कुतुवशाह भी एक वडे कवि थे। सन १६११ ई० (१६६८ वि०) मे वे सिंहासनारूढ हुए और १६२४ ई० (१६८१ वि०) मे उनका देहान्त हो गया। अनेक कवि उनके दरवार की शोभा वढाते थे।

मुहम्मद कुतुवशाह जिल्लुल्लाह नाम से कविता करते थे। अपने चाचा की भाँति ये भी सव प्रकार की कविताएँ लिखते थे। इनकी कविता भी स्थानीय रग और उपमाओ से भरी है। इनकी कविताओ का सग्रह भी अव प्राप्त हो गया है। इनकी कविता मे भी वही मधुरता, सरसता और सरलता पाई जाती है जो कुली कुतुव की कविता मे मिलती है।

अव्दुल्ला क़ुतुवशाह (१६२५-१६७४ ई० = १७८२-१७३१ वि०)

मुहम्मद कुतुवशाह के पुत्र अव्दुल्ला कुतुवशाह भी कवि थे। उनकी कविताओ का सग्रह भी प्राप्त हो गया है। यद्यपि वे स्वय वहुत वडे कवि नही थे, किन्तु उनके सरक्षण मे कई महाकवि और लेखक जीवन-यापन करते थे। उनके दरवारी कवियो में गौव्वासी, कुत्वी, इव्नेनिशाती, तवई, जुनैदी और अमीन अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस राजवश के अतिम सुलतान **अव्वुलहसन तानाशाह** (१६६५-१६८६ ई० = १७२२-१७४३ वि०) थे। उनका सारा जीवन मुगलो से सघर्ष करते बीता और अत में औरगजेव के द्वारा गोलकुडा राज्य का विनाश हो गया। तानाशाह कवि थे, किन्तु उनका कोई काव्य-सग्रह प्राप्त नही है।

कुतुवशाही राज्यकाल मे अनेक कवियो और लेखको ने दक्खिनी साहित्य को समृद्धिशाली वनाया। उनमें से कुछ मुख्य कवियो का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

वजही

ये कुली कुतुबशाह के राज्य-काल के महान कवि थे तथा पद्य और गद्य दोनों रूपों में उन्होंने साहित्य-सरोवर को आपूर्ण किया है। १६०८ ई० (१६६५ वि०) में लिखी गई 'कुतुबमुशतरी' नाम की बड़ी मनोरंजक मसनवी इनकी मुख्य काव्य-कृति है। वजही की उर्वर काव्य-कल्पना पर आधारित यह एक प्रेमाख्यानक काव्य है। इसका नायक कुली कुतुबशाह है। कहानी के बहाने कवि ने सुलतान की वीरता, उदारता, दानशीलता और प्रेम-भावना को चित्रांकित किया है। इनकी काव्य-प्रतिभा को देखकर ही राजा ने इन्हें अपना मित्र और दरबारी बनाया था। इस रचना में भाषा के संबंध में बहुत स्वतंत्रता से काम लेकर, फारसी, अरबी और संस्कृत के शब्द दक्खिनी में ढाल कर प्रस्तुत किए गए हैं। इसकी भाषा बहुत सरल न होने पर भी क्लिष्ट नहीं है। उदाहरणार्थ—

छिपी रात उजाला हुआ दीस का।
लगा जग करन सेव परमेसरा॥
जो आया झलकता सूरज दाहकर।
अंधेरा जो था सो गया न्हात कर॥
सूरज यूं है रंग आसमानी मने।
कि खिल्या कमल फूल पानी मने॥

वजही ने १६३५ ई० (१६९२ वि०) में 'सबरस' नाम से एक महान गद्य ग्रंथ लिखा, जिसमें सूफी साधना के गूढ़ विचार प्रतीकों के रूप में साहित्यिक सरसता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं। 'सबरस'[1] दक्खिनी गद्य-साहित्य की उत्कृष्ट कृति कही जा सकती है।

'सबरस' एक फारसी गद्य पुस्तक 'हुस्नोदिल' पर आधारित कही जाती है। इससे भी पूर्व फातही ने 'दस्तूरइश्शाक' नाम की एक मसनवी लिखी थी जिसका विषय भी कुछ इसी प्रकार का है। किन्तु लेखक ने इस ग्रंथ को इस प्रकार लिखा है कि यह एक नितान्त मौलिक रचना जान पड़ती है।

कहानी लगभग ३०० पृष्ठों में समाप्त हुई है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है: अक्ल पच्छिम का और इश्क पूर्व दिशा का बादशाह था। अक्ल के पुत्र का नाम दिल और इश्क की पुत्री का नाम हुस्न था। बेटा जब सयाना हुआ तो अक्ल ने उसे शहर तन (शरीर) का शासक बना दिया। दिल आबेहयात (जीवनामृत) की तलाश में निकल पड़ता है। अपने एक जासूस नजर के कहने से वह हुस्न के देश में पहुँचा। वहाँ के बादशाह ने उसे बंदी बना लिया। अनेक संघर्षों के बाद दिल और हुस्न का विवाह हुआ। कहानी के अन्य पात्र नजर, नामूस (बदनामी), हिम्मत, जुल्फ, हमजा, वहम, रकीब आदि हैं।

---

१. यह ग्रंथ डॉ० अब्दुलहक ने १९३२ ई० (१९८९ वि०) में हैदराबाद से प्रकाशित कराया था। अब हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद की ओर से इसका हिन्दी रूपान्तर भी प्रकाशित हो गया है।

कहानी मे सूफी साधना की गूढ दार्शनिक समस्याओ को इन प्रतीको के माध्यम से अत्यंत रोचक तथा सरस साहित्यिक शैली मे समझाने का प्रयास किया गया है। इस रहस्यमय कथा में प्रेम, सौन्दर्य, बुद्धि और हृदय को प्रतीक वना कर जीवन के सभी नैतिक पक्षो पर प्रकाश डाला गया है। कहानी की महत्ता इसी में है कि सूफी साधना और साहित्यिकता का स्वर्णिम समन्वय इसमें मिलता है।

वजही के गद्य को हम तुकान्त गद्य कह सकते है। वजही इस पर स्वय गर्व करते हुए कहते है—

"आज लग न कोई इस जहान में, हिन्दुस्तान में, हिन्दी जवान मे इस लताफत, इस छदो से नज्म और नस्र मिला कर, गुला कर नही बोल्या।"

वजही की गर्वोक्ति सब प्रकार से उचित है, क्योकि हिन्दी या हिन्दवी मे इसके पूर्व ऐसी कलात्मक सुन्दर शैली मे कोई गद्य-रचना नही लिखी गई। भाषावैज्ञानिक और साहित्यिक दोनो दृष्टियो से वजही का 'सवरस' दक्खिनी की अमर कृति मानी जाएगी। इसका एक उदाहरण देखिए—

"वही है काम के जिसके काम ते नफा कोई पाए। एता जत जो धरते है, लोगा वाग जो करते है, सो इसी च खातिर करते है के कोई खूब चतुर भोगी नायक आशिक पिव के इस बाग मे आवे, महजूज होवे, आराम पावे। बाग के साहव कू दुआ करे। फूला सू गोद भरे। रग में डुवावे आस, इसे ते कुछ लगे वास। उसे फैज अपडे, हमना को सवाव। खुदा खुश, रसूल खुश, आलम खुश इस वाव।"

गौव्वासी

गौव्वासी इस युग के अन्य महाकवि हैं। कुतुवशाही राज्य ने इन्हें मलिकुशशोअरा (कवि-राय) की उपाधि से विभूषित किया था। इनके जीवन-वृत्त के सबध में पूरी जानकारी नही है। इनके द्वारा रचित ग्रथो में इनके जीवन-सवधी कुछ वृत्त अवश्य मिलते हैं, किन्तु उनसे पूरा जीवन-वृत्त नही वनता। इनका प्रारभिक जीवन अत्यन्त सघर्षमय था, किन्तु राजदरबार में पहुँचकर इनकी मान-प्रतिष्ठा इतनी वढी की ये अपने युग के सबसे वडे कवि गिने जाने लगे।

'सैफुलमुलूक व बदीउज्जमाल' (१६२४ ई० = १६८१ वि०) और 'तूतीनामा'[1] नाम से इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध है। प्रथम 'अलिफलैला' पर आधारित एक प्रेमाख्यानक काव्य है, जिसमें मिश्र के राजकुमार सैफलमुल्क और अजना की राजकुमारी वदरुलजमाल की प्रेम कहानी लिखी गई है। दूसरी रचना 'हितोपदेश' के फारसी अनुवाद पर आधारित है। आगे चलकर फोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान मे गिलक्राइस्ट के निर्देशन मे इसका हिन्दुस्तानी (उर्दू) मे सैयद हैदर वख्श द्वारा 'तोताकहानी' नाम से अनुवाद कराया गया था।

---

१ फारसी के प्रसिद्ध विद्वान मौलाना जियाउद्दीन ने ८३० हिजरी में सस्कृत की शुकसप्तशती का अनुवाद फारसी में किया था। गौव्वासी ने इसी फारसी ग्रथ से दक्खिनी में ४५ कहानियो का अनुवाद किया है। फारसी, तुर्की, अगरेजी, जर्मन आदि अनेक भाषाओ में शुक-सप्तशती का अनुवाद हुआ है। हिन्दी में शुक-वहत्तरी इसी का अनुवाद है।

गौव्वासी की कविता सरसता और भव्यता से परिपूर्ण है। इनकी भाषा शुद्ध दक्खिनी है, जिसमें फारसी-अरबी के शब्द कम मिलते हैं। शैली सरल और प्रवाहमय है। नीचे दो उदाहरण दिए जा रहे हैं—

जो एक दिन फिर दिल मने शोक आ।
चल्या फिर बाजार को वो जवा॥
देख्या एक मैना को मिठ बोल खूब।
उसे भी लिया होर दिया मोल खूब॥

—'तूतीनामा' से

खुशिया सात अमृत घडी फाल देकर।
सो सैफुलमलुक रखिया नाव नेका॥

× × ×

करनहार सैर इस प्रिन घाट का।
देवे काढ मारग यू उस वाट का॥
जो साअद व सैफुलमुलुक झाज चढ।
चले गल गले सात परिया में पड॥

—'सैफुलमुल्क व बदीउज्जमाल' से

इब्ननिशाती

इब्ननिशाती सुलतान अब्दुल्ला कुतुबशाह के प्रसिद्ध दरबारी कवि थे। इनका जीवन-वृत्त पूर्णतया ज्ञात नही है। 'फूलबन' नामक एक रचना इनके नाम से प्रसिद्ध है, जो एक प्रेमाख्यानक काव्य है। अनुमानत यह 'बसातीन' नामक फारसी कविता पर आधारित है।

'फूलबन' काव्य से ज्ञात होता है कि कवि फारसी भाषा और साहित्य से पूर्ण परिचित था और काव्यशास्त्र में भी पटु था। इसी ग्रथ में वह स्वय सूचना देता है कि उसने गद्य में भी रचनाएँ की हैं, किन्तु वे उपलब्ध नही हैं। 'फूलबन' की सास्कृतिक पृष्ठभूमि भारतीय है। दक्खिनी भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार था। उसकी भाषा-शैली सरल और प्रवाहमय है। 'फूलबन' दक्खिनी साहित्य का एक अनमोल रत्न है। एक उदाहरण देखिए—

करूँ तारीफ मैं उस ताजदर का।
समझना है जिने कीमत गुहर का॥
शाहशाह का शाह अब्दुल्ला गाजी।
अछोजम हक़ नो उनके पेशवारी॥
मरा था बाप सौदागर खुतन का।
न था परवा उसे कुच माल धन का॥

उपर्युक्त प्रसिद्ध कवियो के अतिरिक्त गोलकुडा के कुतुबशाही राज-दरबार के सरक्षण में और भी अनेक कवि हुए है। इन कवियो के द्वारा भारत की प्राचीन लोककथाओ पर आधारित अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए, जिनमें 'मनोहर मधमालती,' गुलाम अली द्वारा लिखित

'पदमावत' (१६८० ई०=१७३७ वि०) तथा मुकीमी द्वारा रचित 'मसनवी चंदरवदन व महियार' (१६४० ई०=१६९७ वि०), अहमद जुनेदी की 'माहपैकर' (१६५३ ई०=१७१० वि०), सेवक का 'जगनामा' (१६८१ ई०=१७३८ वि०), अमीन की 'वाहराम व हसनवानो' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

(३) मुगलकालीन हिन्दवी साहित्य (१६८७–१७२३ ई०=१७४४–१७८० वि०)

१६८७ ई० (१७४४ वि०) तक औरगजेब ने बीजापुर और गोलकुडा को जीतकर मुगल साम्राज्य में मिला लिया। आदिलशाही और कुतुवशाही राजवशो के समाप्त होने के कारण दक्खिनी के कवियो का राजाश्रय छिन गया था, किन्तु दक्खिनी साहित्य की जो धारा लगभग ३०० वर्षों से प्रवाहित हो रही थी, उसमें तुरन्त कोई गत्यवरोध नही हुआ, साहित्यिक परपराओ का जो राजभवन दक्खिन में निर्मित हुआ वह एकबारगी टूटकर गिर नही गया। दक्खिनी साहित्य केवल राजसभा से ही सबधित नही था, बल्कि जनता भी इस भाषा-साहित्य को जीवन के निकट मानती थी। अतएव १६८७ ई० (१७४४ वि०) के पश्चात भी दक्खिनी साहित्य का सरोवर अनेक कृतियो द्वारा भरा गया और यह क्रम अविरल रूप से तब तक चलता रहा, जब तक उत्तर से १८वी शती ई० के प्रथम चरण मे उर्दू का नया स्रोत दक्खिन की ओर प्रवाहित नही हुआ। ४० वर्षों के इस अन्तरिम काल में दक्खिनी प्रदेश ने साहित्यिक जगत में वहरी, सिराज, वली वजही, वली वेलूरी, दाऊद, उजलत और आफिज ऐसे कवि उत्पन्न किए। उत्तर के मुगल दरबार से सीधा सबध होने के कारण दक्खिनी के कवियो में रेखता शैली (हिन्दवी-फारसी-अरबी-मिश्रण) का प्रभाव वढता दिखाई देता है, किन्तु इस युग के अधिकाश कवि दक्खिनी मे ही लिखते रहे।

वहरी

काजी महमूद वहरी इस युग के प्रथम श्रेणी के कवियो में गिने जाते हैं। इनके पिता वदरुद्दीन गोगी गुलवर्गा (जिला हैदरावाद) में काजी थे। १६८५ ई० (१७४२ वि०) में बीजापुर गए। किन्तु औरगजेव के कारण वहाँ अशान्ति देख हैदराबाद और अत मे औरगावाद चले गए। इनके गुरु का नाम मौलाना शेख मुहम्मद वाकर था।

धर्म-साधना और काव्य-चिन्तन में इन्होने जीवन में अनेक कष्ट सहे, किन्तु एक कष्ट उनके लिए असह्य हो गया। कहा जाता है कि बीजापुर से हैदराबाद आते हुए एक चोर ने इनके हस्तलिखित ग्रथो (लगभग ५० हजार पद के सग्रह) का एक सदक चुरा लिया। वाहरी जीवन से निराश हो गए, किन्तु फिर भी एक अमीर मित्र के प्रोत्साहन से पुन काव्य-रचना मे लगे और उन्होने कई अनमोल रत्न दक्खिनी को दिए। इनकी मृत्यु इनकी जन्मभूमि गोगी मे ही १७१९ ई० (१७७६ वि०) मे हुई। यही इनकी समाधि है।

'मनलगन' नामक एक कथात्मक काव्य वहरी ने १७०० ई० (१७५७ वि०) के आसपास लिखा। इस काव्य मे सूफी दर्शन के गूढ और जटिल विचार प्रकट किए गए है जो सामान्य जन के लिए कुछ दुरूह हो जाते हैं। यही कारण है कि कवि ने स्वय फारसी में इसका भाष्य लिखा और उनके

एक शिष्य ने 'अर्त-मनलगन' (अर्थ-मनलगन) के नाम से एक गद्य ग्रंथ भी लिख डाला। इस मसनवी के प्रारभिक अश में कवि ने अपने जीवन के सबध में भी बहुत कुछ लिखा है। मसनवी के अतिरिक्त बहरी ने गजल, कसीदा, मर्सिया और रुबाइयाँ भी लिखी हैं, जो मसनवी मे भी सरल और सादी भाषा में हैं। इन्होंने हिन्दवी या दक्खिनी के प्रति अपनी मातृभाषा की तरह आत्मीयता प्रकट की है। इनके समय के कुछ लोगो की भाषा में परिवर्तन होने लगा था, किन्तु बहरी की भाषा दक्खिनी ही है। ये और वली औरगाबादी समसामयिक थे।[1] 'मनलगन' की कुछ पक्तियाँ हैं—

हिन्दी तो जबान है हमारी।
कहने न लगत हमन को भारी॥
× × ×
था पुर जो एक बडा पिटारा।
मू भागनगर में खोए सारा॥
हौर हौर थीं यादगार चीजा।
तिसपर उन चुराएँ बेतमीजा॥
× × ×
गर बीच कवीसुरी न आती।
वल्ला यह आग मुझे जलाती॥

'भगनामा' नाम से बहरी की एक अन्य काव्यकृति मिलती है, जिसमे भग और उसके नशे का वर्णन है। कवि ने इसे ईश्वर का दिया हुआ नशा माना है। इसमे १२ अध्याय हैं जिनमें ईश्वर की प्रशसा, एकेश्वरवाद, ईश्वर मे मिलन की अनुभूति, स्वर्गलोक, गरीबी-अमीरी, सूफियो का शील, विश्व-दर्शन और गुरु-महिमा का वर्णन है। एक उदाहरण है—

उस मने भग को शाही दिए।
हम न दिए आप इलाही दिए॥

वजदी

शेख वजहीउद्दीन वजदी आन्ध्र राज्य के कुर्नूल नगर के निवासी थे। ये एक प्रसिद्ध सूफी सत थे और अपनी साधना मे ईरान के सूफी शेख फरीदउद्दीन अत्तार से बहुत प्रभावित थे। वजदी की तीन काव्य-कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—'पछीबाचा', 'तोहफे आशिका', और 'बागेजा-फिजा'। इनकी अधिकाश रचनाएँ फरीदउद्दीन अत्तार की फारसी रचनाओं के दक्खिनी अनुवाद हैं। फारसी छोड दक्खिनी में रचना करने के कारण ये इस प्रकार बताते हैं—

सभी ख्वल्क जीव फारसी में यो कल्लान।
कि कम समझ सकते उसको खास कि आम॥

[1] बहरी के सबध में विस्तृत विवरण के लिए देखिए इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज में डॉ० मुहम्मद हफीज सैयद लिखित 'काजी महबूब बहरी' शीर्षक निबंध।

कस्द कर दखिनी जबा में लिखे अपन।
ता रहे दुनिया मने मेरा भी नाव॥

'पंछीबाचा' शेख फरीदउद्दीन अत्तार की एक फारसी मसनवी 'मनतेकुले' (पक्षियो की भाषा) का दक्खिनी अनुवाद है, किन्तु कवि की काव्य-प्रतिभा के कारण मौलिक रचना प्रतीत होती है। इसका रचना-काल १७१९ ई० (१७७६ वि०) है। १६५० पदो की वजदी की इस सर्वप्रसिद्ध रचना में पक्षियो के सवाद के माध्यम से सूफी साधना का प्रेम पर आधारित रहस्यात्मक चित्र काव्य में सजीव उतर आया है।

'तोहफेआशिका' भी 'गुल व हुरमुज' नामक अत्तार की फारसी रचना का विस्तार में किया हुआ अनुवाद है। इसका रचना-काल १७०४ ई० (१७६१ वि०) है। यह प्रेम-कथा ६९ अध्यायो में विभाजित है। इसमें रोम के राजकुमार हुरमुज और खोजिस्थान की राजकुमारी गुल के प्रेम की कथा है। इसके दो पद्य नीचे दिए जाते है—

कहा इश्क ने तव इसे झाड कर।
के हे गुल चली तू किधर का किधर॥
तुझ असल में आम खाने सो काम।
न पेडो के गिनने सो रखना है काम॥

'वागेजाफिजा' भी कवि की मौलिक रचना है। रचना-काल १७३२ ई० (१७८९ वि०) है। यह भी एक प्रेमाख्यानक काव्य है।

वली

दक्खिनी साहित्य के इतिहास में वली अत्यन्त महत्वपूर्ण कवि है। दक्खिनी कवियो में प्रथम श्रेणी के कवि होने के साथ-साथ ये ही वे कवि है जिन्होने दक्खिनी साहित्य की सामान्य, सरल और स्वाभाविक धारा को जवान उर्दू-ए-मुअल्ला की सुसस्कृत धारा में विलीन कर दिया। यही कारण है कि वहुत दिनो तक ये उर्दू के वावा आदम कहलाते रहे। यह सत्य है कि इन्ही की ज्योति से उत्तरी भारत में उर्दू के दीप जले, किन्तु यह भी सत्य है कि ये ऐसे दीप थे कि दक्खिनी के कवि पतिंगे की तरह उनकी लौ में लग गए और अपने तन-वदन की सुध वुध भूल गए। जो भी हो, साहित्य-सरिता में इतना वडा मोड उत्पन्न करने और अपने उच्च कृतित्व के कारण वली दक्खिनी साहित्य और उर्दू के अमर कवि माने जाते रहेंगे।

कुछ समय पूर्व तक वली के नाम, उपाधि, जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, मृत्यु, माता-पिता आदि जीवन-वृत्त सवधी वातो में मतभेद था, किन्तु आधुनिक खोजो के द्वारा ये सव गुत्थियाँ सुलझ सी गई है। वली का नाम वली मुहम्मद था। कुछ लोग इन्हें औरगावादी, अर्थात दकनी और कुछ लोग अहमदावादी, अर्थात गुजराती कहते है। धर्म और काव्य की पिपासा को शान्त करने के लिए ये औरगावाद, सूरत आदि स्थानो में भ्रमण करते रहे। सूफी साधना से इनका हार्दिक लगाव था।

वली प्राय काव्य के सभी रूपो—गजल, कसीदा, मसनवी, रुवाई, तरजी, वद

आदि में कविता करते थे। इस प्रकार प्रारभ से ही वे दक्खिनी के उच्च कोटि के कवि माने जाने लगे थे।

कहा जाता है कि वली ने दिल्ली की एक यात्रा १७०० ई० (१७५७ वि०) में औरगजेब के काल में की थी। वही शाह सादुल्ला गुलशन से उनकी भेंट हुई थी और वही सादुल्ला ने वह प्रसिद्ध वाक्य कहा था जिसने साहित्य के इतिहास को ही पलट दिया। इसके पहले कि हम उस ऐतिहासिक वाक्य को उद्धृत करें, उस समय की भाषा सबधी स्थिति का विवेचन कर ले तो कुछ निश्चित लाभ होगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उत्तरी भारत मे मुगल राजाओं और मुगल दरबारियो पर फारसी भाषा और ईरानी सस्कृति की श्रेष्ठता का आतक सा छाया था। यही कारण है कि मुगल बादशाहो, सैनिकों आदि की सामान्य तथा अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा होने पर भी उत्तरी भारत में हिन्दवी साहित्य की कोई परपरा पनप ही नहीं सकी। हिन्दी प्रदेश के काव्य-जगत में उस समय ब्रजभाषा का एकछत्र राज्य था। मुगल शासक जब शौक के लिए देशी भाषा में कविता करते थे, तब ब्रजभाषा को अपनाते थे। हिन्दवी को सामान्य-व्यवहार और लोक-साहित्य से ऊपर उठने का अवसर न मिला था। शाहजहाँ-काल मे जब शाह जहानाबाद नाम से नई दिल्ली आबाद हुई और वहाँ उर्दू-ए-मुअल्ला (बादशाह का पडाव, लाल किला या शाही दरबार) की स्थापना हुई तो उस शाही दरबार से सबधित फारसीदा अमीर-उमरा हिन्दवी को फारसी का जामा पहना कर उसे राजदरबार के योग्य बनाने लगे और धीरे-धीरे उत्तरी भारत मे १८वीं शती के पूर्वार्ध में हिन्दवी में फारसी-अरबी के अत्यधिक शब्द, मुहावरे, व्याकरण, ज्यो के त्यो रख कर रेखते लिखे जाने लगे। बीजापुर, गोलकुडा आदि दखिनी राज्यो के मुगल साम्राज्य में मिल जाने के बाद दिल्ली और दक्खिन का सीधा सपर्क स्थापित हुआ। औरगाबाद मे औरगजेब के वर्षों के निवास के कारण उत्तर भारत का भाषा सबधी प्रभाव दक्खिन पर पडना अवश्यम्भावी था। उस प्रभाव के फलस्वरूप वली की दिल्ली-यात्रा के पूर्व ही रेखते लिखे जाने लगे थे। किन्तु इनमें दक्खिनी या हिन्दवी का ही रग गाढा रहता था।

१७०० ई० (१७५७ वि०) के लगभग जब वली शाह सादुल्ला गुलशन से मिले तो उनसे कहा गया : "ये सब विषय जो बेकार फारसी मे भरे पडे है, उन्हें रेखता भाषा में उपयोग में लाओ। तुमसे कौन पूछेगा ?" गुलशन सूफी सत, विद्वान और मुगल दरबार के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनकी बात ने जादू का काम किया। उसके पश्चात ही वली के रेख्तो के भाव, भाषा और शैली मे महान परिवर्तन हो गया। दक्खिनी मे दक्खिनी के घर को जबान-उर्दू-ए-मुअल्ला ने अपना लिया। घर में विदेशी सजावट इतनी अधिक हो गई कि वह अपना घर ही न रह गया। निस्सदेह वली ने अपने दृष्टिकोण से दक्खिनी को तत्कालीन पृष्ठभूमि में अधिक आधुनिक तथा सुसस्कृत बनाने के प्रयत्न में ही ऐसा किया, किन्तु सुसस्कृत बनाने के शौक मे जिस ईरानी पर-परा का अनुकरण किया गया उससे हिन्दवी का अपनापन—हिन्दवीपन, हिन्दीपन या भारतीयपन निकल गया। नाममात्र को अस्थिपंजर ही हिन्दवी या हिन्दी रहा, क्योकि वह बदला नहीं जा सकता था, शेष सब कुछ नया हो गया। इस प्रकार वली ने उत्तरी भारत के लोगो मे देशी भाषा में कविता करने का शौक पैदा किया और एक नई साहित्यिक धारा को जन्म दिया, जिसमें समृद्धि-शाली साहित्य रचा गया, किन्तु बहुत महँगा मूल्य चुका कर और अपनी हिन्दवी की बलि दे

कर। दिल्ली से लौटने पर वली ने रेख्ता या उर्दू की नई शैली में गजल, कसीदे, रुबाई सब कुछ लिखे, जिसकी शोहरत दिल्ली में बहुत हुई। उत्तर के फारसीदा कवि भी इस रेख्ता या उर्दू की नई शैली में कविता करने की ओर झुके। दिल्ली के हातिम, फायज़, यावरू, यकरंग आदि, सभी समकालीन फारसी के कवि इसमे प्रभावित हुए और देशी भाषा में कविता होने लगी। कहा जाता है कि एक बार पुन वली उत्तर भारत के मुसलमानी तीर्थस्थानो की यात्रा के लिए मुहम्मदशाह के काल में गए थे, किन्तु इस सबध में विद्वानो में एक मत नही है। जीवन में महान यश कमा कर १७०७ ई० (१७६४ वि०) में अहमदाबाद में उनकी मृत्यु हुई।

वली ने काव्य के सभी रूपो में कविता की है। उनकी गजलो मे प्रेम की भावना का वर्णन विभिन्न रूपो में किया गया है। यह प्रेम भावना व्यापक होकर सूफी प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती है। वली ने दक्खिनी और रेख्ते, दोनो की शैली में कविताएँ लिखी। उनकी शैली कही-कही अत्यन्त सरल है, सरसता और प्रवाह तो उसमें सर्वत्र मिलता है। बाद में वली के दीवान के अनुकरण पर अनेक दीवान बने। निस्सदेह वली दक्खिनी और उर्दू दोनो के वली है। उनकी दक्खिनी और रेख्ता या उर्दू का एक एक उदाहरण दिया जाता है—

दक्खिनी

जिसे इश्क का तीर कारी लगे।
उसे जिंदगी क्यो न भारी लगे॥
न होवे उसे जग मे हरगिज करार।
जिसे इश्क की बेकरारी लगे॥
वली को कहे तू अगर एक वचन।
रकीबो के दिल में कटारी लगे॥

× × ×

रेखता या उर्दू

हुस्न का मसनदनशी वह दिलबरे मुमताज है।
दिलबरो का हुस्न जिस मसनद का पाअन्दाज है॥
याद से उस इश्के-गुलजारे-हरम के ए वली।
रग को मेरे सदा ज्यो बूए गुल परवाज है॥

× × ×

सिराज औरंगाबादी तथा वेलूरी

१७४७ ई० (१८०४ वि०) मे 'बोस्तानेख्याल' नामक मसनवी के रचयिता सिराज औरगाबादी इस युग के एक अन्य महान कवि है। प्रस्तुत मसनवी में ११६० शेर है। काव्य की दृष्टि से इनकी रचना उच्च श्रेणी की है। किन्तु इनकी भाषा दक्खिनी भारत की दक्खिनी या हिन्दवी की अपेक्षा उत्तर की उर्दू के अधिक निकट है। इसी युग मे मद्रास और आरकाट प्रदेश मे भी अनेक कवि हुए। इनमें से कुछ ने नई शैली मे कविता की, किन्तु कुछ ने दक्खिनी को ही काव्यभाषा बनाया। ऐसे कवियो में वली वेलूरी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होने तीन मसनवियाँ लिखी थी जिनमे से एक 'पदमावती की कथा' भी थी।

मुगल सम्राट के सूबेदार आसफजाह १७२२ ई० (१७८० वि०) में स्थायी रूप से दक्खिन के नवाब नियुक्त हुए। हैदराबाद की सूबेदारी कुछ काल तक दिल्ली के शासन को मानती रही, किन्तु बाद में स्वतंत्र हो गई। भारतीय संघ में विलयन के पूर्व तक हैदराबाद की रियासत स्वतन्त्र बनी रही। १८वीं सदी ई० के अन्त होते-होते दक्खिन में भी उर्दू शैली का प्रभुत्व बढ़ा। १९वीं शती के कवियों के ग्रंथों में दक्खिनी की विशेषताएँ लगभग लुप्त हो गईं। उत्तर और दक्खिन दोनों उर्दू को अपनाकर फारसी के रंग में सराबोर हो गए।

दक्खिनी धारा १८वीं शती ई० उत्तरार्ध और १९वीं शती ई० में केवल लोक-साहित्य के अंश रूप में प्रवाहित होती हुई यदा-कदा दृष्टिगोचर होती है। इन शताब्दियों में भी दक्खिनी को अपनाकर कविता लिखने वालों में **शाहमियां तुराब दखनी** (१८८० ई० = १८३७ वि०) **शेख अबुलकादिरी** (१८७० ई० = १९२७ वि०), और **कादिर बीजापुरी** आदि कुछ नाम उल्लेखनीय हैं।[1]

दक्खिनी साहित्य पर पुनर्दृष्टि

दक्खिनी साहित्य के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के पश्चात भाषा, शैली शब्दकोश, परंपरा आदि साहित्यिक तत्वों की दृष्टि से इस साहित्य पर पुनः एक दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा। दक्खिनी साहित्य के प्रकाश में आने के पश्चात उर्दू साहित्य के इतिहास-लेखक तथा आलोचक दक्खिनी साहित्य को उर्दू का एक अंश मानकर चलते हैं। दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के समीक्षक तथा इतिहास-लेखक ही नहीं, बल्कि विश्वविख्यात भाषाविज्ञानी सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ऐसे लोग भी दक्खिनी साहित्य को शुद्ध हिन्दी के अन्तर्गत रखने का समर्थन करते हैं। वैसे तो अब समस्त उर्दू को ही हिन्दी साहित्य के अंतर्गत मानने की बात कही जाने लगी है, किन्तु इस विवादास्पद विषय को न उठा कर हम केवल दक्खिनी साहित्य तक ही अपने कथन को सीमित रखेंगे।

भाषा—उपर्युक्त साहित्यिक विवरण से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यिक दक्खिनी के भाषा-रूपों की विभिन्नता विविध बोलियों का सम्मिश्रण प्रकट करती है। ध्वनि तथा व्याकरण संबंधी विशेषताओं से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

ध्वनि—महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राणत्व, यथा, मुज (मुझ), पारकी (पारखी) सूक (सूख), रक्त (रखत) पिचले (पिछले)।

कहीं-कहीं 'ह' का लोप, यथा कया (कह्या), कना (कहना), ठैरते (ठहरते), पछान (पहचान) आदि।

संज्ञा—बहुवचन के लिए मूलरूप में 'आं' जोड़ा जाता है, जैसे, गवालियर के चतुरां, गुरां, बातां, दोस्तां, जीवां, सहितां, औरतां, ऐन्नियां आदि।

बहुवचन के विकृत रूपों में 'ओं' का कम और आं', 'यां' का अधिक प्रयोग, जैसे, अखियाँओं, मुसल्मानां में, हिन्दुआं मे, अंगारियां में बहाया।

---

१. श्रीराम शर्मा ने दक्खिनी का पद्य और गद्य नामक संकलन में इन कवियों की रचनाएँ संकलित की हैं।

सर्वनाम—सामान्य सर्वनामो के अतिरिक्त हमना, तुमना, हमन, तुमन, तुज, मुज, जु कोई, जुकुच, जित्ता, जित्ती, क्तिक, एत तथा सार्वनामिक विशेषण वहुवचन में एकिया, जैसियां एतिया आदि।

परसर्ग—को, कू, सो, ते, थे, से, सती, सेती, साथ आदि रूप।

सवध--का, के, की, के साथ, केरा, केरी, केरे रूप भी और फिर वहुवचन रूप—क्या, जैसे, उना क्या अखिया (उनकी आँखें), ग्यान क्या वाता (ज्ञान की वातें)।

अधिकरण—में, पर के अलावा मने, मियाने, मह, पो, उपराल रूप भी मिलते हैं।

क्रिया—भूतकाल में —आ अन्त वाले रूपो के अतिरिक्त -या वाले रूप मिलते हैं, जैसे, जान्या, जुड्या, पूछ्या, विचारया, धार्या, पहचान्या आदि।

भविष्य में -गा वाले रूपो के साथ ही साथ -स वाले रूप भी विद्यमान है, जैसे, खागा, आयगा, ल्यायगा, के साथ ही जासी (जायगा), आसी (आएगा), अछसे (होगे), चलसे (चलेगा), होसी (होगा)।

सहायक क्रिया—है, था, थे, के अतिरिक्त अछ, अथ रूप भी मिलते है, जैसे, अछे (रहे), अछगा, अछता, अछती, अथा (था), थ्या (थी) आदि।

कृदन्त—क्रियार्थक में -ना, न-वाले रूपो के अतिरिक्त-न अन्त वाले रूप भी मिलते है, जैसे, करन जायगी, किसी के करन ते, लगा देवन, आवना, जावना। कर्तृवाचक में -वाला के साथ -हारा, -हार आदि मिलते है, जैसे, मिलनहार, करनहार, रहनहार।

अव्यय—'कर' का 'समान', 'ऐसा' के अर्थ में प्रयोग, जैसे, अधारे को उजाला कर समजता, तो उन लडती है तुजे मर्द कर।

स्थानवाचक—जधाँ (जहाँ), तधाँ (तहाँ), काँ (कहाँ), या (यहाँ), वा (वहाँ), कई (कही) आदि अतिरिक्त रूप मिलते है। वाहर के लिए 'बहार', 'भार', रूप भी मिलते है। कने (पास), लक (तक)।

कालवाचक—ताल (इस समय), अताल (अव) आदि भिन्न रूप भी मिलते है।

प्रश्नवाचक—क्यो, के लिए, की (सस्कृत 'किम्') का भी प्रयोग है।

निषेधार्थक—न, नही के अतिरिक्त ना, ने, नको आदि रूप भी मिलते हैं।

सवधसूचक—विना के लिए वाज का भी प्रयोग होता है।

समच्चुयत्रोधक—हौर (और), च (ही) आदि का प्रयोग है।

उपर्युक्त व्याकरण-रूपो मे पूर्वी पजावी, हरियानी, अवधी, व्रज और मराठी का मिश्रित प्रभाव है। किन्तु सभी विभेदो पर गभीरतापूर्वक विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि दक्खिनी खडीवोली का ही मध्यकालीन रूप है और दक्खिनी का मूलाधार खडीवोली ही है, जिसे मध्यकाल मे साहित्य तथा अतर्प्रान्तीय व्यवहार में प्रयुक्त करके हिन्दवी की सज्ञा दी गई थी। दक्खिनी इसी हिन्दवी का दक्खिनी रूप है। इसे सस्कृतनिष्ठ आधुनिक हिन्दी या फारसी-निष्ठ उर्दू-ए-मुअल्ला कहना युक्तियुक्त नही है। आधुनिक हिन्दी-उर्दू ने जितने प्रतिशत हिन्दवी-पन वनाए रखा है उतने ही अनुपात मे हम दक्खिनी को हिन्दी या उर्दू कह सकते है।

शब्दावली—दक्खिनी मे तद्भव शब्दावली की प्रधानता है। सामान्य दक्खिनी लेखक

फारसी, अरवी सस्कृत आदि के तद्भव रूप ही लिखता है। इस्लाम धर्म के प्रचार से सवधित धार्मिक ग्रथो में अरवी शव्दावली अधिक है। फारसी मसनवियों के अनुवाद मे फारसी शब्द भी आए है, किन्तु अधिकाशत उन्हे देशी रूप मे ढाला गया है, फारसी अक्षर विन्यास के अनुसार नही। उदाहरणार्थ—

फारसी	दक्खिनी
इनआम	इनाम
साअत	सात
किस्स	किस्सा
किल	किला, आदि

विदेशी शब्दो का समावेश उस समय की जीती-जागती भाषा मे किया गया था और इसका उद्देश्य था उस भाषा मे चतुराई से भाव प्रकट करना, न कि विदेशी रूपो तथा मुहावरो को ज्यो का त्यो रखना।[1] इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सस्कृत के प्रचलित तत्सम शब्दो का भी प्रयोग होता था, यथा—अखड, अधर, अवर, अपार, अनन्त, उपकार, उत्तल, गभीर, छन्द, तुरग, धरित्री, पवन, वस्तु, भानु, रोमावलि, सम्मुख, दिवाकर, स्वाद, सग्राम आदि। तद्भव शब्दावली में अनेकरूपता पाई जाती है, यथा—अपछरी, अछरी, आदिक, अधिख, अधिक, धरत, धरती, धरित्री, धिव (धी), जिउ (जी), नेम, धरम आदि। जिस प्रकार फारसी-अरवी के विकृत देशी रूप मिलते हैं, वैसे ही भारतीय शब्द भी विकृत रूप में मिलते हे, यथा म्हाडी (मढी), मदिर (मदिर), मसार (ससार), परधान (प्रधान), परतिपाल (प्रतिपाल), सुन्ना (सोना), दीस (दिवस), सकत (शक्ति) आदि।

दक्खिनी शब्दकोश में मराठी, कन्नड, तेलुगु तथा मुडा भाषा परिवार के भी शब्द लिए गए जान पडते है। यही कारण है कि इस साहित्य में कुछ अपरिचित शब्द दिखाई पडते है, यथा, असू (आँसू), अवासवा (ऐरा-गैरा), अरडावना (चिल्लाना), अडवाट (उन्मार्ग), अँपरना (पहुँचना), आटा (मुश्किल), उधान (ज्वार भाटा) एलाड (इधर) काँद (दीवार), आदि।

दक्खिनी साहित्यकारो ने विदेशी शब्दो को लिया अवश्य है, किन्तु उनमें विदेशी ध्वनियो के स्थान पर परिचित देशी ध्वनियों को रख दिया है। वहुवचन वनाने में स्वदेशी प्रत्ययो को ही अपनाया गया है। फारसी सज्ञा-विशेषण लेकर हिन्दवी के नियमानुसार क्रिया-रचना की गई है।[2]

साहित्यिक परपरा—दक्खिनी साहित्य मे स्थानीय रग अधिक है। अतएव अधिकाश में देशी साहित्यिक परपराओ का ही पालन किया गया है। फारस में जैसे गुल-बुलवुल आदि के कवि-समय प्रचलित है, उसी प्रकार भारत मे कमल-भौंरे तथा चद्र-चकोर आदि का प्रचलन है। दक्खिनी साहित्य में भारतीय कवि-समय ही अधिकाशत अपनाए गए है। यथा—

---

१. वावूराम सक्सेना: दक्खिनी हिन्दी, पृ० ७३।

२. भाषा सवधी विशेष विवरण के लिए देखिए उपर्युक्त ग्रथ।

कँवल का दिल खिला सीता की दह में।
× × ×
अगर नै है आशिक चकोर चाँद का।
तो राता को वो क्या सवव जागता॥

दक्खिनी साहित्य मे भारत के प्राचीन कथानको, सीता की पति-परायणता, राम की कर्तव्य-परायणता, हनुमान की सेवा-भावना आदि का उल्लेख पर्याप्त मात्रा मे मिलता है, जव कि उर्दू मे इसका सर्वथा अभाव है। यद्यपि अधिकाश दक्खिनी साहित्य की मसनवियाँ फारसी के अनुवाद है, किन्तु उनमें भी भारतीय कथाएँ, नदी, पर्वत आदि का उल्लेख मिल जाता है।

भारतीय परपरा मे पुरुष का प्रेमपात्र स्त्री और स्त्री का प्रेम-भाजन पुरुष होता है। दक्खिनी के अधिकाश ग्रथो में प्रेम की यही परपरा निभाई गई है। फारसी का प्रभाव अधिक पडने के कारण वली के वाद की दक्खिनी उर्दू मे माशूक (प्रेयसी) का वर्णन पुलिंग मे होने लगा।

दक्खिनी साहित्य के कलाकार प्राय मुसलमान थे, अत फारसी-अरवी लिपि मे ही सपूर्ण साहित्य लिखा गया था। फारसी के छद और काव्यरूप—मर्सिया, कसीदा, रुवाई, तरर्जीअवद भी अपनाए गए, तथापि भाषा मे वहुत दूर तक भारतीयता निभाई गई और भावो मे देशीपन वना रहा। दक्खिनी साहित्य सव प्रकार से हिन्दवी साहित्य है।

उत्तरी भारत में हिन्दवी साहित्य

इस वात की ओर पहले ही सकेत किया जा चुका है कि हिन्दवी का साहित्य में प्रयोग सर्वप्रथम नाथ योगियो और धर्म प्रचार करने वाले विदेशी मुसलमानो द्वारा हुआ है। १४वी शती ई० में हिन्दवी ने दक्खिन को प्रस्थान किया, जहाँ १५वी शती ई० में साहित्यिक परपरा की नीव पडी और १८वी शती ई० के प्रथम चरण तक वह साहित्यिक परपरा समृद्धिशाली वनी रही। उत्तरी भारत मे १४वी शती ई० तक साहित्य मे हिन्दवी के प्रयोग का आविर्भाव मात्र हो सका, किन्तु उत्तरी भारत की सास्कृतिक परिस्थिति के कारण हिन्दवी की कोई साहित्यिक परपरा विकसित नही हो पाई। उत्तरी भारत में वैष्णव भक्ति आन्दोलन के कारण हिन्दी के कवियो ने व्रज और अवधी को अपना लिया और सपूर्ण काव्य व्रज और अवधी में ही लिखा गया। इस प्रकार हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में हिन्दवी या खडीवोली का जो एक मिला-जुला रूप प्रयुक्त हुआ था, वह हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य की प्रधान धाराओ—कृष्ण, राम या रीति काव्यो की धाराओ मे नही मिलता। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दुओ ने व्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली, आदि को अपना लिया था। निर्गुण सतो और मुसलमानो ने हिन्दवी (खडीवोली) को वोल-चाल और धर्म-प्रचार के लिए अपनाया था। सभवत इस कारण भी सगुण वैष्णव साहित्य हिन्दवी से उदासीन रहा। यही कारण है कि हिन्दवी का प्रयोग व्रजभाषा का हिन्दू कवि केवल मुगलो के सदर्भ में ही कभी कभी करता है। निर्गुण सतो—कवीर, नानक, दादू, रविदास आदि की मिली-जुली भाषा में खडीवोली या हिन्दवी का प्रचुर प्रयोग अवश्य मिलता है। हिन्दवी मध्यकाल में ही अन्तर्प्रान्तीय वोलचाल या व्यवहार की भाषा वन गई थी। अतएव हिन्दू-मुसलमान सवको सवोधित करने वाले निर्गुण सतो ने खडीवोली का ही सहारा लिया। दक्खिन के

मराठा सतो—नामदेव, गोदा, एकनाथ, केशवस्वामी, तुकाराम आदि ने उत्तरी भारत की इसी मत-परपरा का पालन करते हुए हिन्दवी में पद लिखे है। ध्वनि, शब्द-रचना, वाक्य-विन्यास, शब्दावली, छद-विन्यास आदि के दृष्टिकोण से मराठी सतो के सबध में यही कहना पडता है कि उनका सबध उत्तर की हिन्दवी से है, हिन्दवी के दक्खिनी साहित्य के अन्तर्गत उन्हें सम्मिलित करना युक्ति-युक्त नही है।

उत्तरी भारत में १६वी-१७वी शती ई० मे आलम (अकबरकालीन) द्वारा रचित 'सुदामा-चरित' नामक खडीबोली का ग्रथ कहा जाता है। निस्पदेह यह खडीबोली में है, किन्तु इसकी उपलब्ध प्रति किस शताब्दी की है, यह निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता। एक उदाहरण देखिए—

राम किसन केदार सुकेसव कृष्ण गोपाल गोवर्धनधारी।
कादर सबके सिर परि कादर मुन्दर तन घनस्याम मुरारी।
सूरत खूब अजाइब मूरति आलम के सिरताज विहारी॥

× × ×

बहुत गरीब सुदामा बाह्मन, निपट खिलाफत मे जब अटका।
सद पैबद लगे चादर मे, सिरि जबून सा बाघरा पटका।
पै अपनी किसमत पर राजी, किसी तरफ मों दिल नहिं लटका॥

हिन्दी वीरकाव्य के रचयिता भूषण, लाल, सूदन आदि के ग्रथो में हिन्दवी के स्फुट शब्द और वाक्याश मिल जाते है, किन्तु कोई विशिष्ट पृथक साहित्य नही मिलता। मिर्जा राजा जयसिंह के पुत्र राजसिंह ने अपने दीवान को कुछ पत्र लिखे थे, जिनकी भाषा राजस्थानी मिश्रित हिन्दवी है। उत्तरी भारत में हिन्दवी साहित्य-परपरा की दृष्टि से प्रणामी सप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ[1] तथा उनके प्रमुख शिष्य स्वामी लालदास[2] का नाम अत्यत महत्वपूर्ण है। प्राणनाथ तथा लालदास की अधिकाश रचना हिन्दवी मे है। सक्षेप में इनका परिचय दिया जाता है।

स्वामी प्राणनाथ (सन १६१८-१६९४ ई०=सवत १६७५-१७५१ वि०)

प्राणनाथ का जन्म हल्लार जनपद जामनगर (नौतनपुरी) मे हुआ था। इनके पिता का नाम केशव ठाकुर और माता का धनबाई था। ये चार भाई थे। बाल्यावस्था में इनका नाम मेहराज (मिहिरराज) था। बाल्यावस्था से ही इन्हे धर्म में रुचि थी। देवचद से इन्होंने तारतम्य मत्र की दीक्षा ली और धर्म-साधना में लग गए। देवचद निजानन्द सप्रदाय के प्रवर्तक थे।

सन १६४६ ई० (सवत १७०३) में इन्होंने अरब की यात्रा की और ४ वर्ष तक वही रहे। स० १७१२ से इन्होने धर्म का कार्य प्रारभ किया। इसके पूर्व ये ध्रोल राज्य के दीवान भी रहे,

---

१ दे० लेखक का निबध, प्रणामी साहित्य, सम्मेलन पत्रिका, भाग ४१, अक १।

२. दे० लेखक का निबध, बीतक की ऐतिहासिक समीक्षा, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष १०, अक, ४,५।

की कथा और **रामप्रसाद निरंजनी** द्वारा लिखित 'योगवासिष्ठ' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १८वी शती ई० के अत में ही हिन्दवी शैली को परिनिष्ठित (स्टैडर्ड) रूप देने का प्रयत्न हिन्दुओ द्वारा आरभ हो गया था। **इशा** ने 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न रहे, न उसमें फारसी-अरबी का प्रभाव हो और न ग्राम्य दोष हो' कहकर हिन्दवी के सुस्थिर, नियमित, आदर्श की ओर सकेत किया था। **सदासुखलाल** की कुछ रचनाएँ इसी शैली में लिखी गई है। अत मे फोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान मे डा० गिलक्राइस्ट की देखरेख मे लल्लूलाल द्वारा 'प्रेमसागर' तथा **सवल मिश्र** द्वारा 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' नामक ग्रथ हिन्दवी, अर्थात खडीबोली में लिखे गए। ये दोनो ग्रथ एक प्रकार से हिन्दवी के अतिम ग्रथ और स्टैंडर्ड हिन्दी के प्रथम ग्रथ है। यहाँ आकर हिन्दी हिन्दवी को आत्मसात कर लेती है। आधुनिक हिन्दी ने अधिकाश में हिन्दवीपन की रक्षा की है, अतएव वह उसकी समस्त साहित्य-राशि की उचित उत्तराधिकारिणी है।

सहायक पुस्तको की सूची

१—उर्दू ए कदीम (उर्दू),	सैयद शमसुल्ला कादिरी।
२—उर्दू शहपारे (उर्दू),	डा० मोहिनुद्दीन कादिरी।
३—उर्दू की इब्तदाई नश्वोनुमा मे सूफियाए करामं का काम (उर्दू),	डा० अब्दुल हक।
४—कुल्लियात वहरी (उर्दू),	डा० मोहम्मद हाफीज़ सैयद।
५—कुल्लियातेकुली कुतुवशाह (उर्दू),	डा० मोहिनुद्दीन कादिरी ज़ोर।
६—कुतुब मुश्तरी (उर्दू),	डा० अव्दुल हक।
७—उर्दू साहित्य का इतिहास,	सैयद एहतिशाम हुसेन।
८—खडीबोली साहित्य का इतिहास,	व्रजरत्न दास।
९—तारीखे अदव उर्दू (उर्दू),	रामबाबू सक्सेना।
१०—दकन में उर्दू (उर्दू),	नसीरुद्दीन हाशिमी।
११—दखिनी हिन्दी,	डा० वाबूराम सक्सेना।
१२—दक्खिनी का पद्य और गद्य,	श्रीराम शर्मा।
१३—दखिनी के सूफी लेखक,	डा० विमला वाघ्रे।
१४—मुकालाते हाशिमी (उर्दू),	नसीरुद्दीन हाशिमी।
१५—मदरास में उर्दू (उर्दू),	नसीरुद्दीन हाशिमी।
१६—यूरोप मे दखिनी मखतूतात (उर्दू),	नसीरुद्दीन हाशिमी।
१७—रौजतुल औलिया वीजापुर,	मुहम्मद अली मिर्जा।
१८—लिग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया (अग्रेजी),	डा० ग्रियर्सन।
१९—सवरस (उर्दू),	डा० अब्दुल हक।
२०—हिन्दुस्तानी लिसानियात (उर्दू),	डा० मुहीनुद्दीन कादिरी 'ज़ोर'।

१६. उर्दू साहित्य

उत्तरी भारत में दिल्ली के आस-पास खडीबोली का उर्दू रूप अमीर खुसरो से पहले प्रचलित हो चुका था और इसकी एकाव रचनाएँ कही-कही मिल जाती थी, परन्तु मुगल शासक औरगज़ेव से पूर्व यहाँ रचनाओ का नियमित क्रम नही मिलता। औरगजेव के ज़माने से दिल्ली के कवियों की कविताएँ मिलती हैं और हमारे पास इसके स्पप्ट प्रमाण मौजूद हैं कि वली जव सैर को दिल्ली आए तो यहाँ शेर व शायरी का रवाज था। इस समय के कवियो में **फायज़ देहलवी** और **जाफर जटल्ली** के दीवान छपे हुए हैं, जिनको देखकर यह साफ साफ पता चल जाता है कि वली के असर से पहले दिल्ली की उर्दू कविता भिन्न थी। फ़ायज के दीवान में व्रजभापा की तरह स्त्री की ओर से प्रेम प्रकट किया गया है। वे पुरुप की उपमा चाँद से और स्त्री की चकोर से देते हैं, वालो के जूडे को नागिन और आँखो को कटारी कहते हैं। जव सन १७२२ ई० (सं० १७७९ वि०) में वली दिल्ली आए, तो उनको दिल्ली के एक सूफी वुजुर्ग शेख सादुल्लाह 'गुलशन' ने कविता का रग वदल देने की सलाह दी और कहा कि फारसी में जो रगारग के लेख मौजूद हैं, उनसे फायदा उठाओ और सवको अपनी भापा में ले आओ। उस समय दरवारी भापा फारसी थी। वडे वडे लोग इसी में वातचीत करते थे, इसी में पत्र और पुस्तके लिखते थे। इसीके माध्यम से दर्शन, आयुर्वेद, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिप, भौतिकी आदि पढते-पढाते थे, इसलिए वली को यह वात वडी अच्छी लगी। उन्होने अपनी कविता का रूप वदल दिया और फारसी गजल की तरह उर्दू में लिखने लगे—वही परम्पराएँ, वही उपमान और वैसी ही विचार-धारा।

वली तो यह वदला हुआ रग दिखा कर दिल्ली से चले गए, परन्तु दिल्ली वालो को उर्दू कविता का यह नया रूप वहुत भाया और देखते ही देखते यहाँ के लोग इसी रूप मे कविता लिखने लगे। **शाह मुवारक 'आवरू', मुस्तफा खाँ 'यकरंग', शाहहातिम** वहुत प्रसिद्ध हुए। हातिम ने तो एक वहुत वडा दीवान भी लिखा जिसके वारे मे मुहम्मदहुसैन 'आज़ाद' ने लिखा है कि उसमें कई हज़ार शेर थे। इन शायरो को ईहाम (श्लेप) वहुत पसन्द था। कुछ साल वाद शाहहातिम ने अपने समय की कविता में दो कमजोरियों को वहुत महसूस किया। एक यह कि श्लेप की कविता वड़ी हलकी चीज़ है, इसी को कविता का लक्ष्य नही समझना चाहिए, शायरी इससे कही ज्यादा गहरी चीज़ है। दूसरी यह कि कविता की भापा अधिक साफ और मँजी हुई होनी चाहिए।

फारसी की रीति पर चलने के कारण काफ़िया के क़ायदो की पावन्दी अधिक होने लगी, इसलिए शाह हातिम ने कुछ ऐसे शब्दो और तरीकों को, जो उस समय कविता में प्रचलित थे, वुरा समझ कर छोड दिया। साथ ही उन्होने नई पावन्दियों का खयाल रख कर अपने तैयार

किए हुए दीवान पर एक दृष्टि डाली और पुराने नियमो के अनुसार लिखे हुए शेर निकाल कर एक छोटा दीवान तैयार किया, जिसका नाम उन्होने 'दीवान ज़ादा' रखा। उसमें लगभग ५००० शेर हैं।

दिल्ली में उस समय पढने-लिखने की बडी चर्चा थी, अरवी और फारसी के वडे वडे विद्वान थे, जिनके पास बहुत लोग उठा बैठा करते थे और विभिन्न प्रश्नो पर तर्क-वितर्क करते थे। ऐसे व्यक्तियो में एक **खान आरज़ू** थे, जिनकी योग्यता के कारण लोग उनका वडा आदर करते थे। वे उर्दू में कविता करने वालो को वडा उत्साह दिलाते थे। वे **मीरतक़ी 'मीर'** की सौतेली माँ के भाई थे। यद्यपि वाद को मीर और उनके बीच कुछ रंजिश हो गई थी, परन्तु प्रारम्भ मे खान आरज़ू के ही यहाँ मीर की उर्दू कविता की नीव पडी। खान आरज़ू के अलावा दूसरा केन्द्र शाह तसलीम का तकिया था, जहाँ रोज़ शाम को शाह हातिम बैठा करते थे, और लोग भी आ जाया करते थे, दो-चार घटे बडी दिलचस्प गोष्ठी होती थी। शाह हातिम के पैंतालिस शिष्यो में **सआदत यार खाँ 'रंगी'** और **मिर्ज़ा मुहम्मद रफी 'सौदा'** अत्यन्त प्रसिद्ध हुए, जिनमें 'सौदा' का जो नाम हुआ वह किसी के हिस्से में नही आया।

शाह हातिम के वाद गज़ल कहने वालो की जो पीढी आई उनमें मीर तकी 'मीर', मिर्ज़ा 'सौदा' और **ख़्वाजा मीर 'दर्द'** सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है। **क़यामउद्दीन 'क़ायम'** और **मीर 'सोज़'** दूसरी श्रेणी में आते है। **मीर तक़ी 'मीर'** (१७२४-१८१० ई० = स० १७८१–१८६७ वि०) का वचपन आगरे में बीता और वहाँ से वे दिल्ली और फिर लखनऊ आए। उनकी गज़लो में भावना की तीव्रता, गभीरता तथा वेदना का ऐसा अतिरेक है कि उर्दू ग़ज़ल में उनका महत्व सर्वस्वीकृत हैं। इस वात को सभी मानते हैं कि मीर की रचना में जो मधुरता और कलात्मक उत्कर्ष है वह किसी दूसरे में नही। जल्द ही दिल्ली से निकल कर उनका नाम उर्दू जानने वालो में फैल गया और जब दिल्ली से तग आकर वे लखनऊ पहुँचे तो यहाँ उनकी बडी आवभगत हुई, परन्तु स्वतत्र प्रकृति और तुनुकमिज़ाजी के कारण वे सदैव दुखी ही रहे।

सौदा (सन १७१३-१७८०ई० = स० १७७०-१८३७ वि०) भी दिल्ली में ही प्रसिद्ध हुए, परन्तु वे भी वहाँ से दुखी होकर पहले फर्रुखावाद और फिर फैजावाद होते हुए लखनऊ पहुँचे और वही के हो रहे। **ख़्वाजा मीर 'दर्द'** (सन १७१९-१७५८ई० = स० १७७६-१८१५ वि०) सूफी फकीर थे और उम्र भर दिल्ली में ही रहे। उनकी कविताओ में भी सूफियाना रग है और इस रग के उनके शेर 'मीर' की टक्कर के हैं। 'सोज़' और 'कायम' ने भी दिल्ली में ही परवरिश पाई। वे गज़ल की शायरी में अपनी भावनाओ को प्रकट करने और सीधी सादी रचना करने में प्रसिद्ध है। इन कवियो ने फारसी गज़ल के नमूने अपने सामने रखे और श्लेष की हलकी कविता को छोडकर गहराई की ओर झुके। इनके कारण उर्दू गज़ल में गभीरता और गुरुता आई, जिससे वह भावनाओ को प्रकट करने और प्रभाव में फारसी गज़ल से स्पर्धा करने लगी। दिल्ली के दरवार ने इन कवियो की किसी प्रकार की सहायता नही की, अलवत्ता यहाँ के पढे-लिखे लोग जव तक इस योग्य रहे, कवियो का सम्मान करते रहे। परन्तु नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली और मराठो ने दिल्ली को ऐसा लूटा कि वहाँ अराजकता छा गई और एक-एक करके सभी को दिल्ली छोड कर दूसरे शहरो में शरण लेनी पडी। अवध के नवावो ने ऐसे समय में कला, साहित्य और ज्ञान

को प्रश्रय दिया और अधिकतर कलाकार और विद्वानों ने दिल्ली से निकल कर अवध में शरण ली। यहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ।

मुसहफी (सन १७५०-१८२४ ई० =स० १८०७-१८८१ वि०) का नाम गुलाम हमदानी था और ये अमरोहा के रहने वाले थे। शेर बहुत जल्दी कहते थे और मुशायरे के लिए ग़ज़लें बेचते भी थे। उनके कलाम में मजबूती और सफाई है। नवाब सआदत अली खाँ की दरबारी नोक-झोक में उनसे और सैयद इशा से चल गई, जिससे शहर में बड़े हगामे हुए। **सैयद इशा** बड़ी तीव्र बुद्धि वाले और प्रतिभावान कवि थे। वे बात-बात में अपने स्वभाव की चचलता से नवीनता पैदा कर देते थे, इसलिए अवध के दरबार में वे कवि से अधिक दरबारी विदूषक बनकर रह गए थे। परन्तु दोनो उस्तादो की रचना में कुछ चमत्कार भी है जिनसे उनका नाम जीवित रहेगा। **क़लन्दर बख़्श 'जुरअत'** (मृत्यु सन १८१० ई० =स० १८६७ वि०) भी इन्ही लोगो के समकालीन है जिनकी अभिव्यक्ति में चचलता अधिक है।

राय टीकाराम 'तसल्ली', इफतेखारउद्दौला महाराजा मेवाराम और **राजा कुन्दन लाल 'अश्की'** दरबारी कवियो में प्रसिद्ध है। राय टीकाराम 'तसल्ली' के यहाँ मुशायरे बड़ी शान के होते थे, जिनमें से दो में बादशाह भी सम्मिलित हुए थे। इनके अलावा इस ज़माने के मशहूर कवियो में **'रगी', 'मीर असर', जाफर अली 'हसरत'** और **शेर अली 'अफसोस'** है। **नजीर 'अकबराबादी'** भी उसी ज़माने के कवि है, परन्तु उनका महत्व गज़लगो की हैसियत से नही, इसलिए उनका वर्णन आगे होगा।

लखनऊ का जीवन दिल्ली के जीवन से बिलकुल भिन्न था। यहाँ (दिल्ली में) लोग शासन-प्रबन्ध ठीक न होने से परेशान थे, वहाँ सब प्रसन्न और सतुष्ट थे। यहाँ के शासक की आय कम, अपने ही खर्चे के लिए अपर्याप्त थी। वहाँ दौलत और सखावत का दरिया बहता था, 'जिसको न दें मौला, उसको दे आसिफुद्दौला' की कहावत लोगो की ज़बान पर थी। इसलिए लखनऊ के जीवन में विलासिता के सामान थे। खाने-पीने, पहनने-ओढने, हर चीज़ में तकल्लुफ, बनावट और सजावट थी। गुलाब और केवड़ा पानी की तरह बहता था, इसीलिए वहाँ समस्त ललित कलाओ का विकास हुआ और लखनऊ की सस्कृति एक अलग चीज़ बन गई, जिसकी अलग विशेषताएँ थी। हर चीज मे स्वच्छता, नज़ाकत और नफासत। यही चीज शायरी में भी आई। नर्मी और लोच की दृष्टि से शब्दो की काट-छाँट, मुहाविरो का ठीक-ठीक प्रयोग, सस्कृत और ब्रजभाषा के शब्दो को सुन्दर और सुडौल रूप में कविता में प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया गया। दूसरे शब्दो में यो कहिए कि गँवारपन की जगह नागरिकता को स्थान दिया गया, और उर्दू कविता उस लखनवी सस्कृति की प्रतिनिधि हो गई जिसके हाथो इसका पालन पोषण हो रहा था। हर ज़माने के साहित्य का निर्माण करने वाला वही होता है जिसके हाथो में समाज की बागडोर होती है। उस समय की सभ्यता में स्वच्छता, सुन्दरता और गहराई का जो मापदड था, वही साहित्य मे भी दिखाई पड़ा। फारसी के शब्दो का अधिक प्रयोग होने लगा और भाषा या मुहाविरे या उच्चारण की ज़रा सी चूक भी सहन न की जाती थी। इसी कारण गज़ल कहने वालो का ज्यादा ध्यान काव्य के रूप की ओर गया। उपमा और रूपक पर अधिक ध्यान दिया गया। शैली के कमाल में उस्तादी समझी जाने लगी। वेश्या इस

सभ्यता की एक अग थी, इसी कारण इस समय की कविता की विषय वस्तु मे इसकी झलक स्पष्ट दिखलाई पडती है।

नासिख इस स्कूल के सबसे वडे प्रतिनिधि है। **भाषा** की काट-छाँट और सुथरता को उन्होने अपना ध्येय बनाया और सब ने उनकी नकल की। भाषा-सुधार आन्दोलन में उनका स्थान सबसे महत्वपूर्ण है। **आतश** ने अगरचे अपना रग अलग रखा और कुछ भावनाएँ प्रकट करते रहे, परन्तु उनके शागिर्दों ने भी 'नासिख' का अनुसरण किया, अत इन दोनो के बाद **'वज़ीर', 'सवा', 'रिन्द' 'रश्क'** और **'असीर'** इत्यादि भी लखनऊ स्कूल के पूरे अनुयायी हुए।

उधर जब दिल्ली को मरहठो, रुहेलो आदि ने इतना लूटा कि वहाँ कुछ लूटने को रह ही नही गया तो वहाँ का जीवन शान्तिमय हुआ और वहाँ भी शेर व शायरी की चर्चा, जो अराजकता और कगाली मे दब गई थी, उभर आई। यहाँ के शासको को भी उर्दू से लगाव होने लगा। **शाह आलम 'आफताब'** और **बहादुरशाह 'जफर'** खुद भी शेर कहते थे, इसलिए दिल्ली में प्रथम श्रेणी के कवियो ने पुन जन्म लिया। परन्तु अब की दिल्ली और पहले की दिल्ली में अन्तर था। अब 'नासिख' का सिक्का ऐसा चल चुका था कि दिल्ली वालो को भी एक हद तक उनके उसूल मानने पडे, **'मोमिन', 'ज़ौक'** और **'ग़ालिब'** सब 'नासिख' का रास्ता ठीक समझते है। 'ज़ौक' तो 'नासिख' के ही रास्ते पर बराबर चले। 'मोमिन' और 'गालिब' ने शेर में गहराई और विचार पैदा करके कविता की धारा ही बदल दी। 'गालिब' ने विशेष कर **'ग़ौर'** व **'फ़िक्र'** की राह निकाल दी, जिस पर लोग 'नासिख' के रास्ते को छोडकर चल पडे और कविता की काया ही पलट गई। इस कायापलट में 'गालिब' का कितना हिस्सा था और कितना उन सामाजिक परिस्थितियो का जो अग्रेजी शासन से उत्पन्न हुई थी, इसका वर्णन यहाँ उचित नही जान पडता क्योकि हमारे विषय की सीमा १८५० ई० तक ही है।

क़सीदा

दरबारी जीवन की एक ज़रूरी कडी कसीदा है। इसका मुख्य उद्देश्य किसी की प्रशसा करना होता है। अरबी और फारसी शायरी में कसीदे का बडा ज़ोर रहा है, हर शायर बादशाहो और अमीरो से अपना परिचय कसीदे द्वारा ही करता रहा और खुशी के हर मौके पर कसीदा लिखकर इनाम लेता रहा। लोगो को प्रसन्न करने के लिए उसमे अधिक से अधिक प्रशसा की जाती थी और इसका मुकाबिला होता था कि अधिक से अधिक प्रशसा कौन करता है। शासको और अमीरो के अलावा धार्मिक पेशवाओ की तारीफ में भी कसीदे लिखे जाते थे। कवि जब किसी से नाराज़ होता था तो उसकी बुराई में भी कसीदे लिखता था, ऐसे कसीदे को 'हजो' कहते है। उर्दू में जब शेर व शायरी की प्रथा बढी तो कवियो को अमीरो और दरबारो की आवश्यकता पडी। औरग-ज़ेब के बाद दिल्ली का शासन बहुत कमजोर हो गया था। इस कारण फारसी के कसीदो के बजाय उर्दू में कसीदे लिखे जाने लगे। उर्दू में सबसे बडा कसीदा और हजो लिखने वाला कवि **सौदा** (१७१३-१७८० ई०=स० १७७०-१८३७ वि०) है। सौदा ने फारसी कसीदो के जोड पर उर्दू कसीदे लिखे है और बडे बडे फारसी कवियो से मुकाबला किया है।

क़सीदा का प्रारम्भिक भाग बडा महत्वपूर्ण होता है। उसमें प्रशसा नही होती बल्कि

दूसरी वातें होती हैं। अधिकतर फूलो की रग-विरगी वहार का वर्णन होता है। सौदा ने अपने कसीदो में भिन्न-भिन्न दृश्यो की चित्रकारी की है और इसी में वडी उस्तादी दिखलाई है। एक क़सीदे में हाफिज़ रहमत खा और रुहेलो के युद्ध का वर्णन है। एक में दिल्ली की अराजकता और दुर्दशा का वर्णन है और सभी प्रकार के मनुष्यो की दयनीय दशा का वर्णन-चित्रण है। उनके कसीदो में जगह जगह दर्शन और तर्क परिलक्षित होते हैं।

सौदा के वयान मे वडी शान व शौकत है। गज़ल में मीठी, नर्म, लोचदार भाषा की ज़रूरत होती है, परन्तु कसीदे में शानदार और जोशीली भाषा की आवश्यकता होती है, ताकि यह मालूम हो कि जो प्रशसा की जा रही है उसमें सत्यता और ज़ोर है। इसी कारण मीर तक़ी 'मीर' के क़सीदो में वह वात नही जो सौदा के यहाँ है।

सौदा के कसीदो की भाँति उनकी हज्वें भी वहुत ज़ोरदार हैं। गुचा नाम का उनका एक नौकर था। जव वे किसी से नाराज़ होते थे तो पुकार कर कहते थे कि 'अरे गुचा, लाना तो मेरा कलमदान' और उसकी हज्व लिख डालते थे। उन्होने वहुत लोगो की हज्वें लिखी हैं और वहुतो ने उनकी लिखी हैं। लेकिन उनकी हज्वो में अपना विशेष काव्य गुण है जिसके कारण उनमें जान है और दूसरो की लिखी हज्व कोई पढता भी नही।

सौदा के वाद क़सीदा लिखने वालो में दूसरा प्रमुख नाम इंशा (मृत्यु १८१७ ई० = स० १८७४ वि०) का है। उन्होने भी वहुत अच्छे कसीदे लिखे हैं।

दिल्ली के लोग अवध दरवार से सम्वन्ध-विच्छेद होने के वाद भी क़सीदे लिखते रहे। लखनऊ के नवावो के पास यद्यपि दिल्ली के मुकावले में वहुत ज्यादा धन था और वे वडी उदारता से उसे कवियो, गायको और अन्य कलाकारो पर खर्च करते थे, लेकिन उन लोगो ने अपनी प्रशसा में कसीदे लिखने के लिए कवियो को उत्साहित नही किया। इसी कारण कसीदा लखनऊ स्कूल में गदर से आगे नही वढा, अलवत्ता उधर दिल्ली में इसका प्रचार रहा। 'मोमिन', 'ज़ौक' और 'ग़ालिव' तीनो अच्छे कसीदे लिखने वाले हैं और अपने अपने रग में खूव हैं। इन तीनो में 'ज़ौक' के कसीदो की वडी ख्याति है। सौदा के वाद कसीदे को अगर किसी ने फिर उसी ऊँचाई पर पहुँचाया तो वह ज़ौक ही है।

मसनवी

ग़ज़ल और क़सीदे की भाँति मसनवी में एक ही क़ाफिये और रदीफ (तुकात) की पावन्दी नही की जाती। इसमें हर शेर के दोनो मिसरे एक क़ाफिये के होते हैं, लेकिन अगले शेरो में वह काफिया नही होता, जैसे—

> सुनाऊँ तुम्हें वात यक रात की,
> कि वह रात अँधेरी थी वरसात की,
> चमकने से जुगनू के था यक समा,
> हवा में उडें जैसे चिनगारिया।

इस सुविधा के कारण इसमें पूरी पूरी कहानियो और घटनाओ का वर्णन किया जाता है। वडी वडी मसनवियो में कई कई हज़ार शेर होते हैं। दक्षिण में मसनवियाँ अधिकतर धार्मिक

विषयो पर लिखी गई है, लेकिन उत्तरी भारत में प्रसिद्ध और नामी मसनवियाँ वे है, जिनमें प्रेम की कथाओ का वर्णन है। छोटी छोटी मसनवियाँ तो करीव करीव उर्दू के सभी कवियो ने लिखी है। 'फ़ायज़' के दीवान में भी 'पनहारन' आदि पर कई मसनवियाँ है। 'आवरू' और 'सौदा' की मसनवियाँ है, परन्तु गज़ल की तरह मसनवी में भी मीर तकी 'मीर' अपने सव साथियो से आगे है। उनकी कुछ मसनवियो में प्रेम कहानियाँ है जो सव की सव नायक और नायिका की मृत्यु पर समाप्त हुई है। कुछ में अपने पालतू जानवरों, अपनी बीमारी और घर आदि का वर्णन है, परन्तु इनमें अच्छी वही है जिनमें प्रेम कथाएँ है। इनमें 'मीर' ने अपनी कला की सुकुमारता और कोमलता को वडी अच्छी तरह प्रकट किया है।

'मीर असर' की मसनवी 'खावोखयाल' भी वर्णन की सादगी, मुहावरे की सफाई की दृष्टि से वडी अच्छी मसनवी है। उसमें नायक और नायिका की मुलाक़ात का समा वहुत विस्तार से लिखा है जो कही-कही पर कुछ अश्लील हो गया है। 'मुसहफ़ी' की 'बहरुलमुहव्वत' और मुहव्वत खा की 'असरारेमुहव्वत' भी उल्लेखनीय है। लेकिन **मीर हसन** (१७३६-१७८६ ई० =स० १७९३-१८४३) की मसनवी 'सेहरुलवयान' को जो यश प्राप्त है, वह किसी दूसरी मसनवी को नही।

'सेहरुलवयान' मीर हसन ने उस समय लिखी जव वे फैज़ावाद जा वसे थे और वहाँ अवध के दरवार से फ़ैज़ पाते थे। इसमें उन्होने शाहज़ादा बेनज़ीर की कहानी लिखी जो एक बादशाह के यहाँ पैदा हुआ। जव वह वारह वरस का हुआ तो उसे एक परी उठा ले गई जिसने उसे सैर के लिए एक कल का घोडा दिया। यह घोडा एक दिन बेनज़ीर को शाहज़ादी वद्रेमुनीर के वाग में ले गया, जिसे देखकर बेनज़ीर उस पर आशिक हो गया। कुछ दिनो वाद जब परी को इसका पता चला तो उसने शाहज़ादे को एक कुएँ में कैद कर दिया।

वद्रेमुनीर की सहेली नजमुन्निसा के प्रयत्न से शाहज़ादा को कैद से मुक्ति मिली और फिर उन दोनो का विवाह हो गया। यह कहानी तो कुछ नई नही, लेकिन मीर हसन ने इसका वर्णन करने में जो उस्तादी दिखाई है—वादशाह के महल और जुलूस का दृश्य, ज्योतिषियो, गायको, शहसवारो और विभिन्न पेशावरो की वातचीत, नवाबों की जिन्दगी का चित्रण जिस प्रकार उपस्थित किया है—उसने उनका नाम अमर कर दिया है। उनकी भाषा ऐसी सरल, मुहावरेदार है कि उसे पढ कर दरिया का वहाव याद आ जाता है—

> कही अपने पट्टे सँवारे कोई, अरी ओ सहेली पुकारे कोई।
> कही चुटकियाँ और कही तालियाँ, कही कहकहे और कही गालियाँ।
> कोई हौज़ में जाके ग़ोता लगाए, कोई नहर पर पाँव बैठी हिलाए।
> कोई आरसी अपने आगे धरे, अदा से कही वैठी कघी करे।
> मुकावा कोई खोल मिस्सी लगाए, लबो पर घडी कोई अपने जमाए।

मीर हसन की 'सेहरुलवयान' के वाद 'नासिख' ने भी मसनवी लिखी और दूसरो ने भी, लेकिन जिस मसनवी का नाम अक्सर लिया जाता है वह **दयाशंकर 'नसीम'** (१८११–१८४३ई०= १८६८–१९०० वि०) की 'गुलज़ारेनसीम' है। यह 'सेहरुलवयान' के लगभग पचास वर्ष

ार्द लिखी गई और उसकी शैली इससे बिलकुल अलग है। 'मीरहसन' ने प्रवाह पर जितना ज़ोर दिया है उतना ही 'नसीम' ने अपने अन्दाज़े बयान में अलकारिता पर बल दिया है। दयाशकर नसीम' 'आतश' के शिष्य है। उनकी यह मसनवी लखनऊ स्कूल की प्रतिनिधि है और इस ग में अनुपम है। एक उदाहरण लीजिए—

> गुलची का जो हाय हाय टूटा, गुचे के भी मुंह से कुछ न फूटा।
> ओ खार पडा न तेरा चगुल, मुशकें कस ली न तू ने मबुल ?
> ओ वादे सवा हवा न वतला, खुशबू ही सुंघा पता न वतला।
> बुलबुल तू चहक वता किधर है ?, गुल, तू ही महक वता किधर है ?
> उगली लवे जू प रक्खे शम्शाद, था दम व खुद उसकी सुन के फरियाद,
> जो नख्ल था सोच में खडा था, जो वर्ग था हाथ मल रहा था।

१८५० ई० (स० १९०७) से पहले ये तमाम मसनवियां अलौकिकता से भरी हुई , देव-परी, जादू-टोने का वर्णन इनमें मिलता है। इसका कारण यह है कि इस समय में लोग न चीज़ो पर विश्वास करते थे । इन मसनवियो की दूसरी विशेषता यह थी कि इन पर आदर्श-ाद और अतिवाद का रग चढा हुआ था। जो गुण है वे चरम तक पहुँचे हुए, जो वात है वह इन्तहा क। नायक में दुनिया की तमाम अच्छाइयां भरी हुई है, इसी तरह नायिका दुनिया से ऊपर है। मीर' के आशिक महबूबा की एक झलक मात्र देखकर ऐसे दीवाने हो जाते है कि तडप तडप कर जान दे देते है। दूसरो के यहाँ जान देने की नौवत तो नही आती, परन्तु सव अतिवादी है। मसनवियो की अन्तिम ध्यान देने योग्य विशेपता उनका दुःखान्त होना है, जो दिल्ली की अराजकता और परेशानी का परिणाम है। परन्तु जव कवियो को अवध का विलासपूर्ण वातावरण प्राप्त होता है तो उनकी मसनवियाँ सुखान्त होती है और नायक और नायिका के मिलन पर समाप्त होती है।

इन मसनवियो में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का वहुत सुन्दर चित्रण हुआ है। उस समय की वहुत सी प्रथाएँ, रवाज और तरीक़े इनमें मिलते है जिनसे उस समय की सामाजिक विशेषताओ का मूल्याकन किया जा सकता है । इन मसनवियो के अतिरिक्त उस समय कुछ धार्मिक मसनवियाँ भी लिखी गई जिनमें रामायण की कहानी का वर्णन मिलता है।

रेख़ती

दिल्ली और लखनऊ के अमीरो और शरीफ़ो का जो सामाजिक निज़ाम था उसने सारे उत्तरी भारत को प्रभावित किया। इसके परिणाम स्वरूप स्त्री और पुरुष समाज के दो भागो में विभक्त हो गए। इस विभाजन के साथ एक परिणाम यह भी हुआ कि स्त्रियो की भाषा की अपनी कुछ विशेषताएँ हो गई। उनके मुहावरे और वहुत से शब्द अलग हो गए। **सआदत यार ख़ाँ 'रगीन'** को यह खयाल आया कि स्त्रियो की इस अलग भाषा में शायरी की जाय। इसलिए उन्होंने इसी भाषा में ग़ज़लें कही और उसका नाम 'रेखती' रखा। अपनी मस्ती, रगीनी और दिलचस्पी के कारण यह वहुत लोकप्रिय हुई। इन लोगो के वाद **मीर यार अली**, जिनका तख़ल्लुस 'जान

साहब' है, इसकी ओर ऐसा बढे कि उन्होने इसके अलावा और कुछ कहा ही नही। मुशायरो में शेर सुनाते वक्त वे कधो पर दुपट्टा डालकर स्त्रियो की तरह ऐसा मटक मटक कर पढ़ते कि लोगो को वडा मज़ा आता था। उनकी एक गजल इस प्रकार है—

कहती हूँ मैं खुदा से यह शाम और सवेरे,
जुग जुग रहें सलामत बाजी के वच्चे मेरे।
मैं खुद जली भुनी हूँ मुझ से करो न गरमी,
बस ठण्डे ठण्डे साहब तुम जाओ अपने डेरे।
बेटी हूँ सूरमा की दो चोटो मे भगा दूँ,
लश्कर अमीर खा का गर आके मुझको घेरे।
सौदा हुआ है तुझको आवारा मै नही हूँ,
गलियो में मेरी आके करते हो तुम जो फेरे।
मगल का दिन है साहब हो जायगी वह दुवली,
वच्ची को मेरी देखो मारो न तुम थपेडे।
भोली समझ न मुझ को सुनता है 'जान साहब',
ऐसी नही हूँ नन्ही जो आऊँ दम में तेरे।

स्त्री की भावना को प्रकट करने के लिए रेखती कहने वालो ने यह सिफ (रूप) वहुत अच्छी निकाली। उर्दू में स्त्रियो की भाषा और मुहावरे इतने अधिक और ऐसे है जिनका प्रयोग पुरुष नही करते। इसलिए कविता मे उनको स्थान देना बहुत अच्छा था, परन्तु वह वातावरण कुछ ऐसा था कि उसमें भी विलासिता का प्रभाव आ गया और रेखती में उच्च श्रेणी की स्त्रियो के वजाय केवल उस श्रेणी की स्त्रियो को लाया गया जो पूरी तरह वेश्या तो नही होती वरन रखैल होती है या नौकरानियो की तरह रहती हैं। इसी कारण रेखती में ऐन्द्रि-कता यानी सेक्स का भाग अधिक रहता है। उनमें ऐसे इशारे होते है जिन्हें बाजारू कह सकते है। इसी कारण रेखती की उन्नति नही हुई। यदि सही मार्ग पर इसे चलाया गया होता तो यह वहुत अच्छी चीज हो सकती थी।

मरसिया

मुहम्मद साहव के नवासे इमाम हुसैन ने सच्चाई, निकूकारी (सच्चरित्रता) और जनता की भलाई के लिए करवला के मैदान में अपना और अपने परिवार के प्राण देकर शहीद का पद प्राप्त किया। हर साल मुहर्रम में उनकी यादगार मनाई जाती है। ताजिए रखे जाते है, सभाओ में व्याख्यान दिए जाते है और कविताएँ लिखी जाती हैं। इन्ही कविताओ को अपने अपने भेद के विचार से 'मरसिया', 'सलाम' या 'नौहा' कहते है। उर्दू, फारसी और अरबी में यो तो हर मरने वाले पर जिस कविता में शोक प्रकट किया जाय उसे मरसिया कह सकते है, परन्तु प्रथा के कारण जव केवल मरसिया कहा जाय तो उसे करवला मे मरने वालो का मरसिया समझा जायगा और वास्तव में इसी ने उर्दू साहित्य में उन्नति की वडी मजिलें तै करके उच्च स्थान प्राप्त किया है।

दिल्ली में मरसिये हर रूप (फ़ार्म) में लिखे गए हैं। **सौदा, मीर, सिकन्दर, गदा, मिसकीन** और बहुत से अन्य लोग मरसिया लिखते थे जिनमें कुछ ऐसे लोग थे जो मरसिया के अलावा कुछ लिखते ही न थे। इस काल से पूर्व जो मरसिये लिखे गए वे धर्म-भावना-प्रधान होते थे, परन्तु 'सौदा' ने यह विशेष प्रयत्न किया कि मरसियो को साहित्यिक दृष्टिकोण से भी देखा जाय और उनमे भी कविता के नियमो का पालन किया जाय। दिल्ली की सामाजिक एव आर्थिक अवनति का प्रभाव वहाँ के साहित्य और काव्य पर भी पडा। आर्थिक एव राजनैतिक कठिनाइयो से तग आकर वहाँ के कवियो ने अवध की राह ली, जहाँ के नवाबो के खज़ाने कवियो और कलाकारो के लिए खुले हुए थे। एक एक कर दिल्ली के सभी प्रसिद्ध कवि अवध की रगीन शाम में पहुँच गए। लखनऊ के मरसिया कहने वालो में **छन्नूमल 'दिलगीर'** और **अफसुर्दा** प्रसिद्ध हैं। इन कवियो ने बहुत से मरसिये लिखे। 'दिलगीर' के मरसियो की चार मोटी जिल्दे नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित हुई हैं। इसी समय **मुज़फ़्फ़र हुसेन 'ज़मीर'** ने मरसियागोई में एक इन्क़लाव पैदा कर दिया और उसका एक स्वरूप निश्चित कर उसे उन्नति की ओर अग्रसर किया। पहले तो ज़मीर ने भी अफसुर्दा की तरह 'रवायतें' (धार्मिक कहानियाँ) मरसिया मे लिखी, परन्तु इसके पश्चात अपनी बुद्धि एव कल्पना के सहारे इमाम हुसैन के बेटे अली अकबर के हाल में एक मरसिया उन्होने एक नए अन्दाज़ से कहा जिसमें उन्होने उनके व्याह और नखशिख का वर्णन किया। वैसे हिन्दी में नखशिख वर्णन रहीम, जायसी और अन्य कवियो में बहुत पाया जाता है, परन्तु 'मरसिया' में इसका प्रारभ एक विशेष रचना-क्रम से 'ज़मीर' ने ही किया। उसके बाद उन्होने उनके युद्ध का चित्र भी प्राकृतिक रूप में उपस्थित किया। यह मरसिया लिखते समय ज़मीर को इस बात का ज्ञान था कि उर्दू मरसिये में वह एक नया रास्ता निकाल रहे हैं। अली अकबर के मरसिये में उन्होने आखिर में लिखा है कि जो ऐसा मरसिया कहे वह उनका शिष्य है—

जिस साल लिखे वस्फ़[1] यह हमशक्ले[2] नबी के,
सन बारह सौ उनचास थे हिज्रे नबवी के।
आगे तो यह अदाज़ सुने थे न किसी के,
अब सब यह मुकल्लिद[3] हुए इस तर्ज़े नवी[4] के।
दस में कहूँ, सौ में कहूँ यह विर्द[5] है मेरा,
जो जी कहे इस तर्ज़ में शागिर्द है मेरा।

सत्य बात तो यह है कि मरसिया को उर्दू कविता में जो उच्च स्थान प्राप्त हुआ है वह ज़मीर के दिखाए हुए मार्ग का ही परिणाम है। ज़मीर के समय में मरसिया के निम्नलिखित रूप निश्चित हो गए :—

१. **चेहरा**—यह अग्रेजी के 'प्रोलाग' से कुछ मिलता जुलता है। इसमें कवि पहले साधारण बातें लिखने के पश्चात कभी प्रकृति-चित्रण करता है, कभी पिता-पुत्र का स्नेह उपस्थित करता है और फिर करबला की ट्रेजिडी के किरदारों[6] का परिचय कराता है।

---

१. तारीफ, २. अली अकबर, ३. अनुयायी, ४. नई, ५. कहना, ६. पात्रों।

२. सरापा—इसमें कवि अपने मुख्य नायक का नखशिख वर्णन करता है।

३. रुख़सत—नायक युद्ध में जाने को उद्यत हो कर विदा होता है।

४. रजज़—युद्धस्थल पर पहुँच कर अरब लडाई से पूर्व अपना शौर्य प्रदर्शित करते थे और शत्रु को सम्मुख आने को ललकारते थे। यही मरसिया के इस भाग का विषय होता है।

५. लडाई—यहाँ तलवार, घोडे और युद्ध के दाँव-पेंच का वर्णन होता है।

६ शहादत[1]—नायक का युद्धस्थल में घायल होकर गिरना।

७ बैन—नायक की वीरगति के बाद उसके लिए शोक प्रदर्शन यहाँ होता है।

मरसिया लिखने वाले कवियो में 'ज़मीर' के साथ 'ख़लीक', 'फसीह' इत्यादि ने भी इस क्षेत्र में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। इनके बाद **अनीस, दबीर, इश्क, ताश्शुक़** और उनके साथ बीसो मरसिया लिखने वाले हुए और मरसिया ने बडी उन्नति की। एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि उर्दू गजल या मसनवी में प्रेमी-प्रेमिका या स्त्रीपुरुष के प्रेम का चित्रण होता था, परन्तु मरसिया में भाई-बहन का प्रेम, पिता-पुत्र का स्नेह, माता की ममता और स्त्री-प्रेम के बहुत ही अच्छे नमूने मिलते हे। इसके अलावा लडाई के दृश्य, सेना का एकत्रित होना, सैनिको का एक दूसरे पर घात-प्रतिघात करना, युद्ध के विभिन्न ढग या दाव-पेंच मरसिया के वर्ण्य विषय बनाए गए। साथ ही प्रकृति-चित्रण में प्रभातबेला, पक्षियो का कलरव, अरुणोदय बडे स्वाभाविक ढग से इसमें लिखे गए। इससे उर्दू कविता मे विस्तार आया और कविता के ऐसे नमूने पैदा हुए जिनको महाकाव्य से मिलता जुलता कहा जा सकता है।

इन मरसियों की एक दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि उनका वर्ण्य विषय तो मुहम्मद साहब का घराना अर्थात विदेशी है, किन्तु उनका वातावरण, स्त्रियो की बातचीत, भावनाएँ, किरदार ऐसे रखे गए हे जैसे भारतीय घरो के हो। यह भारतीय रग इसमें इतना अधिक है कि शादी इत्यादि की यहाँ की जो रस्में हे--जैसे, मडप छाना, कगना बाँधना, लगन धरना, सेहरा बाँधना आदि--उनका वर्णन सबने किया है, जिससे मरसियो को पढते समय इन पर भारतीय वातावरण छा जाता है और अरब के चरित्र बिल्कुल अपने ही जैसे मालूम होते हे।

नज़ीर अकबराबादी की कविता ने जनसाधारण के हृदय में स्थान बना लिया है। इनकी कविताएँ सडको और गलियो में पढी जाती हे। कल्पना की सूक्ष्म और नाजुक गति और शैली की जो सजावटें हमें उर्दू के मुख्य साहित्यकारो में मिलती है वह 'नज़ीर' के यहाँ नही, परन्तु 'नज़ीर' जनता के कवि हैं। वे मेलो, त्यौहारो और गलियो का चित्र खीचते है और हर वस्तु में उन्हें जगत-प्रेम और मानव-प्रेम का रग दिखाई देता है। दरबारो से उनका कोई सम्बन्ध न था। वे बच्चो को पढाते और आगरे की गलियो का तमाशा देखते फिरते थे। 'फिराक' ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है—

"नज़ीर का कलम सावन की घटा है जो सैकडो शीर्षको पर बरस जाया करती है। 'होली', 'दीवाली', 'तैराकी', 'रीछ का बच्चा', 'बचपन', 'जवानी', 'बुढापा', 'चाँदनी', 'बरसात

---

१ वीरगति प्राप्त करना।

और फिसलन', 'उमस', 'कोरा वर्तन', 'ककडी', 'तरवूज़', 'आँधी', 'जाडे की वहार', 'मौत', 'झोपडा', 'आईना', 'कलजुग', 'मुफलिसी', 'पैसा', 'रोटियाँ', 'चपाती', 'आदमी', 'कन्हैया जी का जन्म', 'महादेव जी का व्याह', 'हज़रत अली', 'गुरु नानक की वन्दना', इत्यादि विषय नज़ीर के कलम की नोक पर थे।"

वे जव तक जीवित रहे उर्दू के आलोचक उन्हें वाज़ारू कवि कहते रहे। परन्तु वीसवी सदी के लिखने वालो ने 'नज़ीर' की महानता को पहचाना है और अव उनको अठारहवी सदी के जनसाधारण के जीवन का सवसे वडा गायक माना जाता है। इनके अतिरिक्त और किसी ने इस काल में ऐसी कविताएँ नही लिखी।

गद्य

सन १८५० ई० (स० १९०७ वि०) से पूर्व उत्तरी भारत में उर्दू गद्य में वहुत थोडी पुस्तकें लिखी गई। कुछ लोगो की दिलचस्पी के कारण और कुछ दरवारो, मुशायरो और लोगो के प्रभाव के कारण कविता लिखना ही लोकप्रिय रहा। और चीजो का माध्यम फारसी गद्य था। यहाँ तक कि गालिव, जो वहुत वाद के कवि हैं तथा जिनके उर्दू पत्र इतने प्रसिद्ध हैं—वे भी सन १८५० ई० (स० १९०७ वि०) तक फारसी में ही पत्र लिखते रहे। गद्य की सवसे पहली पुस्तक फ़ज़ली की 'दहमजलिस' है जो सन १७३२ ई० (स० १७८९ वि०) में लिखी गई। यह एक फारसी पुस्तक का उर्दू अनुवाद है। इसमें करवला के युद्ध-नायक इमाम हुसैन की शहादत के सम्वन्ध के दस व्याख्यान हैं। यह पूरी पुस्तक भारत में अव नही मिलती। हाँ, इग्लैंड में है।

गद्य की दूसरी पुस्तक **मोहम्मद हुसेन अता खाँ 'तहसीन'** का 'नौ तर्ज मुरस्सा' है। यह फारसी की वहुत प्रसिद्ध कहानी 'चहार दरवेश' का उर्दू अनुवाद है। इसकी शैली वहुत कठिन और शृगारिक है। यह १७७० ई० (स० १८२७ वि०) में लिखी गई। सन १७९० ई० (स० १८४७ वि०) में शाह अब्दुल क़ादिर ने उर्दू में क़ुरान का अनुवाद किया।

उर्दू गद्य साहित्य में फोर्ट विलियम कालेज का महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ जिस प्रकार उर्दू हिन्दी की पुस्तकें सरल भाषा में लिखने का प्रवन्ध हुआ उसका सक्षिप्त विवरण इस पुस्तक के किसी भाग में मिलेगा। उर्दू के दृष्टिकोण से फोर्ट विलियम कालेज की सेवाएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

(१) इससे पूर्व उर्दू में पुस्तके कठिन भाषा में लिखी जाती थी, क्योंकि इस प्रकार इसके लेखक फारसी विद्वानो के सम्मुख अपनी योग्यता प्रदर्शित करना चाहते थे। पुस्तकें लिखने का नियम भी उन लोगो का यही था कि शैली और शव्दो पर अपना ज़ोर दूसरो को दिखाएँ। फोर्ट विलियम कालेज में कितावें अग्रेज़ो के लिए लिखी गई, इसलिए उनमें सरलता पर अधिक वल दिया गया था। इसका परिणाम यह है कि मीर अम्मन, हैदरवख्श 'हैदरी', वहादुर अली हुसैनी आदि ने उत्कृष्ट भाषा में पुस्तकें लिखी और उर्दू गद्य के आधुनिक काल के लिए रास्ता साफ़ कर दिया।

(२) यहाँ पहली वार पुस्तके लिखने का काम सगठित रूप में प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व तो इक्के-दुक्के लेखक अपने तौर पर पुस्तकें लिखते थे।

(३) इसी कालेज में सर्वप्रथम उर्दू टाइप का प्रेस स्थापित हुआ।

(४) यहाँ केवल किस्से-कहानियो की पुस्तकें ही नही लिखी गई वल्कि भूगोल, इतिहास, व्याकरण इत्यादि विषयो पर भी पुस्तके तैयार हुई। जो पुस्तकें फोर्ट विलियम कालेज में दस बारह वर्ष के अन्दर लिखी गईं, उनसे उर्दू गद्य साहित्य को वहुत प्रोत्साहन मिला। उनमें मुख्य पुस्तकें ये हैं—

	पुस्तक	लेखक
१	बाग व बहार	मीर अम्मन
२	गजे खूबी	,,
३	किस्सा महर व माह	हैदर बख्श 'हैदरी'
४	क़िस्सा लैला मजनू	,,
५	हफ्त पैकर	,,
६	तारीखेनादिरी	,,
७.	गुलज़ारे दानिश	,,
८	गुलदस्तए हैदरी	,,
९	गुलशने हिन्द	,,
१०	तोता कहानी	,,
११	आराइशे महफिल	,,
१२	बागे उर्दू	शेर अली 'अफसोस'
१३	आराइशे महफिल	,,
१४	गुल्शने हिन्द	मिर्ज़ा अली 'लुत्फ'
१५	अखलाके हिन्दी	बहादुर अली हुसैनी
१६	तारीख इसलाम	,,
१७	रिसालए गिलक्राइस्ट	,,
१८	मज़हवे इश्क (गुलवकावली)	नेहाल चन्द लाहौरी
१९	शकुन्तला	काज़िम अली जवान
२०	दीवाने जहाँ	बेनी नारायण 'जहाँ'
२१	तम्बीहुल गाफलीन	,,
२२	चार गुलशन	,,
२३	हिदायत उसलाम	अमानत उल्ला शैदा
२४	कुरान (उर्दू अनुवाद)	,,
२५	सिंहासन वत्तीसी	लल्लू लाल
२६	अखवानु सफा	इकराम अली
२७	दास्ताने अमीर हमज़ा	खलील अली खा अश्क
२८	कायेनात	,,

	पुस्तक	लेखक
२९	कसस मशरिक़	जान गिलक्राइस्ट
३०	उर्दू कवायद	"

कालेज से वाहर के लेखको में सैयद इशा अल्ला खाँ का नाम वहुत महत्वपूर्ण है। कवि की हैसियत से तो वे महत्वपूर्ण है ही, लेकिन उर्दू लेखक भी वे ऊँचे दर्जे के है। उन्होने 'रानी केतकी की कहानी' एक ऐसी पुस्तक लिखी जिसमें अरवी-फ़ारसी के एक भी शव्द का प्रयोग नही किया गया। साथ ही यह भी दिखाया गया कि इस भाषा में इतने शव्द है कि फारसी-अरवी की सहायता के विना भी काम चलाया जा सकता है। 'रानी केतकी की कहानी' के अतिरिक्त उनकी एक पुस्तक 'सिल्के गोहर' भी है। यह पूरी कहानी उन्होने इस सावधानी से लिखी है कि एक भी नुक्तेदार अक्षर का प्रयोग नही हुआ है।

इसके वाद के प्रसिद्ध लेखक रजव अली वेग 'सुरूर' है जिनकी 'फसानएअजायव' अपनी शैली के लिए वहुत प्रसिद्ध है। सुरूर ने सात पुस्तकें लिखी है परन्तु 'फसानएअजायव' के कारण ही वे जीवित है। सवाल जवाव का ज़ोर तो उर्दू कविता में वहुत रहा, भला उर्दू गद्य पर इसका प्रभाव कैसे न पडता ? 'फसानएअजायव' की भूमिका में 'सुरूर' ने दिल्ली के मीर अम्मन पर चोट कर दी जिसके जवाव में दिल्ली के फखरउद्दीन 'सुखन' ने 'सरोशेसुखन' लिखी और फिर इसका जवाव लखनऊ के जाफर अली 'शेवन' ने 'तिलिस्मेहैरत' के नाम से लिखा।

साहित्यिक पुस्तको में दो पुस्तकें महत्वपूर्ण है एक सर सैयद की किताव 'आसारुस्सनादीद' जिसमें दिल्ली की इमारतो और कवियो आदि का वर्णन है और दूसरी 'तवक़ातेशुआराए हिन्द', जिसको फेलन और करीमउद्दीन ने मिलकर लिखा। यह पुस्तक एक प्रकार से उर्दू साहित्य का इतिहास है, जिसको उर्दू कवियों के तज़किरो से कुछ अलग करके लिखा गया है। इसमें पाँच फारसी के, उन्तालीस व्रजभापा के और नौ सौ वीस उर्दू लेखको और कवियो का विवरण है।

दिल्ली और लखनऊ के दरवार तो उर्दू कवियो के स्वरो से गूंज रहे थे। फिर भी राज्यभापा फारसी थी और सरकारी काग़ज़ फ़ारसी में ही लिखे जाते थे। परन्तु सव लोग उर्दू वोलते थे। इसलिए अग्रेज़ो ने सच्चा दृष्टिकोण अपनाया और सन १८३५ (स० १८९२ वि०) से ईस्ट इडिया कम्पनी की कचहरियो की भापा उर्दू हो गई। उर्दू का प्रथम समाचार पत्र तो सन १८२२ (स० १८७९ वि०) में 'जामेजहाँनुमा' के नाम से कलकत्ते से निकल चुका था। अव दिल्ली ने भी समाचार पत्र निकलने लगे। दीवानी, फ़ौजदारी और मालगुज़ारी के क़ानूनो का अनुवाद उर्दू में हो गया। स्कूलो में पढाई का माध्यम भी उर्दू हो गया। दिल्ली, लखनऊ और हैदरावाद में वैज्ञानिक पुस्तकें भी लिखी जाने लगी। हैदरावाद के नवाव फखरउद्दीन खाँ वडे विद्या प्रेमी थे। उन्होने अपने आस पास ऐसे लोगो को एकत्र किया, जिन्होने फ्रेंच और अग्रेजी भापा से पुस्तको का अनुवाद किया। सन १८३६ से १८४७ ई० (स० १८९३–१९०४ वि०) के वीच के काल में यहां से इस प्रकार की चौदह पन्द्रह पुस्तकें प्रकाशित हुई।

लखनऊ के नवाव ग़ाज़ीउद्दीन हैदर का भी ध्यान उर्दू में वैज्ञानिक पुस्तकें लिखवाने की ओर गया। उन्होने एक वेधशाला भी वनवाई और सैयद कमालुद्दीन हैदर को इसका निरीक्षक

नियुक्त किया। इन्ही के कारण सन १८४१ (स० १८९८ वि०) के लगभग बादशाह के प्रेस से उन्नीस वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

दिल्ली कालेज तो १७९२ ई० (स० १८४९ वि०) से था, परन्तु १८३५ ई० (स० १८९२ वि०) के पश्चात यहां भी उर्दू में पुस्तकें तैयार करवाने का प्रयत्न हुआ, लार्ड आकलैंड ने इस सम्बन्ध में गहरी दिलचस्पी दिखाई। १८४१ ई० (स० १८९८ वि०) मे एक समिति बना दी गई। इसने अनुवादको और लेखको को चुन चुन कर काम बाँट दिया। सन १८४५ ई० (स० १९०२ वि०) में जब डा० स्प्रिगर लार्ड आकलैंड की जगह आए तो उन्होने और अधिक उत्साह दिखाया और इस काम में बडी उन्नति हुई। यहाँ से जो पुस्तके उर्दू में सन १८५० (स० १९०७ वि०) से पहले छप चुकी थी उनकी सख्या चालीस से ऊपर है। इनमें वैज्ञानिक पुस्तको के अतिरिक्त कुछ अग्रेजी नाटको के अनुवाद भी है।

उर्दू का पहला शब्दकोश **फरगुसन** ने लिखा था, जो सन १७७३ ई० (स० १८३० वि०) में लदन से प्रकाशित हुआ। फिर जनरल **विलियम किर्क पैट्रिक** ने तीन भागो में एक और शब्दकोश लिखना आरम्भ किया। इसका पहला भाग लदन में १७८५ ई० (स० १८४२ वि०) में प्रकाशित हुआ। फिर जब वह भारत आए तो उनको मालूम हुआ कि डा० जान गिलक्राइस्ट भी वही काम करा रहे है। पहले उन्होने डा० गिलक्राइस्ट से मिल कर बाकी काम करने को सोचा, परन्तु उन्हें यह काम छोडकर जाना पडा। इसलिए **डा० जान गिलक्राइस्ट** इसे अकेले ही करते रहे और सन १७९८ ई० (स० १८५५ वि०) में इसका एक भाग 'अग्रेजी हिन्दुस्तानी डिक्शनरी' के नाम से प्रकाशित किया। वे इसका दूसरा भाग 'हिन्दुस्तानी अग्रेजी डिक्शनरी' भी लिखना चाहते थे, परन्तु उसका आर्थिक प्रबध न हो सका। **मेजर डेविड रिचर्ड्स** ने भी एक शब्दकोश तैयार किया, पर वह भी छपते छपते रह गया। फिर सन १८०८ ई० (स० १८६५ वि०) में **डा० टेलर** ने 'हिन्दुस्तानी अग्रेजी शब्दकोश' प्रकाशित किया। **डा० विलियम हटर** ने फोर्ट विलियम कालेज के लेखको की सहायता से उसे पुन सशोधित रूप में प्रकाशित किया। इसके पश्चात सन १८१७ ई० (स० १८७४ वि०) में **जान शेक्सपियर** ने एक उर्दू शब्दकोश छापा और डकन **फॉर्ब्स** ने १८४७ ई० (स० १९०४ वि०) में अपना कोश प्रकाशित किया। लखनऊ के बादशाह **गाजी-उद्दीन हैदर** ने भी एक शब्दकोश लिखा।

इस प्रकार उर्दू भाषा, जो पद्य में बहुत बडी साहित्यिक पूंजी एकत्र किए थी, गद्य में भी मालामाल हाने लगी और भाषा से साहित्य के रूप में आ गई। इसको इस पद पर आसीन होने में अग्रेजो से बडी सहायता मिली, क्योंकि ईस्ट इडिया कम्पनी के अफसरो को अपने व्यवहार के लिए उर्दू पढना जरूरी मालूम हुआ। इसी आवश्यकता से उन्होने पुस्तकें लिखाने का प्रबन्ध किया। इन पुस्तको का प्रभाव देश भर पर पडा और जैसे जैसे दिल्ली, लखनऊ का शासन कमजोर पडता गया और अग्रेजो के पजे आगे फैलते गए, फारसी की जगह उर्दू लेती गई।

१७. पंजाबी साहित्य

पृष्ठभूमि

किसी देश का साहित्य उस प्रदेश की सास्कृतिक और जातीय परपरा का परिचायक होत है। पजाव वह भूमि है जहाँ भारतीय आर्य सस्कृति का अरुणोदय हुआ और जहाँ अधिकाश वैदिक साहित्य लिखा और सपादित किया गया। यह वेदभूमि है, यही ध्रुव की तपोभूमि है लाहौर और कसूर आज भी लव और कुश की स्मृति को वनाए हुए है। महाभारतकाल में पजाव राजनीति और धर्म का केन्द्र रहा है। कटाक्षराज (जिला झेलम) वह जगह है जहा सरोवर में यक्ष के प्रश्नो का उत्तर दिए विना चार पाडव मृत्यु को प्राप्त हुए और फिर युधिष्ठिर के प्रयत्न से पुनर्जीवित हुए थे। कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा ही गया है। तक्षशिला वौद्धकाल मे शिक्ष और सस्कृति का वहुत वडा केन्द्र था। महायान का प्रचार यही से गाधार, तिव्वत, चीन और जापान तक हुआ। गोरखनाथ, जालधरनाथ, वालानाथ आदि कनफटे जोगियो की यही कर्मभूमि रही है। इस्लाम का प्रचार भी भारत के इस खड में पहले पहल हुआ। धार्मिक लहरो के थपेडो ने पजावियो को उदार और सहिष्णु वना दिया है। पजाव की सस्कृति वीसियो सस्कृतियो का सम्मिश्रण है।

पजाव की धरती पर जितनी राजनीतिक क्रातियाँ हुई है, सम्भवत उतनी अन्यत्र नहीं हुई। आर्यों और द्रविडो—अथवा यहाँ के आदिवासियो—का सघर्ष आरभ में इसी धरती पर हुआ। ईरानी और पारसी (दारा और जरक्षीस के राज्यकाल में) यूनानी (सिकदर और सिल्यूकस के साथ साथ), वाक्तरी और पार्थी (मिलिन्द और मिथ्रादत्त के समय मे), यूची (कुशान आदि), चीनी, असीरी, हूण (तोरमाण और मिहिरकुल की विजयो के साथ), शक, गुर्जर, साही जाट, अरव (मुहम्मद विन कासिम की सिंध विजय के वाद) से अफगान (महमूद गजनवी और उसके वशजो के राज्यकाल में) मगोल (चगेजखा और उसके उत्तराधिकारियो के सकेत से एव तैमूर और वावर के साथ), तूरानी और तुर्क और अनेक दूसरे लोग यहाँ आए और वस गए। पजावी के शारीरिक, मानसिक, नैतिक और धार्मिक गठन में इन सवका थोडा वहुत हाथ है।

पजावी भाषा का उदय अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समानान्तर १०वीं ११वी शताव्दी ई० से माना जा सकता है। तव से पजाव प्रदेश पर क्रमश गजनवी वश (सन् १०२२–११८६ ई० = स० १०७९–१२४३ वि०) तुर्की और पठान सुलतान (११८६–१५२६ ई० = स० १२४३–१५८३ वि०) मुगलवश (१५२६–१५४० ई० = स० १५८३–१५९७ वि०) सूर वश (१५४०–१५५५ ई० = स० १५९७–१६१२ वि०) पुन मुगलवश (१५५६–१७८९ ई० स० १६१३–१८४६ वि०) और सिख (१७९९–१८४९ ई० = स० १८५६–

१९०६ वि०) का राज्य रहा है। अंग्रेजी राज्य की स्थापना (१८४९ ई० = स० १९०६ वि०) से पहले इस काल में—अर्थात १०२२ से १८४९ ई० (= स० १०७९–१९०६ वि०) तक पजाब पर बीसियो आक्रमण बाहर से हुए, बीसियो ही गृहयुद्ध हुए, अनेक राज्य-क्रांतियाँ हुईं। इन परिस्थितियो ने पजाब निवासी को परिश्रमी, सघर्षशील, लडाका और रणवीर बना दिया है। मृत्यु और नाश से खेलते खेलते वह निर्भीक, पर धर्मभीरु हो गया है। आशा और निराशा के बीच में वह आस्तिक तो बना रहा है, पर देवी-देवताओ की मूर्तियो पर प्राय उसका विश्वास नही है, क्योकि देवी-देवता उसके घर-द्वार की रक्षा करने में समर्थ नही रहे।

शत्रु और परिस्थिति से जूझते रहने के कारण अथवा राज्य और अधिकार के लिए लडने वाले दलो के बीच में घुटते पिसते रहने के कारण पजाबी को साहित्य, कला और दर्शन की सूक्ष्म और गम्भीर चर्चाओ का अवसर ही कम मिल पाया। चम्बा और कागडा की दूरस्थ घाटियो में चित्रकला भले ही सुरक्षित रह गई, पर मैदानो में मूर्तिकला, वास्तुकला अथवा साहित्य और धर्म के जो केन्द्र थे, वे कई बार बने और कई बार विध्वस्त हुए। पजाब की सास्कृतिक चेतना प्राय कुठित रही है।

जिस प्रदेश को हम पजाब नाम से जानते है, इसको इतिहास में प्रथम बार राजनीतिक एकता १८४९ ई० (स० १९०६ वि०) के बाद ही प्राप्त हुई है। इससे पहले इसकी स्थिति बडी विचित्र रही है। सिंध पतन के बाद इसका बहुत सा दक्षिण-पश्चिमी भाग तीन शताब्दियो तक अरब राज्य में सम्मिलित रहा। उत्तरी पजाब साही राजपूतो के समय मे काबुल तक फैला हुआ था और गजनी बादशाहो के राज्यकाल में यही भाग गजनी के एक प्रान्त के रूप मे था। इस बीच मे पजाब का कुछ भाग कश्मीर से भी सलग्न रहा। पजाब का पूर्वी भाग दिल्ली के राजपूत राजाओ के अधीन था। मुगलो के समय में पजाब को एकता तो मिली, लेकिन यह प्रान्त कभी दिल्ली से और कभी काबुल से मिला दिया जाता रहा। कभी इसमें एक शासन-प्रबध रहा और कभी इसके अनेक टुकडे कर दिए गए।

इन कारणो से पजाबी पर सिंधी, पश्तो, कश्मीरी और हिन्दी के प्रभाव भी पडे। ऐतिहासिक खोज से प्रमाणित होता है कि पजाबी को आसपास की भाषाएँ भीचती रही हैं और इनमें दिल्ली, आगरा के दीर्घकालीन प्रभाव के कारण हिन्दी ने इसे पश्चिम की ओर कोसो दूर ढकेल दिया है। पजाब की भौगोलिक स्थिति भी अनेकरूप है। एक ओर तो शिमला, डलहौजी, कागडा, चम्बा और मरी की पहाडियाँ है जो घने घने वनो से आच्छादित है, दूसरी ओर मुलतान और बहावलपुर की मरुभूमि है। नदी-नाले इतने अधिक है कि एक जाल सा बिछा है। इन कारणो से पजाब में भाषा-भूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज की एकरूपता आज दिन तक नही बन पाई।

पंजाबी साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

विचाराधीन इस काल (अर्थात १८५० ई० = १९०७वि० तक) की अनेक परिस्थितियो के रहते हुए भी पजाबी में जो साहित्य उपलब्ध है, वह किसी दृष्टि से भी हीन नही है। इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ ये है—

१ पजाबी साहित्य का आरम्भ सूफी काव्य से होता है।

२ सफी काव्य मे मुक्तको की प्रधानता है और इन कविताओ का रहस्यवादी पक्ष स्पष्ट और प्रत्यक्ष है।

३ वाद मे फारसी साहित्य के प्रभाव से सूफियो ने अपनी रहस्य भावनाओ को हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल, मिरजा-साहिबाँ, सस्सी-पुन्नू, शीरी-फरहाद, युसुफ-जुलेखा आदि प्रेमियो के कथारूपो (किस्सो) मे व्यक्त किया। लेकिन इन प्रेम-प्रसगो में लौकिक पक्ष और कथा का अश इतना प्रवल है कि सूफीवाद स्पष्ट होकर नही आ पाया। ये किस्से सवसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं।

४ हिन्दी के प्रेमाख्यानो की परपरा प्राकृत और अपभ्रश से तथा पजाबी के किस्सो की फारसी से आई है। हिन्दी के सूफी आख्यानो मे एकरूपता और एकरसता अधिक है, पजाबी किस्सो के कथानक वहुविध और अधिक सजीव हैं।

५ मुक्तक सूफी काव्य केवल मुसलमान कवियो का लिखा हुआ है। प्रबध काव्यकारो मे कुछ एक हिन्दुओ के नाम भी आते है। अधिकाश सूफी प्रबध-कवियो ने अपने को फकीर कहा है। हिन्दू कवियो ने मात्र लौकिक प्रेमगाथाएँ गाई है।

६ सूफी काव्य के रूप प्राय फारसी, अरबी से उद्धृत है, जैसे काफी, सीहर्फी, वैत, गजल, रुबाई, नसीहतनामा, मालनामा, मसनवी आदि। देशी छदो का प्रयोग कम हुआ है।

७ मुसलमानो के आगमन के पश्चात पजाव की भूमि सगुण उपासना के अनुकूल न रह गई थी। पजावी साहित्य मे सगुण भक्ति-काव्य की धारा अत्यत क्षीण है। राम और कृष्ण सवधी काव्य-रचना हुई तो अवश्य, पर उसका कोई साहित्यिक मूल्य नही है।

८ इस काल की सवसे प्रवल धारा गुरु नानक और उनके परवर्ती सिख मतो की गुरु-मत धारा है जिसमे 'नाम सिमरन' पर अधिक वल दिया गया है।

९ गुरुमत काव्य मे साहित्य और सगीत का निरन्तर मेल रहा है—राग-रागिनियो और साहित्य का भाव सामजस्यपूर्ण ढग से जोडा गया है। किस राग मे कौन कौन मे भाव अभि-व्यक्त हुए हैं, यह गवेषणीय विषय है।

१० गुरुमत काव्य मे प्राय छद लोकगीतो से लिए हुए जान पडते है, जैसे बोल, टप्पा, वार, तिथि, झूलना, दखने, सद्द, वेण, घोडी, सोहिला इत्यादि।

११ हिन्दी के छदो मे कवित्त, दोहा या दोहरा, सोरठा, सवैया आदि भी प्रयुक्त हुए है।

१२ छदों की दृष्टि से गुरुमत काव्य और रूपको की दृष्टि से सूफी काव्य वहुत समृद्ध है।

१३ पजावी का वीरकाव्य परिमाण में राजस्थानी काव्य से कम नही है। इसमे प्रक्षेप भी कम है। सच तो यह है कि राजस्थानी के चारण काव्य में शृगार रस ही की प्रधानता है। पजावी का वीर रस प्राय शुद्ध और परिपक्व है। जितने 'जगनामे' और 'वार' पजावी में हैं, सभवत भारत की किसी भी भाषा में नही हैं।

१४ सन १८५० ई० (=स० १९०७ वि०) से पहले का पजाबी गद्य भी परिमाण और वैविध्य की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। याद रहे कि इस समय तक पजाब की राजभाषा

और शिक्षा तथा सास्कृतिक केन्द्रो की भाषा बराबर फारसी रही है। महाराज रणजीतसिंह के राज्यकाल में भी पजाबी को प्रोत्साहन प्राप्त नही हुआ।

१५ प्राय मुसलमानो और हिन्दुओ द्वारा रचित साहित्य फारसी लिपि में और सिख महात्माओ द्वारा गुरुमुखी लिपि में मिलता है, नागरी लिपि मे वहुत कम साहित्य उपलब्ध है।

सूफी साहित्य

मुसलमान ८वी शती से ही दक्षिण-पश्चिम प्रदेश मे फैल गए थे। मुसलमानो के आने से धर्म और साहित्य के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अरव विजेता धर्म-प्रचारक थे। उनके साथ अरव, ईराक और इरान से बडे वडे सूफी विद्वान आए। गुल मुहम्मद चिश्ती शेरवी लिखित 'हदीकतुल इसरार फी अखवार उल इवरार' मे एसे विद्वानो की विस्तृत सूची दी गई है। उनमें अनेक सिद्धहस्त लेखक और व्याख्याता थे। पजाव में कसूर (जिला लाहौर), लाहौर, पाकपटन (जिला माटगुमरी), मुलतान आदि नगरो में उनके सस्थान थे। इन लोगो ने अरवी-फारसी और पश्चिमी पजावी में अनेक धार्मिक और नीति सवधी पुस्तकें लिखी, कुरआन और हदीस, गुलिस्ता और वोस्ता के अनुवाद किए तथा छोटे-छोटे रिसाले पजावी भाषा में लिखे। पजाव की राजनीतिक अवस्था कुछ ऐसी रही है कि इनमें से अधिकतर की साहित्यिक कृतियाँ लुप्त हो गई है।

पजावी के प्रथम ज्ञात कवि **वावा फरीद शकरगज** (११७३–१२६५ ई० = स० १२३०-१३२२ वि०) हैं। 'गुरु ग्रथ साहव' में फरीद के नाम से जो वाणी सगृहीत है, वह एक ही फरीद की नही है। एक दूसरे फरीद गुरु नानक के समकालीन और फरीद प्रथम की शिष्य परपरा मे १२वी पीढी में हुए थे। अधिकाश वाणी इन्ही फरीद द्वितीय की मिलती है। भाषा के अन्तर से हम दोनो को अलग अलग कर सकते है। फरीद प्रथम (शकरगज) की वाणी मे पश्चिमी पजावी (लहदी) ठेठ है, अलवत्ता फारसी शब्दो का प्रयोग उनकी विद्वत्ता के कारण हुआ है। फरीद द्वितीय की वाणी मे तत्कालीन लाहौर की भाषा का प्रभाव अधिक है और फारसी शव्द कम है।

वावा फरीद रहस्यवादी, निराशावादी और आदर्शवादी कवि है। कुरआन, शरअ, नमाज, रोजा, जकात, नरक, स्वर्ग आदि में उनका पक्का विश्वास है। इस पर भी वे धर्म के बाहरी रूप को महत्व नही देते। हज (तीर्थ) करने का कोई लाभ नही, अन्तर के विशाल सागर में माणिक मोती मिलते है, डुवकी लगाने वाला साधक होना चाहिए। पदार्थिक लाभ से आन्तरिक लाभ नही होता। इच्छाएँ कम हो, आकाक्षाएँ मिट जाएँ, अन्तर स्वच्छ हो जाए—इस प्रकार अहकार खो देने से ही वियोग का अन्त सम्भव है।

कवित्व की दृष्टि से **लुत्फअली** कृत 'सैफलमलूक' वडी सुन्दर कृति है। इसमे इतनी अधिक सवेदना और मनोहरता है कि, कहते है, जो कोई इसे एक वार पढ लेता है वह उन्मत्त और वीतराग हो जाता है। अभी इस ग्रथ का सम्पादन-प्रकाशन नही हुआ। परवर्ती सूफियो पर इसका वहुत अधिक प्रभाव रहा है।

फरीद द्वितीय (१४५०–१५७५ ई०=स० १५०७–१६३२ वि०) का असली नाम दीवान इब्राहीम साहिब किबरा था। ये भी अपने पीर की तरह इस्लामी शरअ के पाबद थे। वैराग्य की भावना इनमें अधिक प्रबल दिखाई देती है। इनका विचार है कि मनुष्य का ससार में आना ही एक बुराई है। वे मृत्यु का डर सामने लाकर जीव को चेतावनी देते हैं। कब्रिस्तान में खोपडियो और पजरो को देखकर उन्हे और अधिक विरक्ति होती है। यह रूप, यह यौवन, यह वैभव, यह बल और तेज सब मिट्टी मे मिल जाता है। वह सुन्दरी, जिसके नयन काजल की रेख को भी सहन नही कर सके, आज मनो मिट्टी के नीचे दबी पडी है। दुनिया माया-छाया है—राग-रग, आनन्द-विलास सब मृगतृष्णा है। इन भयो और प्रलोभनो से बचने के लिए भगवान का नाम जपना चाहिए। सब हृदयो मे परमात्मा है, इसलिए किसी का हृदय दुखाने से परमात्मा दुखी होता है।

कही कही प्रकृति-चित्रण भी मिलता है। जीव-जन्तुओ और पक्षियो से उन्हे प्यार है, इनकी आत्मा में उन्हें किसी छिपे प्रकाश की ज्योति मिलती है। फरीद की भाषा सादी और मधुर है, रूपक घरेलू वातावरण से लिए गए है। छद अवश्य शिथिल है। कविता सहज और स्वाभाविक है। कवि का अपना कहना है कि साधक 'अकथ नूर' के प्रभाव से नाच उठता है और नाच बिना सगीत के अधूरा है, अत सगीत के रूप मे कविता स्वय फूट पडती है।

इस्लाम की शरअ से विद्रोह करने वाला पहला पजाबी सूफी **शाह हुसेन लौहारी** (सन १५३८-९९ ई०=स० १५९५-१६५६वि०) था। अद्वैतवाद, पुनर्जन्म और भक्ति में उसका विश्वास है। वह परमात्मा को राझा और अपने को 'राझे जोगी दी जुगियाणी' कहता है। प्रेम, विरह और वैराग्य के गीत शाह हुसैन के प्रसिद्ध है। उसका काव्य रूप 'काफी' है। भाषा सरल, मधुर और प्रभावोत्पादक है जिसमे मुहावरो का प्रचुर प्रयोग मिलता है। भाव गम्भीर और कवित्वपूर्ण है। रूपक घरेलू और ग्रामीण जीवन से लिए गए है।

शाह हुसैन से भी अधिक साहसपूर्वक शरअ की दीवारे तोडने वाला **सुलतान बाहू** (सन १६२९–१६९० ई०=स० १६८६–१७४७ वि०) हुआ है। वह कहता है, 'न मै हिन्दू, न मुसलमान, मै साईं दा फकीर' हूँ। उसने 'सीहर्फियाँ' लिखी है। इसमे प्रत्येक फारसी अक्षर से आरम्भ करके ४–८ पक्तियो का पद है और इसकी प्रत्येक पक्ति के अत मे 'हू' आता है। यह 'हू' कवि के नाम का अन्तिम अक्षर हो सकता है अथवा 'हू' की ध्वनि जो ध्यान की चरमावस्था में साधक को सुनाई देने लगती है, उसका सकेत है। बाहू ने अहकार के त्याग, मुर्शिद (गुरु) की सहायता, अन्तर्निरीक्षण और आत्मचिन्तन पर बल दिया है और उस दुनिया मे रहना चाहा है जहाँ 'मैं' और 'मेरे' का बखेडा नहीं है।

शाह शरफ (सन १७२४ ई०=स० १७८१ वि०) की काफियाँ अधिक आध्यात्मिक है। इन्होने तप और सयम द्वारा आत्मोत्सर्ग पर जोर दिया है। साधक को उसी प्रकार 'आपा' मारना चाहिए जैसे भट्ठी मे लोहा तपकर गलता है, फिर घन की चोटें सहता है अथवा जैसे तिल पेला जाकर तेल का रूप ग्रहण करता है। इनकी बोली केन्द्रीय पजाबी है, जिसमें लहदी का सम्मिश्रण है।

पजाबी सूफी साहित्य के प्रसिद्धतम कवि **बुल्लेशाह कसूरी** (१६८०-१७५२ ई०=म० १७३७-१९०९ वि०) हुए है। इन्होने काफियाँ, गढ़ाँ, अठवारा, सीहर्फी, वारहमाँह और दोहडे लिखे हैं। इनका विचार है कि रब (परमात्मा) को पाने का सहज मार्ग 'इश्क' है। उस तक पहुँचने के लिए मुरशिद की कृपा और अपना भाग्य होना चाहिए। सूफी को चाहिए कि ससार से निर्लिप्त रह कर मन और इन्द्रियो का दमन करे। दिल का शीशा साफ होगा, तो महबूब (प्रेमी) के दर्शन होगे। प्रत्येक वस्तु हमें रब की याद कराने वाली किताव है, उसका रूप दिखाने वाली मूर्ति है। सोच-विचार सूफी के लिए बहुत आवश्यक है, विशेपतया मृत्यु के बाद ईश्वरी प्रेम दोजख (नरक) और बहिश्त (स्वर्ग) से परे ले जाता है, जहाँ प्रेमी शरअ के वधनो से मुक्त हो जाता है। आशिक (प्रेमी) को पोथियाँ पढने की अपेक्षा नही रहती। अलिफ अल्लाह से काम बन जाता है, बे तक पहुँचने की नौवत ही नही आती। जो अधिक पढता है उसके मन में सदेह उठते हैं, श्रद्धा नही रह जाती। बुल्लेशाह ने साधक को हीर और रब को राझा कहा है। बुल्लेशाह की कविता की सब से बडी विशेषता है उसकी भाषा का ओज और प्रभाव।

अली हैदर (१६९०-१७८५ ई०=स० १७४७-१८४२ वि०) ने सीहर्फियाँ और काफियाँ लिखी है। ये रागी कवि है, पर इनकी कविता अधिक विद्वत्तापूर्ण होने के कारण बहुत प्रभावोत्पादक नही है। कही-कही भाषा भी दुरूह है।

इसी समय का एक और सूफी कवि है **वजीद**। उसकी कविता में धार्मिकता के साथ हास्य और व्यग भी है। वह कहता है कि भगवान अपने भक्तो को दुख देता है। पापी को तो सिरपीडा तक नही होती, पडित-पीर फटे हाल मारे मारे फिरते है, मूर्ख हाथी-घोडो की सवारी करते सुख भोगते है। वाह रे भगवान और वाह रे तेरी लीला! वजीद ने समता और हिन्दू-मुसलमानो की अभिन्नता पर जोर दिया है।

फरद फकीर (१७२०-९० ई०=स० १७७७-१८४७ वि०) पर भी हिन्दू विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव है। कर्मफल और पुनर्जन्म में उसका पूर्ण विश्वास है। 'कसाबनामा' (१७-५१ ई०=म० १८०८ वि०) उसकी प्रसिद्ध कृति है। उसने मीहर्फियाँ और वारहमाँह भी लिखे है, परन्तु इनमे न तो बुल्लेशाह का सा भाव-गाम्भीर्य है और न ही अली हैदर का सा सगीत।

परवर्ती सूफी कवियो में **गुलाम जीलानी** (१७४९-१८१९ ई०=स० १८०६-१८-७६ वि०), **हाशम** (१७५३-१८२३ ई०=स० १८१०-१८८० वि०), **बहादुर** (१७५०-१८५० ई०=स० १८०७-१९०७ वि०), **करमअली शाह, अशरफ, करीमबख्श, खुलदी, महरम शाह, गौहर साँई, फाजल बख्श, जाना** आदि प्रसिद्ध है, पर इनमें अधिकतर की रचनाएँ नही मिलती। हाशम के दोहडे गम्भीरता और मार्मिकता में बुल्लेशाह के समकक्ष है। गुलाम जीलानी के चौवरगे (चौपदे), करीमबख्श का वारहमाँह, हाशम की रुबाइयाँ, वहादुर के दोहडे, महरमशाह की 'सीहर्फी' उल्लेखनीय हैं।

गुरुमत काव्य

पजाब में मत मत के प्रमुख प्रवर्त्तक **गुरुनानक** (१४६९-१५३९ ई०=स० १५२६-

१५९६ वि०) थे। उन्ही की परपरा में नौ और सिक्ख गुरु हुए है। गुरुओ की वाणी 'आदि ग्रथ' में और दसवें गुरु की 'दशमग्रथ' मे सगृहीत है। 'आदिग्रथ' का सकलन पाँचवें गुरु, अर्जुन-देव (१५६१-१६०६ ई०=स० १६१८-१६६३ वि०) ने किया। उन्होने प्रथम चार गुरुओ की वाणियाँ वडी खोज और साधना से इकट्ठी की, उनका यथाक्रम सम्पादन किया और उनके साथ अपनी वाणी भी जोड दी । 'आदि ग्रथ' में सवसे अधिक पद गुरु अर्जुनदेव के ही है। मुद्रित प्रति (वोड) मे नवें गुरु तेग वहादुर के १९६ पद और गुरु गोविंदसिंह का एक पद वाद मे सम्मिलित किया गया है। इनके अतिरिक्त फरीद, कवीर, नामदेव, रविदास, जयदेव, वेणी, त्रिलोचन, रामानन्द सेन, धन्ना, भीखन, सूरदास आदि सोलह भक्तो की वाणियाँ भी 'आदि ग्रथ' में सकलित है। सिक्ख गुरुओ की कृतियो को 'गुरुवाणी' और सतो की कृतियो को 'भगतवाणी' कहा जाता है। सिक्ख गुरु सभी अपने पदो के अत में 'नानक' नाम लिखते है, अत उनकी वाणी के साथ क्रमश मुहल्ला १, मुहल्ला ३, मुहल्ला ४, मुहल्ला ५, और मुहल्ला ९ का सकेत रहता है। भगतवाणी में प्रत्येक भगत का अपना अपना नाम आता है। भक्तो की वाणी में पजावी प्राय नही पाई जाती। सिक्ख गुरुओ के पद भी सभी पजावी के नही है—कुछ तो तत्कालीन हिन्दी में लिखे गए है, अधिकतर की भाषा सधुक्कडी, मिली-जुली पजावी है।

'आदिग्रथ' में गुरु नानक की वाणी सवसे अधिक महत्वपूर्ण है। इनकी रचना कला और भाव दोनो दृष्टियो से अत्यन्त सुन्दर है। भाषा और अभिव्यक्ति सयत और स्पष्ट है। रूपक जाने-पहचाने, जीवन से उद्धृत किए गए है। इन्होने काव्य और सगीत का अद्भुत सामजस्य उप-स्थित किया है। भाव को राग के अनुरूप और राग को भाव के अनुरूप रखा है । छदो के प्रयोगो में विविधता है। इनकी शिक्षा का उच्चतम स्वर है 'सिमरन' (हरिनाम श्री वाहिगुरु का जाप), जिसका अधिकार स्त्री-पुरुष, राजा-रक, शूद्र-ब्राह्मण सव को है। गुरु नानक का कथन है कि नाम वह सावुन है जो ८४ लाख जन्मो के पापो को धो देता है। जिस प्रकार 'तिरिया' अपने पुरुष का स्मरण करती है, उसी प्रकार सिख (शिष्य—साधक) अपने परम प्रियतम का स्मरण करे। गुरु नानक ने चरित्र वल और सुकर्म के साथ गृहस्थ जीवन की महिमा प्रतिष्ठित की है। मनुष्य-जीवन दुर्लभ है, साधना, अभ्यास और सकल्प द्वारा उसे निरन्तर उच्चतर वनाते रहना चाहिए। साधु-वेश धारण करने अथवा जगल में डेरा जमा लेने से भगवान नही मिल जाता। अन्तर मे प्रभु की प्रीति और विषयो के प्रति विरक्ति होनी चाहिए। सेवा से चरित्र शुद्ध होता है और 'नाम सिमरन' से मन।

आदि ग्रन्थ में गुरु नानक की रचनाओ में सर्व प्रसिद्ध 'जपुजी' है। इसके अतिरिक्त 'आसा दी वार', 'सोहिला', और 'रहिदास' नाम की रचनाएँ प्रमुखत गुरु नानक की है। फुटकर पदो की सख्या ५०० के लगभग है।

परवर्ती सिक्ख गुरुओ ने गुरु नानक के भावो की प्राय अनुकृति और व्याख्या की है। गुरु अगद और गुरु अमरदास की वाणियो में विशेष नवीनता नही है। गुरु रामदास (१५३४-८१ ई०=स० १५९१-१६३८ वि०) की रचना में काव्य गुण अधिक है। गुरु अर्जुनदेव की वाणी में ज्ञान और विचार की प्रधानता है। इनकी भाषा सस्कृत-गर्भित और गम्भीर है। 'आदिग्रथ' में सवसे अधिक पद (१००० से कुछ ऊपर) इन्ही के हैं। 'सुखमनी' इनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है।

गुरु गोविंदसिंह (१६६६-१७०८ ई०=स० १७२३-१७६५ वि०) बडे विद्वान और वीर लेखक थे। उनकी कृतियो का सग्रह 'दशमग्रथ' नाम से सकलित है। इसके अन्तर्गत ११ रचनाएँ है, परन्तु 'जाप', 'अकालउस्तुत', 'विचित्तर नाटक', 'शस्त्रनाममाल', 'ज्ञान प्रवोध' आदि व्रजभाषा में है। 'चडी दी वार' और कुछ फुटकर पद पजाबी में है। 'चडी दी वार' में दुर्गादेवी और दैत्यो के युद्ध का वर्णन सिरखडी छद में हुआ है। पजावी में वीर-रसप्रधान रचनाओ मे इसे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। फुटकर पदो में भक्ति और वैराग्य अधिक है। छदो की विविधता में गुरु गोविन्दसिह की कविता वेजोड है।

सिक्ख गुरुओ के अतिरिक्त **भाई गुरुदास** (१५५८–१६३७ ई०=स० १६१५-१६९४ वि०) की वाणी को गुरुमत साहित्य के अन्तर्गत मान्यता दी गई है। आपने वार, कवित्त, सवैए, और गीत लिखे है। कवित्त और सवैए व्रजभाषा मे है। वारो की सख्या चालीस है। ये शुद्ध साहित्यिक पजावी में है। छदो और अलकारो मे विशेषतया रूपक, दृष्टात और उदाहरण का प्रयोग इनकी कविता में अधिकारपूर्ण ढग से हुआ है। इनकी कविता का विशेष उद्देश्य गुरुमत की व्याख्या करना है।

सगुण भक्ति काव्य

पजावी में सगुण भक्ति-काव्य नगण्य है। **छज्जू भगत, काहन, बलीराम, बाबा सुन्दर अगरा, गरीबदास, बुधसिह, सेव सिह** आदि कवियो के नाम उल्लेखनीय है। लगभग सभी ने मुक्तक पद लिखे है। इनमें वलीराम की कविता साहित्यिक कोटि की है। उन्होने कृष्ण-भक्ति की काफियाँ और गीतियाँ लिखी है। काहन के पद मीराँ की अनुकृति में लिखे जान पडते है—कही सगुणता और कही निर्गुणता तथा वेदात की झलक दिखाई देती है। वावा सुन्दर रामभक्त है। छज्जू अनेक देवी-देवताओ के उपासक है। दोनो की कविता साहित्यिक दृष्टि से साधारण कोटि की है। अगरा पर कृष्ण-भक्तो के अतिरिक्त सिक्ख गुरुओ के 'नाम सिमरन' का प्रभाव है। वुधसिह ने काफियाँ और सीहर्फियाँ लिखी है। सेवासिह की सीहर्फियाँ, 'सतवारा' और 'वारह माँह' उपलब्ध है।

लौकिक साहित्य

वास्तविक पजाव लौकिक साहित्य में प्रतिविम्वित हुआ है। यह साहित्य बहुत विशाल है और विशेषतया वीर-रसप्रधान वारो और शृगार-रसप्रधान किस्सो के रूप में उपलब्ध है। हीर-राँझा का किस्सा सवसे अधिक पुरातन और प्रसिद्ध है। **दामोदर** (अकवर के राज्यकाल में, झग का एक खत्री दुकानदार) सबसे पहला कवि था जिसने हीर की 'आँखो देखी' कहानी लिखी। हीर झग की सुन्दरी थी। उसका साक्षात्कार तख्तहजारा के राँझा से हुआ और वह दीवानी हो गई। जब माँ वाप को इस प्रेम-प्रसग की सूचना मिली तो उन्होने हीर का विवाह रगपुर के शैदा के साथ जवरदस्ती कर दिया। ससुराल में हीर राँझा के वियोग मे विह्वल हो उठी। उसके रोम-रोम मे राँझा समा गया। इधर राँझा जोगी का रूप धारण करके रगपुर पहुँचा। हीर ने उसे नही पहिचाना, पर हीर की ननद उसे पहिचान गई। उसकी सहायता से हीर-राँझा की मुलाकात

हुई। अवसर पाकर दोनो भाग खडे हुए, लेकिन पकडे गए। काज़ी ने हीर को शैदा के हवाले करने का हुक्म दिया। इधर रगपुर में आग लग गई। लोगो ने कहा कि जोगी के शाप से ऐसा हुआ है। हीर राँझे को दे दी गई और दोनो मक्के की तरफ चल पडे। यह 'हीर' सुखान्त है; बाद में जो किस्से लिखे गए वे दु खान्त है।

भाई गुरुदास (१७०७ ई०=स० १७६४ वि०) ने दामोदर के किस्से को दोहराया और **मुकबल** ने उसे बैंतो का रूप दिया। एक और 'हीर' (१६९३ ई०=स० १७५० वि०) **अहमद कवि** की मिलती है। **हामद** ने भी सन १७७० ई० (स० १८२७ ई०) के लगभग हीर का किस्सा लिखा था। सबसे श्रेष्ठ रचना **वारिसशाह** (१७३८-१७९८ ई०=१७९५-१८५५ वि०) की है। मुकबल और हामद दोनो माने हुए कवि है, लेकिन वारिसशाह की 'हीर' मे एक अद्भुत जादू है। इसे हम तत्कालीन रीति-रिवाज और लोक-परपरा का विश्वकोश कह सकते हैं। मानव-प्रकृति, पशु-पक्षी आदि का स्वभाव-विश्लेपण मार्मिक ढग मे किया गया है। वारिस-शाह बहुज्ञ, अनुभवी और प्रतिभाशाली कवि थे। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था।

'मिरज़ा-साहिबाँ' का किस्सा भी छोटे बडे बहुत से कवियो ने लिखा पर सब से पुराना और उत्तम क़िस्सा जहाँगीर, शाहजहाँ के राज्य काल में **पीलू** ने लिखा है। मिरज़ा रावी के किनारे दानाबाद का रहने वाला था। साहिबाँ उसके मामा की लडकी थी और झग मे रहती थी। मिरज़ा का बाप मर गया, माँ उसे झग ले गई। मिरज़ा और साहिबाँ इकट्ठे खेलते, इकट्ठे पढते। इस तरह दोनो मे प्रेम हो गया। मामा ने मिरज़ा को घर से निकाल दिया और साहिबाँ का विवाह कही और कर देने का निश्चय किया। मिरज़ा को साहिबाँ ने आने वाले सकट की सूचना दे दी और दोनो भाग निकले। साहिबाँ के भाइयो ने उसका पीछा किया। मिरज़ा ने डटकर उनका सामना किया। इस समय साहिबाँ ने मिरज़ा का तूणीर छिपा दिया कि कही यह मेरे भाइयो को मार न डाले। मिरज़ा निहत्था हो जाने पर लडता-लडता मारा गया और साहिबाँ ने आत्मघात कर लिया।

काव्य मे वात्सल्य, शृगार और वीर रस के सुन्दर स्थल आए है।

पीलू के बाद शाहजहा के राज्यकाल में **हाफिज़ बरख़ुरदार** ने भी मिरज़ा साहिबाँ का किस्सा लिखा। इसके अतिरिक्त उसने 'युसुफ-जुलेखा' और 'सस्सी पून्नू' की प्रेमकथाएँ लिखी। 'सस्सी-पुन्नू' का सम्बन्ध बिलोचिस्तान से और 'यूसुफ-जुलेखा' का मिस्र से है। दोनो को कवि ने सफलतापूर्वक पजाबी का रूप दिया है। प्रेम, सौन्दर्य, विरह और करुणा का वर्णन कवि ने बडे मार्मिक ढग से किया है।

सिक्ख राज्यकाल मे **हाशम** (१७५३-१८२३ ई०=स० १८१०-१८८० वि०), **अहमदयार** (१७६८-१८४५ ई०=स० १८२५-१९०२ वि०), **क़ादरयार** (१८६० ई०=स० १९१७ वि०) आदि बडे विख्यात और सफल कवि हुए, जिन्होने प्रेमकथा मे काव्य-रचना की। हाशम की 'सस्सी' इस नाम के किस्सो मे सब से अधिक लोकप्रिय है। उसके अलावा इन्होने 'सोहनी-महीवाल', 'शीरी-फरहाद' और 'लैला-मजनू' के किस्से लिखे। पिछले दोनो फारसी से लिये गए है और 'सोहणी-महीवाल' लोकवार्ता से। चेनाब नदी के तट पर गुजरात शहर मे तुला नाम का कुम्हार रहता था। उसकी लडकी का नाम सोहणी था। बल्ख के एक व्यापारी का लडका मिरज़ा इज़्ज़तबेग हिन्दोस्तान की सैर करता हुआ गुजरात में आ निकला। उसने

तुला कुम्हार से कुछ वर्तन खरीदने के लिए गुलामो को भेजा, उन्होंने लौट कर सोहणी के सौन्दर्य की प्रशसा की। वह स्वय गया, आँखें चार हुईं और दोनो प्रेम पाश में बँध गए। इज्जतबेग ने वही वर्तन वेचने की दुकान खोल ली, लेकिन व्यापार में हानि हुई, वह कगाल हो गया, नौकर चाकर छोडकर चले गए। उसने तुला के यहाँ भैंस चराने की नौकरी कर ली, जिससे उसका नाम मही-(महिषी)वाल (पाल) पडा। प्रेम-प्रसग बढ चला, तुला ने महीवाल को घर से निकाल दिया और सोहणी का विवाह गुजरात में किसी कुम्हार के लडके से कर दिया। महीवाल चनाव के किनारे पहुँचा। सोहणी रात को घडे पर नदी तैर कर उससे मिलने आया करती। एक दिन उसकी ननद ने उसका घडा उठा लिया और उसकी जगह कच्चा घडा रख दिया। मोहणी कच्चे घडे के सहारे चली ही थी कि घडा घुल गया और वह नदी की धार में वह गई। महीवाल को मपने में उसकी लाश पुकारती हुई दिखाई दी। वह भी नदी मे छलाँग लगाकर डूब गया।

किस्से की वर्णन-शैली बहुत रोचक है। हाशम सूफी कवि है। उसके मुक्तको मे 'दोहडे' उपलब्ध है जिनका उल्लेख पीछे किया गया है।

अहमदयार के किस्सो की सख्या सब से अधिक है। इनके चालीस किस्सो मे 'हीर-राँझा' 'ससी-पुन्नू', 'यूसुफ-जुलेखा', 'कामरूप', 'लैला-मजनू' और 'राजबीवी' उच्च कोटि के है। इनके अतिरिक्त 'हातम', 'सैफलमलूक,' 'सोहणी-महीवाल', 'चदरवदन' आदि उल्लेखनीय है। इन्हाने कुछ धार्मिक पुस्तके भी लिखी है। इतना होने पर भी इनकी गणना वारिसशाह से दूसरे दर्जे पर की जाती है, क्योकि इनकी रचना में विषय की मौलिकता बहुत कम है। 'राजबीवी' का किस्सा मौलिक जान पडता है, परन्तु यह प्रचलित नही हो पाया। इनके काव्य की विशेषता है वैचित्र्य-पूर्ण घटनाओ का समावेश, सयत वर्णन और आलकारिक भाषा-शैली। यौवन के चित्र चित्रित करने मे ये दक्ष है। इनकी भावधारा में फारसी का प्रभाव है।

अमामबख्श की दो रचनाएँ है—'चदरबदन' और 'वहरामगोर'। 'चदरवदन' अपरिपक्व और दोपपूर्ण कृति है। कवि की वास्तविक प्रसिद्धि 'वहरामगोर' के कारण है। इसमे देउओ और परियो का रोचक वर्णन है। वहरामगोर को सफेद देउ घोडे का रूप धारण कर आकाश लोक में ले जाता है। वहराम हुस्नवानो परी पर मोहित हो जाता है। इसमें प्रेम, रूप, विरह, सयोग आदि का वर्णन सफल है। कुछ एक दृश्य वडे कवित्वपूर्ण है, जैसे, देउ का वर्णन अथवा मा का हुस्नवानो को उपदेश। इस काव्य का कलापक्ष उत्तम है।

इस समय का एक और कवि **कादरयार** हुआ है। उसकी प्रसिद्धि पूरनभगत के किस्से के कारण है। कविता सादी और सरल है। सियालकोट के राजा सालवाहन की दो रानियाँ थी। वडी रानी इच्छरा से पूर्णभक्त का जन्म हुआ। छोटी रानी युवा पूर्ण पर मोहित हो गई। जब पूर्ण ने उसके प्रेम की अवहेलना की तो लूणा ने राजा के पास पूर्ण पर कुदृष्टि का अभियोग लगाया। राजा ने पूर्ण के हाथ पैर कटवाकर उसे कुए में डाल दिया। वहाँ गुरु गोरखनाथ की कृपा से उसका उद्धार हुआ और उसे हाथ भी मिल गए।

इसके अतिरिक्त कवि की रचनाओ में 'पूरन भक्त दे वार', 'हरिसिंह-नलवा', 'सोहणी-महीवाल', और 'राजा रसालू' उपलब्ध है। इनका प्रकृति-चित्रण उत्तम है। भाषा भी सरस

और मधुर हैं। 'हरिसिंह-नलवा' और 'राजा रसालू' ऐतिहासिक किस्से हैं। इनमे विचित्र घटनाओ का वर्णन ऐतिहासिकता को रूप देता है।

वीरकाव्य

पजाबी का वीरकाव्य बहुत समृद्ध है। निम्नलिखित रचनाएं 'गुरुग्रथ' के सकलन से पहले की बताई जाती है—

१ **राय कमालदी मोजदी वार** मे राय कमाल दी और उसके भाई सारग के बीच में जायदाद के कारण लडाई का वर्णन है।

२ **टुडे असराजे दी वार** में पूरन भगत और कुणाल का सा किस्सा है। असराज की विमाता उसके रूप-सौदर्य पर मोहित हो जाती है। असराज उसके प्रेम को ठुकरा देता है तो वह अपने पति, राजा सारग से शिकायत करके उसे मत्युदड दिलवाती है, लेकिन जल्लाद उसके यौवन से प्रभावित होकर उसके हाथ काटकर छोड देते हैं। टुडा असराज किसी दूसरे नगर मे जाकर किसी धोबी के यहाँ ठहरता है। सयोग से उसे वहाँ का राज्य मिल जाता है। राजा सारग के देश में भयानक अकाल पडता है और अत मे असराज उसकी सहायता करता है।

३ **सिकन्दरइब्राहीम दी वार** मे सिकदर शाह अपनी प्रजा में से एक ब्राह्मण की सुन्दर कन्या पर कुदृष्टि रखने और एक क्षत्रिय का उस लडकी का सतीत्व बचाने के लिए युद्ध करके उसका उद्धार करने की कथा वर्णित है।

४ ५ **लैला वहिलीमा दी वार** और **हसने महमे दी वार** मे राजपूत सरदारो की ईर्ष्या और लडाई का वर्णन है।

६ **मूसे दी वार** में मूसे की प्रेमिका के एक दूसरे राणा से ब्याहे जाने पर दोनो के बीच युद्ध का वर्णन है।

जहाँगीर के समय मे 'मलिक मुरीद', 'जोधा वीर', और 'राणा कैलाशदेव मालदेव' आदि वारों में तत्कालीन पजाबी वीरो की वीरता का वर्णन है।

उपर्युक्त सब कृतियाँ भाटो द्वारा रची जान पडती हैं। ये मौखिक रूप से प्रचलित रही हैं और इनकी भाषा तथा शैली में अनेक परिवर्तन हो गए हैं।

गुरु गोविंदसिंह की 'चडी दी वार' का उल्लेख पीछे हो चुका है। यह कविता पजाबी वीरकाव्य की शिरोमणि रचना है। गुरु गोविंदसिंह ने और भी अनेक वीर-रसपूर्ण पद लिखे हैं जिनमे बडा ओज भरा है।

नजाबत ने 'नादरशाह दी वार' लिखी। कवि ने नादर की वीरता की प्रशसा की है, उसकी हत्याओ और क्रूरताओ का उल्लेख नही किया। इस वार का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्व है।

इस काल का अन्तिम कवि **शाह मुहम्मद** (१७८२-१८६२ ई०=स० १८३९-१९१९ वि०) है जिसने महाराज रणजीतसिंह की वीरता का वर्णन किया है। मटक ने भी सिक्खो और अग्रेजो की लडाइयो का वर्णन किया है, लेकिन शाह मुहम्मद की कृति अधिक महत्वपूर्ण है।

गद्य

प्रारम्भिक काल का पजाबी गद्य महापुरुषो की 'जन्म-साखियो', 'गोष्ठो', 'धर्म-पोथियो' और टीकाओ के रूप में था, इसके अनेक प्रमाण मिलते है। गुरु नानक से पहले का कोई गद्य प्राप्त नही है। **गुरु नानक** कृत 'हराजनामे' शुद्ध गद्य कृति नही है, इसे हम अतुकात कविता ही कहेगे। नानक की पहली जन्म-साखी (जीवन-गाथा) भाई वाला ने दूसरे सिक्खगुरु अगद को लिखवाई। इसकी रचना सन १५६० ई० (स० १६१७ वि०) और १६४० ई० (स० १६९७ वि०) के बीच मे हुई। इसकी एक प्रतिलिपि विधिचन्द द्वारा लिखित १६४० ई० (स० १६९७ वि०) की प्राप्त है। लेकिन इस प्रति की भाषा इतनी पुरानी नही है। सबसे प्रसिद्ध 'पुरातन जन्म-साखी' है जो गुरु गोविन्दसिह के समय के आसपास लिखी जान पडती है। इनके अतिरिक्त दो और जन्म-साखियो का पता चला है, जो इडिया आफिस लाइब्रेरी मे है। इनका रचना-काल सन १५५८ और १६२५ (स० १६१५ और १८८२ वि०) के बीच में निर्धारित किया गया है। ये जन्म-साखिया कहानी और जीवनी का मिश्रित रूप है।

'आदिग्रंथ' की प्रथम पुस्तक 'जपुजी' साहब पर अनेक टीकाएँ है जिनमे 'जपु परमार्थ' (१७०८ ई० = सं० १७६५ वि०) प्रसिद्ध है। इसमे गुरु नानक और गुरु अगद के बीच जपुजी पर विचार-विनिमय है। 'सिद्ध गोष्ठ' में सिद्धो और गुरु नानक का वार्तालाप है जिस की शैली बडी रोचक है। इसकी बोली सधुक्कडी पजाबी है।

'प्रेम सुमार्ग ग्रथ' (१७१८ ई० = स० १७७५ वि०) **गुरु गोविंदसिह** की रचना है जो शुद्ध केन्द्रीय पजाबी भाषा में लिखी हुई है। इसमें कलियुग के बाद आने वाले सतयुग का चित्र है। 'सौ साखी' पर गुरु गोविंदसिह के हस्ताक्षर विद्यमान है। इसकी रचना उनके दरबारी **साहबसिह** ने की थी। इसमें गद्य के साथ कही कही पद्य भी है। कृति में सौ कथाएँ सग्रहीत है।

गुरु गोविंदसिह के सिक्खो मे कुछ ने 'रहितनामे' लिखे है जिनमे सिक्खो को उपदेश दिया गया है कि वे अपना रहन सहन कैसा रक्खें।

भाई मनीसिह (मृत्यु सन १७३७ ई० = स० १७९४ वि०) की दो पुस्तकें 'ग्यान रतनावली' और 'भगतरतनावली' प्राचीन पजाबी गद्य की सर्वोत्तम कृतियाँ है। इनका धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व भी है। 'ग्यान रतनावली' में गुरु नानक के जीवन पर और 'भगतरतनावली' (सिक्खो की भक्तमाल) में पहले पाँच गुरुओ के समकालीन कुछ प्रेमी भक्तो की कथाएँ है। 'परचियाँ' और 'गोष्ठियाँ' अनेक मिलती है, पर इनकी भाषा बहुत पुरानी नही जान पडती। 'जो ब्रह्माडे सोई पिंडे' निबन्धात्मक पुस्तक है, जो किसी निर्मले साधु ने लिखी है। **छज्जू भगत** की 'गीता महातम' मिली-जुली पजाबी में है।

उत्तर मुगल काल की गद्य रचनाओ में 'पारस भाग' (**अड्डण शाह** कृत), भरथरी हरि, मैनावती और राजा विक्रम की कहानियाँ, हज़रत मुहम्मद साहब, कबीर और रविदास की जीवनियाँ; 'सतयुग कथा', 'पकी रोटी', 'गीतासार', 'लवकुशसवाद', 'जपुपरमार्थ' और 'सिद्धगोष्ठ-परमार्थ', 'योगवाशिष्ठ' और 'महाभारत' से ली गई कुछ कहानियाँ, तथा 'सिंहासन बत्तीसी' और 'विवेक' आदि गद्य कृतियाँ मिलती हैं। 'पारसभाग' एक प्रकार का निबन्ध-सग्रह है जिसमें ज्योतिप, वैद्यक, मित्रता, मौत, तृष्णा, नाम-स्मरण, भजन, आतम-ज्ञान आदि विविध विपयो पर प्रकाश

डाला गया है। भरथरी हरि, मैनावती और राजा विक्रम की कहानियाँ लोकवार्ता से सकलित की गई है। मुहम्मद साहव को भारतीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। कबीर और रविदास की जीवनियो में जन्म-साखी की शैली है।' 'लवकुशसवाद' में लव और कुश का वार्तालाप है। यह एक प्रकार का नाटक है। 'सतयुगकथा' और 'विवेक' में अनेक धार्मिक और दार्शनिक विषयो की विवेचना की गई है। 'जपु परमार्थ' मे शास्त्रार्थ की शैली है। 'पकीरोटी' में इस्लाम के सिद्धातो पर वहस की गई है। अन्य पुस्तके अनुवाद के रूप मे है। इनमें 'सिंहासनवत्तीसी' प्रतिनिधि कृति है । इसमें मौलिक रचना का सा प्रवाह है।

महाराज रणजीतसिंह के राज्यकाल की कोई प्रसिद्ध गद्य रचना उपलब्ध नही है। पुरानी परपरा का अनुसरण प्राय होता रहा। इस समय गद्य में अनुवादसाहित्य ही प्रमुख है। 'भगवद्गीता', 'अकवरनामा', 'अदलेअकवरी' आदि सस्कृत और फारसी की पुस्तको के पजाबी रूपातर लिखे गए। लाहौर मे इन्ही दिनो एक लिथो प्रेस स्थापित हुआ जिसमें राजकीय समाचार छापकर प्रकाशित किए जाते थे। इन 'रोजनामचो' की वोली ठेठ पजावी है। इतिहास के विद्यार्थियो के लिए यह सामगी वडी महत्वपूर्ण है। महाराजा रणजीतसिंह अपनी डायरी पजाबी में लिखते थे। इसकी भी एक प्रति उपलब्ध है।

परिशिष्ट

राजस्थानी साहित्य के ग्रन्थकारो और ग्रन्थो की कालक्रमानुसार सूची—

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
७००	६१३	पूषी	दोहो में रचित अलकार ग्रन्थ	अपभ्रश से विकसितदेशभाषा	अप्राप्य
९००	८४३	ढेंढणपा (?)	चतुर्योगभावना	,,	,,
९००	८४३	गोरखनाथ	गोरखवाणी	मिश्रित राजस्थानी	प्रकाशित
९००	८४३	खुमाण	खुमाणरासा		अप्राप्य
९९०	९३३	देवसेन	१ सावयधम्मदोहा	अतिम अपभ्रश	प्रकाशित
			२ दर्शनसार	राजस्थानी	,,
१०१५	९५८	पुष्पदन्त	१ महापुराण	अतिम अपभ्रश	,,
			२ जसहरचरिउ		,,
			३ णायकुमारचरिउ		,,
१०३६	९७९	लाखा	फुटकर दोहे	मिश्रित राजस्थानी	
१०५०	९९३	जोइन्दु	१ आत्मप्रकाश दोहा	उत्तरकालीन	,,
			२ योगसार दोहा	अपभ्रश तथा	,,
			३ व्याकरण	आरभिक राजस्थानी	अप्रकाशित
१०५०	९९३	रामसिंह	पाहुड दोहा	राजस्थानी	प्रकाशित
१०५०	९९३	धनपाल	भविस्यत्तकहा	मिश्रित राजस्थानी	,,
१०५०	९९३	मुज	फुटकर दोहे	,,	,,
१०५०	९९३	भोज	फुटकर दोहे	,,	,,
११११६	१०५९	कनकामर मुनि	करकडचरिउ	मिश्रित देशभाषा	,,
११५०	१०९३	जिनदत्त सूरि	१ चाचरि	मिश्रित राजस्थानी	,,
			२ उवएसरसायणु	,,	,,
			३ कालस्वरूप कुल	,,	,,
११५०	१०९३	आमभट्ट	फुटकर	,,	अप्रकाशित
१२००	११४३	हेमचन्द्र	१ प्राकृत व्याकरण	मिश्रित राजस्थानी	प्रकाशित
			२ छन्दोनुशासन		,,
			३ देशीनाममाला		,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१२०९	११५२	अज्ञात	उपदेशतरगिणी	आरभिक राजस्थानी	प्रकाशित
१२२०	११६३	महेश्वर सूरि	समयसजममजरी	,,	
१२४०	११८३	शालिभद्र सूरि	भरतेश्वर वाहुवलि रास	राजस्थानी	,,
१२५०	११९३	जिनपद्म सूरि	थूलिभद्दफागु	,,	,,
१२५०	११९३	विनयचद सूरि	नेमिनाथ चतुष्पदी	,,	,,
१२५०	११९३	चद वरदाई या पृथ्वीचद	पृथ्वीराजरासो		वर्तमान रूप सदिग्ध है।
१२५५	११९८	अजयपाल	फुटकर	राजस्थानी	अप्रकाशित
१३००	१२४३	लक्खण	अणुवयरयण पईव	अन्तिम अपभ्रश	,,
१३५०	१२९३	जज्जल (जाजदेव)	हमीर की प्रशसा मे कोई काव्य	राजस्थानी	केवल कुछ छद 'प्राकृत पैंगल' में सुरक्षित
१३००	१२४३	सधना	भक्ति के पद	,,	अप्रकाशित
१३२४	१२६७	तिलोचन	पद	,,	,,
१३२४	१२६७	रत्नप्रभ सूरि	अप्राप्य रचनाएँ	×	×
१३५६	१२९९	अज्ञात	शालिभद्र कक्का	राजस्थानी	प्रकाशित
१३६४	१३०७	अवदेव सूरि	समरदास	,,	,,
१३७०	१३१३	राजशेखर सूरि	नेमिनाथ फागु	,,	,,
१४१३	१३५६	हरसेवक	मयणरेहा	,,	अप्रकाशित
१४२०	१३६३	शार्ङ्गधर	१ शार्ङ्गधरसहिता २ सगीत रत्नाकर ३ हमीररासो (?) ४ हमीर काव्य (?)	मिश्रित राजस्थानी	
१४२२	१३६५	प्रसन्नचन्द्रसूरि ,,	रावणिपार्श्वनाथफागु	राजस्थानी-गुजराती मिश्रित	प्रकाशित ,,
१४२२	१३६५	कष्ठावर्पीजयसिंह सूरि	१ प्रथमनेमिनाथफागु २ द्वितीय ,,	,, ,,	,, ,,
१४२७	१३७०	आसाइत	हसाउलि	,,	,,
१४३०	१३७३	समुधर	नेमिनाथ फागु	,,	अप्रकाशित
१४५७	१४००	श्रीधर	रणमल्लछद	,,	,,
१४६२	१४०५	अज्ञात	प्रवोघ चिन्तामणि	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१४७०	१४१३	शिवदास चारण	अचलदास खीची री वचनिका या वार्ता	राजस्थानी	अप्रकाशित
१४७२	१४१५	धन्ना भगत	पद	,,	,,
१४७८	१४२१	अज्ञात	पृथ्वीचन्द्र चरित्र	,,	,,
१४८०-१५३०	१४२३-१४७३	पीपा भगत	पद	,,	,,
१४९०	१४२३	महाराणा कुभा	कई फुटकर रचनाएँ तथा चार नाटक	इनमें राजस्थानी का भी मिश्रण है	अप्राप्य
१५२५-१४९३	१४६८-१४३६	अज्ञात	पुरुषोत्तम पाँचपाडव फागु	राजस्थानी	प्रकाशित
१४९३	१४३६	अज्ञात	भरतेश्वर चक्रवर्ती फाग	,,	,,
१४९३	१४३६	समर	नेमिनाथ फागु	,,	,,
१४९३	१४३६	पद्म	नेमिनाथ फागु	,,	,,
१४९५	१४३८	चारण चौहथ	गीत	,,	अप्रकाशित
१४९६	१४३९	अज्ञात	राणपुरमडन चतुर्मुख आदिनाथ फागु	,,	प्रकाशित
१५००	१४४३	देववर्द्धन	नलदमयती आख्यान गद्य रचना	,,	,,
१५००	१४४३	अज्ञात	सामुद्रिकह स्त्री-पुरुष शुभाशुभ (नायिकाभेद)	,,	,,
१५००	१४४३	अज्ञात	वसन्तविलास	गुजराती-राजस्थानी मिश्रित	,,
१५१२	१४५५	पद्मनाभ	कान्हडदे प्रबन्ध	,,	,,
१५१६	१४५९	दामो	लक्ष्मणसेन-पद्मावती चउपई	राजस्थानी	,,
१५३०	१४७३	कल्लोल	ढोलामारू रा दूहा	,,	,,
१५४०	१४८३	हस कवि	चदकँवर री वार्ता	,,	,,
१५५०	१४९३	साखभद्र	मुनिपतिचरित कवित्त	,,	अप्रकाशित
१५५०	१४९३	तत्त्ववेत्ता (?)	कवित्त	,,	,,
१५५६	१४९९	सिद्धसेन	विक्रमपचदड चउपई	,,	,,
१५५६	१४९९	चतुर्भुज	भ्रमरगीता	,,	प्रकाशित
१५५९-८४	१५०२-१५२७	कील्ह	पद	,,	अप्रकाशित

वि० स०	ई० सन	ग्रन्यकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१५६३-१६६०	१५६०-१६०३	आसानद	१ लक्ष्मणायण	राजस्थानी	अप्रकाशित
			२ निरजन पुराण	,,	,,
			३ गोगाजी री पेडी	,,	,,
			४ वाघा रा दूहा	,,	,,
			५ उमादे भटियाणी रा कवित	,,	,,
			६ फुटकर	,,	,,
१५६६-८४	१५०९-२७	सोदावारहठ जमना	रचनाएं अप्राप्य	,,	,,
१५६६-८४	१५०९-२७	केसरिया चारण हरिदास	,, ,,	,,	,,
१५७५	१५१८	छीहल	पचसहेली रा दूहा	,,	प्रकाशित
१५७६	१५१९	चतुर्भुज	भ्रमरगीता	,,	,,
१५८०-१६१७	१५२३-६०	कुशललाभ	१ ढोलामारू रा दूहा	,,	,,
			२ माधवानलकाम-कदला चउपई	,,	,,
			३ तेजसार रास	,,	अप्रकाशित
			४ अगडदत्त चउपई	,,	,,
			५ पार्श्वनाथ स्तवन	,,	,,
			६ गौडी छद	,,	,,
			७ नवकार छद	,,	,
			८ भवानी छद	,,	,,
			९ पूज्यवाहण गीत	,,	,,
			१० जिनपाल जिन-रक्षक सविभापा	,,	,,
			११ पिंगलशिरोमणि	,,	,,
१५९०	१५३३	अज्ञात	राउ जइतसी रउ छद	राजस्थानी पिंगल	,,
१५९०-९८	१५३३-४१	वीठू चारण सूजो नभराजेस	राउ जइतसी रउ छद	राजस्थानी डिंगल	प्रकाशित
१५९२	१५३५	कायस्थ केशवदास	वसतविलास फाग	,,	अप्रकाशित
१५९२-१७१२	१५३५-१६५५	दुरसा	१ विरुद छिहत्तरी	,,	प्रकाशित
			२ किरतार वावनी	,,	अप्रकाशित

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			३ श्रीकुमार अज्जाजीनी भूचर मारी नी गजगत	राजस्थानी	अप्रकाशित
१५९२	१५३५	ईसरदास	१ हरिरस	,,	,,
			२ छोटा हरिरस	,,	,,
			३ बाललीला	,,	,,
			४ गुणभागवतहस	,,	,,
			५ गुण आगम	,,	,,
			६ गरुडपुराण	,,	,,
			७ निंदास्तुति	,,	,,
			८ देवियाण	,,	,,
			९ वैराट	,,	,,
			१० रास कैलास	,,	,,
			११ सभापर्व	,,	,,
			१२ हालाझाला रा कुडलिया	,,	,,
१५९६	१५३९	पुण्यरत्न	नेमिनाथ रास	,,	,,
१५९७-१७०७	१५४०-१६५०	लालदास	वाणी, पद, गीत	,,	,,
१६०१-६०	१५४४-१६०३	दादू	वाणी	,,	प्रकाशित
१६०६-४४	१५४९-८७	पृथ्वीराज राठौड	१ वेलि क्रिसन रुकमिणी री	,,	,,
			२ दूहा दसम भागवत रा	,,	अप्रकाशित
			३ गगालहरी	,,	,,
			४ वसदेव रावउत	,,	,,
			५ दसरथ रावउत	,,	,,
			६ फुटकर	,,	,,
१६१०-९७	१५५३-१६४०	केशवदास गाउण	१ गुणरूपक	,,	,,
			२ राव अमरसिंह रा दूहा	,,	,,
			३ विवेक यात्रा	,,	,,
			४ गजगुणचरित्र	,,	,,
१६१५-४०	१५५८-८३	नारायण ब्राह्मण	हितोपदेश	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१६१५	१५५८	जयवत सूरि	स्थूलिमद्रकोश प्रेम-विलास फाग	राजस्थानी	प्रकाशित
१६१६	१५५९	रतनोखाती	नरसी महता रो माहेरो	,,	,,
१६१७	१५६०	दयासागर	मदन नरिंद चरित	,,	अप्रकाशित
१६२०	१५६३	अल्लूजी	फुटकर	,,	,,
१६२४-४६	१५६७-८९	रज्जब	१ वाणी, २.सर्वंगी	,,	,,
१६२५	६८	जल्ह	बुद्धिरासो	,,	,,
१६२८-५३	१५७१-९६	पीथा आशिया	अप्राप्य	,,	,,
१६३२-१७०३	१५७५-१६४६	सायांझूला	१.रुक्मिणीहरण	,,	,,
			२ नागदमण	,,	,,
१६३२	१५७५	देवो	फुटकर	,,	,,
१६३२	१५७५	अग्रदास	१.श्रीरामभजन-मजरी	,,	,,
			२ कुडलिया	,,	,,
			३ हितोपदेश भाषा	,,	,,
			४ उपासना वावनी	,,	,,
			५ ध्यानमजरी	,,	,,
			६ पद	,,	,,
			७ विश्वब्रह्मज्ञान	,,	,,
			८ रागावली	,,	,,
			९ रामचरित	,,	,,
			१० अष्टयाम	,,	,,
			११.अग्रसार	,,	,,
			१२ रहस्यत्रय	,,	,,
१६३२-९३	१५७५-१६३६	गरीवदास	१.अनभैप्रवोध	,,	प्रकाशित
			२.साखी	,,	,,
			३. चौवोले	,,	,,
			४.पद	,,	,,
१६३३	१५७६	देवीदास	सिंहासनवत्तीसी	,,	अप्रकाशित
१६३६	१५७९	हीरकलश	सिंहासनवत्तीसी	,,	,,
१६४०	१५८३	वखना	वाणी	,,	प्रकाशित
१६४०	१५८३	जगजीवन	१ वाणी	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			२ दृष्टातसाखीसग्रह	राजस्थानी	अप्रकाशित
१६४०	१५८३	चतुर्भुजदास (दादू-पथी)	भागवतएकादशस्कध	,,	,,
१६४०	१५८३	चतुर्भुजदास निगम	मधुमालती चउपई	,,	,,
१६४५	१५८८	हेमरतन	१ महिपाल चउपई	,,	,,
			२ अभयकुमार चउपई	,,	,,
			३ गोरावादल पद्मिणी चउपई	,,	,,
			४ शीलवतीकथा	,,	,,
			५ लीलावती	,,	,,
			६ सीताचरित्र	,,	,,
			७ रामरासौ	,,	,,
			८ जगदबा बावनी	,,	,,
			९ शनिश्चरछद	,,	,,
१६४८	१५९१	नरहरिदास	१ अवतारचरित	राजस्थानी और व्रजभाषा	,,
			२ दशमस्कध भाषा	,,	,,
			३ रामचरित	,,	,,
			४ अहल्यापूर्णप्रसग	,,	,,
			५ अमरसिंह रा दूहा	,,	,,
१६५०	१५९३	मसकीनदास	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	टीलाजी	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	प्रयागदास	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	मोहनदास	१ आदिबोध	,,	,,
			२ साधमहिमा	,,	,,
			३ नाममाला	,,	,,
१६५०	१५९३	जैमल जोगी	वाणी	,,	,,
१६५०	१५९३	जैमल चौहाण	१ वाणी	,,	,,
			२ भक्तविरुदावली	,,	,,
			३ रामरक्षा	,,	,,
१६५०	१५९३	जगन्नाथदास कायस्थ	१ वाणी	,,	,,
			२ गुणगजनामा	,,	,,
			३ गीतासार	,,	,,

वि० सं०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			४ योगवशिष्टसार	राजस्थानी और	अप्रकाशित
१६५०	१५९३	वाजीद	१ वाणी	व्रजभाषा	,,
			२ पद	,,	,,
			३ गुणमुख नावो	,,	,,
			४ अरिल्ल	,,	,,
			५ गुणकविभारानावाँ	,,	,,
			६ गुणनामनावाँ	,,	,,
			७ गुणगजनामा	,,	,,
			८ गुणउत्पत्तिनामा	,,	,,
			९ गुणघरियानामा	,,	,,
			१० गुणनिरमोहीनामा	,,	,,
			११ गुणहरिजननामा	,,	,,
			१२ गुणप्रेमकहानी	राजस्थानी	प्रकाशित
			१३ गुणविरहअग	,,	,,
			१४ गुणनिसाणी	,,	,,
			१५ गुणछद	,,	,,
			१६ गुणहितोपदेश	,,	,,
			१७ राजकीर्तन	,,	,,
१६५२	१५९५	चतुरदास	भागवत एकादसस्कध	,,	,,
१६५३-१७४६	१५९६-१६८९	सुन्दरदास	१ ज्ञानसमुद्र	,,	,,
			२ सर्वाङ्ग योगदीपिका	,,	,,
			३ पचेन्द्रियचरित	,,	,,
			४ सुखसमाधि	,,	,,
			५ स्वप्नप्रवोध, आदि	,,	,,
			चौवीस रचनाएँ 'सुन्दर-ग्रन्थावली' में प्रकाशित हैं।		
१६५६	१५९९	हरिदास निरजनी	१ भक्तविरुदावली	,,	,,
			२ भरथरी सवाद	,,	,,
			३ साखी	,,	,,
			४ पद	,,	,,
			५ नाममाला	,,	,,
			६ नामनिरूपण	,,	,,
			७ यादू लो (?)	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			८.जोगग्रन्थ	राजस्थानी	प्रकाशित
			९.टोडरमल जोग-ग्रन्थ	,,	,,
१६६१	१६०४	माधोदास (दादूपथी)	सतगुणसार	,,	,,
१६६५	१६०८	समयसुन्दर	चतु प्रत्येक बुद्धप्रबध	,,	,,
१६७५	१६१८	भद्रसेन	चदनमलयगिरि चउपई	,,	अप्रकाशित
१६७५	१६१८	चतुरदास	भागवत एकादश स्कध	,,	,,
१६७७	१६२०	परशुरामदेव	१ विप्रमतीसी	,,	,,
			२ परशुरामसागर	,,	,,
			३ साखी का जोडा	,,	,,
			४ छद का जोडा	,,	,,
			५.सवैया दसअवतार	,,	,,
			६ रघुनाथचरित	,,	,,
			७.सिंगार सुदामा-चरित	,,	,,
			८.द्रौपदी का जोडा	,,	,,
			९.छप्पय गज ग्राह को	,,	,,
			१०.श्रीकृष्णचरित	,,	,,
			११.प्रह्लादचरित	,,	,,
			१२ अमरवोध लीला	,,	,,
			१३ नामनिधिलीला	,,	,,
			१४ शौचनिषेध लीला	,,	,,
			१५ नाथलीला	,,	,,
			१६ निजरूप लीला	,,	,,
			१७ श्रीहरिलीला	,,	,,
			१८ नदलीला	,,	,,
			१९ नक्षत्र लीला	,,	,,
			२० निर्वाण लीला	,,	,,
			२१ समझणी लीला	,,	,,
			२२ तिथिलीला	,,	,,
			२३ नक्षत्रलीला	,,	,,
			२४ श्रीवावनी लीला	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
			(सभी 'परशुराम-सागर' में सग्रहीत)		
१६८०	१६२३	दयालदास	राणारासौ	राजस्थानी	अप्रकाशित
१६८२	१६२५	नारायण वैरागी	नलदवदती आख्यान	"	"
१६८८-१७१०	१६३१-५३	केहरी	रसिकविलास	"	"
१६९०	१६३३	माधोदास	१ रामरासौ	"	"
			२ भाषा दसमस्कध	"	"
१६९१	१६३४	सुमतिहस	विनोदरस	"	"
१७००	१६४३	हरिदास भाट	१. अजीतसिंह चरित	"	"
			२ अमरबत्तीसी	"	"
१७००	१६४३	दानदासदयाल	छदप्रकाश	"	"
१७०६-०७	१६४९-५०	लब्धोदय	पद्मिनीचरित्र	"	"
१७०८	१६५१	किसन कवि	उपदेश बावनी	"	"
१६०९	१६५२	साईंदानचारण	समतसार	"	"
१७१०	१६५३	राम कवि	जयसिंहचरित्र	"	"
१७१०	१६५३	श्रीधर	भवानीछद	"	"
१७१५	१६५८	जग्गो	वचनिका राठौर रतन सिंहजी री महेसदासोत री (रतनरासौ)	"	"
१७१८	१६६१	किशोरदास	राजप्रकाश	"	"
१७२०	१६६३	गिरधरआस्या	सगतरासौ	"	"
१७२१	१६६४	जोगीदास चारण	हरिपिंगल प्रबन्ध	"	"
१७२४	१६६७	मतिसुन्दर	विक्रमवेलि	"	"
१७२५-१८०८	१६६८-१७२५	सतदास	अणभै वाणी	"	"
१७२५-६०	१६६८-१७०३	दौलत विजय (दलपत)	खुमाणरासौ	"	"
१७३२	१६७५	सूरविजय	रत्नपालरत्नावती रास	"	"
१७३५	१६७८	अजीतसिंह	१ गुणसागर	"	"
			२ भावविरही	"	"
१७३७	१६८०	रूपजी	रसरूप	"	"
१७४०	१६८३	ढाढीबादर	वीरभाण (भिसाणी)	"	"

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१७४०-५०	१६८३-९३	हरिनाम	केसरीसिंह समर	राजस्थानी	अप्रकाशित
१७४५-९२	१६८८-१६३५	वीरभाण चारण	राजरूपक	,,	,,
१७५०	१६९३	वल्लभ	१ वल्लभविलास	व्रजराजस्थानी	,,
			२. वल्लभमुक्तावली	,,	,,
१७५४	१६९७	शिवराम	दस कुमार प्रबन्ध	राजस्थानी	,,
१७५५-६३	१६९८-१७०६	मुरली	१ अश्वमेधकथा	,,	,,
			२ त्रियाविनोद	,,	,,
१७९०	१७३३	वल्लभ	१ वल्लभविलास	,,	,,
			२ वल्लभमुक्तावली	,,	,,
१७९७	१७४०	करणीदान	१ सूरजप्रकाश	,,	,,
			२ राठौडो की ख्यात	,,	,,
			३ विरुदशृंगार	,,	,,
१८००	१७४३	गिरधर आस्यो	सगतरासो	,,	,,
१८१७	१७६०	अमरसिंह	रसिक कमल	,,	,,
१८२८-९०	१७७१-१८३३	बाँकीदास	१ सूरछत्तीसी	,,	,,
			२ सीहछत्तीसी	,,	,,
			३ वीरविनोद	,,	,,
			४ धवलपचीसी	,,	,,
			५ दातारबावनी	,,	,,
			६ नीतिमजरी	,,	,,
			७ सुयहछत्तीसी	,,	,,
			८ वैसकवार्ता	,,	,,
			९ मावडिया मिजाज	,,	,,
			१० कर्पणदर्पण	,,	,,
			११ मोहमर्दन	,,	,,
			१२ युगलमुखचपेटिका	,,	,,
			१३ वैसवार्ता	,,	,,
			१४ कुकविवत्तीसी	,,	,,
			१५ विदुरवत्तीसी	,,	,,
			१६ भुरजालभूषण	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विषेश
१८२८-९०	१७७१-१८३३	बाँकीदास	१७ गजलक्ष्मी	राजस्थानी	प्रकाशित
			१८ कमाल नखसिख	,,	,,
			१९ जेहलजसजडाव	,,	,,
			२० सिद्धरावछत्तीसी	,,	,,
			२१ सतोषवावनी	,,	,,
			२२ सुजसछत्तीसी	,,	,,
			२३ वचन विवेक पचीसी	,,	,,
			२४ कायरवावनी	,,	,,
			२५ कृपणपचीसी	,,	,,
			२६ हवरा-छत्तीसी	,,	,,
			२७ स्फुटसग्रह	,,	,,
			२८ वातसग्रह	,,	,,
१८३०-९२	१७७३-१८३५	मछाराम (मछ)	१ रघुनायरूपक गीताँ रो	,,	,,
			२ फूलजीफूलमती री वार्ता	,,	अप्रकाशित
१८३६-४५	१७७९-८८	मोतीचद (चद)	१ वुढलारी ढालाँ	,,	,,
			२ वूढ्यारासो	,,	,,
१८४०	१७८३	गणेश चतुर्वेदी	१ रसचन्द्रोदय	,,	,,
			२ कृष्ण भक्ति चन्द्रिका नाटक	,,	,,
			३ सभापर्व	,,	,,
			४ नग्नशतक	,,	,,
			५ फागुनमाहात्म्य	,,	,,
१८४९-९२	१७९२-१८३५	चण्डीदास	१ सारसागर	,,	,,
			२ वलिविग्रह	,,	,,
			३ वंशाभरण	,,	,,
			४ तीज तरग	,,	,,
			५ विरुदप्रकाश	,,	,,
१८५४	१७९७	हरि	कवाट सरवहिया री वात	,,	,,
१८६०	१८०३	उदैचंद भडारी	छदप्रवधपिगल भाषा	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भाषा	विशेष
१८६१	१८०४	मनराखन श्रीवास्तव	छदोनिधि पिंगल	राजस्थानी	अप्रकाशित
१८७०	१८१३	मुनि गुणचद	वैराग्यशतक	,,	,,
१८७० - १९०९	१८१३- ५२	राव बख्तावर	१ केहरप्रकाश	,,	,,
			२ रसोत्पत्ति	,,	,,
			३ स्वरूपयशप्रकाश	,,	,,
			४ शम्भूयशप्रकाश	,,	,,
			५ सज्जनयशप्रकाश	,,	,,
			६ फतहयशप्रकाश	,,	,,
			७ सज्जनचित्रचद्रिका	,,	,,
			८ सचार्णव	,,	,,
			९ अन्योक्तिप्रकाश	,,	,,
			१० सामतयज्ञप्रकाश	,,	,,
			११ रागरागिनियो की पुस्तक	,,	,,
१८९३	१८३६	स्वामी गणेशपुरी	वीरविनोद	ब्रजभाषा	,,
१९००	१८४३	प्रतापकुँवरि बाई	१ ज्ञानसागर	राजस्थानी	,,
			२ ज्ञानप्रकाश	,,	,,
			३ प्रतापपच्चीसी	,,	,,
			४ प्रेमसागर	,,	,,
			५ रामचन्द्रनाम महिमा	,,	,,
			६ रामगुणसागर	,,	,,
			७ रघुवरसनेहलीला	,,	,,
			८ रामप्रेमसुखसागर	,,	,,
			९ रामसुजसपच्चीसी	,,	,,
			१० रघुनाथ जी के कवित्त	,,	,,
			११ भजनपदहरजस	,,	,,
			१२ प्रतापविनय	,,	,,
			१३ श्रीरामचन्द्र विनय	,,	,,
			१४ हरिजस	,,	,,
१९००	१८४३	गुलाब जी	१ रुद्राष्टक	,,	,,
			२ रामाष्टक	,,	,,
			३ गगाष्टक	,,	,,
			४ वालाष्टक	,,	,,

वि० स०	ई० सन	ग्रन्थकार	ग्रन्थ	भापा	विशेष
			५ पावसपच्चीसी	राजस्थानी	अप्रकाशित
			६ प्रनपचीसी	,,	,,
			७ रसपचीसी	,,	,,
			८ समस्यापचीसी	,,	,,
			९ गुलावकोप	,,	,,
			१० नामचन्द्रिका	,,	,,
			११ नामसिंधुकोप	,,	,,
			१२ व्यग्यार्थचन्द्रिका	,,	,,
			१३ भूषणचन्द्रिका	,,	,,
			१४ ललितकौमुदी	,,	,,
			१५ नीतिसिंधु	,,	,,
			१६ नीतिमजरी	,,	,,
			१७ नीतिचन्द्र	,,	,,
			१८ काव्यनियम	,,	,,
			१९ कविताभूपण	,,	,,
			२० चिंतातत्र	,,	,,
			२१ मूर्खशतक	,,	,,
			२२ घ्यानरूपसवति का कृष्ण चरित्र	,,	,,
			२३ आदित्यहृदय	,,	,,
			२४ कृष्णलीला	,,	,,
			२५ रामलीला	,,	,,
			२६ सुलोचना लीला	,,	,,
			२७ विभीपण लीला	,,	,,
			२८ दुर्गास्तुति	,,	,,
			२९ लक्षणकौमुदी	,,	,,
			३० कृष्णचरित्र	,,	,,
			३१ शारदाष्टक	,,	,,
१९००	१८४३	सरजमलकविराज	१ वशभास्कर	,,	प्रकाशित
			२ वीरसतसई	,,	,,
			३ वलवतविलास	,,	अप्रकाशित
			४ छदोमयूख	,,	,,

अनुक्रमणिका

(अक पृष्ठ-सख्या के सूचक है)

१. ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाएं

२. ग्रन्थकार तथा अन्य व्यक्ति